रीतिकालीन अलंकार-साहित्य का शास्त्रीय विवेचन

डॉ० ओम्प्रकाश शर्मा शास्त्री

१९६५
हिन्दी साहित्य संसार
दिल्ली ? : पटना-४

रीतिकालीन
अलंकार-साहित्य का शास्त्रीय विवेचन

[पंजाब-विश्वविद्यालय द्वारा पी-एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत शोध-प्रबन्ध]

जिन के आशीर्वचनों के प्रताप से मैं इस कृति को प्रस्तुत कर पाया उन्हीं आचार्य के करकमलों में सादर समर्पित

26. 9. 66
ओमप्रकाश शर्मा

लेखक
डॉ० ओम्प्रकाश शर्मा
अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग
दयालसिंह कालेज, नई दिल्ली।

प्रकाशक
हिन्दी साहित्य संसार
दिल्ली-७ पटना-४

प्रकाशक :
हिन्दी साहित्य संसार
दिल्ली-७
शाखा :
खजांची रोड
पटना-४

प्रथम संस्करण, १९६५
मूल्य पच्चीस रुपये (२५·००)

मुद्रक :
अशोक प्रिंटिंग प्रेस,
दिल्ली-६

समर्पण !

उन स्वर्गीया मां को—

जिनकी छाया से
मेरा शैशव अनजान रहा ।

उन पूज्य पिता को—

जिनका स्नेहमय आशीर्वाद
माँ के अभाव को सदा
भरता रहा है ।

दो शब्द

आचार्य भरत का विवेच्य मूलतः दृश्यकाव्य था, अलंकारों के सम्बन्ध में उन्होंने प्रसंगतः ही लिखा है। भामह प्रथम आचार्य थे, जिनका लक्ष्य श्रव्यकाव्य का विवेचन करना था और जिन्होंने प्रधानतः अलंकारों का ही व्याख्यान किया है। उन्होंने अलंकार को ही काव्य का प्राण माना है तथा रस और भाव का स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार न कर उनका भी अन्तर्भाव अलंकारों में कर दिया है—कोऽलंकारोऽनया विना। अलंकारों में भी वक्रोक्ति को उन्होंने प्रधान माना है। दण्डी भी अलंकारवादी थे, परन्तु गुण और रीति को मान्यता देने के कारण उनकी दृष्टि अपेक्षाकृत अधिक उदार थी। उद्भट और रुद्रट ने अलंकारों का विस्तार किया और काव्य के अन्य अंगों के साथ उनकी सापेक्षता निर्धारित की। अन्य अंगों का विवेचन करते हुए भी उन्होंने अलंकारों को ही प्रधानता दी। ये सभी आचार्य अलंकारवादी थे। अलंकार-वादियों के मत में काव्य का सौन्दर्य शब्द और अर्थ में निहित है और उस सौन्दर्य के कारण हैं अलंकार। उनके मत में गुण-रीति आदि भी अलंकार हैं। रस, वक्रोक्ति, ध्वनि आदि के प्रवर्तक अथवा समर्थक आचार्यों ने भी अलंकारों का विवेचन किया है और अपने-अपने मत से काव्य में उनका महत्त्व निर्धारित किया है।

अध्ययन से ज्ञात होता है कि काव्य में अलंकारों के स्थान को लेकर जो विवेचन हुआ, उसमें अलंकारों की महत्ता का निरंतर ह्रास होता गया। काव्य में आत्मस्थानीय अलंकार बाद में 'रहें, न रहें' की स्थिति तक आ पहुंचे। एक ओर अलंकारों की संख्या बढ़ती गई, दूसरी ओर उनका महत्त्व घटता गया। फिर भी आरम्भ से ही काव्य में उनका आसन ऐसा जम गया था कि कोई भी आचार्य उनकी उपेक्षा का साहस न कर सका, भले ही उसने अलंकारों का स्थान अवर श्रेणी में निश्चित किया हो।

हिन्दी-साहित्य में भी अलंकार-विवेचन संस्कृत के क्रम पर चला। केशव जैसे अलंकारवादी आचार्य से यह क्रम आरम्भ हुआ और तब से अब तक की कालयात्रा में वे अपने मूल रूप में अधिक विवेच्य नहीं रह गये। आज तो नई समीक्षा का मानदंड ही भिन्न हो चला है परन्तु रीतिकाल अलंकार-साहित्य का स्वर्णकाल था। रीतिकालीन आचार्य भले ही रसवादी रहे हों या ध्वनिवादी, अलंकारों का जादू उन सब पर छाया रहा। इस युग में विपुल मात्रा में अलंकार-ग्रंथों की रचना हुई। रीतिकालीन अलंकार-साहित्य की गवेषणा और समालोचना के सम्बन्ध में अनेक शोध-प्रबंध लिखे जा चुके हैं, फिर भी उनका विभिन्न दृष्टियों से परीक्षण-विवेचन अवशिष्ट था। प्रसन्नता की बात है कि हिन्दी की उस अमूल्य रत्न-राशि को पुनः इस ग्रंथ में परीक्षण के लिए ग्रहण किया गया है और लेखक ने अपनी व्यापक एवं

गहन दृष्टि से इस साहित्य का मूल्यांकन किया है। यह कार्य केवल वही विद्वान् कर सकता था, जो संस्कृत के अलंकार-साहित्य की सूक्ष्मताओं से परिचित हो; और प्रस्तुत प्रबन्ध के लेखक को इसका गौरव प्राप्त है।

डॉ० ओम्प्रकाश शर्मा ने प्रस्तुत प्रबंध के प्रथम अध्याय में अलंकारों का स्वरूप-निर्धारण किया है और काव्य में उनके स्थान एवं महत्त्व पर प्रकाश डाला है। द्वितीय अध्याय में उन्होंने यह स्पष्ट किया है कि संस्कृत-काव्य में किस प्रकार अलंकारों का विकास हुआ तथा उनके विकास के मूल में किन सामाजिक, राजनैतिक अथवा मनोवैज्ञानिक परिस्थितियों ने योग दिया। तृतीय अध्याय में इसी आधार पर रीतिकाल के अलंकार-साहित्य का परिचय दिया गया है। चतुर्थ अध्याय में, अलंकारों का अन्य काव्यतत्त्वों से क्या सम्बन्ध है—इस पर प्रकाश डाला गया है। पाँचवाँ अध्याय अलंकारों के लक्षण-विकास की महत्वपूर्ण और रोचक गाथा प्रस्तुत करता है। छठे अध्याय में रीतिकालीन आचार्यों द्वारा प्रस्तुत अलंकारों के लक्षणों का परीक्षण किया गया है और उन पर संस्कृत-लक्षणों के प्रभाव का विवेचन किया गया है। यह इस प्रबंध का सर्वाधिक महत्वपूर्ण अंग है। सातवाँ अध्याय अलंकार-वर्गीकरण से सम्बद्ध है। आठवाँ अध्याय आधुनिक शोध की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है क्योंकि इसमें अलंकारों की मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया पर विचार किया गया है। नवाँ अध्याय रीतिकाल के परवर्ती अलंकार-साहित्य पर विचार करता है। इस प्रकार अलंकार का यह अध्ययन अपने आप में परिपूर्ण है।

प्रस्तुत प्रबंध तथ्य-शोध की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है। इसमें डॉ० शर्मा ने संस्कृत-काव्यशास्त्र के अनेक अल्प-चर्चित अथवा सर्वथा अचर्चित ग्रंथों का अध्ययन प्रस्तुत किया है; संस्कृत के 'काव्य-परीक्षा' तथा 'कल्याणकल्लोल' का इसमें प्रथम बार विवेचन हुआ है। रीतिकाल के अनेक अप्राप्त ग्रंथों को प्राप्त करने में भी, उन्होंने भारी परिश्रम किया है। आचार्य अमीरदास, कवि निहाल, कवि दास, ईश्वर कवि, हरिचरण आदि के ग्रंथों का विवेचन इस प्रबन्ध में ही पहली बार हुआ है। अब तक हिन्दी के अधिकांश पाठक याकूब खाँ, चंदन, रसिक गोविन्द, उमेद राय, राय शिवप्रसाद, गोकुल, दामोदर के नामों से ही परिचित थे—पर डॉ० शर्मा ने उनके ग्रंथों को भी मूल रूप में उपलब्ध कर इस अध्ययन में उनका उपयोग किया है।

इस अध्ययन का मूल दृष्टिकोण शास्त्रीय है और लेखक ने भली भाँति उसका निर्वाह किया है। उनके विषय-चिंतन में गंभीरता है और शैली में प्रसादन। यह प्रबन्ध इस विषय पर कार्य करने वाले अन्य अनुसंधित्सुओं के लिए भी प्रेरणादायक सिद्ध होगा, ऐसा मेरा विश्वास है।

—डॉ० नगेन्द्र

अध्यक्ष—हिन्दी-विभाग

दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

शोध-प्रबन्ध के संबंध में

प्रस्तुत प्रबन्ध का शीर्षक है—'रीतिकालीन अलंकार-साहित्य का शास्त्रीय विवेचन।' 'रीतिकालीन अलंकार-साहित्य' से तात्पर्य है—रीतिकाल में लिखा गया अलंकार-सम्बन्धी लक्षण-उदाहरण-परक साहित्य। यह सत्य है कि रीतिकालीन अलंकार-साहित्य अपने पूर्ववर्ती संस्कृत-अलंकार-साहित्य का ही विकसित या परिवर्द्धित रूप है। रीतिकालीन अलंकार-साहित्य के विकास अथवा उसके किन्हीं भी अन्य रूपों का अध्ययन संस्कृत-अलंकार-साहित्य की पृष्ठभूमि के बिना सर्वथा अपूर्ण ही रहेगा। यही कारण है कि संस्कृत-अलंकार-साहित्य का विशिष्ट दृष्टियों से अध्ययन भी हमारे मुख्य विषय के साथ समवायरूपेण सम्बन्धित है। हिन्दी के भक्तिकालीन अलंकार-साहित्य, विशेषकर केशव के अलंकार-सम्बन्धी साहित्य को भी, इसीलिये, इस अध्ययन का अंग मान लिया गया है। रीतिकालीन अलंकार-साहित्य का परवर्ती भाग भी इस साहित्य का पूरक अंग है, अतः अलग से एक अध्याय में उसका भी विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

'शास्त्रीय विवेचन' का अर्थ है, शास्त्रीय दृष्टि से उक्त अलंकार-साहित्य की समीक्षा। 'शास्त्रीय' का सर्वस्वीकृत अर्थ यहां काव्यशास्त्रीय तो है ही, परन्तु आज की व्यापक दृष्टि में अध्ययन को पूर्ण बनाने के लिए समाजशास्त्रीय, दार्शनिक अथवा मनोवैज्ञानिक चिन्तनाओं का उपयोग भी अपेक्षित समझा गया है।

वैज्ञानिक दृष्टि से रीतिकालीन अलंकार-साहित्य के अध्ययन की परम्परा विशेष रूप से विश्व-विद्यालयों से सम्बन्धित क्षेत्रों में आरम्भ हुई। इस परम्परा में तीन प्रकार के शोध-प्रबन्ध सम्मिलित किये जा सकते हैं—

१—रीतिकाल के विभिन्न कवियों (केशव सहित) के अध्ययन के प्रसंग में रीतिकालीन अलंकार-साहित्य का विवेचन।

२—हिन्दी-काव्य-शास्त्रीय इतिहास अथवा अलंकार-सम्बन्धी अध्ययन।

३—विशुद्ध रूप से रीतिकालीन अलंकार-साहित्य का अध्ययन।

कहना न होगा कि प्रस्तुत प्रबन्ध का सम्बन्ध तृतीय वर्ग से ही है क्योंकि इसमें समग्रतः रीतिकालीन अलंकार-साहित्य का ही अध्ययन-विवेचन किया गया है।

विवेच्य विषय

अध्याय १—प्रथम अध्याय में संस्कृत एवं रीतिकालीन काव्यशास्त्र में प्राप्त अलंकार-लक्षणों को उनकी विकास-परम्परा में प्रस्तुत किया गया है, जिससे विद्वानों के समक्ष इस सम्बन्ध में सम्पूर्ण काव्य-अलंकार-क्षेत्र का चित्र प्रस्तुत हो सके। इसके साथ ही अलंकार के शास्त्रीय तथा कलात्मक महत्व पर भी यहीं विचार किया गया है।

अध्याय २—रीतिकालीन काव्य-शास्त्र का आधार संस्कृत-काव्य-शास्त्र है। अतः पृष्ठभूमि के रूप में इस अध्याय में उसके अलंकार-पक्ष का विशद विवेचन प्रस्तुत किया गया है। अब तक संस्कृत:काव्यशास्त्र के अलंकार-सम्प्रदाय का इतिहास आचार्यों के काल-क्रम से दिया जाता रहा है; यद्यपि यहां भी क्रम-व्यत्यय नहीं किया गया है तथापि डॉ० पी० वी० कारणे जैसे विद्वानों के आचार्य-क्रम को आधार मानकर अलंकार-विकास को सर्वथा नवीन दृष्टि से देखा गया है। भरत को सर्व-प्रथम रखने का कारण बहु विद्वत्सम्मति है। मूलतः चार अलंकार (उपमा, रूपक, दीपक और यमक) किस प्रकार विकास पाते गये; भेदोपभेदों के साथ-साथ आलंकारिकों ने अपने-अपने काल में किन-किन नवीन अलंकारों को जन्म दिया; काल-क्रम में जन्म-ग्रहण करने वाले इन अलंकारों की पृष्ठभूमि में राजनैतिक अथवा राजप्रासादीय, धार्मिक, सामाजिक तथा मनोवैज्ञानिक किस प्रवृत्ति-विशेष का आधार रहा, अभिव्यक्ति के इन प्रकारों का प्रयोग किस काव्यकार द्वारा पहले हो गया तो नामकरण तथा लक्षण परवर्ती आचार्यों ने किन परिस्थितियों में किया; अलंकारों के जन्म तथा भेदोपभेद-विकास में युग-विशेष के साहित्यिक वातावरण का क्या योगदान रहा, इन सब पक्षों से संस्कृत-काव्यशास्त्र के अलंकार-विकास का विवेचन किया गया है।

अध्याय ३—इस अध्याय में रीतिकाल के अलंकार-सम्प्रदाय का विवेचन भी उक्त आधार पर किया गया है। इस प्रणाली से इन दो सौ वर्षों में नवोद्भावित अलंकारों के सम्बन्ध में युग-विशेष के योगदान का मूल्यांकन भी यहां हो सका है। यह हिन्दी-अलंकार-साहित्य के आलोचना-क्षेत्र में नवीन मार्ग तथा नवीन दिशा का प्रतीक है। यहाँ यह संकेत कर देना भी आवश्यक है कि साधारणतया भिखारीदास ही 'दास' नाम से जाने जाते हैं परन्तु इस विवेचन में एक नवीन कवि दास भी हैं, जो भिखारीदास जी से भिन्न हैं।

अध्याय ४—इस अध्याय में शब्द-शक्ति, गुण-दोष, रीति-शैली, रस, वक्रोक्ति, ध्वनि, चमत्कार, मुहावरों और लोकोक्तियों के साथ अलंकारों के सम्बन्ध का विवेचन किया गया है, क्योंकि काव्य के समस्त-तत्त्वों के साथ अलंकार का क्या सम्बन्ध है, यह जाने बिना काव्य शरीर में अलंकारों का वास्तविक स्थान और महत्त्व निर्धारित नहीं होता। यद्यपि कई विद्वानों ने समय-समय पर लिखे निबन्धों में इन विषयों पर अपने विचार व्यक्त किये हैं तथापि इनमें बहुधा संस्कृत-काव्यशास्त्र अथवा अंग्रेजी आलोचना की परिपाटी की प्रधानता रही है। इस अध्याय में रीतिकालीन आचार्यों के विचारों को प्रधानता दी गई है। संस्कृत का आधार तो है ही, पाश्चात्य समालोचकों के उन मतों को भी प्रस्तुत किया गया है, जिन का सीधा सम्बन्ध भारतीय दृष्टि से अलंकारों के साथ सहसा आ जुड़ता है।

अध्याय ५—कविशः अलंकारों का अध्ययन तो सामूहिक रूप में होता रहा है, परन्तु अलंकारों का अध्ययन उन के लक्षण-विकासात्मक रूप में हिन्दी में अभी तक नहीं हुआ है। इसके बिना किसी अलंकार के लक्षण का सम्पूर्ण इतिहास, उस के

परिवर्तन, परिवर्द्धन और अन्तिम रूप सामने नहीं आ पाते। प्रत्येक अलंकार के लक्षण-विकास का अध्ययन रीतिकाल के अलंकार-रूप को जानने के लिये अपेक्षित है। भरत द्वारा निर्दिष्ट कितने ही गुण कालान्तर में अलंकार-क्षेत्र में आ गये, कितने ही अलंकारों के लक्षण, अतिव्याप्ति आदि दोषों से मुक्त किये गये। निर्दुष्ट लक्षण-परम्परा का विकास हुआ। रीतिकाल में आलंकारिकों ने इन लक्षणों के विकास में कितना योग दिया है? अपनी सीमाओं को स्वीकार करते हुए जिन अलंकारों के लक्षणों में किंचित् भी विकास हुआ है, उन्हीं का विवेचन इस अध्याय में किया गया है। संस्कृत-काव्यशास्त्र से लेकर रीतिकाल तक अलंकारों के लक्षण-विकास की यह पद्धति और उसका विवरण-विवेचन भी सर्वथा नवीन ही है।

अध्याय ६—यह अध्याय अलंकारों के लक्षण-परीक्षण से सम्बद्ध है। बिना परीक्षण यह अनुभव नहीं किया जा सकता कि रीतिकालीन आचार्यों का वास्तविक मूल्य क्या है? उनकी मौलिकता और मेधा का ज्ञान भी इसी से होता है। परीक्षण के लिये विशेष रूप से तुलनात्मक पद्धति का प्रयोग किया गया है। इस विवेचन से संस्कृत-आलंकारिकों के प्रभाव, अनुवाद एवं रीतिकालीन आचार्यों के स्वतन्त्र मतों और अलंकारों के लक्षण-स्वरूप पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। इस अध्याय में प्रमुख आचार्यों के साथ ही नवीन उपलब्ध आचार्यों की कृतियों का भी समावेश किया गया है।

अध्याय ७—इस अध्याय में अलंकारों के वर्गीकरण की समस्या के सम्बन्ध में विचार किया गया है। संस्कृत तथा हिन्दी-काव्य-शास्त्र के अनेक आचार्यों के मत देकर अन्त में व्यंग्य-अव्यंग्य-भेद से अलंकारों का नवीन वर्गीकरण किया गया है, जो सर्वथा मौलिक एवं अलंकारों की काव्य में विशिष्ट स्थिति की सुदृढ़ता प्रदान करने का आधार सिद्ध होता है।

अध्याय ८—इस अध्याय में मनोवैज्ञानिक आधार पर अलंकारों का विवेचन किया गया है। डॉ० नगेन्द्र ने प्रथम बार इस ओर दिशा-निर्देश किया था, परन्तु इस आधार पर विस्तृत रूप से अलंकारों का परीक्षण होने की आवश्यकता शेष थी। संस्कृत एवं रीतिकालीन अलंकारों के मनोवैज्ञानिक मूल को जाने बिना आज के विचारशील समालोचक की संतुष्टि नहीं हो सकती। अलंकारों का मन की जिन सूक्ष्म प्रवृत्तियों से सम्बन्ध है, उनका उद्घाटन ज्ञानवर्द्धक होने के साथ ही अत्यन्त रोचक भी है। मनोवैज्ञानिक आधार पर अलंकार-वर्गीकरण को डॉ० नगेन्द्र के वर्गीकरण से कुछ हटकर प्रस्तुत किया गया है, क्योंकि इस में अलंकारों की क्रिया-पद्धति को अलंकार का आधार मान कर ही नवीन दृष्टि से वर्ग-विभाजन किया गया है। यह वर्गीकरण को समवर्गीय बनाने का यत्न है। प्रत्येक वर्ग के प्रमुख अलंकारों का निर्देश और उनका मनोवैज्ञानिक अध्ययन हिन्दी में प्रथम बार इतने विस्तृत धरातल पर प्रस्तुत किया जा रहा है। यद्यपि प्रस्तुत अध्ययन अलंकारों के सर्वमान्य स्वरूप को लेकर ही किया गया है, तथापि रीतिकालीन अलंकार-साहित्य के अध्ययन की पूर्णता के लिये मनोवैज्ञानिक विवेचन की आवश्यकता का अनुभव किया जा रहा था।

इस अध्याय में आवश्यक उदाहरणों का संकलन रीतिकालीन कवियों की रचनाओं एवं उनके उद्धरणों से ही किया गया है।

अध्याय ६—इस अध्याय में रीतिकालीन अलंकार-साहित्य का परवर्ती भाग प्रस्तुत किया गया है। रीतिकालीन प्रवृत्ति के अलंकार-विवेचन की परम्परा भी आगे चलती रही है। इस सब के अध्ययन के बिना प्रस्तुत प्रबन्ध का पूर्ण कहलाना सम्भव नहीं था।

नवीन उपलब्ध एवं विवेचित सामग्री

इस शोध-प्रबन्ध में अब तक प्राप्त संस्कृत एवं हिन्दी-काव्य-शास्त्र की अलंकार-सामग्री का प्रयोग किया गया है। कई उपलब्ध ग्रन्थ ऐसे भी हैं, जिन का नाम तो अलंकार-परम्परा में प्रचलित है, परन्तु उन का अभीष्ट विवेचन इस ग्रन्थ से पूर्व हिन्दी-काव्यशास्त्र में नहीं हुआ। इनमें से निम्नलिखित ग्रन्थों के नाम उल्लेखनीय हैं :—

(क) संस्कृत-काव्य-शास्त्र

१. विष्णुधर्मोत्तर पुराण
२. काव्यमीमांसा—राजशेखर
३. अलंकाररत्नाकर:—शोभाकर मित्र
४. काव्यालंकारसार:—भावदेव सूरि
५. काव्यपरीक्षा—वत्सलांछन
६. अलंकारदीपिका—आशाधर भट्ट
७ नंजराजयशोभूषण—नरसिंह कवि
८. अलंकार-मंजूषा—भट्ट देवशंकर पुरोहित
९. कल्याणकल्लोल—कल्याणदास

(ख) रीतिकालीन काव्यशास्त्र

१. रामचन्द्राभरण—गोप
२. कान्ताभूषण—रत्नेस
३. अलंकार-दर्पण—रत्नेस
४. फतेप्रकाश—रत्नेश (रतन)
५. रसभूषण—याकूब खां
६. काव्याभरण—चन्दन
७. रसिकगोविन्दानंदघन—रसिकगोविन्द
८. वाणीभूषण—उमेद राय
९. रसभूषण—राय शिवप्रसाद
१०. चेत-चन्द्रिका—गोकुल
११. अलंकारभ्रमभंजन—ग्वाल (प्राप्यांश तक केवल)
१२. अर्थालंकार-मंजरी—दामोदर
१३. दिग्विजयभूषण—गोकुलप्रसाद 'बृज'

इन संस्कृत-हिन्दी-काव्य-शास्त्रीय ग्रन्थों का अलंकार-सम्बन्धी विवेचन प्रस्तुत करने के अतिरिक्त निम्नलिखित अज्ञात ग्रन्थों का समीक्षण भी इस शोध-प्रबन्ध में प्रथम बार किया गया है :—

१. श्रीकृष्णसाहित्यसिन्धु—आचार्य अमीरदास
२. साहित्यशिरोमणि—कवि निहाल
३. अलंकारमाला—कवि दास
४. चित्रचमत्कृतकौमुदी—ईश्वर (ईश्वर) कवि
५. कविबल्लभवचनिका—कविबल्लभ
६. बिहारीसतसई टीका—अनवर (अलंकार-विवेचन-हेतु)
७. अमरचन्द्रिका—सूरतिमिश्र

आभार-स्वीकार

प्रस्तुत प्रबंध का शोध एवं अध्ययन-क्षेत्र व्यापक था इसलिए अनेक विद्वानों एवं मित्रों का ऋणी होना स्वाभाविक है। ग्रंथ-संकलन के कार्य से लेकर प्रबंध के प्रकाशन तक का सम्पूर्ण कार्य जिन हितेच्छुओं के बिना सम्भव नहीं था, उनके प्रति मेरा आभारी होना सहज ही है।

प्राचीन हस्तलिखित ग्रंथों की प्राप्ति में मुझे सहायता देने वाले महानुभाव दतियानिवासी श्री श्यामाचरण नागार्च्य, टीकमगढ़ के भूतपूर्व राजगुरु श्री बालकृष्ण देव तैलंग, राजकवि भूषण, श्री अगरचन्द नाहटा आदि हैं, जिनको मैं विनिमय में संभवतः कुछ भी नहीं दे सकता। मगध विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने वाराणसी तथा अन्य स्थानों से अनेक पाण्डुलिपियों की प्रतियाँ सुलभ कर मुझ पर उपकार किया है। डॉ०ओम्प्रकाश कुलश्रेष्ठ, डॉ० सत्यदेव चौधरी, डॉ० संसारचन्द्र, पटियाला-निवासी श्री ओम्प्रकाश आनन्द, श्री शिवप्रसाद शास्त्री, श्री जगदीशचन्द्र शास्त्री, श्री शम्भुदत्त शर्मा, श्री रणसिंह तथा श्री रामप्रकाश आदि अनेक कृपालुओं एवं मित्रों ने मुझे ग्रंथों की प्राप्ति के संकेत देकर,ग्रंथ प्रदान कर अथवा मेरे साथ ग्रन्थों की प्रतिलिपियाँ करने में अमूल्य सहयोग दिया है। इन सभी का मैं विनत हृदय से आभारी हूँ। स्व०डॉ० व्रजकिशोर मिश्र की कृपा से मैं गंधौली-पुस्तकालय से अनेक ग्रन्थ प्राप्त कर सका। आगरा के चिरंजीलाल पुस्तकालय के स्वामी चिरंजीलाल का भी मैं आभारी हूँ।

डॉ० देवराज चानना, रीडर, संस्कृत-विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय दिल्ली, तथा डॉ० मनोहरलाल गौड़, अध्यक्ष हिन्दी-विभाग, धर्मसमाज कालेज, अलीगढ़ के प्रति मैं हृदय से कृतज्ञ हूँ क्योंकि उक्त दोनों गुरुजनों की निरन्तर प्रेरणा और अमूल्य सहायता के बिना यह कार्य कभी संभव नहीं था।

डॉ० शरणबिहारी गोस्वामी मेरे सहयोगी, सहचर एवं सहधर्मा हैं। डॉ० गोस्वामी जी ने शोधप्रबंध के लिए कितने ही हस्तलिखित ग्रन्थों को उपलब्ध करके मेरी सहायता की। शोधप्रबंध के विभिन्न संदर्भों में 'वादे-वादे जायते तत्त्व-बोधः' का सिद्धान्त हम दोनों का प्रेरणा-केन्द्र रहा। शोधप्रबंध के समुचित ढंग से प्रकाशन-काल में भी डॉ० गोस्वामी को दिन-रात चैन नहीं मिला; क्योंकि एक ओर उनका खण्डकाव्य "पाषाणी" प्रत्यूह-पाषाणों में आकृति ग्रहण कर रहा था दूसरी ओर मेरा शोधप्रबंध। इन परिस्थितियों में भी डॉ० गोस्वामी ने कभी विश्राम नहीं लिया। इसलिए सोचता हूँ कि उन्हें धन्यवाद दूँ या नहीं। उन्हें धन्यवाद देकर जान छुड़ाना मुझे प्रिय नहीं। इसलिए जिन्हें साथ रहना है, उनके सदा साथ रहने की कामना करना ही मैं उचित समझता हूँ।

डॉ० विजयेन्द्र स्नातक जी की अहैतुकी कृपा—मार्गदर्शन तथा विषय-निर्देश के रूप में, मुझ पर सदैव फलवती रही है। शोध-प्रबंध-सम्बन्धी अनेक समस्याओं का समाधान उनसे सहज ही प्राप्त होता रहा है। सम्पूर्ण प्रबंध को पढ़कर, उस पर अपनी अमूल्य सम्मति लिखकर डॉ० स्नातक ने विद्याभ्यासहेतु जो आदेश मुझे दिया है, उसे आजीवन निभा सकूँ, यही कामना है।

विद्वद्वर डॉ० किरणचन्द्र शर्मा के निर्देशन में यह शोधप्रबन्ध लिखा गया है। सहृदयता, सद्व्यवहार एवं प्रबन्ध-सम्बन्धी निर्देशन के लिए मैं उनका हृदय से आभारी हूँ।

आचार्य डॉ० नगेन्द्र के प्रति मैं विशेषतः आभारी एवं श्रद्धानत हूँ, क्योंकि दिल्ली विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग की अनुसन्धान-परिषद् की गोष्ठियों में उनके अनुसंधान-सम्बन्धी विचारों से लाभ उठाने का पूरा-पूरा सुअवसर मुझे प्राप्त रहा है। इसके अतिरिक्त उन्होंने अत्यन्त व्यस्त होते हुए भी इस शोध-प्रबन्ध के लिए 'दो शब्द' भी लिख दिये हैं। अतः—तस्मै रसवादिने आचार्याय सादरं सविनयं नमः।

शोध-प्रबन्ध के टंकरण तथा संपादन सम्बन्धी सुझावों के लिए नई पीढ़ी के लेखक श्री योगराज थानी का, मुद्रण-व्यवस्था के लिए अशोक प्रिंटिंग प्रेस के अधिकारी श्री ओम्प्रकाश गुप्त का तथा ग्रंथ की शीघ्र एवं समुचित प्रकाशन-व्यवस्था के लिए हिन्दी साहित्य संसार के स्वामी श्रीरामकृष्ण शर्मा का मैं विशेष कृतज्ञ हूँ।

मेरा यह प्रयास गुरुओं के प्रसाद एवं मित्रों के आत्मीय सहयोग का प्रतिफलन है। इस प्रबन्ध में विचारणा-सम्बन्धी त्रुटियाँ हो सकती हैं, उन सबको स्वीकार करने के लिए मैं सभी प्रकार से अनावृतमस्तिष्क हूँ। मेरा विश्वास है कि निरन्तर-विचार-विश्लेषण ही किसी विषय को पूर्णता की ओर अग्रसर करता है। इस प्रयास को विद्वज्जनों का आदेश-अनुमोदन सदैव शिरोधार्य होगा।

—ओम्प्रकाश शर्मा शास्त्री

विषय-सूची

पर्यायोक्ति, आक्षेप, विरोध, विभावना, विशेषोक्ति, असम्भव, असंगति, विषम, सम, विचित्र, अधिक, अल्प, अन्योन्य, विशेष, व्याघात, कारणमाला, एकावली, मालादीपक, सार, यथासंख्य, पर्याय, परिवृत्ति, परिसंख्या, विकल्प, समुच्चय, प्रत्यनीक, काव्यलिंग, अर्थान्तरन्यास, उल्लास, लेश, तद्गुण, अतद्गुण, मीलित, विशेषक, उत्तर, सूक्ष्म, व्याजोक्ति, लोकोक्ति, वक्रोक्ति, स्वभावोक्ति, भाविक, अन्योक्ति, प्रमाण तथा रसवदादि अलंकार, रीतिकाल के नवीन अलंकार, अन्य अलंकार—उपमेयोपमा, अर्थापत्ति, गूढ़ोक्ति-विवृतोक्ति, अलंकारों के उदाहरणों का औचित्यपक्ष । २९६—४३७

७. अलंकार-वर्गीकरण

अलंकार-वर्गीकरण का आरम्भ, शब्दालंकार एवं अर्थालंकार का व्युत्पत्त्यर्थ, उभयालंकार, अलंकारों का पूर्वापर-क्रम-विवेचन, शब्द, अर्थ तथा उभयालंकार-वर्गीकरण के समर्थक आचार्य, अर्थालंकारों का वर्गीकरण, उद्भट, रुद्रट, रुय्यक, विद्याधर, विद्यानाथ, मल्लिनाथ-कृत वर्गीकरण, रीतिकाल में वर्गीकरण-परम्परा, रीतिकाल में वर्गीकरण के नवीन प्रयास, केशव, भिखारीदासकृत वर्गीकरण, व्यंग्य-अव्यंग्य-आधार पर सम्भावित वर्गीकरण, अलंकारों की संख्या, अलंकारों का अन्तर्भाव । ४३८—४६९

८. अलंकार और मनोविज्ञान

साहित्य और मनोविज्ञान, साहित्य : मानसी सृष्टि, अलंकार और मनोविज्ञान, अलंकारों की आधारभूत मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाएं, स्मृति, कल्पना, बिम्ब या प्रतिमाएं, प्रतीकीकरण, साहचर्य का नियम, भारतीय मत में कल्पना का विचार, मनोवैज्ञानिक आधार पर अलंकारों का वर्गीकरण—साधर्म्यमूलक वर्ग, अतिशयमूलक वर्ग, संगतिमूलक वर्ग, नादसंगतिमूलक वर्ग, विरोधमूलक वर्ग, गोपनमूलक वर्ग, साधर्म्यमूलक अलंकार—प्रस्तुत, अप्रस्तुत, अप्रस्तुत : साधारणीकरण का समर्थ माध्यम, उपमेय और उपमान का सादृश्यक्षेत्र, अप्रस्तुत के क्षेत्र—प्राकृतिक उपमान, सांस्कृतिक उपमान, वैयक्तिक उपमान, साहित्यिक उपमान, सामयिक उपमान, उपमा, उपमेयोपमा, अनन्वय, प्रतीप, रूपक, परिणाम, स्मरण, भ्रम, सन्देह, उल्लेख, अपह्नुति, उत्प्रेक्षा, तुल्ययोगिता, दीपक, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त, निदर्शना, व्यतिरेक, सहोक्ति, विनोक्ति, अर्थान्तरन्यास, अतिशयमूलक अलंकार—अत्युक्ति, उदात्त, प्रौढ़ोक्ति, अतिशयोक्ति, सार, संगतिमूलक अलंकार—कारणमाला, एकावली, यथासंख्य, पर्याय, परिवृत्ति, परिसंख्या, अर्थापत्ति, काव्यलिंग, अनुमान, हेतु, प्रत्यनीक, मीलित, उन्मीलित, तद्गुण, अतद्गुण, सामान्य, विशेषक, अन्योन्य, सम, समुच्चय, समाधि, विकस्वर, स्वभावोक्ति, नादसंगतिमूलक अलंकार—अनुप्रास, विरोधमूलक अलंकार—विरोधाभास, विभावना, विशेषोक्ति, असंगति, विषम, विचित्र, अधिक, अल्प, विशेष, व्याघात, आक्षेप, विकल्प, असम्भव, विषादन, गोपनमूलक अलंकार—पर्यायोक्त, व्याजस्तुति, समासोक्ति, अप्रस्तुतप्रशंसा, प्रस्तुतांकुर, सूक्ष्म, पिहित, प्रश्न, उत्तर, व्याजोक्ति, वक्रोक्ति, भाविक,

: १ :

अलङ्कार का स्वरूप-विवेचन

काव्य मानव की अन्तरात्मा का तृप्ति-हेतु है। इस तृप्ति का कारण काव्यगत सौन्दर्य है। काव्य में इस सौन्दर्य की सृष्टि के लिए काव्यकार सतत प्रयत्नशील रहे हैं। काव्यगत सौन्दर्य के महत्वशाली साधनों के रूप में अलंकार, गुण, रीत्यादि को विद्वानों द्वारा स्वीकृत किया गया है। इनमें भी काव्यशास्त्रियों ने अलंकार को विशेष रूप से सौन्दर्यवर्द्धक तत्व माना है। आचार्य वामन के शब्दों में काव्य अलंकार से उपादेय (ग्राह्य) होता है।

काव्यशास्त्र के इतिहास से यह बात स्पष्ट है कि विद्वानों की दृष्टि अलंकार-विवेचन की ओर प्रारम्भ से ही रही है। यही नहीं, अपितु एक दीर्घ अवधि तक अलंकार को काव्यसर्वस्व के रूप में स्वीकृत किया गया। काव्यांगों में अलंकार-विवेचन की इस प्रधानता के कारण ही प्रायः बहुत समय तक काव्यशास्त्र को अलंकारशास्त्र के नाम से अभिहित किया गया।

अलंकार के शास्त्रीय वस्तु-रूप को जानने के लिए प्रथम प्रश्न यह उठता है कि विद्वानों ने अलंकार का क्या स्वरूप माना है, अर्थात् उसका क्या लक्षण स्वीकृत किया है। इसके साथ ही यह भी विवेच्य है कि अलंकार का काव्य में क्या स्थान है? अलंकार के सम्बन्ध में यह भी ज्ञातव्य है कि वह कला है अथवा शास्त्र? वस्तुतः अलंकार अपने प्रयोगपक्ष में कला है और उस अलंकार-कला के विवेचनपक्ष में वह (अलंकार) शास्त्र का अभिधान ग्रहण कर लेता है। इस तथ्य के स्पष्टीकरण के हेतु कला और शास्त्र का स्वरूप-विवेचन आवश्यक है।

अलंकार का लक्षण और काव्य में उसका स्थान

काव्यशास्त्र में अलंकार की परिभाषा करते हुए प्रायः उसके स्वरूप का कथन किया गया है, परन्तु इसके साथ ही अधिकांश परिभाषाओं में काव्य में अलंकार का क्या स्थान है, इस पर भी प्रकाश डाला गया है। ये दोनों ही प्रश्न इन परिभाषाओं में सम्बद्ध दिखाई देते हैं। इसके अतिरिक्त अलंकार के क्षेत्र का भी अनेक आचार्यों ने इसी प्रसंग में विचार किया है। अतः इससे सम्बन्धित विवेचन में इन सभी दृष्टियों का एक क्रमिक विकास दिखाई देता है।

आचार्य भरत ने अपने ग्रंथ 'नाट्यशास्त्र में' चार अलंकारों का निरूपण किया है, परन्तु उन्होंने अलग से अलंकार की कोई परिभाषा नहीं दी। परिभाषा देना उन्हें अभीष्ट भी न था, क्योंकि वे तो नाटक की दृष्टि से विवेचना कर रहे थे। भरत के अनन्तर भामह ने अलंकारों को काव्य में आवश्यक माना और स्पष्टतः अलंकार का पक्ष लेकर वक्रोक्ति को सर्वालंकार-बीजा या मूलवर्तिनी सिद्ध किया। भामह के मतानुसार शब्द और अर्थ की वक्रता या वैचित्र्य का नाम अलंकार है।[1] यहाँ वक्रोक्ति का तात्पर्य शब्द और अर्थ की विचित्रता है। इस तरह भामह ने काव्य-क्षेत्र में वक्रता का पक्ष लेकर अलंकार को काव्य-प्राण प्रमाणित किया।

भामह ने वक्रोक्ति पर बल दिया और दण्डी ने अतिशयोक्ति और श्लेष पर, परन्तु अलंकार को काव्य का अनिवार्य धर्म सिद्ध कर भामह की अलंकार-सम्बन्धी विचारधारा को ही दण्डी ने भी आगे बढ़ाया। उन्होंने अलंकारों को काव्य का शोभाकारक धर्म माना।[2] धर्म की स्थिति स्थिरता की है, सहज गुण की सी है और शोभा या सौन्दर्य का भार भी अलंकारों पर है। बिना अलंकार के काव्य नहीं। दण्डी ने एक दूसरी परिभाषा दी है, जिसमें सन्धि तथा उसके अंग, वृत्ति तथा उसके अंग और लक्षणादि को भी अलंकार के ही अन्तर्गत माना है। भामह की वक्रोक्ति और दण्डी की अतिशयोक्ति प्रायः एक ही मानी गई है, परन्तु अलंकार की व्यापकता एवं प्रकार की दृष्टि से दण्डी का दृष्टिकोण अधिक उदार है। दण्डी की परिभाषा ने अलंकारों का पक्ष दृढ़ बना दिया।

वामन ने अलंकार का दोहरा विवेचन किया। परम्परागत लक्षण को वे सहसा पदच्युत नहीं कर सकते थे, इसलिए ग्रन्थारम्भ में तो काव्य की ग्राह्यता अलंकार से प्रमाणित की जो कि दण्डी की उस परिभाषा का परिष्कृत संस्करण है कि सन्धि, वृत्ति तथा उनके अंगादि सब अलंकारान्तर्गत आ सकते हैं। वामन की परिभाषा ने काव्य के स्वरूप को प्रधान सिद्ध कर दिया और सौन्दर्यमात्र को अलंकार माना।[3] परन्तु दूसरा मत भी वामन ने प्रस्तुत कर दिया कि काव्य के शोभाकारक धर्म गुण हैं और उस शोभा की अतिशयता करने वाले अलंकार हैं। यह परिभाषा स्पष्ट तो है परन्तु दण्डी के लक्षण पर कठोर आघात सिद्ध हुई जो कालान्तर में जा कर अलंकार-लक्षण-परिवर्तन करने में सशक्त बन गई। यहीं से अलंकार को काव्य

---

१. वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलंकृतिः।१-३६।

काव्यालंकारः—भामह, पृष्ठ ५

२. (क) काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते।२-१।
(ख) यच्च संध्यंगवृत्यंगलक्षणाद्यागमान्तरे।
व्यावर्णितमिदं चेष्टमलंकारतयैव नः।२-३६७।

काव्यादर्शः—दण्डी, पृष्ठ ४४, १५३

३. काव्यं ग्राह्यमलंकारात्।१।
सौन्दर्यमलंकारः।२।

काव्यालंकारसूत्राणि—वामन, पृष्ठ १

का अस्थिर धर्म मानने की नींव पड़ गई और अलंकार का काव्य में सुदृढ़ आसन कम्पित हो गया। वास्तव में वामन ने शोभाकर्तृत्व तथा शोभावर्द्धकत्व को लेकर गुणालंकार का जो विभेद किया, उसी से अलंकार काव्य में प्रथम दर्जे से दूसरे पर आ गया। उद्भट के गुणालंकार में भेद न मानने की उक्ति भी किसी काम की न रही।

आचार्य रुद्रट ने अपने काव्यालंकार में स्पष्टतः रस और अलंकार को पृथक् कर दिया तथा रसवत्, ऊर्जस्वि, समाहित और प्रेयस् को अलंकारक्षेत्र से बाहर निकाला, परन्तु अप्पय्यदीक्षित के काल तक रसवत्, प्रेयसादि अलंकार के क्षेत्र से बाहर नहीं निकले, रुद्रट का प्रयास भी विवादास्पद रहा। स्वयं ध्वनिकार ने भी रसवदादि की स्थिति अलंकार रूप से निषिद्ध नहीं की। अप्पय्यदीक्षित तक भावोदय, भाव-सन्धि, भावशबलतादि तथा दर्शन-गत प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमानादि प्रमाण भी अलंकार के अन्तर्गत आ गये। आचार्य रुद्रट के प्रयास ने अलंकार्य और अलंकार का क्षेत्र खोल दिया और रस की ओर दृष्टि जाने से अलंकारों का स्थान वामन के अनन्तर रुद्रट ने भी पृथक्तः दूसरा बना दिया।

'सौन्दर्यमलंकारः' वाली वामन की परिभाषा का क्रम टूट नहीं गया, वह चलता रहा। व्यक्तिविवेककार महिमभट्ट ने 'चारुत्व' शब्द का प्रयोग अलंकार के लिए किया और शब्दार्थ की विच्छित्ति को भी अलंकार कहा।[1]

आचार्य कुन्तक ने काव्य की सालंकारता का पक्ष उद्घोषित एवं सम्पुष्ट किया और कहा कि अलंकार-सहित, सम्पूर्ण अर्थात् अवयव सहित समस्त शब्दार्थ समुदाय को काव्यता अर्थात् कविकर्मत्व प्राप्त है, इसका तात्पर्य यह है कि अलंकार काव्य का स्वरूपाधायक धर्म है।[2]

इसी क्रम में आचार्य भोज भी रस को अलंकार मानने पर विमोहित हो गये, यद्यपि वह रसवादी थे, परन्तु भोज के विचार से तो रीति-गुण भी अलंकारान्तर्गत आ गये हैं। अलंकार की इस व्यापक परिभाषा ने वाग्भट (वाग्भटालंकारलेखक) को भी यह कहने पर विवश किया कि दोषों से मुक्त और गुणों से युक्त होने पर भी अलंकार के बिना वचन चमत्कृत नहीं होता है।[3] अर्थ यही हुआ कि अलंकार काव्य का अनिवार्य अंग है और काव्य में इसकी स्वीकृति अनिवार्यतः होनी चाहिये। इसी

---

१. चारुत्वमलंकारः, तथा च शब्दार्थयोर्विच्छित्तिरलंकारः।
व्यक्तिविवेकः—महिमभट्ट, पृ०७४४

२. सालंकारस्य काव्यत्वम् :
वक्रोक्तिजीवितम्—कुन्तक, पृष्ठ ५१

३. दोषैर्मुक्तं गुणैर्युक्तमपि येनोज्झितं वचः।
स्त्रीरूपमिव यो भाति तं ब्रुवेऽलंक्रियोच्चयम् ॥१।
वाग्भटालंकारः—वाग्भट, पृष्ठ १७]

परम्परा में 'अलंकारशेखर' के कर्त्ता केशवमिश्र ने 'शोभा के लिए अलंकार है—' यह कहा। जयदेव की तो स्थिति स्पष्ट है। उसने अग्नि में उष्णता और काव्य में अलंकार की स्थिति मानने का दुर्भेद्य आग्रह किया। आचार्य मम्मट ने काव्य-लक्षण में अलंकारों की अवस्थिति की अनिवार्यता को खुल कर चुनौती नहीं दी, अपितु 'क्वापि' से धीमी आवाज़ में कहा कि अलंकार रहें या कभी नहीं रहें तो भी काव्य का शरीर नीरस, शोभा-रहित नहीं होगा। इसी बात को लेकर जयदेव ने अलंकारों को हारादिवद् मानते हुए भी वृत्ति, रस तथा अलंकारयुक्त वाणी को काव्य माना।[1] यहाँ इतनी लम्बी परम्परा का दिग्दर्शन करने का तात्पर्य यही है कि 'काव्यं ग्राह्य अलंकारात्' वाला वामन का कथन निर्बल नहीं पड़ा, अपितु संस्कृत-काव्य-शास्त्र में उस पक्ष का समर्थन होता ही रहा। इसलिए भामह से प्रचलित तथा दण्डी-वामन से समर्थित काव्य का अलंकार-स्वरूप संस्कृतसाहित्य में अपने पोषकों का एक वर्ग अप्पय्यदीक्षित तक लिए रहा और वह अलंकार तथा रीतिवादियों के सहारे टिका रहा।

संस्कृत-काव्य-शास्त्र में दूसरा अलंकार-लक्षण काव्य में अलंकार की बाह्य सत्ता का संस्थापक सिद्ध हुआ। अलंकार की वाच्यता तो सर्वग्राह्य थी और है ही, परन्तु वामन के गुण-अलंकार-भेद-दर्शक लक्षण से प्रेरित हो कर आनन्दवर्धन ने अलंकार को बाह्य सिद्ध कर दिया। उसे कटक-कुण्डलादिवत् ही मान्यता दी। रस को अलंकार्य मान कर अलंकार को साधन प्रमाणित कर दिया। यहाँ यह कहना उचित होगा कि अलंकार व्याकरणगत 'अलंकरोति इति अलंकारः' के व्युत्पत्यर्थ में पहले वर्ग को मान्य रहा और 'अलंक्रियतेऽनेन इति अलंकारः' दूसरे वर्ग को। पहले वर्ग में वह अलंकृत या सुशोभित करता है—इस अर्थ का बोधक अलंकार शब्द विधायक (कर्तृत्व) पद पर आसीन था और दूसरे अर्थ में—'इससे काव्य अलंकृत होता है' साधन मात्र बन गया है। दोनों लक्षणों में महान् अन्तर है। अलंकार शब्द की एक व्युत्पत्ति 'अलंकरणम् इति अलंकारः' भी है, इसके अनुसार अलंकार एक साधनमात्र धर्म न रह कर स्वतन्त्र धर्म या व्यापार बन गया जो कि कवि के काव्यसम्बन्धी उत्तरदायित्व का एक अनुपेक्षणीय अंग बन जाता है। अलंकार क्योंकि अभिव्यक्ति का एक रोचक प्रकार है और काव्य स्वयं कवि की अनुभूति का वाङ्मय अभिरूप है, अतः अलंकार का उसमें आवश्यक महत्व स्थापित हो जाता है। सम्भवतः अलंकारवादियों को यही पक्ष अभिप्रेत था।

---

१. (क) शब्दार्थयोः प्रसिद्ध्या वा कवेः प्रौढ़िवशेन वा।
हारादिवदलंकारः सन्निवेशो मनोहर: ॥५-१॥
(ख) सालंकाररसाऽनेकवृत्तिर्वाक् काव्यनामभाक् ॥१-७॥
चन्द्रालोकः—जयदेव, पृष्ठ ४३,४

२. तदर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः।
अंगाश्रितास्त्वलंकाराः मन्तव्याः कटकादिवत् ॥२-६॥
ध्वन्यालोकः—आनन्दवर्धन, पृष्ठ १३०

ध्वनिसम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य के रूप में आनन्दवर्धन ने अलंकार को कटककुण्डलादिवत् मानने के साथ ही चारुत्वहेतु भी माना। "सौन्दर्य (चारुत्व) ही अलंकार है" इस वामनोक्त लक्षण में हेतु जोड़कर उसे साधनपद पर आसीन कर दिया।[1] इस साधन रूप में स्वीकरण की दृष्टि का अनुसरण ही परवर्ती आचार्यों ने किया। विशेषकर रस के पक्षपाती आचार्यों ने इस मत का इतना गहरा प्रचार किया कि अलंकार का पहला लक्षण दुबका दुबका काव्यशास्त्र के किसी किसी आचार्य की मस्तिष्कप्रतोली में आता रहा, परन्तु रसध्वनि के राजमार्ग में तो बेचारा अलंकार रस-सेवक बनकर रह गया।

ध्वनिकार के इस अंगभूत अलंकारस्वीकारीमत के पोषकों में राजशेखर ने वेदविद्या का सप्तमांग मानकर अलंकार की शोभाधायक स्थिति की पुकार लगाते हुए भी उसे रस का उपकारक ही माना है। आचार्य कुन्तक 'विचित्राभिधारूपा' वक्रोक्ति के प्रौढ़ व्याख्याता होकर भी दोनों ओर दोलायमान रहे। वे काव्य की सालंकारता का पक्ष लेते रहे, क्योंकि एक ओर वक्रोक्ति की संस्थापना उनका लक्ष्य था, दूसरी ओर वे अलंकार को कटकादिवत् शोभातिशयकारक कहते रहे।[2] अलंकारलक्षण के सम्बन्ध में स्थिर मति का परिचय कुन्तक ने भी नहीं दिया, भले ही उनकी मानसिक स्थिति काव्य की सालंकारता के पक्ष में अधिक रही है।

आचार्य मम्मट ने अपने लक्षण में अलंकारों को रस का उपकारक एवं अंगभूत कहा। अनुप्रासोपमादि की हारादिवत् स्थिति निश्चित कर दी।[3] हेमचन्द्र ने अपने संग्रह ग्रन्थ में अलंकारों को अंगाश्रित माना। आचार्य विद्यानाथ ने ध्वनिकार तथा मम्मट का लक्षण गद्य-पद्य में दोहरा मात्र दिया। इस काल में अलंकारों के विषय में चारुत्वहेतुत्व का स्वर पुनः घोषित किया गया।[4]

आचार्य विश्वनाथ ने दण्डी के अलंकारलक्षण पर कठोर आघात किया। रसात्मक वाक्य को काव्य मान कर भला अलंकार की स्थिरता उन्हें सह्य कैसे हो सकती थी, इन्होंने शब्दार्थ के अस्थिर धर्म रूपशोभातिशायी तथा रसादि के उपकारकों

---

१. अलंकारो हि चारुत्वहेतुः प्रसिद्धः ॥

ध्वन्यालोकः—आनंदवर्धन, पृष्ठ १२३

२. अलंकार शब्दः शरीरस्य शोभातिशयकारित्वात् मुख्यतया कटकादिषुवर्तते। तत्कारित्वसामान्यादुपचारादुपमादिषु।

वक्रोक्तिजीवितम्—कुन्तक, पृष्ठ ८

३. उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।
हारादिवदलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादयः ॥ ६७ ।

काव्यप्रकाशः—मम्मट, पृष्ठ ३८१

४. (क) अंगाश्रिताः अलंकाराः ॥

काव्यानुशासनम्—हेमचन्द्र, पृष्ठ २९५

(ख) अलंक्रियतेऽनेनेति चारुत्वहेतुरलंकारः ॥

प्रतापरुद्रीययशोभूषणम्—विद्यानाथ, (अलंकारप्रकरण) पृष्ठ २४४

को अलंकार कहा। इससे अलंकारों की काव्य में सहज एवं अनिवार्य स्थिति हट गयी। सत्काव्य में अलंकार विद्यमान रह कर भी शोभादायक नहीं अपितु शोभा का वर्द्धक मात्र बना है। अलंकार काव्यात्मा रस के लिए उपकारक हैं। अस्थिर धर्म कह कर विश्वनाथ मम्मट से भी आगे कदम बढ़ा गये और उन्होंने अलंकारों का हीनत्व प्रमाणित कर दिया। संस्कृतकाव्यशास्त्रीय परम्परा के अन्तिम आचार्य नरसिंह (१८-१९ शती) ने भी ध्वनिकार का पक्ष लेकर अलंकारों को चारुत्वातिशयहेतु ही माना। इस तरह अलंकार-लक्षणकारों का एक वर्ग इसे साधन मान कर चला।

आनन्दवर्धन ने यद्यपि अलंकारों को साधन रूप दिया, परन्तु अलंकारों के साथ अन्याय करने से हिचकिचाए और एक समन्वयवादी मत भी प्रस्तुत करने के लिए विवश हो गये। सर्वप्रथम यह तथ्य द्रष्टव्य है कि ध्वनिकार अलंकारध्वनि माने बिना आगे न बढ़ पाये। इससे सिद्ध है कि ध्वनि-क्षेत्र में अलंकारों का स्थान भी उन्हें मान्य रहा, चाहे आक्षेप, समासोक्ति, पर्यायोक्ति आदि अलंकारों में उन्होंने अलंकारवाच्यता को कितने प्रबल प्रयत्न से समर्थित किया, परन्तु ध्वनिक्षेत्र से अलंकारों को हटाना उन के बस का रोग न था।

ध्वनिकार ने कटककुण्डलादिवत् कह कर भी अलंकारों को सहज, प्राकृत तथा आन्तरिक भी माना। तथ्य इतना है कि काव्य में अलंकारों का अन्तरंग अथवा बहिरंग होना कवि-कृत प्रयोग पर निर्भर है। अलंकार रसाभिव्यक्ति में सहायक हैं। इनसे कहाँ कहाँ रसाभिव्यक्ति अत्यधिक प्रभावपूर्ण बन जाती है? आनन्दवर्धन का कहना है कि रस की अभिव्यक्ति वाच्य विशेष से होती है। उन वाच्य विशेष के प्रतिपादक शब्दों में रसादि के प्रकाशक रूपकादि अलंकार वाच्य विशेष ही हैं। इस कारण रस की अभिव्यक्ति में इन रूपकादि अलंकारों की बहिरंगता नहीं है। बहिरंगता तो प्रयत्नसाध्य यमकादि में होती है।[1] अभिनव गुप्त भी इसी मत के समर्थक थे कि रसयुक्त काव्य में अलंकार स्वभावतः प्रयोग किये जाएँ। रसरहित में तो वे अलंकार लदे शव-तुल्य हो जायेंगे। जैसे यति के शरीर पर लगे अलंकार हास्यास्पद स्थितिजनक होते हैं। इसलिए अलंकारलक्षण में एक लचक आनन्दवर्धन ने पैदा की और उसका पोषण बाद के अभिनवगुप्त एवं मम्मट जैसे विशिष्ट आचार्यों ने किया। शेष ने तो अलंकार को स्पष्टतः बहिरंग साधन माना।

रीतिकाल के अलंकारिकों द्वारा अलंकार सामान्य का लक्षण-विवेचन

रीतिकाल के आलंकारिक प्रधानतः अलंकार के विधायकत्व और साधन-स्वरूप दोनों लक्षणों को लेकर चलते रहे। आचार्य केशव का अलंकारविहीन कविता को नग्न मानना यह सिद्ध करता है कि वे भामह-दण्डी आदि की परम्परा के पक्ष में थे।

---

१. यतो रसा वाच्यविशेषैरेवाक्षेप्तव्या: तत्प्रतिपादकैश्चशब्दैस्तत्प्रकाशिनो वाच्यविशेषा एव रूपकादयोऽलंकाराः। तस्मान्न तेषां बहिरंगत्वं रसाभिव्यक्तौ यमकदुष्करमार्गेषु तु तत् स्थितमेव।

ध्वन्यालोकः—आनन्दवर्धन, पृष्ठ १४०

संस्कृत के समान हिन्दीकाव्यशास्त्र में भी प्रथम यही मत मान्य हुआ। भूषण बिना कविता नहीं विराजती, नहीं सुशोभित होती।[1]

केशव के इस शोभाविधायकत्व के समर्थक अलंकार-लक्षण के अनुयायी आचार्य देव ने भी अलंकारों के पहन लेने पर कविता को अधिक रूपवती माना। दोनों ने 'सरस' शब्द लक्षण में प्रयोग किया, जिसका तात्पर्य यह हुआ कि रसयुक्त काव्य में भी दोनों आचार्य अलंकार की अनिवार्यता मानते हैं। आचार्य दूलह भी इस पद्धति के समर्थक बने। उनका लक्षण नकारात्मकता में भी उसी लक्ष्य-सिद्धि का दाता है कि भूषण बिना कविता भूषित नहीं होती। इस मत के अन्तिम प्रबल समर्थक आचार्य अमीरदास ने "श्रीकृष्णसाहित्यसिन्धु" में लिखा है कि कविहृदय में स्फुरित चमत्कार श्रवणसुखद वागाभरण ही अलंकार है। शब्दार्थ की चित्रता से चमत्कार-दायक साधन ही अलंकार होता है। आचार्य रसिकगोविन्द तथा ग्वाल ने भी रस तथा व्यंग्य से भिन्न और शब्दार्थ को भूषित करने वाले काव्यांग को ही अलंकार माना, परन्तु इन दोनों के इन लक्षणों से अलंकार के विधायकत्व को थोड़ा आघात पहुंचा है। ग्वाल तथा रसिकगोविन्द के अलंकारलक्षण पर कुवलयानन्द के टीकाकार वैद्यनाथसूरि के अलंकारलक्षण का प्रभाव है।[2]

---

१. (क) 'नग्न जु भूषण हीन' तीसरा प्रभाव, पृष्ठ २६
(ख) जदपि सुजाति सुलक्षणी सुबरन सरस सुवृत्त।
भूषण बिनु न बिराजई, कविता बनिता मित्त ॥ ५१ ॥
कविप्रिया—केशव, पृष्ठ ४७

२. (क) कविता कामिनी सुखद सुबरन सरस सुजाति।
अलंकार पहिरे अधिक अदभुत रूप लखाति ॥
अलंकार रस-शब्द के सोहत सुबरन रूप।
अंग अंग मनि मानि के, भरे धरे ब्रजभूप ॥
शब्दरसायन—देव, पृष्ठ ८४

(ख) चरन बरन लच्छन ललित, रचि, रीझै करतार।
बिन भूषण नहि भूषई, कविता वनिता चार ॥ २ ॥
कविकुलकण्ठाभरण—दूलह, पृष्ठ १

(ग) चमत्कार कवि हृदय में फुरे जहाँ जो आय।
श्रवण सुखद वागाभरण अलंकार सो गाय।
शब्द अर्थ की चित्रता चमत्कार छवि देत।
अलंकार ता सों कहै, जो कवि सुमति निकेत।
श्रीकृष्णसाहित्यसिन्धु—अमीरदास, पृष्ठ १५८

(घ) रस तैं बिगि तैं भिन्न अरु शब्दार्थ कौ भूषित करै सो अलंकार
रसिकगोविन्दआनन्दघन—रसिकगोविन्द, पृष्ठ ४

(ङ) रस आदिक तें व्यंग तें होय भिन्नता जाहि।
सब्दारथ ते भिन्न ह्वै, सब्दारथ के माहिं ॥
होइ विषय सम्बन्ध करि, चमत्कार को कर्ण।
ताहि सों सब कहत हैं; अलंकार इ सवर्ण।
अलंकारभ्रमभंजन—ग्वाल, पृष्ठ ७

हिन्दी-साहित्य के समालोचकों में "रसादिभिन्नव्यंग्य भिन्नत्वेसति" पद के अर्थ पर ग्वाल के अनुवाद में अशुद्धि को लेकर विवाद हुआ है।

'ब्रजभारती' पत्रिका में गोविन्द चतुर्वेदी शास्त्री तथा श्री कन्हैयालाल पोद्दार जी में ग्वाल द्वारा अनूदित लक्षण पर आलोचना प्रत्यालोचना हुई, जिसमें गोविन्द चतुर्वेदी जी ने 'रसादिभिन्नव्यंग्यभिन्नत्वेसति' पद में अलंकार के दो विशेषण माने, पहला 'रसादि भिन्ने सति' तथा दूसरा 'व्यंग्यभिन्नत्वेसति' अर्थात् अलंकार वह जो रसादि से तथा व्यंग्य से भिन्न हो। परन्तु पोद्दार जी ने इस संस्कृत भाग को एक ही विशेषण मान कर इसका अर्थ किया कि 'रसादिभिन्न व्यंग्य' कहने में वैद्यनाथ का अभिप्राय यह है कि जिस व्यंग्य में रसादि न हो, ऐसे व्यंग्य से रहित हो, वह अलंकार का विषय है, अतएव उन्होंने (ग्वाल ने) रसादि का अलंकारलक्षण में ग्रहण किया है—न कि बहिष्कार। परन्तु ग्वाल ने अनुवाद में प्रमाद किया है, इसलिए अनुवाद शुद्ध न होकर अशुद्ध हो गया है।[१] ग्वाल के अतिरिक्त रसिकगोविन्द जी द्वारा लिखे अलंकारलक्षण पर भी वैद्यनाथ सूरि का प्रभाव है भट्टदेवशंकर पुरोहित का लक्षण भी इसी दृष्टि का है।[२] इसलिए रसिकगोविन्द ने भी अपने अलंकार-लक्षण का यह रूप दिया है—

'रस तैं बिंगि तैं भिन्न अरु सब्दार्थ कौं भूषित करै सो अलंकार'[३]

इस लक्षण में वैद्यनाथ सूरिकृत लक्षण का पूरा अनुवाद तो नहीं[४] परन्तु एक विशेषण तथा दो विशेषण वाली भ्रान्ति अवश्य दूर हो जाती है। रसिकगोविन्द जी ने भी 'रसादि भिन्न व्यंग्य भिन्नत्वे सति' इस पद में दो ही विशेषण माने हैं, इस से सिद्ध होता है कि तब ग्वाल ने भी ऐसा ही किया है। सम्भवत: अलंकार की वाच्यता को लेकर दो विशेषण वैद्यनाथ सूरि तथा दोनों अनुवादकों ने ले लिए हैं। पोद्दार जी का अर्थ लेने पर अलंकार रसादि संपृक्त होने पर अन्तरंगता का आसन ले लेगा और दो विशेषण मानने पर बहिरंगता का।

गोप कवि ने शब्दार्थ की रुचिर रचना को अलंकार माना है। रसिक सुमति ने शब्दार्थगत चित्रता की विविधता पर अलंकार लक्षण बाँधा[५] परन्तु व्यंग्य या रस

---

१. ब्रजभारती—भाद्रपद-पौष, १९९५, अंक ५, ६, पृष्ठ १३, २७, १६

२. रसादि भिन्नव्यङ्ग्यान्यच्छब्दार्थयोश्च या पृथक्।
चमत्कार प्रभवता तदवच्छेदकमलंक्रिया ॥१३३॥
अलंकारमंजूषा—देवशंकर पुरोहित, पृष्ठ २४०

३. रसिकगोविन्दआनन्दघन—रसिकगोविन्द, पृष्ठ४

४. रसादिभिन्नव्यंग्यभिन्नत्वेसति, शब्दार्थान्यतरनिष्ठा या विषयिता सम्बन्धावच्छिन्ना, चमत्कृतिजनकतावच्छेदकता तदवच्छेदकत्वम-लंकारत्वमिति— वैद्यनाथ सूरि, (कुवलयानन्द टीका) पृष्ठ ४

५. (क) शब्दार्थ रचना रुचिर, अलंकार को जान
भाव भेद गुण रूप ते प्रकट होत है आन ॥८॥
रामचन्द्राभरण—गोप, पृष्ठ १

सबद अरथ की चित्रता विविध भांति कि होइ।
अलंकार तासों कहत रसिक विबध कवि लोइ। २।
अलंकारचन्द्रोदय—रसिक सुमति, पृष्ठ

की चर्चा न करने के कारण वे इसी मत के समर्थक जान पड़ते हैं ।

दूसरा वर्ग अलंकार को साधन रूप मानने वाले कवि-आचार्यों का है । इनमें चिन्तामणि, कुलपति, सोमनाथ, भिखारीदास, रसिकगोविन्द तथा दास द्विविध अलंकारलक्षणकर्त्ता जैसे कवि हैं । ये अलंकार को रस के उपकारक-पोषक और उत्कर्ष-कारक काव्यांग के रूप में मानते हैं । इन सब आचार्यों पर मम्मट एवं विश्वनाथ का प्रभाव है । यह वर्ग भी विविधांगनिरूपक आचार्यों का है । इसलिए रसध्वनिवादी आचार्यों की परम्परा ने इसे अत्यन्त प्रभावित किया । रसिकगोविन्द ने भी एक लक्षण इसी प्रकार का लिखा है । दूसरा उद्धृत किया जा चुका है । इनमें चिन्तामणि ने अलंकार को हारादिवत्, कुलपति ने रसवर्द्धक सोमनाथ ने रसपोषक तथा आचार्यदास ने 'रुचिरहेतु' (चारुत्वहेतु) रसोत्कर्षकारक माना । 'अलंकारमाला' के लेखक दास कवि ने अलंकार को 'रसोपकारक' ही सिद्ध किया है । रसिकगोविन्द ने अलंकारलक्षण में संयोग-सम्बन्ध-रूप स्वीकार किया । इन आचार्यों के लक्षण द्रष्टव्य हैं:—

(क) चिन्तामणि—अलंकार ज्यों पुरुष को हारादिक मन मानि ।
अनुप्रासोपमादिक कविता अलंकार ज्यौं जानि ।।४।।

(ख) कुलपति— रसहि बढ़ाये होय जहाँ कबहुंक अंग निवास ।
अनुप्रास उपमादि दै, अलंकार सुप्रकास ।।१३।।

(ग) सोमनाथ— अलंकार हुं रस कों पोषतु है कहुं उदास है ।

(घ) भिखारीदास—अनुप्रास उपमादि जे, सबदारथालंकार ।
ऊपर ते भूषित अरें, जैसे तन को हार ।
अलंकार बिन रसहु है, रसो अलंकृत छंडि ।
सुकवि वचन-रचनान सों, देतिदुहुनकोमंडि ।

(ङ) रसिकगोविन्द—अलंकार संजोग सम्बन्ध कर के रहते हैं—जैसे शरीर विषै हारादिक हैं ।

(च) कवि दास—अर्थ शब्द कर करत हैं जो रस को उपकार ।
भूषण जैसे जीव को, ते कहिये अलंकार ।।[1]

इन आचार्यों ने मम्मट, विश्वनाथ तथा विद्यानाथ (स्वयं मम्मट से प्रभावित) से प्रभाव तो ग्रहण किया, परन्तु उनके अलंकारलक्षणों का शब्दशः अनुवाद नहीं किया, केवल भावार्थ या छाया इन लक्षणों पर देखी जा सकती है । मम्मट के लक्षण का प्रभाव—चिन्तामणि, कुलपति, भिखारीदास तथा कवि दास पर स्पष्ट है । सोमनाथ का लक्षण विश्वनाथ से और रसिकगोविन्द का यह दूसरा गद्यबद्ध लक्षण दोनों उक्त आचार्यों से प्रभावित है ।

---

१. (क) कविकुलकल्पतरु—चिन्तामणि, पृष्ठ २३
(ख) रसरहस्य—कुलपति मिश्र, पृष्ठ ५१
(ग) रसपीयूषनिधि—सोमनाथ, पृष्ठ १४१
(घ) काव्यनिर्णय—भिखारीदास, पृष्ठ ५५७
(ङ) रसिकगोविन्दआनन्दघन—रसिकगोविन्द, पृष्ठ २
(च) अलंकारमाला—कवि दास, पृष्ठ १

रीतिकाल में आचार्य देव तथा याकूबखाँ ने परम्परा से भिन्न लक्षण लिखे। इनके लक्षण विचारणीय हैं। देव ने एक लक्षण में भाव के सुन्दर विटप पर शब्द और अर्थ के अलंकारों को फल-फूल की संज्ञा दी है। फल रूप-रसात्मकता रखता है। फूल गंध एवं रस भी। अलंकार के लिए यह नया विशेषण है। हार-कटक आदि से तो देव ने साहित्य पाठकों के प्राण छुड़ाए और अलंकारलक्षण में नवीन उद्भावना की। उन्होंने चाहे अलंकार रसोत्कर्षकारक ही माना हो, परन्तु फल-फूल मान बहिरंगता एवं अन्तरंगता दोनों का समन्वय खूब किया। लक्षण यह है—

देव—खेत पात्र, प्रारब्ध विधि, बीज, सुअंकुर जोग।
सलिल नेह भाव सुविटप, छन्द पात्र परियोग ॥
अलंकार शब्दार्थ के फूल फलनि, अमोद।
मधुर सुजस-रस अमर-तरु, अमर अमी रस मोद ॥[1]

'रसभूषण' के लेखक याकूबखाँ ने अलंकार के सम्बन्ध में नवीन पद्धति की उद्भावना की। उन्होंने रस-युक्त अलंकार माना, परन्तु अलंकार का सम्बन्ध नायिका से ठहराया। दोनों एक दूसरे के शोभादायक हैं, ग्राहक और पोषक। रीतिकाल और नायिका का सम्बन्ध कितना प्रचलित है, इस तथ्य तथा शृंगार रस को ध्यान में रख कर याकूबखाँ ने रस एवं नायिका-परक अलंकारलक्षण दिया जो कदाचित् संस्कृत-हिन्दी-काव्यशास्त्र में अकेला है।

नायिका के साथ अलंकारों का सम्बन्ध स्थापित करने से याकूबखाँ को केशव की परम्परा में भी माना जा सकता है, क्योंकि एक प्रकार से अलंकार की सत्ता बाह्य ही रही, तब भी याकूबखाँ द्वारा "रस-युक्त अलंकार" पद का प्रयोग करके रसवती नायिका और रसवती कविता में भी अलंकार का सम्बन्ध रखना उचित ही है। इससे वे सशक्त अलंकारवादी प्रमाणित होते हैं। दूसरी ओर अपनी नवीन उद्भावना के कारण अकेले भी, याकूबखाँ से पूर्व रत्नेस ने 'कान्ताभूषण' में और परवर्ती काल में रायशिवप्रसाद ने 'रसभूषण' में नायिका-अलंकार-योग के द्वारा अलंकारविवेचन किया है, परन्तु अलंकार के सम्बन्ध में अपनी विशिष्ट धारणा केवल याकूबखाँ ने ही प्रकट की है। जैसे:—

याकूबखाँ—अलंकाररस-युक्त कहि नाइका-भेद पुनि।
बरनौं क्रम क्रमनि उक्त, लक्षन अवर उदाहरन ॥
अलंकार बिनु नाइका शोभित होय न आनि।
अलंकार युत नाइका, या ते कहौं बखानि॥[2]

आनन्दवर्धन की भाँति रीतिकाल में अलंकार के समन्वयवादी प्रयास भी हुए, इस प्रयास में देव का मुख्य हाथ रहा, उसने व्यंग्य और वाच्य दोनों रूपों से अलंकार को मान्यता दी। यह पद इसी का प्रमाण है—

१. शब्दरसायन—देव, पृष्ठ २८
२. रसभूषण—याकूबखाँ, पृष्ठ १

देव—अलंकार रस, शब्द के सोहत सुबरन रूप।
अंग अंग मनि मानि कै, भरे धरे ब्रज भूप॥[1]

आचार्य गोप तथा रसिक सुमति के लक्षण स्वतंत्रमति के परिचायक हैं, परन्तु बैरीसाल और पद्माकर मम्मट के अलंकार-वर्गीकरण से प्रभावित होकर ही अपना लक्षण बना पाए हैं। दोनों के लक्षणों पर मम्मट के इस कथन की स्पष्ट छाया है। कि—

"इन अलंकारों में काव्यशोभा के अतिशय हेतुत्व के समान रूप से रहने पर भी उनमें से कोई शब्दालंकार कोई अर्थालंकार और कोई उभयालंकार माना जाता है, यह नियम किस आधार पर बनाया गया है। इस प्रश्न का उत्तर यही है कि इस विषय में पहले कहा जा चुका है कि—काव्य में गुण-दोष तथा अलंकारोंकी शब्द-निष्ठता, अर्थनिष्ठता या उभयनिष्ठता की व्यवस्था में अन्य कोई निमित्त न होने से अन्वयव्यतिरेक ही नियामक होते हैं। इसलिए जो अलंकार जिस शब्द अथवा अर्थ के अन्वयव्यतिरेक का अनुसरण करता है, वह उससे सम्बद्ध अलंकार माना जाता है"।[2]

(क) बैरीसाल—कहुं पद ते कहुं अर्थ ते कहुं दुहनु ते जोइ।
अभिप्राय जैसो जहाँ, अलंकार त्यों होइ॥

(ख) पद्माकर—सब्दहुं ते कहुं अर्थ ते कहुं दुहुं ते उर आनि।
अभिप्राय जिहि भाँति जहं अलंकार सो मानि॥१॥[3]

इस प्रकार रीतिकाल में विभिन्न आचार्यों ने रस तथा रसनिरपेक्ष दृष्टि से अलंकार-लक्षण लिखे। इन लक्षणों में इनका बौद्धिक कौशल झलकता है। आचार्य देव तथा याकूबखाँ का प्रयास नवीन दिशा का बोधक है। काव्यवृक्ष के फूल-फल समान अलंकारों को मानने की देव की सूझ अप्रतिम प्रतिभा का परिणाम है। इस भाँति आचार्य देव संस्कृत-काव्य-शास्त्रियों से भी आगे बढ़ गये हैं। सहृदयता का एक मर्मस्पर्शी स्वरूप देव के अलंकार-लक्षण में अन्तर्निहित है। इसलिए देव, गोप, रसिक सुमति तथा याकूब खां सरीखे आलंकारिकों ने मतिस्वातंत्र्य के साथ-साथ परम्परागत लक्षण-परिपाटी को अक्षुण्ण रखा है। यह भी गौरवास्पद ही है।

---

१. शब्दरसायन—देव, पृष्ठ—६४

२. कुतः पुनरेष नियमो यदेतेषां तुल्येऽपि काव्यशोभातिशय-हेतुत्वे कश्चिदलंकारः शब्दस्य, कश्चिदर्थस्य, कश्चिदुभयस्येति चेत् न। उक्तमत्र यथा काव्यदोष-गुणालंकाराणां शब्दार्थयोभयगतत्वेन व्यवस्थायाम् अन्वयव्यतिरेकावेव प्रभवतः निमित्तान्तरस्याभावात् ततश्च योऽलंकारो यदीयान्वयव्यतिरेकावनुविधत्ते स तदलंकारो व्यवस्थाप्यते इति—

काव्यप्रकाशः—आचार्य मम्मट, पृष्ठ ५६५

३. (क) भाषाभरण—बैरीसाल, पृष्ठ ७
(ख) पद्माभरण—पद्माकर, पृष्ठ ४२

अलंकार का कलात्मक और शास्त्रीय स्वरूप

शास्त्र और कला की परिभाषा

विषय के वैज्ञानिक अध्ययन का नाम शास्त्र है। उससे विषय का बोध नियामक और सैद्धान्तिक रूप से होता है। शास्त्र का सौध साधारण तथा अस्तव्यस्त उक्तियों, प्रत्युक्तियों और निष्कर्षों को उपस्थित करने के अनन्तर ही खड़ा होता है। व्यवस्थामूलक शास्त्र नियामक का कार्य करता है तथा हित का शासन करता है। विभिन्न कथनों का परीक्षण, विश्लेषण, संश्लेषण, वर्गीकरण और व्यवस्था करने के अनन्तर विशिष्ट सिद्धान्तों की स्थापना करता है। इसलिए शास्त्र का स्वरूप सैद्धान्तिक भी होता है। जब सिद्धान्तों के अनुसार कार्यविधि का संचालन होता है तब वह पद्धति शास्त्रीय पद्धति कहलाती है। शास्त्र में तर्क-वितर्क और सुतर्क के लिए विस्तृत क्षेत्र रहता है। वहाँ कुतर्क नहीं समा पाते। इसीलिए शास्त्र का एक क्षेत्र आन्वीक्षिकी विद्या के रूप में भी माना जाता है। डा० रामशंकर शुक्ल रसाल ने शास्त्र के सम्बन्ध में चर्चा करते हुए लिखा है—

'विज्ञान या शास्त्र न्याय व तर्क से सर्वथा परिपुष्ट एवं प्रतिपादित रहता है। प्रायः इसके दो रूप या अर्थ लिए जाते हैं (१) सैद्धान्तिक—जिसमें विषय का निरीक्षण तथा उसके आधार पर सिद्धान्तों की कल्पना होती है और विषय का ज्ञान सुव्यस्थित रूप में रखा जाता है। (२) व्यावहारिक—इसमें निरीक्षण का उतना प्राधान्य नहीं होता, जितना प्रयोगात्मक कार्य का। इसमें सिद्धान्तों के अनुसार कार्य किया जाता है। इसी रूप का नाम कला है। यह सदैव विज्ञान के सैद्धान्तिक रूप पर निर्भर होता है और किसी विषय के ज्ञान की कुछ न कुछ आंशिक सत्ता को लेता हुआ चलता है।'[1]

शास्त्र के अपना निर्धारित स्वरूप पा लेने के अनन्तर नये नियमों का प्रादुर्भाव होता रहता है। इस प्रकार उसमें विकसित परम्परा के अनुसार उपनियमों और उपभेदों की कल्पना होने लगती है। शास्त्र का आकार बृहद् होता जाता है।

कला शास्त्र का व्यावहारिक रूप है। इसमें प्रयोग की प्रधानता रहती है। निरीक्षण-परीक्षण की नहीं। सिद्धान्तों या नियमों, उपनियमों में बंधने की अपेक्षा स्वतन्त्रता से नये या स्वमत्याभिवांछित प्रयोगों की ओर अधिक ध्यान रहता है। कुछ विद्वान् शास्त्र के व्यावहारिक व्यापार को ही कला या रचना का मूल मानते हैं। परन्तु कुछ का यह भी कहना है कि कला के असंख्य प्रयोगों के अनन्तर शास्त्र की नींव पड़ती है। कला के सम्बन्ध में पश्चिमी विद्वानों का विवेचन बहुत विशद है, परंतु सब का सारांश यही माना जा सकता है कि कला जीवन से प्रभावित होकर मुखरित होती है। उसमें स्वाभाविकता रहती है। गतिशीलता उस का गुण है। सौन्दर्य को वह अन्तस्तल तक ले जाने और प्रभाव-प्रक्षेपी बनाने का एक मात्र उपयोगी साधन है। कला सौन्दर्यमूलक है। इस कारण कला ही शास्त्र का मूलाधार है।

तालस्ताय ने कला के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करते हुए लिखा है—

---

१. अलंकारपीयूष—डॉ० रामशंकर शुक्ल 'रसाल', पृष्ठ २

कला—'कलात्मक सृजन और वैज्ञानिक सृजन की ऐसी मानसिक क्रिया है, जो अस्पष्ट भावनाओं (अथवा विचारों) को इतना स्पष्ट रूप प्रदान कर देती है, जिससे ये भावनाएँ (अथवा विचार) दूसरों तक पहुँच जाती हैं।'[1]

कला और शास्त्र में प्राथमिकता का प्रश्न

कला और शास्त्र के सम्बन्ध में विचार करते हुए यह कहना कि दोनों में से कौन पहले है, कठिन अवश्य है, क्योंकि दोनों पक्षों में प्रबल तर्क दिये जा सकते हैं। एक सीमा तक दोनों ही अन्योन्याश्रित हैं या दोनों को ही काव्य के दो आधार कहें तो अधिक उपयुक्त है। डॉ०रसाल ने भी इसी प्रकार अभिमत प्रकट किया है—

'यह कहना कि विज्ञान प्रथम है या कला, सीधी बात नहीं, इस पर बड़ा मतभेद है और यद्यपि इस विवादग्रस्तता का अन्त नहीं हो सका तथा न कोई निश्चित सिद्धान्त ही निर्धारित किया जा सका है, ऐसी दशा में विद्वानों ने दोनों को सहचर या सहयोगी माना है। दोनों में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध बताया है, और दोनों को एक विषय के दो पटल या रूप कहा है।[2]

अलंकार का कलारूप

यहाँ विवेच्य विषय अलंकार है। इसलिए अलंकार के कलात्मक और शास्त्रीय रूप की चर्चा करना अपेक्षित है। अलंकार का लक्षण 'अलंकरोति इति अलंकारः' है अथवा 'अलंक्रियतेऽनेन इति अलंकारः' है। दोनों प्रारम्भिक लक्षण-व्याख्याओं से स्पष्ट है कि अलंकार साधक एवं साधन हैं। कला भी मानव के अन्तर की भावनाओं की अभिव्यक्ति का साधन है। इसलिए अलंकार अपने मूल में कला ही है। बाल्मीकि, व्यासादि काव्यकारों द्वारा रचा गया लौकिक साहित्य और उससे भी पूर्ववर्ती युग में निसर्ग-निःसृत या ऋषि-दृष्ट वैदिक साहित्य का वेदभाग भी अनेक अलंकारों से अलंकृत है। उपमा और रूपकों की वहां भरमार है। उस समय अलंकार-शास्त्र तो नहीं बना था, परन्तु उसका कलात्मक रूप था, जो लोकजीवन में पलता है। वेद में जो उपमाएं मिलती हैं, उनके विश्लेषण से यदि यह कहा जाए कि अलंकार का कला रूप में प्रयोग लोक-जीवन से गृहीत है, तो अत्युक्ति नहीं।

अलंकार का प्रयोग लोक-जीवन में मानव की स्वाभाविक मनोविज्ञानाश्रित मनोवृत्ति ने अनजाने में ही करना आरम्भ कर दिया और प्रकृति के विभिन्न अंगों को दैवी शक्ति का रूप मानने वाले ऋषियों ने उनको वेद-मन्त्रों में देखा या गृहीत किया और उनके अलंकृत वर्णन किये। अलंकरण-प्रवृत्ति के इस विधान से अलंकार मूलतः कला सिद्ध हो जाता है।

---

१. पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परम्परा—डॉ० नगेन्द्र तथा डॉ० सावित्री सिन्हा, पृष्ठ २०५

२. अलंकारपीयूष—डॉ० रामशंकर शुक्ल, 'रसाल' पृष्ठ ३

वैदिक साहित्य के अनन्तर लौकिक साहित्य की ओर दृष्टिपात करने से भी यही तथ्य सामने उभरता है। बाल्मीकि को आदिकवि स्वीकार किया जा चुका है। उनका 'रामायण' महाकाव्य उपलब्ध है। उसमें अलंकारों का प्रयोग है। चाहे उतने अलंकारों का न हो, जितने आज परम्परागत प्राप्त हैं, परन्तु अलंकारप्रयोग तो है। रामायण में अलंकारप्रयोग किसी शास्त्र के अध्ययनानन्तर नहीं हुआ, अपितु उस युगद्रष्टा कवि ने लोकानुभव, प्रकृति के उपकरणों की सजीवता, मसृणता और दिव्यता के बल पर ही अनेक उपमानों की कल्पना की होगी। 'रामायण' में श्रीरामचन्द्र के आदर्शपूर्ण लोकातिशायी रूप के लिए प्रयुक्त उपमालंकार कितना प्रभावशाली है—

स च सर्वगुणोपेतः कौसल्यानंदवर्धनः ।
समुद्र इव गाम्भीर्ये धैर्ये हिमवान् इव ॥१७॥
विष्णुना सदृशो वीर्ये सोमवत् प्रियदर्शनः ।
कालाग्निना सदृशः क्रोधे, क्षमया पृथिवीसमः ॥१८॥[1]

अर्थात् वह (राम) सब गुणों से युक्त, कौसल्या का आनन्द बढ़ाने वाला, गम्भीरता में समुद्र के समान, चन्द्रमा के समान प्रिय-दर्शन, क्रोध में मृत्यु की अग्नि जैसा, तथा क्षमा में पृथ्वी-समान है।

इन पदों में उपमा अलंकार की छटा सहज ही पाठक का मन आकृष्ट करती है। उपमालंकार प्रयोग-हेतु इव, तृतीया विभक्ति, (धैर्येण, क्षमया) सदृश तथा वत् का प्रयोग भी तब प्रचलित था। व्यास महर्षि की भी यही परिपाटी लगती है। महाभारत में यक्ष-युधिष्ठिर-संवाद में प्रयुक्त रूपकालंकार जीवन की यथार्थता को कितने चमत्कृत रूप से प्रस्तुत करता है—

अस्मिन् महामोहमये कटाहे सूर्याग्निना रात्रिदिवेन्धनेन ।[2]
मासस्तु दर्वीपरिघट्टनेन भूतानि कालः पचतीति वार्ता ॥११७॥

अर्थात् 'इस महामोहमय कड़ाह में (संसार में) सूर्य रूपी आग से, रात्रि और दिन रूपी ईंधन से, महीने रूपी कलछी से काल प्राणियों को पकाता है। संसार में यही बात सत्य है।' इस पद्य में संसार पर महामोहमय कटाह, रात्रि-दिन पर ईंधन तथा महीने पर कलछी का आरोप किया गया है। इन दोनों उदाहरणों से स्पष्ट है कि अलंकार प्रारम्भ में तो कलात्मक स्थिति में अपना कार्य कर रहा था। अतःइसी परम्परा से यह माना जा सकता है कि अलंकार का आरम्भ पहले कला के रूप में हुआ। प्राचीन ग्रन्थों का अध्ययन भी यह प्रमाणित करता है कि अलंकरण ने भाषा, मानव-प्रकृति और समाज-चेतना के बल पर काव्य में अपना स्थान प्राप्त कर लिया।

१. रामायण—बाल्मीकि, बालकांड, १-१७-१८, पृष्ठ २
२. महाभारत (आरण्येय पर्व)—व्यास, ३१३ अध्याय, पृष्ठ १८३३

अलंकार के कलामूलक लक्षण

वाङ्मय के दो भेद शास्त्र और काव्य नाम से माने गये हैं।[1] 'काव्य'—कला का प्रकट रूप है और ललित कलाओं में यह सूक्ष्मता की दृष्टि से अन्तिम और सर्वातिशायिनी मानी गयी है। यही साहित्य-विद्या है, जो कि शब्द और अर्थ के यथावत् सह भाव से अपना कलेवर बनाती है। कला इस साहित्यविद्या की उपकर्त्री है। वही अलंकारों के रूप में काव्यविषय का महत्वपूर्ण साधन बनती है। अलंकार के 'शोभाकरत्व' आदि विशेषण उसके इसी कला-रूप को स्पष्ट करते हैं। इस कारण अलंकारों के लक्षण कला की दृष्टि से ही बहुधा लिखे गये हैं। भामह, दण्डी, वामन, रुद्रट, उद्भट, आनन्दवर्धन, कुन्तक, मम्मट, रूय्यक तथा विश्वनाथ आदि आचार्यों ने अलंकार का कला-प्रधान लक्षण ही लिखा है। जिससे अलंकार के, साधन रूप में, कला होने की पुष्टि होती है।

अलंकार का शास्त्र-रूप

कलामूलक लक्षणों के साथ ही साहित्य में अलंकारों का विशिष्ट स्थान बना दिया गया और विवेचन के आधार पर उन्हीं कलात्मक साधनों को सिद्धान्तों, नियमों, उपनियमों, वर्गों तथा भेदोपभेदों में बांधा जाने लगा। इस प्रकार क्रमशः अलंकार-शास्त्र अपने आप में पृथक् एवं विशाल स्वरूप धारण कर गया।

अलंकार शास्त्र सदा ही अलंकार के कला-रूपों पर आधारित रहा है और उसी के विवेचन का कार्य करता रहा है। अलंकारों के नामकरण तथा विकास के क्रम में भी यह बात स्पष्ट है कि अलंकार के काव्य में प्रयुक्त रूपों को देखकर ही इनका स्वरूपनिर्धारण हुआ। लक्ष्य के पश्चात् लक्षण आता है, यह सिद्धान्त इस क्षेत्र में भी सिद्ध है। भरत और उनके सभी परवर्ती काव्यशास्त्रियों की अलंकारों के उदाहरण के सम्बन्ध में प्रायः यही नीति रही कि उन्होंने अपने तथा अन्य कवियों के काव्यों से ही इनका चयन किया। अलंकारशास्त्र में अनेक अलंकारों के लक्षण-विवेचन से पूर्व ही काव्यग्रन्थों में उनसे गर्भित उक्तियों से भी यही सिद्ध किया जा सकता है कि मूल में अलंकार-कलात्मक थे। ऐसी उक्तियों को आलंकारिकों ने ग्रहण किया और उनमें से नवीन अलंकार ढूंढ निकाले, जैसे बाण कवि की 'हर्षचरित' में उक्ति है—

नमयन्तु शिरांसि धनूंषि वा[2]

अर्थात् सिर झुकाओ या धनुष। इस उक्ति का प्रयोग पहले हुआ और इस उक्ति के लिए विकल्प अलंकार के रूप में नामकरण परवर्ती आचार्य रुय्यक ने किया। ऐसे ही कथनों के सूक्ष्म अन्तर से एक अलंकार के अनेक भेद हो गए। अनेक अलंकारों के नए नामों, विकास और भेदों का होना भी कलात्मक सूक्ष्म

---

१. इह हि वाङ्मयमुभयथा शास्त्रं काव्यं च।

काव्यमीमांसा—राजशेखर, पृष्ठ २, ३

२. हर्षचरित—बाण, पृष्ठ ४६३

स्थिति का द्योतक है । तब सिद्ध है कि कलात्मक मूल भित्ति पर आधारित अलंकारों का जब अन्वेषण, विवेचन, विश्लेषण, वर्गीकरण तथा व्यवस्थापन हुआ, तब उन्हें शास्त्र की संज्ञा प्राप्त हुई और वे कालान्तर में अलंकारशास्त्र के अन्तर्गत आए और शास्त्रीय नियमों में बंधने पर चमत्कारात्मकता सम्बन्धी विभिन्न मत प्रस्तुत हो गए । शास्त्रीय रूप धारण कर लेने पर अलंकारों की हेयता और ग्राह्यता पर विवाद उठने लगा । काव्य में उनकी स्थिति को लेकर पक्ष-विपक्ष बने । यह बात यहां तक खिंची कि बाह्य सौंदर्य के लिए कला-कौशल एवं चमत्कार-वैचित्र्य का क्रीड़ागार ही अलंकार बन गया, परन्तु इस स्वाभाविक विकास-परीक्षण तथा प्रयोग में अलंकारों का कलात्मक रूप भी निखरा है, विकृत नहीं हुआ ।

अलंकार वाणी के विभूषण हैं, अभिव्यक्ति में स्पष्टता, भावों में प्रभावोत्पादन की शक्ति, भाषा में सौन्दर्य तथा श्रोताओं का मनोविनोद आदि इनके फल हैं ।[१] इस विवेचना से भी अलंकार मूल रूप में कला ही सिद्ध होता है ।

कभी कभी अलंकार शब्दों के अधिक प्रयोग या भावाभिव्यक्ति के लिए प्राप्त न होने वाले पर्याप्त शब्दों के अभाव की पूर्ति भी करते हैं । काव्य के प्रकृत रूप या विद्यमान सौन्दर्य की वृद्धि के लिए अलंकारों की उपयोगिता सिद्ध होती है । इसलिए प्रभाव की क्षमता तीव्र करने के लिए अलंकारों का प्रयोग भी होता है । भावप्रेषणीयता में अलंकार योग देता है । इस दृष्टि से ऐसा मानना ही ठीक होगा कि अलंकार ने अपना मौलिक रूप कला में निहित पाया है । ऐसी दशा में प्रभावोत्पादकता का स्पष्ट सम्बन्ध कला से ही है ।

पाश्चात्य आलोचक लोंगिनुस (लांजनिस) ने भी अलंकार की भाषा को ओजस्विनी बनाने का प्रबल माध्यम मानकर उसकी कलात्मक सत्ता को स्वीकार किया है ।[२]

अलंकार : कलामूलक शास्त्र

अलंकार का विषय कला और शास्त्र दोनों रूपों में ही महत्वपूर्ण बन गया है । अलंकार व्याकरण, न्याय तथा लोक-जीवनादि अनेक क्षेत्रों तक अपना व्यापक प्रभाव रखता है । शास्त्र-सम्बन्धी लक्षणों में यह भी स्वीकार किया जाता है कि वह प्रकृति की गवेषणा करता है, विश्लेषण और विवेचन करता है । वह भाषा पर अपना अधिकार रखता है । वर्णों, शब्दों, पदों, वाक्यों को अपने अधीन रख कर नियमित प्रयोगों के लिए उपयोगी बनाता है । शब्दों के प्रयोग से विभिन्न अलंकारों का आकार बनता है । अन्वीक्षण और अनुमान के आधार पर शास्त्र के मान्य दो रूप—नियामक और सैद्धान्तिक में भी अलंकारों की स्थिति रहती है ।

१.—डिक्शनरी आफ वर्ल्ड लिटरेचर—फिगर्स आफ स्पीच, जोसफ-टी-शिपले, पृष्ठ १५६

२.—पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परम्परा—डॉ० नगेन्द्र, डॉ० (श्रीमती) सावित्री सिन्हा, पृष्ठ ५५-५६

वस्तुतः मानना उचित होगा कि अलंकार कलामूलक शास्त्र है, जिसमें सिद्धान्तों और कलात्मक व्यावहारिक पक्ष का सुन्दर योग है। शास्त्र की तर्कपूर्ण पद्धति और कला के सौन्दर्यमूलक व्यवहार से अलंकार का महत्व प्रतिपादित होता है।

निष्कर्षतः कवि के हाथों में अलंकार कला है और इसी रूप में इसकी प्रमुखता है, साथ ही काव्यालोचकों के हाथ में अलंकार शास्त्र है और वह शास्त्र असंदिग्ध रूप से कलामूलक शास्त्र ही माना जायगा।

: २ :

संस्कृत काव्यशास्त्र में अलंकार : पृष्ठभूमि एवं परम्परा-विवेचन

अलंकारों के प्रादुर्भाव की पृष्ठभूमि और परम्परा

कविमानस में भावाभिव्यक्ति की सहज तरंगों के साथ ही, अनादिकाल में अनजाने ही अलंकार ने भी जन्म लिया होगा। अलंकार अभिव्यक्ति का साधन तथा प्रकार है, अतः अनिवार्य रूप से इसका प्रचार होता रहा। विद्वानों की शास्त्रीय बुद्धि ने उक्ति के इन प्रकारों को ग्रहण कर इनका नामकरण किया और तब अलंकार-शास्त्र की नींव पड़ी। क्रमशः आचार्यों द्वारा अलंकार-विवेचन की परम्परा विकसित होती गई। आज इस परम्परा का अध्ययन करने की सर्वसामान्य प्रणाली इन्हीं आलंकारिकों की कृतियों का कालक्रमानुसार अध्ययन करना है, जिसके अनुसार आचार्यों द्वारा विवेचित अलंकारों की संख्या तथा भेदोपभेदों को दिखाया जा सकता है।

अलंकारों के क्रमिक अध्ययन की एक दूसरी उपयोगी परिपाटी यह भी हो सकती है कि क्रमशः निर्मित होने वाले अलंकारों की पृष्ठभूमि का अनुशीलन किया जाय अर्थात् जिन सामाजिक, राजनीतिक अथवा अन्य कारणों से उनका जन्म हुआ है, उन पर विचार किया जाय।

हम देखते हैं कि आचार्यों द्वारा अलंकारों का नामकरण काव्यग्रन्थों की विभिन्न उक्तियों के रूपविश्लेषण से होता है अथवा किसी विशिष्ट अलंकार के पूरक या विपरीत संभावित रूप में अन्य अलंकार की कल्पना होती है,जैसे तद्गुण अलंकार की उपलब्धि होने पर अतद्गुण का जन्म संभावित हुआ और तब आचार्य ने अपने इस आविष्कार को पुष्ट करने के लिए काव्यग्रन्थों से उदाहरण ढूंढे। कभी-कभी अन्य शास्त्रों में प्रयुक्त अनेक विधियाँ भी अलंकार का रूप ग्रहण कर लेती हैं और इस प्रकार अलंकारों का क्षेत्र विकसित होता चलता है।

परंतु इन सभी अलंकारों की पृष्ठभूमि में उनके जन्मकालीन वातावरण का अध्ययन एक अनोखी और उपयोगी प्रणाली है। ऐसा करने के लिए जिस आचार्य द्वारा जिस अलंकार की प्रथम बार निर्धारणा हुई है, उस युग की परिस्थितियों के

अध्ययन के लिए सर्वसामान्य इतिहास और साथ ही अलंकारलक्षण के साथ दिया गया उदाहरण भी एक समर्थ माध्यम माना जा सकता है।

कुछ अलंकार तो अपने विशिष्ट क्षेत्र के साथ इतने निगड़बद्ध हैं कि वे आज भी अपनी विशिष्ट स्थिति और वातावरण से अलग नहीं हो पाये हैं, जब कि साधारणतया अलंकार किसी विशिष्ट क्षेत्र में जन्म लेकर भी क्रमशः व्यापक अभिव्यक्ति के माध्यम बन जाते हैं। व्याजस्तुति या व्याजनिंदा अलंकार प्रथम कोटि के अंतर्गत आता है तथा परिवृत्ति, अन्योन्य, प्रत्यनीक, अनुमान आदि अलंकार द्वितीय कोटि से संबंधित हैं।

व्याजस्तुति अलंकार को लीजिए। इस अलंकार का लक्षण सर्वप्रथम आचार्य भामह ने किया। इसके लक्षण में दूराधिक गुणस्तोत्र के व्यपदेश (बहाने) से निन्दा की चर्चा द्वारा स्तुति की जाती है। और उदाहरण यह बतलाता है कि राजद्वार में खड़ा कोई कवि कह रहा है कि भगवान् राम ने सात तालों को बेध दिया, भृगूत्तम ने क्रौंच पर्वत पर अपना प्रभाव जमा दिया, परन्तु आपने क्या उन दोनों के पराक्रम के सौवें भाग के समान भी कुछ कर दिखाया ?[1] यहाँ स्तुति यह है कि उन का उपमान होने के नाते आपने अकेले ही बड़े बड़े काम किये हैं। प्रकटतः यह शतांश काम न करने वाले नृप की निन्दा है। अब इस निन्दा का स्थल उदाहरण से कौन सा लगता है ? सहज में ही श्री रामचन्द्र तथा परशुराम पर दृष्टि जाने से स्पष्ट हो जाता है कि वीर योद्धा और राजनीतिज्ञ श्रीराम तथा क्रौंचदारण में सिद्धहस्त परशुराम की चर्चा के कारण यह उक्ति किसी राजदरबार में कही गयी है। क्योंकि निन्दा-स्तुति का प्रधान स्थान प्राचीन काल में राजदरबार ही थे। वहां ही चाटुकार लोग अपने मस्तिष्क से मातें देते और खाते थे। राजाओं को समयानुसार उभारते और झकझोरते भी थे। इसलिए व्याजस्तुति अलंकार का जन्म राजदरबारों की निन्दा-स्तुतिपरक उक्तियों की भावाभिव्यक्ति के हेतु हुआ।

परिवृत्ति अलंकार का जन्म भी कम रोचक नहीं। इसमें विनिमय के भाव की अभिव्यक्ति चमत्कृत होती है। यह लेन-देन का भाव मानव-स्वभाव तथा तदनन्तर सामाजिक मनोवृत्ति पर निर्भर है। प्रतिदिन वस्तुओं का विनिमय व्यापारिक क्षेत्र में होता है। मुद्रा-विनिमय अगला कदम है। प्रारम्भिक युग में तो धान्य के बदले में गुड़ मिल जाता था। अन्न देने पर सारे काम बदले में होते थे। आज भी ग्रामों में किसान की खेती के पकने के अनन्तर धोबी, जुलाहा, लुहार, चमार और बढ़ई साल भर के लिए अन्न ले लेते हैं और बदले में वर्षभर किसानों के उपकरणों को संवारते रहते हैं। इस ढंग से जीवन-साधनों की उपलब्धि भी करते हैं। यही विनिमय-भावना साहित्यिक मस्तिष्क में भावों के आदान-प्रदान पर आ टिकी और एक अलंकार का जन्म हो गया, जिसका नाम परिवृत्ति रख दिया गया। आचार्य भामह ने इसका लक्षण

१. रामः सप्ताभिनत् तालान् गिरिं क्रौंचं भृगूत्तमः।
शतांशेनापि भवता किं तयोः सदृशं कृतम् ॥१३-३२॥
काव्यालंकारः—भामह, पृष्ठ २२

सर्वप्रथम दिया है कि दी गई वस्तु के बदले में विशिष्ट वस्तु का आदान होता है। उदाहरण दिया गया है कि उसने मांगने वालों को धन दिया और बदले में यश रूपी धन को प्राप्त कर लिया।[1] अब इस अलंकार के जन्म के पीछे दाता की सामाजिक वृत्ति नहीं तो क्या है? अवश्य ही विनिमय है। भिखारियों या आवश्यकतानुसार मांगने वालों को धन दे देने पर दाता का समाज में लेने वाले यशोगान तो करेंगे ही। इसीलिए कितने ही महादानी इतिहास में प्रसिद्ध हो गये हैं, आज तक भी यशस्वी हैं। यद्यपि विनिमय की यह प्रवृत्ति सार्वकालिक है, फिर भी अलंकार के रूप में इसे ग्रहण करने का श्रेय भामह को ही है। दण्डी के काल में इसके तीन भेद हो गये। समान का समान से, अधिक का कम से तथा कम का अधिक के साथ विनिमयक्षेत्र भी इस अलंकार से प्रभावित हो गया।[2] इस प्रकार इस अलंकार का जन्मदाता सामाजिक-व्यापार क्षेत्र ही सिद्ध होता है।

तीसरा अलंकार अन्योन्य लीजिए। एक दूसरे का साथ देना सहज भावना है। परस्पर भावन से परश्रेय प्राप्ति की चर्चा प्रसिद्ध है। तब अन्योन्यालंकार का जन्म-स्थल भी सामाजिक क्षेत्र माना जा सकता है। आचार्य रुद्रट के काल में इस अलंकार का जन्म इसी परस्पर लाभकारी भावना से हुआ। उदाहरण सौन्दर्य क्षेत्र का है कि सुन्दरी का रूप, यौवन की शोभा से और यौवन, रूप की सम्पत्ति से (एक दूसरे को) अलंकृत होते हुए शरदिन्दु की भाँति सुशोभित हो रहा है।[3] उदाहरण से ही सामाजिक-मनोवैज्ञानिक प्रभाव स्पष्ट है और यहीं से भावाभिव्यक्ति का साधन होकर अन्योन्यालंकार अन्य भावभूमियों में भी विचरण करने में समर्थ हो गया।

एक अन्य अलंकार प्रत्यनीक लीजिए। इस शब्द का अर्थ है—अनीकेन सदृशम्-प्रत्यनीकम्, अनीक के सदृश अर्थात् शत्रु के समान। प्रतिपक्ष में अधिक बल का बोध इसमें होता है और अपने पक्ष में दुर्बलता का। प्रत्यनीक का लक्षण है कि प्रधान शत्रु के तिरस्कार करने में असमर्थ होने से, उसके किसी सम्बन्धी का तिरस्कार किया जाय, उससे भी शत्रु का ही उत्कर्ष प्रकट होता है। ऐसी दशा में नाम ही बताता है कि यह अलंकार राज-जीवन सम्बन्धी क्षेत्र का है। अन्योन्य और प्रत्यनीक में इतना ही अन्तर है कि अन्योन्य में अपने साथ कुछ करने वाले के प्रति वैसा करने का वर्णन किया जाता है और प्रत्यनीकालंकार में उसके सम्बन्धी के साथ वैसा

---

१. प्रदाय वित्तमर्थिभ्यः स यशोधनमादितः।
सतां विश्वजनीनानामिदमस्खलितं व्रतम् ॥३-४२॥
काव्यालंकारः—भामह, पृष्ठ २३

२. काव्यादर्शः—दण्डी, पृष्ठ १४८,

३. रूपं यौवनलक्ष्म्या यौवनमपि रूपसंपदस्तस्याः।
अन्योन्यमलंकरणं विभाति शरदिन्दु सुन्दर्याः ।७-९२।।
काव्यालंकारः—रुद्रट, पृष्ठ ९४,

व्यवहार करने का वर्णन होता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अन्योन्य में सहयोग का सम भाव है परन्तु प्रत्यनीक में शत्रु के सामर्थ्य के कारण हीनभाव की अवस्थिति स्पष्ट है। भिन्न क्षेत्रों से आकर भी दोनों अलंकार पास पास खड़े हैं। समासोक्ति, परिकरादि की जनक भी ऐसी ही परिस्थितियाँ हैं।

सूक्ष्म भावाभिव्यक्ति के लिए अथवा पूरक रूप में भी अलंकारों का जन्म होता गया है। मीलित से उन्मीलित का जन्म ऐसा ही है। उपमा, अपह्नुति, प्रतीप के भेद भी इसी के परिणाम हैं। विरोध का गुण, जाति, द्रव्यादि से दस भेद वाला बनना भी इसी विधि का परिणाम है। विरोधी भावों की अभिव्यक्ति के लिए भी अलंकार जन्मे हैं। विभावना—विशेषोक्ति, भ्रम-निश्चय, तद्गुण-अतद्गुण जैसे अलंकारों की जन्म-कथा ऐसी ही आधार-भित्ति पर टिकी हुई है। विद्वत्समाज में नवीन अलंकारों की स्वीकृति सहजभाव से ही नहीं हो गई है। इसका प्रमाण अनेक आचार्यों द्वारा पूर्वाचार्यों से मान्य अलंकारों को विवेचनपूर्वक छोड़ने की प्रणाली में देखा जा सकता है। त्याग और-ग्रहण की यह परम्परा आचार्यों की विश्लेषणशक्ति का द्योतन तो करती ही है पर कहीं-कहीं अलंकार के किसी संकीर्ण और दृढ़ आधार को मान लेने के कारण भी ऐसा हुआ है।

निष्कर्ष यह है कि अलंकार-विकास-विवेचन के लिए आचार्य-क्रम के साथ ही तत्कालीन सामाजिक-राजनीतिक-मनोवैज्ञानिक प्रभाव से अलंकार-जन्म में प्राप्त होने वाले योगदान का महत्व भी उदाहरणपुरस्सर अवसरानुकूल प्रदर्शित करने की प्रणाली का अवलंबन उचित ही है।

भरत : नाट्यशास्त्रम् (२५७ विक्रमपूर्व से २५७ वि० सं० के मध्य)

संस्कृतकाव्यशास्त्र में भरत आद्य आचार्य माने जाते हैं। उन्होंने काव्यबंधों में प्रयोज्य ३६ लक्षणों का नाम सोलहवें अध्याय में निर्दिष्ट किया है। इनमें सर्वप्रथम भूषण है,जिस का लक्षण दिया गया है कि अनेक अलंकारों और गुणों से अलंकृत तथा (लौकिक) विन्यस्त भूषणों की भाँति जो काव्य में रहता है, उसे भूषण कहा जाता है।[1] भूषण के लक्षण से स्पष्ट प्रतीत होता है कि इस में अलंकारों और गुणों का समन्वय रहा और अलंकारों का बहुवचनान्त होना (अलंकारैः) भी यह सिद्ध करता है कि भरत के काल से पूर्व भी अलंकारों की संख्या बहुत (बहुभिः) थी।

इन लक्षणों के सम्बन्ध में आचार्यों का कथन है कि ये काव्य (नाटक) में प्रयोज्य हैं। इनका सम्बन्ध अलंकारों से नहीं अपितु अलंकार तो इनमें निहित ही हैं।[2] कई आचार्यों ने अपना मत प्रकट किया है कि इन ३६ लक्षणों में भी कुछ ऐसे हैं जो कालान्तर में अलंकारों के क्षेत्र में स्थान पा गये। ऐसे लक्षणों में उदाहरण, हेतु, संशय, दृष्टांत, निदर्शन, निरुक्त, विशेषण, अतिशय, तुल्य, तर्क, विपर्यय, अर्थापत्ति, लेश तथा प्रियवचन उल्लेखनीय हैं। उदाहरण

१. अलंकारैर्गुणैश्चैव बहुभिः समलंकृतम्।
भूषणैरिव विन्यस्तैस्तद् भूषणमिति स्मृतम्।।१६-५।।
नाट्यशास्त्रम्—भरत, पृष्ठ २५५

२. सम कन्सेप्ट्स आफ अलंकार-शास्त्र—डा० राघवन, पृष्ठ १-४७

अलंकार का विवेचन शोभाकर मित्र, पंडितराज जगन्नाथ और पं० विश्वेश्वर ने किया है। हेतु, संशय, दृष्टान्त, निदर्शन, विशेष, अतिशय, अर्थापत्ति, लेश और प्रेयस् तथा आशी (नया नाम) का विवेचन भी कई आचार्यों द्वारा हुआ है। निरुक्त्यलंकार का विवेचन अप्पय्य दीक्षित और विश्वेश्वर ने किया है। तुल्य और विपर्यय का निरूपण शोभाकरमित्र ने अपने ग्रन्थ 'अलंकाररत्नाकर' में किया है।

अभिनव गुप्त ने इन काव्यबन्धों के सम्बन्ध में कहा है कि ये लक्षण समय की गति में पीछे पड़ गये, परन्तु उनमें से आशिष और दृष्टान्त सरीखे लक्षण ही अलंकार का नाम-रूप ग्रहण कर पाये। उन्होंने इतना और कहा कि गुण-अलंकार, वृत्ति आदि तो काव्य में प्रसिद्ध मार्ग हैं, परन्तु लक्षणों की प्रसिद्धि नहीं हुई है।[1]

भरत ने नाट्यशास्त्र के १७ वें अध्याय में उपमा, दीपक, रूपक और यमक-चार अलंकारों का नाम दिया है।[2] इन चारों अलंकारों के लक्षण तथा उपमा और यमक के अवान्तर भेदों की चर्चा भी आचार्य भरत ने की है। इनमें उपमा के प्रशंसा-निन्दा, कल्पिता, सदृशी और किंचित्सदृशी भेद कहे गये हैं।

आद्याचार्य होते हुए भी भरत से पूर्व भरतनिर्दिष्ट चारों अलंकार लोक और साहित्य में प्रचलित थे, यह भरत द्वारा ही स्वीकृत है। उनके द्वारा किये गये उपमा के भेदों से ज्ञात होता है कि उसका प्रयोग प्रशंसा, निन्दा, तुलना, सादृश्य आदि में व्यापक रूप में होता था। उपमा का मूल आधार वस्तु-सादृश्य है और प्रक्रिया में सरलतम होने के कारण इसका प्रयोग अत्यन्त प्राचीन भी है। पदार्थों की क्रियागत एकता से दीपक अलंकार निःसृत है। रूपक का आधार भी वस्तुओं में एकता का प्रतिपादन है और यमक का जन्म नादसौन्दर्य से हुआ है। भरत ने शब्दाभ्यास में यमक माना।[3] इन सभी के उदाहरण शृंगार एवं माधुर्य के हैं,[4] जिससे सिद्ध होता है कि ये अलंकार पूर्णतः साहित्य के अंग बन चुके थे और उस समय काव्य-शास्त्र का विशेष विवेच्य शृंगार रस माना जाता था। अलंकारों के भेदोपभेदों की परिपाटी भी इस समय तक प्रचलित हो गई थी, जिसका अर्थ है कि भरत के समय तक इन अलंकारों का विवेचन बहुत कुछ प्रौढ़ता की ओर अग्रसरित था। इस प्रकार आचार्य भरत के काल में इन चारों अलंकारों का प्रयोग लोकधर्मी नाटकों में प्रचलित हुआ।

अग्निपुराणम् (लगभग १२५६ वि. सं.)

अग्निपुराण के अलंकारसम्बन्धी विवेचन के ३४३वें अध्याय में शब्दालंकारों

१. अभिनव भारती (द्वितीय खण्ड)—पृष्ठ २६४
(हिस्ट्री आफ संस्कृत-पोइटिक्स से उद्धृत, पी० वी० काणे, पृष्ठ ३४)

२. उपमा दीपकं चैव रूपकं यमकं तथा।
काव्यस्यैते ह्यलंकाराश्चत्वारः परिकीर्तिताः ॥१६-४३॥
नाट्यशास्त्रम्—भरत, पृष्ठ २६२

३. शब्दाभ्यासस्तु यमकं पादादिषु विकल्पितम् ॥१६-६२॥
नाट्यशास्त्रम्—भरत, पृष्ठ २६२

४. नाट्यशास्त्रम्—भरत, पृष्ठ २६१-२६२

में अनुप्रास, यमक, चित्र, प्रश्न, प्रहेलिका (१६ भेद) तथा अर्थालंकारों में विभावना, स्वभाव (स्वरूप) विरोध, हेतु, उपमा, रूपक, सहोक्ति, अर्थान्तरन्यास, उत्प्रेक्षा, अतिशय, विशेषोक्ति तथा छः शब्दार्थालंकार प्रशस्ति, कान्ति, औचित्य, संक्षेप, यावदर्थता और अभिव्यक्ति माने हैं।[१]

विष्णुधर्मोत्तर पुराणम् (लगभग १२५७ वि. सं.)

विष्णुधर्मोत्तर पुराण में भी अलंकारों की चर्चा की गई है। १७ अलंकारों का वर्णन इस पुराण में है।[२] इन अलंकारों में अनुप्रास और यमक शब्दालंकार हैं। शेष १५—रूपक, व्यतिरेक, श्लेष, उत्प्रेक्षा, अर्थान्तरन्यास, उपन्यास, विभावना, अतिशयोक्ति, वार्ता, यथासंख्य, विशेषोक्ति, विरोध, निन्दास्तुति, निदर्शना और अनन्वय हैं।

भरत की अपेक्षा विष्णुधर्मोत्तर पुराण में अलंकारों की संख्या अधिक है। यदि भरत के चार—उपमा, रूपक, दीपक और यमक ही अलंकार मानें तब तो व्यतिरेक, श्लेष, उत्प्रेक्षा, अर्थान्तरन्यास, उपन्यास, विभावना, अतिशयोक्ति, वार्ता, यथासंख्य, विशेषोक्ति, विरोध, निन्दास्तुति, निदर्शना, अनन्वय—१४ अलंकार अधिक हैं और दूसरे रूप से लक्षणों में से भरत के निदर्शन, अतिशय तो यहाँ हैं, शेष में उदाहरण, हेतु, संशय, दृष्टान्त, विशेषण, तुल्य, तर्क, विपर्यय, अर्थापत्ति, लेश और प्रियवचन (प्रेयस्) का विवेचन विष्णुधर्मोत्तर पुराण में नहीं हुआ। ग्रहण और त्याग की वृत्ति यहां से ही चल पड़ी। अग्निपुराण के भी चित्र, प्रश्न, प्रहेलिका, गुप्त, च्युतदत्त (शब्दालंकार) तथा सम, हेतु, सहोक्ति, (अर्थालंकार) प्रशस्ति, कान्ति, औचित्य, संक्षेप, यावदर्थता और अभिव्यक्ति (शब्दार्थालंकार) का विवेचन इस पुराण में नहीं है।

भरत के नाट्यशास्त्र से अधिक नए अलंकार विष्णुधर्मोत्तर पुराण में व्यतिरेक श्लेष, उपन्यास, यथासंख्य, निन्दास्तुति और अनन्वय हैं। उपमा का नाम नहीं है परन्तु डॉ० काणे ने उसे स्वेच्छा से स्वीकार कर लिया है।[३] यद्यपि डॉ० काणे ने अग्निपुराण तथा विष्णुधर्मोत्तर पुराण को भरत के नाट्यशास्त्र के अनन्तर रखा है, परन्तु दोनों प्राचीन नहीं लगते। विष्णुधर्मोत्तर में अनुप्रास तथा यथासंख्य के लक्षण में "पुरातनैः" शब्द का प्रयोग है।[४] भरत ने इन दोनों का लक्षण तथा प्रयोग नहीं दर्शाया। न ही, लक्षणों में इन का नाम गिना है। इसलिए इन्हें अवान्तर काल (भोज के बाद) की कृतियां मानना उचित है। परन्तु डॉ० काणे का क्रम ही

१. अग्निपुराणम्, पृष्ठ ६६६-७०५,

२. विष्णुधर्मोत्तर पुराणम्, अध्याय—१४,
(हिस्ट्री आफ संस्कृत पोइटिक्स—पी०वी०काणे, पृष्ठ-६६ से उद्धृत)

३. हिस्ट्री आफ संस्कृत पोइटिक्स—पी० वी० काणे, पृष्ठ ७१

४. एकैकस्य तु वर्णस्य विन्यासो यः पुनः पुनः।
अर्थगत्या तु संख्यानमनुप्रासं पुरातनैः।१।
विष्णुधर्मोत्तर पुराणम्—अध्याय, १४
(हिस्ट्री आफ संस्कृत पोइटिक्स— पी० वी० काणे, पृष्ठ ७१

प्रधानतः यहां रखा गया है और परीक्षण-विवेचन के हेतु ही इन दोनों पुराणों के अलंकारों का निर्देश यहां किया गया है।

भट्टि : रावणेश्वरवध (५५०-६६० वि. सं.)

विष्णुधर्मोत्तर पुराण के अनन्तर भट्टिकाव्य का नाम अलंकारसम्प्रदाय के अलंकारविवेचकों में आता है। आचार्य भट्टि ने १० वें सर्ग के प्रसन्नकांड में अलंकारों का विवेचन (७५ या मल्लिनाथ टीका में ७४ श्लोकों में) किया है। इन अलंकारों में वृत्त्यनुप्रास, यमक, कारणमाला, काव्यलिंग, दीपक, रूपक, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, उपमा, उपमार्गभित रूपक, सहोक्ति, अर्थान्तरन्यास, आक्षेप, व्यतिरेक, स्वभावोक्ति, यथासंख्य, प्रतीप, भ्रान्तिमान्, उदात्त, तुल्ययोगिता, श्लेष, अपह्नव (अपह्नुति) विरोध, सम, उपमेयोपमा, सन्देह, हेतु, अनन्वय, विरोधाभास, दृष्टान्त तथा प्रेय हैं, १८ वें सर्ग में भाविक, और १३वें में भाषासम अलंकार का श्लोकों में समन्वयात्मक विवेचन है।

भट्टि-काव्य के दशम, द्वादश और त्रयोदश सर्गों की टीकाओं में प्रदर्शित अलंकारों के सम्बन्ध में चर्चा करना सम्प्रदाय और अलंकारविकास की दृष्टि से उपयोगी नहीं, क्योंकि स्वयं तो भट्टि ने १० वें सर्ग में किसी अलंकार का लक्षण दिया नहीं। टीकाकारों ने ही अलंकारों को निकाल दिखाया है, क्योंकि यह ग्रन्थ व्याकरण से सम्बद्ध है और १०-१३ सर्ग तक प्रसन्नकांड में अलंकार और गुणों का वर्णन माना गया है, इसलिए अलंकार सम्बन्धी चर्चा विद्वानों ने की है। भट्टि काव्य के १० वें सर्ग के ७४ वें श्लोक[1] में निपुण अलंकार को पांडुलिपि में लिखित माना है।[2] परन्तु मल्लिनाथ की टीकासहित प्रकाशित श्री के० राम त्रिवेदी की पुस्तक में ऐसा कोई अलंकार नहीं दिया गया। १० वें सर्ग के ४८ वें पद में[3] ऊर्जस्वि अलंकार की चर्चा भी की जाती है। मल्लिनाथ ने इस पद में भी उत्प्रेक्षा अलंकार माना है, अथवा उत्प्रेक्षा और काव्यलिंग का संकर माना है। भट्टि के इन सर्गों में लेश और सूक्ष्म का भी उदाहरण नहीं है। टीकाकारों के अनुसार यमक के भेदों के लिए भट्टि ने १० वें सर्ग में २० श्लोक दिये हैं। नाट्यशास्त्र में भी इतने ही श्लोकों में यमक के भेदों का विवेचन है। टीकाकारों ने 'भिन्नरुचिर्हिलोकाः' के अनुसार विभिन्न अलंकारों में मतभेद प्रकट किया है। यह मानना पड़ेगा कि सम्प्रदाय के विकास

---

१. सौमित्रेरिति वचनं निशम्य रामो
जृम्भवान् भुजयुगलं विमुच्य निद्राम्।
अध्यष्ठाच्छिशमिषया प्रवालतल्पं—
रक्षायै प्रतिदिशमादिशन् प्लवंगान् ॥१०-७४॥
भट्टिकाव्यम्, पृष्ठ ३६,

२. हिस्ट्री आफ संस्कृत पोइटिक्स—पी० वी काणे, पृष्ठ ७३

३. प्रचपलमगुरु भरासहिष्णु जनमसमानमनूर्जितं विवर्ज्य,
कृतवसतिमिवार्णवोपकण्ठे स्थिरमतुलोन्नतिमूढतुंगमेघम् ॥१०-४८॥
भट्टि-काव्यम्, पृष्ठ, २३

सम्बन्धी इतिहास में भट्टि का योग केवल टीकाकारों ने सिद्ध कर दिया है, जो अब बहुजन-सम्मत बन गया है। टीकाकारों ने ही भाषासम और निपुण दो नये अलंकार माने हैं। स्वयं भट्टि ने तो केवल महाकाव्य ही लिखा है।

भामह : काव्यालंकार : (५५७ से ६७७ वि. सं. के लगभग)

भट्टि के अनन्तर परम्परा में आचार्य भामह का नाम आता है। इन्हीं से अलंकार-सम्प्रदाय का सम्बद्ध इतिहास मिलता है। भामह के 'काव्यालंकार' ग्रन्थ में मेधाविन् या मेधावी रुद्र का नाम मिलता है।[1] इस आचार्य का नाम भामह से पूर्व अलंकार-सम्प्रदाय में विख्यात था। भामह ने स्वयं दो बार तथा दण्डी-रुद्रट-वामन और राजशेखर ने भी इसका संकेत दिया है।[2]

भामह से पूर्ववर्ती और भरत से परवर्ती अलंकार-सम्प्रदाय के आचार्यों का ग्रन्थोपलब्धि के अभाव में विवेचन सम्भव नहीं, परन्तु यह संकेत अवश्य मिलता है कि भामह से पूर्व इस शास्त्र का पर्याप्त विकास हो चला था। मत-मतान्तरों का संस्थापन और खण्डन होने लगा था। भामह के ग्रन्थ में भी अलंकार-विस्तार तथा विवेचन के संकेत मिलते हैं।[3]

भामह ने दो शब्दालंकार (अनुप्रास-यमक) तथा तीन अर्थालंकार (रूपक-दीपक-उपमा) पूर्ववर्तियों द्वारा उद्धृत माने हैं।[4] ग्राम्यानुप्रास और लाटीय अनुप्रास की स्वीकृति भी अन्य विद्वानों ने की है—ऐसा भामह ने निर्देश किया है और प्रहेलिका अलंकार को भी रामशर्मा द्वारा उदित माना है।[5]

आचार्य भामह का अलंकार-सम्प्रदाय में विशेष योग है। इन्होंने उपमा के सम्बन्ध में अपना विशिष्ट दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हुए कहा कि किसी भी भाव का किसी दूसरे के साथ सारूप्य नहीं होता। यह सारूप्य तो कृतीजन उपपत्तिपूर्वक करते हैं।[6] उन्होंने अतिशयोक्ति को ही वक्रोक्ति[7] माना है और वक्रोक्ति के बिना

---

१. काव्यालंकारः—भामह २-१६, ३६, ४०, ८८, पृष्ठ-१०-१२-१८

२. (क) काव्यालंकारः—रुद्रट (नेमिसाधु टीकाकार) पृष्ठ १४५
   (ख) काव्यालंकारसूत्राणि, वामन, ४-२-११ वृत्ति पृष्ठ ५२, ५६
   (ग) काव्यमीमांसा—राजशेखर, पृष्ठ ११

३. गिरामलंकार-विधिः सविस्तरः स्वयं विनिश्चित्य धिया मयोदितः।
   अनेन वागर्थविदामलंकृता विभाति नारीव विदग्धमण्डना ॥३-५८॥
   काव्यालंकारः—भामह, पृष्ठ २५

४. काव्यालंकारः—भामह, पृष्ठ ८

५. काव्यालंकारः—भामह (२-४, ६, ८, २६) पृष्ठ ८, १०

६. सर्वं सर्वेण सारूप्यं नास्ति भावस्य कस्यचित्,।
   यथोपपत्ति कृतिभिरुपमासु प्रयुज्यते ।। २—४३।
   काव्यालंकारः—भामह, पृष्ठ १२

७. काव्यालंकारः—भामह, (२-८४, ८५) पृष्ठ १७

किसी भी अलंकार की सत्ता स्वीकार नहीं की है। वार्ता को विष्णुधर्मोत्तर पुराण में अलंकार माना गया है। यही स्वभावोक्ति है, परन्तु भामह ने वार्ता और स्वभावोक्ति को अलग अलग कहा है।[1] हेतु, सूक्ष्म और लेश को अलंकार इस लिए नहीं माना कि इन में वक्रोक्ति को स्थान नहीं है।[2]

काव्यालंकार ग्रन्थ में नए अलंकारों में रसवत्, ऊर्जस्वि, पर्यायोक्त, समाहित, अप्रस्तुतप्रशंसा, व्याजस्तुति, परिवृत्ति, उत्प्रेक्षावयव और संसृष्टि हैं। ये अलंकार भी सम्भवतः भरत और भामह के मध्यवर्ती काल के मेधावी आदि आलंकारिकों ने कहे होंगे, परन्तु उनके सम्बन्ध में सामग्री का अभाव ही विवेचना को रोके हुए है। तथापि उपलब्ध परम्परा के अनुसार इन अलंकारों का भामह द्वारा विवेचन यह सिद्ध करता है कि अभिव्यक्ति के लिए ये नए अलंकार काव्य-क्षेत्र में स्थान पा चुके थे और इनका नामकरण भी हो चुका था। अलंकार-विशेष का उदाहरण उस परिस्थिति का बोधक हो सकता है। इसलिए इन अलंकारों के उदाहरणों पर दृष्टिपात करना उचित होगा।

समान विशेषण से अन्यार्थद्योतक तथा संक्षिप्तार्थक समासोक्ति अलंकार भामह ने नवीन उद्भावित किया। इस अलंकार की उत्पत्ति सामाजिक और राजनीतिक जीवन की चेतना से प्रतीत होती है। उदाहरण में राजा और वृक्ष की परिस्थिति इस कथन की पुष्टि करती है।[3]

रसवत्, ऊर्जस्वि और समाहित रस-सम्बन्धी अलंकार हैं। भामह ने रसों का अन्तर्भाव अलंकारों में करने के लिए इन तीनों अलंकारों की विवेचना कर दी है। पर्यायोक्त अलंकार की परिभाषा[4] सिद्ध करती है कि सीधे ढंग से अभिप्राय न कहकर उसे प्रकारान्तर से अभिव्यक्त किया जाता होगा। लोक-जीवन में स्पष्ट ढंग की अपेक्षा वाक्य-रचना-चातुरी की प्रवृत्ति जागृत हो गई होगी, उसी के परिणामस्वरूप

---

१. गतोऽस्तमर्कों भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिण :
इत्येवमादि किं काव्यं वार्तामेनां प्रचक्षते ॥ २-८७ ॥
स्वभावोक्तिरलंकार इति केचित् प्रचक्षते ।
अर्थस्य तदवस्थत्वं स्वभावोऽभिहितो यथा ॥१२—६३ ।
काव्यालंकार:—भामह, पृष्ठ १७-१८

२. हेतुश्च सूक्ष्मो लेशोऽथ नालंकारतया मतः ।
समुदायाऽभिधानस्य वक्रोक्त्यनभिधानत: ॥ २-८६॥
काव्यालंकार:—भामह, पृष्ठ १७

३. स्कन्धवानृजुरव्याल: स्थिरोऽनेकमहाफल: ।
जातस्तरुरयं चोच्चै: पातितश्च नभस्वता ॥२-८०॥
काव्यालंकार:—भामह, पृष्ठ १७

४. पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते ।
उवाच रत्नाहरणे चैद्यं शार्ङ्गधनुर्यथा ॥३-८॥
काव्यालंकार:—भामह, पृष्ठ १६

काव्य में भी यह विधिवत् अलंकार बनकर प्रयुक्त होने लगा होगा। भामह ने 'रत्नाहरण' ग्रन्थ में शार्ङ्गधनु श्रीकृष्ण द्वारा चैद्य (शिशुपाल) के सम्बन्ध में कहे गए वचनों को पर्यायोक्त अलंकार के रूप में माना है। अप्रस्तुतप्रशंसा के सम्बन्ध में भामह के काल की धारणा यह बताती है कि अधिकार से अपेत अन्य वस्तु की स्तुति कथन द्वारा प्रस्तुत के सम्बन्ध में बात कही जाती थी। लक्षण देखने से लगता है कि इस अलंकार का विकास अधिकारों की प्राप्ति के विषयों या प्रतिकारात्मक स्थिति को लेकर ही हो पाया था।[1]

व्याजस्तुति तो मनोवैज्ञानिक स्थिति का द्योतक अलंकार है। यह व्याज से स्तुति करने की बात लोकाचार या वाक्चातुर्य का रूप है। परिवृत्ति अलंकार का जन्म भी भामह के काल में लोक-व्यवहार में प्रचलित आदान-प्रदान की वृत्ति से हुआ है।[2] इस परिवृत्ति में परस्पर सामान्य-विशेष का समर्थन भी अर्थान्तरन्यास द्वारा होता है, अर्थात् परिवृत्ति के मूल में अर्थान्तरन्यास की स्थिति तब अवश्य मान्य रही थी। उत्प्रेक्षावयव अलंकार में श्लेष, उत्प्रेक्षा और रूपक का साझा रहा। तीनों का समूह-कृत नाम उत्प्रेक्षावयव पड़ा। रूपक और श्लेष अवयव बने और उत्प्रेक्षा से समन्वित हो कर यह नया अलंकार चला।[3]

संसृष्टि तात्कालिक अलंकार सम्बन्धी विभिन्न मतवादों के समन्वय के लिए परिलक्षित अलंकार है।[4] इसे भामह ने रत्नमाला के समान माना है।

---

१. अधिकारादपेतस्य वस्तुनोऽन्यस्य या स्तुतिः।
अप्रस्तुतप्रशंसेति सा चैवं कथ्यते यथा ॥३-२९॥
प्रीणित-प्रणयि स्वादु काले परिणतं बहुः।
बिना पुरुषकारेण फलं पश्यत शाखिनाम् ॥३-३०॥
काव्यालंकारः—भामह, पृष्ठ २२

२. (क) विशिष्टस्य यदादानमन्यापोहेन वस्तुनः।
अर्थान्तरन्यासवती परिवृत्तिरसौ यथा ॥३-४१॥
काव्यालंकारः—भामह, पृष्ठ २३

(ख) प्रदाय वित्तमर्थिभ्यः स यशोधनमादितः।
सतां विश्वजनीनानाम् इदमस्खलितं व्रतम् ॥३-४२॥
काव्यालंकारः—भामह, पृष्ठ २३

३. (क) श्लिष्टस्यार्थेन संयुक्तः किंचिदुत्प्रेक्षयान्वितः।
रूपकार्थेन च पुनरुत्प्रेक्षावयवो यथा ॥३-४७॥

(ख) तुल्योदयावसानत्वाद् गतेऽस्तं प्रतिभास्वति।
वासाय वासरः क्लान्तो विशतीव तमोगृहम् ॥३-४८॥
काव्यालंकारः—भामह, पृष्ठ २४

४. वरा विभूषा संसृष्टिर्बह्वलंकारयोगतः।
रचिता रत्नमालेव सा चैव मुदिता यथा ॥३-४९॥
काव्यालंकारः—भामह, पृष्ठ २४

इस प्रकार भामह ने इन ऊपर कहे गये नये अलंकारों के लक्षण लिख कर अलंकार-सम्प्रदाय में इन नये अलंकारों की वृद्धि की। सूक्ष्म का वर्णन उनसे पूर्ववर्तियों ने किया होगा, परन्तु उन्होंने वक्रोक्ति-रहित होने के कारण उसे अलंकार ही स्वीकार न किया। प्रहेलिका का वर्णन राम शर्मा की उक्ति से ही प्रदर्शित किया गया है।

दण्डी : काव्यादर्श : (८५० वि० सं०)

भामह के अनन्तर दण्डी ने उपमेयोपमा, प्रतिवस्तूपमा, अतिशयोक्ति, तुल्ययोगिता, भ्रान्तिमान् और संशय अलंकार को उपमा के अन्तर्गत रख दिया है। इन सभी अलंकारों में उपमेय-उपमान की चर्चा रहती है। इसी कारण दण्डी ने इनका अन्तर्भाव उपमा में किया। दण्डी का अलंकारसम्प्रदाय में यह विशेष योग है कि उन्होंने अलंकारों की संख्या को असंख्य मानते हुए भी स्वयं किसी सर्वथा नये अलंकार की सृष्टि नहीं की, प्रत्युत् विद्यमान अनेक अलंकारों के नामों को उपमा के अन्तर्गत ही मानना उचित ठहराया और उपमा के ३३ भेद कर दिये। दूसरा महत्वपूर्ण कार्य दण्डी ने भामह द्वारा निरस्त हेतु, सूक्ष्म और लेश अलंकारों को उत्तम अलंकार माना और काव्य में उनकी पुनः प्रतिष्ठा की।

हेतुश्च सूक्ष्मलेशौ च वाचामुत्तम-भूषणम् ॥२-२३५॥ काव्यादर्श :-

इनमें से सूक्ष्म और लेश का लक्षण संभवतः पहली बार दण्डी ने ही काव्यादर्श में किया है। सूक्ष्म में इंगित आकार और लेश में किंचित् ज्ञात होने पर वस्तु-निगूहन मनोविज्ञानाश्रित है।[1]

काव्यादर्शकार आचार्य दण्डी ने दीपकावृत्ति नामक दीपकभेद की नवीन उद्भावना की[2]। यह कालान्तर में स्वतन्त्र अलंकार बन गया। यथासंख्य या संख्यान (मेधावीरुद्र के मत में) का नाम 'क्रम' भी दण्डी ने रखा। यह नाम उत्तरवर्ती आचार्यों में उतना प्रसिद्ध नहीं हुआ। उन्होंने स्वभावोक्ति[3] अलंकार को एक और

---

१. (क) इंगिताकारलक्ष्योऽर्थः सौक्ष्म्यात् सूक्ष्म इति स्मृतः ॥२-२६०॥
(ख) लेशो लेशेन निर्भिन्नवस्तुरूपनिगूहनम्।
उदाहरणमेवास्य रूपमाविर्भविष्यति ॥२-२६५॥
काव्यादर्शः—दण्डी, पृष्ठ ११९-१२१

२. अर्थावृत्तिः पदावृत्तिरुभयावृत्तिरेव च।
दीपकस्थान एवेष्टमलंकारत्रयं यथा ॥२-११६॥
काव्यादर्शः—दण्डी, पृष्ठ ६

३. नानावस्थं पदार्थानां रूपं साक्षाद्विवृण्वती।
स्वभावोक्तिश्च जातिश्चेत्याद्या सालंकृतिर्यथा ॥२-८॥
काव्यादर्शः—दण्डी, पृष्ठ ४७

नाम 'जाति' भी दिया तथा भामह द्वारा अप्रतिष्ठित स्वभावोक्ति अलंकार को सर्वप्रथम अलंकार का स्थान दिया जो यह सिद्ध करता है कि अपने युग के अनुसार सर्वसामान्य स्वाभाविक वस्तुओं में भी कलात्मकता देखने की दृष्टि दण्डी में विद्यमान थी। तभी वे भामह के वक्रोक्तिप्रधान दृष्टिकोण का समर्थ प्रतिवाद कर स्वभावोक्ति को अलंकार रूप में स्वीकृत करा सके।

दण्डी ने तुल्ययोगिता अलंकार को स्तुति-निंदार्थ मानने का मत प्रथम बार काव्यशास्त्र में प्रस्तुत किया।[1] इससे सिद्ध होता है कि भामह के समय की अपेक्षा दण्डी के युग में इस अलंकार का प्रयोग अपेक्षाकृत स्तुतिनिंदा के क्षेत्र में सीमित हो गया था।

दण्डी ने यमक, चित्र और प्रहेलिका अलंकार का विस्तृत विवेचन तृतीय परिच्छेद में किया है। इन तीनों शब्दालंकारों का वैचित्र्यपूर्ण प्रयोग उस काल के साहित्य में अतिमान्य रहा, इसी कारण दण्डी को उनका इतना विवेचन करना पड़ा अन्यथा भामह ने तो संक्षेप से ही इनका वर्णन किया था।[1]

उद्भट : काव्यालंकारसंग्रहः (८५०-९५० वि० सं०)

भट्टोद्भट को भामह का व्याख्याता कहा जाता है। इसके 'काव्यालंकार संग्रह' तथा 'भामह विवरण' दो ग्रंथ माने जाते हैं। 'भामहविवरण' अब तक उपलब्ध नहीं है।[2] काव्यालंकार-संग्रह तत्कालीन काव्यक्षेत्र में प्रसिद्ध अलंकारों का संग्रह-ग्रंथ है। भामह के अलंकार-लक्षण की समानता या किंचित् परिवर्तन द्वारा दत्त लक्षणों से यह ग्रंथ भी भामह के काव्यालंकार की ही प्रतिकृति है। केवल कुछ नये अलंकार भट्टोद्भट ने इसमें जोड़े हैं। भामह तथा दण्डी द्वारा विवेचित यमक, उपमारूपक और उत्प्रेक्षावयव को उद्भट ने छोड़ दिया है। इसके दो कारण हो सकते हैं। एक तो यमक का विवेचन दण्डी द्वारा विस्तृत रूप से हो गया था। उसके लिए अब और कुछ कहने के लिए शेष नहीं रहा था, अथवा भामह ने जो कुछ यमक के बारे में संक्षिप्त रूप से कहा था, वही पर्याप्त रहा होगा। उपमारूपक की भी यही स्थिति रही। दण्डी ने उसे रूपकों के अन्तर्गत माना। इसलिए विवादास्पद अवस्था से उद्भट ने बचना चाहा। उत्प्रेक्षावयव को भामह ने उत्प्रेक्षा से भिन्न माना, परन्तु दण्डी ने 'उत्प्रेक्षाभेद एवासौ उत्प्रेक्षावयवोऽपि च' कहकर इस अलंकार को उत्प्रेक्षा में अन्तर्भावित कर दिया। इसलिए उद्भट भी इसे छोड़ गये। अपने काल में जितने अलंकारों का

---

१. विवक्षितगुणोत्कृष्टैर्यत्-समीकृत्य कस्यचित्।
कीर्तनं स्तुतिनिन्दार्थं--सा मता तुल्ययोगिता ॥३३०॥
काव्यादर्शः—दण्डी, पृष्ठ १४२

२. सूचना मिली है कि उक्त ग्रंथ का प्रकाशन इटली सरकार ने अभी हाल में किया है, परन्तु प्रयास करने पर भी उक्त ग्रन्थ लेखक को अब तक प्राप्त नहीं हो सका है।

प्रयोग अधिकता से हो रहा था, उद्भट ने उनका वर्गीकरण ही किया है। इस सम्बन्ध में एक संकेत राजानक-तिलक द्वारा की गई टीका से मिलता है।

वर्गैवर्गैरलंकारोपादानं चिरन्तनालंकारकृतामल्पदर्शितां प्रकटयितुम्।[1]

उद्भट ने पुनरुक्तवदाभास, लाटानुप्रास, निदर्शना, संकर, काव्य-हेतु, काव्य-दृष्टान्त—इन नये अलंकारों का उल्लेख किया। पुनरुक्तवदाभास अलंकार यमक से निःसृत है। यमक में एक ही रूप वाले कई शब्द भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयुक्त होते हैं परन्तु जब असमान स्वर व्यंजन वाले, भिन्न-भिन्न अर्थ वाले कई शब्द एक साथ आयें तथा यह आभास हो कि वे एक ही अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं, यद्यपि वास्तव में उनका अर्थ भिन्न हो, तब पुनरुक्तवदाभास अलंकार होता है।[2] इससे स्पष्ट है कि यमक से नया अलंकार उद्भावित करना उद्भट को रुचिकर लगा और उन्होंने यमक को त्याग दिया। लाटानुप्रास का नाम तो भामह ने भी लिया, परन्तु उसका लक्षण-निर्देश उद्भट ने ही किया है।[3] विदर्शना का प्रयोग तो स्पष्टतः किसी लिपिकार की अंगुली का हेर फेर है, वस्तुतः वह निदर्शना ही है। काव्यहेतु ही काव्य-लिंग है। प्रतीहारेन्दु-राज की लघुवृत्ति में काव्य-लिंग सम्बन्धी ये पंक्तियाँ विचारणीय हैं :—

गुण-संस्कृत-शब्दार्थ-शरीरत्वात् काव्यस्य सरसत्वमिति, तद्विशिष्टं काव्यलिंगं सरस-पदार्थ-निष्ठमेव भवति न तु नीरस-वस्तुमात्र-निष्ठं शास्त्र-लिंगवद् इत्युपपन्नम्' ॥[4]

इन पंक्तियों से स्पष्ट है कि काव्यलिंग का प्रयोग सरस-पदार्थ-परक है, नीरसता-परक नहीं। इन्हीं पंक्तियों के अगले भाग में तार्किक का मत भी दिया गया है। तब यह भी माना है कि काव्यलिंग अलंकार का प्रयोग अनुमान प्रमाण के अन्तर्गत चला और इस अलंकार के जन्म में न्याय-दर्शन का हाथ है। उद्भट ने हेतु अलंकार को काव्यलिंग के ही अन्तर्गत माना है।

काव्य-दृष्टान्त अलंकार का विकास प्रतिवस्तूपमा से हुआ। प्रतिवस्तूपमा में उपमेय और उपमानसूचक दो वाक्यों में एक ही साधारण धर्म के कारण समानार्थी भिन्न-भिन्न (धर्मवाचक) शब्दों से समता की जाती है, परन्तु दृष्टान्त इसी से विकसित होने के कारण कुछ अन्तर से शोभाकारक हुआ। दृष्टांत में दो वाक्यों में समता दिखाई जाती है, परन्तु साधारण धर्म एक नहीं होता और समता-सूचक शब्द भी नहीं रहता। उद्भट ने 'विस्पष्ट प्रतिबिम्ब-निदर्शनम्' काव्य-दृष्टान्त के लिए आवश्यक माना है। इससे निदर्शना अलंकार का प्रभाव भी इस अलंकार की जनकता में स्पष्ट है। इसलिए 'इवादि' पदों की शून्यता भी लक्षण में कही गयी है। परन्तु एक तथ्य यह भी विचारणीय है कि लोक में दृष्टान्त देने की प्रणाली न जाने कब से प्रसिद्ध है।

---

१. काव्यालंकारसंग्रहः—उद्भट, गायकवाड़ ओरिएंटल सीरीज, पृष्ठ १
२. काव्यालंकारसंग्रहः—उद्भट, पृष्ठ २
३. स्वरूपार्थाविशेषेऽपि पुनरुक्तिः फलान्तरात्।
शब्दानां वा पदानां वा लाटानुप्रास इष्यते।
काव्यालंकारसंग्रहः—उद्भट, पृष्ठ ७
४. काव्यालंकारसंग्रहः—उद्भट, पृष्ठ ६१

इसलिए यह अलंकार उपमा के क्षेत्र के अन्तर्गत आता है। सुधीजन चाहे जो भी मानें, लेखक के विचार में इस अलंकार की योजना उद्भट के काल की विकास-शील सामाजिक स्थिति से पहले है और अलंकारशास्त्र में प्रतिवस्तूपमा और निदर्शना इस अलंकार के जनक हैं।[1]

संकर अलंकार संसृष्टि से विकसित है। दण्डी तक तो अंगांगी भाव तथा अलंकारों की समकक्षता से संसृष्टि को द्विविध माना जाता रहा। इसमें अलंकारों की प्रधानता-गौणता की चर्चा भी दण्डी ने की है।[2] परन्तु संकर में अलंकार घुल मिल जाते हैं। उद्भट के काल में संकरालंकार का जन्म संसृष्टि भेद से विकसित हुआ। संकर में संसृष्टि की अपेक्षा सूक्ष्मता अधिक आ गई। उद्भट ने इस अलङ्कार के लक्षण में न्याय (साधक) दोष (बाधक) प्रमाणों को भी जोड़ा, जिससे प्रतीत होता है कि न्यायदर्शन का प्रभाव संकर अलंकार के जन्म पर भी पड़ा है।[3]

उद्भट ने प्रेयः अलङ्कार का नाम प्रेयस्वत् कर दिया और विशेष कुछ नहीं किया। भामह ने अनुप्रास का ग्राम्या और उपनागरिका वृत्ति के आधार पर भेद निरूपण किया था। उद्भट ने परुषावृत्ति को और जोड़ दिया।[4]

उद्भट ने अलंकार-विकास में कुछ विशेष सिद्धान्तों को प्रस्तुत किया है। प्रतीहारेन्दुराज ने लघुवृत्ति में लिखा है कि भट्टोद्भट का सिद्धान्त था कि अर्थभेद से ही शब्दों का भेद होता है। इसी सिद्धान्त पर श्लेष अलङ्कार को उद्भट ने केवल अर्थालङ्कार माना है, चाहे वह शब्दश्लेष हो या अर्थश्लेष। श्लेष अलङ्कार का महत्व उद्भट ने इतना माना कि अन्य अलङ्कारों के साथ समन्वित होने पर श्लेष ही सर्वातिशायी व प्रधान हो जाता है।[5] भट्टोद्भट ने ही अलङ्कार-सम्प्रदाय में पहली बार उपमा-भेदों को व्याकरण के अनुसार विभक्त किया है।[6]

वामन : काव्यालंकारसूत्राणि—(८५०-९५० वि० सं०)

आचार्य वामन ने अपने ग्रंथ के चतुर्थ प्रकरण में अलङ्कारों का विवेचन किया है। नये अलङ्कारों में वामन ने व्याजोक्ति का नाम लिया है। इसे वामन के कथना-

---

१. इष्टस्यार्थस्य विस्पष्टप्रतिबिम्बनिदर्शनम्।
यथेवादि पदैः शून्यं बुधैर्दृष्टान्त उच्यते ॥
काव्यालङ्कारसंग्रहः—उद्भट, पृष्ठ ६१

२. काव्यादर्शः—दण्डी ॥२-३५९, ३६० ॥ पृष्ठ १५०-१५१

३. अनेकालंक्रियोल्लेखे समं तद्वृत्त्यसम्भवे।
एकस्य च ग्रहे न्याय-दोषाभावे च संकरः ॥
काव्यालंकारसंग्रहः—उद्भट, पृष्ठ ७३

४. काव्यालङ्कारसंग्रहः—उद्भट, पृष्ठ ५

५. (क) अर्थभेदेन तावच्छब्दो भिद्यन्ते इति भट्टोद्भटस्य सिद्धान्तः।
(ख) अलंकारान्तर्गतां प्रतिभां जनयत्पदैः
काव्यालङ्कारसंग्रहः—उद्भट, (टीकाभाग) पृष्ठ ६३

६. काव्यालङ्कारसंग्रहः—उद्भट, पृष्ठ १८

नुसार तात्कालिक कुछ विद्वानों ने मायोक्ति भी कहा है।[1] व्याजोक्ति व्याजस्तुति से सर्वथा भिन्न है। इसी तथ्य की सिद्धि के लिए वामन ने व्याजोक्ति का निरूपण किया। व्याजोक्ति में स्तुति के लिए कोई स्थान नहीं, अपितु किसी कथन के लिए किया गया व्याज (बहाना) सत्य सरूपता से प्रस्तुत करना ही इसका लक्षण है। स्पष्ट झलकता है कि मन के भीतरी भावों के चेहरे पर प्रकट हो जाने पर उन के वास्तविक कारण को छिपा कर व्याज से ऐसा कारण प्रस्तुत करना, जिससे भावाभिव्यक्ति की सत्यता में सन्देह न रहे—मानसिक परिस्थिति का परिचायक है। इस लिये व्याजोक्ति मानव-मन की मनोवैज्ञानिक स्थिति से सम्बद्ध अलंकार है और इस अलंकार का जन्म राजप्रासादों या शृंगार रस से परिपूर्ण जीवन वाले वर्ग में हुआ। विषमताओं से आबद्ध जीवन से इस अलंकार का जन्म सम्भव नहीं। इसका दूसरा नाम मायोक्ति है। वह भी इसी ओर संकेत करता है। कालान्तर में चाहे इसके उदाहरण जीवन के अन्य पक्षों से सम्बद्ध भी मिलें।

वामन ने अलंकार-सम्प्रदाय में पूर्ववर्ती युग से चले आ रहे पर्यायोक्त, प्रेयष्, रसवत्, ऊर्जस्वि, उदात्त, भाविक, सूक्ष्म आदि अलंकारों का विवेचन नहीं किया। उन्हें विशेषोक्ति की भी यथार्थ परिभाषा नहीं मिली।[2] वामन ने उपमा के अन्तर्गत अनेक उपमागर्भित अलंकारों को रखा है।[3] आचार्य वामन की प्रवृत्ति काव्य में अलंकारों की संख्या कम करने की थी, न कि बढ़ाने की। व्याजोक्ति विष्णुधर्मोत्तर पुराण में उल्लिखित उपन्यास का नया संस्करण है।[4] वक्रोक्ति को अर्थालंकार के रूप में पहली बार वामन ने ही लिखा।[5] और सादृश्य से लक्षणा को ही वक्रोक्ति स्वीकार किया। भामह ने तो इसे सब अलंकारों का मूल स्वीकार किया था, परन्तु वामन ने इसका सम्बंध शब्दशक्ति से जोड़ दिया। वामन ने श्लेषालंकार का नाम श्लिष्टालंकार के रूप में परिवर्तित कर दिया तथा ससंदेह (दण्डी की संशयोपमा) को सन्देह के नाम से अभिहित किया। यास्क-प्रणीत 'काव्यालंकार सूत्राणि,' नामक एक ग्रन्थ गत वर्ष प्रकाशित हुआ है। यह वामन के ग्रन्थ के समान ही है। इस के लेखक का निर्णय अभी विवादास्पद है! इस लिए इस कृति का पृथक् विवेचन नहीं किया गया।

---

१. व्याजस्य सत्य-सारूप्यं व्याजोक्तिः।
व्याजस्यच्छद्मनः सत्येन सारूप्यं व्याजोक्तिः यां मायोक्तिरित्याहुः ॥२५॥
काव्यालङ्कारसूत्राणि—वामन, पृष्ठ ६५

२. एकगुणहानिकल्पानायां साम्यदार्ढ्यं विशेषोक्तिः।
काव्यालंकारसूत्राणि—वामन, पृष्ठ ६४

३. सम्प्रत्युपमाप्रपंचो विचार्यते। प्रतिवस्तुप्रभृतिरुपमाप्रपंचः॥
काव्यालंकारसूत्राणि—वामन, पृष्ठ ५६

४. हिस्ट्री आफ संस्कृत पोइटिक्स—पी० वी० काणे, पृष्ठ ७१

५. सादृश्माल्लक्षणा वक्रोक्तिः ॥८॥
काव्यालंकारसूत्राणि—वामन, पृष्ठ-५८.

रुद्रट : काव्यालंकारः—(८८२-९५७ वि० सं०)

आचार्य रुद्रट रसवादी माने जाते हैं, तथापि अलंकार-क्षेत्र में उनका महत्वपूर्ण योगदान है। रुद्रट ने अनुप्रास से सम्बद्ध मधुरा, ललिता, प्रौढ़ा, परुषा और भद्रा वृत्तियों की चर्चा की है। परुषा तो उद्भट द्वारा भी कथित थी। भट्टि-काव्य में निर्दिष्ट 'भाषासम' यहां भाषा-श्लेष, बन गया है। यह श्लेष का एक भेद ही है।[1] जो संस्कृत, प्राकृत, मागधी, पिशाची, 'सूरसेनी', अपभ्रंश आदि भाषाओं के मेल तथा भाषागत भिन्नार्थ का परिचायक है। रुद्रट ने उपमेयोपमा और अनन्वय अलंकार को उपमा का ही भेद माना तथा व्याजस्तुति को व्याजश्लेष और उदात्त के द्वितीय भेद को 'अवसर' कहा। स्वभावोक्ति का नाम जाति ही निश्चित कर दिया, भले ही यह नाम प्रसिद्ध नहीं हो पाया। पूर्वालंकार रुद्रट ने वहां माना है, जहाँ कार्य का जन्म पहले और कारण का पीछे हो। यह पूर्व[2] नामक अलंकार भी अतिशयोक्ति के एक भेद (कार्यकारणयोर्यत्र पौर्वापर्यविपर्ययः) का ही नाम है।

रुद्रट के भाव, मत, साम्य और पिहित नामक चारों अलंकारों का पूर्ववर्ती आचार्यों ने विवेचन नहीं किया।[3] भाव अलंकार का जन्म मनोविकार से सम्बद्ध है। आचार्य शुक्ल ने भाव को मनोविकार ही माना है। रुद्रट इस अलंकार के दोनों लक्षणों में मनोविकारों की ही स्थिति स्पष्ट करते हैं। इस काल तक सामाजिक जीवन में मनोविकारों का पचड़ा विकसित हो कर काव्यशास्त्र में उतर आया था। इसलिए रुद्रट ने स्वयं उदाहरण देकर उस का निरूपण किया। मत नामक अलंकार रुद्रट ने केवल बौद्धिकता के व्यायाम का परिचायक दिया। यह अलंकार सौन्दर्यापेक्षा में नहीं आता, वस्तु-मात्र का प्रदर्शक है। इस अलंकार में किसी वस्तु के सम्बन्ध में अन्य जनों का मत कह कर पुनः अपना मत उस वस्तु के सम्बन्ध में व्यक्त किया जाता है और शेष विशेषण दोनों कथनों में ठीक बैठ जाते हैं।[4]

---

१. यस्मिन्नुच्चार्यन्ते सुव्यक्तविविक्तभिन्नभाषाणि।
वाक्यानि यावदर्थं भाषाश्लेषः स विज्ञेयः ॥४-१०॥
काव्यालंकारः—रुद्रट, पृष्ठ ३२

२. यत्रातिप्रबलतया विवक्ष्यते पूर्वमेव जन्यस्य।
प्रादुर्भावः पश्चाज्जनकस्य तु तद्भवेत् पूर्वम् ॥३९॥
काव्यालंकारः—रुद्रट, पृष्ठ १२२

३. (क) यस्य विकारः प्रभवन्नाप्रतिबद्धेन हेतुना येन।
गमयति तदभिप्रायं तत्प्रतिबन्धं च भावोऽसौ ॥७-३८॥
(ख) अभिधेयमभिदधानं तदेव तत्सदृशसकलगुणदोषम्।
अर्थान्तरमवगमयति वाक्यं सोऽपरो भावः ॥७-४०॥
काव्यालंकारः—रुद्रट, पृष्ठ ८२-८३

४. तन्मतमिति यत्रोक्त्वा वक्तान्यमतेन सिद्धमुपमेयम्।
ब्रूयादथोपमानं तथा विशिष्ट स्वमतसिद्धम् ॥८-६९॥
काव्यालंकारः—रुद्रट, पृष्ठ ११३

साम्य अलंकार में सामान्य गुण-क्रिया-संस्थान-कारण-परायणा अर्थक्रिया से उपमान और उपमेय का साम्य निरूपित होता है। इस अलंकार का जनक भी शृंगारिक वातावरण ही रहा है। उदाहरण में रमण की प्रेरणा देते हुए नायक कहता है कि चन्द्रमा द्वारा करने योग्य सारा कार्य तुम्हारा मुख कर रहा है।[1] पिहित अलंकार में किसी वस्तु द्वारा दूसरी वस्तु को छिपा लेने का वर्णन असमानता के आधार पर किया जाता है।[2] इस अलंकार का जन्म भी मनोवैज्ञानिक भूमि में हुआ है।

अपने पूर्ववर्तियों से अधिक अलंकार रुद्रट ने कहे हैं। इन में समुच्चय, भाव, पर्याय, विषम, अनुमान, परिकर, परिसंख्या, कारणमाला, अन्योन्य, उत्तर, सार, अवसर, मीलित, और एकावली—वास्तवगत हैं। मत, अन्योक्ति, प्रतीप, उभयन्यास भ्रान्तिमान्, प्रत्यनीक, पूर्व, साम्य और स्मरण—औपम्यगत। पूर्व, विशेष, तद्गुण, अधिक, असंगति, पिहित तथा व्याघात—अतिशयगत और श्लेषगत में अविशेषश्लेष, विरोधश्लेष, अधिकश्लेष, वक्रश्लेष, व्याजश्लेष (व्याजस्तुति पूर्ववर्तियों द्वारा विवेचित है।) उक्तिश्लेष, असंभवश्लेष, अवयवश्लेष, तत्वश्लेष और विरोधाभास (नाममात्र नया है) नये अलंकार हैं। श्लेष के वर्ण, पद, लिंग, भाषा, प्रकृति, प्रत्यय, विभक्ति और वचनभेद भी रुद्रट ने ही किये हैं। रुद्रट ने रसवत्, प्रेयस्, ऊर्जस्वि और समाहित की चर्चा अलंकारों में नहीं की है। सम्भवतः रसवादी होने के कारण इन अलंकारों के सम्बन्ध में उनकी चुप्पी उचित रही। रुद्रट का अलंकारों के विकास में योग यह है कि उन्होंने उपर्युक्त वर्गगत अलंकारों को स्वनिर्मित उदाहरणों में समन्वित करके दिखाया है। उनके युग में भावाभिव्यक्ति के प्रकारों में तीव्रता से विकास हो रहा था। इस लिए सब प्राचीन-नवीन अलंकारों के उदाहरण उन्होंने स्वयं बनाये। कवि-मानस लोक-मानस से प्रभावित रहता है। इसलिए लोक-जीवन की सामाजिक और राजप्रासादीय परिस्थितियों में नये अलंकारों को जन्म-ग्रहण करने में सहायता मिली। इन अलंकारों के लक्षणों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि वास्तवगत अलंकारों में समुच्चयालंकार के लक्षण में सुखावह, सदसतोर्योगित्व-भाव में विकार, हेतु और पर्याय में अशक्ति, असदृशत्व, विषम में परमताशंका और सम्बन्ध का दोनों अर्थों में अनौचित्य आदि प्रयुक्त शब्द सिद्ध करते हैं कि इन अलंकारों का जन्म उस काल की जनता की सामाजिक स्थिति से

---

१. (क) अर्थक्रियया यस्मिन्नुपमानस्यैति साम्यमुपमेयम्।
तत्सामान्यगुणादिककारणया तद्भवेत् साम्यम् ॥८-१०५॥
(ख) अभिसर रमणं किमिमां दिशमैन्द्रीमाकुलं विलोकयसि।
शशिनः करोति कार्यं सकलं मुखमेव ते मुग्धे ॥८-१०६॥
काव्यालंकारः—रुद्रट, पृष्ठ १२०-१२१,

२. यत्रातिप्रबलतया गुणः समानाधिकरणमसमानम्।
अर्थान्तरं पिदध्यादाविर्भूतमपि तत्पिहितम् ॥९-५०॥
काव्यालंकारः—रुद्रट, पृष्ठ १३०

हुआ। सुख-प्रवृत्ति, सद्-असद्-योग, हेतु, अशक्ति, असमानता, आशंका तथा अनौचित्य जैसे शब्द लोक-जीवन की प्रगति के परिद्योतक हैं। मानसिक समता-विषमता का ही प्रभाव काव्य में उतर आया और अभिव्यक्ति के लिए इन अलंकारों का जन्म हुआ। इनका सम्बन्ध वस्तुगत है। अनुमान भी न्यायदर्शन का प्रमाणदान है। परिकर का साभिप्राय सम्यग्विशेषण से, परिसंख्या में पृष्ठापृष्ठ या सद्गुणादि का कहीं तुल्य कथन और एक स्थान में नियमन, कारणमाला में पूर्वापर कारणसम्बन्ध, अन्योन्य में परस्पर सम्बन्ध, उत्तरालंकार की उत्तरजन्यपूर्ववचनता, सार का उत्तरोत्तर उत्कर्ष, अवसरालंकार की उत्कृष्टतापूर्व सरसता[1], मीलित की समान चिह्न से हर्षकोपादि की तिरस्क्रिया तथा एकावली अलंकार की यथालाभ अर्थ-परम्परा मनोवैज्ञानिक परिस्थिति की परिचायक है। इसलिए इन अलंकारों का जन्म सामाजिक-मनोवैज्ञानिक चेतना की विकासशील प्रवृत्ति से हुआ, जिसका उल्लेख काव्य में नये अलंकारनामों से किया गया। इन अलंकारों के उदाहरण भी मानसिक आन्दोलनमयी परिस्थितियों से परिपूर्ण हैं।[2]

औपम्यगत अलंकारों में 'मत' के लक्षण में लोकमत के आधार पर स्वमत-संस्थापन की प्रवृत्ति, अन्योक्ति में असमान विशेषणत्व में समानेतिवृत्त की उपमेयता, प्रतीप में उपमान-उपमेय की विपरीतता, उभयन्यास में सामान्यपरक दो अर्थों के तुल्य वर्णन में भी उपमा का राहित्य, भ्रान्तिमान् की अर्थ-विशेष में अन्यार्थावगम्यता, प्रत्यनीकालंकार में उपमान-विरोधी उक्ति से उपमेय की उत्तमता की संस्थापना-परक प्रवृत्ति, साम्य की अर्थ-क्रिया तथा स्मरण की वस्तुजन्यवैशिष्ट्य से तत्सादृश्य, पूर्वदृष्टस्मरण जैसे अलंकार-लक्षण-बोधक शब्द तुलनात्मक प्रवृत्ति के विकास के द्योतक हैं। इस प्रवृत्ति से ही पूर्ववर्ती अलंकारों से अधिक सूक्ष्म अभिव्यक्ति प्रकारों का जन्म हुआ। पूर्व अलंकार में कार्य-कारण की पूर्व-पश्चोद्भाविता, विशेष में निराधार स्थिति से विशेष और आवश्यक की अभिधेयता, तद्गुण में परगुण ग्राहकता, अधिक में एककारण से वस्तुद्वय की उत्पत्ति विषमालंकार में कार्यकारण का विरोधित्व, कार्य-कारण के भिन्नाधार वाला असंगति अलंकार, पिहित में स्वगुण-प्रबलता से परगुणों का छिपाव तथा व्याघात में निर्दशित कारण से कार्य की अजनकता की प्रवृत्ति (यद्यपि परवर्ती काल में कारण से विरुद्ध कार्य के जनन की प्रवृत्ति व्याघात अलंकार में दृष्टिगत होती है) परस्पर-विरोधिनी जटिल मानसिक ग्रन्थियों की उलझन की प्रतीक हैं। रुद्रट के काल तक इन कार्य-कारण भाव की विपरीतता वाले अलंकारों का विकास इसी लिए हुआ कि तब का युग मानसिक धरातल पर असंतुलित था। तब का जन-जीवन विरोधी संघटनाओं से व्याप्त था। ऐसी मानसिक ग्रन्थि-परम्परा के दिग्दर्शन के लिए दो उदाहरण पर्याप्त होंगे:—

पिहित : प्रियतमवियोगजनिता कृशता कथमिव तवेयमंगेषु।
लसदिन्दु-कलाकोमलकान्तिकलापेषु लक्ष्यते ॥९-५१॥

१. काव्यालंकारः—रुद्रट, पृष्ठ ७६-९६
२. काव्यालंकारः—रुद्रट, पृष्ठ १३१

अर्थात् प्रियतम के वियोग से पैदा हुई यह कृशता तेरे अंगों पर कैसी ? यह तो शोभित चन्द्रमा की कला की कोमल कान्ति ही कलापों में दृष्टिगत होती है ।

व्याघात : यत्र सुरतप्रदीपा निष्कज्जलवर्तयो महामणयः ।

माल्यस्यापि न गम्या हृतवसन-वधू-विसृष्टस्य ।।९-५३।।

अर्थात्—जहाँ महामणियों के बने कज्जलयुक्त बत्तियों से रहित सुरतप्रदीप नग्न वधुओं के द्वारा फैंके गए माल्यों से भी नहीं बुझते हैं ।[1]

रुद्र के श्लेष के १० भेदों के सम्बन्ध में इतना ही कहना उचित है कि शब्दार्थ के नवीन प्रयोगों ने ही इन अलंकारों को जन्म दिया । इन श्लेषों में विविधता भी लोक-रुचि की बोधक है । रुद्रट का काल लगभग ८२५-८५० ईस्वी[2] तक माना जाता है । तब का देश भाषा, व्यवहार, जीवन-संघर्ष और संक्रान्तियों से कितना ग्रस्त था, यह इतिहास-सापेक्ष तथ्य है । इसलिये काव्य में इतने नये अलंकारों का जन्म लेना स्वाभाविक था ।

आनन्दवर्धन : ध्वन्यालोकः (९५७ वि० सं०)

आचार्य आनन्दवर्धन ने अलंकारविकास में कोई प्रकट सहयोग नहीं दिया, अपितु अलंकार-ध्वनि नाम से एक ध्वनि-भेद स्वीकार किया । प्रकटतया अलंकार इतना महत्व प्राप्त कर चुका था कि ध्वनि-सम्प्रदायवादी भी उससे आँखें न मूंद सके । ध्वनि का स्वरूप उन्हें अलंकार में भी दृष्टिगत हो गया । विशेषोक्ति, आक्षेप, समासोक्ति जैसे अलंकार इस तथ्य के प्रमाण बने । अलंकार और ध्वनि के सम्बन्ध में अन्यत्र विस्तृत चर्चा की जाएगी ।

राजशेखर : काव्यमीमांसा (९५७-१०५७ वि० सं०)

राजशेखर ने 'काव्यमीमांसा' में वक्रोक्ति अलंकार के सम्बन्ध में विशिष्ट रीति से चर्चा की है । रीति की चर्चा में काकु का प्रश्न उठाया गया है । काकुसम्बंधी रुद्रट-मत प्रस्तुत करके काकुवक्रोक्ति की अलंकारता पर अपना मत देते हुए काकु के साकांक्षा और निराकांक्षा—ये दो भेद उन्होंने किए हैं,जो विकास-सूक्ष्मताके परिद्योतक हैं । साकांक्षा के आक्षेपगर्भा, प्रश्नगर्भा और वितर्कगर्भा—तीन भेद तथा निराकांक्षा के विधिरूपा, उत्तररूपा और निर्णयरूपा तीन भेद माने हैं ।[3] शब्दहरण प्रकरण में

१. अन्यैरप्रतिहतमपि कारणमुत्पादनं न कार्यस्य ।
यस्मिन्नभिधीयते व्याघातः स इति विज्ञेयः ।।९-५२।।
काव्यालंकारः—रुद्रट, पृष्ठ १३१

२. हिस्ट्री आफ संस्कृत पोइटिक्स—पी. वी. काणे, पृष्ठ १५५

३. रीतिरूपं वाक्यम् त्रितयम् । काकुः पुनरनेकयति । 'काकुर्वक्रोक्तिर्नाम शब्दालंकारोऽयम् इति रुद्रटः अभिप्रायवान्पाठधर्मः काकुः । स कथमलंकारी स्यात् ? इति यायावरीयः, सा च द्विधा-साकांक्षा निराकांक्षा च । वाक्यान्तराकांक्षिणी साकांक्षा । वाक्योत्तरभाविनी निराकांक्षा । तदेव वाक्यं काकुविशेषण साकांक्षम् । तदेव काक्वन्तरेण निराकांक्षम् । आक्षेपगर्भा, प्रश्नगर्भा, वितर्कगर्भा चेति साकांक्षा विधिरूपा, उत्तररूपा, निर्णयरूपेति निराकांक्षा ।
काव्यमीमांसा—राजशेखर, पृष्ठ ३१

श्लेष का यमक से तथा यमक का यमक से हरण प्रदर्शित कर राजशेखर ने अलंकार-शास्त्र में इन दोनों अलंकारों की नवीन विधि से चर्चा की है।[१]

कुन्तक : वक्रोक्तिजीवितम् (१०५० वि० सं०)

आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति को काव्य-व्यापिनी सिद्ध किया। वक्रोक्ति के सम्बन्ध में भामह, दण्डी और रुद्रट ने भी चर्चा की थी। रुद्रट ने उसे शब्दालंकार माना। कुन्तक ने वक्रोक्ति के व्यापक महत्व से काव्य को परिव्याप्त प्रमाणित किया। कुन्तक को वक्रोक्ति को व्यापकता देने की प्रेरणा भामह, दण्डी से मिली, परन्तु रुद्रट से अधिक मिली और ध्वनिकार से भी। सम्भवतः ध्वनिसम्प्रदाय के विरोध के लिए ही 'वक्रोक्ति-जीवितम्' लिखा गया। रुद्रट ने श्लेष अलंकार को शब्दालंकार और अर्थालंकार के रूप में माना तथा शब्दश्लेष के वर्ण, पद, लिंग, भाषा, प्रकृति, प्रत्यय, विभक्ति और वचन नाम से ८ भेद किये।[२] अर्थश्लेष (शुद्ध) के भी रुद्रट ने १० भेद किये। संकीर्ण के असंख्य भेदों की परिकल्पना के सम्बन्ध में भी रुद्रट ने कहा है।[३] वक्रोक्ति के जो भेद कुन्तक ने किए हैं, उन पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि वक्रोक्ति के वर्ण, पद, लिंग और प्रत्ययगत भेद श्लेष से प्रभावित हैं।[४] काव्य, प्रकरण, प्रबन्ध आदि भेद ध्वनि-विकास-परम्परा के सूक्ष्म भेद हैं। वक्रोक्तिकार ने दूसरा प्रयास यह किया कि अलंकारों की संख्या कम करने की भरसक चेष्टा की। वाक्य के वक्रभाव की व्याख्या करते हुए कुन्तक ने कहा है:—

वाक्यस्य वक्रभावोऽन्यो भिद्यते यः सहस्रधा।
यत्रालंकार-वर्गोऽसौ सर्वोऽप्यन्तर्भविष्यति ॥१-२०॥[५]

अर्थात् वाक्य का वक्रभाव (पदवक्रता से भिन्न) अन्य ही प्रकार का होता है, जिसके हज़ारों भेद हो सकते हैं। इसमें सारे अलंकारवर्ग का अन्तर्भाव हो जाएगा।

कुन्तक ने पूर्ववर्ती आचार्यों के रसवत्सम्बन्धी लक्षणों का खण्डन करते हुए

---

१. काव्यमीमांसा—राजशेखर, पृष्ठ ५६-५७

२. वर्णपदलिंगभाषाप्रकृतिप्रत्ययविभक्तिवचनानाम्।
अत्रायं मतिमद्भिर्विधीयमानोऽष्टधा भवति ॥४-२॥
काव्यालंकारः—रुद्रट, पृष्ठ ३६

३. अविशेषविरोधाधिक वक्र-व्याजोक्त्यसंभवावयवाः।
तत्त्व विरोधाभासाविति भेदास्तस्य शुद्धस्य ॥१०-२॥
काव्यालंकारः—रुद्रट, पृष्ठ १३२, १३७

४. वर्ण-विन्यास-वक्रत्वं, पदपूर्वार्द्धवक्रता।
वक्रतायाः परोऽप्यस्ति प्रकारः प्रत्ययाश्रयः ॥१-१९॥
वक्रोक्तिजीवितम्—कुन्तक, पृष्ठ ६५

५. वक्रोक्तिजीवितम्—कुन्तक, पृष्ठ ८७

नया लक्षण दिया, उसे सब अलंकारों का जीवित कहा।[1] वक्रोक्ति भी अलंकार ही है, ऐसा कुन्तक के पूर्वापरवर्ती विद्वानों का बहुमत मानता है। कुन्तक ने अलंकार-विकास में नये अलंकार नहीं दिये, क्योंकि सैकड़ों अलंकारों की संख्या उनके काल में हो चुकी थी।[2] इस स्थान पर आये 'शतशः काव्यालंकाराः' शब्द से कई विद्वानों ने, काव्यालंकार, सम्बन्धी सैकड़ों ग्रन्थों के होने की चर्चा की है। बहुत सम्भव है कि यह उक्ति अलंकारों के ग्रन्थों के सम्बन्ध में हो, परन्तु अलंकारों की संख्या भी तो कम नहीं थी। वक्रोक्तिसम्बन्धी ग्रन्थ की निर्माण-प्रेरणा में भी इसी तर्क का सहारा लिया गया है[3] कि 'वक्रोक्ति-जीवित' काव्यालंकार ग्रन्थ है।

वक्रोक्तिकार ने रूपक तथा उत्प्रेक्षा के प्रति अपना विशिष्ट दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। उन्होंने रूपक को 'उपचारैकसर्वस्वम्' माना है और संकरस्थिति में उत्प्रेक्षा को अन्य अलंकारों के सौन्दर्य का अपहरण करके अपने आप को लावण्यमयी बनाने वाली स्वीकार किया है।[4] कुन्तक ने रसवत्, ऊर्जस्वि, समाहित, प्रेयस्—ये रससम्बन्धी अलंकार तथा दीपक, रूपक, अप्रस्तुतप्रशंसा, पर्यायोक्त, उत्प्रेक्षा अतिशयोक्ति, उपमा, उपमेयोपमा, तुल्ययोगिता, अनन्वय, परिवृत्ति, श्लेष, व्यतिरेक, सहोक्ति, समासोक्ति, दृष्टान्त, अर्थान्तरन्यास, आक्षेप, विभावना, सन्देह तथा अपह्नुति—इन २५ के अतिरिक्त अलंकारों का खण्डन किया। कुछ को शोभा-शून्य माना और कुछ को अन्य में अन्तर्भूत होने योग्य कह दिया है।[5]

यथासंख्य अलंकार में वक्रोक्तिकार को कोई वैचित्र्य दृष्टिगत नहीं होता और आशिष को भी उन्होंने अलंकार नहीं माना।

---

१. (क) यथा स रसवन्नाम सर्वालंकार-जीवितम्।
काव्यैकसारतां याति तथेदानीं विवेच्यते ॥३-१४॥
(ख) रसेन वर्तते तुल्यं रसवत्वविधानतः।
योऽलंकारः स रसवत् तद्विदाह्लाद निर्मितेः ॥३१५॥
वक्रोक्तिजीवितम्—कुन्तक, पृष्ठ ३८३

२. यद्यपि सन्ति शतशः काव्यालंकाराः तथापि न कुतश्चिदप्येवंविधवैचित्र्यसिद्धिः।
वक्रोक्तिजीवितम्—कुन्तक, पृष्ठ ७

३. लोकोत्तर-चमत्कारकारि वैचित्र्य-सिद्धये।
काव्यस्यायमलंकारः कोऽप्यपूर्वो विधीयते ॥१-२॥
वक्रोक्तिजीवितम्—कुन्तक, पृष्ठ ७

४. अपहृत्यान्यालंकारलावण्यातिशयश्रियः।
उत्प्रेक्षा प्रथमोल्लेखजीवितत्वेन जृम्भते ॥
वक्रोक्तिजीवितम्—कुन्तक, पृष्ठ ४२९

५. भूषणान्तरभावेन शोभाशून्यतया तथा।
अलंकारास्तु ये केचिन्नालंकारतया मनाक् ॥३४४॥
वक्रोक्तिजीवितम्—कुन्तक, पृष्ठ ४७८

वक्रोक्तिसम्प्रदाय की संस्थापना के लिए कुन्तक के अदम्य प्रयास ने इस अलंकार को काव्य-व्यापी बना दिया। इसलिए स्व-विवेच्य अलंकारों को विभिन्न वक्रताओं के अन्तर्गत रख कर वक्रोक्ति को काव्य-व्यापी माना। इससे अलंकार-सम्प्रदाय को ही महत्व मिला कि एक शब्द या अर्थ में स्वीकृत अलंकार अपनी वाच्य-शक्ति के कारण इतना महत्वपूर्ण बना। वस्तुतः अलंकारसम्प्रदाय के अन्तर्गत यह दूसरा सम्प्रदाय जन्मा, जिसने रस की टक्कर में अपना महत्व स्थिर किया।

अभिनवगुप्त (१०५७-११५७ वि० सं०)

ध्वनि-सिद्धान्त-विवेचना-समर्थक अभिनवगुप्त ने अलंकारों के सम्बन्ध में ध्वनिसिद्धान्तों की व्याख्या में यत्र तत्र कुछ कहा है।

अतिशयोक्ति का महत्व अभिनवगुप्त ने सब अलंकारों में स्वीकार किया है। भामह-दण्डी ने भी वक्रोक्ति-अतिशयोक्ति का अलंकारमूल के रूप में समर्थन किया था, परन्तु ध्वनि-सिद्धान्त के व्याख्याता का अतिशयोक्ति को इतना प्रशंसित करना विचित्र लगता है।

महिमभट्ट ने 'व्यक्ति-विवेक' में ध्वनि-सिद्धान्त का खण्डन किया और क्षेमेन्द्र ने अलंकार तथा औचित्य पर प्रकाश डाला। इन दोनों आचार्यों की चर्चा अलंकार-विकास में उतनी योगदायिनी नहीं इसलिए इन दोनों की चर्चा अन्यत्र की जाएगी।

भोज : सरस्वतीकंठाभरणम् (११५० वि० सं०)

भोजराज के 'सरस्वती-कण्ठाभरण' और 'शृंगार प्रकाश' दो ग्रन्थ प्राप्त हैं। 'सरस्वती कण्ठाभरण' में २४, २४, २४ शब्द, अर्थ और उभयालंकार माने गये हैं। ७२ संख्या तो बन ही गई, परन्तु जाति, गति, रीति, वृत्ति, छाया, मुद्रा, उक्ति, युक्ति, भणिति, गुंफना, शय्या, पठिति, वाकोवाक्यं, गूढ़, अध्येय, श्रव्य, प्रेक्ष्य और अभिनय शब्दालंकारों में, जाति, अहेतु, भेद, वितर्क, प्रत्यक्ष, उपमान और शब्द-प्रमाण, अर्थालंकारों में, समाधि-परिष्कृतिः, उभयालंकारों में नये अलंकार और जोड़ दिये गये। रीति को अलंकार मानने की रीति तो नई नहीं। आचार्य दण्डी ने भी ऐसी चर्चा की थी। इनमें जाति को शब्दार्थ-सम्बन्धी दोनों अलंकारों में माना है। उक्ति को शब्द और उभयालंकारों में स्थान दिया है। भोज द्वारा निर्दिष्ट इन अलंकारों के लक्षण और उदाहरण परीक्षण-योग्य हैं। उदाहरण तो उन्होंने अन्य काव्यग्रन्थों से लिये हैं। परंपरागत अलंकारों के लक्षणों में वे पूर्ववर्ती आचार्यों के ऋणी हैं, परंतु इन नवीन अलंकारों के लक्षण उनके अपने हैं। शब्दालंकार-गत जाति अलंकार दण्डीकृत स्वभावोक्ति नहीं है, अपितु संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, म्लेच्छभाषा, पैशाची, शौरसेनी आदि की रचना के लिए प्रयुक्त है।[1] इस अलंकार

---

१. (क) तत्र संस्कृतमित्यादिर्भारती जातिरिष्यते।
सा तु औचित्यादिभिर्वाचामलंकाराय जायते ॥२६॥
सरस्वतीकण्ठाभरणम्—भोज, पृष्ठ १४१

(ख) संस्कृते नैव केऽप्याहुः प्राकृते नैव केचन।
साधारण्यादिभिः केचित् केचन म्लेच्छभाषया ॥२७॥
सरस्वतीकण्ठाभरणम्—भोज, पृष्ठ १४१

का जो स्वरूप भोज ने प्रस्तुत किया है, वह तो भाषाविज्ञान के भाषा-विकास-सिद्धान्त से सम्बद्ध है। इसमें विभिन्न भाषाओं के परस्पर समन्वय की स्पष्ट चर्चा है। लोक में प्रदेश तथा जातिगत आधार पर जिन भाषाओं का प्रयोग होता था, उनके प्रायौगिक रूप से इस अलंकार का जन्म हुआ है। रुद्रट के भाषाश्लेष को इसी का पूर्वज मानना उचित होगा।[1]

गति सम्बन्धिनी चर्चा भी नवीन ही है।[2] पद्य, गद्य और मिश्र वाक्य को गति अलंकार माना है। इसमें अर्थौचित्य अवश्य रहना चाहिए।[3] यह अलंकार काव्यकार की शक्ति का द्योतक है। कोई कवि गद्य-लेखन में गति रखता है, कोई पद्य में और कोई दोनों में। कवि यथामति, यथाशक्ति, यथौचित्य और यथारुचि काव्य-प्रयोग करता है।[4] तब इस अलंकार का सम्बन्ध काव्यकार की मानसिक और प्रातिभ शक्ति से ही भोज ने माना। लगता है, भोज के काल में अनेक भाषाओं के बहु-संख्यक कवि समाज में ख्यात-नामा रहे होंगे। इस प्रवृत्ति के प्रमाण १४वीं शताब्दी के विश्वनाथ कविराज और उनके पिता चन्द्रशेखर महाकवि हैं, जिन्हें क्रमशः "अष्टा-दश भाषा-वार-विलासिनी-भुजंग" और "चतुर्दश भाषा-वार-विलासिनी-भुजंग" कहा गया है। हरविजयकार रत्नाकर में यह भी प्रवृत्ति पाई जाती है। उनके विविध प्रयोगों को देखकर ही जाति और गति नाम के अलंकारों को उन्होंने काव्य-क्षेत्र में स्थान दे दिया। वृत्ति भी भोज के काल में अलंकारों में स्थान ग्रहण कर गई।[5] भरत ने नाटकीय वृत्तियों की चर्चा भारती, सात्वती, कैशिकी और आरभटी नाम से की है। आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त ने इन्हें अर्थवृत्तियां कहा है। काव्य-वृत्तियां-उपनागरिका, परुषा, कोमला (ग्राम्या) हैं। इन्हें आनन्दवर्धन और अभिनव ने शब्द-वृत्तियां कहा है। इन्हें अनुप्रास जाति भी कहा गया है। आनन्दवर्धन ने "व्यव-हारो हि वृत्तिः" और अभिनव गुप्त ने 'तस्माद् व्यापारः पुमर्थसाधको वृत्तिः' कहा है (पुरुषार्थ-साधक व्यापार का नाम ही वृत्ति है। वास्तव में पात्रों की कायिक, वाचिक और मानसिक विचित्रता से मुक्त चेष्टा ही वृत्ति है। इस व्यापार का वर्णन काव्य में रहता है। कोई भी वर्णन वृत्ति या व्यापार से रहित नहीं होता। यही वृत्ति भोज

---

१. पैशाच्या शौरसेन्याऽन्यो मागध्याऽन्यो निबध्यते।
द्वित्राभिः कोऽपि भाषाभिः सर्वाभिरपि कश्चन ॥२-११॥
सरस्वतीकण्ठाभरणम्—भोज, पृष्ठ १४२

२. नात्यन्तं संस्कृतेनैव नात्यन्तं देश-भाषया।
कथां गोष्ठीषुकथयंल्लोके बहुमतो भवेत् ॥२-१२॥
सरस्वतीकण्ठाभरणम्—भोज, पृष्ठ १४२

३. पद्यं गद्यं च मिश्रं च वाक्यं यत् सा गतिः स्मृता।
अर्थौचित्यादिभिः सापि वागलंकार इष्यते ॥३-३०॥
सरस्वतीकण्ठाभरणम्—भोज, पृष्ठ १४६

४. सरस्वतीकण्ठाभरणम्—भोज ॥२-३१, ३३, ३४॥ पृष्ठ १५०

५. सरस्वतीकण्ठाभरणम्—भोज ॥२-६४॥ पृष्ठ १६०-१६१

के काल में अलंकार-क्षेत्र के अन्तर्गत आ गई। इसका लक्षण भी पूर्ववर्ती आचार्यों से भिन्न हुआ। लक्षण में चित्त के विकार, विक्षेप, संकोच और विस्तार में वर्तमान रहने वाली मानसिक स्थिति का नाम वृत्ति माना गया है। कैशिकी, आरभटी, भारती सात्वती, मध्यमारभटी और मध्यमकैशिकी छः भेद किए गये हैं।[१] चित्तवृत्ति अलंकार बन गयी। अलंकार के व्यापक लक्षण के कारण ऐसा हो गया। छाया को भी भोज ने ही अलंकार बनाया। उसके लक्षण में अन्योक्तियों की अनुकृति स्वीकार की।[२] छाया के जन्म में लोक-जीवन की छाया मूल है। लोक, छेक, अर्भक, उन्मत्त, पोटा, मत्तोक्ति भेद से छाया के छः भेद हैं, जो लोक-जीवन की विविधता से सम्बद्ध हैं। साभिप्राय वाक्य में वचनों का निवेश मुद्रालंकार भी नवीन बना है।[३] उक्ति अलंकार[४] में विधिनिषेध से विशिष्टार्थ की कल्पना की जाती है। इस अलंकार का नाम 'निवेश' भोज ने सामाजिक आचार-विचार के प्रयोगों से किया है। एक उदाहरण विकल्पोक्ति का दर्शनीय है।

'एको नेता क्षत्रियो वा द्विजो वा—एका विद्याध्यात्मिकी वा त्रयीवा।
एका भार्य्या वंशजा वा प्रिया वा, एकं मित्रं भूपतिर्वा यतिर्वा'' ॥२-६५॥[५]

अर्थात् नेता एक क्षत्रिय या ब्राह्मण, विद्या एक आध्यात्मिकी या त्रयी, भार्या उच्च वंशजा या प्रिया, मित्र एक राजा या यति होना चाहिए।

युक्ति, भणिति, गुंफना, शय्या, पठिति, वाकोवाक्यम्, गूढ़, अध्येय, श्रव्य, प्रेक्ष्य और अभिनय जैसे अलंकारों के नामकरण नितान्त नवीन काव्यप्रयोगों के आधार पर किये गये हैं। यह भोज की इस प्रवृत्ति के कारण है कि शब्दालंकारों की संख्या २४ तक अवश्य पहुंचायी जाए। इसलिए अभिनय तक भी अलंकार बन गए। वाकोवाक्यालंकार का जन्म उक्ति-प्रत्युक्ति-पूर्ण वाक्य से हुआ है।[६]

---

१. या विकासेऽथ विक्षेपे संकोचे विस्तरे तथा।
चेतसो वर्त्तयित्रीस्यात् सा वृत्तिः सापि षड्विधा ॥२-६४॥
सरस्वतीकण्ठाभरणम्—भोज, पृष्ठ १६०

२. अन्योक्तीनामनुकृतिच्छाया सापीहषड्विधा।
लोकच्छेकार्भकोन्मत्त पोटामत्तोक्ति भेदतः ॥२-७५॥
सरस्वतीकण्ठाभरणम्—भोज, पृष्ठ १६४

३. साभिप्रायस्य वाक्ये यद्वचसोः विनिवेशनम्।
मुद्रां तां मुत्प्रदायित्वात् काव्यमुद्राविदो विदुः ॥२-८२॥
सरस्वतीकण्ठाभरणम्—भोज, पृष्ठ १६६

४. विधि द्वारेण वा यत्र निषेधेनाथ वा पुनः।
प्रतीयते विशिष्टोऽर्थः सोक्तिरत्राभिधीयते ॥२-९०॥
सरस्वतीकण्ठाभरणम्—भोज, पृष्ठ १७०

५. सरस्वतीकंठाभरणम्—भोज, पृष्ठ १७१

६. उक्ति प्रत्युक्तिमद् वाक्यं वाकोवाक्यं विदुर्बुधाः ॥२-४२७॥
सरस्वतीकण्ठाभरणम्—भोज, पृष्ठ ४२२

अर्थालंकारों में भोज द्वारा वर्णित जाति अलंकार स्वभावोक्ति ही है।[१] अहेतु तो हेतु के विरोध में ही जन्म प्राप्त कर गया। भेद नाम व्यतिरेक का ही है। वितर्क अलंकार का जन्म सन्देह से हुआ है। सन्देह नाना-कोटिगत है और तर्क-नियत-कोटिगत होता है। प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान आदि अलंकार तो शास्त्र-प्रमाण हैं। ये प्रमाण ही प्रमाणालंकार बन गये।

उभयालंकारों में उपमा, रूपक, साम्य आदि को रखने का साहस अकेले भोज ने ही किया है। 'इनमें समाधि का भोजकृत लक्षण नया ही है।[२] उक्ति से तात्पर्य यहाँ समासोक्ति अलंकार से है। परिष्कृति[३] परिष्कार का ही नाम है। भोज ने संकर की अपेक्षा संसृष्टि का वर्णन किया है।

भोज का 'सरस्वतीकण्ठाभरण' संग्रह-ग्रन्थ है। 'शृंगार-प्रकाश' में भी अलंकार सम्बन्धी कथन हैं, परन्तु उन कथनों में अलंकार को काव्य के सभी अंगों को स्वक्षेत्र के अन्तर्गत करने की व्यापकता प्राप्त है।

मम्मट : काव्य-प्रकाश : (११५० वि० सं०)

आचार्य मम्मट के 'काव्य-प्रकाश' ग्रंथ से अलंकार-साहित्य में नया युग आरम्भ होता है। युगारम्भ इस कारण कि मम्मट ने पूर्ववर्ती प्रायः सभी आचार्यों के मतमतान्तरों का मन्थन कर काव्य-सिद्धान्तों का प्रकाश किया। उन्होंने अलंकार के सम्बन्ध में ध्वनिमत को लेकर विशेष बोधगम्य क्षेत्र प्रस्तुत किया। अलंकारों और लक्षणा-सम्बन्धिनी वामन-कथित धारणा को नये रूप में वर्णित किया तथा वामनोक्त 'सादृश्यात् लक्षणा वक्रोक्तिः' में विद्यमान लक्षणा के क्षेत्र का विस्तृत विवेचन किया। शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि के दो भेदों में वस्तु और अलंकार-ध्वनि का मार्मिक विवेचन मम्मट ने ही किया है।[४] स्वतः सम्भवी वस्तु से अलंकार-व्यंग्य तथा स्वतः सम्भवी अलंकार से अलंकारव्यंग्य, कवि प्रौढोक्तिसिद्ध वस्तु से अलंकारव्यंग्य तथा कवि-प्रौढ़ोक्ति सिद्ध अलंकार से वस्तु तथा अलंकारव्यंग्य की चर्चा ध्वनिकार से अधिक विकसित स्थिति में आचार्य मम्मट ने ही की है।

मम्मट ने भावोदय, भाव-शान्ति आदि को रस प्रकरण में ही स्थान देकर पृथक् रूप से इनका अलंकारत्व स्वीकार नहीं किया। नवम और दशम उल्लास में

१. सरस्वतीकण्ठाभरणम्—भोज, पृष्ठ ४३६
२. सरस्वतीकण्ठाभरणम्—भोज, पृष्ठ ३८१
३. समाधिमन्यधर्माणामन्यत्रारोपणं विदुः।
निरुद्भेदोऽथ सोद्भेदः स द्विधा परिपठ्यते ॥४-१२६॥
सरस्वतीकण्ठाभरणम्—भोज, पृष्ठ ४४६
४. अलंकारोऽथ वस्त्वेव शब्दाद् यत्र विभासते ॥४-३२॥
प्रधानत्वेन स ज्ञेयः शब्दशक्त्युद्भवो द्विधा ॥
काव्यप्रकाशः—मम्मट, पृष्ठ १४७

छः शब्दालंकारों और ६१ अर्थालंकारों का विवेचन किया है। कुछ नये अलंकारों का आविर्भाव भी मम्मट ने किया है। ये अतद्गुण, विनोक्ति, सम और सामान्य हैं।

अतद्गुण अलंकार का जन्म रुद्रट-कृत तद्गुण के विरोधी अलंकार के रूप में हुआ। विनोक्ति अलंकार भी सहोक्ति का विपरीत है। विनोक्ति में बिना शब्द का प्रयोग व्याकरणप्रक्रिया का परिद्योतक है। सह और विना उपपद विभक्तियां तृतीया विभक्ति के अर्थ में प्रयुक्त होती हैं। इसलिए सहार्थ वाली सहोक्ति के साथ विनार्थ-सिद्धा विनोक्ति भी अलंकारपदवाची हो गयी है। सम अलंकार विषम का विरोधी है, परन्तु मम्मट ने इस अलंकार के लक्षण में योग्यतया योग की क्वचित् सम्भावना की है। उदाहरण सौन्दर्य सम्बन्धी है। इससे प्रतीत होती है कि समानता की भावना से उद्भूत यह अलंकार सामाजिक और शारीरिक योग्यता की समानता का प्रतीक उस काल में बना। सामान्यालंकार भी विशेषालंकार का विरोधी है। परन्तु इसमें भी गुणसाम्य की विवक्षा के साथ ही ऐकात्म्य स्थापना की चाह रहती है। विनोक्ति, रूपक, सम और सामान्य अलंकारों में गुणसाम्य की चर्चा है। इसलिए तीनों अलंकार सामाजिक तथा शारीरिक प्रतियोगिता की भित्ति पर आधृत हैं।

मम्मट ने अलंकारों की संख्या को सीमित कर दिया है। हेतु का निरसन करके काव्यलिंग को ही हेतु अलंकार माना है।[1] भामह-दण्डी की वक्रोक्ति और अतिशयोक्ति सम्बन्धिनी धारणा को मम्मट ने पुनः ऊपर उठाया और विशिष्ट रूप से स्थापित कर दिया।[2] यहाँ अतिशयोक्ति शब्द से मम्मट का तात्पर्य अतिशयोक्ति अलंकार से नहीं है, अपितु अतिशयोक्ति सामान्य से है। मम्मट द्वारा इस विशेषालंकार प्रसंग में प्रयुक्त अतिशयोक्ति शब्द यौगिक है। अपनी मान्यता के समर्थन में भामहाचार्य की "सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते" आदि उक्ति उद्धृत की है। भामह का भाव यह कि यह अतिशयोक्ति, जिसका दूसरा नाम वक्रोक्ति भी है, स्वयं अलंकार है तथा समस्त अलंकारों का बीज रूप है। अर्थात् यह सर्वत्र विद्यमान रहती है। इस प्रकार जहाँ अन्य वैचित्र्य होता है वहाँ 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' इस न्यायानुसार अन्य अलंकार कहा जाता है। यदि अन्य कोई वैचित्र्य नहीं होता तो अतिशयोक्ति कही जाती है। आचार्य मम्मट ने आंशिक रूप (सर्वालंकार)बीजत्व में ही इसे स्वीकार किया है।[3]

रुय्यक : अलंकार सर्वस्वम् (१२०० वि० सं०)

राजानक रुय्यक केवल अलंकार-सम्बन्धी ग्रन्थ लिखने वाले दूसरे आचार्य हैं। आचार्य मम्मट की विवेचनापद्धति इन्होंने भी अपनायी।

१. हेतुमता सह हेतोरभिधानमभेदतो हेतुः इति हेत्वलंकारो न लक्षितः। आयुर्घृतमित्यादिरूपो ह्येष न भूषणतां कदाचिदर्हति वैचित्र्याभावात्। पूर्वोक्तकाव्यलिंगमेव हेतुः। काव्यप्रकाशः—मम्मट, पृष्ठ ५२६

२. सर्वत्र एवंविधविषये अतिशयोक्तिरेव प्राणत्वेनावतिष्ठते तां विना प्रायेण अलंकारत्वायोगात्। काव्यप्रकाशः—मम्मट, विशेषालंकार की वृत्ति, पृष्ठ ५४६

३. काव्यप्रकाशः—मम्मट, पृष्ठ—५४६-५५०.

इनके द्वारा विवेचित अलंकारों में परिणाम, विकल्प और विचित्र नवीन हैं। इन तीनों अलंकारों का विवेचन पूर्ववर्ती आचार्यों ने नहीं किया।

परिणाम अलंकार का विकास रूपक अलंकार से हुआ है, ऐसा रुय्यक के विवेचन से स्पष्ट है। रूपक अलंकार में उपमान स्वयं किसी कार्य को करने में समर्थ होता है और जब उपमान किसा कार्य को करने में असमर्थ हो और उपमेय से एकरूप होकर उस कार्य को (अर्थात् उपमेय द्वारा होने योग्य कार्य को) कर दे, तब परिणाम अलंकार होता है। परिणाम में उपमेय का अभेद उपमान में अपेक्षित होता है और रूपक में उपमान का अभेद उपमेय में। आरोप्यमाण का प्रकृत के लिए उपयोग ही परिणामालंकार है। रुय्यक ने सांख्यशास्त्रोक्त परिणाम से इसे भिन्न माना है।[1] इस अलंकार का उदाहरण राम के चित्रकूट की ओर चलने की घटना से सम्बद्ध है। दूसरा उदाहरण राज-जीवन से सम्बन्धित है अलंकार के उदाहरणों की अपेक्षा रूपक से परिणाम अलंकार की सूक्ष्मता उसकी जन्म-कथा को अधिक स्पष्ट इस लिए करती है कि जैसे उत्प्रेक्षालंकार के लिए जनु, मनु, शब्द प्रयुक्त होते हैं, तथा उपमा में इव, सम आदि शब्द वाचक होते हैं, इसी प्रकार परिणाम अलंकार में 'होना', 'करना' अर्थ का बोध कराने वाली क्रियाओं का प्रयोग होता है। इस लिए यह अलंकार रूपक की सूक्ष्मता से निःसृत है।

तुल्य बल वाले दो विरोधी व्यापारों का एक ही काल में एक स्थिति में जहां विरोध होता है, वहां विकल्पालंकार होता है। विकल्प शब्द का अर्थ भी यह है 'विरुद्ध-कल्पः विकल्पः' उपमालंकार का विरोधी जैसे व्यतिरेकालंकार है। उसी तरह समुच्चय का विरोधी विकल्प है।[2] विकल्प का चारुत्व भी औपम्यगर्भ होने के कारण है।[3] यदि औपम्य का बोध न हो तो अलंकार न होकर विकल्प मात्र रह जाय। इस अलंकार के लक्षण में प्रयुक्त 'तुल्य-बल विरोधी' शब्द और उदाहरण में 'नमन्तु शिरांसि धनूंषि वा'—यह उक्ति, इस का सम्बन्ध राजशक्ति से सिद्ध करती है। भक्तिभावना से सम्बद्ध दूसरा उदाहरण है, जो कि शंकर की कृपा के वर्णन से पूर्ण है, शंकर का ही परिचायक है।

'नमन्तु शिरांसि धनूंषि वा, कर्णपूरी क्रियन्तामाज्ञा मौर्व्यो वा'—(धनुष झुकें या सिर, आज्ञा को कानों में भरा जाए या धनुष-मौर्व्यों को कानों तक ले जाया जाए।) यह उदाहरणपंक्ति बाणकृत 'हर्षचरित' से ली गई है। इस से यह तथ्य सामने आ जाता है कि इस अलंकार का प्रयोग तो पहले ही हो चुका है परन्तु इस

१. आगमानुगमविगमस्थात्यभावात्सांख्यीय-परिणामवैलक्षण्यम्।

अलंकारसर्वस्वम्—रुय्यक, पृष्ठ ५१

२. विकल्प-प्रतिपक्षेणास्य (समुच्चयस्य) स्थितिः।

अलंकारसर्वस्वम्—रुय्यक, पृष्ठ २००

३. औपम्य-गर्भत्वाच्चात्र चारुत्वम्।

अलंकारसर्वस्वम्—रुय्यक—पृष्ठ-१९८-१९९

अभिव्यक्ति के लिये इस प्रकार का नामकरण परवर्तीकाल में रुय्यक द्वारा हुआ है। रुय्यक का इस प्रयोग के लिए 'विकल्प' नाम देना उन की अपनी सूझ है और विकल्पालंकार का सम्बंध शक्ति से ही उस काल में भी स्पष्टतः प्रतीत होता है।

विचित्र अलंकार के सम्बन्ध में तो जयरथ ने अपनी टीका में लिखा है कि ग्रन्थकर्त्ता राजानक रुय्यक ने ही नया अलंकार प्रस्तुत किया है।[1] रुय्यक द्वारा विचित्रालंकार की विवेचना में कहा गया है कि यह विरोधमूलक अलंकार होते हुए भी विषम से भिन्न है। इस इंगित से यह मानना सहज है कि विचित्र अलंकार के जन्म में विषम का आधार अवश्य है। दोनों को स्पष्ट करते हुए रुय्यक ने कहा है कि यह विचित्र विषम का प्रथम भेद नहीं है। क्योंकि इस का (विचित्र का) विषय तो स्वनिषेध से विपरीत प्रतीति है और विपरीत प्रतीति से स्वनिषेध उस का (विषम का) विषय होता है। इस अलंकार के उदाहरण में तृष्णान्धकदृक् सेवक[2] की चेष्टाओं का सूक्ष्म निरूपण विचित्र प्रकार से है।

राजदरबारी या धनी जनों के सेवक अपनी तृष्णा-पूर्ति के लिए कैसी-कैसी चेष्टाएं करते थे तथा उस काल में भी धन जीवन में कितना महत्व प्राप्त कर गया था, यह विचित्रालंकार के उदाहरण में व्यक्त है। लगता है कि चाटुकारिता की एक विशिष्ट विधि का नाम ही विचित्र अलंकार रख दिया गया है। बाद में इस अलंकार के उदाहरण अन्य विषयों के भी मिलने लगे, उसे तो क्षेत्र-विस्तार ही मानना उपयुक्त है। जयरथ ने अपनी टीका में स्पष्ट किया है कि यद्यपि विषम में विरूप कार्य की स्वयमेव उत्पत्ति होती है और विचित्रालंकार में उस विपरीत उत्पत्ति के लिए प्रयत्न होता है इस लिए दोनों में भेद अत्यन्त स्पष्ट है, तथापि ग्रन्थकर्त्ता (रुय्यक) ने विशेष परिपोषण के लिए सूक्ष्मेक्षिकागम्य भेद प्रतिपादन किया है। उस ने विचित्र को आश्चर्य-प्रतीति मूलक अलंकार कहा है।[3]

आचार्य रुय्यक ने अलंकार के विकास-क्रम में विवेचना सम्बन्धी नई बातें भी कही हैं। पौनरुक्त्य के तीन प्रकार रुय्यक ने स्थापित किये। शब्द-पौनरुक्त्य, अर्थ-पौनरुक्त्य और शब्दार्थ पौनरुक्त्य। पुनरुक्तवदाभास अर्थ-पौनरुक्त्याश्रित है। छेक,

---

१. एतद्धि ग्रन्थकृतैवाभिनवत्वेनोक्तम्। अलंकारसर्वस्वम्—रुय्यक, पृष्ठ १६९

२. उन्नत्यै नमति प्रभुं प्रभुगृहान्द्रष्टुं बहिस्तिष्ठति···इत्यादि।
अलंकार सर्वस्वम्—रुय्यक, पृष्ठ १६९.

३. (क) यद्यपि विषमे विरूपस्य कार्यस्य स्वयमेवोत्पत्तिरिह च,
तन्निष्पत्तये प्रयत्न इति स्थितोऽप्यनयो : स्फुटो
भेदस्तथापि ग्रन्थकृता विशेष-परिपोषायैव सूक्ष्मेक्षिका-
गम्यो भेदोऽयं उक्तः।

(ख) आश्चर्यप्रतीतिहेतुत्वात्।
अलंकारसर्वस्वम्—रुय्यक, (टीका भाग) पृष्ठ १६७. १६८.

वृत्यनुप्रास और यमक शब्द-पौनरुक्त्याश्रित हैं। शब्दार्थ-पौनरुक्त्याश्रित अलंकार लाटानुप्रास है। इस प्रकार आचार्य रुय्यक ने अलंकार-विकास के क्षेत्र में अपनी विवेचना-शक्ति का परिचय दिया है।

शोभाकरमित्र : अलंकाररत्नाकरः (१२५०-१३५० वि०सं०)

आचार्य शोभाकर ने "अलंकाररत्नाकर" नामक ग्रंथ में १. असम, २. उदाहरण, ३. प्रतिमा, ४. विनोद : ५. व्यासंग, ६. वैधर्म्य, ७. अभेद, ८. वितर्क, ९. प्रतिमा, १० क्रियातिपत्ति, ११. निश्चय, १२. विद्याभास, १३. सन्देहाभास, १४. विकल्पाभास, १५. विपर्यय, १६. अचिन्त्य, १७. अशक्य, १८. व्यत्यास, १९. समता, २०. उद्रेक, २१. तुल्य, २२. अनादर, २३. आदर, २४. अनुकृति, २५. प्रत्यूह, २६. प्रत्यादेश, २७. व्याप्ति, २८. आपत्ति, २९. विधि, ३०. नियम, ३१. प्रतिप्रसव, ३२. तंत्र, ३३. प्रसंग, ३४. वर्धमानक, ३५. अवरोह, ३६. अतिशय, ३७. शृंखला, ३८. विवेक, ३९, परभाग, ४० उद्भेद, और ४१. गूढ़ नामक नये अलंकार प्रदान किये। इससे सिद्ध है कि उस समय अभिव्यक्ति के प्रकारों की सूक्ष्मता बढ़ चली थी और नवीन अलंकारों का जन्म इसलिए भी हुआ कि काव्य में उनके उदाहरणों की उपलब्धि थी। मानसिक भावों की विकासशील प्रवृत्ति का परिद्योतन काव्य में होने लगा था। उपर्युक्त अलंकारों के लक्षण और उदाहरणों का परीक्षण ही उनके जन्म की कथा कहेगा।

असम अलंकार का जन्म अनन्वय से हुआ है। शोभाकरमित्र ने अनन्वय के अनन्तर असम को कहा है। इन दोनों का सूत्र सम्बन्ध ही इस विकास को व्यक्त करता है। अनन्वय में उपमेय, उपमान, एक रहता है परन्तु असम में उपमान की प्राप्ति ही नहीं होती, उसका स्पष्ट अभाव कहा जाता है। शोभाकारमित्र ने अनन्वय के तीन भेद किये हैं। असम अलंकार में अनन्वय अलंकार वाच्य रहता है।[1] उदाहरण अलंकार भी उपमा क्षेत्र का है। इसी प्रसंग में शोभाकर ने इनका लक्षण दिया है। अलंकार रूप में नहीं अपितु ३६ भूषणों में से एक मान कर भरत ने सर्वप्रथम उदाहरण का लक्षण-निरूपण किया था शोभाकर मित्र ने उसे ही अलंकार मान लिया है। भरत तथा शोभाकर के उदाहरण नामक अलंकारसम्बन्धी लक्षण दर्शनीय हैं:—

भरत : यत्र त्वल्पार्थ-युक्तेन वाक्येनाभिप्रदर्शनात्।
साध्यन्ते निपुणैरर्थास्तदुदाहरणं स्मृतम् ॥१६-६॥

शोभाकर मित्र : सामान्योद्दिष्टानामेकस्य निदर्शनम् उदाहरणम् ॥१२॥

इन दोनों लक्षणों में अर्थ-साधन की प्रधानता है। 'इव' शब्द का प्रयोग उदाहरण में रहता है। इसलिए शोभाकर मित्र ने उदाहरण नामक भरत-कथित

---

१. तेनैव (कल्पितेन उपमानेन) तदेकदेशेनावसितभेदेन वाऽनन्वयः ॥९॥
तद्विरहोऽसमः ॥१०॥
उपमानान्तर-विरहस्त्रिष्वपि भेदेषु गम्यते येन।
तदनन्वयस्त्रिधासावसमे स तु मुख्यतो वाच्यः ॥९॥
अलंकाररत्नाकर :—शोभाकरमित्र, पृष्ठ १०-११

भूषण को अलंकार में परिगणित कर दिया।[1] प्रतिमालंकार भी अन्य धर्मयोग से अर्थौपम्य लेकर बना है। इसमें इव का प्रयोग नहीं होता। अपितु दो वस्तुओं के गुणों की समानता दर्शाकर उनके द्वारा किए जाने वाले कार्य की बोध्यता रहती है। यह अलंकार उपमा का ही सूक्ष्म विकास है। विनोद अलंकार भाव का रूप है। अन्य आसंग से उद्भूत कौतुक ही विनोद अलंकार है। व्यासंग में अनुभव स्मृत्यादि का प्रत्यूह सिद्ध करता है कि विनोद का विरोधी व्यासंग अलंकार है। वैधर्म्य अलंकार विद्रोही भावना से जन्मा है। मानसिक तिरस्कारात्मक प्रतिक्रिया इसका आधार रही है। उद्दिष्ट का प्रतिपक्षता के द्वारा अनुनिर्देश वैधर्म्य अलंकार का लक्षण है। इसका उदाहरण मानसिक विद्रोही प्रतिक्रिया का पूरा चित्र है। उदाहरण में 'भगवान के होते हुए भी हम मूर्ख कुछ ग्रामों के दाता मनुष्य की सेवा की खोज में भटक रहे हैं', ऐसी भावना व्यक्त की गई है।[2] अभेदालंकार रूपक से विकसित है। प्रतिभा अलंकार सम्भाव्यमान विषय से सम्बद्ध कल्पना पर आश्रित है और क्रियातिपत्ति प्रतिभा के विपरीत असम्भाव्यमान अर्थ-सम्बन्धिनी कल्पना से प्रसूत है। निश्चयालंकार भ्रान्तिमान् के विरोध में प्रस्तुत किया गया है। शोभाकर ने भ्रमवशात् गृहीत अर्थ के पश्चात् तात्त्विक निश्चय के लिए ही अलंकार को माना है। विध्याभास अलंकार के लक्षण को देखने से लगता है कि यह अलंकार खलजनों के जीवन से सम्बद्ध है। इसकी उत्पत्ति दुष्टों के स्वभाव-वर्णन के ही लिए हुई है। इसमें अनिष्ट-विधान अनिवार्य माना गया है। जोकि विशिष्ट अर्थ की प्रतीति के लिये होता है। उदाहरण में प्रिया द्वारा प्रिय को विदेशगमन से रोकना दर्शाया गया है।[3] सन्देहाभास अलंकार सन्देह से विकसित होते हुए भी विशिष्ट और आवश्यक तत्त्व की स्वीकृति के सम्बन्ध में कथन द्वारा आभास देने से सम्बद्ध है। सन्देह होते हुए भी अपनी उक्ति द्वारा एक ओर अपना मत प्रकट कर देना ही इसका चमत्कार है। उदाहरण वैराग्य और कामुकता के प्रसंगों से सम्बद्ध हैं। इसलिये यही मानना पड़ता है कि शोभाकरमित्र की दृष्टि में जीवन के ये दो प्रसंग अधिक उभरे हुए थे।

---

१. (क) नाट्यशास्त्रम्—भरत, पृष्ठ २५६
   (ख) अलंकाररत्नाकरः—शोभाकरमित्र, पृष्ठ १२

२. नाथे श्रीपुरुषोत्तमे त्रिजगतामेकाधिपे चेतसा।
   सेव्ये स्वस्य पदस्य दातरि परे नारायणे तिष्ठति।
   यं कंचित्पुरुषाधमं कतिपयग्रामेशमल्पार्थदं।
   सेवायै मृगयामहे नरमहो मूढ़ा वराका वयम् ॥१०४॥
   अलंकाररत्नाकरः—शोभाकरमित्र, पृष्ठ ३१

३. (क) अनिष्ट विधानं विध्याभासः ॥४६॥
   अलंकार रत्नाकरः—शोभाकरमित्र, पृष्ठ ८६
   (ख) यदि व्रजसि व्रज त्वं को वा वारयति तव गमनस्य।
   तव गमनं मम मरणं लिखितप्रसक्तं कृतान्तेन ॥२६०॥
   अलंकार रत्नाकरः—शोभाकरमित्र, पृष्ठ ८७

बहुधा अन्य अलंकारों के लिए भी ऐसे ही प्रसंग शोभाकरमित्र ने उदाहरण रूप में प्रस्तुत किये हैं ।[1] विकल्पाभास अलंकार भी इसी तात्पर्य में निहित इच्छा से सम्बद्ध है । यह अलंकार विकल्प का विरोधी है । विकल्प में तो तुल्यबल वाले व्यापारों का विरोध होता है । इसमें विकल्पवद् आभास होता है । विपर्यय अलंकार के मूल में विनिमय की भावना निहित रहती है ।

धर्मी अथवा उसके धर्म का विनिमय ही इसका लक्षण है । उदाहरण से यह प्रकट है कि प्रस्तुत अलंकार मानवों के स्वभाव-परिवर्तन की दशा की अभिव्यक्ति के लिए जन्मा है ।[2] अचिन्त्यालंकार द्विविधामयी मानसिक संघर्ष-स्थिति से उद्भूत है । अविलक्षण से विलक्षण कार्य की उत्पत्ति ही अचिन्त्यालंकार है । विरोध अथवा विषमालंकार से इसका कोई सम्बन्ध नहीं । सर्वथा अविचार्य स्थिति की अभिव्यक्ति के लिए यह अलंकार जन्मा है । अशक्यालंकार भी प्रतिबन्ध या विधान में असमर्थता की स्थिति का द्योतन करने के लिए आविर्भूत हुआ । अचिन्त्य और अशक्य में अन्तर यह हुआ कि अचिन्त्य में विचार की स्थिति नहीं, परन्तु अशक्य में क्रिया-सम्पादन की असमर्थता रहती है । व्यत्यास अलंकार में देशकाल के भेद से दोष को गुण और गुण को दोष बना देने की बात रहती है । उदाहरण नारी और राज जीवन से सम्बद्ध है । इसलिये लगता है कि इसका उत्पत्ति-मूल नारियों की मानसिक स्थिति और राजाओं का लोकव्यवहार रहा है ।[3] समतालंकार व्यत्यास का विरोधी है । जहां दोष का उसी के गुण से या गुण का दोष से समाधान हो, वहाँ यह अलंकार होता है । इसका उदाहरण भी राजप्रासादीय जीवन से ही सम्बद्ध है । इसलिए इसका जन्म-स्थान भी राजनीति की भावभूमि है । उद्रेक अलंकार भावात्मक स्थिति के काल में उद्भूत हुआ । इस अलंकार के लक्षण में सजातीय और विजातीय दोष या गुण से तुच्छता व्यक्त की जाती है । तुच्छता सम्पादन की स्थिति इस बात की ओर संकेत करती है कि यह अलंकार उस काल के समाज में प्रसृत सामाजिक-राजनीतिक विकृतियों और मानसिक अस्वस्थ वातावरण से ही आविर्भूत हुआ ।

---

१. मात्सर्यमुत्सार्य विचार्य कार्यमार्याः समर्यादिमुदाहरन्तु ।
सेव्या नितम्बाः किमु भूधराणामुत स्मरस्मेरविलोकिनीनाम् ॥२६६॥
अलंकाररत्नाकरः—शोभाकरमित्र, पृष्ठ ८८

२. काचो मणिः मणिः काचो येषां तेऽन्ये हि देहिनः ।
सन्ति ते सुधियो येषां काचः काचो मणिः मणिः ॥३०६॥
अलंकाररत्नाकर :—शोभाकरमित्र, पृष्ठ १०१

३. (क) सैव जानाति द्रष्टुं सदृशे जने युज्यते रागः ।
म्रियतां न त्वां भणिष्यामि मरणमपि श्लाघनीयं तस्याः ॥३५८॥
अलंकाररत्नाकर :—शोभाकर मित्र, पृष्ठ ११६

(ख) सर्वत्र समदृष्टित्वं गुणो यः खलु योगिनाम् ।
अकीर्तिहेतुस्स महान्दोषस्तु पृथिवीपतेः ॥३५९॥
अलंकाररत्नाकर :—शोभाकरमित्र, पृष्ठ ११६

एक दोष की निवृत्ति दूसरे दोष को जन्म दे, तब तुल्यालंकार होता है। इसी भाँति अनादर और आदर अलंकार भी सामाजिक विषमता की ओर संकेत करते हैं। आदर और अनादर अलंकार में वस्तुगत स्वीकृति और अस्वीकृति का प्रश्न भी जड़ पकड़े हुए है। अनुकृति और प्रत्यूह केवल वस्तुगत हैं। दोनों परस्पर विरोधी हैं। प्रत्यादेश अलंकार कारण-विशेष से स्थित पदार्थ की अन्य कारण से निवृत्ति या प्रवृत्ति का परिचायक होने से भाव-मात्र था। उदाहरण मानव-मन की कलुष तथा निर्मल स्थिति से जुड़ा हुआ है।[1] व्याप्ति अलंकार पर न्यायदर्शन का प्रभाव है। आपत्ति के सम्बन्ध में क्या कहा जाये? कार्य करते-करते जो कष्ट आ जाय, वही आपत्ति अलंकार है। यह प्रसंग का विरोधी अलंकार है, क्योंकि प्रसंग में दूसरे द्वारा अनिष्ट का आयास होता है। इसमें वह कार्य-कर्त्ता पर स्वयं ही आ जाता है। विधि विध्याभास का विरोधी अलंकार है। असम्भाव्य हेतु से फल-प्रेषण ही विधि अलंकार है।

विषमालंकार भी अन्य निषेध से कृत्य की विधि का द्योतक है। प्रतिप्रसव में निवृत्त हुए अर्थ की पुनः प्राप्ति रहती है। नाना फलों के लिए प्रयुक्त प्रयत्न ही तन्त्रालंकार है। वर्धमानक अलंकार में उपचय की भावना रूप या धर्म से अधिकता को प्राप्त होती है। अवरोह अपचय का द्योतक है। वामन ने 'समाधि' गुण के लक्षण में आरोह और अवरोह के क्रम की चर्चा की है।[2] अवरोह का बीज यहाँ से ही गृहीत है। अतिशय में सम्भव या असम्भव से उत्तरोत्तर अतिशयता स्थापित होती है। शृङ्खला भी उत्तरोत्तर की पूर्व पूर्व से अनुबन्धना या विपर्यय का नाम है। विवेक मनोवैज्ञानिक स्थिति का ही अलंकार है। परभाग विवेक का विपरीत ही है। विवेक में निमित्त से, विलक्षणता और वस्तुस्थिति का ज्ञान और परभाग में अभेदप्रतीति रहती है। उद्भेद अलंकार निगूढ़ विषय की किसी कारण से प्रतीति से संबद्ध है।

इन अलंकारों की काव्यशास्त्रीय क्षेत्र में स्थिति बनाने का श्रेय शोभाकरमित्र को प्राप्त है। यद्यपि चमत्कार से परिपूर्ण होने का श्रेय उदाहरण, अचिन्त्य, उद्रेक, वर्धमानक और शृङ्खला को ही है, शेष तो भाव मात्र ही हैं, परन्तु द्रष्टव्य यह है कि इतने नये नाम अलंकारक्षेत्र में जो आए, उनके पीछे परिस्थिति कैसी रही होगी। अलंकारों की पृष्ठभूमि बताती है कि ११२६-११५० ई० पश्चात् का काल भारत में सांस्कृतिक और राजनीतिक संघर्ष का था। सामाजिक जीवन में भी रुद्रट के काल की भांति नई क्रान्ति आ रही थी, विदेशी आक्रमणों से जन-जीवन आक्रान्त था। राजद्वारों में जीवन उच्छृंखल भी था और युद्ध-भावना से सतर्क भी। इसलिए साहित्य का क्षेत्र विस्तृत हो चला। शोभाकरमित्र ने अपने काल की स्थिति के अनुरूप कहीं

१. एके कुर्वन्तिच्छिद्रं प्रकृतिविशुद्धेऽपि निर्मले रत्ने।
अन्ये महानुभावा गुणैस्तदेव पूरयन्ति।
अलंकाररत्नाकरः—शोभाकरमित्र, पृष्ठ १२७

२. आरोहावरोहक्रमः समाधिः।
काव्यालंकारसूत्राणि—वामन, पृष्ठ ३२

कहीं उदाहरण प्राचीन ग्रन्थों से भी दिए और उनमें नव-नामा अलंकारों को व्यवस्थित एवं विमंडित किया। अलंकारों में अनेक नाम विरोधी भावों की अभिव्यक्ति के लिए रखे गये हैं। शोभाकर ने अलंकारलक्षणों को अत्यन्त संक्षिप्त कर दिया। रुय्यक से प्रभावित होने के कारण अलंकारसंख्या बढ़ी ही। रुय्यक के विचारों का खंडन करने के कारण भी अनेक अलंकार विकसित हुए और भावी आलंकारिकों के लिए संख्या-वृद्धि का क्षेत्र खुला रहा।

हेमचन्द्र : काव्यानुशासनम् (११४५-१२२९ वि० सं०)

हेमचन्द्र का 'काव्यानुशासन' संग्रह-ग्रन्थ है। इतने पर भी हेमचन्द्र ने संकर में संसृष्टि, दीपक में तुल्ययोगिता, परिवृत्ति में मम्मटनिरूपित पर्याय और परिवृत्ति का अन्तर्भाव किया। उन्होंने रस-भाव-सम्बन्धी किसी अलंकार का नाम-निर्देश नहीं किया। दण्डी की भाँति उन्होंने अनन्वय और उपमेयोपमा को उपमा का ही रूप माना और निदर्शन अलंकार में प्रतिवस्तूपमा और दृष्टांत को अन्तर्भूत कर किया। अप्रस्तुत-प्रशंसा के लिये अन्योक्ति और स्वभावोक्ति के लिये जाति शब्द प्रयुक्त किये हैं।

काव्यानुशासनकार ने यथासंख्य को भग्नप्रक्रमता दोष का अभाव मात्र मानने से, विनोक्ति को हृद्यत्वविरहिता से, भाविक को भूत-भावी के प्रत्यक्षीकरण को साक्षात्कृत अभिनयप्रबन्ध के लिए उपयोगी होने से तथा मुक्तकों में भी दृश्य होने से, उदात्त के ऋद्धिमद्वस्तुवर्णनरूप लक्षण के कारण अतिशयोक्ति और जाति से भिन्न न होने से और रसपरकता से महापुरुषवर्णन के ध्वनि या गुणीभूतव्यंग्य के अन्तर्गत आने के कारण, रसवत्, प्रेयस्, ऊर्जस्वित्, भाव और समाहित के गुणीभूत-व्यंग्य के प्रकार होने से, आशीः के प्रियोक्ति मात्र होने से अथवा भावज्ञापन के कारण गुणीभूतव्यंग्य का विषय होने से, और प्रत्यनीक को उत्प्रेक्षा का प्रकारविशेष होने के कारण अलंकार नहीं माना है।[1]

वाग्भट : वाग्भटालंकारः (१२५० वि० सं०)

आचार्य वाग्भट (प्रथम) ने 'वाग्भटालंकार' नामक ग्रन्थ की रचना की है। इस ग्रन्थ के चतुर्थ परिच्छेद में शब्दालंकारों तथा अर्थालंकारों का विवेचन किया गया है। यह संग्रहग्रंथ है। इसमें परम्परा का निर्वाह मात्र है। किसी नये अलंकार की उद्भावना नहीं की गयी है।

नरेन्द्रप्रभसूरि : अलंकारमहोदधिः (१२८० वि० सं०)

हेमचन्द्र के अनन्तर एक दूसरे जैन विद्वान् नरेन्द्रप्रभसूरि ने 'अलंकार-महोदधि' ग्रंथ लिखा। नरेन्द्रप्रभसूरि ने शब्द और अर्थ के ७९ अलंकारों का निरूपण किया है। नवीन अलंकार तो कोई उद्भावित नहीं किया, परन्तु विवेचन अत्यन्त पुष्ट रूप से किया है।

भावदेवसूरि : काव्यालंकारसारः (१२८० वि० सं० के लगभग)

जैन विद्वान् भावदेवसूरिकृत 'काव्यालंकारसार' नामक ग्रन्थ भी प्राप्त हुआ है। इसके पांचवें अध्याय में शब्दालंकार तथा छठे अध्याय में ५० अर्थालंकारों का

१. काव्यानुशासनम्—हेमचन्द्र, पृष्ठ ४०३-४०५

उल्लेख है। भावदेवसूरि ने 'दैवक' नया अलंकार स्वीकृत किया है। अनौचित्य तथा आवश्यक भावी के वर्णन को दैवक अलंकार का विषय माना है। उदाहरण भी वैसा ही दिया है।[1]

इस आचार्य ने दण्डी और भामह के समान अर्थालंकार की बहुलता का कारण स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति को ही माना है।[2]

जयदेव : चन्द्रालोकः (१३५० वि० सं०)

जयदेव का 'चन्द्रालोक' अलंकारसम्प्रदाय का महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। तत्कालीन काव्य में प्रयुक्त अलंकारों से भिन्न नवीन अलंकार भी जयदेव ने अपने ग्रन्थ में दिये हैं। नये अलंकारों में पुनरुक्तप्रतीकाश, उन्मीलित, प्रौढ़ोक्ति, प्रहर्ष, विषाद, खण्ड-श्लेष, असम्भव, उदार, उल्लास, विकस्वर, पूर्वरूप, प्राक्सिद्धिः, अवज्ञा और भाविकच्छवि हैं।

पुनरुक्तप्रतीकाश अलंकार पुनरुक्तवदाभास का नया नाम है। उन्मीलित अलंकार मीलित की सूक्ष्म विकासशील अवस्था का द्योतक है। असमर्थ का समर्थता-पूर्ण वर्णन प्रौढ़ोक्ति है। यह कवि-कल्पना-शक्ति-प्रसूत अलंकार है, जो उक्ति अलंकार से ही विकसित हुआ। प्रहर्ष अलंकार वांछितार्थ से अधिक प्राप्ति तथा 'विषाद' कल्याण के लिए प्रयास करने पर विरुद्धार्थ प्राप्ति के कारण प्रहर्ष का विरोधी है। हर्ष और विषाद दो भाव हैं, जो इस काल में अलंकार बन गये। शोभाकरमित्र का विपत्ति यहां विषाद बन गया है। खण्ड-श्लेष, श्लेष का ही एक भेद है। इसके लक्षण में वैशिष्ट्य यह है कि वाक्य के हर पद का अर्थ दोहरा हो सकता है। वस्तुतः यह अभङ्गश्लेष से पृथक् नहीं है। अन्य आचार्यों ने इसी नाम से इसका निरूपण किया है।[3] असम्भव में अर्थ-निष्पत्ति होते हुए उसकी असम्भवता कही जाती है। इस अलंकार का जन्म सम्भव अलंकार से विरोधी भावाभिव्यक्ति के लिए ही हुआ। उदारसार में उत्तरोत्तर गुण के भिन्न होते हुए भी अभिन्नतावाची

---

१. विषयो दैवकं यस्मिन् अनौचित्यं वर्ण्यते।
क्व तपः कर्कशं क्वेदं सुकुमारं वपुस्तव।६-२५।
दवभीत्या वनं हित्वा लीलासरसि पद्मिनी।
तत्र दग्धा हिमेनासौ सावश्यं भाविदैवकम्।६-२६।
अलंकारमहोदधिः—नरेन्द्रप्रभसूरि, (परिशिष्ट, काव्यालंकारसार : षष्ठोऽध्यायः) पृष्ठ ३५३

२. बह्वोऽर्थालंकाराः स्वभाववक्रोक्तिभेदाभ्याम्।६-३।
अलंकारमहोदधिः—नरेन्द्र प्रभसूरि, (परिशिष्ट-काव्यालंकारसारः) पृष्ठ ३५०

३. खण्डश्लेषः पदानांचेदेकैकं पृथगर्थता।
उच्छलद्-भूरि-कीलालः शुशुभे वाहिनी-पतिः॥६३॥
चन्द्रालोकः—जयदेव, पृष्ठ ८१

शब्दों से गुण-कथन होता है। उल्लास अलंकार का जन्म विशुद्ध रूप से मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि से तो हुआ, परन्तु पीड़ित के प्रति मानवीय दया से उत्पन्न विद्रोह भी इसका कारण रहा। इसमें किसी की महिमा से दूसरे के दोष का ख्यापन भी होता है। विकस्वर अलंकार वहां होता है, जहां विशेषतया किसी बात को प्रस्तुत कर, उसके समर्थन के लिए सामान्यतया कुछ कह कर, पुनः उपमान विशेष से समर्थन किया जाए। यह अलंकार अर्थान्तरन्यास से विकसित हुआ है। अर्थान्तरन्यास में सामान्य से विशेष का या विशेष से सामान्य का समर्थन होता है, परन्तु विकस्वर में विशेष उपमान रखा जाता है।[1]

पूर्वरूप एक प्रकार की भावस्थिति है। किसी वस्तु की अपनी पूर्ववत् स्थिति की प्राप्ति से इसका लक्षण सम्बद्ध है। अलंकार के दोनों उदाहरण राजनीतिक जीवन की ओर संकेत करते हैं। इसलिए इसका जन्म राजनीतिक क्षेत्र की भूमि से हुआ है। इसके अनन्तर तो इस अलंकार के उदाहरण जीवन के अनेक क्षेत्रों के मिलने लगे।[2] पर-समीपता से 'स्वगुणोत्कर्ष-वर्णन से प्राक्सिद्धि अलंकार उद्भूत हुआ है। गुणदोषों की परस्पर अक्षमता वाला अवज्ञा अलंकार इसी काल में काव्य में प्रयुक्त हुआ। प्राक्सिद्धि और अवज्ञा का सम्बन्ध गुण-दोष की भूमिका से है। भाविकच्छवि अलंकार भाविक से विकसित सूक्ष्माभिव्यक्ति मात्र है।

जयदेव के काल में अलंकारों की संख्या बढ़ रही थी। भावाभिव्यक्ति के इन द्वारों में सूक्ष्म भेदों के प्रति केशकर्षण की सी प्रवृत्ति के प्रति कवियों की भावना प्रबल हो रही थी। इसलिए सूक्ष्मता का ही परिचय जयदेव ने दिया। लक्षणोदाहरण एक ही पद्य में देकर अलंकारग्रन्थों में विवेचन सूक्ष्मता भी ला दी।

विद्याधर : एकावली तथा विद्यानाथ : प्रतापरुद्रीययशोभूषणम् (१३५७—१४५७ वि. सं.)

विद्याधर की 'एकावली' तथा विद्यानाथ के 'प्रतापरुद्रीययशोभूषण' ग्रन्थ में किसी नये अलंकार का विवेचन नहीं है। विद्याधर ने अलंकारों के सभी उदाहरण अपने आश्रयदाता के विषय में लिखे। प्रायः यही परम्परा रीतिकाल के कवियों ने उदाहरणों के सम्बन्ध में अपनायी। एकावली का विवेचन 'काव्यप्रकाश' और 'अलंकारसर्वस्व' पर आश्रित है। इनके अलंकारों पर विशेषतः रुय्यक का प्रभाव परिलक्षित होता है। तत्कर नामक नया अलंकार-नाम इन्होंने दिया है, जो कि समुच्चय का ही भेद है, परन्तु उसका मूल स्पर्धा में है।[3]

१. यस्मिन् विशेष-सामान्य-विशेषाः स विकस्वरः।
स न जिग्ये महान्तो हि दुर्धर्षाः क्ष्माधरा इव ॥६६॥
चन्द्रालोकः—जयदेव, पृष्ठ ८६

२. हरकंठांशुलिप्तोऽपि शेषस्त्वद्यशसा सितः ॥१०३॥
चन्द्रालोकः—जयदेव, पृष्ठ १०४

३. एकेन क्रियमाणं यत्रान्यःस्पर्धयैवतत्कुरुते।
सोऽपि समुच्चयभेदः कथितोऽन्यस्तत्करो द्वैधम् ॥
एकावली—विद्याधर, पृष्ठ १५०

विश्वनाथ : साहित्यदर्पणः (१३५७—१४०० वि० सं०)

आचार्य विश्वनाथ का 'साहित्यदर्पण' भी अलंकार-साहित्य में प्रसिद्ध ग्रन्थ है। विश्वनाथ ध्वनि-प्रस्थापक आचार्य थे, तब भी उन्होंने दशम परिच्छेद में अलंकारों का विस्तृत विवेचन किया है। विश्वनाथ ने 'अनुकूल' नामक नए अलंकार की उद्भावना की है। प्रतिकूलता के भी अनुकूल प्रभाव का वर्णन ही अनुकूल अलंकार है। विलक्षण चमत्कारी होने के कारण विश्वनाथ ने इसे अलग अलंकार माना है। उदाहरण विलासी जीवन से सम्बद्ध है। परन्तु अनुकूलता तो भाव मात्र है। इसलिए इस अलंकार का जन्म विश्वनाथ ने भावावस्था के लिये ही कहा है। शोभाकरमित्र के 'अनुकृति' अलंकार से विकसित यह अलंकार है। क्योंकि अनुकृति में हेत्वन्तर से अन्य भी उसी प्रकार बन जाता है।[1]

भानुदत्त : अलंकारतिलकः (१३५०—१४५० वि० सं०)

'रस-मंजरी' के लेखक भानुदत्त का 'अलंकारतिलक' नामक एक अलंकारग्रन्थ भी मिलता है। इस ग्रन्थ में ६ शब्दालंकार और ७१ अर्थालंकार हैं। अर्थालंकारों में 'सरस्वती-कण्ठाभरण' का सीधा अनुकरण किया गया है। किसी नवीन अलंकार की उद्भायना भानुदत्त ने नहीं की।

वत्सलांछन : काव्यपरीक्षा (१३८०—१४३७ वि० सं०)

वत्सलांछन ने 'काव्य-परीक्षा' नामक कृति की रचना १३८० विक्रम के पश्चात् की। इसमें ५ शब्दालंकार और ५६ अर्थालंकार वर्णित हैं। किसी नये अलंकार की उद्भावना वत्सलांछन ने नहीं की, अपितु मम्मट और रुय्यक जैसे आचार्यों से प्रभावित होकर ही अलंकार-लक्षण लिखे हैं।

वाग्भट : काव्यानुशासनम् (१४५० वि० सं०)

वाग्भट (द्वितीय) का 'काव्यानुशासन' संग्रह-ग्रंथ है। इस ग्रन्थ में 'अन्य' और 'अपर' नाम के दो नवीन अलंकारों का उल्लेख है। यह लेखक बहुधा रुद्रट का अनुगामी है। मत, उपन्यास, लेश, पिहित, भाव तथा आशी का वर्णन रुद्रट जैसा ही इसने संक्षिप्त लक्षणों में किया है। विभिन्न परिस्थितियों तथा प्रभाववाली वस्तुओं का एकत्र निबन्धन 'अन्य' नामक अलंकार है। गुण और क्रिया का एक साथ अभिधान 'अपर' नामक अलंकार है। दोनों अलंकारों के लक्षण गुण और क्रिया के प्रभाव से प्रसूत हैं। जीवन की विभिन्न उपभोग्य वस्तुओं का एक साथ वर्णन अन्य अलंकार के उदाहरण में किया गया है, जो राजसी ठाठ और ऐश्वर्यभोग की प्रवृत्ति का परिचायक है। अपर का उदाहरण भी उपभोगवादी है। इसलिए दोनों अलंकारों की जन्म-

---

१. (क) हेत्वन्तरादन्यस्यापि तथात्वमनुकृतिः ॥

अलंकाररत्नाकरः—शोभाकरमित्र, पृष्ठ १२४

(ख) अनुकूलं प्रातिकूल्यमनुकूलानुबन्धि चेत् ॥६४॥

साहित्यदर्पणः—विश्वनाथ, पृष्ठ ३४६

भूमि ऐश्वर्यशाली वर्ग के जीवन में घटित घटनाओं से सम्बद्ध भावों की अभिव्यक्ति की उत्सुकता है।[1]

केशवमिश्र : अलंकारशेखरः (१६५० वि० सं०)

यह ग्रन्थ भी इस परम्परा में विशिष्ट स्थान रखता है। इसमें ८ शब्दालंकारों और १४ अर्थालंकारों का वर्णन है। केशवमिश्र के इस लघुकाय ग्रन्थ में 'भगवान् शौद्धोदनिः' का नाम लिया गया है। उसे अलंकार-विद्या का सूत्रकार माना है।[2] इस आचार्य ने यह भी कहा है कि उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, समासोक्ति, अपह्नुति, समाहित, स्वभाव, विरोध, सार, दीपक, सहोक्ति, अन्यदेशत्व, विशेषोक्ति और विभावना इन चौदह अलंकारों के अतिरिक्त अन्य कोई अलंकार नहीं। परन्तु व्यतिरेक और आक्षेप की चर्चा भी की गई है।[3] इन १४ के अतिरिक्त अन्य अलंकारों में क्यों उन्हें अलंकारवत्ता के दर्शन न हुए, इसका कारण उन्होंने नहीं दिया[4], अपितु इसी मत के विपरीत एक बात अवश्य कह दी है कि 'अलंकार-सर्वस्व' नामक ग्रन्थ में सप्रपंच अलंकारों का विवेचन किया गया है। इससे 'अलंकार सर्वस्व' ग्रंथ के सम्बन्ध में रुय्यक-कृत होने का विवाद उठ खड़ा होता है, परन्तु प्रस्तुत विषय से सम्बद्ध न होने के कारण उसके समाधान की अपेक्षा नहीं।

कर्णपूर : अलंकारकौस्तुभः (१६५७—१७५७ वि० सं०)

कवि कर्णपूर ने 'अलंकारकौस्तुभ' ग्रन्थ के सप्तम-अष्टम अध्यायों में अलंकारों का निरूपण किया है। अष्टम अध्याय में उपमा के २७ भेद कहे हैं, जिनमें उद्भट

---

१. (क) माहिषं दधि, सशर्करं पयः, कालिदासकविता नवं वयः।
शारदेन्दुरबला च कोमला स्वर्गशेषमुपभुञ्जते जनाः॥
(अन्यालंकार-उदाहरण) काव्यानुशासनम्—वाग्भट, पृष्ठ ४१

(ख) अलसलुलितमुग्धस्निग्धनिस्पन्दमन्दैरधिक विकसदन्तर्विस्मयस्मेरतारैः।
हृदयमशरणं मे पक्ष्मलाक्ष्याः कटाक्षैरपहृतमपविद्धं पीतमुन्मूलितं च।
(अपरालंकार-उदाहरण) काव्यानुशासनम्—वाग्भट, पृष्ठ ४१

२. अलंकारविद्यासूत्रकारो भगवान् शौद्धोदनिः परमकारुणिकः स्वशास्त्रे प्रवर्तयिष्यन्प्रथमं काव्यस्वरूपमाह।
अलंकारशेखरः—केशवमिश्र, पृष्ठ २, ८३

३. अलंकारशेखरः—केशवमिश्र, पृष्ठ २६

४. सुखबोधाय बालानामतिकोमलवर्त्मना।
मया संक्षेपादित्थमलंकाराः प्रदर्शिताः॥
यथैतेषां मिथोभेदः परेषां नातिरेकता।
तथालंकारसर्वस्वे सप्रपंचमदर्शयम्॥
अलंकारशेखरः—केशवमिश्र, पृष्ठ ३८

की भाँति व्याकरण के प्रत्ययों का प्रयोग भी प्रदर्शित किया गया है। कर्णपूर ने उपमा का सम्बन्ध व्याकरण से सविस्तार वर्णित किया है। कवि कर्णपूर ने विशेषोक्ति और परिकर को एक ही कारिका में प्रस्तुत किया, दोनों का लक्षण एक ही दिया।[1] पर उससे यह स्पष्ट नहीं होता कि वह दोनों अलंकारों को एक मानता है और किसका किसमें अन्तर्भाव करता है। अन्य किसी नवीन अलंकार की उद्भावना भी उसने नहीं की।

अप्पय्य दीक्षित : कुवलयानन्दः (१७५७—१८५७ वि० सं०)

अप्पय्यदीक्षित ने 'चित्र-मीमांसा' और 'कुवलयानन्द' नाम के दो अलंकार-ग्रन्थों में प्रौढ़ता से अलंकार-विवेचन किया है। 'चित्र-मीमांसा' में उपमा, उपमेयोपमा, अनन्वय, स्मरण, रूपक, परिणाम, ससन्देह, भ्रान्तिमान्, उल्लेख, अपह्नुति, उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्ति नामक १२ अलंकारों का निरूपण किया है, 'कुवलयानन्द' वास्तव में जयदेव के 'चन्द्रालोक' पर लिखी गई वृत्ति है, पर बहुत कुछ मौलिकता लिये हुए है। इस ग्रन्थ में केवल अलंकारों का निरूपण है। इसमें संसृष्टि-संकर को छोड़ दिया जाय तो कुल ११७ अलंकार वर्णित हैं। इनमें से कुछ नये भी हैं। नये नामों में प्रस्तुतांकुर, व्याजनिन्दा, अल्प, मिथ्याध्यवसिति, ललित, अनुज्ञा, मुद्रा, रत्नावली, विशेषक, गूढ़ोक्ति, विवृतोक्ति, लोकोक्ति, छेकोक्ति, निरुक्ति, अनुपलब्धि, प्रतिषेध और ऐतिह्य हैं।

प्रस्तुतांकुर अलंकार का विकास अप्रस्तुत-प्रशंसा से हुआ है। अप्रस्तुत-प्रशंसा में अप्रस्तुत के बल पर प्रस्तुत को कहा जाता है, परन्तु प्रस्तुतांकुर में दोनों प्रस्तुत होते हैं। प्रस्तुतांकुर में वाच्य और व्यंग्यार्थ दोनों ही प्रस्तुत रहते हैं। व्याजनिन्दा व्याजस्तुति का ही विरोधी अलंकार है। अल्प अधिक का विरोधी है। मिथ्याध्यवसिति में एक मिथ्यात्व की सिद्धि के लिए दूसरे मिथ्यात्व की कल्पना की जाती है। स्पष्ट है कि यह झूठ की प्रवृत्ति से जन्मा अलंकार है। इस अलंकार का नाम ही नया है, नहीं तो यह अत्युक्ति ही है। यहाँ निराधार मिथ्या-वर्णन रहता है। ललितालंकार निदर्शना से विकसित है। अनुज्ञालंकार वहाँ होता है. जहाँ किसी दोष की इच्छा इसलिए की जाती है कि उसमें किसी गुण विशेष की स्थिति होती है। आचार्य दीक्षित ने श्लेष को अर्थालंकार स्वीकार किया है। शोभाकरमित्र के व्यत्यास और समता नामक अलंकार से ही अप्पय्यदीक्षित ने अनुज्ञा अलंकार की कल्पना की है।[2] व्यत्यास में दोष,गुण में तथा गुण, दोष में बदलता है और समता में दोष का समाधान तत्सम्बन्धी गुण से तथा गुण का समाधान या समपसारण दोष से होता है। अनुज्ञालंकार में किसी दोष की इच्छा इसलिए की जाती है कि उसमें किसी गुण

---

१. विशेषोक्तिः परिकरः स्यात् साकूतैर्विशेषणैः।

अलंकारकौस्तुभः—कविकर्णपूर, पृष्ठ ३३७

२. (क) दोष-गुणयोरन्यथात्वं व्यत्यासः ॥६६॥

(ख) तदन्याभ्यां समाधानं समता ॥६७॥

अलंकाररत्नाकरः—शोभाकरमित्र, पृष्ठ ११६-११७

विशेष की स्थिति है।[1] मुद्रालंकार भोज ने शब्दालंकारों में गिना है और अप्पय्य-दीक्षित ने अर्थालंकारों में, अतः अलंकार नया नहीं। 'रत्नावली' अलंकार भी दीक्षित ने भोज के गुम्फना अलंकार से प्रसूत किया है। भोज के गुम्फनालंकार (शब्दालंकार) में एक भेद क्रमकृता गुम्फना है। जहाँ एक वाक्य में शब्दार्थों की क्रम से रचना की जाय,वहाँ यह अलंकार होता है। यह क्रम बुधजनप्रसिद्ध या तत्तत् शास्त्रादि में प्रसिद्ध हो सकता है। इससे स्पष्ट है कि रत्नावली का बीज यही क्रमकृता गुम्फना है। दोनों का उदाहरण भी एक है।[2] विशेष अलंकार सामान्य का विरोधी ही मान कर रखा गया है। गूढोक्ति और विवृतोक्ति अलंकार वास्तव में गुणीभूत व्यंग्य और वस्तु-ध्वनि से जन्मे हैं। भोज ने गूढ़ नाम का अलंकार माना है।[3] गूढोक्ति का बीज भोज का गूढ़ालंकार ही है। गूढ़ोक्ति अलंकार में वक्ता का अभिप्राय श्लिष्ट प्रयोग द्वारा श्रोता प्रसंगादि से स्वयं ग्रहण कर लेता है, परन्तु विवृतोक्ति में स्वयं वक्ता स्वकथनीय के अभिप्राय का अभीष्ट संकेत देता है। इसलिए ये दोनों अलंकार ध्वनिसम्प्रदाय के प्रभावान्तर्गत हैं। युक्ति अलंकार मम्मट आदि के व्याजोक्ति अलंकार का भेद ही है। अन्य हेतु कहते हुए उक्ति से किसी रहस्य का गोपन व्याजोक्ति अलंकार है और क्रिया के द्वारा किसी रहस्य को छिपाना युक्ति अलंकार है। व्याजोक्ति में आकार गोपन रहता है, युक्ति में आकार से भिन्न वस्तु का गोपन होता है।[4] भोज ने सरस्वती-कण्ठाभरण में युक्ति को शब्दालंकार माना है। भोजप्रोक्त युक्ति अलंकार का लक्षण है[5] कि इसमें परस्पर अयुज्यमान शब्दों के अर्थ की योजना की जाती है। पद,

१. दोषस्याभ्यर्थनानुज्ञा तत्रैव गुणदर्शनात्।
कुवलयानन्दः—अप्पय्यदीक्षित, पृष्ठ २२७

२. लीलाब्जानां नयन-युगल-द्राघिमा दत्त-पत्रः।
कुम्भावेतौ कुचपरिकरः पूर्वपक्षीचकार।
भूविभ्रान्तिर्मदन-धनुषो विभ्रमानन्वदादीद्।
वक्त्र-ज्योत्स्ना शशधर-रुचं दूषयामास यस्याः।
सरस्वतीकण्ठाभरणम्—भोज, पृष्ठ १८२
कुवलयानन्दः—अप्पय्यदीक्षित, पृष्ठ २३४

३. क्रियाकारकसम्बन्धे पादाभिप्रायवस्तुभिः।
गोपितैः षड्विधं प्राहुर्गूढं गूढार्थवेदिनः।
सरस्वतीकण्ठाभरणम्—भोज, पृष्ठ ५२७

४. व्याजोक्तावाकारगोपनंयुक्तौ तदन्यगोपनमिति भावः।
कुवलयानन्दः—अप्पय्यदीक्षित, पृष्ठ २५७

५. (क) अयुज्यमानस्य मिथः शब्दस्यार्थस्य वा पुनः।
योजना क्रियते यासौ युक्तिरित्युच्यते बुधैः।
पदञ्चैव पदार्थं च वाक्यं वाक्यार्थमेव च।
विषयोऽस्याः प्रकरणः प्रबन्धश्चाभिधीयते ॥६६॥
सरस्वतीकण्ठाभरणम्—भोज, पृष्ठ १७३

(ख) युक्तिः परातिसंधानं क्रियया मर्मगुप्तये।५६।
कुवलयानंदः—अप्पय्यदीक्षित, पृष्ठ २५६

पदार्थ, वाक्य, वाक्यार्थ, प्रकरण तथा प्रबन्ध भेद से भोज ने युक्ति अलंकार छः प्रकार का माना है। अतः दोनों का युक्ति अलंकार भिन्न है।

लोकोक्ति तथा छेकोक्ति अलंकार भोज के छाया शब्दालंकार के दो भेदों से सूत्रित हैं। छाया के लोकोक्तिच्छाया और छेकोक्तिच्छाया नामक दो भेद हैं। भोज के लोकोक्तिच्छाया के उदाहरण में 'लोचने मीलयित्वा' (आँखें बन्द करके) लोकोक्ति का उदाहरण है।[1] दीक्षित ने लोकोक्ति के उदाहरण में भी 'लोचने मीलयित्वा' तदर्थ में प्रयुक्त किया है।[2] छेकोक्तिच्छाया अलंकार भोज ने वहाँ माना है, जहाँ कवि काव्य में छेक (विदग्ध) जन की उक्ति का अनुसरण करता है। परन्तु दीक्षित लोकोक्ति के एक विशेष प्रकार के प्रयोग को छेकोक्ति मानते हैं। जब कोई विदग्ध किसी लोकोक्ति के प्रयोग से किसी अन्य गूढ़ार्थ की व्यंजना करे, वहाँ छेकोक्ति होती है। निश्चित रूप से भोज की छेकोक्तिच्छाया की छाया दीक्षित की 'छेकोक्ति' पर है।

निरुक्ति को अलंकार के रूप में यद्यपि अप्पय्यदीक्षित ने ही कहा है, परन्तु भरत ने ३६ भूषणों में एक निरुक्ति भी माना है।[3] दीक्षित ने इस अलंकार का स्थल वहाँ प्रतिपादित किया है, जहाँ किसी नाम का यौगिक अर्थ लेकर अन्यार्थ की कल्पना की जाय। भरत तथा दीक्षित के लक्षण तुलनीय हैं—

भरतः—निरवद्यस्य वाक्यस्य पूर्वोक्तानुप्रसिद्धये।
यदुच्यते तु वचनं निरुक्तं तदुदाहृतम् ॥ १६।

अप्पय्यदीक्षितः—निरुक्तिर्योगतो नाम्नामन्यार्थत्वप्रकल्पनम्।
ईदृशैश्चरितैर्जाने सत्यं दोषाकरो भवान् ॥१६४॥[4]

निरुक्ति अलंकार पर भरत के लक्षण का प्रभाव निश्चित रूप से है। निरवद्य वाक्य के लिए पूर्वोक्त-प्रसिद्धि हेतु, जो वचन कहा जाता है, वह भरत के मत में निरुक्ति है और यौगिक अर्थ से अन्यार्थ-कल्पना दीक्षित के मत में निरुक्ति है। दोनों का समान मूलभाव कितना स्पष्ट है।

---

१. शापान्ते मे भुजगशयनादुत्थिते शार्ङ्गपाणौ,
शेषान् मासान् गमय चतुरो लोचने मीलयित्वा।
पश्चादावां विरह-गुणितं तं तमात्माऽभिलाषं।
निर्वेक्ष्यावः परिणत-शरच्चन्द्रिकासु क्षपासु ॥मेघदूत ४७ (उत्तर भाग)
सरस्वतीकण्ठाभरणम्—भोज, पृष्ठ १६५

२. सहस्व कतिचिन्मासान् मीलयित्वा विलोचने ॥
कुवलयानंदः—अप्पय्यदीक्षित, पृष्ठ २५७

३. निदर्शनं निरुक्तं च सिद्धिश्चाथ विशेषणम्।
गुणातिपातातिशयौ तुल्यतर्कः पदोच्चयः ॥१६२॥
नाट्यशास्त्रम्—भरत, पृष्ठ २५५

४. (क) नाट्यशास्त्रम्—भरत, पृष्ठ २५६,
(ख) कुवलयानंदः—अप्पय्यदीक्षित, पृष्ठ २६४,

प्रतिषेध अलंकार निषेध का पुनःस्थापन ही है। विधि इसका विरोधी अलंकार है। शोभाकरमित्र ने भी विधि अलंकार निरूपित किया है[१] परन्तु दोनों का लक्षण भिन्न-भिन्न है। इन दोनों ने भिन्न-भिन्न भावाभिव्यक्तियों के लिए एक ही नाम रखा है। प्रतिषेध नाम का अलंकार 'यशस्क' के 'अलंकारोदाहरण' ग्रन्थ में है। उसे दीक्षित ने वहां से ही लिया है।[२] अनुगुण अलंकार तद्गुण से विकसित हैं। जयदेव के प्राक्सिद्धि में भी अनुगुण का बीज विद्यमान है। पौराणिकों से सम्मतः इन प्रमाण अलंकारों को भी दीक्षित ने प्रमाणालंकार माना है, जिनमें अनुपलब्धि, श्रुति, संभव तथा ऐतिह्यालंकार विशेषतः दर्शनीय हैं। ऐतिह्यालंकार में लौकिकी गाथा भी अलंकार बन गई। यह काल अलंकारों की संख्या में चरम वृद्धि का था।

जगन्नाथ : रसगंगाधरः (१७५० वि० सं०)

पंडितराज जगन्नाथ ने निष्णात आलोचक के रूप में संस्कृत-साहित्य में अपना स्थान बनाया है। उनके ग्रन्थ में उत्तर अलंकार तक ७० अलंकारों का निरूपण किया गया है। पंडितराज जगन्नाथ ने अलंकार-संख्या में कमी करने का भी प्रयत्न किया। कई अलंकारों का खण्डन तथा कइयों का अन्य अलंकारों में अन्तर्भाव भी किया। मिथ्याध्यवसिति नामक दीक्षित-स्वीकृत अलंकार को इन्होंने अलंकार ही नहीं माना, ललित को भी निदर्शना से अभिन्न ही कहा। इसी प्रकार अनुज्ञा के विरोधी अलंकार तिरस्कार का संकेत भी दिया है, परन्तु जगन्नाथ का अलंकारों का आधार शब्द-शक्तियों को सिद्ध करने का प्रयास संस्कृत आलोचनाक्षेत्र में एक नई दृष्टि को जन्म दे पाया है। इस से शब्द-शक्तियों और अलंकारों के सम्बंध पर विस्तृत विवेचना की जा सकती है, जो इस ग्रंथ में अन्यत्र द्रष्टव्य है।

आशाधर : अलंकारदीपिका, नरसिंह : नञ्जराजयशोभूषणम्, देवशंकर : अलंकारमंजूषा—(१८५० वि० सं०)

आशाधर भट्ट ने 'अलंकार-दीपिका' नामक पुस्तक लिखी। यह कुवलयानन्द के कारिकाभाग पर टीका ही है। नरसिंह कवि ने 'नञ्जराज-यशोभूषण' नामक ग्रन्थ लिखा, जिसमें नञ्जराज की स्तुति में लिखे गये अलंकारों के उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं। भट्ट देवशंकर पुरोहित की 'अलंकारमंजूषा' में भी कोई नया अलंकार नहीं

---

१. (क) प्रतिषेधः प्रसिद्धस्य निषेधस्यानुकीर्तनम् ॥
न द्यूतमेतत् कितव ! क्रीडनं निशितैः शरैः ॥ १६५ ॥
(ख) सिद्धस्यैव विधानं यत्तमाहुर्विध्यलंकृतिम् ।
पंचमोदंचने काले कोकिलः कोकिलोऽभवत् ॥ १६६ ।
कुवलयानंदः—अप्पय्यदीक्षित, पृष्ठ २६४-२६५
(ग) असंभाव्यहेतुफलप्रेषणं विधिः ॥ ८२ ।
अलंकाररत्नाकरः—शोभाकरमित्र, पृष्ठ १४२

२. कुवलयानंदः—अप्पय्यदीक्षित, पृष्ठ २६४,

है। अलंकारों का विवेचन चन्द्रालोककार जयदेव के समान ही इसमें भी है। अलंकारों के उदाहरण भी कवि ने अपने आश्रयदाता की प्रशंसाहेतु स्वयं रचे हैं। कृष्णदीक्षित कृत 'रघुनाथभूपालीय' ग्रंथ भी इसी रीति का है।

कल्याणदास : कल्याणकल्लोलः तथा कृष्णकवि : मंदारमरंदचम्पू (१८५७ वि० सं०)

संस्कृत-साहित्य में 'कल्याण-कल्लोल' और 'मन्दारमरंदचम्पू' नाम के काव्य-शास्त्र-सम्बन्धी दो ग्रन्थ प्राप्त हुए हैं।[1] इन में भी नये अलंकारों का निरूपण नहीं है। कल्याणकल्लोल का अलंकार भाग प्राप्त नहीं होता। पांडुलिपि में रसवर्णन तक ही पाठ मिलता है। मंदारमरंदचम्पू में अर्थालंकारों का विवेचन कुवलयानन्द की भांति ११७ अलंकारां का है। शब्दालंकारों में अनुप्रास का सभेद वर्णन है।

विश्वेश्वर : अलंकारकौस्तुभः, अलंकारप्रदीपः (१८५७ वि० सं०)

संस्कृतसाहित्य के आलोचनाक्षेत्र में अलंकारों पर अन्य भी असंख्य ग्रन्थ लिखे गये हैं। विश्वेश्वर पंडित का ग्रंथ 'अलंकारकौस्तुभ' इस परम्परा का अन्तिम प्रौढ़ ग्रन्थ माना जाता है। 'अलंकारप्रदीप' कृति में विश्वेश्वर ने ११७ अलंकारों का निरूपण किया है ,जिनमें पिधान और तिरस्कार ये नये नाम भी दिए हैं। पिधान तो पिहित का ही नाम है। तिरस्कार अलंकार का संकेत पंडितराज जगन्नाथ ने अनुज्ञा के विरोधी अलंकार के रूप में दिया है। विश्वेश्वर ने इसका लक्षण उपादेय पदार्थ का भी कहीं दोष के कारण तिरस्कार कर देना दिया है।[2]

इस काल के कई आचार्य अपने आश्रय-दाताओं की यशःस्तुति के हेतु अलंकार-ग्रन्थ लिख रहे थे, 'अलंकार-मंजूषा और 'नञ्जराजयशोभूषण' आश्रयदाताओं के लिए लिखे गए ग्रंथ हैं। यही प्रणाली हमारे विवेच्य हिन्दीसाहित्य के रीतकाल में भी स्थान पा गई और रीतिकालीन आचार्यों ने भी लक्षण तो कहीं-कहीं संस्कृतग्रन्थों से अनूदित किए,परन्तु उदाहरण प्रायशः स्वनिर्मित रखे। इस प्रकार संस्कृतसाहित्य के लक्षणग्रंथों की परम्परा रीतकाल के आलंकारिकों के साथ-साथ १९ वीं शती तक चलती रही। हमारे विवेच्यकाल में भी संस्कृतसाहित्य के अलंकारग्रंथों में अलंकारसम्बन्धी विवेचन समानान्तर रूप से चलता रहा। इस प्रकार संस्कृत एवं रीतकालीन आलंकारिक अपने-अपने क्षेत्र में अलंकार-विवेचन का कार्य करते रहे।

———

१. विश्वेश्वरानन्द वैदिक अनुसंधान संस्थान, होशियारपुर,
क्रमांक नं० (१) २९१६ (२) ४३८

२. (क) उपादेयस्यापि कुतश्चिद्दोषात्तिरस्कारः १०८॥
अलंकारप्रदीपः—विश्वेश्वर, पृष्ठ ५४,
(ख) दोषविशेषानुबंधाद् गुणत्वेन प्रसिद्धस्यापि द्वेषस्तिरस्कारः।
रसगंगाधरः—जगन्नाथ, पृष्ठ ५१०

: ३ :

रीतिकालीन अलंकार-साहित्य

पिछले अध्याय के अन्त में यह बात कही गई है कि रीतिकाल में संस्कृत भाषा के काव्यशास्त्र का प्रभाव ग्रहण हुआ और दोनों भाषाओं के काव्यशास्त्रीय ग्रंथों का प्रणयन समानान्तर होता रहा। अप्पय्य दीक्षित, पंडितराज जगन्नाथ और आशाधर भट्ट की परम्परा नरसिंहकवि तथा विश्वेश्वर पंडित तक संस्कृत भाषा में चलती रही और केशव-चिन्तामणि की परम्परा कवि दास तक अक्षुण्ण बनी रही। आश्रयदाताओं की प्रशंसा अलंकारग्रंथों में हुई और रस-नायिका चर्चा के साथ ही अलंकारविवेचन भी हुआ। १७ वीं से १९ वीं शती विक्रमी तक दोनों परम्पाओं के अलंकारिक अपने-अपने क्षेत्र में विवेचन-लीन रहे।

आचार्य राजशेखर ने काव्य-कवियों के आठ भेद माने हैं।[1] इनमें चौथा नाम अलंकारकवि का है, जो कि काव्य में अलंकारों पर अधिक बल देता है। यद्यपि संस्कृतकाव्य में ऐसे कवि अनेक हैं, तथापि रीतिकाल में तो इनकी भरमार है। रीतिकाल का अलंकार-काल नाम इसलिए भी सार्थक हैं।

काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों की प्रणयन-प्रवृत्तियां

रीतिकाल के काव्यशास्त्रीय ग्रंथों के प्रणयन की प्रवृत्ति के पीछे साहित्यिक प्रेरणा अधिक काम करती रही, ऐसा प्रमाण कई ग्रंथों से मिलता है। केशव, महाराज जसवन्तसिंह तथा दूलह ने इस तथ्य का स्पष्ट निर्देश किया है कि उनके ग्रंथ काव्यशास्त्र का ज्ञान करने के लिए बनाए गए हैं। आचार्य केशव ने तीसरे प्रभाव के प्रथम छंद में ही लिखा है कि उस ने 'कविप्रिया' नामक ग्रंथ इस लिये बनाया है कि बालाएं और बालक भी कविता की अगाध रीति समझ लें।[2]

१. काव्यकविः पुनरष्टधा। तद् यथा, रचना-कविः, शब्द-कविः, अर्थकविः, अलंकार-कविः, उक्ति-कविः, रस-कविः, मार्ग-कविः, शास्त्रार्थ-कविरिति।
काव्यमीमांसा—राजशेखर, पृष्ठ १७,

२. समझे बाला बालकहु, वर्णन पंथ अगाध।
कविप्रिया केशव करी, छमियो कवि अपराध ॥ ३—१ ॥
कविप्रिया—केशव, पृष्ठ १९

प्रवीणराय पातुर को कविता-विषयक शिक्षा देने की चर्चा भी आचार्य केशव ने की है, परन्तु उसके अतिरिक्त हर काव्य-रसिक के लिये भी कविप्रिया का द्वार केशव ने मुक्त रखा है। महाराज जसवन्तसिंह ने 'भाषाभूषण' के निर्माण में संस्कृत-पाठ को देखकर भाषा में अलंकारों को लाने का प्रयत्न, भाषा-निपुण और संस्कृतभाषा के ज्ञान से रहित पंडितवृन्द के लिए कविता में प्रवीणता की उपलब्धि, साहित्य-रस का आस्वादन, तथा साहित्य के विविध अर्थ वाले अंगों का ज्ञान माना है।[1] दूलह के 'कविकुल-कंठाभरण' में भी यही चर्चा है कि जो इस ग्रंथ को कंठस्थ कर लेगा, वह सुख पाएगा। पंडित-सभा में सुशोभा लहेगा, अलंकृती (अलंकारज्ञाता) ठहराया जायेगा।[2] तात्पर्य यह कि यह प्रवृत्ति भाषा में काव्यशास्त्र के ग्रंथों का निर्माण करने की उत्कट इच्छा की परिद्योतक है। इससे यह भी अनुमान हो जाता है कि जनजीवन जिस भाषा को अपना रहा था, जिस भाषा में साहित्यरचना हो रही थी, जो भाषा बहुजनहिताय तथा जन-मन-रंजनाय प्रयुक्त हो रही थी, उसमें काव्यशास्त्र जैसे गम्भीर विषयों की चर्चा करना तब के विद्वान् अपना कर्तव्य मानने लगे थे। काव्य का मार्ग प्रशस्त करने और संस्कृतसाहित्य का काव्यशास्त्रीय ज्ञान भाषापंडितों के लिए सुलभ बनाने की प्रवृत्ति काव्यक्षेत्र में बलवती हो गई थी। जन-जीवन की भाषा काव्यशास्त्रीय चर्चा के उपयुक्त मान ली गई थी। ब्रजभाषा का अतुल सामर्थ्य इस बात का प्रमाण था कि उसमें काव्यशास्त्रीय ग्रंथ लिखे जाने लगे थे।

दूसरा आधार कवियों की निजी प्रवृत्ति का है। संस्कृत-साहित्य में आचार्य लोग कभी-कभार ही किसी शास्त्रीय ग्रंथ को अपने आश्रयदाता राजा के लिए लिखते थे। भरत, भामह, उद्भट, दण्डी, वामन, कुन्तक, मम्मट, जयदेव, अप्पय्य दीक्षित, जगन्नाथ आदि का नाम संस्कृतसाहित्य के उन आचार्यों में है, जिन्होंने अपने ग्रंथों का प्रणयन स्वतंत्र चिन्तन तथा विशुद्ध काव्यशास्त्रीय विवेचन के लिए किया, आश्रयदाता के होते हुए भी, उनके लिए काव्यशास्त्रीय ग्रंथ न लिखे। संभवतः वे आश्रयदाता इस दिशा में उदात्त थे और आचार्यजन सचेत, परन्तु रीतिकाल की अवधि में काव्य-

---

१. अलंकार शब्दार्थ के, कहे एक सौ आठ।
किए प्रगट भाषा-विषै, देखि संस्कृत-पाठ ॥ २०८ ॥
ताही नर के हेतु यह, कीन्हों ग्रंथ नवीन।
जो पंडित भाषा-निपुन, कविता विषै प्रवीन ॥ २१० ॥
भाषा-भूषन ग्रंथ को, जो देखै चित लाय।
विविध अर्थ साहित्य-रस, ताहि सरल दरसाय ॥ २१२ ॥
भाषाभूषण—जसवन्तसिंह, पृष्ठ-१०६-१०७,

२. जो या कंठाभरन को कंठ करे सुखपाय।
सभा मध्य शोभा लहै, अलंकृती ठहराय ॥ ४ ॥
कविकुलकंठाभरण—दूलह, पृष्ठ १३

शास्त्रीय ग्रंथों का प्रणयन आश्रयदाताओं के लिए भी हुआ और स्वतन्त्र ग्रंथ भी लिखे गये। इस युग में ऐसे ग्रंथों की रचना भी कम नहीं हुई, जो कि अपने आश्रयदाताओं के प्रशंसाहेतु ही लिखे गये। रीतिकाल से कुछ पूर्व विद्याधर ने 'एकावली' ग्रंथ में अपने आश्रयदाता उत्कल तथा कलिंग नरेश नरसिंह (केसरी नाम भी मिलता है) की प्रशंसा की है, और उदाहरणों में उसके चरित्र की प्रौढ़ चर्चा की है। आचार्य विद्यानाथ ने 'प्रतापरुद्रीय' नामक ग्रंथ अपने आश्रयदाता के गुणगान-हेतु (यशोभूषण) लिखा। हमारे विवेच्य काल में भी 'नञ्जराजयशोभूषण' (संस्कृत काव्यशास्त्रीय) ग्रंथ नरसिंह कवि ने मैसूर राज्य के मंत्री की स्तुति में लिखा। भट्ट देवशंकर पुरोहित ने 'अलंकारमंजूषा' ग्रंथ 'पेशवा बाजीराव, रघुनाथराव, माधवराव (प्रथम) तथा नारायणराव की प्रशंसा में लिखा। इन्हीं के चरित्र से सम्बद्ध अलंकार-उदाहरण भी दिए हैं। आचार्य कृष्णदीक्षित का 'रघुनाथभूपालीय' ग्रंथ भी प्राप्त है, जिसमें राजा रघुनाथ के चरित्र से सम्बद्ध उदाहरणों की झड़ी लगी हुई है। इससे एक प्रवृत्ति की प्रामाणिकता सिद्ध है कि जब रीतिकालीन भाषाविद् पंडित ब्रजभाषा में काव्य-शास्त्रीय ग्रंथ अपने आश्रयदाताओं के लिये लिख रहे थे, तो वे उभयतः प्रभावित हुए। एक तो अपने काल के राजाश्रित कवियों की प्रवृत्ति से, दूसरे संस्कृत के इन ऊपर निर्दिष्ट विद्वानों से, जो कि अपने आश्रयदाताओं के लिए काव्यशास्त्रीय ग्रंथ समसामाजिक स्थिति में लिख रहे थे। रीतिकाल के ऐसे आचार्यों में कुलपति ने 'रसरहस्य' की रचना अपने आश्रयदाता रामसिंह के लिए की। पदुमनदास की 'काव्यमंजरी' में दलेलसिंह की स्तुति है। सोमनाथ का 'रसपीयूषनिधि' ग्रन्थ राजा प्रतापसिंह के हर्ष-हेतु लिखा गया। भिखारीदास के 'काव्य-निर्णय' का निर्माण हिन्दूपति सिंह के लिये हुआ। मतिराम का 'ललितललाम' बूंदी-नरेश भावसिंह के आश्रय में, भूषण का 'शिवराजभूषण' शिवाजी के चरित्रवर्णनहेतु और ऋषिनाथ कृत 'अलंकारमणिमंजरी' का निर्माण दीवान सदानन्द के आश्रय में हुआ। देवकीनंदन की कृति 'सरफराजचन्द्रिका', सरफराजगिरि नामक महन्त के नाम पर लिखी गई। ब्रह्मदत्त-कृत 'दीपप्रकाश' ग्रंथ आश्रयदाता दीपनारायण के नाम पर उन्हीं की आज्ञा से रचा गया। गोकुलनाथ की 'चेत-चन्द्रिका' में महाराज चेतसिंह की स्तुति अलंकारों के उदाहरणों में दी गई है। इस तरह रीतिकाल के अनेक अलंकार-विवेचकों ने अपने आश्रयदाताओं की स्तुति, प्रसन्नता तथा नाम अमर करने की प्रवृत्ति से काव्यशास्त्रीय ग्रंथ लिखे।

रीतिकाल के काव्यशास्त्रीय ग्रंथलेखकों के सम्बन्ध में यह धारणा व्यक्त की जाती है कि उन्होंने प्रायः संस्कृत के भामह, दण्डी, मम्मट, जयदेव, विद्यानाथ, विद्याधर, विश्वनाथ, अप्पय्यदीक्षित आदि आचार्यों के ग्रन्थों से सामग्री ली है। उनके बनाए लक्षणों का अनुवाद किया, भाव लिए और कहीं-कहीं उदाहरण भी अनूदित किए। अध्ययन से यह बात सामने आती है कि ग्रहण और त्याग की प्रवृत्ति संस्कृत के आचार्यों में भी कम नहीं रही। भामह के उद्भट, दण्डी के विश्वनाथ और भोज-मम्मट के वत्सलांछन, विद्यानाथ के नञ्जराजयशोभूषण के कर्त्ता नरसिंह कवि तथा

जयदेव के अप्पय्य दीक्षित क्रमशः ऋणी हैं। कई विद्वानों ने तो लक्षण तक में अन्तर नहीं डाला। उदाहरण अवश्य कहीं-कहीं बदले गये। जयदेव के चन्द्रालोक और अप्पय्य दीक्षित के कुवलयानंद के साम्य की बात विबुध-समाज में ख्यात है। ये संस्कृत काव्यशास्त्र के आचार्य हमारे विवेच्यकाल के आसपास हैं। उनमें नरसिंह कवि तो १८वीं शती के हैं। तब ऐसी स्थिति में, जबकि संस्कृत के आचार्य ही पूर्ववर्तियों के लक्षणों को अपना रहे थे, तो भाषा-पंडितों ने उन्हीं अलंकारलक्षणों को भाषा के ग्रंथों में रख कर तात्कालिक स्थिति में काव्यशास्त्र के ज्ञान का सरल मार्ग बनाया, तो अनुचित नहीं हुआ। प्रभाव या लक्षण-ग्रहण तो स्वाभाविक था, उसमें किसी प्रकार की आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

संस्कृत के काव्यशास्त्रीय प्रवाह में अवगाहन कर भाषा-पंडित मणि-मुक्ता-चयन करने लगे। उनकी मधुकरी प्रवृत्ति जागी, परन्तु एक प्रतिक्रिया भी इस काल में रीति-ग्रंथों के प्रणयन में काम करती रही। मुसलमानी दरबारों में अरबी-फारसी के विद्वान् अपनी रचनाएँ लिखते थे। राजभाषा के गौरव के कारण फारसी का प्राधान्य था। फारसीदां भी अपने काव्यों में अलंकारों का प्रयोग करते थे। भाषा-साहित्य में ऐसे अलंकार या अन्य काव्यांगों सम्बन्धी ग्रंथों की नाममात्र चर्चा थी। इसलिये संस्कृत के आचार्यों के काव्यशास्त्रीय ग्रंथों की सामग्री नवीन कवियों के लिए ब्रजभाषा में सुलभ कर दी गई ताकि वे शास्त्रीय ज्ञान द्वारा काव्य का चमत्कारक रूप प्रस्तुत कर सकें, साधारणों में असाधारण बन सकें। आचार्य केशव की उक्ति भी इसी स्थिति का सामना करने के लिए कवियों को प्रेरित करती जान पड़ती है।[1]

दूलह के काव्यशास्त्र-ज्ञान से किसी भी व्यक्ति के 'अलंकृती' ठहराए जाने का कथन भी इसी प्रवृत्ति का परिद्योतक है कि फारसी की टक्कर का काव्य, भाषा में लाने की होड़ चल रही थी, जिसके लिए काव्यशास्त्र का प्रौढ़ ज्ञान आवश्यक था। इस हेतु से भी इन ग्रंथों का प्रणयन हुआ।

कई रीतिकालीन काव्यशास्त्रीय ग्रंथों के प्रणयन की पृष्ठभूमि तात्कालिक सामाजिक-धार्मिक परिस्थिति भी रही है। विशुद्ध रूप से राज्याश्रय तथा इष्टदेव के यशोगान के लिए अलंकार-ग्रंथों की रचना इस प्रवृत्ति का ही परिणाम है। संस्कृत साहित्य के अलंकार-विकास में इस प्रवृत्ति की विस्तृत चर्चा की गई है। इस अध्याय में भी आचार्यों के ग्रंथों की चर्चा के काल में इस विषय पर विस्तृत प्रकाश डाला जाएगा।

केशव ने भूमि-भूषणों में ऋतुवर्णन गिन दिया। शिशिर ऋतु की समानता

---

१. अलंकार कवितान के सुनि सुनि विविध विचार।
कविप्रिया केशव करी, कविता को सिंगार ॥३-२॥
सगुन पदारथ अर्थयुत, सुबरनमय सुभ जानि।
कंठमाल ज्यों कविप्रिया, कंठ करो कविराज ॥३-३॥
कविप्रिया—केशव, पृष्ठ १६

वार-बनिता से की।[1] इससे स्पष्ट है कि सामाजिक जीवन पर वेश्या कितना प्रभूत प्रभाव रखती थी। इसी प्रकार राजा, रानी, राजसुत, पुरोहित, दलपति, दूत, मंत्री, प्रस्थान, हय-गज (राजा के) तथा संग्राम (अभूतपूर्व) का वर्णन ही राजश्री भूषणों में केशव ने गिना है। यह राजनीतिक रंगमंच का क्रीड़ा-कौतुक ही तो अलंकार का चमत्कार बढ़ा रहा है। इन वर्णनों में भी केशव ने रघुबीर-नीति की चर्चा की है। इसलिए मानना पड़ता है कि रीतिकाल का काव्यशास्त्रीय आचार्य अपने समय के समाज और राजनीति से प्रभावित था।

गोप के 'रामचन्द्राभरण' तथा सेवादास के 'रघुनाथालंकार' ग्रंथों में भगवान् राम के प्रति भक्ति-भावना का सागर लहराता है। तब के भक्त भी आलंकारिक हो गए। युग का ऐसा प्रभाव पड़ा कि भक्ति का सरल, सहज क्षेत्र भी अलंकारों से चमत्कृत हुए बिना न रह सका।

रीतिकालीन आचार्यों की अलंकार-निरूपण शैली

संस्कृतसाहित्य के काव्यशास्त्रीय ग्रंथों का अध्ययन अनेक शैलियों का परिचय देता है, जिसके आधार पर संस्कृतकाव्यशास्त्र को प्रौढ़ता प्राप्त हुई। इन शैलियों का नामकरण लक्षण-लक्ष्य शैली, सूत्र और कारिकाशैली किया जा सकता है। रीतिकाल के आचार्यों ने संस्कृत साहित्य से दाय में प्राप्त शैलियों (सूत्र शैली को छोड़कर) को अपना लिया, परन्तु प्रधानता-लक्ष्य शैली की रही है। उसमें भी विशेषता यह है कि बहुधा उदाहरण आलंकारिकों ने स्वनिर्मित रखे हैं। संस्कृत से अनूदित भी अवश्य हैं, परन्तु ऐसे उदाहरणों की परम्परा अधिक वर्षों तक नहीं चली। बाद के आचार्यों ने बहुधा उदाहरण अपने ही दिए हैं।

हिन्दी-साहित्य के कुछ विद्वानों ने रीतिकालीन आचार्यों के संस्कृत-काव्य-शास्त्रीय ग्रंथों के अनुवादक मात्र होने का आरोप लगाया है। इस कारण उनमें मौलिकता का अभाव सा माना है। दूसरा आरोप इनके कविकर्मप्रधान होने का है। आचार्यकर्म की न्यूनता रीतिकालीन आलंकारिकों में कही जाती है। तर्क यह दिया जाता है कि यदि इन्हें हिन्दी का स्वतंत्र काव्यशास्त्र लिखना था तो लक्षण लिखने के अनन्तर उदाहरण आदिकाल तथा भक्तिकाल के काव्य ग्रंथों से देते, परन्तु ऐसा नहीं किया गया। इसलिए रीतिकाल के आचार्य प्रायः उदाहरण अपने देते रहे या संस्कृत के चन्द्रालोक, कुवलयानंद आदि ग्रन्थों से अनूदित या छायाग्रहीत रखते रहे। परन्तु अध्ययन के बल पर उक्त धारणाएं स्थिर नहीं रहतीं। पहली बात तो यह कि रुद्रट तथा विश्वनाथ ने काव्यालंकार और 'साहित्यदर्पण' में भी अपने, अपने तातपाद (पिता) तथा अन्य कवियों के (दण्डी आदि द्वारा दत्त) पद्य भी उदाहरण-स्वरूप रखे हैं। पंडितराज ने रीतिकाल में ही अपने ग्रंथ 'रसगंगाधर' में स्वनिर्मित उदाहरण दिये हैं। अन्य विद्वानों के उदाहरणों का खण्डन-मंडन भी किया है। जयदेव और अप्पय्यदीक्षित ने भी स्वनिर्मित तथा परकृतपद्य उदाहरणों

१. कविप्रिया—केशव, पृष्ठ २०

में रखे हैं। विद्याधर, विद्यानाथ, भट्ट देवशंकर पुरोहित तथा नरसिंह कवि ने केवल स्वनिर्मित उदाहरण ही रखे हैं। तब रीतिकालीन कवियों ने ऐसा किया तो अद्भुत कुछ नहीं, अपितु संस्कृतकाव्यशास्त्रीय परम्परा के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर अपना काव्यशास्त्र प्रस्तुत किया, उसमें भी विशेषतया अनेक अलंकारग्रन्थ तो इसी परिपाटी के हैं।

रीतिकाल से पूर्ववर्ती काव्यग्रन्थों से उदाहरण देने का जहाँ तक सम्बंध है रसरूपकृत 'तुलसीभूषण', रसिकगोविंद का 'रसिकगोविंदानंदघन', अमीरदास का 'श्रीकृष्णसाहित्यसिंधु' तथा निहाल कवि का 'साहित्यशिरोमणि' ग्रन्थ इसके प्रौढ़ प्रमाण हैं। सारा 'तुलसीभूषण' ग्रन्थ ही रामचरितमानस, गीतावली तथा बरवै-रामायण के दोहे-चौपाइयों तथा बरवै के उदाहरणों से विमंडित है। रतन कवि के 'फते प्रकाश', ब्रह्मदत्त के 'दीपप्रकाश', पद्माकर के 'पद्माभरण' में भी क्रमशः अपने अतिरिक्त सूर, सेनापति, बिहारी आदि दूसरे कवियों के उदाहरण हैं। संस्कृत-काव्यशास्त्रियों के ग्रंथों में उदाहरण भी अपने काल के आसपास के कवियों के ही रहे हैं। सुदूरवर्तियों के उदाहरण उन्होंने भी त्याग दिये। यह वहाँ भी स्वाभाविक था, इसी प्रकार रीतिकालीन आचार्यों ने भी अपने उदाहरण अधिक रखे और पूर्ववर्ती युग के उदाहरण भी लिये हैं।

एक अन्य आरोप इस काल के आचार्यों पर और लगाया जाता है, वह है—उच्चस्तरीय विवेचनाभाव। इस विवेचना के अभाव के दो कारण हो सकते हैं, पहला भाषागद्य की अप्रौढ़ता, दूसरा आचार्यों का काव्य-शिक्षण का दृष्टिकोण। ये दोनों कारण ही रीतिकालीन आचार्यों को संस्कृतकाव्यशास्त्रियों से भिन्न दिशा के प्रकट करते हैं। संस्कृतकाव्यशास्त्र की परम्परा में भी भामह, दण्डी, रुद्रट, उद्भट आदि के ग्रन्थों की व्याख्याएं बाद में ही हुईं। काव्यशास्त्रीय प्रौढ़ विवेचना ध्वनिकार से आरम्भ हुई और खण्डन-मण्डन की रीति से उसका क्षेत्र व्यापक होता गया। वक्रोक्तिकार कुन्तक, 'व्यक्तिविवेक' का लेखक महिमभट्ट, 'काव्यप्रकाश' के कर्त्ता आचार्य मम्मट, साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ, 'चित्रमीमांसा' के लेखक अप्पय्य दीक्षित और रसगंगाधरकार पंडितराज जगन्नाथ ने उच्चस्तरीय विवेचना काव्यशास्त्रीयांगों पर प्रस्तुत की।

इन आचार्यों के समक्ष भरत-भामह से प्रवर्तित काव्यशास्त्रीय पद्धति विद्यमान थी, और उस पद्धति में भी कई श्लोक तो विशेषतया विवेचन के केन्द्र बने रहे। उन श्लोकों में भी शब्द विशेष पर गम्भीर विवेचन होता था। ब्रजभाषा में उसका अनुवाद होता, तो शब्द विशेष की वह शक्ति क्षीण हो जाती, जिसके आधार पर संस्कृतकाव्यशास्त्र में विवेचन हो गया था। इसलिए उसकी उपेक्षा स्वाभाविक थी। रीतिकाल के काव्यशास्त्रीय आचार्यों को इसकी अपेक्षा न थी। इसलिए उन गम्भीर विवेचनाओं का अनुवाद नहीं किया गया। उनका अनुवाद न करने का एक कारण यह भी हो सकता है कि जिन श्लोकों (पद्यों) को लेकर अलंकार-सम्बन्धी विवाद थे, वे संस्कृत में थे। भाषापंडितों को, भाषाकाव्य-जिज्ञासुओं को काव्य-नियमों की

शिक्षा देनी थी। इसलिए उन श्लोकों के विवाद को गद्य में अनुवाद करने से लाभ क्या होता, जब कि अभी गद्य भावाभिव्यक्ति में समर्थ न था। रीतिकाल का टीका-काल इस कार्य के लिए उपयोगी हो सकता था। परन्तु तब के टीकाकार कवियों के ग्रन्थों पर टीका लिखते हुए तत् तद् विषयक अलंकार बता देते थे। संस्कृत-साहित्य की गम्भीर विवेचनात्मक पद्धति को इन आचार्यों ने जान-बूझ कर नहीं पकड़ा,अन्यथा जो अचार्य संस्कृत के अलंकारलक्षणों का अनुवाद कर सकते थे, जो उदाहरणों के शब्दानुवाद या छायानुवाद दे सकते थे, वे संस्कृत जानते थे और अलंकारसम्बन्धी गम्भीर विवेचना समझने की शक्ति भी उनमें निश्चित होगी, परन्तु आवश्यकता देख कर तथा संस्कृत-पद्य के सम्बन्ध में विवाद मान कर उन्होंने भाषा के लिए अनुपयोगी समझते हुए उस अंश का त्याग कर दिया। राजाश्रयों के अन्तर्गत या स्वतन्त्र रूप से लिखते हुए भी भाषाकाव्य की ओर उनका ध्यान बना रहा। यह उचित भी था। रीतिकालीन आचार्यों ने संस्कृतकाव्यशास्त्रियों द्वारा विवेचित व्याकरण पर आधृत उपमाभेदों का भी परित्याग कर दिया, उसका कारण भी भाषा-व्याकरण की अभावात्मकता ही थी। यदि व्याकरण का निर्माण हो गया होता तो बहुत संभव था कि वे इन उपमा-भेदों का विवेचन भी करते। केशव के घर के दास भी संस्कृतभाषी थे।[1] तब वे अपने प्रकाण्ड पांडित्य के होते हुए भी व्याकरणाधृत उपमाभेदों तथा अन्य अलंकारसम्बन्धी शास्त्रीय विवेचनों को क्यों न रख पाये। कारण स्पष्ट है कि भाषा के काव्यशास्त्र में इनकी आवश्यकता नहीं थी, इसलिए केशव के बाद के आलंकारिकों ने भी इस ओर उपेक्षा प्रकट की। तब भी रीतिकाल के परवर्ती काल में रसिकगोविंदानंदघन, अलंकारभ्रमभंजन, श्रीकृष्णसाहित्य-सिन्धु तथा साहित्यशिरोमणि जैसे ग्रन्थों में संस्कृत के काव्यशास्त्र के समान ही उच्चस्तरीय विवेचनापद्धति के दर्शन होते हैं। इसमें उनकी शक्ति का अभाव नहीं, अपितु युग की मांग का प्रश्न आगे आ जाता है।

अन्य काव्यांगों की सीमा का स्पर्श न करते हुए केवल अलंकार का जहाँ तक सम्बन्ध है, उसमें नवीन उदाहरणों का समावेश अधिक उपयोगी है। भावाभिव्यक्ति का साधन होने के कारण अलंकारों को यदि युगानुकूल परिस्थितियों के उदाहरणों में प्रदर्शित किया जाता है तो अलंकारों का उन उदाहरणों में चमत्कारी होना काव्य की प्रौढ़ता का परिचायक बनता है। इन उदाहरणों से काव्य-सौन्दर्य बढ़ा है। तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक और विलासात्मक प्रवृत्तियों का ज्ञान इन उदाहरणों से होता है। इससे अलंकार के लिए उपयोगी काव्य-सागर में काव्य-रसिक अवगाहन कर सकता है। अलंकार काव्य-वृद्धि का कारण भी है। इसलिए उदाहरणपक्ष की नवीनता में अनौचित्य नहीं। यही नहीं, रीतिकाल का

---

१. भाषा बोलि न जानहीं जिनके कुल के दास।
भाषा कवि भो मंदमति तेहि कुल केशवदास।।२१७।।
कविप्रिया—केशव, पृष्ठ १७

आचार्य कवि भी था और यह उसकी दुर्बलता न होकर विशेषता ही थी। अतः उदाहरणों के क्षेत्र में अपना काव्य-कौशल प्रदर्शित करना इन कवियों के लिए श्लाघनीय ही था।

रीतिकाल-पूर्व काव्यशास्त्रीय परम्परा

पुष्य कवि की रचना की चर्चा हिन्दी-साहित्य में है,परन्तु उसका पुष्ट प्रमाण कोई नहीं। भक्तिकाल में सूर की 'साहित्यलहरी' तथा तुलसी की 'बरवैरामायण' में अलंकारशास्त्र का रूप न होते हुए भी इनकी ओर किंचित् झुकाव है। कृपाराम की 'हिततरंगिणी' भी इसी काल की कृति है, जो शुद्ध रीतिग्रन्थ है, परन्तु इसमें अलंकार का नाम तक नहीं है। अकबरी दरबार के कवियों में करनेस, गोप, रहीम, बलभद्र मिश्र और गंग की चर्चा है। करनेस, गोप आदि के सम्बंध में यह सवैया प्रमाणस्वरूप पाया जाता है :—

पाय प्रसिद्ध पुरंदर ब्रह्म सुधारस अमृत अमृत बानी।
गोकुल गोप गोपाल करनेस गुनी, गुन सागर गंग सुजानी।
जोध जगन्न लगे जगदीस जगामग जैन जगत है जानी॥
कोरे अकब्बर सों न कथी, इतने मिलि के कविता जु बखानी॥[1]

करनेस की 'करणाभरण' 'श्रुतिभूषण' अलंकारसम्बंधिनी कृतियां हैं। ये ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं। छेमराज, गोपालराम, बलवीर, चतुर्भुज आदि ग्रन्थकारों की कृतियां भी उपलब्ध नहीं। वास्तव में आचाय केशव ने काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ-प्रणयन के प्रति सचेत होकर अपना पग बढ़ाया। चाहे काव्यशिक्षा-हेतु ही कविप्रिया का प्रणयन किया गया (रसिकप्रिया भी उनकी नायिकाभेदसम्बंधिनी प्रौढ़ कृति है।) केशव का जन्म यद्यपि भक्तिकाल में हुआ, परन्तु उन्हीं के कार्य से रीति-ग्रन्थों का आरम्भ हुआ है। चिन्तामणि तक के ५० वर्ष के मध्यवर्ती काल की एक भी कृति मिल जाने पर यह परम्परा अखंड हो जाएगी। चिन्तामणि के काल में जन-रुचि की शक्ति भी उभर आई और काव्यशास्त्रीय धारा प्रबल वेग से प्रवाहित हो उठी।

काव्यशास्त्रीय आचार्यों के वर्ग

संस्कृतकाव्य-शास्त्र में भी प्रायः आचार्यों ने (नाटकसम्बंधी ग्रन्थों को छोड़ कर) काव्यगत अलंकारों की चर्चा किसी न किसी रूप से की। परन्तु लक्षण-कर्त्ताओं में दो वर्ग वहां प्रधानतः रहे। विविधांगनिरूपक आचार्य तथा केवल अलंकार-निरूपक। रीतिकाल में भी यही स्थिति बनी रही। इस काल में केवल अलंकारसम्बंधी ग्रन्थ अधिक लिखे गये। इन दोनों वर्गों का निर्देश निम्नलिखित ढंग से किया जा सकता है।

विविधांग-निरूपक आचार्य

केशव, चिन्तामणि, जसवंतसिंह, कुलपति, पदुमनदास, देव, सूरतिमिश्र कुमारमणि, श्रीपति, सोमनाथ, भिखारीदास, जनराज, जगतसिंह, रसिकगोविंद, प्रतापसाहि, ग्वाल, अमीरदास तथा निहाल कवि।

१. हिन्दी-साहित्य का बृहद् इतिहास—सम्पादक डा० नगेन्द्र, पृष्ठ १६७

केवल अलंकारनिरूपक आचार्य

इस वर्ग में मतिराम, भूषण, श्रीधर, गोप, कान्ता-भूषण का लेखक, रत्नेस, रसिक सुमति, भूपति, वंशीधर, दलपति राय, रघुनाथ, गोविंद, दूलह, शम्भुनाथ, रसरूप, गुमानमिश्र, बैरीसाल, नाथ (हरिनाथ), रतन (रत्नेश) दत्त, ऋषिनाथ, महाराज रामसिंह, याकूबखां, सेवादास, थान कवि, चन्दन, गोकुल कवि, भान कवि, बेनीबंदीजन, गुरुदीन पांडे, उमेदराय, चतुर्भुज, दामोदर, ग्वाल, कवि दास आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

केवल अलंकार-ग्रन्थ-लेखकों की संख्या रीतिकाल में सर्वाधिक है। इसलिए यह मान लेना अधिक समीचीन है कि रीतिकाल के जन-जीवन की झांकी विशेष रूप से इन्हीं अलंकारों के ग्रन्थों में देखने को मिलती है। शाहजहाँ तथा औरंगजेब का काल संघर्ष का ही था, इसलिए धार्मिक, राजनीतिक, साहित्यिक क्षेत्र में संघर्ष बराबर बना हुआ था भक्ति काल में दो संस्कृतियों के संघर्ष का आरम्भ था और अब अन्त। अतः विविध समस्याओं, उलझनों तथा घटनाओं से प्रभावित साहित्यिक प्रतिभा स्वतंत्र अथवा राजाश्रयों में रह कर भावाभिव्यक्ति के लिए अधिकतर अलंकार का आश्रय लेती रही और अलंकार-साहित्य अधिक लिखा गया।

रीतिकालीन अलंकार-साहित्य का इतिहास

हिन्दी के अलंकार-साहित्य का आरम्भ आचार्य केशव से ही हुआ। इसलिए सर्वप्रथम उनसे ही विवेचन का आरम्भ अपेक्षित है। केशव से लेकर कवि दास (रीतिकालीन अंतिम आचार्य) तक यह परम्परा चलती रही है। इस क्रम में आने वाले आचार्यों का योगदान अपने अपने रूप से अवश्य ही महत्त्वपूर्ण है।

केशव : कविप्रिया (रचनाकाल सं० १६५८)

कविप्रिया का निर्माण अवश्य ही काव्य-शिक्षा के लिए हुआ। इसमें स्वयं आचार्य केशव प्रमाण हैं। इस ग्रन्थ को पढ़ कर उनके ये तीनों पद अलंकारों सम्बंधी सुदृढ़ धारणा की पुष्टि करते हैं :

अलंकार कवितान के सुनि सुनि विविध विचार।
कविप्रिया केशव करी, कविता को सिंगार।।३-२।।
सगुन पदारथ अर्थयुत, सुबरनमय सुभ साज।
कंठमाल ज्यों कविप्रिया, कंठ करो कविराज।।[1]३-३।।
जदपि सुजाति सुलक्षणी, सुबरन सरस सुबृत्त।
भूषण बिनु न विराजई, कविता, वनिता, मित्त।।५[2]-१।।

जदपि सुजाति सुलक्षणी ... पद में श्लेषालंकार है। केशव ने अलंकार की महिमा बखानते हुए भी श्लेष को ही प्रस्तुत किया, स्पष्टतः केशव श्लेषप्रशंसी हैं। सम्भवतः इसी लिए उन्होंने श्लेष को पंचार्थक विवेचित किया। इसमें केशव की

---

१. कविप्रिया—केशव, पृष्ठ १९

२. कविप्रिया—केशव, पृष्ठ ४७

भाषा में अलंकारप्रयोग की शक्ति का भी ज्ञान होता है। अभिन्न और भिन्नपद के भेदोपभेदों की चर्चा भी उनके श्लेषानुराग की सूचक है। (स्वभाव) स्वभावोक्ति का सर्वप्रथम निरूपण भी उनका स्वभावोक्ति के प्रति अलंकार-मान्यता का सूचक है। केशव का श्रृंगार-रस-प्रधान काव्यकाल 'आक्षेप' अलंकार के लिए उपयोगी था। काव्य में आक्षेपालंकार का विविध प्रयोग आचार्य केशव ने दर्शाया है। इस अलंकार के प्रति उनका आग्रह ग्यारहवें प्रभाव में केवल आक्षेपालंकार वर्णन से अभिव्यक्त है। उन्होंने इस अलंकार के ६ भेद लिखे हैं।[1] अंतिम भेद शिक्षाक्षेप में बारहमासा वर्णन किया है। इन बारहमासों के वर्णनों में प्रधानता श्रृंगार रस की है। उपमा तो काव्य-शास्त्र में अपना प्रपंच दण्डी के युग से फैलाए बैठी थी। केशव ने भी उसके विवेचन-हित 'चौदहवाँ प्रभाव' अर्पित कर दिया। उदाहरण यहाँ भी बहुधा श्रृंगार रस के ही दिए हैं। कालगति की विचित्रता है कि हिन्दी का प्रथम काव्य-शिक्षा-शिक्षक केशव भी अलंकारवादी ही था। भरत, भामह, दण्डी भी ऐसे ही थे। केशव ने रसवत् आदि को अलंकारानुगत किया। यही भामह, दण्डी आदि ने भी किया था। यह उक्त आलंकारिकों का प्रभाव भी कहा जा सकता है या सामयिक परिस्थिति भी मानी जा सकती है। राजसी वैभव में कविता-वनिता दोनों ही अलंकृता रखी जानी अनिवार्य थीं, ऐसी भी मान्यता हो सकती है।

केशव के काल में संस्कृत के आचार्य भी संग्रह-ग्रन्थ लिख रहे थे। जगन्नाथ के साथ खण्डन-मंडन तथा गंभीर विवेचन की रीति-नीति उठ गई थी। इधर केशव ने भी उस रीति को नहीं अपनाया। अपितु उन्होंने काव्य-शिक्षा के लिये ही सरलता का मार्ग पकड़ा। हिन्दी-काव्यशास्त्र के आरम्भिक काल में सरल शिक्षा-पद्धति का निर्माण ही श्रेयस्कर था। कविप्रिया में अलंकारों के विवेचन-हित समर्पित ११ प्रभाव इस बात के प्रबल प्रमाण हैं कि केशव वास्तव में अलंकारवादी थे। उनके काल में अलंकार वर्ण-वर्ण्य की सीमा का स्पर्श कर गये थे। चमत्कार का प्रत्येक साधन केशव की दृष्टि में अलंकार बन गया। उनका आग्रह अर्थालंकारों की ओर अधिक रहा, यद्यपि प्रहेलिका, यमक और चित्रालंकार का सविस्तार वर्णन भी केशव ने किया है। यह प्रभाव दण्डी का भी हो सकता है तथा रीतिकालीन काव्यशिक्षा-जिज्ञासुओं की वृत्ति-परिष्कार का हेतु भी। केशव का अर्थालंकारों के प्रति आग्रह था, ऐसा कविप्रिया के अलंकारों के उदाहरणों से विश्वास होता है। इनमें श्लेष, आक्षेप और उपमा उन्हें अधिक प्रिय रहे। यह उनका अलंकार-शास्त्र में योगदान का महत्व है कि वे संस्कृतकाव्यशास्त्र की अलंकार-पद्धति से संस्कृतज्ञ होने के कारण अलग न हो पाए और हिन्दी-काव्यशास्त्र के नवोदित क्षेत्र में पहले सबल-सफल व्यक्तित्व बने, जिन्होंने काव्यशास्त्र का अध्ययन राजा-प्रजा के लिए सुलभ बनाया।

---

१. प्रेम, अधीरज, धीरजहु, संशय, मरण प्रकास।
आशिष, धरम, उपाय कहि, शिक्षा केशवदास ॥१०-६॥
कविप्रिया—केशव, पृष्ठ १६६

आचार्य केशव की अलंकारक्षेत्र में मौलिकता

आचार्य केशव ने सामान्य और विशिष्ट वर्गीकरण नवीन दिया।[१] यहाँ हमें उन नवीन अलंकारों को देखना है, जो केशव ने अपने काल के साहित्यिक वातावरण के अनुकूल कविप्रिया में दे दिए। वर्ण और वर्ण्य अलंकारों के अन्तर्गत रंगसम्बंधी अलंकार-योजना तथा आकृति-गुण से उक्ति ही अलंकार बने। भूमिश्री और राजश्री का वर्णन भी अलंकार के अन्तर्गत आ गया। सामान्यालंकार के चतुर्विध भेद में राजा, मंत्री आदि का वर्णन उस काल के प्रभावशाली राजाश्रय का प्रतीक है। उधर काव्य-शिक्षार्थी काव्य-जगत् में आने के लिए उत्सुक थे। इधर राजा अपना ऐश्वर्य-वर्णन कवियों के मुख से सुनने के लिए उत्सुक। कवि यदि न सुनाए तो वृत्ति खोए और कवि-शिक्षा से नए भाषा-कवि सामने न लाए तो काव्य-जगत् अनगढ़, अपंडितों, ग्राम्यानुप्रास-प्रयोजकों से भर जाए। इसलिए काव्य-शिक्षार्थियों के लिये श्वेत, पीत वर्णों के उपमानों का उचित प्रयोग करने के हेतु और राजा की मानसिक सन्तुष्टि के लिए उसकी भूमि तथा राजवंश के बंधुओं का वर्णन भी होने लगा। प्रवृत्ति खुशामदी थी। इसीलिए राजा के साथ मंत्री का ऐश्वर्य-वर्णन भी संगति पा गया, परन्तु केशव की पंडिताई देखिए कि कितनी सतर्कता से इन सब को सामान्यालंकार में कह दिया। विशिष्टालंकार नहीं माना। मानना भी उन्हें नहीं था। केशव ने इन सब को सामान्यालंकार में रख कर प्रतिभा का परिचय दिया है। दोनों वर्गों को भटकने और असन्तुष्ट होने से बचा लिया। यही क्या केशव का कम योगदान है?

विशिष्ट अलंकारों में केशव ने सर्वप्रथम स्वभाव (स्वभावोक्ति) को लिया है। बात यहीं समझ आ जाती है कि केशव अलंकार की विस्तार-सीमा दूर दूर तक मानते थे। आज के प्रगतिवादी और प्रयोगवादी और तब के राजवैभव-वर्णन-शील भाषा-पंडित स्वभावोक्ति से बच कर कहां जा सके? स्वभावोक्ति में स्व-भावोक्ति की महिमा अलंकार मात्र और काव्य में अलंकार-सर्वत्र तक की पोषक है।

इन विशिष्ट अलंकारों में केशव ने गणना, आशिष, (नये लक्षण में) व्यधिकरणोक्ति (उक्ति-भेद) प्रेम, अमित, युक्त, सुसिद्ध, प्रसिद्ध और विपरीत अलंकार नए दिए हैं।

गणना केशव के हाथों अलंकार बनी। संस्कृतसाहित्य में गणना का प्रयोग चन्द्र, सूर्य, भूमि, वायु, द्वीप आदि से संवतों तथा छंदों के लिए होता था। भक्ति-साहित्य में भी इसी हेतु होता रहा, परन्तु केशव ने उसे अलंकार के अन्तर्गत कर दिया। यह मौलिकता नहीं, केवल विस्तारमूलक प्रवृत्ति है। केशव गणना को क्रम के साथ वर्णन करते हैं। उन्होंने क्रम और गणना का लक्षण साथ-साथ दिया है।

आदि अन्त भरि बरणिये, सो क्रम केशवदास।
गणना गणना सों कहत, जिनके बुद्धि प्रकास ॥११-१॥[२]

---

१. इसकी चर्चा 'अलंकार वर्गीकरण' नामक अध्याय में देखें।
२. कविप्रिया—केशव, पृष्ठ १८२

सम्भवतः केशव ने क्रम से ही (यथासंख्य भी क्रम का नाम है) गणना को अलंकार बनाना सोचा है और १ से १० तक की गिनती के लिए प्रयुक्त होने वाले शब्दों को गिना दिया है। यह भी सामान्य के अन्तर्गत रहता तो ठीक होता। केशव ने अपने युग के प्रचलित कुछ शब्दों को अवश्य इस गणना में जोड़ा है। एकसूचक शब्दों में रविचक्र (सूर्य का पहिया), दो सूचक अंकों में लेखनीडंक, मुखचुकरैंड (दोमुंहासांप), कक्षाशिखा (काकपक्ष, पाटी) की गणना केशव ने अपने काल की साहित्यिक-सामाजिक जीवन की परिस्थितियों से की है। केशव-परिगणित १ से १० तक के गणना वाले शब्दों के अतिरिक्त भी अनेक ऐसे शब्द हैं, जो गणना में आ सकते हैं। आचार्य केशव 'अलंकारशेखर' के कर्त्ता केशवमिश्र और 'काव्यकल्पलता वृत्ति' के लेखक अमर से इन गणनावाचक शब्दों को ग्रहण करने में ऋणी हैं। इन दोनों ने इसे अलंकार नहीं माना, परन्तु आचार्य केशव ने तो इसे अलंकार बना दिया। यह सूझ तो है, परन्तु चमत्कारजनक अलंकार का पद इसे कदाचित् प्राप्त नहीं हो सकता।

आशिष अलंकार नामपरिवर्तन के साथ ही दण्डी से किंचित्मात्र ही साम्य रखता है। दण्डी ने तो आशिष अलंकार वहां माना है, जहाँ कोई अभिलषित वस्तु की प्राप्ति की इच्छा व्यक्त करे या प्रार्थना करे। परन्तु केशव ने तो आशीर्वाद अर्थ लेकर इस अलंकार का क्षेत्र-विस्तार कर दिया। माता, पिता, गुरु, देव और मुनियों द्वारा सुखप्राप्ति के अनन्तर जो शुभ वचन कहे जाते हैं, उन्हें केशव ने आशिष माना है।[1]

प्रेमालंकार केशव-कृत नया अलंकार है। कई विद्वानों ने इसे दण्डी के प्रेयस् अलंकार पर आधारित माना है, परन्तु ऐसा लगता नहीं। उसका कारण केशव के काल की सामाजिक दशा है। दण्डी ने तो प्रियतर आख्यान को ही प्रेयस् माना[2] परन्तु केशव ने मनोभाव के निष्कपट वर्णन को प्रेमालंकार कहा है[3]। इसमें विवेच्य तथ्य हैं—कपट का निपट मिट जाना और पूर्ण क्षेम की उत्पत्ति। केशव के काल में वैलासिक जीवन में शारीरिक प्रेम के व्यापार का बाजार कितना गर्म था? पातुरियों का कहाँ-कहाँ अधिकार था? राजप्रासादों में वासना की कितनी गर्मी थी? नदी

१. (क) आशीर्नामाभिलषिते वस्तुन्याशंसनम् ॥२-३५७॥
काव्यादर्शः—दण्डी, पृष्ठ १५०

(ख) माता, पिता, गुरु, देव, मुनि कहत जु कछु सुख पाय।
ताही सों सब कहत हैं, आशिष कवि कविराय ॥११-२४॥
कविप्रिया—केशव, पृष्ठ १६२

२. प्रेयः प्रियतराख्यानम्······॥२-२७५॥
काव्यादर्शः—दण्डी, पृष्ठ १२४

३. कपट निपट मिटि जाय जहं, उपजै पूर्ण क्षेम।
ताहीं सों सब कहत हैं, केशव उत्तम प्रेम ॥११-२७॥
कविप्रिया—केशव, पृष्ठ १६३

तटों, तड़ागों, झीलों, बापियों के तट नायक-नायिकाओं के प्रेम-क्रीड़ा-स्थल थे। शान्ति की खोज भी वहीं होती थी। इसलिए केशव का अनुभवपूर्ण एवं अनुभूतिशील कवि-हृदय आचार्यत्व के संस्कारों से पूत होकर बोल उठा कि प्रेम का भाव तो पावन होना चाहिए। प्रिय वचन तो उत्तप्त वासना में किए गए वायदों के रूपों में, किसी को कपट से छलने के लिए भी कहे जा सकते हैं। परन्तु वहाँ प्रेम नहीं हो सकता, प्रेम तो वह विश्वासपूर्ण भाव है कि यदि प्रेम की पावनता से पूत होकर कुछ कहा जाय तो उससे कपट हो भी तो भी निपट, मिट जाए। नामनिशान न रहे। इसलिए वहाँ ही प्रेमालंकार होगा और वे कपटमेटी शब्द क्षेमोत्पादी होने चाहिये, नहीं तो प्रेम की पूर्त्ति नहीं। अतः केशव के प्रेमालंकार का आधार दण्डी के प्रेयोऽलंकार को नहीं माना जा सकता। यह कहा जा सकता है कि केशव ने अपने युग की कपटपूर्ण वैलासिक जीवन की दुर्गन्ध से पीड़ित होकर प्रेमभावना को साहित्यिक क्षेत्र में पावन रखने के लिए ही इस अलंकार को उद्भावित किया। प्रेम तो रसवत् के अन्तर्गत भी जा सकता है या भावालंकार के अन्तर्भूत भी हो सकता है, परन्तु केशव का इसे पृथक् अलंकार रखना युग की मांग थी। चाहे प्रवीनराय की शिक्षा का भाव ही क्यों न केशव के मन को झकझोर रहा हो, परन्तु प्रेमालंकार की उपज केशव के मस्तिष्क में तत्कालीन परिस्थिति से ही हुई, ऐसा समझा जा सकता है। उदाहरण भी केशव ने प्रेयस् जैसा नहीं दिया, अपितु प्रेमभावना से परिपूर्ण दिया है। उसमें नायिका का निष्कपट प्रेमभाव वर्णन है।[1] पद्य में 'सखि तू बरजै अरु लोग हंसैं' पंक्ति दर्शनीय है, जो उस काल की सामाजिक स्थिति सम्बंधिनी धारणा की पुष्टि करती है। इसलिए केशव का प्रेमालंकार उस काल की सामाजिक शृंगारात्मक स्थिति की उपज है। इसमें मनोविज्ञान का हल्का स्पर्श भी काव्य-रसिक मानेंगे ही।

उक्ति के भेदों में व्यधिकरणोक्ति भी एक अलंकार है। इसे कई विद्वानों ने असंगति अलंकार माना है, जो भ्रममूलक है। व्यधिकरणोक्ति का लक्षण उल्लास अलंकार से मिलता है। अप्पय्य दीक्षित ने उल्लास अलंकार वहां माना है, जहाँ किसी अन्य वस्तु के गुण-दोष से किसी अन्य वस्तु के गुण-दोष का वर्णन किया जाय। उल्लास का वर्णन चतुर्विध हो सकता है—(१) गुण से गुण, (२) गुण से दोष, (३) दोष से दोष तथा (४) दोष से गुण का। शोभाकरमित्र ने अलंकार-रत्नाकर में एक 'व्यत्यास' अलंकार कहा है। जहाँ दोष का गुण या गुण का दोष हो जाता है। दोष से दोष और गुण से गुण का अन्य में वर्णन से भी यही अलंकार

१. कछु बात सुनै सपनेहु वियोग की होन चहै दुइ टूक हियो।
मिलि खेलिय जा संग बालक ते, कहि तासों अबोलो क्यों जात कियो।
कहिये कह केशव नैननि सों, बिन कार्जाहं पावक पुंज पियो।
सखि तू बरजै अरु लोग हंसै सब, काहे को प्रेम को नेम लियो ॥११-२८॥
कविप्रिया—केशव, पृष्ठ १९३

होता है ।[1] केशव ने व्यधिकरणोक्ति का लक्षण कहा है कि जहाँ और का गुण या दोष औरों में प्रकट किया जाए, वहां व्यधिकरणोक्ति होती है ।[2] केशव ने वास्तव में जयदेव, अप्पय्यदीक्षित या शोभाकर के प्रभाव से इसे लिखा, परन्तु अपनी प्रतिभा के बल पर उल्लास को अलग अलंकार न मान कर उक्तिभेदों में ही गिन दिया। केशव ने भी दोष से दोष, गुण से दोष, गुण से गुण और दोष से गुण के उदाहरण क्रमशः दिये हैं ।[3] व्यधिकरणोक्ति असंगति कदापि नहीं हो सकती । लाला भगवानदीन ने व्यधिकरणोक्ति को असंगति अलंकार वर्तमानकालिक विद्वानों के अनुसार उदाहरणों के बल से माना है ।[4]

उक्ति अलंकार का लक्षण भोज ने भी किया है, परन्तु केशव की उक्ति उससे भिन्न है । बुद्धि के विवेक से अनेक प्रकार के अपार तर्कों की उत्पत्ति होती है । उसे ही केशव के मतानुसार कवि लोग उक्ति कहते हैं और इसे विविध ढंग से वर्णन करते हैं । इसके वक्रोक्ति, अन्योक्ति, व्यधिकरणोक्ति, विशेषोक्ति और सहोक्ति भेद केशव ने किए हैं ।[5] आचार्य भोज ने कहा कि विधि से या निषेध से जहाँ विशिष्ट अर्थ की प्रतीति होती है: उसे उक्ति अलंकार कहा जाता है । भोज ने उक्ति के विध्युक्ति, निषेधोक्ति, अधिकारोक्ति, विकल्पोक्ति, नियमोक्ति और परिसंख्योक्ति नाम से छः भेद किए हैं ।[6] आचार्य केशव का उक्ति नामक अर्थालंकार भोज के शब्दालंकारों में परिगणित उक्ति से सर्वथा भिन्न है । आचार्य केशव ने वास्तव में उक्ति मात्र का लक्षण किया है । तदनन्तर भेदों में पाँच उक्तियाँ अलंकार रूप में कहीं हैं । इसलिए व्यधिकरणोक्ति के प्रसंग में इस उक्तिसम्बन्धिनी चर्चा के अनन्तर निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि केशव ने यहाँ उल्लास अलंकार का नाम ही व्यधिकरणोक्ति रख कर अपने उदाहरणों से उसे पुष्ट किया है । आचार्य रसरूप ने भी उसे उल्लासालंकार ही माना है ।[7]

---

१. (क) एकस्य गुणदोषाभ्यामुल्लासोऽन्यस्य तौ यदि ॥१३३॥
कुवलयानंदः—अप्पय्यदीक्षित, पृष्ठ २२२

(ख) दोषगुणयोरन्यथात्वं व्यत्यासः ॥६६॥
अलंकाररत्नाकरः—शोभाकरमित्र, पृष्ठ ११६

२. औरहि में कीजै प्रगट औरहि को गुण-दोष।
उक्ति कहै व्यधिकरण की सुनत होत संतोष ॥१२-८॥
कविप्रिया—केशव, पृष्ठ २४३

३. कविप्रिया—केशव, पद्य ६-१३, पृष्ठ २४३-२४५

४. प्रियाप्रकाश—लाला भगवान्दीन (कविप्रिया की टीका), पृष्ठ २४५

५. बुद्धि विवेक अनेक विधि, उपजत तर्क अपार।
ताको कविकुल उक्ति कहि, वर्णत विविध प्रकार ॥१२-१॥
कविप्रिया—केशव, पृष्ठ २४०

६. सरस्वतीकण्ठाभरणम्—भोज, (२-६०-६१) पृष्ठ १७०

७. उल्लास के भेद ते मिलत है । जहाँ गुण ते दोष होइ ।
तुलसीभूषण—रसरूप, पृष्ठ १०

अमितालंकार केशव ने नवीन दिया है। यह अलंकार वहाँ होता है, जहां साधक की अपेक्षा साधन को ही कार्यसिद्धि का श्रेय प्राप्त हो। अर्थात् कर्त्ता का श्रेय कारण ही जहाँ प्राप्त कर ले, वहाँ अमितालंकार होता है।[1] यह अलंकार केशव ने स्वयं ही उद्भावित किया है। इसके दो उदाहरण केशव ने दिये हैं, एक विलासभावना का, दूसरा राजनीतिक क्षेत्र का है। इससे सिद्ध है कि केशव के काल में साधक की अपेक्षा साधन का ही फल-प्राप्ति कर लेना जीवन में व्याप्त था। तब का जीवन वैयक्तिक विलास और राजनीतिक संघर्ष से ओतप्रोत था। इसलिए केशव ने दोनों क्षेत्रों में अलंकार की चत्मकारजनकता सिद्ध की है। उदाहरण पठनीय हैं—

(क) विलासात्मक जीवन-सम्बन्धी

आनन सीकर सीक हिये कत, तो हित ते अति आतुर आई।
फीको भयो सुख ही मुख राग क्यों ? तेरे पिया बहु बार बकाई॥
प्रीतम को पट क्यों पलट्यो ? अलि केवल तेरी प्रतीत को लाई।
केशव नीकेहि नायक सो रमि, नायिका बातन ही बहराई॥१२-२७॥

(ख) राजनैतिक जीवन-सम्बन्धी

को गणै कर्ण जगन्मणि से नृप साथ सबै दल राजन ही को।
जाने को खान किते सुलतान सु आयौ शहाबुदी शाह दिली को।
ओरछे आनि जुर्‌यो कहि केशव शाह मधुकर सों शंक जी को।
दौरि के दूलहराम सुजीति करयौ अपने सिर कीरति टीको॥१२-२८॥[2]

दोनों उदाहरणों से अमितालंकार के क्षेत्र का ज्ञान सहज में हो जाता है।

युक्त अलंकार की परिभाषा में केशव ने कहा है कि जहाँ किसी के रूप और बल का यथावत् वर्णन किया जाता है, उसे विविध स्वरूपी वर्णन होने के कारण कविगण युक्त कहते हैं। कुछ आलोचकों ने इसका लक्षण स्वभाव (स्वभावोक्ति) के समान माना है। दोनों लक्षण निम्नलिखित हैं—

स्वभावोक्ति—जाको जैसो रूप गुण, कहिये, ताही साज।
तासो जानि स्वभाव सब, कहि वरणत कविराज॥६-८॥

युक्त—जैसो जा को रूप बल, कहिये ताही रूप।
ताको कविकुल युक्त कहि, बरणत विविध सरूप॥१२-३१॥[3]

हिन्दी-साहित्य के आलोचकों ने लाला भगवान्‌दीन की युक्त अलंकार

---

१. जहाँ साधनै भोगई, साधक की शुभ सिद्धि।
अमित नाम तासों कहत, जाकी अमित प्रसिद्धि॥१२-२६॥
कविप्रिया—केशव, पृष्ठ २५२

२. कविप्रिया—केशव, पृष्ठ २५३

३. कविप्रिया—केशव, पृष्ठ १४६, २५४

सम्बन्धिनी टिप्पणी को पढ़ कर[1] यह धारणा बना ली है कि केशव ने युक्त और स्वभाव (स्वभावोक्ति) में कोई अन्तर नहीं रखा। इस प्रकार का विवेचन भ्रांति-जनक है और भ्रांत्या उत्पादित है।

युक्त के लक्षण की टिप्पणी में भी लाला भगवान्दीन के शब्द विवेच्य हैं कि 'इसमें चमत्कार अधिक जंचता है।' दो प्रश्न यहाँ उत्पन्न होते हैं : पहला यह कि केशव ने दो बार स्वभाव का वर्णन क्यों किया, दूसरा यह कि क्या उन्हें पहला लक्षण अस्पष्ट लगा, जो वे पुनरुक्ति दोष के भागी बने। निश्चय से केशवसरीखे प्रतिभा-शाली व्यक्तित्व ने ऐसी भूल नहीं की। युक्तालंकार में औचित्य की मात्रा अपना भार डाल रही है। रूप और बल के दो पलड़े बने खड़े हैं। उनका वर्णन भी अनुरूप होना चाहिये और इस औचित्यपूर्ण बल तथा रूप का चित्रण विविध प्रकार से हो सकता है। इसमें ही कविगण का मान है। परन्तु स्वभावोक्ति में रूप के साथ बल की चर्चा नहीं, गुणों की है। उस स्वभावोक्ति का चमत्कार उसके अनुरूप यथावत् वर्णन में है। उसके वर्णन में विविधता कहीं नहीं। यदि बल को शूरतादिगत गुण मान भी लिया जाये, तब भी युक्त अलंकार की परिभाषा में "विविध सरूप" पद विवेच्य है, जो स्वभावगत एकरूपता से उसे पृथक् कर देता है। इसलिए बल और गुण का रूप के साथ पृथक्-पृथक् चित्रण ही दोनों अलंकारों का अन्तर स्पष्ट कर देता है। यह बात दोनों के उदाहरणों से भी स्पष्ट हो जाती है।

(क) युक्त—मदन बदन लेत लाज को सदन देखि।
यदपि जगत जीवन मोहिवे को है छमी।
कोटि-कोटि चन्द्रमानि वारि ! बारि बारि डारौ।
जा के काज ब्रजराज आज लौं हैं संयमी॥
केशोदास सविलास तेरे मुख की सुवास।
सुनियत आरसही सारसनि लै रमी।
मित्र देव, छिति दुर्ग, दंड दल, कोष, कुल।
बल जाके ताके कहौ कौन बात की कमी।३२-१२।

(ख) स्वभाव (स्वभावोक्ति)
पीरी-पीरी पाट की पिछौरी कटि केशोदास।
पीरी-पीरी पागँ पग पीरिये पनहिया।
बड़े बड़े मोतिन की माला बड़े बड़े नैन,
भृकुटी कुटिल नान्हीं नान्हीं बधनहियां।
बोलनि, चलनि, मृदुहंसनि चितौनि चारु,
देखत ही बने पै न कहन बनै हियां।

---

१. (नोट) हाल के आचार्य इसे 'स्वभावोक्ति' चाहें तो कह लें पर इसमें चमत्कार अधिक जंचता है।
प्रियाप्रकाश—लाला भगवान्दीन, पृष्ठ २५३

सरजू के तीर तीर खेलैं चारौ रघुवीर,
हाथ द्वै द्वै तीर राती रातियै धनुहियाँ ।६६।[1]

युक्त अलंकार के उदाहरण में 'बल जा के ताके कहौ कौन बात की कमी' पद्यांश अपने बल पर अलंकार की चमत्कार-सिद्धि कर रहा है और स्वभाव (स्वभावोक्ति) में सीधा वर्णन है । रूप और गुण का प्राधान्य है, बल की वहां चर्चा नहीं । इसलिए केशव ने दोनों अलंकारों को भिन्न-भिन्न रखा है । लक्षण भी भिन्न हैं। युक्त केशव का मौलिक, नव-उद्भावित अलंकार है, जिसका सम्बन्ध उनके युग की वैलासिक-सामाजिक भावना से है, जिसमें राजशक्ति के बल की गंध भी आती है ।

केशव का अन्य नवीन अलंकार सुसिद्ध है । संस्कृतकाव्यशास्त्र में किसी आचार्य ने इसका लक्षण नहीं दिया । केशव की परिभाषा में कहा गया है कि सुसिद्धालंकार वहां होता है, जहां साधते-साधते तो और लोग मर जाते हैं, परन्तु उसकी सिद्धि (सफलता) का भोग कोई और करते हैं । (उसे बुद्धि से समृद्ध कवि लोग सुसिद्ध कहते हैं) लक्षण में शोषण और शोषक की प्रवृत्ति का स्पष्ट परिद्योतन है । इसी शोषणगत प्रवृत्ति के भाव की अभिव्यक्ति के लिए सुसिद्ध अलंकार केशव ने कहा है । 'सिद्ध' भी नहीं, सु उपसर्ग सहित सिद्ध (सुसिद्ध) कहने का तात्पर्य भी इसी ओर इंगित करता है कि जहां शोषित वर्ग कार्य को अच्छी तरह ठीक कर दे, तब शोषक या भोक्ता उसे भोगेगा । निश्चय ही धनाढ्य जनों, राजाओं, सामन्तों, रजवाड़ों तथा जमींदारी मनोवृत्ति के व्यक्तित्वों के जीवन की झांकी देने वाला यह अलंकार है । उदाहरण भी इसी बात की पुष्टि करता है—

(क) मूलन सों फल फूल सबै दल जैसी कछू रस रीति चली जू ।
भाजन भोजन भूषण भामिनि भौन भरी भव भांति भली जू ।।
डासन आसन बास सुवासन वाहन यान विमान थली जू ।
केशव जैसे महाजन लोग मरें सचि, भोगत भोग बली जू ।।१३-५।।

अंतिम पंक्ति सुसिद्धालंकार का प्राण है । महाजन लोग (धनीजन) जनता से शोषण द्वारा इन सब वस्तुओं को संचित करते हैं और स्वयं तो वे शोषक संचित करते ही हैं, परन्तु उन पदार्थों को उनसे भी बलवान शोषक छीन झपट कर भोगता है । शोषण की कितनी गहरी नींव पर भी केशव की दृष्टि पहुंच सकी थी, यह यहां द्रष्टव्य है । उसी प्रवृत्ति का दर्पण यह अलंकार है । दूसरा उदाहरण भी साहित्यिक-(लेखक) वर्ग के लिए प्रयुक्त है—

(ख) शरधा संचि संचि मरे शहर मधु पान करत मुख ।
खनि खनि मरत गंवार कूप जल पथिक पियत सुख ।।
बागवान बहि मरत फूल बांधत उदार नर ।
पचि पचि मरत सुआर भूप भोजननि करत घर ।।

---

१. (क) कविप्रिया—केशव, पृष्ठ २५५
(ख) कविप्रिया—केशव, पृष्ठ १४६

भूषण सोनार गढ़ि गढ़ि मरैं भामिनि भूषित करत तन।
कहि केशव लेखक लिखि मरहिं, पंडित पढ़ैं पुरान गन ॥१२-६॥[1]

इस पद की अंतिम पंक्ति पठनीय है कि लेखक तो लिख लिख कर मर गए उन्हें क्या मिला, परन्तु पंडित लोगों ने पुराणों को गा गाकर, कथा बांच कर, जनता को सुनाकर कितना आर्थिक लाभ उठाया। वास्तविक लेखक को क्या मिला, केशव का संकेत इस कथन द्वारा अपने काल के लेखक की दशा की ओर भी है कि शोषण की प्रवृत्ति इस क्षेत्र में भी थी कि लिखता कोई है और लाभ कोई उठाता है। ऐसी परकृतकार्य से लाभ उठाने वालों की शोषण-प्रवृत्ति का परिद्योतक यह सुसिद्ध अलंकार है।

प्रसिद्धालंकार की भी केशव ने मौलिक उद्‌भावना की है। इस अलंकार का लक्षण है कि जहां एक के साधन साधने का फल संसार के अनेक लोग भोगते हों। परिश्रम एक करे, परन्तु उसका फल अनेक को प्राप्त हो। लक्षण से इस अलंकार का मूल मनोविज्ञान लगता है। सामान्यतया इस अलंकार का लक्षण व्याप्तिपरक है। एक व्यक्ति की बुराई से घर भर के लोग बदनाम हो जाएं तो भी प्रसिद्ध अलंकार बन जाएगा। इसी तरह सामाजिक जीवन की पृष्ठभूमि भी इसके जन्म में कार्यरत है। लोक में एक व्यक्ति के अच्छे या बुरे कर्म का प्रभाव समाज पर पड़ते देखा जाता है। उदाहरण ऐतिहासिक घटना से सम्बद्ध है, जो यह सिद्ध करता है कि केशव ने प्रसिद्ध घटना के आधार पर इसका नाम रखा है—

माता के मोह पिता परितोषन केवल राम भरे रिस भारे।
औगुन एक ही अर्जुन को छिति मंडल के सब छत्रिय मारे।
देवपुरी कहं औधपुरी जन केशवदास बड़े अरु वारे।
सूकर स्वान समेत सबै हरिचन्द के सत्य सदेह सिधारे ॥१३-८॥[2]

पद में सहस्रार्जुन के दोष से अनेक क्षत्रियों का मारा जाना और हरिश्चन्द्र के पुण्य (सत्य के पुण्य) से शूकर-श्वान की मुक्ति का वर्णन है। यद्यपि यह शैली मात्र है और उदाहरण भी दोनों ऐतिहासिक घटनाओं से सम्बद्ध हैं। राजनीतिक क्षेत्र के दोनों ही व्यक्तित्व हैं तथापि प्रतिकार और सत्यार्जित पुण्य से उद्धार का अन्य जनों पर प्रभाव सामाजिक भावना है। उनके काल में भी एक व्यक्तित्व के साधन का प्रभाव अनेक पर पड़ता होगा, उन्होंने अपने काल का उदाहरण नहीं दिया। उन्हें इतिहास की घटनाएं इस अलंकार के उदाहरण के लिए स्मरण हो आईं। केशव का इस भाव की अभिव्यक्ति के लिए यह नाम प्रसिद्ध इसलिए भी दिया गया लगता है कि ऐसी ही घटनाओं, समस्याओं या जन-जीवन-प्रभावी परिस्थितियों के उल्लेख के लिए यह अलंकार प्रयुक्त होता है, जो प्रसिद्ध हों, जन-प्रिय हों, यह सुसिद्ध से विकसित अलंकार है। उससे अलग होते हुए भी मूलाधार इसका सुसिद्ध ही है

१. कविप्रिया—केशव, पृष्ठ २५७-२५८
२. कविप्रिया—केशव, पृष्ठ २५८

सुसिद्ध में शोषण है और प्रसिद्ध में प्रतिकार और उदारता, त्याग तथा परहित की भावना निहित है। अतः यह एक सामाजिक-मनोवैज्ञानिक आधार का अलंकार है।

विपरीतालंकार केशव ने वहां माना है, जहां कार्य का साधक साधन ही बाधक बन जाए। इसके दोनों उदाहरण क्रमशः सामाजिक वासनामय स्थिति और राजनीति से सम्बद्ध हैं। इस अलंकार में साधक का साधन जब उसी कार्य को नष्ट कर दे, तभी चमत्कार आता है। यह भी शैली मात्र है। अलंकार नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा चमत्कार नहीं उपजता, जो सहृदय को आकृष्ट कर सके। उदाहरण पठनीय हैं—

(क) नाह ते नाहर, तिय जेवरी ते सांप करि,
घालैं घर वीथिका बसावतीं बननि की।
शिवहि शिवाहू भेद पारति जिनकी माया,
मायाहू न जानै छाया छलनि तिननि की॥
राधा जू सों कहा कहों ऐसिन की मानैं सीख,
सांपिनि सहित विष रहित फननि की।
क्यों न परे बीच, बीच आंगियौ न सहि सकें,
बीच परी अंगना अनेक आंगननि की॥१३-१०॥

(ख) साथ न सहाय कोऊ, हाथ न हथ्यार, रघु-
नाथ जू के यज्ञ को तुरंग गहि राख्यौ ई।
काछन कछोटी सिर छोटे छोटे काक पक्ष,
पांच ही बरस के सु युद्ध अभिलाख्यो ई॥
नील नल अंगद सहित जामवन्त हनु-
मंत, से अनन्त जिन नीर निधि नाख्यौ ई॥
केशोदास दीप दीप भूपनि स्यों रघुकुल,
कुशलव जीति कै विजय रस चाख्यौ ई॥१३-११॥[1]

उदाहरण 'क' में जिस दूती द्वारा मिलन-कार्य सम्पादन होता है, वही अब अनबन का कारण बन गई है। तथा 'ख' उदाहरण में लव-कुश, श्री रामचन्द्र के पुत्र होने के कारण उनकी (राजचन्द्र जी की) विजय में सहायक होने के स्थान पर बाधक बन गए हैं। दूसरे उदाहरण में विपरीत अलंकार मानना उचित नहीं, क्योंकि लव-कुश को तो अपने पिता रामचन्द्र जी के सम्बन्ध में तब ज्ञान ही न था, तभी तो उन्होंने घोड़ा पकड़ बांधा, यह उदाहरण उचित नहीं, पहला उदाहरण उचित है।

इन सर्वथा नवीन अलंकारों के अतिरिक्त केशव ने रूपक और दीपक (आक्षेप की चर्चा पहले की जा चुकी है) के नए भेद भी दिये हैं। अद्भुत रूपक, विरुद्ध रूपक

१. कविप्रिया—केशव, पृष्ठ २५९, २६०

तथा रूपकरूपक नए रूपक-भेद हैं,[1] दीपक का मणिदीपक भी नया भेद है। इस दीपक के चमत्कार के लिए केशव ने वर्षा, शरद, वसन्त, शशि, शुभता, शोभ, सुगंध, प्रेम, पवन, भूषण और भवन (मानसिक भाव) को उचित माना है। भवन पद में श्लेष मान लिया जाये तो भवन में जैसे दीपक, इसी भांति इनमें दीपकालंकार चमत्कारजनक है।[2] रसवत् आदि के वर्णनान्तर्गत केशव ने सभी रसों को रख दिया है, जिससे उनका अलंकार चमत्कार के प्रति आग्रह प्रकट होता है। भामह, दण्डी की भांति रसों को भी उन्होंने अलंकारों के क्षेत्र में मान लिया[3], इस में तथ्रविसी नवीनता की तो झलक कदाचित् नहीं।

आचार्य केशव ने शब्दालंकारों में अनुप्रास और पुनरुक्तवदाभास को छोड़ दिया है। अनुप्रास को न रखने का कारण ज्ञात नहीं होता। अनुप्रास और यमक का बहुशः प्रयोग रीतिकाल के आलंकारिकों ने किया है। केशव की वैयक्तिक इच्छा ही इसमें प्रधान मानी जा सकती है।

अलंकारों के सम्बन्ध में केशव के दृष्टिकोण को समझने के लिए एक बात और भी कविप्रिया में मिलती है। उन्होंने विशिष्टालंकारों की गणना के अन्त में कहा कि हे मित्र! (कविगण) इतने भूषणों (अलंकारों) से भाषा (भाषा-काव्य) को भूषित कीजिए। संकेत स्पष्टतः यह है कि संस्कृत के शताधिक प्रधान अलंकारों में से ३७ अलंकार ही केशव ने भाषा-काव्य के लिए उपयोगी माने। इसलिए आचार्य केशव ने सामान्य के अतिरिक्त उन्हीं विशिष्ट अलंकारों का लक्षण-उदाहरण प्रस्तुत किया, जो उन्हें अपने काल के साहित्यक्षेत्र के लिए उपयोगी लगे।[4]

चिंतामणि : कविकुल-कल्प-तरु (रचनाकाल सं० १७०७)

रीतिकाल के प्रथम आचार्य के रूप में चिन्तामणि का नाम बहुमान्य है।

---

१. ताके भेद अनेक मैं, तीने कहौ सुभाव।
   अद्भुत एक विरुद्ध अरु, रूपक रूपक नांव ॥१३-१४॥
   कविप्रिया—केशव, पृष्ठ २६१

२. बरषा, शरद, बसन्त, ससि शुभता, शोभ, सुगन्धु।
   प्रेम, पवन, भूषण, भवन, दीपक, दीपक बन्धु ॥१३-२३॥
   इनमें एकहु बरनिये, कौनहु बुद्धि विलास।
   तासों मणिदीपक सदा, कहियत केशवदास ॥१३-२४॥
   कविप्रिया—केशव, पृष्ठ २६४-२६५

३. रसमय होय सु जानिये, रसवत केशवदास।
   नवरस को संक्षेप ही, समुझौ करत प्रकाश ॥११-५३॥
   कविप्रिया—केशव, पृष्ठ २१८

४. अलंकार परवृत कहौ, उपमा जमक सुचित्र।
   भाषा इतने भूषणनि, भूषित कीजै मित्र ॥९-७॥
   कविप्रिया—केशव पृष्ठ १४८

इस आचार्य ने काव्यविवेक, कविकुल-कल्पतरु, काव्यप्रकाश, रसमंजरी तथा पिंगल नामक काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों की रचना की है।

कविकुल-कल्पतरु ग्रन्थ के आठ प्रकरण हैं, जिनमें दूसरे और तीसरे प्रकरणों में शब्दालंकार तथा अर्थालंकारों का क्रमशः वर्णन है। अलंकारों के लक्षण दोहों एवं सोरठों में तथा उदाहरण दोहों, सोरठों, कवित्तों तथा सवैयों में दिये गये हैं।

इन दोनों प्रकरणों में आचार्य चिन्तामणि ने मम्मट तथा (मम्मट से प्रभावित) विद्यानाथ से ऋणी होकर अलंकार-निरूपण किया है। विश्वनाथ तथा अप्पय्य दीक्षित से अत्यल्प सहायता ली है। अलंकारों का क्रम प्रायशः विद्यानाथ का ही है। प्रभाव-ग्रहण के सम्बंध में चिन्तामणि ने उत्प्रेक्षा तथा विरोधादि के प्रसंग में स्पष्टतः विद्यानाथ तथा मम्मट का नामोल्लेख किया है। इनके अतिरिक्त पर्यायोक्ति, अतिशयोक्ति, समासोक्ति और परिसंख्यालंकार के प्रसंग में भी क्रमशः विद्यानाथ तथा मम्मट का नामोल्लेख है। कुवलयानंद ग्रन्थ का उल्लेख उत्प्रेक्षालंकार के प्रसंग में किया गया है। आचार्य विश्वनाथ का नामोल्लेख नहीं है, परन्तु उपमा-प्रसंग में श्रौती, आर्थी तथा मालोपमा में उन्हीं का प्रभाव स्पष्ट झलकता है।[1]

किसी नए अलंकार की उद्भावना आचार्य चिन्तामणि ने नहीं की। इन्होंने प्रौढ़ोक्ति को अतिशयोक्ति माना है। इसका विवेचन लक्षण-परीक्षण वाले अध्याय में किया गया है। इन्होंने कहीं-कहीं अनूदित उदाहरण भी रखे हैं, प्रायशः अपने पदों के उदाहरण दिये हैं।[2]

आचार्य चिन्तामणि का कार्य सर्वांगनिरूपक आचार्य के रूप में रीतिकाल के भाषा-काव्यशास्त्र में अपने काल में सर्वप्रथम था। इसलिए अनुवाद-परम्परा को और बल मिल गया।

जसवंतसिंह : भाषा-भूषण (रचना काल सं० १६९५ के लगभग)

महाराज जसवन्तसिंह ने 'भाषाभूषण' ग्रन्थ की रचना की। इस ग्रन्थ में अलंकारों के अतिरिक्त नायक-नायिका भेद तथा हाव-भाव-वर्णन भी है। 'भाषाभूषण' का महत्व अलंकारग्रन्थों में इसलिए अधिक है, क्योंकि इससे अलंकार का निर्भ्रान्त बोध होता है। इसमें संस्कृत-पाठ की पूर्णावगति को भी दृष्टि से ओझल नहीं किया गया।[3] यों तो शब्दालंकार अक्षरों के संयोग के कारण बहुत हैं, परन्तु भाषा-भूषण

१. (क) यों उत्प्रेक्षा में कियो विद्यानाथ प्रकार।३-६७।
(ख) यों विरोध दश भांति सो मम्मट गए बखानि।३-१३६।
(ग) सिद्धासिद्धास्पद बहुरि द्विविध और निरधारि।
सुभग कुवलयानंद मैं यह क्रम कियो विचारि॥३-६८॥
कविकुल-कल्पतरु—चिन्तामणि, पृष्ठ ४६, ६१

२. कविकुल-कल्पतरु—(अतद्गुण का उदाहरण) चिन्तामणि, पृष्ठ ६०

३. अलंकार सब्दार्थ के, कहै एक सौ आठ।
किए प्रगट भाषा-विषै, देखि संस्कृत पाठ॥२०८॥
भाषाभूषण—जसवन्तसिंह, पृष्ठ १०६

के कर्त्ता ने उन्हें ही लिया है, जो भाषा-काव्य में प्रयोग-योग्य हैं और ये प्रयोग-योग्य अलंकार षड्विध अनुप्रास ही हैं, अन्य नहीं।[१] इससे जसवन्तसिंह का स्पष्ट दृष्टिकोण प्रतीत होता है कि वे अपने युग के काव्य में अनुप्रास के प्रयोग का महत्व मानते हैं और इसे भाषा-काव्य के लिए उपयोगी समझते हैं। आचार्य केशव के काल से अब तक यह अन्तर आ गया कि अनुप्रास रीतिकालीन काव्य-शास्त्र में प्रधानता पाने लगा। केशव ने तो यमक की चर्चा प्रधानतया की थी, पर अब अनुप्रास की तूती बोलने लगी।

महाराज जसवन्तसिंह ने 'कुवलयानंद' ग्रंथ के अलंकारों के लक्षणोदाहरण का अनुवाद एक ही पद में किया। इन्होंने भेदों के लक्षण भी एक साथ देकर तदनन्तर उनके उदाहरण दिए हैं। कहीं-कहीं स्वरचित उदाहरण भी इन्होंने प्रस्तुत किये हैं।

महाराज जसवन्तसिंह ने अप्पय्य दीक्षित, मम्मट और विश्वनाथ के ग्रन्थों का प्रभाव ग्रहण किया। 'भाषाभूषण' की एक प्रति में सामान्य और विशिष्ट भेद का वर्णन है, जो केशव के प्रभाव का सूचक है। केशव की भांति इन्होंने भी सामान्य और विशिष्ट की चर्चा की, परन्तु ग्रन्थ का आकार बढ़ने के भय से संक्षेपतः विशिष्टालंकारों का ही वर्णन किया है।[२]

जसवन्तसिंह की अलंकार-सम्बन्धिनी बलवती धारणा ग्रन्थ के नाम से भी स्पष्ट झलकती है। ग्रन्थ के नामकरण-सम्बन्धी कारण की चर्चा में उन्होंने कहा है कि अलंकारों के संयोग से ही इसका नाम 'भाषाभूषण' है।[३] जसवन्तसिंह ने ध्वनि एवं व्यंग्यपरक प्रौढ़ोक्ति, विवृतोक्ति अलंकार तो दिये हैं, परन्तु रस-भावादि से सम्बन्धित अलंकारों की चर्चा नहीं की। इससे लगता है कि रसवादी-ध्वनिवादी परम्परा पुनः ऊपर उठ रही थी और अलंकारवादी आचार्य इनको अलंकारों में न

---

१. सब्दालंकृत बहुत हैं, अच्छर के संजोग।
   अनुप्रास षट्बिध कहे, जे हैं भाषा जोग ॥२०९॥
   भाषाभूषण—जसवन्तसिंह, पृष्ठ १०६

२. अलंकार सामान्य अरु, कहै विसिष्ट प्रकार।
   सब्द अर्थ तें जानिए, दोउन के व्यवहार॥
   ग्रन्थ बढ़ै सामान्य तें, रागभूमि परसंग।
   तातें कछु संक्षेप में, कहि विसिष्ट के अंग॥
   भाषाभूषण—(आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र सम्पादित) पृष्ठ १६
   आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने एक अन्य प्रति का उल्लेख पृष्ठ १६ पर किया है।

३. लच्छन तिय अरु पुरुष के, हाव भाव, रस-धाम।
   अलंकार संजोग तें, भाषाभूषण नाम ॥२१॥
   भाषाभूषण—जसवन्तसिंह, पृष्ठ १०७

गिनना ही उचित समझते थे केशव के बाद रसवत् आदि के प्रति अलंकार-सम्बन्धिनी धारणा में शिथिलता आने लगी। उसका संकेत भाषाभूषण में मिलता है। प्रमाणालंकारों तथा उभयालंकारों की चर्चा भी इस ग्रन्थ में नहीं है।

जसवन्तसिंह ने पहले अर्थालंकार तथा तदनन्तर शब्दालंकार (वह भी भेद-सहित अनुप्रास ही) का वर्णन किया है। केशव के विशिष्टालंकारों का क्रम भी यही था। जसवन्तसिंह ने यमक को अनुप्रास के अंतर्गत रख कर उसका नाम ही यमकानुप्रास रख दिया, जो कि भाषा-काव्यशास्त्रीय क्षेत्र में निजी विचार की महत्वपूर्ण संस्थापना है। केशव द्वारा महत्व प्राप्त स्वभावोक्ति की अपेक्षा जसवन्तसिंह ने अप्पय्य दीक्षित की तरह उपमा को महत्व दिया।

जसवन्तसिंह ने कारणमाला का नाम गुम्फ और उत्तर का नाम गूढ़ोत्तर परिवर्तित कर दिया है। शेष नाम (उपमा से हेतु तक) 'कुवलयानंद' की भांति रखे हैं। केवल गूढ़ोत्तर और सूक्ष्मालंकार के मध्य चित्रालंकार दे दिया है। 'कुवलयानंद' में शब्दालंकार नहीं हैं, परन्तु यहां अनुप्रास नामक शब्दालंकार छः भेदों सहित वर्णित है। यही दोनों में अन्तर है। इससे यह संकेत भी मिलता है कि जसवन्तसिंह शब्दालंकारों में अनुप्रास को कविता के लिये सर्वाधिक उपयोगी मानते थे।

'भाषाभूषण' पर परवर्ती काल में टीकाएँ भी बहुत लिखी गईं, जिनमें वंशीधर, रणधीरसिंह, प्रतापसाहि, गुलाब कवि और हरिचरणदास की टीकाएं ख्यात हैं। इनमें भी कई टीकाग्रन्थ मूल के समान ही सम्मान-भाजन बन गये हैं। वंशीधर का 'तिलक अलंकार-रत्नाकर' इसी भांति का महत्वप्राप्त ग्रन्थ है।

किसी नये अलंकार की उद्भावना जसवन्तसिंह ने नहीं की। यमकानुप्रास नवीनता की अपेक्षा अन्तर्भाव की प्रवृत्ति का परिद्योतक है। 'भाषाभूषण' का महत्व अपनी विषय-स्वच्छता, शैली और अनुवाद की बह्वंशी सफलता है।

मतिराम : ललितललाम (रचनाकाल सं० १७१६-१७४५ के बीच)

मतिराम के नाम से अलंकारक्षेत्र में 'ललितललाम' और 'अलंकारपंचाशिका' दो ग्रन्थ प्राप्त हैं, जिनमें "अलंकारपंचाशिका" को इन आचार्य मतिराम की अपेक्षा किसी सामान्य अप्रौढ़ कवि की रचना माना जाता है। इस सम्बन्ध में दो मत हैं। डॉ० नगेन्द्र द्वारा सम्पादित 'हिन्दी-साहित्य का बृहद् इतिहास' (षष्ठ भाग) में अलंकारपंचाशिका को किसी नगण्य मतिराम की बालरचना माना गया है।[1] डॉ० महेन्द्रकुमार ने अपने शोधप्रबंध में इसे प्रसिद्ध मतिराम की कृति माना है।[2] 'अलंकारपंचाशिका' लक्षण, उदाहरण तथा काव्य-सौष्ठव की दृष्टि से प्रसिद्ध कवि मतिराम की कृति नहीं लगती, किसी अन्य समान नामा की है, परन्तु समसामयिक होने से इन दोनों कृतियों का अलंकार-सम्बन्धी विवेचन क्रमशः यहां दिया जा रहा है।

१. हिन्दी-साहित्य का बृहद् इतिहास (षष्ठ भाग)—लेखक-सम्पादक डॉ० नगेन्द्र, पृष्ठ ४५१

२. मतिराम : कवि और आचार्य—डॉ० महेन्द्रकुमार, पृष्ठ ५८

'ललित ललाम' से पहले 'कविप्रिया', 'कविकुल-कल्पतरु' और 'भाषाभूषण' जैसे ग्रन्थ विद्यमान थे। इसलिये मतिराम ने उस परम्परा का निर्वाह और आश्रय-दाता को सन्तुष्ट करने के लिये 'ललितललाम' लिखा। ग्रंथ-निर्माण में 'भाषाभूषण' और 'कविकुल-कल्पतरु' का मतिराम का ध्यान तथा अध्ययन था। इसीलिये 'कुवलयानंद' का क्रम इस ग्रंथ में भी दृष्टिगत होता है। मतिराम ने उपमा को सर्व-प्रथम रखा है। यह अप्पय्य दीक्षित या जसवन्तसिंह की अनुकृति है, परन्तु मतिराम ने विवेचन द्वारा किसी विशेष अलंकार के प्रति अपना आग्रह व्यक्त नहीं किया। परम्परा-निर्वाह ही इनका प्रधान लक्ष्य रहा।

ग्रंथ में ३६० छन्दों में अलंकार-वर्णन है। रसवत्, भाव तथा प्रमाण-सम्बन्धी अलंकारों के साथ ही शब्दालंकारों का विवेचन भी ललितललाम में नहीं है। ३६० छन्दों के १४६ दोहे अलंकार-लक्षण-परक हैं।

कैतवापह्नुति का 'छलापह्नुति', प्रतीयमाना उत्प्रेक्षा का 'गुप्तोत्प्रेक्षा', अन्योऽन्य का'परस्पर' तथा कारणमाला का 'हेतुमाला' नाम मतिराम ने रखा है। इस नाम-परिवर्तन में मौलिकता नहीं है। 'विशेषक' के स्थान पर 'विशेष' लिखा है और 'विशेष' अलग अलंकार भी दिया है। यह कविता-दोष के कारण हो गया है। दोनों अलंकारों के लक्षणों में अन्तर है। चित्रालंकार के अन्तर्गत 'कुवलयानन्द' के उत्तरालंकार के दूसरे भेद को'भाषाभूषण' की भाँति ही रखा गया है।

मतिराम ने किसी नए अलंकार की उद्भावना नहीं की, अपितु परम्परागत अलंकारों के लक्षण-उदाहरण दिए हैं। उदाहरणों का वैशिष्ट्य अवश्य है। उदाहरणों में महाराज भावसिंह की प्रशंसा के साथ ही शृंगार, भक्ति तथा नीति के भी पद्य हैं। 'रसराज' के ३३ पद भी ललितललाम में उदाहरणों के लिए प्रयुक्त किए हैं। उदाहरणों में अंतिम पंक्ति को ही अलंकार-हेतु प्रयुक्त किया है। पद का शेष भाग तो आश्रयदाता की प्रशंसा या अन्य वस्तुवर्णना के लिए प्रयुक्त है।

अलंकारों के लक्षणों की छाया, अनुवाद आदि की संस्कृत से ग्रहण की गई पद्धति का विवेचन तो अन्यत्र होगा, परन्तु यहाँ मतिराम की एक भ्राँति की विवेचना आवश्यक जान पड़ती है। अनेक समालोचकों की दृष्टि में मतिराम ने अप्रस्तुत-प्रशंसा अलंकार को समझा नहीं। उनके अनुसार वे प्रशंसा का प्रचलित अर्थ ले बैठे हैं। उन्होंने प्रशंसा का अर्थ 'कुवलयानन्द' के समान केवल 'वर्णन' नहीं लिया।[१] अपितु प्रशंसा का अर्थ 'कीर्तिगान' लिया है। तथ्य इसके विपरीत है। 'कुवलयानन्द' के लेखक अप्पय्य दीक्षित ने भी एक उदाहरण में प्रशंसा का यही अर्थ लिया है, जो मतिराम ने लिया है।[२] एक अन्य उदाहरण है—"इस कमलनाल के अन्दर अनेकों छिद्र हैं।

---

१. यत्राप्रस्तुतवृतान्तवर्णनप्रस्तुतवृतान्तावगतिपर्यवसायि तत्राप्रस्तुतप्रशंसालंकारः
कुवलयानन्दः – अप्पय्य दीक्षित, पृष्ठ १०६

२. एकः कृती शकुन्तेषु योऽन्यं शक्रान्न याचते ॥६६॥
कुवलयानन्दः—अप्पय्य दीक्षित, पृष्ठ १०५

बाहर बहुत से कांटे हैं, तो उसके रेशे (गुण) भंगुर (टूटने वाले) कैसे न हों ?"— यहां कमलनाल का वृत्तान्त वाच्य है। इस अप्रस्तुत वृतान्त के द्वारा उसके समान किसी ऐसे पुरुष के वृत्तान्त की प्रतीति हो रही है, जो बाहर दुष्टों के होते हुए अपने भाई-पुत्र आदि से घर में कलह करता हो। अप्पय्य दीक्षित का अपना मत है कि लक्ष्य (उदाहरण) तथा लक्षण में प्रशंसा शब्द से स्तुति, निंदा, या स्वरूपाख्यान, रूप-कीर्तन मात्र समझा जाना चाहिये।[1] अप्पय्य दीक्षित के इस कथन से प्रभावित होकर ही मतिराम ने प्रशंसा शब्द का अर्थ केवल प्रशंसा लिया है। निंदा और स्वरूपाख्यान उन्होंने छोड़ दिया है। इनका भी कथन कर लेते तो अधिक स्पष्ट हो जाता, परन्तु 'प्रशंसा' का अर्थ यदि 'कीर्तिगान' ही लिया है, तो भी नासमझी की कोई बात मतिराम ने नहीं की, अपितु उचित ही लिखा है। इसलिए अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार में प्रशंसा शब्द से प्रशंसा—कीर्तिगान अर्थ लेना अज्ञान नहीं, मतिराम के ज्ञान का परिद्योतक है।

मतिराम : अलंकार-पंचाशिका (रचनाकाल-सं० १७४७)

'अलंकार-पंचाशिका कुमाऊं प्रदेश के राजा उदोतचन्द्र के पुत्र ज्ञानचन्द्र के हेतु किन्हीं मतिराम कवि ने लिखी है। नामानुसार इसमें (भेदों को पृथक् गिन कर) ५० अर्थालंकार हैं। ५० ही लक्षण-पद भी हैं। ४८ कवित्त तथा ७ सवैयों के क्रम से ५५ छन्दों में अलंकारों के उदाहरण हैं। उदाहरणों में एक शृंगारपरक कवित्त के अतिरिक्त शेष आश्रयदाता के प्रशस्तिपरक हैं।

इस ग्रंथ के लक्षणों पर आचार्य मम्मट के काव्य-प्रकाश का प्रभाव परि-लक्षित होता है। उक्त ग्रंथ के अलंकार-क्रम में स्वच्छन्दता से काम लिया गया है। उपमा अलंकार आदि में है तो रूपक आक्षेप के अनन्तर रखा गया है। उत्प्रेक्षा ग्रंथ के अंतिम भाग में जा रखा है। दृष्टान्त, निदर्शना, प्रतिवस्तूपमा, समासोक्ति, अप्रस्तुतप्रशंसा, प्रत्यनीक, कारणमाला, परिसंख्या जैसे प्रसिद्ध अलंकारों को कोई स्थान इस कृति में प्राप्त न हुआ। प्रतीप, प्रहर्षण, उल्लेख, अधिक और सामान्य अलंकार के दो दो भेद माने गये हैं और हर भेद को पृथक्-पृथक् अलंकार के रूप में परिगणित किया गया है। उपमा, रूपक और उत्प्रेक्षा के भेदों की चर्चा भी यहाँ नहीं है।

इस ग्रंथ का अध्ययन सिद्ध करता है कि अपरिपक्व मति से ही किन्हीं मतिराम ने अपना अलंकार-ज्ञान पद्यबद्ध किया है।

---

१. अन्तश्छिद्राणि भूयांसि कण्टका बहवो बहिः ।
कथं कमलनालस्य मा भूवन् भंगुरा गुणाः ॥
अत्र कमलनालवृतान्तकीर्तनं तत्स्वरूपे बहिः खलेषु जाग्रत्सु भ्रातृपुत्रादि-भिरन्तःकलहं कुर्वाणे पुरुषे पर्यवस्यति । एवं च लक्ष्यलक्षणयोः प्रशंसा शब्दः स्तुतिनिंदास्वरूपाख्यानसाधारणकीर्तनमात्रपरो द्रष्टव्यः ।
कुवलयानन्दः—अप्पय्य दीक्षित, पृष्ठ १०७

अलंकार-पंचाशिका की मौलिकता

इस कृति में एक नया अलंकार 'गुणवन्त' नाम से दिया गया है। उसका लक्षण है कि 'कुछ सम्पत्ति पाकर ही लघु (छोटे व्यक्ति) दीर्घ (बड़े) हो जाते हैं (अर्थात् छोटे व्यक्ति कुछ सम्पत्ति मिलने पर अपने को बड़ा मानने लगते हैं), उन्हें गुणवन्त कहा जाता है।[1] लक्षण पढ़कर ही इस मतिराम की मति की अपरिपक्वता झलक पड़ती है कि यह अलंकार-लक्षण न होकर तथाकथित गुणवन्त व्यक्तित्व का लक्षण कहा गया है। उदाहरण भी इसी प्रकार का है—

बारन बकस जाके बारहों महीना दान,
संकल्प जल की नदी बहाइयतु है।
कहै मतिराम जा के ज्ञान गुन आई अजौ,
कहा सुरसरी तप तीरथ नहायइतु है॥
थोरो गुण पाइके बड़ी सभा में जाइके सौ
तेरो गुन गाइके गुनी कहाइयतु है।
भंजन गुमान ग्यानचंद जीवे जुग जाकी
मौज नेम त्रय को गहाइयतु है॥२३॥

इस उदाहरण में छोटे के बड़ा बनने का वर्णन होने पर प्रारम्भ की दो पंक्तियों में हाथीदान के लिए संकल्प के जल से नदी बहाने की चर्चा है और अंतिम पंक्तियों में गुनी बनने का स्पष्ट वर्णन है। इसलिए गुणवन्त अलंकार है। उदारता गुण मान लेने पर यहां गुण अलंकार-रूप हो गया है। आचार्य उद्भट ने गुणों को भी अलंकारों के अन्तर्गत माना है। परन्तु यह 'गुणवन्त' अलंकार केवल साधारण वर्णनशैली है।

इस साधारण कृति ने रीतिकालीन काव्यशास्त्र की परम्परा के विकास तथा प्रौढ़ता में कोई योग नहीं दिया। इसकी अपेक्षा ललितललामकार मतिराम ने अलंकारों के लिए सुन्दर उदाहरण तो अपनी काव्य-प्रतिभा के बल पर ही प्रदान किए जो कि महत्वपूर्ण योगदान है।

कुलपति : रस-रहस्य (रचनाकाल सं० १७२७ वि०)

आगरावासी कुलपति मिश्र रीतिकालीन काव्यशास्त्र के ऐसे आचार्य हैं, जिन्होंने मम्मट की भाँति अलंकारों को रसपोषक माना और रस के कारण अलंकारों का चमत्कार स्वीकार किया।[2] लक्षण-उदाहरणों के सम्बन्ध में व्याख्या भी दी है।

---

१. कछु सम्पत ही पाइके, लघु दीरघ ह्वै जात।
सो गुनवन्त कहंत हैं, मंद मतन समुझात॥२२॥
अलंकारपंचाशिका—मतिराम, पृष्ठ ४०

२. रसहि बढ़ावै होय जहां, कबहुंक, अंग निवास।
अनुप्रास उपमादि वै, अलंकार सुप्रकास॥१३॥
रस-रहस्य—कुलपति मिश्र, पृष्ठ ५१

आचार्य मम्मट के सम्बन्ध में रसरहस्यकार की स्वीकृति स्पष्ट है कि मम्मट-कृत कवितासाजों (अलंकारों) को उन्होंने अपने ग्रंथ में दिया है।[1] अतः उन्होंने संस्कृतकाव्यशास्त्र के सीमानिर्धारक 'काव्यप्रकाश' ग्रंथ का मनन कर के अपना ग्रंथ लिखा। अलंकार-लक्षणों में उनकी अपनी मान्यताएँ हैं। संस्कृतलक्षणकारों से मतभेद भी है। उपमा, उत्प्रेक्षा तथा रूपक के लक्षण में यह तथ्य स्पष्ट है। उदाहरणों का समन्वय भी उन्होंने स्वयं ही साथ-साथ किया है। यदि यह कहा जाए कि जिस प्रकार मम्मट ने अपने से पूर्ववर्ती काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों का अध्ययन करके एक प्रौढ़ ग्रंथ 'काव्यप्रकाश' लिखा, इसी प्रकार कुलपति मिश्र ने भी अपने पूर्व-वर्तियों की अपेक्षा संस्कृतकाव्यशास्त्र के अध्ययन-चिन्तन से प्राप्त गम्भीर ज्ञान के बल पर प्रथम प्रौढ़ ग्रंथ 'रसरहस्य' लिखा तो अधिक उपयुक्त हुआ। कुलपति ने अपने गम्भीर विवेचन के बल पर यह तथ्य प्रस्तुत किया कि अलंकारों का विकास उक्ति-भेद से होता है, इसलिए उक्ति का प्राधान्य है। तथापि वक्रोक्ति के प्रति उनका आग्रह शब्दालंकार मात्र तक है। श्लेष के प्रसंग में भी मिश्र जी ने एक महत्वपूर्ण वचन कहा है कि श्लेष के आठ भेदों में वर्ण-श्लेष का उदाहरण भाषा-काव्य में दुर्लभ है। वचन, लिंग और विभक्ति का भी केवल एक ही उदाहरण उन्होंने प्रस्तुत किया है, इससे उनके मत से भाषा-शक्ति की दुर्बलता भी प्रतीत होती है। उदाहरण यह है—

काम गति देखे रूप वाम गति विशेखे, दिन-दिन अनलेख, सो बनाय जरी साज के।
रोके मन मौन रहै लोकालोक भान देखे हारे हरि यह होत, यह गाड़ी लाज के॥
जोर ते जुगति सूर हिये अभिराम लागै देख दुख भागै जोरे सुकृत समाज के।
जोर जुत जंगम से प्राणप्रिया संगम से तारे सुत रंग सुख लीन राम राज के॥२६॥[2]

कुलपति के कथनानुसार 'सूर हिये अभिराम लागै' पदांश में श्लेष है।

आचार्य मिश्र ने शब्दालंकारों में यमक, चित्र और श्लेष (शब्द-श्लेष ही से यहां तात्पर्य है, अर्थ श्लेष से नहीं) को रसानुकूल नहीं माना। इसलिए इन्हें महत्व नहीं दिया। चित्र तो मम्मट के कथनानुसार कष्टकाव्य है।[3] यही मति कुलपति की

१. जिते साज हैं कवित्त के, मम्मट कहे बखानि।
ते सब भाषा में कहे, 'रस रहस्य' में आनि॥२१०॥
रसरहस्य—कुलपति मिश्र, पृष्ठ ८८

२. टीका—तिस में वरण श्लेष भाषा में दुर्लभ है। वचन लिंग विभक्ति का एक ही उदाहरण है।
रसरहस्य—कुलपति मिश्र, पृष्ठ ५७

३. कष्टकाव्यमेतदिति दिङ्मात्रं प्रदर्शयते।
काव्य-प्रकाशः—मम्मट, पृष्ठ ४३४

है। कुलपति ने उपमा को महत्व दिया और उसमें कल्पित उपमान को उचित नहीं माना उनका यह विवेचन संस्कृत के आचार्यों के समान गम्भीर है।[1] श्रौती, आर्थी तथा लुप्तोपमा का विवेचन रीतिकालीन काव्यशास्त्र में सर्वप्रथम कुलपति ने ही किया और उपमा को 'अलंकार-सिरमौर' माना।

कुलपति की मौलिकता

आचार्य कुलपति ने नया अलंकार तो कोई भी उद्भावित नहीं किया, परन्तु नाम-परिवर्तन अवश्य किए। 'परिवृत्ति' को 'विनिमय' नाम दे दिया। सम्भवतः यह सरल मार्ग का अनुसरण था, जो भाषाकवियों के लिए उपयोगी हो सकता था। उन्होंने संकर और संसृष्टि का लक्षण-उदाहरण-वर्णन नहीं किया, संकेत अवश्य दिया है।[2] पुस्तक में लिखे शब्दों से यह ध्वनि निकलती है कि इन्होंने संकर-संसृष्टि का वर्णन भी किया होगा, परन्तु ग्रन्थ में प्राप्त नहीं, क्योंकि अंत में ग्रन्थ समाप्ति-पद दिये गये हैं। रसवत्, भावोदयादि तथा प्रमाणालंकार (अनुमान के अतिरिक्त) का वर्णन भी कुलपति ने नहीं किया। रसवादी होना ही इसका प्रमुख कारण है।

आचार्य कुलपति मिश्र ने अपने निष्णात मस्तिष्क के बल पर भाषा का प्रौढ़ काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ प्रस्तुत किया। मम्मट सरीखे संस्कृत के आचार्यों की भाँति ही हिन्दी-काव्यशास्त्र में इनका स्थान माना जा सकता है। लक्षण-लक्ष्य-विषयक प्रौढ़ विवेचन में ये सर्वप्रथम हैं। वृत्ति-योग्य भाषा होने के कारण कुलपति की भाषा-टीका भी मौलिक प्रयोग का प्रतीक है।

भूषण : शिव (राज) भूषण (रचनाकाल सं० १७३० वि०)

रीतिकाल में वीर रस की धारा कविवर भूषण ने प्रवाहित की। इनके 'शिव-भूषण' ग्रंथ का विवेचन शास्त्रीय दृष्टि में कदाचित् कई प्रकार के ऊहापोह को जन्म दे, परन्तु अलंकार-साहित्य में भूषण ने जिस महत्वपूर्ण कार्य को किया, वह उनके वीरतापरक उदाहरणों में निहित है। ग्रन्थ में निरूपित अर्थालंकार तथा शब्दालंकार—सभी के उदाहरण वीरतामय प्रस्तुत करना अथवा ऐसा कहना उपयुक्त होगा कि वीरतापूर्ण काव्य में सारे अलंकारों के लक्षणों को समन्वित करना कम महत्व की बात नहीं हैं। वीर रस के चारों भेदों (दान, धर्म, युद्ध, दयावीर) के उदाहरणों में अलंकार-समन्वय भूषण की प्रतिभा का परिद्योतक है। भूषण तक संस्कृत और भाषा-काव्य-शास्त्र की परम्परा में एक भी ऐसा आचार्य नहीं है, जिसने केवल वीर काव्य में सारे अलंकारों को प्रस्तुत किया हो। भूषण ने इस ओर ग्रन्थ के प्रारम्भ में संकेत दिया है कि शिवाजी के चरित्र को विविध भूषणों से विभूषित करके

---

१. शब्द अर्थ समता कहे, दोउन की जेहि ठौर।
नहिं कल्पित उपमान जेहि, सो उपमा सिरमौर॥
रसरहस्य—कुलपति मिश्र, पृष्ठ ५८

२. यह सब अलंकार कह दिये, अब इन अलंकारों से संकर और संसृष्टि होती है।
रसरहस्य—कुलपति मिश्र, पृष्ठ ८८

देखने का कवि का मन हुआ। उसका परिणाम ही 'शिवभूषण' ग्रंथ है। उसमें सुकवियों की कृपा तथा कवि-पंथ को भी भूषण ने समझने का प्रयास किया है।[1] इससे भूषण की यह धारणा व्यक्त होती है कि वे अलंकार को रसोत्कर्षक मानने वालों में से एक हैं।

भूषण ने अलंकारों में स्वभावोक्ति को प्रधानता नहीं दी, यद्यपि स्वभावोक्ति और अतिशयोक्ति के लिए उनके वीर काव्य में अधिक अवकाश था, उन्होंने परम्परागत पद्धति से उपमा का ही पक्षपात किया, उत्तम भूषण के रूप में उपमा ही भूषण के मन भायी।[2] भूषण ने अनुमानालंकार के दो भेद निरूपित करके अपना मत व्यक्त किया कि कार्य से कारण तथा कारण से कार्य के ज्ञान के स्थल पर भी यह अलंकार रह सकता है। अब तक अनुमान अलंकार एक ही रूप में ख्यात था, इस कवि ने उसके दो रूप उदाहरणों से विवेचित किए।[3]

भूषण के इस ग्रन्थ पर 'चन्द्रालोक' का प्रभाव है। उसकी आधार-भूमि पर भूषण ने प्रतीपोपमा, ललितोपमा तथा भाविकच्छवि (भाविक छवि) का निरूपण किया है। अलंकारसूची में प्रतीपोपमा और प्रतीप पृथक् अलंकाररूप में दिए हैं, परन्तु ग्रन्थ में प्रतीप-निरूपण नहीं किया गया है।

अपने भाई मतिराम के 'ललितललाम' से तो भूषण ने इतना ग्रहण किया कि यदा-कदा शब्द-परिवर्तन से मतिराम के अलंकारलक्षण ही अपना लिए। जैसे—

(१) मतिराम : जाको बरनन कीजिए, सो उपमेय प्रमान।
जाकी समता दीजिए, ताहि कहत उपमान॥
भूषण : जा को बरनन कीजिए, सो उपमेय प्रमान।
जाकी सरवरि कीजिए, ताहि कहत उपमान॥
(२) मतिराम : जहाँ एक उपमेय को, होत बहुत उपमान।
तहाँ कहत मालोपमा, कवि मतिराम सुजान॥
भूषण : जहाँ एक उपमेय, होत बहुत उपमान।
तहाँ कहत मालोपमा, भूषण सुकवि सुजान॥

१. सिब चरित्र लखि यों भयो, कवि भूषण चित्त।
भाँति भाँति भूषननि सों, भूषित करौं कवित्त॥२९॥
सुकविन हूँ की कछु कृपा, समुझि कविन को पंथ।
भूषण भूषनमय करत, 'शिव भूषण' सुभ ग्रंथ॥३०॥
शिव (राज) भूषण—भूषण, पृष्ठ १५

२. भूषन सब भूषननि में, उपमहिं उत्तम चाहि।
या ते उपमहिं आदि दै, बरनत सकल निबाहि॥३१॥
शिव (राज) भूषण—भूषण, पृष्ठ १५

३. जहाँ काज तें हेतु कै, जहाँ हेतु ते काज।
जानि परत अनुमान तहं, कहि भूषण कविराज॥३५१॥
शिव (राज) भूषण—भूषण, पृष्ठ २०५

इस प्रकार के लक्षणों में भ्रान्तापह्नुति, छेकापह्नुति, निदर्शना, संभावना, उल्लास, तद्गुण, अतद्गुण, तथा अनुगुण का लक्षण दर्शनीय है। मतिराम के समान ही भूषण ने भी लोकोक्ति और छेकोक्ति का लक्षण एक ही पद में कहा है।

रीतिकाल के आचार्य उस काल में संस्कृतग्रन्थों के आधार पर अपनी रचनाएँ प्रस्तुत कर रहे थे, परन्तु स्वतंत्र-चिन्तन की प्रवृत्ति, उनमें थी। भूषण ने भी प्रतिषेध, मुद्रा, युक्ति, विधि, अल्प, ललित, प्रस्तुतांकुर, सार, विकस्वर, कारकदीपक, सूक्ष्म, गूढ़ोक्ति तथा विवृतोक्ति नामक १४ अलंकारों का वर्णन 'शिवभूषण' में नहीं किया। परन्तु आशीर्वाद वाले अंतिम कवित्त में 'रत्नावली' अलंकार का केवल उदाहरण प्राप्त होता है—

उदाहरण—एक प्रभुता को धाम, दूजे तीनों वेद काम।
रहै पंच आनन, षडानन सरवदा।
सातों बार आठों जाम जाचक नेवाजै नव,
अवतार थिर राजै कृपन हरि गदा।
सिवराज भूषन अटल रहें तौलौं जौ लौं,
त्रिदस भुवन सब, गंग औ नरमदा।
साहि तने साहसिक भौंसिला सुरज-बंस,
दासरथि राज तौ लौं सरजा थिर सदा ॥३२३॥[1]

इस पद में एक से लेकर चौदह तक गिनती कही गई है। एक धाम, तीनों वेद—ऋग्, यजुः, साम, पंचानन, पाँच मुख वाले—महादेव, षडानन, षड् आनन, (छः मुख वाले) देवों के सेनापति, सातोंवार=सात दिन, आठों याम, आठ पहर (४ रात्रि के, ४ दिन के) नव वसु, अवतार—१०, शिव ११, भूषण १२, त्रिदस १३ देवता, भुवन १४। यहाँ प्रस्तुतार्थ के वर्णन में अन्य क्रमिक पदार्थों के नाम भी क्रमानुसार रखे गये हैं।

भूषण ने चित्रालंकार का लक्षण नहीं दिया, उसका कारण भी नहीं कहा। केवल 'कामधेनु' नामक चित्र का नाम लेकर शेष भेदों का संकेत मात्र कर दिया है। यहाँ भी रुचि का ही प्रश्न है।

नवीनालंकार

भूषण ने परम्परागत अलंकारों की चर्चा करने के अतिरिक्त सामान्य-विशेष नाम का एक नया अलंकार दिया है। यद्यपि सामान्य और विशेष अलंकार अलग भी दिये हैं। सामान्य-विशेष अलंकार का लक्षण है कि जहाँ सामान्य रूप से कोई बात कहनी हो, वहाँ उसे विशेष रूप से कहा जाए तो श्रेष्ठ कवि उसे सामान्य-विशेष अलंकार कहते हैं।[2] परिस्थिति-द्योतक यह अलंकार है। वस्तुतः यह नवीन अलंकार

१. शिवराजभूषण—संपादक राजनारायण शर्मा, पृष्ठ २२३

२. कहिये जहँ सामान्य है, कहै जु तहाँ विसेष।
सो सामान्य-विसेष है, बरनत सुकवि असेष ॥१२०॥
शिव (राज) भूषण—भूषण, पृष्ठ ७१

'अप्रस्तुत प्रशंसा' का 'विशेष-निबंधना' नामक भेद ही है। उसमें भी सामान्य घटना को लक्ष्य करने के लिए विशेष घटना का वर्णन किया जाता है।

भूषण के संकर अलंकार के सम्बन्ध में भी हिन्दी-आलोचकों ने चर्चा की है कि उन्हें संकर अलंकार का ठीक ज्ञान न था[1] क्योंकि उन्होंने (भूषण ने) संकर अलंकार वहाँ माना है, जहाँ एक कवित्त में अनेक अलंकार हों। संकर के लक्षण में 'नीर-क्षीर न्याय' और संसृष्टि में तिलतण्डुल न्याय का वैशिष्ट्य रहता है। परन्तु भूषण के इस संकर अलंकार-लक्षण पर संस्कृत के प्राचीन आचार्यों का प्रभाव है। उद्‌भट ने भी ऐसा ही लक्षण दिया था कि जहाँ एक वाक्य में शब्दालंकार, अर्थालंकार आ जाएँ, संसर्ग को प्राप्त कर लें, उसे शब्दार्थालंकार या संकर कहा जाता है।[2] आचार्य दण्डी ने संसृष्टि का ऐसा लक्षण दिया था कि विभिन्न अलंकारों का एकत्र समावेश ही संसृष्टि कहलाता है।[3] उद्‌भट दण्डी के बाद के आचार्य हैं। नीर-क्षीर और तिलतण्डुल न्याय की विशेषता संकरालंकार में रुद्रट के काव्यालंकार से आरम्भ हुई। रुद्रट ने इन दोनों विशेषताओं या लोकन्यायों को संकर में ही प्रथमतः माना था। रुद्रट ने कहा है कि संयोगवश इन अलंकारों का तिलतण्डलवत् तथा दुग्ध-जलवत् व्यक्ताव्यक्त रूप से संकर दो प्रकार का हो जाता है।[4]

भूषण ने भी रुद्रट के प्रभाव से ही ऐसा मत दिया प्रतीत होता है। इसलिए भूषण के संकर अलंकार के सम्बन्ध में अज्ञान या नासमझी की बात नहीं। उन्होंने तो प्रारम्भिक आचार्यों का आश्रय लिया है, जबकि सूक्ष्म अन्तर स्पष्टतः नहीं माना गया था।

भूषण ने एक ही नए अलंकार की उद्‌भावना की। उदाहरणों का वैशिष्ट्य उनका सर्वथा नवीन प्रयोग है। लक्षण-उदाहरणों की शास्त्रीय चर्चा से इस प्रसंग में मुक्त रह कर कहा जा सकता है कि अलंकार द्वारा शिवाजी का चरित्र-चित्रण करना भूषण की प्रतिभा द्वारा सुवर्ण-सुगन्ध का योग है।

---

१. हिन्दी-अलंकार-साहित्य—डॉ० ओंप्रकाश, पृष्ठ १०५

२. (क) शब्दार्थवर्त्यलंकारा वाक्य एकत्रभासिनः। संकरो वा।

काव्यालंकारसंग्रहः—उद्‌भट, पृष्ठ ७५

(ख) भूषण एक कवित्त में, भूषण होत अनेक।
संकर ता को कहत हैं, जिन्हें कवित्त की टेक ॥३७१॥

शिव (राज) भूषण—भूषण, पृष्ठ ११६

३. नानालंकारसंसृष्टिः संसृष्टिस्तु निगद्यते ॥२३५६॥

काव्यादर्शः—दण्डी, पृष्ठ १५०

४. अथ संकरस्य भेदानाह—

योगवशाद् एतेषां तिलतण्डुलवत् च दुग्धजलवत् च
व्यक्ताव्यक्तांशत्वात् संकर उत्पद्यते द्वेधा ॥१०।२२॥

काव्यालंकारः—रुद्रट, पृष्ठ १३८

पदुमनदास : काव्यमंजरी (रचनाकाल सं० १७४१ वि०)

आचार्य पदुमनदास ने 'काव्यमंजरी' ग्रन्थ में काव्य के विविध अंगों का विवेचन किया है। इन्होंने अपना ग्रंथ वादम नगर के शासक तथा रामसिंह के पुत्र दलेलसिंह के आश्रय में लिखा है। ग्रन्थ में १४ कलिकाएँ हैं। सिद्धान्त निरूपण दोहों में है और उदाहरण प्रायः कवित्तों में ही दिये गये हैं। ७१६ पदों के इस ग्रंथ में सभी अंगों का विवेचन है।

पदुमनदास के ग्रंथ पर केशव की कविप्रिया का प्रभाव लक्षित होता है। चौथी (अध्याय) कलिका में 'वर्णकरत्न सामान्यालंकार' का वर्णन है। सामान्यालंकार की चर्चा भी केशव के समान है। राजा, रानी, नगर, देश, ग्राम, घोटक, प्रयाण, आखेटक, गज, संग्राम, सूर्योदय, चंद्रोदय, नदी, सरोवर, सिंधु, गिरि, तरु तथा ग्रीष्म, वर्षा, शरद, हेमन्त, शिशिर और उद्यान का वर्णन है। छठी कलिका (अध्याय) में संख्यावाचक पदार्थों का वर्णन है। सातवीं कलिका (अध्याय) में सीधे, कुटिल, त्रिकोण, मंडल, स्थूल, पातर (पतला), कुरूप, सुन्दर, कोमल, कठोर, कटु, मधुर, शीतल, तप्त, मंदगति, चंचल, निश्चल, सदागति, सांच-झूठ (सच-झूठ), दुःखद और सुखद पदार्थों का सोदाहरण वर्णन किया गया है। इन चार अध्यायों में केशव से कुछ अधिक वस्तु-वर्णन किया गया है। भू-श्री और राजश्री (अलंकारों) का वर्णन चौथी कलिका में है। केशव ने इनका वर्णन सातवें और आठवें प्रभाव में किया है। पाँचवीं कलिका (अध्याय) में केशव के आठवें प्रभाव में वर्णित विरह, स्वयंवर और सुरति का वर्णन है। छठी कलिका में गणना का निरूपण है। यह केशव का विशिष्टालंकार है। इस निरूपण पर केशववत् 'अलंकारशेखर' के कर्त्ता केशव मिश्र का प्रभाव है। सातवीं कलिका (अध्याय) में वर्णित वस्तुएं केशव नें अपने छठे प्रभाव में दर्शायी हैं।। पदुमनदास ने केशव से भी अधिक विस्तृत रूप से सामान्यालंकार का वर्णन किया है।

दसवें अध्याय में शब्दालंकार और ग्यारहवें अध्याय में अर्थालंकारों का वर्णन है। इनमें कविप्रिया में वर्णित अलंकारों का ही प्रमुखता से वर्णन किया गया है। परम्परागत के अतिरिक्त किसी नए अलंकार की उद्भावना पदुमनदास ने नहीं की। उक्ति-प्रकरण में वर्णित लोकोक्ति, उन्मत्तोक्ति और छेकोक्ति को अलंकारों में समाविष्ट नहीं किया गया। यद्यपि इनका समावेश अलंकारों में परम्परानुसार होता था।

आचार्य पदुमनदास ने केशव का अनुसरण किया, मौलिक उद्भावना नहीं की तथापि उदाहरणों में स्पष्टता और सौष्ठव है। इसलिए इस ग्रंथ का महत्व अलंकारों के उदाहरणों की सुन्दरता में है। लक्षणों में उतना परिष्कार नहीं। केशव की भाँति दण्डी का प्रभाव पदुमनदास पर भी परम्परागत रूप से परिलक्षित होता है।

देव : शब्दरसायन (रचनाकाल सं० १७६० वि० के लगभग)

रीतिकाल में आचार्य देव ने काव्यशास्त्र में दो ग्रंथ—'भाव-विलास' और 'शब्दरसायन' प्रदान किए। 'भावविलास' अपरिपक्व तथा 'शब्दरसायन' प्रौढ़ावस्था की कृति है। दोनों में अलंकारों का निरूपण है। पहले ग्रंथ में ३९ अर्थालंकार हैं

तथा दूसरे में ४० अर्थालंकार (मुख्य) वर्णित हैं, एवं ३० अमुख्य या गौण हैं। 'शब्द-रसायन' में अर्थालंकारों के अनन्तर शब्दालंकारों का विवेचन भी है, 'भाव विलास' में शब्दालंकार नहीं हैं।

देव ने अलंकार का महत्व काव्य के पंचमांग के रूप में स्थिर किया है।[1] राजशेखर ने उपकारक होने के कारण अलंकार को सप्तमांग माना था।[2] परन्तु देव वैदिक विद्याओं की अपेक्षा साहित्य-क्षेत्र तक ही सीमित रहे। अलंकारों की गंभीरता के पक्ष पर भी देव का ध्यान था, उन्होंने शब्द—जीव अर्थ—मन और रस मय—सुजस शरीर (यशस्वी शरीर) तथा छन्द-अलंकार को गति मान कर काव्य का गान किया।[3] यद्यपि देव रस के पक्षपाती थे, तथापि अलंकारों के प्रति वे उदासीन न थे।

हिन्दी-साहित्य के आलोचकों ने देव के अलंकारविषयक विवेचन पर केशव का प्रभाव माना है, उसमें अंशतः सत्य है, परन्तु देव की प्रतिभा अलंकार को लेकर मत स्थिर कर रही थी। देव ने अलंकार को रसोत्कर्षक सिद्ध करने का सफल प्रयास किया। उन्होंने कविता-कामिनी के सरस होने के अनन्तर अलंकार पहन लेने पर उसे अद्भुत रूप प्राप्त करने वाली माना जबकि केशव ने भूषणों बिना उसकी शोभा ही नहीं स्वीकार की।[4] देव के कथन की दूसरी पंक्ति केशव से इनके मत का भेद स्पष्ट कर देती है।

देव ने दोनों ग्रन्थों में अलग-अलग अलंकारों को महत्व दिया है। स्वभावोक्ति को दोनों कृतियों में सर्वप्रथम और श्रेष्ठ स्वीकार किया है।[5] इसे देव कहने और

---

१. मानुष भाषा मुख्य रस, भाव, नायिका, छन्द।
अलंकार पंचांग ये, कहत सुनत आनन्द॥
शब्दरसायन—देव, पृष्ठ १६८

२. उपकारकत्वादलंकार: सप्तमांगम् इति यायावरीयः।
काव्यमीमांसा—राजशेखर, पृष्ठ ३

३. शब्द जीव तिहि अर्थ मनु, रसमय सुजस सरीर।
चलत चहूं जुग छन्द गति, अलंकार गम्भीर॥
शब्दरसायन—देव, पृष्ठ १

४. (क) जदपि सुजाति सुलक्षणी सुबरन सरस सुवृत्त।
भूषण बिन न बिराजई, कविता बनिता मित्त।५१।
कविप्रिया—केशव, पृष्ठ ४७

(ख) कविता कामिनी सुखद प्रद, सुबरन सरस सुजाति।
अलंकार पहिरे अधिक, अदभुत रूप लखाति॥
शब्दरसायन—देव, पृष्ठ ९४

५. (क) अलंकार में मुख्य है, उपमा और सुभाव।
सकल अलंकारनि विषै, परसत प्रकट प्रभाव॥
शब्दरसायन—देव, पृष्ठ ९४

(ख) सुकवि जाति वर्णन करत, कहत सुनत अभिराम (भावविलास)

सुनने में अभिराम मानते हैं। वक्रोक्ति, अतिशयोक्ति और स्वभावोक्ति को अलंकार-शास्त्र में विभिन्न आचार्यों ने महत्व दिया है। वक्रोक्ति में बात को विदग्धता या घुमा फिरा कर कहा जाता है। अतिशयोक्ति में बढ़ा चढ़ा कर और स्वभावोक्ति में सीधे सच्चे सरल ढंग से। लोक में भी यथार्थता और सीधे कथन का प्रभाव स्पष्टत: पड़ता है। इसलिए स्वाभाविक बात जंचती भी है। स्वभावोक्ति का सम्बन्ध लोक-जीवन से निकटतम है। अत: देव ने इसे ही महत्व दिया। अस्वाभाविकता का मूल्य है कहाँ? समासोक्ति को देव ने भावविलास में अलंकारसिरमौर माना और वक्रोक्ति को उत्तमकाव्य में भाने वाली कहा है।[1]

'शब्दरसायन' में देव ने अनुप्रास को रस का आगार माना है, तथा अनुप्रास और यमक को रस-रीति का सहायक भी सिद्ध किया है।[2] देव का अपना काव्य भी अनुप्रास की छटा से छटायित है। चित्रालंकार का विस्तारपूर्वक वर्णन करने पर भी देव ने उसे महत्व नहीं दिया और अपना वर्णन संक्षेपत: माना है। चित्रालंकार और चित्रकाव्य को भी देव ने मिला दिया है। यमक और अनुप्रास को उन्होंने चित्रकाव्य का मूलाधार माना है।[3] एक ओर देव ने इन दोनों (अनुप्रास और यमक) को रसरीति को (रस की रीति या रस और रीति) सनाथ करने वाला माना और दूसरी ओर चित्रकाव्य का मूल कहा। यमक को आचार्य आनन्दवर्धन ने रसबाधक माना है, परन्तु अनुप्रास को सर्वत्र नहीं। रीतिकाल का आचार्य इन दोनों अलंकारों के प्रयोग से धन्य बनता था। इस काल के काव्य की नादात्मकता इन दोनों अलंकारों पर आश्रित थी। इसलिए देव का शब्दालंकारों में यमक तथा अनुप्रास का रसरीति की सनाथता वाला पक्ष अधिक प्रबल है।

उपमा के प्रति भी देव का आग्रह कम नहीं था। उपमा-योग्य वैर, प्रीति, मद, ईर्ष्या, क्रीड़ा आदि ३६ स्थलों की चर्चा शब्दरसायन में की गई है।[4] डॉ० नगेन्द्र ने देव के इन उपमायोग्य स्थलों की आलोचना करते हुए लिखा है कि 'प्रीति

---

१. (क) सुवक्रोक्ति सुबरनिये, उत्तम काव्य सुभाइ। (भावविलास, देव)
(ख) सुसमासोक्ति सो जानिये, अलंकार सिरमौर (भावविलास)
(उद्धृत हिन्दी-अलंकार-साहित्य—डॉ० ओम्प्रकाश, पृष्ठ १०३

२. (क) अनुप्रास रसपूर।
(ख) अनुप्रास अरु यमक कहि, है सनाथ रसरीति।
शब्दरसायन—देव, पृष्ठ ८५

३. (क) अधम काव्य ताते कहत, कवि प्राचीन नवीन,
सुन्दर छन्द अमन्द रस, होत प्रसन्न नवीन।
(ख) अनुप्रास और यमक ये, चित्र काव्य के मूल,
शब्दरसायन—देव, पृष्ठ ८४

४. शब्दरसायन—देव, पृष्ठ ९६-९७

मद, ईर्ष्या आदि संचारियों तथा वैर आदि स्वभाव-वृत्तियों से उपमा का ग्रन्थिबन्धन निरर्थक है और उसको एक विफल वैचित्र्य-प्रदर्शन के अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है।[1] यद्यपि यह सत्य है कि उपमा के मूल में प्रधानतः अपने भाव को स्पष्ट करने की ही प्रवृत्ति विद्यमान रहती है, इसलिए इन संचारी तथा स्वभाव वृत्तियों का भी काव्य से मनोवैज्ञानिक सम्बन्ध है। तथापि 'चन्द्रमा सा सुन्दर मुख' कहने में स्तुति का भाव निहित है। 'सांप सा जहरीला' कहने में भी निन्दा की भावना है, इसलिए देव का उपमा-योग्य स्थलों का निर्देश काव्यशास्त्रीय उदाहरणार्थ ही किया गया ज्ञात होता है। इन संचारियों और स्वभाव-वृत्तियों की अभिव्यक्ति के लिए उपमा काम करती ही है। हाँ ! देव को उपमा के विषय की सीमा न बाँधनी चाहिए थी। फिर भी इतना तो है ही कि उन्होंने उपमा के मनोवैज्ञानिक पक्षों को टटोलने की चेष्टा की ही है।

इन प्रयोग-स्थलों के अनन्तर देव ने उपमा-नामों की चर्चा भी संभव, असंभव, अमगुन, संग, असंग, तात्पर्य, ध्वनि, व्यंग्य, वाच्य, लक्ष्य, सभंग, एकदेश, असकल, सकल, वाक्य तथा पदोपमा तक की है और उपमा की पहुंच सब अलंकारों तक मानी है।[2] उपमा-भेदों पर भी केशव तथा उनके माध्यम से दण्डी का प्रभाव है। देव ने स्वभावोपमा, योगोपमा, संकीर्ण भावोपमा, उचितोपमा, प्रतिकारोपमा, उल्लेखोपमा, अमानोपमा, आक्षेपोपमा तथा गर्वोपमा जैसे नाम भी प्रयुक्त किए हैं, जो उनकी अपनी सूझ के परिणाम हैं।

आचार्य देव ने मालादीपक एवं आवृत्तिदीपक के अतिरिक्त एकावली, परिवृत्ति, कारणमाला और समुच्चय भी दीपक के भेद माने हैं, जो नितान्त विचित्र लगता है।[3] इन अलंकारों को दीपक के भेद मानना देव की मनमानी है, जो साहित्यशास्त्र की दृष्टि से कदापि संगत नहीं। मालादीपक में दीपक और एकावली का योग रहता है। इसीलिए देव ने एकावली को दीपक का भेद मान लिया है। परन्तु एकावली स्वतंत्र अलंकार भी है। संभवतः देव ने क्रिया-प्रयोग के कारण इन अलंकारों को दीपक-भेद माना है, जो उचित नहीं।

देव के मुख्य-गौण अलंकारों के भेद के कारण

देव ने ४० अलंकार मुख्य और ३० गौण माने हैं। 'भावविलास' में ३६ अलंकारों का वर्णन है, जिनका क्रम सर्वथा केशव और दण्डी के समान है। इन्हीं में

१. देव और उनकी कविता—डॉ० नगेन्द्र, पृष्ठ १५६
२. (क) सकल अलंकारनि विषै, उपमा अंग उमंग ॥
(ख) सकल अलंकारनि विषै, उपमा अंग लखाहि ।
शब्दरसायन—देव, पृष्ठ ६७, १०१
३. माला अरु एकावली, आवृत्ति अरु परिवृत्ति,
कारनमाला, समुच्चयो, दीपक भेद सुवृत्ति ।
शब्दरसायन—देव, पृष्ठ १०४

से ३२ को 'शब्दरसायन' में लिया गया है।[1] आठ नए जोड़े हैं। 'भाव-विलास' के अलंकारों में से उपमेयोपमा और अनन्वय 'शब्दरसायन' में उपमा-भेद बन गए हैं। भाविक, संकीर्ण और आशिष गौण बना दिए हैं। समाहित को 'शब्द-रसायन' में त्याग दिया गया है। नए ८ अलंकार उल्लेख, समाधि, दृष्टान्त, विरोधाभास, असंभव, असंगति, परिकर और तद्गुण लिए गए हैं। मम्मट के 'काव्यप्रकाश' में उल्लेख और असंभव तथा 'साहित्यदर्पण' में विरोधाभास तथा असंभव नहीं हैं। विरोधाभास की अपेक्षा 'साहित्यदर्पण' में विरोधालंकार रखा गया है। 'चन्द्रालोक' तथा 'कुवलयानंद' में उपर्युक्त आठों अलंकार हैं। ऐसी दशा में देव ने संस्कृत में प्रचलित 'चन्द्रालोक' के अलंकारों से ही इन्हें ग्रहण किया है।

गौण अलंकार ३९ कहे गए हैं।[2] यद्यपि पद में 'सुतीस प्रकार' पाठ है। पाठ की अशुद्धि के कारण कई आलोचकों ने निरूपित अलंकारों की गणना करने पर ध्यान नहीं दिया। यदि 'सुतीस' के स्थान पर 'नौतीस' पाठ कर दिया जाए तो देव द्वारा परिपठित गौण अलंकारों की संख्या ठीक हो जाती है। क्योंकि कारणमाला, एकावली और मालादीपक को तो मुख्यों में ही दीपक-भेद से गिन लिया गया है। मिश्रितों की संख्या देव ने अनन्त मानी है, जो कि मुख्य और गौण के मेल से बन

---

१. भावविलास में वर्णित अलंकार :

अलंकार मुख्य उनतालीस हैं देव कहैं।
ये ई पुराननि मुनि मतनि में पाइये।
आधुनिक कविन के सम्मत अनेक औ,
इनहीं के भेद और विविध बताइये॥

स्वभावोक्ति, उपमा, उपमेयोपमा, संशय, अनन्वय, रूपक, अतिशयोक्ति, समासोक्ति, वक्रोक्ति, पर्यायोक्ति, सहोक्ति, विशेषोक्ति, व्यतिरेक, विभावना, उत्प्रेक्षा, आक्षेप, उदात्त, दीपक, अपह्नुति, श्लेष, अर्थान्तिरन्यास, अप्रस्तुतप्रशंसा, व्याजस्तुति, आवृत्ति दीपक, निदर्शना, विरोध, परिवृत्ति, हेतु, रसवत्, ऊर्जस्वल, सूक्ष्म, प्रेय, क्रम, समाहित, तुल्ययोगिता, लेश, भाविक, संकीर्ण और आशिष।

—उद्धृत, हिन्दी-अलंकार-साहित्य—डॉ० ओम्प्रकाश, पृष्ठ १३२-१३३

२. अतद्गुण, अनुज्ञा, अवज्ञा, गुनवत्, प्रत्यनीक लेख, सार, मिलित (मीलित), समुच्चय, संभावना, प्रहर्षण, गूढ़ोक्ति, व्याजोक्ति, विवृत्तोक्ति, युक्ति, स्वभावोक्ति, विकल्प, संकीर्ण, भाविक, आशिष, स्मृति, भ्रान्ति, सन्देह, निश्चय, सम, विषम, अल्प, अधिक, अन्योन्य, सामान्य, विशेष, एकावली, उन्मीलित, पिहित, अर्थापत्ति, विधि, निषेध, अत्युक्ति, प्रत्युक्ति।

शब्दरसायन—देव, पृष्ठ १२४, १८९

जाते हैं।[1] गुप्त और प्रगट शब्दों से देव का तात्पर्य संकर और संसृष्टि से है। संकर में नीर-क्षीर न्याय की भांति गुप्त और संसृष्टि में तिलतण्डुल की भांति प्रकटतया अलंकार रहते हैं।

डॉ० ओम्प्रकाश कुलश्रेष्ठ ने देव द्वारा किए गये मुख्य और गौण भेद के तीन प्रधान आधार माने हैं :

(१) एक ही आधार के दो अलंकारों में से एक को मुख्य और दूसरे को गौण कह दिया है, जैसे तद्‌गुण मुख्य और अतद्‌गुण गौण। दीपक मुख्य, मालादीपक गौण।

(२) अनुकरणीय को मुख्य तथा अनुकरण को गौण नाम मिला—रसवत् मुख्य है, उसका अनुकरण गुणवत् गौण।

(३) प्राचीन परम्परा विशेषतः दण्डी-केशव के अलंकार मुख्य हैं। 'चन्द्रालोक' और विशेषतः 'कुवलयानंद' के नवजात अलंकार गौण। देव कवि ने जहाँ सरसता अधिक देखी होगी, वहां मुख्यता मान ली होगी अन्यत्र गौणता रह गई।[2]

इन तीनों कारणों पर विचार किया जाए तो हमारा विवेचन इससे भिन्न दिशा का होगा। देव ने सम और विषम, मीलित और उन्मीलित, अल्प और अधिक, सामान्य और विशेष को गौण अलंकारों में रखा है। इसलिए पहला तर्क सार्वत्रिक संगत नहीं है। अनुकरण में रसवत् और गुणवत् का परस्पर कोई सम्बंध नहीं। दोनों भिन्न कोटि के हैं। वत् प्रत्यय से ही काम नहीं चल सकता। रसवत् अलंकार वहां होता है, जहाँ एक रस प्रधान दूसरा गौण होता है। इस दृष्टि से रसवत् को गौण होना चाहिए न कि गुणवत् को। तीसरा कारण भी कसौटी पर ठीक नहीं उतरता। दण्डी ने भाविक और आशी गौण नहीं कहे, जबकि देव ने दोनों गौण कहे हैं। कारणमाला, एकावली, मालादीपक को मुख्यों में (दीपकभेदों में) भी निरूपित किया, गौण अलंकारों में भी। स्वभावोक्ति को मुख्य और गौण में गिना गया है। इस सारे विवेचन से यह पता चलता है कि देव ने अलंकारों का प्रयोगात्मक आधार अधिक लिया है। उस काल में जिन अलंकारों का प्रयोग काव्य में अधिक होता था, उन्हें देव ने मुख्य मान लिया और शेष को स्वरुचि-अनुकूल गौण संज्ञा दे दी। देव का अपना कहना है कि मुख्यालंकारों की छांह लेकर उनके भेद चलते हैं। देशकाल के अनुसार उनमें वस्तु-गुण के मेल से मिश्रितों का विचार भी अखेदजनक है। लक्षण-लक्ष्यों का विचार करके बुद्धि के अनुसार उन्होंने अर्थालंकारों

---

१. मुख्य गौण विधि भेद करि, है अर्थालंकार,
मुख्य कहे चालीस विधि, गौन सुतीस प्रकार।
मुख्य गौण के भेद मिलि, मिश्रित होत अनन्त।
गुप्त प्रगट सब काव्य में, समुझत हैं मतिमन्त।
शब्दरसायन—देव, पृष्ठ ९४

२. हिन्दी-अलंकार-साहित्य—डॉ० ओम्प्रकाश, पृष्ठ १३३

का वर्णन किया है ।[1] डॉ० ओमप्रकाश जी का सरसता वाला तर्क अवश्य बलवान है । देव रसवादी तो थे ही, इसलिए सरसतानुकूल प्रयोगहेतु मुख्य-गौण भेद कर दिए । इसमें किसी को भी आपत्ति नहीं, परन्तु शेष कारणों की संगति नहीं बैठती ।

आचार्य देव ने सुन्दर पद्धति से अलंकार-निरूपण नहीं किया । लक्षण दोहों में तथा भेदों सहित उदाहरण कवित्तों में हैं कहीं अलंकार एक साथ दे दिए हैं (गौण अलंकारों में विशेष रूप से) । उदाहरण भी एक ही साथ पद की प्रति पंक्ति में रख दिए हैं, जो पाठक को स्पष्टतः विवेचन उपलब्ध नहीं करने देते ।[2]

देव ने अतिशयोक्ति, अपह्नुति तथा आक्षेप जैसे अलंकारों के भेदोपभेदों का वर्णन भी नहीं किया । उदाहरण अवश्य दिये हैं ।

चित्रालंकार

'भावविलास' में देव ने शब्दालंकारों का वर्णन नहीं किया, परन्तु 'शब्द-रसायन' में अनुप्रास, यमक और चित्र का विवेचन किया है । रसरीति के सनाथ कर्त्ता चित्र के मूल में अनुप्रास और यमक दोनों रहते हैं । चित्रालंकार के अन्तर्गत प्रहेलिका का वर्णन भी है । देव ने शब्दालंकारों में चित्र को हेय माना है । शाब्दिक मधुरता और चित्रोपमता रहने पर भी अर्थाभाव या क्लिष्टता के कारण चित्रकाव्य को देव ने 'मृतककाव्य' या 'प्रेतकाव्य' ही कहा है । चित्रकाव्य को आदर की दृष्टि से देखने वालों पर व्यंग्य भी किया है—

सरस वाक्य पद, अरथ तजि, शब्द चित्र समुहात ।
दधि, घृत, मधु पायस तजि, वायसु चाम चबात ॥[3]

अर्थात्, चित्रकाव्यप्रेमी वायस (कौए) हैं, जो सूखा चमड़ा चबाने की रुचि रखते हैं । परन्तु कौआ सूखा चमड़ा नहीं चबाता । तब भी हृदयहीनों के प्रति यह व्यंग्य है । स्वयं देव ने अनुप्रास और यमक का सहारा खूब लिया है । इन दोनों को चित्रकाव्य का मूल भी माना है, लगता है कि चित्रकाव्य का मूल इन दोनों अलंकारों को मानते हुए भी देव इनके रस-सहायक प्रयोग के पक्षपाती थे ।

नवीन अलंकार

देव ने शब्दरसायन[4] में गुणवत्, लेख, संकीर्ण और प्रत्युक्ति चार नए अर्थालंकार दिए हैं और सिंहावलोकन (यमकभेद) शब्दालंकारों में नवीन अलंकार

१. मुख्यन ही कीं छाँह लै, चले चलत तद्‌भेद,
देसकाल मिलि वस्तु गुन, मिश्रि बिचार अखेद,
ए अर्थालंकार सब, और अनेक प्रकार,
उदाहरे निज बुद्धि सम, लच्छन लक्ष्य विचार ।
शब्दरसायन—देव, पृष्ठ १२९

२. शब्दरसायन—देव, पृष्ठ १२२-१२३

३. शब्दरसायन—देव, पृष्ठ ६०

४. शब्दरसायन—देव, पृष्ठ १२४-१२८

कहा है। देव के गुणवत् के अनुरूप ही गुणवंत अलंकार का निरूपण अलंकार-पंचाशिकाकार मतिराम ने किया था, परन्तु उसमें सम्पत्ति पाकर छोटे व्यक्ति के बड़े बनने का वर्णन है। (मतिराम में इसकी व्याख्या हो चुकी है) उदाहरण भी ऐसे ही व्यक्ति का है। देव की दशा भी ऐसी है। इन्होंने भी गुणवत् अलंकार वहाँ माना है, जहां गुणियों की संगति में निर्गुणी (गुणहीन) भी गुणी तथा प्रवीण हो जाए। इन्होंने गुणवत् का उलटा प्रत्यनीक माना है—प्रत्यनीक में निर्गुणी भी (गुणहीन भी) गुणी को गुणहीन बना देता है। इससे सिद्ध है कि देव ने गुणवत् अलंकार प्रत्यनीक का विरोधी माना।[1] उदाहरण इस प्रकार है--

चंदन के संग जाइ मिल्यौ अंग,[2]

चंदन के साथ अंग का मिलना ही गुणवत् की छटा दर्शाता है। अंग चंदन की शोभा जैसे हो गए अथवा अंग चंदन के से शीतल हो गए। इसमें गुणवत् अलंकार है।

मतिराम ने इस अलंकार का लक्षण तथा उदाहरण दरबारी जीवन का दिया है, जिसमें खुशामदी प्रवृत्ति की गंध है। देव के उदाहरण में सौन्दर्यचित्रण की। इससे इस अलंकार के दोनों क्षेत्रों में रहने का व्यक्त संकेत है। यद्यपि अंगों की प्रशंसा में, उसके गुण को गौरव प्राप्त करने में भी खुशामदी प्रवृत्ति विद्यमान है। तथापि देव का उदाहरण मतिराम से अवश्य हीं सरस और उचित है। देव के प्रत्यनीकालंकार का लक्षण नया है। प्राचीन लक्षण से उसका कोई सम्बन्ध नही है। प्रत्यनीक के लक्षण में पहले प्रतिकार का भाव प्रधान था। देव ने संगति की प्रधानता लक्षण में ला दी है।

लेख अलंकार में गुणों का दोष और दोषों का गुण रूप में बखान होता है। उदाहरण भी पठनीय है :—

निर्मलता गुन मोती बिंधाइ, छिप्यौ कुटिलालक लाल-फनिंद सों[3]

उदाहरण में मोती का निर्मलता के कारण बिंध जाना और कुटिल अलकों का लाल फनिंद से छिप जाना गुण-दोष के, दोष और गुण रूप में परिवर्तित होने की अभिव्यक्ति है। लेख अलंकार का रूप शोभाकर मित्र के व्यत्यास अलंकार में देखने को मिलता है। व्यत्यास अलंकार वहाँ होता है, जहाँ दोष का गुणत्व और गुण

---

१. (क) कछु संपत ही पाइ के लघु दीरघ ह्वै जात।
सो गुणवन्त कहन्त हैं, मंदमतिन समुझात ॥२२॥
अलंकारपंचाशिका—मतिराम, पृष्ठ ४

(ख) गुनवत संग गुनीन के, निगुनी गुननि प्रवीन,
प्रत्यनीक उलटो गुनहि, निगुन करै गुनहीन ॥
शब्दरसायन—देव, पृष्ठ १२४

२. शब्दरसायन—देव, पृष्ठ १२४

३. गुन दोषन के दोष गुन, लेख सु कहौ बखानि।
शब्दरसायन—देव, पृष्ठ १२४

का दोषत्व हो जाय।[1] देव ने शोभाकरमित्र का ग्रन्थ तो नहीं पढ़ा लगता, परन्तु अनायास ही दोनों आचार्यों ने गुण-दोष परिवर्तनमय भाव के लिए इस अलंकार की उत्पत्ति की है, जो नामभेद होते हुए भी कालक्रम से मिल गई है।

संकीर्ण भावोपमा का वर्णन देव ने उपमाभेदों में किया है, परन्तु संकीर्ण नाम का पृथक् अलंकार भी माना है। यह अलंकार बहुलक्ष्य की पूर्तिहेतु प्रयुक्त होता है। विकल्प अलंकार के विरोधी रूप में इसका प्रयोग देव ने किया है। विकल्प में तुल्यबल वाले दो व्यक्तियों का विरोधवर्णन (शक्तिवर्णन) रहता है। परन्तु संकीर्ण में अनेक लक्ष्यों की ओर भागने की प्रवृत्ति रहती है।[2] उदाहरण भी विलासात्मक जीवन की प्रवृत्ति का द्योतक तथा मनोवैज्ञानिक प्रभाव का दर्शक है। उदाहरण पठनीय है—

विकल्प : वेई बसैं कि, बसैं हमहीं, पतिनी, कहौ तौ जिय लागैं बिनोदिनी,
(वेई बसैं की बसैं हमही, इतनी कहौ, तो जिय लागैं सो मोदिनि।)
संकीर्ण : वे नलिनी, अलि ह्वै चलि भोगिये, देव, मिली बहुचंद कमोदिनी।[3]

संकीर्ण का उदाहरण कितना सुन्दर है कि वे यदि नलिनी हैं तो भंवरे बन कर भोग कीजिए और बहुचंद कुमुदिनियों के मिलने की भांति भोगिए। बहुलक्ष्यता से भोग नलिनियों और कुमुदिनियों के प्रति व्यक्त किया गया है। यह भोगपरक प्रवृत्ति का उदाहरण है, इसलिए इस अलंकार का सम्बन्ध देव के शब्दों में (या उनके काल में) जीवन की भोगवादी प्रवृत्ति की चमत्कारात्मक अभिव्यक्ति के लिए हुआ है।

प्रत्युक्ति अलंकार में उक्ति प्रत्युक्ति है। यह प्रश्नोत्तर अलंकार का नया नाम मात्र है। इस अलंकार का लक्षण देव ने नहीं दिया। उदाहरण भी इसी दृष्टि का है।

जान दे गोरस, दाँन कहा को, न दान लिए बिन जान न दैहौं,
माधुरी को चलिकै, छलिकै, कलिकै, पलिकै, अलिकै मुख लैहौं।[4]

उदाहरण स्पष्टतः प्रश्नोत्तर अलंकार का ही है। इसलिए प्रत्युक्ति नया नाम ही है।

सिंहावलोकन यमक का एक भेद है। देव ने उसका लक्षण नहीं दिया परवर्ती आचार्य भिखारीदास ने इसका लक्षण दिया है कि छंद के चरणान्त का वर्ण यदि दूसरे चरणारम्भ में यमक बनाए तो उस सौन्दर्यविधान को सिंहावलोकन कहते हैं।[5]

---

१. दोषगुणयोरन्यथात्वं व्यत्यासः ॥६६॥
यत्र दोषस्य गुणत्वं, गुणस्य दोषत्वं च भवति स व्यत्यासः। अस्य देशभेदेन कालभेदेन वा दोषगुणयोरन्यथाभावे चत्वारो भेदाः।
अलंकाररत्नाकरः—शोभाकर मित्र, पृष्ठ ११६

२. विकल्प बिबिरिपु तुल्यबल, संकीरण बहुलक्ष।
शब्दरसायन—देव, पृष्ठ १२६

३. शब्दरसायन—देव, पृष्ठ १२६

४. शब्दरसायन—देव, पृष्ठ १२८

५. काव्यनिर्णय—भिखारीदास, पृष्ठ ५५५

देव के नए अलंकारों में गुणवत् अवश्य ही कुछ सौन्दर्यविधायक है। लेख यद्यपि शोभाकर के व्यत्यास अलंकार से प्रभावित है, परन्तु शैली मात्र ही है। विशेष सौन्दर्य वहां नहीं। संकीर्ण में भी अलंकार होने की अपेक्षा वर्णन मात्र होने की क्षमता है। प्रत्युक्ति प्रश्नोत्तर है। सिंहावलोकन नया प्रयास है। संस्कृत में दण्डी और भाषाकाव्य में केशव द्वारा बहुर्चचित यमक अलंकार का नया नाम-भेद प्रस्तुत करना ही नवीनता है। इसलिए देव का महत्व रीतिकालीन भाषाकाव्यशास्त्र में दो कारणों से सिद्ध है—

(१) अलंकार को रसोत्कर्षकारक मानना।

(२) नये अलंकारों की उद्‌भावना के लिए उपयोगी उदाहरण प्रस्तुत करना। (यद्यपि सिंहावलोकन (यमक-भेद) का लक्षण न देने से उनकी समर्थता में कुछ न्यूनता आई है।)

आचार्य देव के कवि होने के बल से अपने विविध उदाहरणों द्वारा दोनों ग्रन्थों में अलंकार-विवेचन करके उसे (अलंकार को) काव्यविद्या का पंचमांग सिद्ध करने की कुशलता गौरवमयी है।

श्रीधर ओझा : भाषा-भूषण (रचनाकाल सं० १७६७ वि०)

श्रीधर ओझा या मुरलीधर की एक कृति 'भाषाभूषण' है, जिसकी हस्त-लिखित प्रति काशी-नागरी-प्रचारिणी-सभा के पुस्तकालय में है। इसने महाराज जसवन्तसिंह के 'भाषाभूषण' का अनुकरण करते हुग लक्षण-लक्ष्य का क्रम तद्वत् रखा है। पुस्तक का आधार क्रमशः 'चन्द्रालोक' और 'कुवलयानंद' ही हैं। ग्रन्थ के अंतिम भाग में "काव्यप्रकाश" नाम देकर नायिकाभेद का वर्णन किया गया है। अप्पय्य दीक्षित तथा महाराज जसवन्तसिंह के लक्षणों का क्रमिक प्रभाव इस ग्रन्थ के अलंकार-लक्षणों पर है। उदाहरणतः—

श्रीधर ओझा—सो विभावना, हेतु बिन कारज कौ उद्योत।
बिन जावक चरनन जिते, अरुन कमल दल गोत॥

जसवन्तसिंह— होति छ भांति विभावना, कारन बिनहीं काज।
बिनु जावक दीनें चरन, अरुन लखे हैं आज॥१०९॥

अप्पय्य दीक्षित—विभावना विनापि स्यात् कारणं कार्यजन्म चेत्।
अप्यलाक्षारसासिक्तं रक्तं तच्चरणद्वयम्॥७७॥[1]

अप्पय्य दीक्षित के इस लक्षण का अधिक संगत अनुवाद श्रीधर ओझा का है। ऐसा लगता है कि श्रीधर ओझा ने जसवन्तसिंह जी का 'भाषाभूषण' ग्रन्थ भी देखा होगा और स्वयं भी भाषा-कवियों के लिए एक नया भूषण ग्रन्थ बना दिया और नाम वही रखा। इन्होंने संस्कृत से स्वतंत्र रूप में अनुवाद किया है, जो कि उपर्युक्त

१. (क) भाषाभूषण—श्रीधर ओझा, पृष्ठ ३३
(ख) भाषाभूषण—जसवन्तसिंह, पृष्ठ ५६
(ग) कुवलयानंदः—अप्पय्य दीक्षित, पृष्ठ १४२

उदाहरण से ही स्पष्ट हो जाता है। इस पुस्तक से यह भी अनुमान लगता है कि तब का आचार्य भाषा में भूषणों (अलंकारों) का वर्णन प्रदान करने वाली कृति का नाम 'भाषभूषण' ही रखना उचित समझता था।[1]

गोप : रामचन्द्राभरण (रचनाकाल सं० १७७३ वि०)

गोप कवि के दो ग्रन्थ 'रामचन्द्राभरण' तथा 'रामचन्द्राभूषण' नाम से माने जाते हैं। इनमें से रामचन्द्राभूषण के प्रथमार्ध में दोहों में अलंकार-लक्षण हैं और द्वितीयार्ध में केवल उदाहरण हैं।

रामचन्द्राभरण में लक्षण के साथ ही दोहों और कवित्तों में उदाहरण दिये हैं। इस ग्रन्थ में भगवान् राम तथा सीता जी के चरित्र से सम्बद्ध उदाहरण भी दिए गए हैं। रूप-माधुर्य से सम्बद्ध उदाहरण अधिक हैं। 'चन्द्रालोक', 'कुवलयानंद' तथा 'भाषाभूषण' का प्रभाव अवश्य ही इस ग्रन्थ पर है।

अर्थालंकारों का क्रम कुवलयानंद का ही है। शब्दालंकारों में केवल अनुप्रास का ही निरूपण है। लगता है कि रीतिकालीन काव्य-प्रवृत्ति के अनुसार गोप ने भी भाषाभूषण की भांति केवल अनुप्रास को ही अपनाया।

किसी नये अलंकार की उद्भावना गोप ने नहीं की, अपितु भक्तिकाव्य में अलंकारों को समन्वित कर युगप्रवृत्ति की प्रगति में योग दिया है।

कमारमणि शास्त्री : रसिकरसाल (रचनाकाल सं० १७७६ वि०)

तैलंग ब्राह्मण कुमारमणि शास्त्री ने 'रसिकरसाल' ग्रन्थ की रचना रसिकों के लिए की। इनके ग्रन्थ पर आचार्य मम्मट का सीधा प्रभाव परिलक्षित है। इनकी अपनी उक्ति ही इस सम्बन्ध में प्रामाणिक रूप से दी जाती है:—

काव्यप्रकाश विचार कछु रचि भाषा में हाल।
पंडित सुकवि 'कुमारमनि' कीन्हौं रसिक रसाल॥[2]

'रसिकरसाल' के कर्त्ता ने भी उपमा अलंकार की चर्चा मम्मट की भाँति की है। इसे ही महत्व भी दिया है। ग्रन्थ के सातवें उल्लास में शब्दालंकार और आठवें में अर्थालंकारों का विशद् निरूपण है। अनुप्रासालंकार के प्रसंग में रीति सम्बन्धिनी चर्चा भी है। इस उल्लास के शब्दालंकारों के विवेचन में 'काव्यप्रकाश' के अतिरिक्त 'साहित्यदर्पण' से भी सहायता ली गई है। अर्थालंकारों के निरूपण में अप्पय्य दीक्षित के 'कुवलयानंद' का प्रभाव दिखाई देता है।

इन्होंने किसी नवीन अलंकार की उद्भावना नहीं की है। परन्तु उदाहरण-पक्ष में संस्कृत के आचार्यों की पद्धति अपनाई और अपने काल के तथा पूर्ववर्ती काव्यकारों के पद्यों को उदाहरणस्वरूप रखा है।

---

१. भासहि में मनि भूसन सो सुरभास ज्यों भूषन भांति भली है।
भाषाभूषण—श्रीधर ओझा, पृष्ठ ६२

२. रसिक रसाल—कुमारमणि शास्त्री, पृष्ठ २

शास्त्रीय विवेचन की दृष्टि से कुमारमणि शास्त्री चिन्तामणि और कुलपति मिश्र की सरणी के आचार्य हैं।

रसिकसुमति : अलंकार-चन्द्रोदय (रचनाकाल सं० १७८६ वि०)

आगरावासी रसिकसुमति के 'अलंकार-चन्द्रोदय' ग्रन्थ में अर्थालंकारों और शब्दालंकारों का निरूपण है। इसमें भाषाकाव्यशास्त्र की परम्परानुसार प्रथम अर्थालंकार तदनन्तर (१८०वें पद के अनन्तर) शब्दालंकारों की चर्चा भी है। अर्थालंकारों में प्रत्यनीक अंतिम है। शब्दालंकारों में वृत्त्यनुप्रास, छेकानुप्रास, और लाटानुप्रास का निरूपण है। रसिकसुमति ने अपने ग्रन्थ-निर्माण में सहायक संस्कृत-काव्यशास्त्र के 'कुवलयानंद' ग्रन्थ का स्पष्ट उल्लेख किया है।[1]

ग्रन्थकार ने सर्वप्रथम उपमालंकार का वर्णन किया है। वह भी कुवलयानंद की भाँति ही। कुलपति मिश्र के मुहल्लावासी होने के कारण रसिकसुमति पर उनका प्रभाव था। उपमान और उपमेय को उपमोपयोगी होने के कारण इनकी चर्चा भी कुलपति मिश्र जैसी है।

रसिकसुमति : उपमानरु उपमेय तें अलंकार बहु होत।
या तें पहिले दुहुनि के लछन करत उदोत ॥६॥
कुलपति मिश्र : उपमान अरु उपमेय हैं, अलंकार के प्रान।
ताते इनको प्रथम ही, कहियत रूप बखान ॥१॥[2]

हिन्दी के भाषाकाव्यशास्त्र की परम्परागत सम्पत्ति में से 'अलंकारचन्द्रोदय' पर 'भाषाभूषण' की विवेचनपद्धति का प्रभाव है। पद्य में ही सरल लक्षण और उदाहरण दिए गए हैं। प्रत्येक भेद के लक्षणोदाहरण के लिए स्वतंत्र रूप से दोहे का प्रयोग किया गया है।

इनके उदाहरणों में विविधता है। बहुत से उदाहरण कवि के अपने हैं, श्रीकृष्ण (मनमोहन) के जीवन की घटनाओं का चित्रण भी अलंकारों के लिए हुआ है। जैसे—

साधारण उपमेय जुत लुप्ता पँच एंगाइ।
नंदनंदन निरषत रहत दिग्गज से सिर नाइ ॥१५॥
साधारण उपमान वाचक त्रय लुप्ता ऐन।
रसिक सुमति गज गेंन हैं, मनमोहन मृगनैंन ॥१८॥[3]

---

१. रसिक कुवलयानंद लखि, अलि-मन हरस बढ़ाइ।
अलंकार-चन्द्रोदयहिं, वरनतु हिय हुलसाइ ॥
अलंकारचन्द्रोदय—रसिकसुमति, पृष्ठ १

२. (क) अलंकार चन्द्रोदय—रसिकसुमति, पृष्ठ १
(ख) रसरहस्य—कुलपति मिश्र, पृष्ठ ५८

३. अलंकारचन्द्रोदय—रसिकसुमति, पृष्ठ १

सामाजिक तथा विलासपरक भावनाओं से भरे पद्य भी उदाहरण स्वरूप दिए गये हैं। कहीं-कहीं उदाहरणों में बिहारी सरीखे कवियों की छाया भी है। जैसे—

सुभाओक्ति सो बरनियें जैसो रूप सुभाउ।
सीस मुकुट कटि काछनी स्यामगात ब्रजराज ॥[1]

रसिक सुमति ने किसी नये अलंकार की उद्भावना नहीं की, तब भी प्रचलित पद्धति पर चलकर स्पष्ट लक्षण और बहुधा उपयुक्त उदाहरण देकर अपने ग्रन्थ को भाषाकाव्यशास्त्र की परम्परा में गौरवमय स्थान का भागी बना दिया है। अर्थालंकारों का विवेचन स्वतंत्र दृष्टिकोण का दर्शक है और शब्दालंकारों में युगीन प्रवृति का प्रभाव है। रसोत्कर्षकारक अलंकारों का निरूपण करने के कारण रसिक-सुमति का स्थान कुलपति की पद्धति का है, चाहे इन्होंने साहित्य के विविधांगों का निरूपण नहीं भी किया, तथापि उन्हीं अलंकारों को रखा है, जो रसबाधक नहीं हैं।

सोमनाथ : रसपीयूषनिधि (रचनाकाल सं० १६६४ वि०)

सोमनाथ के 'रसपीयूषनिधि' ग्रंथ का भाषा-काव्यशास्त्र में सम्मान है। इसकी इक्कीसवीं तरंग में शब्दालंकार तथा २२ वीं में अर्थालंकारों का विवेचन है। आचार्य सोमनाथ ने शब्दालंकारों में वक्रोक्ति तथा अर्थालंकारों में उपमा को महत्व दिया है।

सोमनाथ ने 'रसरहस्य' के समान शब्दालंकारप्रकरण और 'भाषाभूषण' की भाँति अर्थालंकारों का क्रम रखा है। 'भाषाभूषण' तो कुवलयानन्द का अनुकरण ग्रन्थ और 'रसरहस्य' का शब्दालंकारप्रकरण मम्मट-विश्वनाथ आदि संस्कृत आचार्यों से प्रभावित है। सोमनाथ ने संस्कृतग्रंथों का भलीभाँति अध्ययन कर अधिकाँश में स्वतन्त्र रूप से अपने मत प्रस्थापित किये हैं। वे अपने आप को नीर-क्षीर-विवेकी विद्वानों का वंशज मानते थे।[2] जो विद्वान् सोमनाथ को सीधा रस रहस्य और भाषाभूषण से ही प्रभावित मानते हैं, उनके मत के संबंध में दो बातें विचारणीय हैं—

१. 'रसरहस्य' में कुलपति मिश्र ने शब्दश्लेष और अर्थश्लेष का पृथक्-पृथक् विस्तृत निरूपण किया है, परन्तु सोमनाथ ने केवल शब्दालंकारों में ही श्लेष का विवेचन किया, अर्थालंकारों में नहीं। न ही श्लेष के भेदों की चर्चा ही की है। 'रसरहस्य' के शब्दालंकारों में 'पुनरुक्तवदाभास' भी है, परन्तु सोमनाथ ने इसे नहीं लिया, इस प्रकार कुलपति का क्रम भी इन्होंने पूर्णतया नहीं अपनाया है।

---

१. अलंकारचन्द्रोदय—रसिकसुमति, पृष्ठ ३
२. नीर क्षीर न्यारे दरसावन समत्थ सदा सोमनाथ कहें कहुं काहू के न कसके।
रसपीयूषनिधि—सोमनाथ, (कवि-प्रशंसा-प्रसंग) पृष्ठ ५

२. 'भाषाभूषण' का अपना क्रम 'कुवलयानन्द' का है, वही क्रम रसपीयूषनिधि में भी है, परन्तु सोमनाथ ने प्रत्यनीक को काव्यार्थापत्ति से पूर्व न रख कर अन्त में रखा है। अनुमान अलंकार की अन्त में चर्चा की है। संकर और संसृष्टि को देना भी आचार्य सोमानाथ नहीं भूले। इसलिए क्रम में भी आचार्य सोमनाथ ने स्वतंत्रता से काम लिया, परन्तु कुवलयानन्द की भांति संकर-संसृष्टि को सविस्तर अवश्य निरूपित किया। भाषा-काव्यशास्त्र में कुलपति के बाद इतना विस्तार इन दो अलंकारों को इन्होंने ही दिया है।

सोमनाथ के उदाहरणों में मौलिकता है। सभी रसों की सरसता उनमें है। अपने काल के विलासी राज-जीवन की एक झांकी सन्देहालंकार में आचार्य ने इस प्रकार दी है—

संदेहालंकार—या को नाम ही है लछन।
निरषत ही मोहित भए श्री परताप सुजान।
तिय तुव कर की आंगुरी किधौं मदन के बान ॥४२॥[1]

रसपीयूषनिधिकार ध्वनि-सम्प्रदाय का पोषक आचार्य है। अलंकार-प्रसंग के सुगम और स्पष्ट होने के कारण अलंकारवादी परम्परा में आचार्य सोमनाथ का पर्याप्त महत्व है।

रघुनाथ : रसिकमोहन (रचनाकाल सं० १७९६ वि०)

'रसिक-मोहन' के लेखक रघुनाथ कवि ने अपने आश्रयदाता की इच्छापूर्ति के लिए ग्रन्थ लिखा। यह परम्परा संस्कृत से चली आ रही थी। परन्तु रघुनाथ बंदीजन ने अपनी आधारभूत साहित्यिक स्वतंत्रता को जीवित रखा। अलंकारों के उदाहरणों में कवि अपने आश्रयदाता के गुणगान से मुक्त नहीं हो पाया।[2] तथापि जनजीवन तथा विविध रसों, भावों और समस्याओं से सम्बद्ध उक्तियाँ प्रस्तुत करने में भी वह पीछे न रहा।

इस ग्रन्थ का विभाजन मंत्रों में है। 'कुवलयानन्द' का प्रभाव साधारणतया सभी लक्षणों पर है। अपनी प्रतिभा की कुशलता भी कवि ने अधिक प्रदर्शित की है। सारा ग्रन्थ अलंकारों का ही आगार है।

नए अलंकारों में कवि ने 'प्रेमात्युक्ति' का नाम लिया है। व्याजोक्ति का नाम दो बार आया है। पहले व्याजोक्ति के दो भेद माने हैं। दूसरे स्थान पर केवल व्याजोक्ति का नाम लिया है।[3] व्याजोक्ति का जहां प्रथम निरूपण किया गया है,

---

१. रसपीयूषनिधि—सोमनाथ, पृष्ठ १५६

२. कियो रसिक मोहन सुभग ग्रन्थ सुकवि रघुनाथ।
बिच बिच काशी नृपति के कहे बिसद गुनगाथ॥
रसिकमोहन—रघुनाथ पृष्ठ-७३

३. (क) बरनत हैं व्याजोक्ति को सकल सुकवि द्वैरीति ॥२७॥
(ख) इक व्याजोक्ति गूढ़ोक्ति और विव्रतोक्ति इक मानि ॥४४॥
रसिकमोहन—रघुनाथ, पृष्ठ-३, ४

वहां व्याजस्तुति का लक्षण है । व्याजोक्ति नाम तो कवि ने पद्धति-परिवर्तन के लिए नहीं कहा, अपितु अलंकार की आत्मा देख कर कहा है । व्याजस्तुति अलंकार में भी व्याज से स्तुति और व्याज से निन्दा होती है। इसलिए कवि ने इसका नाम व्याजोक्ति ही रख दिया है । लक्षणोदाहरण पठनीय हैं—

रघुनाथ—निंदा सो अस्तुति जहाँ प्रगट परति है जोइ ।
अस्तुति सों निंदा जहाँ ब्याज उक्ति तहं होइ ॥२१०॥

अप्पय्य दीक्षित—उक्तिर्व्याजस्तुतिर्निदास्तुतिभ्यां स्तुतिनिंदयोः ॥७०॥[1]

अप्पय्य दीक्षित के लक्षण में 'उक्तिर्व्याज' शब्द से सम्भवतः कवि रघुनाथ ने अपने व्याजस्तुति अलंकार का नाम नवीनता प्रदर्शन के हेतु व्याजोक्ति रख लिया, परन्तु व्याजोक्ति वहां होती है, जहां किसी दूसरे कारण को बताकर उसके द्वारा आकार का गोपन किया जाता है । रघुनाथ बंदीजन इस तथ्य को समझते थे । इसलिए उन्होंने कुवलयानंद के अनुसार ही व्याजोक्ति का लक्षण दिया है:—

रघुनाथ—अलंकार व्याजोक्ति तहां बरनत कवि एहिं रीति ।
गोपन करे आकार को जहां और के भीति ॥४३१॥

अप्पय्य दीक्षित—व्याजोक्तिरन्यहेतूक्त्या यदाकारस्य गोपनम् ।[2]

इस तरह रघुनाथ का व्याजोक्ति व्याजस्तुति के लिए नामप्रयोग भ्रांति है ।

अत्युक्ति अलंकार का एक नया भेद प्रेमात्युक्ति के नाम से प्रस्तुत किया । यह अलंकार-साहित्य में केशकर्षण की प्रवृत्ति का द्योतक है । अत्युक्ति में शूरता, उदारता आदि का अद्भुत तथा झूठा (अतथ्य) वर्णन किया जाता है । रघुनाथ कवि ने इस अत्युक्ति का क्षेत्र प्रेमभाव तक विस्तृत कर दिया । प्रेम में अत्युक्ति का वर्णन मुसलमानी सभ्यता और जीवन-यापन की पद्धति से आया । मुसलमानी फारसी और अरबी-साहित्य में प्रेम के ऐसे वर्णन रहते हैं, जहाँ सत्य का अंश तो कोसों दूर रहता है । वहाँ तो मखमल के फर्श पर पांव घिसने के वर्णन हैं । बिस्तर झाड़ कर प्रेमाकुल प्रेमी की खोज भी प्रसिद्ध है । उन्हीं का प्रभाव हिन्दी-काव्य पर भी पड़ रहा था । प्रेम जैसे पावन भाव में भी अत्युक्ति का समावेश हो गया । सत्य-प्रेम की ज्वाला में असत्य की झूठी चमक आ गई । आचार्य शुक्ल ने रीतिकाल के जिन ऊहात्मक वर्णनों अथवा दूर की कौड़ी लाने के चमत्कारों का विस्तार से व्यंगपूर्ण निर्देश किया है, रघुनाथ बंदीजन ने अपने ही युग में इस प्रवृत्ति का अनुभव कर लिया था और उसी को स्पष्ट करने के लिये उन्होंने प्रेमात्युक्ति अलंकार को जन्म दिया । रघुनाथ कवि ने अपना उदाहरण गोपियों के जीवन से सम्बद्ध दिया है, जो उनके काल के झूठे प्रेम-वर्णन का प्रतीक है । गोपियों के वास्तविक प्रेम-वर्णन की वहां

१. (क) रसिकमोहन—रघुनाथ, पृष्ठ ४३
(ख) कुवलयानंदः—अप्पय्य दीक्षित, पृष्ठ १२८

२. (क) रसिकमोहन—रघुनाथ, पृष्ठ ६५
(ख) कुवलयानंदः—अप्पय्य दीक्षित, पृष्ठ २४६

गन्ध नहीं। कहने का तात्पर्य यह है कि इस अलंकार-भेद का जन्म तत्कालीन सामाजिक तथा विलासपरक झूठें प्रेम के प्रभाव से हुआ। उदाहरण पठनीय है—

जाइ लियो उनके कर सों प्रभ जो लिखि आपुन मोहि दयो तो।
और संदेसो कछु मुख पाठ सो उद्दित हों करिवे कों भयो तो॥
एते मैं गोपिनि के अंसुआ रघुनाथ चले रथ घेरि लियो तो।
कौन कथा कहिये उनकी प्रभु भागिन आऊँ तो बूड़ि गयो तो॥४३६॥[1]

इस ग्रन्थ के उदाहरणों में रघुनाथ बंदीजन की प्रतिभाकुशलता का चमत्कार देखने को मिलता है। चाहे आलोचक अलंकारों को काव्य में खिलवाड़ कहें या काव्य को अलंकारों का कौतुकागार मानें, परन्तु ऐसा लगता है कि 'रसिकमोहन' के उदाहरणों में अलंकारों का बाजार खुला है। जौहरी की दुकान में सजे अलंकार जनता को भाये परन्तु रघुनाथ बंदीजन को दुकानें मिल गईं अलंकारों को लगाने और सजाने के लिए। तब यह कथन कितना यथार्थ है कि अलंकार युग-जीवन की प्रवृत्तियों की सफल अभिव्यक्ति में चमत्कार लाने का प्रबल साधन है। अन्य काव्यांग आएं या न आएं, परन्तु अलंकार आ पहुंचता है। श्लेष का चमत्कार दर्शनीय है—

वर्ण्यावर्ण्य श्लेष

भरे तनसुख सिरी साफ सोहै रघुनाथ,
अतलस रही गजगति मैं बखान है।
झिलमिली बुंदी की बिराजै पाँति न्यारी नीकी,
काकनी निहारी औ रुमाल सुभ ठान है।
गाढ़े कुच की है मेही कमर अलक परी,
औरऊ चिकन पट के तो सुखदान है।
तुम हौ सुजान बनि गई चलि देखौ साज,
आजु बनी बनिता बजाज की दुकान है॥१६३॥[2]

वनिता और बजाज की दुकान में श्लेषालंकार का जोड़ कितना अद्भुत है। क्या अलंकार सामान्य से लेकर विशेष जीवन की सीमा को स्पर्श नहीं कर गये? उत्तर होगा कि निश्चित रूप से कर पाए हैं। इसलिए काव्य में वर्णित भावों में रघुनाथ कवि ने अलंकारों की ऐसी गति दिखाई है कि रीतिकाल में उनका "रसिक-मोहन" अलंकार ग्रन्थ वस्तुतः रसिकों का मोहक बन गया।

उदाहरणों का वैशिष्ट्य इस बात में भी है कि पद्य का हर चरण अलंकार विशेष को व्यक्त करता है। कवि ने इनमें तात्कालिक जीवन की विविध प्रवृत्तियों को भी दर्शाया है। इसलिए यह ग्रन्थ अपने काल की श्रेष्ठ कृति है। यह रीतिकाल की काव्यशास्त्रीय वैदूष्य-पूर्ण विवेचन-पद्धति का सुन्दर उदाहरण-ग्रन्थ है।

---

१. रसिकमोहन—रघुनाथ, पृष्ठ ७१
२. रसिकमोहन—रघुनाथ, पृष्ठ ३२

गोविंद : कर्णाभरण (रचनाकाल सं० १७६७ वि०)

रीतिकाल के काव्य में अलंकारचमत्कार की प्रधानता थी। इसलिए ऐसे ग्रन्थ भी रचे गए, जिन्हें पाठक कण्ठस्थ करने में सफल हों, जो कर्णकटु लक्षणों या उदाहरणों से समन्वित न हों। गोविंद के 'कर्णाभरण' की यही विशेषता है कि वह सरलता, सुबोधता और स्पष्टता के कारण अपने काल के काव्य-प्रेमियों के लिए 'कर्णाभरण' बना।

इस ग्रन्थ में किसी नवीन अलंकार की उद्भावना नहीं है, कुवलयानन्द या भाषाभूषण की रीति पर यह लिखा गया है। इन दोनों से अन्तर यह है कि कहीं-कहीं लक्षणों और उदाहरणों के लिए अलग-अलग दोहे भी प्रयुक्त किए गए हैं। कवि की प्रतिज्ञा तो एक ही पद में लक्षण-लक्ष्य-युक्त ग्रन्थ लिखने की थी[1] परन्तु पूरी न उतर पाई। लक्षण-लक्ष्य का भिन्न-भिन्न पदों में स्पष्ट उपयुक्त समन्वय का यह उदाहरण पठनीय है—

समालंकार (लक्षण) जहं दोउ अनुरूप को बरनन करिबो होइ।
अलंकार सम ताहि को कहत सयाने लोइ॥
(उदाहरण) जैसो कछु विधि ने कियो पारावार अपार।
तैसोई मुनि मिलि गयो ताको पीवनहार॥[2]

रीतिकालीन भाषा काव्यशास्त्र में इतना सरल और स्पष्ट ग्रन्थ अलंकार-विषय पर ग्राह्य उदाहरणों से समन्वित नहीं लिखा गया था, इसलिए विषय की सुबोधता के कारण इसका महत्व है।

दूलह : कवि-कुल-कंठाभरण (रचनाकाल सं० १८०० वि० के लगभग)

कवि-कुल के लिए कंठाभरण लिखना दूलह को भाया। बात न्यारी नहीं, परन्तु यह ग्रन्थ साधारण पाठकों के लिए नहीं लिखा गया, अपितु सभा में यशभागी बनने की लालसा से लालायित मन वाले काव्यकारों के लिये इसका निर्माण हुआ।[3]

दूलह ने आचार्य केशव तथा देव की भाँति कविता-वनिता को बिना भूषण सुशोभित न होने वाली कहा है। अलंकार (सामान्य) के लक्षण से ही दूलह की श्लेषालंकारप्रियता व्यक्त हो जाती है।[4] यह भी इसी से सिद्ध है कि उन्हें काव्य में

---

१. अलंकार यामें कहत लच्छन लच्छि समेत।
निज मति के अनुसार तें समुझहिं बुद्धिनिकेत॥३॥
कर्णाभरण—गोविंद, पृष्ठ १

२. कर्णाभरण—गोविंद कवि, पृष्ठ १३

३. जो कंठाभरन को कंठ करै सुख पाय।
सभा मध्य सोभा लहै, अलंकृती ठहराय॥४॥
कविकुल-कंठाभरण—दूलह, पृष्ठ १

४. चरन-बरन-लच्छन-ललित रचि रीझै करतार,
बिन भूषन नहिं भूषई कविता, वनिता चार॥२॥
कविकुल-कंठाभरण—दूलह, पृष्ठ १

केशववत् श्लेष अधिक प्रिय रहा, क्योंकि शब्दगत और अर्थगत श्लेष की योजना एक ही स्थान पर अत्यन्त कुशलता से उन्होंने की है। अलंकार सामान्य के लक्षण पर विचार करने से एक ध्वनि और निकलती है कि इसमें 'वनिता चार' का शब्द कितना गूढ़ है। सामान्य अर्थ के अतिरिक्त इसका तात्पर्य यदि चार वनिताओं—पद्मिनी, हस्तिनी, शंखिनी और चित्रिणी से है तो क्या दूलह कविता (काव्य) के उत्तमोत्तम, उत्तम, गुणीभूतव्यंग्य और चित्र-काव्य की ओर तो संकेत नहीं कर गए ? और प्रथम पंक्ति का लच्छन ललित (लक्षण) शब्द भी वनिताओं के लक्षणों और चतुर्विध कविता—(काव्य) भेदों के लक्षणों की ओर संकेत करता है? वास्तव में लगता ऐसा ही है कि जिस प्रकार चारों प्रकार की स्त्रियाँ विविध आभूषणों से स्वरुचि-अनुसार आभूषित होकर मोहक बनती हैं, उसी प्रकार काव्य के चारों भेदों में भी अर्थालंकार और शब्दालंकार अपना चमत्कार प्रदर्शित कर काव्य-रसिक-समाज के लिए मोहक बन जाते हैं। इस दृष्टि से विचार करने पर दूलह की प्रतिभा का कौशल इस तथ्य के प्रकट करने में है कि काव्य के लिए अलंकार अनिवार्य हैं। इस भांति केशव और देव की बात कह कर भी दूलह उनसे बाजी मार ले गए हैं।

कवि दूलह ने अपने ग्रंथ पर कुवलयानंद का प्रभाव स्पष्टतः स्वीकार किया है।[1] इस पद में "और और ग्रंथन सों" की चर्चा से यह ज्ञात होता है कि दूलह ने जयदेवादि के ग्रन्थ भी पढ़े होंगे, परन्तु प्रमुखता उन्होंने कुवलयानंद को ही दी। उन्होंने ११५ अलंकारों का निरूपण अपने ग्रन्थ में इसी आधार पर किया और लक्षण-लक्ष्य को एक ही कवित्त में देने की परम्परा ही उन्होंने रखी—

जानिबे के हेत 'कवि दूलह' सुगम कियो,
नाम लच्छय-लच्छन कवित्त ही सों जानिए ॥८॥[2]

किसी नवीन अलंकार की उद्भावना दूलह ने नहीं की। व्याजोक्ति को रसिकमोहन के लेखक रघुनाथ बंदीजन की भांति दो बार रखा। पहले कुवलयानंद में लिखित व्याजस्तुति के लिए, तदनन्तर आकारगोपन के लिए सहेतुका व्याजोक्ति के अर्थ में कहा है।[3]

इस ग्रंथ में शब्दालंकारों की चर्चा पृथक् रूप से नहीं की गई। शब्द-श्लेष अर्थ-श्लेष में आ गया है, अनुप्रास संसृष्टि-संकर में सन्निविष्ट है। छेकानुप्रास सम्बंधी एक पद का उल्लेख पंडित शुकदेवबिहारी मिश्र ने किया है। इसे उन्होंने रत्नाकरी मुद्रित प्रति से लिया है। मिश्र जी के विचार से शब्दालंकार की संसृष्टि देख कर किसी ने उसे बना कर रख दिया है, वैसे यह और कहीं नहीं मिलता, उनके ग्रंथागार

१. कविकुल-कंठाभरण – दूलह, पृष्ठ ७१
२. कविकुल-कंठाभरण—दूलह, पृष्ठ १४
३. व्याजोक्ति सम्बंधिनी रीतिकालीन आचार्यों की भूल की चर्चा रघुनाथ बंदीजन के प्रसंग में दी जा चुकी है।

में निहित प्रति में भी इसका उल्लेख नहीं है।[1]

दूलह के इस ग्रन्थ की एक विशेषता अलंकारों के अन्तर स्पष्टतया दिखाने की है। इन्होंने एक ही अलंकार के भेदोपभेदों के सूक्ष्म अन्तर को समझाने का प्रयत्न सफलता से किया है।

अलंकार-निरूपण

दूलह ने पहले दो दो, तीन तीन अलंकारों के लक्षण दिये हैं, फिर उदाहरण रख दिए हैं। इससे दुरूहता आ गई है। भरती के शब्द भी उदाहरणों में बहुत रखे हैं, जो अखरते हैं। कहीं-कहीं उदाहरण न देकर परिस्थितियों का संकेत भर दे दिया है, जो अनुपयुक्त है।[2]

दूलह के इस ग्रन्थ का भाषा-काव्यशास्त्रीय सम्प्रदाय में यही वैशिष्ट्य है कि अलंकारों के सूक्ष्म अन्तर का विवेचन इसमें है और अलंकारों का संक्षिप्त वर्णन भी नवीन काव्य-लेखकों के लिए दिशा-निर्देश करने में सहायक बना है।

भिखारीदास : काव्य-निर्णय (रचनाकाल सं० १८०३ वि०)

भिखारीदास ने 'काव्य-निर्णय' ग्रन्थ भाषागत काव्यशास्त्रीय सुरुचि के कारण लिखा। आचार्य के मन में 'चन्द्रालोक' और 'काव्य-प्रकाश' के अध्ययन के अनन्तर ग्रंथ लिख कर सुकवियों को रिझाने की प्रबल इच्छा थी[3] और यदि भावी कवि न

---

१. दूलह ने रसवदादि को अलंकार मानने का मत ग्रहण किया है। शब्दालंकारों का आपने कथन किया ही नहीं, संसृष्टि के एक उदाहरण में शब्दालंकार दिखला दिए हैं, जो दोहा ग्रंथ के अंत में लक्षण-रूप में दिया हुआ है, वह हमारे पास की हस्तलिखित प्रति में नहीं है, और न दूलह के वर्णन-क्रम ही में वह कहीं ठीक-ठीक बैठता है, जान पड़ता है कि शब्दालंकार की संसृष्टि देखकर किसी ने उसे बना कर रख दिया है। रत्नाकरी मुद्रित प्रति में इसे पाकर हमने लिख अवश्य दिया है।

कविकुल-कंठाभरण—दूलह, (सम्पादक, शुकदेवबिहारी मिश्र)
भूमिका भाग, पृष्ठ १०-११

२. छेकापह्नुति तथा उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा के उदाहरण :—
(क) आन सुनि संका मानि सपन कहानी ठानि,
वहै छेकापह्नुति जु तथ्य गोपना करै॥१७॥
(ख) वस्तु वारी उकता, अनुकता बखानी हेतु
फलवारी सिद्धा औ, असिद्धा छवि सों छई॥१८॥
कविकुल-कंठाभरण—दूलह, पृष्ठ २४-२५

३. बूझि चन्द्रालोक अरु, काव्यप्रकास हु ग्रंथ।
समझि सुरुचि भाषा कियो, लै औरो कवि पंथ॥
काव्य-निर्णय—भिखारीदास, पृष्ठ २

रीझे तो राधाकृष्ण के स्मरण की कहानी तो यह है ही।[1] इस उक्ति में निहित उदासीनता से एक तथ्य यह ध्वनित होता है कि इतना बड़ा ग्रंथ लिखने पर भी उसे उपयुक्त स्थान न मिलने का उन्हें सन्देह रहा होगा। अनुवादों के उस युग में ऐसी आशंका स्वाभाविक थी। अपने ग्रन्थ में संस्कृत के ग्रन्थों के सर्वथा अनुवाद की बात भी दास ने स्वीकार नहीं की है, क्योंकि अनुवाद (उलथा) करने से सारी बात संस्कृत के आचार्यों वाली ही कही जाती। अपनी ही बात करने-लिखने में तात्कालिक विद्वानों द्वारा उपहास होने की संभावना थी और ग्रंथ को सर्वथा कल्पित सिद्धान्तों का आगार माना जाता, उत्तमता में सन्देह होता, इसलिए आचार्य दास ने दोनों (संस्कृत के ग्रन्थों के सिद्धान्तों के अनुवाद तथा निजी मौलिक सिद्धान्त) को मिश्रित करके इस 'काव्य-निर्णय' की रचना की है। दास ने ऐसा मिश्रण करने के लिए कविजनों से अपराधक्षमा की चर्चा की है, जो उनके पांडित्य का एक बिनम्र पक्ष है।[2] इस ग्रन्थ को कंठस्थ करने वालो के अन्तःकरण में भारती के विकास के प्रति उनका विश्वास था।[3]

भिखारीदास ने अपने ग्रन्थ पर जयदेव के 'चन्द्रालोक' और मम्मट के 'काव्य-प्रकाश' का ऋण स्वीकार किया है। वास्तव में उस काल में लक्षण-लेखन में मौलिकता कहां से आती? संस्कृतकाव्यशास्त्र में सब निर्णीत था, इसलिए लक्षणों का अनुवाद ही तो हो सकता था, फिर भी उसमें स्वतंत्र चिन्तन का पुट आचार्य दास ने दिया है। इतना ही नहीं, उन्होंने कुछ नवीन अलंकार भी हिन्दी अलंकार-शास्त्र को प्रदान किये हैं।

अलंकार-निरूपण

भिखारीदास ने 'काव्य-निर्णय' में तीन बार अलंकार-निरूपण किया है। तृतीय उल्लास में संक्षेपतः अलंकार, अष्टम से अष्टादश तक अर्थालंकार, बीसवें में शब्दालंकार और २१ वें में चित्रकाव्य के रूप में चित्रालंकार का वर्णन है। व्याख्या के लिए गद्य में तिलक (व्याख्या) का प्रयोग भी यत्र-तत्र मिलता है।

इस ग्रंथ के तृतीय उल्लास में कुछ सर्वसामान्य अलंकारों का वर्णन किया गया है। यह "वर्णन" अत्यन्त संक्षिप्त है। यहीं आचार्य ने अलंकारों को वाच्य और

---

१. तातें यह उद्यम अकारथ न जैहे, सब भांति ठहरै है भलो हौ हूँ अनुमानो है। आगे के सुकवि रीझिहैं तो कविताई, न त राधिका-कन्हाई के सुमिरन को बहानो है।
काव्य-निर्णय—भिखारीदास, पृष्ठ ३

२. वही बात सिगरी कहै, उलथो होत इकंक।
निज उक्तिहि करि बरनिय, रहै सुकल्पित संक॥
या तें दुहुं मिश्रित सग्यो, छमिहैं कवि अपराध॥
काव्य-निर्णय—भिखारीदास, पृष्ठ ३

३. काव्य-निर्णय—भिखारीदास, पृष्ठ ५

व्यंग्य रूप में माना है ।[1] संसृष्टि और संकर के भेदोपभेदों की चर्चा भी यहां है। इसलिए ४६ अलंकारों का संदर्शन इस उल्लास में हो गया है। लक्षण-उदाहरण की पद्धति—'चन्द्रालोक' की कहें या 'भाषाभूषण' की ? वास्तव में यह कहना उचित है कि तब की प्रचलित अलंकार निरूपण-शैली—को ही उन्होंने अपनाया है। परन्तु इस उल्लास के विषय-विवेचन पर मम्मट का प्रभाव अधिक है।

आठवें उल्लास से आचार्य भिखारीदास ने सविस्तर अलंकार-वर्णन किया है। पहले के अपने अलंकार-वर्णन का उन्हें स्मरण है, इसलिए 'बहुरि' शब्द का प्रयोग करते हुए यहां भेदोपभेदों की चर्चा की ओर संकेत किया है।[2] यहाँ एक-एक बड़े छन्द में एक ही अलंकार का विस्तृत विवेचन है। अलंकारों को यहाँ माला के समान सजाने की चर्चा भी है।[3]

अलंकार-संख्या

आठवें से १८वें उल्लास तक आचार्य दास ने अपने वर्णित अलंकारों की कुल संख्या १०८ मानी है, जिनमें रस-भावादिगत तथा शब्दार्थालंकार भी परिगणित हैं। इस निम्नलिखित छंद से उनके द्वारा प्रदत्त संख्या स्पष्ट है :—

भूषण छयासी अर्थ के आठ वाक्य के जोर।
त्रि गनि, चारि पुनि, कीजिये अनुप्रास इक ठौर ॥
सब्दालंकृत पांच, गनि चित्र काव्य इक पाठ।
इकइस बातादिक सहित, ठीक सतोपरि आठ ॥[4]

यह संख्या इस प्रकार है : ८६—अर्थालंकार, ८—वाक्यालंकार, ३—भावोदयादि, ४—रसवदादि, १—अनुप्रास, ५—शब्दालंकार, १—इक्कीस भेदवान चित्र। संख्या तो ठीक है, परन्तु स्वीकार्य्य अलंकारों की चर्चा के साथ ही कहीं-कहीं शेष की सूचना मात्र दे दी गई है।

८६ अर्थालंकारों के मानने की समस्या का समाधान यह हो सकता है कि गूढ़ोत्तर और परिकरांकुर को पृथक् न माना जाए, तथा दो वाक्यालंकार भी अलग कर दिए जाएं, तब शेष ८६ रह जाते हैं और ऐसा करने से ही भिखारीदास द्वारा परिगणित १०८ अलंकार भी ठीक बैठते हैं। वर्गीकरण-सम्बंधिनी चर्चा अलंकारों

---

१. कहुं बचन, कहुं व्यंग में, परें अलंकृत आइ।
ता ते कछु संक्षेप करि तिन्हें देति दरसाइ ॥
काव्य-निर्णय—भिखारीदास, पृष्ठ ५५

२. अलंकार रचना बहुरि, करौं सहित विस्तार।
एक एक के होत हैं, भेद अनेक प्रकार ॥
काव्य-निर्णय—भिखारीदास, पृष्ठ १५८

३. बड़े छंद में एक ही, भूषण कौ विस्तारु।
करौ घनेरौ धरम भनि, कै माला सजि चारु ॥
काव्य-निर्णय—भिखारीदास पृष्ठ १५६

४. काव्य-निर्णय—भिखारीदास, पृष्ठ ६१७

के वैज्ञानिक अध्ययन वाले अध्याय में ही की जाएगी, यहाँ केवल निर्देश-मात्र उचित है।

शब्दालंकारों में दास का प्रतिभा-प्रदर्शन

चित्रालंकार का चित्रण भी केशव-समान विस्तृत है, परन्तु भिखारीदास ने एक नवीन तथ्य यह जोड़ा है कि चित्र-कवित्तों के वर्णन करने में सुकवियों की वाणी थक जाती है, और चित्रकाव्य में चमत्कार का अभाव या हीनार्थ दोष, जहाँ दोष भी नहीं माने जाते। ब, व, ज, य का चित्रकाव्य (चित्रालंकार) में अन्तर नहीं रहता है। बिंदु और अर्धचन्द्र बिन्दु का भी विचार यहाँ नहीं रहता। अक्षरों के प्रयोगान्तर की अस्वीकृति तथा अनुस्वार, अर्धचन्द्र और बिन्दु का अविचार भाषा-काव्यशास्त्र की प्रवृत्ति में खप सकना दास के काल में संभव होगा, परन्तु संस्कृत या खड़ी बोली में संभव नहीं।[१]

शब्दालंकारों में अनुप्रास अलंकार के प्रति आचार्य दास का विशेष ध्यान रहा है। गुण यदि रस-विभूषण हैं तो गुण-विभूषण अनुप्रास है, ऐसा अनुमान दास कवि ने किया है। आचार्य दास स्थिरता एवं दृढ़ता से अपना मत न कह सके,अनुमान से ठिठक गए। वस्तुतः वे गुणों का भूषण अनुप्रास को ही मानते हैं।[२] इनका यमक भी जसवन्तसिंह की भांति अनुप्रास का भेद बन कर रह गया है और इसी कारण अन्त्यानुप्रास के रूप में तुक पर विस्तृत वैज्ञानिक-विवेचन २२ वें उल्लास में किया गया है। तुक के भेदोपभेदों (उत्तम, मध्यम, अधम) की चर्चा भी की है। तुक-सम्बन्धी विवेचन भाषाकाव्यशास्त्र में इतने प्रकृष्ट रूप से किसी अन्य कवि ने नहीं किया। विरोधाभास और मुद्रा को दास ने शब्दालंकारों में रखा है जबकि परम्परा इन्हें अर्थालंकार मानती है।[३]

अर्थालंकारों में स्वतंत्र चिन्तन

अर्थालंकारों में आचार्य दास ने उपमावर्ग में अपना नया मत दिया है कि (पूर्णा, लुप्तोपमा) अनन्वय, उपमेयोपमा, प्रतीप, श्रौती उपमा, दृष्टान्त, अर्थान्तरन्यास

१. दास सुकवि बांनी थकें, चित्र कवित्तन मांहि।
चमत्कार हीनार्थ कौ, इहां दोष कछु नांहि॥
ब, व, ज, य, बरनन जानिऐ चित्र काव्य में एक।
अरध-चंद कौ जिन करौ, छूटें लगै विवेक॥
काव्य-निर्णय—भिखारीदास, पृष्ठ ५७५

२. रसन विभूषन करन कौं, गुन बरने सुख दानि।
गुन-भूषण अनुमानि के, अनुप्रास कर आनि॥
काव्य-निर्णय—भिखारीदास, पृष्ठ ५४२

३. श्लेष विरोधाभास है सब्द अलंकृत 'दास'।
मुद्रा और वक्रोक्ति पुनि पुनरुक्तीवदभास॥
काव्य-निर्णय—भिखारीदास, पृष्ठ ५५६

विकस्वर, निदर्शना, तुल्ययोगिता, प्रतिवस्तूपमा—१२ अलंकार उपमान और उपमेय के विकार से ही बनते हैं। अप्पय्यदीक्षित की शैलूषी-रूप में स्वीकृत उपमा दास के हाथों अपने दो अंगों में विकार (परिवर्तन) पाकर जीने वाली बन गई। विकार का प्रयोग ही दास की मौलिकता या स्वतन्त्र चिन्तन है। अतिशयोक्ति में 'अत्यन्त सराहना' पद भी दास की चिन्तनशक्ति की मौलिकता लिए हुए है। अतिशयोक्ति में अत्यन्त की 'अति' तो रहती ही है, तब सराहना भी अतिशयोक्ति में प्रायः रहती है, निंदा कभी-कभार होती है। निगीर्ण में भी तो अत्यन्त भाव है, तब दास कवि ने भाषा-काव्यशास्त्र में नया मत कहने का साहस किया, जो स्वागत-योग्य है।[1]

नवीन अलंकार

वीप्सा अलंकार का वर्णन भिखारीदास ने नया किया है। एक ही शब्द की बहुत आदर-हेतु जहां अनेक बार आवृत्ति हो, उसे वीप्सा कहा जाता है। किसी बात पर जोर देकर उसे प्रभावशाली बताने की प्रवृत्ति से यह अलंकार बना है।[2]

स्वगुण भी भिखारीदास का नया अलंकार है। स्वगुण के लक्षण में कहा गया है कि अपना गुण त्याग कर संगति (पास वालों) का गुण ग्रहण करना तद्गुण अलंकार कहलाता है, परन्तु स्वगुण में तो पदार्थ पुनः अपने गुण को ग्रहण करता है—

स्वगुन—पाये पूरब रूप फिरि, स्वगुन सुमति कह देत।
पूर्वरूप—पूर्वरूप गुन नहिं मिटे, भये मिटन के हेत॥[3]

स्वगुण अलंकार वहां होता है, जहां पदार्थ संगति पाने पर भी अन्य पदार्थ के गुण को न ग्रहण करे और वापस अपने ही गुण में या पूर्व रूप में रह जाए। यद्यपि इस अलंकार का रूप पूर्वरूप अलंकार से मिलता है, तथापि दोनों में अन्तर है। पूर्वरूप अलंकार वहाँ होता है, जहाँ मिटने के कारण रहें तब भी अपने गुण न मिट पाएं। यहाँ तद्गुणातद्गुण की सी गुण-उत्कृष्टता या गुण-निकृष्टता का प्रश्न नहीं। इसलिए स्वगुण तथा पूर्वरूप क्रमशः तद्गुणाश्रित तथा अतद्गुणाश्रित होते हुए भी स्वतन्त्र हैं। दोनों अलंकारों के उदाहरण भी वैलासिक जीवन से सम्बद्ध

---

१. जहं अत्यन्त सराहिये, सो अतिसोक्ति कहंत।
काव्य-निर्णय—भिखारीदास, पृष्ठ २६७

२. एक शब्द बहुबार जहां अति आदर सों होइ।
ताहि वीप्सा कहत हैं, कवि कोविद सब कोइ॥
काव्य-निर्णय—भिखारीदास, पृष्ठ ५४६, ६१८

३. काव्य-निर्णय—भिखारीदास, पृष्ठ ३६६, ३७२

हैं।[१] स्वगुण तद्गुण से और पूर्वरूप अतद्गुण से विकसित अलंकार है। स्वगुण अप्पय्य दीक्षित का अनुगुण भी नहीं है, क्योंकि अनुगुण में परगुण से स्वगुण में अतिशयता आती है।

आचार्य दास ने रसनोपमा के सम्बन्ध में अपनी नवीन धारणा व्यक्त की है। उपमा और एकावली के संकररूप में रसनोपमा को दास ने माना है।[२] उत्तरोत्तर सार का नया नाम है, ऐसा स्पष्टतया काव्य-निर्णय में माना गया है।[३] देहरीदीपक की चर्चा नवीन है। देहरी पर रखा दीपक दोनों ओर प्रकाश देता है। ऐसे ही एक क्रियापद मध्य में पड़ा हुआ जब दोनों ओर (आगे-पीछे) अर्थ को प्रकट करे, तब उसे देहरीदीपक कहते हैं।[४] यह दीपक का नया भेद है। वह विकास की ओर एक नया पग है। देव ने यमक के एक भेद सिंहावलोकन का नाम दिया था, लक्षण नहीं। दास ने लक्षण दे दिया कि जहाँ एक चरण के अन्तिम शब्द क्रमशः दूसरे चरण के प्रारम्भ में आते हैं, वहाँ सिंहावलोकन यमक होता है।[५] इनके अतिरिक्त

---

१. (क) स्वगुण-उदाहरण—

भांवतो आवंतो जान नवेली, चमेली के कुंज जो पैंठत जाइके।
'दास' प्रसूनन सोनेजुहि करै, कंचन सी तन जोति मिलाइके॥
चौंकी मनोरथ-हू हंसि लेन, चले पग लाल प्रभा मग छाइके।
बीर, करै करबीर-भरै, निखलै हरखै छवि आपनी पाइके॥

(ख) पूर्वरूप-उदाहरण—

सारी सितासित पीरी, रतीलीहु में बगरावै बहै छवि प्यारी।
आभा समूह में अंबर कों, पैहिचांनिबो, दास बड़ी किऐं बारी॥
चंद मरीचिन सों मिलि अंगन, अंगन फैलि रही दुति न्यारी।
भौन अंध्यारेहु बीच गऐ, मुख ज्योति ते, बैसिएं होति उज्यारी।

काव्य-निर्णय—भिखारीदास, पृष्ठ ३७२, ३७४

२. उपमा कौ एकावली कौ संकर जहं होइ।
ताही कौ 'रसनोपमा' कहैं सुमति सब कोइ॥

काव्य-निर्णय—भिखारीदास, पृष्ठ ५०८

३. एक, एक ते सरल लखि, अलंकार कहि 'सारु'।
याही को 'उत्तरोत्तर' कहैं, जिन्हैं मति-चारु॥

काव्य-निर्णय—भिखारीदास, पृष्ठ ५०४

४. परे एक पद बीच में, दुहुं दिसि जागे सोइ।
सो है 'दीपक-देहरी', जानत हैं सब कोइ॥

काव्य-निर्णय—भिखारीदास, पृष्ठ ५२२

५. चरन अंत अरु आदि के, जमक कुंडलित होय।
सिंह-विलोकत है वहै, मुक्तक पद-ग्रस सोइ॥

काव्य-निर्णय—भिखारीदास, पृष्ठ ५५५

अपह्नुति, संसृष्टि, मालोपमा, (भिन्न-भिन्न धर्मों से, केवल एक धर्म से तथा अनेक की अनेक धर्मों से—५ भेद) अर्थान्तरन्यासमाला (साधर्म्य, वैधर्म्यगत)[1] अतिशयोक्ति का उपमातिशयोक्ति, उत्प्रेक्षातिशयोक्ति जैसे भेद दर्शनीय हैं।

इस प्रकार आचार्य दास ने वीप्सा और स्वगुण अलंकारों के अतिरिक्त अपह्नुति, मालोपमा, तद्गुण, अतद्गुण, अर्थान्तिरन्यास, दीपक तथा यमक के नवीन भेद दिखाने का भी सराहनीय प्रयत्न किया है।

विभिन्न अलंकारों की निकटता-सम्बन्धिनी विवेचना

आचार्य भिखारीदास ने विभिन्न अलंकारों में परस्पर निकट सम्बन्ध दिखाया है। लुप्तोत्प्रेक्षा की किंचित् समानता का काव्यलिंग में अस्तित्व, अनन्वय का भेदकातिशयोक्ति में व्यंग्यत्व, व्याजस्तुति और अप्रस्तुतप्रशंसा का कहीं भिन्नत्व और कहीं युगलमिलन तथा उल्लास की अप्रस्तुतप्रशंसा और अर्थान्तिरन्यास में किसी न किसी भांति विद्यमानता को अपने स्वतन्त्र विचार और समीक्षण से दास ने प्रस्तुत किया है, जो काव्यशास्त्रीय दृष्टि से नवीन दिशा का बोधक है।[2] यद्यपि पंडितराज जगन्नाथ ने उल्लास का अन्तर्भाव अर्थान्तिरन्यास की अपेक्षा काव्यलिंग में माना है, तब भी आचार्य दास की दृष्टि नवीनता की ओर गई। भाषा-काव्यशास्त्र के लिए यह विवेचन नए ढंग का है।

भिखारीदास ने रसगंगाधरकार की भांति काव्य-निर्णय में शब्द-शक्तियों और अलंकारों के परस्पर सम्बंध का विवेचन किया है। उन्होंने समस्त अलंकारों को शब्दशक्तिमूलक माना है।[3]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता हैं कि संस्कृत तथा भाषा-काव्यशास्त्र की सामग्री लेकर भी आचार्य भिखारीदास ने अलंकारशास्त्र के क्षेत्र में अपना स्वतंत्र चिन्तन प्रस्तुत किया। जिसकी दो दिशाएँ रहीं :—

(१) नवीन अलंकार और भेद-विकास।

---

१. काव्य-निर्णय—भिखारीदास, पृष्ठ, १६२, १६४, १८४, १८५

२. (क) लुप्तोत्प्रेक्षा तेहि कहैं, वाचक बिन जो होइ।
या कौ विधि मिलि जाति है, काव्यलिंग मैं कोइ॥
(ख) अनन्वयहु की व्यंग यह भेदक अतिशय उक्ति।
(ग) अप्रस्तुतपरसंस अरु व्याजस्तुति की बात।
कहुं भिन्न ठहरात अरु, कहुं जुगलमिलि जात॥
(घ) अप्रस्तुतप्रशंस जहं, अरु अर्थान्तिरन्यास।
तहां होत अनचाहे हुं विविध भांति उल्लास॥
काव्य-निर्णय—भिखारीदास, पृष्ठ २१२, २७१, ३१२, ३६२

३. इन पांचहुं (शब्दालंकार) को अर्थसों, भूषण कहैं न कोइ।
जदपि अर्थ, भूषन सकल, शब्दशक्ति मैं होइ॥
काव्य-निर्णय—भिखारीदास, पृष्ठ ५५६

(२) अलंकारों की परस्पर समता या व्यंग्यात्मक सम्बंध सिद्ध करना।

भिखारीदास रसवादी परम्परा के आचार्य हैं। क्योंकि वे अलंकारों को हारा-दिवत् मानते हुए भी रसोत्कर्षकारक रूप से स्वीकारते हैं। आचार्य दास ने अलंकारों का महत्व इतना स्थापित किया कि उन्होंने काव्य के हर भेद में अलंकार-चमत्कार माना और अलंकार से रस के आस्वादन का चमत्कृत महत्व सर्वमान्य सिद्ध कर दिया।[1] वास्तव में आचार्य भिखारीदास ने गम्भीर चिन्तन और प्रौढ़ पांडित्य के बल पर संस्कृत तथा भाषाकाव्यशास्त्र के ग्रन्थों के सिद्धान्तों का समन्वयात्मक तथा अलंकार शास्त्र में तर्क-संगत-सिद्धान्त-मंडित 'काव्य-निर्णय' ग्रन्थ साहित्यिक रसिकों के लिए निर्णयात्मक रूप से प्रस्तुत किया। इसी कारण आचार्य दास का गौरव अक्षर है।

कवि हरिचरण दास : कवि वल्लभ बृहत् (रचना काल सं०१८०३ वि०)

रीतिकाल में गोवा परगना-निवासी कवि हरिचरणदास ने भाषा-काव्य-शास्त्र के अमूल्य ग्रंथ लिखे। इन का कविवल्लभवृहत् सर्वांगनिरूपक ग्रन्थ है। कवि-वल्लभ, नामक एक अन्य ग्रन्थ में इन्होंने काव्य-दोषों का विवेचन किया है। कवि-वल्लभ वचनिका "कवि वल्लभ" ग्रन्थ की टीका है। जिस टीका का कर्त्ता कपूर-थला पंजाब निवासी कोई हरि नामक कवि है। "सभाप्रकाश" नामक काव्यशास्त्र का तीसरा ग्रन्थ हरिचरण दास जी ने विभिन्नांगों के व्यापक अध्ययन के अनन्तर लिखा था।

"सभाप्रकाश" में प्रधानता से नायिका-भेद के विषय की विवेचना की गयी है। आचार्य हरिचरणदास ने "कविवल्लभ" (दोष-विवेचन) ग्रन्थ में आचार्य केशव, जसवन्तसिंह, मतिराम तथा कुलपति आदि पूर्ववर्ती आचार्यों के मतों का सतर्क विवेचन किया है।[2]

इनके काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में पूर्ववर्ती आचार्यों के उदाहरणों का विवेचन है, परन्तु किसी नये अलंकार की उद्भावना इस आचार्य ने नहीं की है।

रसरूप : तुलसीभूषण (रचनाकाल सं० १८११ वि०)

आचार्य रसरूप-कृत तुलसीभूषण भाषा-काव्य-शास्त्र की अनुपम कृति है। रसरूप रसपरक व्यक्तित्व रहे होंगे। उन्होंने तुलसीदास के रामचरितमानस, गीतावली

---

१. अनुप्रास उपमादि जे, शब्दार्थालंकार
ऊपर तें भूषित करैं, जैसे तन को हार।
अलंकार बिन्दु रसहु है, रसौ अलंकृत छंडि।
सकुवि वचन रचनान सौं, देन दुहुन को मंडि॥
काव्य-निर्णय—भिखारीदास, पृष्ठ ५५७

२. कविवल्लभ—हरिचरणदास, पृष्ठ ७०, ७२, ७४, ७६

और बरवैरामायण के पद ही उदाहरणों के लिए दिये है[1] और लक्षण काव्यप्रकाश तथा कुवलयानंद से अनूदित एवं गृहीत हैं। चन्द्रालोक, कल्पलता, तथा चन्द्रोदय के प्रभाव का संकेत भी कवि ने अन्त के एक पद में दिया है।[2] कविप्रिया (केशवकृत) का प्रभाव भी इस कृति पर पर्याप्त मात्रा में हैं। इस ग्रन्थ में वर्णित अलंकारसंख्या १११ है। मुख्य अलंकारों के साथ ही उनके भेदोपभेदों का वर्णन सविस्तार किया गया है।[3]

अलंकार-क्रम

इस ग्रन्थ में प्रथम शब्दालंकार, तदनन्तर अर्थालंकार संस्कृत पद्धति से दिये गये हैं। शब्दालंकारों में अनुप्रास, वक्रोक्ति, यमक, श्लेष, चित्र और पुनरुक्तवदाभास हैं। ये मम्मट-सम्मत हैं। इनके विवेचनानन्तर चन्द्रालोक, कुवलयानन्द तथा कविप्रिया के आधार से अर्थालंकार (भेदसहित मुख्य) कहे गये हैं। कुवलयानंद का प्रभाव अपेक्षाकृत अधिक है। यही कारण है कि अर्थालंकारों के भाषा-शास्त्रीय लक्षणों के साथ ही कुवलयानंद में प्रदत्त संस्कृत-भाषा के लक्षण भी दिए हैं। बहुधा कुवलयानंद के उदाहरण भी साथ-साथ रखे हैं।[4]

अब तक के भाषाकाव्यशास्त्रीय ग्रन्थों से इनका अलंकार-विन्यास-क्रम सर्वथा निराला है। इन्होंने अलंकार अकारादि क्रम से रखे हैं, इस लिए आशिषालंकार सर्वप्रथम आ गया, चाहे भगवान राम का आशीर्वाद लेना तुलसी की भांति रसरूप का उद्देश्य रहा हो, परन्तु काव्यशास्त्र में तो यह नया प्रयोग ही था।[5]

---

१. श्री तुलसी निज भनित मैं भूषण धरे दुराय,
ताहि प्रकासन की भई मेरे चित में चाय ॥२॥
सो कविता सब गुण सहित है जग विदित सुभाय।
दीपक लै रसरूप ज्यों दिनकर दियो दिषाय ॥३॥
रामायण में जो धरे अलंकार के भेद,
ताहि यथामति बूझिके रचत प्रबंध अखेद ॥४॥
औरन के लच्छन लिए रामायण के लच्छ
तुलसीभूषण ग्रंथ को या विधि कियो प्रतछ ॥५॥
तुलसीभूषण—रसरूप, पृष्ठ १

२. संमत काव्य प्रकास कौ और कुवलयानंद,
चन्द्रालोक कल्पलता चन्द्रोदय शुभकंद।
तुलसीभूषण—रसरूप, पृष्ठ ३५

३. एकादस अरु एक शत मुख्य अलंकृत रूप,
विविध भेद इनके धरे तुलसी दास अनूप।
तुलसीभूषण—रसरूप, पृष्ठ ३५

४. तुलसीभूषण—रसरूप, पृष्ठ १

५. अर्थालंकार कथनम्—
अक्षर को सम्बन्ध करि क्रम हि सो रसरूप।
आदि बरन के नेम सो भूषन रचे अनूप ॥
तुलसीभूषण—रसरूप, पृष्ठ १

रसरूप ने तुलसीदास के काव्य को अलंकार-विवेचन का आधार बनाया। रामचरितमानस के अतिरिक्त गीतावली और बरवै रामायण के कुछ उदाहरण पठनीय हैं—

पर्यस्तापह्नुति - यथा गीतावली—

मीन में नहि प्रीति सजनी पंक में नहि प्रेम,
एक गति मति एक व्रत यह भरतहि में नेम ॥

प्रत्यनीकालंकार—बरवैरामायणे राम-वाक्यम्

सीय वरण सम केतकी अति हिय हारि,
किहेसि भंवर कर हरवा हृदय विदारि ॥[1]

आचार्य रसरूप ने अलंकार-विवेचन के औचित्य को प्रमाणित करने के लिए पूर्ववर्ती युग का एक ऐसा महाकाव्य चुना, जिस पर साहित्यिक और धार्मिक क्षेत्र में असीम श्रद्धा और विश्वास था। इससे यह सिद्ध हो गया कि भाषाग्रंथों में अलंकारों का समन्वय स्वाभाविक रूप से होते हुए भी साहित्यिक स्तर पर भी भाषा-काव्य-ग्रंथ अपनी गरिमा में प्रकृष्ट थे और काव्यशास्त्र के अलंकार अंग के अनुसार वे पूरे उतरते थे। इसलिए रसरूप के भाषा-काव्यशास्त्रसम्बन्धी 'तुलसीभूषण' ग्रंथ से लक्षण परिपाटी और लक्ष्यसशक्तता प्रमाणित हो जाती है और यह भी सिद्ध हो जाता है कि रीतिकाल का काव्यशास्त्रीय क्षेत्र समृद्धि की ओर बढ़ रहा था।

नवीन अलंकार

रसरूप ने धन्यता तथा निर्णय, दो नए अलंकार भाषाकाव्यशास्त्र में दिये हैं। 'उन्मत्तोक्ति' पदुमनदास के 'काव्यमंजरी' तथा 'विक्षेप' 'चन्द्रोदय' के आधार पर प्रस्तुत किये गये हैं।[2] उन्मत्तोक्ति को भोज ने छायालंकार का एक भेद माना था,[3] परन्तु उसका लक्षण नहीं दिया। पदुमनदास ने भोज से वही छः भेद ग्रहण किए हैं, परन्तु उन्हें छाया-भेद न कहकर उक्ति-भेद कह दिया है। इन अलंकारों का विवेचन इस प्रकार है।

धन्यतालंकार:—इस अलंकार का लक्षण देते हुए रसरूप ने कहा है कि जहाँ

---

१. तुलसीभूषण—रसरूप, पृष्ठ २, १५

२. (क) धन्यता तथा निर्णयालंकार

तुलसीभूषण—रसरूप, पृष्ठ २३

(ख) उन्मत्तोक्ति तथा विक्षेप

तुलसीभूषण—रसरूप, पृष्ठ १२, ३८

(ग) काव्यमंजरी, पदुमनदास, (सातवाँ अध्याय)—हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास—सम्पादक डॉ० नगेन्द्र, पृष्ठ ३२६

३. अन्योक्तीनामनुकृतिच्छाया सापीह षड्विधा।
लोकच्छेकार्भोन्मत्तपोटामत्तोक्ति भेदतः ॥२-७५॥

सरस्वतीकंठाभरणम्—भोज, पृष्ठ १६४

करणीय अर्थ से अधिक बात पैदा हो जाए, वहाँ धन्यतालंकार होता है।[1] उदाहरण भी यह है—

निशि अंधेरी नहीं संग सखि, नन्दराइ के भौन।
पतिविदेश हौं एकली, ह्यां तू उतरत कौन ॥[2]

पति के विदेश में होने तथा नायिका के अकेली ही नन्दराज के घर में होने पर कौन उतर रहा है, जबकि रात अंधेरी है और सखी भी साथ नहीं है। जहाँ किसी के घर में उतर कर आने की बात अवश्य ही 'कछु बात' उपजाती है। परन्तु उदाहरण अधिक स्पष्ट नहीं है। देखा जाए तो यहाँ प्रहर्षणालंकार का दूसरा भेद माना जा सकता है, क्योंकि द्वितीय प्रहर्षण वहाँ होता है जहाँ वांछित से अधिक वस्तु की प्राप्ति हो जाए।[3]

निर्णयालंकार:—यह रसरूप-कृत दूसरा नवीन अलंकार है। जहाँ बहुमुख एक ही निर्णय किसी बात के बारे में दे देते हैं तो उसे निर्णयालंकार कहा जाता है।[4] यह विश्वनाथकृत निश्चयालंकार से समानता रखता है, वहाँ उपमान का निषेध करके उपमेय की स्थापना की जाती है।[5] परन्तु निर्णय में तो रसरूप ने बहुतों के मुख से एक ही निर्णय देने का तथ्य कहलाया है। इस कारण दोनों एक नहीं हैं। (निश्चयालंकार की विशद चर्चा यथाप्रसंग की जा चुकी है) निर्णयालंकार का उदाहरण निम्नलिखित है—

रसरूप (बरवैरामायण) कोउ कह नरनारायण, हरि, हर, कोऊ।
कोउ कहै विहरत वन मधु मनसिज दोउ ॥[6]

यहाँ भगवान् राम के सम्बन्ध में हर कोई व्यक्ति अपना निर्णय देकर कहता है। इसलिए यहाँ निर्णयालंकार है। रसरूप ने द्वितीय उल्लेख में भी निर्णयालंकार

---

१. धन्यतालंकार लक्षणम्—
करन अर्थ ते अधिक जहाँ उपजावै कछु बात।
धन्यता तासों कहत हैं, जा को मत अवदात ॥
तुलसीभूषण—रसरूप, पृष्ठ २३

२. तुलसीभूषण—रसरूप, पृष्ठ २३

३. वांछितादधिकार्थस्य संसिद्धिश्च प्रहर्षणम्।
कुवलयानन्द—अप्पय्यदीक्षित, पृष्ठ २०

४. जहाँ होत है एक की निर्णय बहुमुख मांह।
अलंकार निर्णय कहत, तातें कवि कुल नाह ॥
तुलसीभूषण—रसरूप, पृष्ठ २३

५. अन्यन्निषिध्य प्रकृतस्थापनं निश्चयः पुनः।
साहित्यदर्पण—विश्वनाथ, पृष्ठ ३१४

६. तुलसीभूषण—रसरूप, पृष्ठ २३

माना है।[1]

उन्मत्तोक्ति—उन्मत्तोक्ति वहाँ होती है, जहाँ कारण बहुभावों से कार्य की पदवी ग्रहण कर लेते हैं, अर्थात् कारण अपने आपको कार्यासन पर आसीन मान लेते हैं। उदाहरण इस प्रकार है—

जिन्हें विरचि बड़भयेऊ विधाता।
महिमा अवधि राम पितु माता।
पुनि सुनहु महामहिपाल मणि।
तुम सम धन्य न कोई।
राम लखन जा के तनय
विश्व विभूषन दोइ॥[2]

यहाँ माता-पिता रूपी कारणों ने राम के रूप को विधाता द्वारा विरचित करने पर गौरव पा लिया, अर्थात् कार्य की पदवी को प्राप्त कर लिया। इसलिए उदाहरण की दृष्टि से भी इसे नवीन अलंकार मानना उचित है।

विक्षेपालंकार—रसरूप ने विक्षेपालंकार वहाँ माना है, जहाँ जो जिसका अधिकार है, वह काम कोई और कर दे, परन्तु उसका नाम न ले (जिसके लिए काम किया गया है)। रसरूप ने अपने इस लक्षण के समर्थन में "चन्द्रोदय" ग्रंथ का अलंकार-लक्षण भी दिया है। जिसे उसने स्वयं अनूदित किया है। उदाहरण इस प्रकार है—

सुनु मनिमंद देहि अब पूरा। काटें सीस कि होइअ सूरा।
इन्द्रजालि कहुं कहिअ न वीरा। काटई निज कर सकल सरीरा॥
जरहि पतंग विमोह बस, भार वहहि खर वृन्द।
ते नहि सूर कहावहि, सुनु, रावन मतिमन्द॥[3]

---

१. द्वितीय उल्लेष—कहै हनुमंत सुनहु प्रभु शशि तुम्हार प्रिय दास।
तव मूरति शशि उर बसै, सोइ स्यामता भास॥
यह निर्णयालंकार ते मिलतु है।
तुलसीभूषण—रसरूप पृष्ठ १४

२. उन्मत्तोक्ति लक्षणम्—
कारज ते पदवी लहै जहाँ कारण बहुभाय।
उन्मत्तोक्ति तासो सकल पंडित देत बताय॥
तुलसीभूषण—रसरूप, पृष्ठ १२

३. (क) जो जाको अधिकार है, करे और सो काम,
ताहि कहत विक्षेप हैं, लहै न ताको नाम॥
तुलसीभूषण—रसरूप, पृष्ठ ३४

(ख) चन्द्रोदये—अन्यत्र क्रियाधिकारेण, यत्रान्योत्कर्षत्वेन तुल्यस्तस्य विक्षेपः।
तुलसीभूषण—रसरूप, पृष्ठ ३४

(ग) तुलसीभूषण—रसरूप, पृष्ठ ३४

इस उदाहरण में कहा गया है कि हे रावण ! सुनो, वीरों के अपने सारे शरीर को इन्द्रजालवत् काटने, पतंग के समान जलने तथा गधे की भाँति बोझ ढोने वाले सूरमा नहीं कहला सकते। यह उदाहरण संगत नहीं है। क्योंकि यहाँ अधिकार का प्रयोग भी नहीं तथा दूसरे द्वारा भी यहाँ कुछ नहीं किया जा रहा है। रसरूपकृत लक्षण नवीन है, परन्तु उदाहरण संगत नहीं बन पाया।

रसरूप ने मिथ्यालंकार लिखा है, उसने यह अलंकार वहाँ माना है, जहाँ सत्य का अंश मात्र न हो, अपितु सब झूठ हो।[1] रसरूप ने कुवलयानन्द के मिथ्याध्यवसित का लक्षण भी यही दिया है। लगता है कि अनुवाद उनसे नहीं बना और झूठ ही झुठियाते मिथ्या बना गए। मिथ्याध्यवसित में तो एक झूठ के लिए और झूठ बोला जाता है। अन्य मिथ्यात्व कल्पित होता है। यहाँ रसरूप मिथ्या ही कह पाए, जो नवीन उद्भावना नहीं अपितु असमर्थता है। लक्षणानुवाद में अप्पय्य दीक्षित की छाया तक नहीं, इसलिए रसरूप का यह लक्षणानुवाद अशुद्ध एवं अपूर्ण है।

इस प्रकार काव्यप्रकाश, चन्द्रालोक, कुवलयानन्द तथा चन्द्रोदय का प्रभाव मानने वाले रसरूप ने दो नये अलंकार साहित्यक्षेत्र में दिए, जो कि रीतिकाल के साहित्यशास्त्र के लिए आचार्य रसरूप का अमूल्य योग दान है।

बैरीसाल : भाषाभरण (रचनाकाल सं० १८२५ वि०)

बैरीसाल ने अपनी कृति 'भाषाभरण' में काव्य के लिए उपयोगी अथवा काव्य में प्रयुक्त अलंकारों का विवेचन किया है; यही ध्वनि इस ग्रंथ के नाम से ध्वनित होती है। इनका यह मत रहा है कि अलंकार कविसम्मत अभिप्राय के अनुसार ही होते हैं।[2] इनके इस मत पर मम्मट का प्रभाव है।

अलंकारों का क्रम कुवलयानंद के अनुसार है। इसका संकेत भी ग्रंथ के अन्त में मिलता है।[3] उदाहरण सरस हैं और इनकी निजी सम्पत्ति हैं। कहीं-कहीं गद्य का प्रयोग भी किया गया है।

---

१. मिथ्यालंकार लक्षणम्—
मिथ्या तासों कहत हैं जो मिथ्या सब होइ।
गगन फूल के माल्य को पहिरे चाहत कोय॥
तुलसीभूषण—रसरूप, पृष्ठ ३४

२. अलंकार यक ठौर में, जो अनेक दरसाहिं,
अभिप्राय कवि को यहाँ, सो प्रधान तिनमाहिं ॥११॥
ज्यों व्रज में व्रजवधुन की, निकसति सजी समाज।
मन की रुचि जा पर भई, ताहि लखत व्रजराज ॥१२॥
भाषाभरण—बैरीसाल, पृष्ठ १

३. तेहि नारायण ईस को, करि मन मांह समर्ण।
रीति कुवलयानंद की, कीन्हौं भाषाभर्ण ॥४७०॥
भाषाभरण—बैरीसाल, पृष्ठ ३६

कुवलयानंद की भाँति अर्थालंकारों का ही विवेचन इस ग्रन्थ में है। शब्दालंकारों का निर्देश शब्दालंकार-संसृष्टि के अन्तर्गत किया गया है। अनुप्रास-यमक और उपमा की संसृष्टि दो पदों में निर्दिष्ट है।[1]

अर्थालंकार के विवेचन में इन्होंने कुवलयानंद में निर्दिष्ट प्रमाणालंकारों के अतिरिक्त, पुराण प्रमाण, आगम प्रमाण, आचार प्रमाण और आत्म तुष्टि प्रमाण—चार प्रमाणालंकार और कहे हैं। परन्तु उनके लक्षण वहाँ नहीं दिये गये हैं, केवल उदाहरण दिये हैं।[2]

इन नए प्रमाणालंकारों की उद्भावना बैरीसाल की स्वतंत्र मति की द्योतक है, परन्तु यह उनकी महत्वपूर्ण देन नहीं मानी जा सकती, क्योंकि इनसे उनकी लक्षण-स्थापना नहीं हो सकी। बैरीसाल का ग्रन्थ अपने युग में प्रसिद्ध हुआ, उसका प्रमाण यही है कि पद्माकर के 'पद्माभरण' पर इसका प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित है।

रतनेस : कान्ताभूषण (रचनाकाल सं० १८२७ वि० के लगभग)

इस कृति के सम्बन्ध में हिन्दी-साहित्य के प्रसिद्ध आलोचक डॉ० भगीरथ मिश्र का कहना है कि कान्ताभूषण के लेखक का नाम ज्ञात नहीं है,[3] इस सम्बन्ध में निम्न तीन पद विचारणीय हैं।

(१) मानवती रतनेस कहि उक्ति सु संबंधातिशयोक्ति।
फन मनि करत कठोर रवि मुख हर रतनक जोति ॥३८॥
(२) दीर्घदरसन चित्र को अन्योऽन्य रतनेस।
ता सम तनत देखत भयो अनामिष लोचन वेस ॥७०॥
(३) पिहित हाव को बरनिये मेसवेस रतनेस।
होत मनोरथ सिद्धि नहिं, अलिन मोद शुचि केश ॥६६॥[4]

पहले पद्य में रतनेस ने अपने नाम का स्पष्ट उल्लेख किया है, जिससे 'कान्ताभूषण' रतनेस कवि की ही कृति सिद्ध हो जाती है। दूसरे तथा तीसरे छंद में भी 'रतनेस' पद इसी रूप से प्रयुक्त हुआ है। कान्ताभूषण की दो प्रतियाँ (दतिया-राजपुस्तकालय तथा टीकमगढ़-राजपुस्तकालय में) हैं। टीकमगढ़ वाली प्रति पूर्ण है, दतिया वाली अधूरी। टीकमगढ़ वाली प्रति में रतनेस सम्बन्धी पद मिलते हैं। रतनेस कवि का दतिया और टीकमगढ़ के क्षेत्र में आना जाना इतिहास-प्रसिद्ध तथ्य है। इससे कान्ताभूषण कृति भी 'अलंकारदर्पण' की भाँति रतनेस की ही है। इसके कई अन्य कारण भी हैं।

अलंकारदर्पण तथा कान्ताभूषण—दोनों ही दोहों में रचे गए हैं। इनकी

१. भाषाभरण—बैरीसाल, पृष्ठ ३५
२. भाषाभरण—बैरीसाल, पृष्ठ ३४-३६
३. हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास—डॉ० भगीरथ मिश्र, पृष्ठ ४३८
४. कान्ताभूषण—रतनेस कवि, पृष्ठ ५, ६, १३

भाषा भी एक समान ही है। दोनों ग्रन्थों के आदि में गणपति का स्मरण[1] भी एक ही मन की भक्ति-भावना का द्योतक है, इससे 'कान्ताभूषण' रतनेस कवि की ही कृति है, ऐसा विश्वास सहज में ही हो जाता है।

'कान्ताभूषण' अलंकार-सम्बन्धी कृतियों में अपना पृथक् स्थान रखता है। इस ग्रन्थ का महत्व नए प्रयोग के रूप में है। नायिका और अलंकारों का एक साथ प्रयोग संस्कृत से भाषाकाव्यशास्त्र तक की परम्परा में किसी आचार्य ने नहीं किया। कवि ने इस सम्बन्ध में प्रथम प्रयास करने की ओर स्पष्ट शब्दों में कहा है—

गनपत सुमत कृपाल ठहै सुमत देहु मम अंग।
करौ नाइका नेह सों भूषण जुत इक संग ॥१॥
आदि चरन में नाइका, अलंकार है अंत।
एकै दोहा में कहै, गुनी न भूमियों अंत ॥२॥
काहू कवि बरनै नाहीं देखो मो मन दौर।
भूषण करियो दत्त (लच्छ) मिल, दूषण कछू न और ॥३॥[2]

एक दोहे के प्रथम भाग में नायिका विशिष्ट का लक्षण तथा दूसरे में तत्सम्बन्धी अलंकार कहने की शक्ति भाषा-काव्यशास्त्र के इस विद्वान् की अभूतपूर्व मौलिकता है। अत्यन्त सुन्दर विधि से अलंकार का निर्वाह भी किया गया है। १२० पदों में विभिन्न अलंकारों की योजना नायिका-भेदों के अन्तर्गत करना सहज कार्य नहीं है। तब भाषा-काव्यशास्त्र में इस प्रकार का प्रयास स्तुत्य ही है। 'सुकिया'-'परकिया' में पूर्णोपमा का समन्वय करने में आचार्य की प्रतिभा का चमत्कार दर्शनीय है—

पूरब सुकिया कहि कहौं पूरन उपमा सारु।
निरत पति अति रुचि सकुच जुत बदन चंद सों चारु ॥५॥
परकीया परपुरुष रत धर्म लोप सब होइ।
दुर देखत इ घनश्याम कों भौंह धनुष सी सोइ ॥६॥[3]

इस कृति में किसी नए अलंकार की उद्‌भावना नहीं की गई, संस्कृत के किसी काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ अथवा रीतिकालीन किसी आचार्य का प्रभाव इस लघु कृति पर नहीं है। यह तो अपने ढंग का प्रथम प्रयोग अलंकार-साहित्य में है, जिससे रीतिकाल का भाषा-काव्यशास्त्र अलंकृत हुआ।

रतनेस : अलंकार-दर्पण (रचनाकाल सं० १८३० वि० के लगभग)

इनकी दूसरी कृति अलंकार-दर्पण है। इस ग्रंथ में अलंकारों का क्रम भाषाभूषण की भाँति रखा गया है। सभी उदाहरण कवि ने स्वनिर्मित दिये हैं। इनमें श्रीकृष्ण

१. (क) कान्ताभूषण—रतनेस कवि, पृष्ठ १
(ख) अलंकारदर्पण—रतनेस कवि, पृष्ठ १
२. कान्ताभूषण—रतनेस कवि, पृष्ठ १
३. कान्ताभूषण—रतनेस कवि, पृष्ठ १

तथा राधा की स्तुति भी है। किसी नये अलंकार की उद्भावना कवि ने नहीं की है। इस ग्रन्थ के निर्माण का उद्देश्य केवल अलंकार-शिक्षा देना है।[1] ऐसा प्रतीत होता है कि रतनेस ने अलंकार-दर्पण की रचना कान्ताभूषण से पूर्व की है।

रतनेस (रतन) : फतेप्रकाश

'फतेप्रकाश' ग्रन्थ को कुछ विद्वानों ने उपर्युक्त रतनेस या रतन कवि की रचना बताया है। अभी हाल में श्रीशूरवीरसिंह पंवार ने "फतेप्रकाश" को सम्पादित कर प्रकाशित किया है। इन्होंने इसे किन्हीं अन्य रत्नेश या रत्न कवि का लिखा माना है और नाम भी 'फतेभूषण' की अपेक्षा 'फतेप्रकाश' ही दिया है। श्री शूरवीर सिंह ने 'फतेप्रकाश' को 'फतेभूषण' के रूप में मानने के सम्बन्ध में आचार्य शुक्ल तथा 'दिग्विजयभूषण' के लेखक का उल्लेख किया है।[2] दोनों ग्रन्थों में 'फते-भूषण' का नाम मिलता है। 'दिग्विजयभूषण' में दिये गये रतन कवि के परिचय में इनके लिखे हुए "फतेप्रकाश" तथा "फतेभूषण" दो ग्रन्थ माने हैं।[3] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने केवल 'फतेभूषण" और "अलंकार-दर्पण" को ही इस कवि की कृति माना है। इसलिए 'फतेप्रकाश" ग्रन्थ के लेखक के सम्बन्ध में विवाद उठ खड़ा हुआ है। श्री शूरवीर सिंह ने इस कृति के कवि का नाम रतन कवि (क्षेमराम) माना है।

डॉ० भगीरथ मिश्र ने 'फतेप्रकाश' नामक कृति क्षेमराम कवि द्वारा लिखित मानी है और इसे जसवंतसिंह के बाद का लेखक लिखा है। ग्रंथ का रचना काल १६८५ वि० संवत् के लगभग माना है। अपने ग्रन्थ के पृष्ठ ३७ पर डॉ० मिश्र ने कवि का नाम छेमराज भी दिया है। इससे इस ग्रन्थ की आलोचना अपेक्षित है।[4]

'फतेभूषण' की अपेक्षा 'फतेप्रकाश' कृति होना तो संभव है, परन्तु 'फतेप्रकाश' के रचयिता रतनेस से भिन्न रतन कवि (छेमराज) की विद्यमानता के सम्बन्ध में श्री शूरवीर सिंह जी के तर्क विचारणीय हैं।

१. फतेप्रकाश की रचना के लगभग ३० वर्ष पश्चात् अलंकारदर्पण की रचना हुई। फतेप्रकाश की भाषा विशुद्ध ब्रजभाषा है,……अलंकार दर्पण की भाषा की शिथिलता स्थल-स्थल पर खटकती है।

२. अलंकार-दर्पण के कवि ने अपना नाम कई बार लिखा है, रतन नाम भी दिया है। वे कवि 'प्रतापसाहि' के पिता थे। फतेप्रकाश के कवि वंदीजन रतन से भिन्न थे।

---

१. जो यह अलंकार दर्पन को आदि अंत उर लखिहै।
सभा सकल उत्तन के ऊपर उक्ति आपनी रखिहै ॥४॥
अलंकारदर्पण—रतनेस, पृष्ठ १

२. (क) हिन्दी साहित्य का इतिहास—रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ २९४-२९५
(ख) दिग्विजयभूषण—गोकुलप्रसाद 'बृज', पृष्ठ १२६ ४४७, ५००

३. दिग्विजयभूषण—गोकुलप्रसाद 'बृज' पृष्ठ ८४

४. हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास—डॉ० भगीरथ मिश्र, पृष्ठ ३७, ८०

३. अलंकार-दर्पण की रचना का मुख्य उद्देश्य अलंकार-निरूपण न होकर अपने आश्रयदाता की ही प्रशंसा करना है, जबकि फतेप्रकाश प्राचीन संस्कृत की आचार्य पद्धति पर आधारित भाषा-साहित्य की एक अनुपम कृति है।

४. अलंकार-दर्पण के उपमान कृष्ण, राधा और रुक्मिणी हैं, परन्तु 'फतेप्रकाश' में राम और सीता उपमान हैं। अतः 'अलंकार-दर्पण' को फतेप्रकाश के रचयिता 'रतन' कवि (क्षेमराम) की कृति बताना नितांत भ्रमात्मक है।[1]

इन तर्कों में दूसरे और तीसरे तर्क का तो कोई महत्व नहीं। चौथा तर्क उपमान सम्बन्धी है। रतनेस ने 'कान्ताभूषण' में नायिकाओं का निरूपण किया है। 'फतेप्रकाश' में राम-सीता को ले लिया तो कोई आश्चर्य नहीं। कवि विविध प्रवृत्तियों को अपना सकता है। फिर फतेप्रकाश में भी अलंकार-दर्पण की भाँति राधा-कृष्ण के क्रीड़ा-सम्बन्धी पद हैं।[2]

प्रथम तर्क विचारणीय है कि फतेप्रकाश ३० वर्ष पूर्व की रचना है और भाषा-भेद भी है। रतनेस कवि ओरछा रहे और यह रतन कवि गढ़वाल के फतेहशाह के आश्रित रहे। दोनों ग्रन्थों की भाषा की दृष्टि से अधिक भिन्नता है, परन्तु निरूपण-पद्धति का भेद इस कृति को किन्हीं अन्य रतन कवि की सिद्ध करने में पर्याप्त समर्थ है। अलंकार दर्पण और कान्ताभूषण दोहा-पद्धति के हैं। कहीं-कहीं दोहे की पहली पंक्ति में ही लक्षण-उदाहरण हैं, परन्तु फतेप्रकाश में दोहों में लक्षण और कवित्तों और सवैयों में उदाहरण हैं। पुस्तक में वर्णित काव्यांगों में सूरदास, सेनापति, भूषण तथा आलम के पदों को अलंकारों के उदाहरणों के रूप में प्रयुक्त किया गया है।[3] अलंकार-दर्पण के कर्त्ता ने तो सभी उदाहरण स्वरचित्त ही रखे हैं। 'अलंकार-दर्पण' के रतनेस ने तो स्पष्टतः ओरछा-नरेश का संकेत दिया है।[4] फतेप्रकाश में दिये लक्षणों में किन्हीं "भरत" नामक विद्वान् का उल्लेख भी है, जिनसे इस रत्नेश (रतन कवि) का सम्बन्ध रहा होगा, परन्तु अलंकार-दर्पण या कान्ताभूषण में ऐसा

---

१. फतेप्रकाश, रत्नेस (रतन कवि) सम्पादक—श्री शूरवीर सिंह, पृष्ठ १२, १३

२. स्वभावोक्ति अलंकार—

पहिरे पद पंकज पैजनियां, कनिया धनिया धनि नंदन को लै।
हलवावति गावति खावति, तालनि प्यावति पै सिर आदरु दै॥
लहि ओलति बोलती ताकहिं कान्ह जसोमति चूंवति कौतुक कै।
असुरीन के अधि सुरीन के साधन, गही री अहीरी के तेज तपै॥१२३॥

फतेहप्रकाश—रत्नेश (रतन) पृष्ठ ८८ तथा पद ५७, १४७, पृष्ठ ६६,६३

३. फतेप्रकाश—रत्नेश (रतन कवि) सम्पादक श्री शूरवीर सिंह, पृष्ठ ७८, ६७

४. जग जाहिर नग नगर ओरछो कवि रतनेस निकेतू।
अलकापुरी तुल्य अवलोकत टोडीपत के हेतू॥

अलंकारदर्पण—रतनेस, पृष्ठ १

नाम नहीं है।[1]

'फतेप्रकाश' ग्रन्थ की अन्तिम पुष्पिका[2] से भी स्पष्ट है कि फतेप्रकाश के कर्त्ता गढ़वाल राज्य के आश्रित थे। इसलिए यह दोनों कृतिकार निश्चित रूप से भिन्न हैं।

फतेप्रकाश के छठे उद्योत में अर्थालंकार-निरूपण है। शब्दालंकार उसमें नहीं दिये हैं। अर्थालंकारों पर बहुधा 'काव्यप्रकाश' का प्रभाव है। अलंकारों के लक्षण तो मम्मट से अनूदित हैं, परन्तु उदाहरण भाषाकाव्य के हैं। इस लिए यह कृति लेखक की युग-प्रवृत्ति की द्योतक है।

ऋषिनाथ : अलंकार-मणि-मंजरी (रचनाकाल सं० १८३१ वि०)

ऋषिनाथ का यह लघुकाय ग्रन्थ दोहों में लिखा गया है। बीच-बीच में कवित्त, गाथा एवं छप्पय भी हैं। अर्थालंकारों और शब्दालंकारों का परम्परानुगत विवेचन है। एक अलंकार के अनेक उदाहरण देकर विषय को सरल बनाने का प्रयत्न किया गया है। कृति में नवीन अलंकार नहीं हैं। इसके उदाहरणों में राधा, श्रीकृष्ण तथा आश्रयदाता की दानशीलता का चित्रण है। मूल्यांकन की दृष्टि से ग्रन्थ साधारण स्तर का है।

जनराज : कविता-रस-विनोद (रचनाकाल सं० १८३३ वि०)

जनराज के इस ग्रंथ में काव्यशास्त्र के विविध विषयों का निरूपण है। इसके छठे, सातवें और आठवें विनोदों का नाम क्रमशः उत्तमकाव्य, मध्यमकाव्य और अधमकाव्य-वर्णन है। इनमें क्रमशः ध्वनि, गुणीभूतव्यंग्य और अलंकारों के भेदोपभेदों का निरूपण है। इससे सिद्ध होता है कि यह अलंकार को उत्तम स्थान नहीं देते। अलंकार-वर्णन कुवलयानन्द के आधार पर हुआ है। शब्दालंकारों का निरूपण २२वें विनोद में किया गया है। प्रहेलिका और यमकालंकार का परम्परागत वर्णन है। २३वें विनोद में चित्रालंकार का विस्तृत विवेचन किया गया है, जो केशव तथा भिखारीदास की परम्परा का निर्वाह-मात्र है।

अलंकार-सम्बन्धी अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि जनराज ध्वनिवादी थे और रस के लिए अलंकारप्रयोग का महत्व मानते थे, प्रधानतः अलंकारवादी नहीं थे।

रामसिंह : अलंकार-दर्पण (रचनाकाल सं० १८३५ वि०)

अर्थालंकारों का यह ग्रन्थ रामसिंह ने लिखा। ३८३ छन्दों में अर्थालंकारों का निरूपण कुवलयानन्द की पद्धति पर किया गया है। अलंकारों के लक्षण सोरठा, चौपाई तथा गाथा छन्द में और उदाहरण दोहों में दिए गए हैं।

---

१. अनन्वय अलंकार लक्षनं दोहा—
एकहि को उपमेयता उपमानता बषानि।
एक वाक्य में भरत भनि नाम अनन्वय जानि ॥२०॥
फतेप्रकाश-रत्नेश, (रत्न) पृष्ठ ५६ तथा पृष्ठ ६३, ८०, ६१

२. इतिश्री बदरिकाश्रम विश्रान्त नारायण सानिध्य संलभ्य सौभाग्य संकरमनोहारिगढ़वार तुरासाह श्री महाराजाधिराज फतेशाह प्रकाशित कविरत्न क्षेमराम कृते फतेप्रकाशे ॥
फतेप्रकाश—रत्नेश (रत्न कवि) सम्पादक श्री शूरवीर सिंह, पृष्ठ ११०

रामसिंह ने अलंकार का महत्व कविता और वनिता को छवि प्रदान करने में माना है।[1] सभी अलंकारों के लक्षण संक्षिप्त एवं सरल हैं। उदाहरणों में श्री कृष्ण-लीला का चित्रण अधिक है। तत्कालीन सामाजिक-वैलासिक चित्र भी उदाहरणों में हैं। कहीं-कहीं छोटे-छोटे छन्द भी प्रयुक्त किये गये हैं, जो भाषाशक्ति के परिचायक हैं। छोटे-बड़े छंदों का विविध प्रयोग अलंकार-समन्वय के लिए करना इस ग्रंथ की विशेषता है।

अलंकारों के नाम देकर लक्षण नहीं लिखे गये, अपितु सोरठा पढ़ने पर ही अलंकारनामज्ञान होता है। संयत भाषा-प्रयोग के कारण ग्रंथ उपयोगी बन गया है।

याकूबखां : रसभूषण (रचनाकाल सं० १८२७-१८३७ वि०)

आचार्य मिश्रबन्धुओं ने 'रसभूषण' का रचनाकाल १७७५ वि० माना है। परन्तु रत्नेस कवि का कहना है कि "कान्ताभूषण" से पूर्व नायिकालंकार विषय पर कोई ग्रन्थ नहीं लिखा गया। "कान्ताभूषण" का रचनाकाल १८२७ वि० के लगभग है तब याकूब खाँ उसके परवर्ती हैं। याकूब खाँ के ग्रन्थ 'रसभूषण' की जो प्रति उपलब्ध है, उसके अन्त में लिखा है—"**लिखितं प्रधान लल्ला पौष वदि १५ संवत १८३७।**" इस से प्रतिलिपि का काल प्रकट होता है। अतः याकूब खाँ द्वारा 'रसभूषण' की रचना का समय संवत् १८२७ और १८३७ के मध्य ही मानना चाहिए। ऐसा भी सम्भव है कि प्राप्त लिपि याकूब खाँ के जीवनकाल में ही हुई हो।

यह ग्रन्थ नाम से रस-सम्प्रदाय सम्बन्धी प्रतीत होता है परन्तु मुख्य रूप से यह रसों के भूषणों (अलंकारों) का ग्रन्थ है। इसके अन्तिम ३६ पदों में (४४०-४७५) रसों का विवेचन है। शेष ग्रन्थ में अर्थालंकारों का विवेचन है। याकूब खाँ ने ग्रंथ के आरम्भ में कह दिया है कि अलंकारों का वर्णन रसयुक्त है। रस के लिए अलंकार-प्रयोग किया गया है। ग्रन्थकार का अलंकार-वर्णन में दूसरा भाव है, नायिका बिना अलंकार क्या और अलंकार बिना नायिका कैसी? इसलिए अलंकार-युक्त नायिका का वर्णन भी इसमें है।[2]

---

१. कविता अरु वनितान कों अलंकार छवि देत।
जैसे रवि कुमोदिनी ससि सोभा को हेत ॥२॥
अलंकार-दर्पण—रामसिंह, पृष्ठ १

२. (क) अलंकार रसजुक्त, कही नाइका भेद पुनि।
वरनो क्रमनि उक्त, लक्षन अबर उदाहरण ॥ ॥
(ख) अलंकार बिनु नाइका, शोभित होय न आनि।
अलंकार युत नाइका, ताते कहौ बखानि ॥४॥
रसभूषण—याकूब खाँ, पृष्ठ

अलंकार-निरूपण-शैली

ग्रंथ के अन्त में अलंकारों के निरूपण की शैली को स्पष्ट रूप से बताया गया है। उदाहरण की पहली तुक में तो अलंकार लक्षण है तथा दूसरी में नायिका-वर्णन है। दोनों की तुकों के मिलने से अलंकार विशेष का निर्वाह किया गया है।[1] नायकों का वर्णन भी अलंकारों के लिए किया गया है। जैसे—

सम दूजो नाइक, लक्षन—सोरठा

सो सम दूजो जान, कारन रंग जु काज में।
नायक जिय शठ आन, कपट हिये मधुरे वचन ॥२४४॥

दूतियों के उत्तम, मध्यम, अधम भेदों को पर्याय-भेदों में समन्वित किया गया है। जैसे—

पर्याय—उत्तमा दूती, लक्षन—सोरठा

चौथा हिये सोय, होय सकुच जिहि ठौर ही,
उत्तम दूती सोय, रस सों देह मिलाय तिय ॥ ९३॥

दूती के कार्यों तथा सखी-परिहास में भी अलंकार-वर्णन किया गया है। समाधि अलंकार सखी-परिहास का रूप लिए हुए है। जैसे—

समाधि अलंकार सखी को परिहास, लक्षन—सोरठा

होय समाधि कहाय, काज सिद्धि जिहि सुगम सों,
कहि परिहास सुनाय, अलि हांसी तिय सों करे ॥३१५॥

काव्यलिंग अलंकार नायक-नायिका के परिहास से सम्बद्ध है। जैसे—

काव्यलिंग है सोय, थापि रूप द्रिढ़ अर्थ जिहि,
पिय परहास जु होय, पिय तिय सों हाँसी करै ॥३२०॥[2]

नायिकाओं के हावों में भी याकूब खाँ ने अलंकार-निरूपण सुन्दरता से किया है, जैसे—

अर्थान्तरन्यास सामान्य लीला हाव, लक्षन-सोरठा

पहिले जानो सोइ, उक्ति जहां सामान्य की,
लीला हाव जु होइ, त्रिया वेष नर को करै ॥३२५॥

रस के अवयवों—आलम्बन, उद्दीपन, अनुभाव तथा संचारी भावों में अलंकार-समन्वय दर्शाना इस कृति का अनुपम वैशिष्ट्य है। जैसे—

मुद्रालंकार, सात्विक भाव, लक्षन—सोरठा—

मुद्रा जानो सोय, और अर्थ पद में कढ़े।
आँसू सात्विक होय, स्वेद, कम्प रोमांच जड़ ॥३६६॥[3]

---

१. या ग्रंथ विषै उदाहरन में लक्षन के क्रम में पहली तुक में तो अलंकार बरनो है और दूसरी तुक में नाइका भेद है। दोनों ही तुक में अलंकार को निर्वाह जानिये। रसभूषण—याकूब खाँ, पृष्ठ ४७

२. रसभूषण—याकूब खाँ, पृष्ठ २४, २९, ३१

३. रसभूषण—याकूब खां, पृष्ठ ३२

इस प्रकार रस, नायक-नायिका तथा हाव-भवादि में अलंकारों को समन्वित करने का सफल प्रयास याकूब खाँ ने किया है। विषयसरलता की दृष्टि से ग्रंथ में कहीं-कहीं गद्य में टीका भी दी गई है, इससे अलंकारबोध में पर्याप्त सहायता मिलती है।

किसी नए अलंकार की उद्‌भावना याकूब खाँ ने नहीं की। अलंकारों के नाम तो परम्परागत रूप से ही गृहीत हैं, लक्षण और उदाहरण इस लेखक ने अपने दिये हैं। संस्कृत के किसी आचार्य का सीधा प्रभाव इस पर नहीं दिखाई देता। 'कान्ताभूषण' की विवेचनशैली से प्रभावित यह दूसरी कृति है, जो भाषाकाव्यशास्त्र में युगीन भावना को द्योतित करने वाली अनोखी सूझ का परिणाम है।

सेवादास : रघुनाथालंकार (रचनाकाल सं० १८४० वि०)

श्री रघुनाथ-भक्त कविवर सेवादास ने अपने इष्टदेव के चरित्र की मोहक छवियों को छटायित करने के लिए अलंकारग्रन्थ उन्हीं के नाम पर लिखा। अलंकारों के द्वारा इष्टदेव के भाव-चित्रों को अलंकृत करने का यह प्रयास भूषण की परम्परा का माना जाना चाहिये। भूषण ने राजनीतिक या सामरिक स्तर पर शिवाजी के चरित्र में अलंकार समन्वित किए तो अलौकिक स्तर पर भक्तिभाव से परिपूरित हो सेवादास ने भगवान् जानकीनाथ के विविध रूपों को अलंकार से चमत्कृत किया। भगवती सीता भी उन्हीं के साथ सुशोभित हैं। कहीं-कहीं हनुमान जी के प्रति भक्तिभावना भी व्यक्त है।

रीतिकाल में इस प्रकार के प्रयासों का मूल्यांकन एक विशिष्ट दृष्टि से होना चाहिये। पहले भी भूषण के प्रसंग में कहा जा चुका है कि शिवाजी के वीरता-मय चरित्र में अलंकारों का समन्वय कम महत्त्वपूर्ण नहीं। इसी प्रकार भक्तिरस कहिये या भक्तिभावना में अलंकारों को दर्शाना भी किसी प्रकार नगण्य प्रयास नहीं है। सेवादास ने वैसा करके यह सिद्ध किया है कि अलंकार रस के उत्कर्षकारक हैं।

निरूपणशैली

ग्रन्थ की अलंकार-निरूपण-शैली विविध छंदों से मंडित है। लक्षण दोहों तथा अन्य छोटे छंदों में और उदाहरण सवैयों में दिये गये हैं। अलंकार-निरूपण में चन्द्रालोक तथा कुलवयानन्द का ही प्रभाव लेखक पर है।[1] तथापि रसवदादि तथा प्रमाणादि अलंकारों का निरूपण नहीं है। निरुक्त्यलंकार तक ही विवेचन करके ग्रन्थ समाप्त कर दिया गया है। सेवादास से अलंकारों के लक्षण परिष्कृत नहीं बने। लक्षण-निर्माण की शिथिलता इतनी अधिक है कि काव्यशास्त्रीय दृष्टि से ग्रन्थ साधारण कोटि का बन गया है, जबकि उदाहरणपक्ष अत्यन्त सुन्दर है।

---

१. कुवलयानन्द चंद्रालोक में अलंकार के नाम।
तिनकी गति अवलोकि के अलंकार कहि राम ॥१६४॥
रघुनाथालंकार—सेवादास, पृष्ठ-२४

गोकुल : चेतचन्द्रिका (रचनाकाल सं० १८४० से १८७० वि०)

रघुनाथ कवि के पुत्र गोकुलनाथ ने 'चेतचन्द्रिका' अलंकारग्रन्थ महाराज चेतसिंह के लिए लिखा। इस ग्रंथ में अर्थालंकारों का क्रम रघुनाथ-कृत 'रसिक-मोहन के' आधार पर ही रखा गया है। शब्दालंकारों की विवेचना नहीं है। अर्थालंकारों की सूची देने के अनन्तर लक्षण-उदाहरण दिए गये हैं।

गोकुल कवि ने इस ग्रंथ के उदाहरणों में वैशिष्ट्य प्रस्तुत किया है। अलंकारों के उदाहरण गोकुलनाथ श्रीकृष्ण के प्रति तथा अपने आश्रयदाता के सम्बन्ध में दिये गए हैं। कहीं-कहीं दो से अधिक भी उदाहरण दिए हैं। किन्हीं उदाहरणों में श्री राम की चर्चा भी की गई है। उदाहरण अलंकार-बोध में अत्यन्त सहायक हुए हैं, जैसे—

अधिक अलंकार—यथा—

बेलि बूटो गुलम विटप वर छंद गन,
दनुज मनुज पशु पीच्छन के कीस के।
सरति समुद धाराधर धाराधर धरा,
विसन समेत लोक दिग्गज दिगीस के॥
गोकुल नखत गन ग्रह व्योम वायु तेज।
सुरन सहित सुरपति बिसे बीस के॥
इतनो जगत जा के उदर बसत सोई,
सोवतु है जगदीस ऊपर फनीस के॥३८२॥[1]

रघुनाथ कवि के समान ही गोकुल ने भी प्रेमात्युक्ति को अलंकार माना है। एक नए अपह्नव अलंकार का परिचय इस ग्रंथ में मिलता है। अपह्नव अलंकार अपह्नुति और उत्प्रेक्षा के मेल से बनता है। जैसे—

अपह्नव—मिलतापन्हुति सों जहां उत्प्रेक्षा है सुधाम।
ताहि अपन्हव कहत हैं अलंकार अभिराम॥१८३॥[2]

डॉ० रामशंकर शुक्ल 'रसाल' ने इसे गोकुल का नवीन उद्भावित अलंकार माना है।[3] परन्तु आचार्य विश्वनाथ के सापह्नव से ही गोकुल ने इसे गृहीत किया है। यह उनका नवीन उद्भावित अलंकार नहीं है। लक्षणों की स्पष्टता और उदाहरणों की सरसता के कारण ही चेतचन्द्रिका काव्यशास्त्र की एक प्रौढ़ कृति है।

चंदन : काव्याभरण (रचनाकाल सं० १८४५ वि०)

चन्दनकृत 'काव्याभरण' एक लघुकाय ग्रंथ है। ग्रंथकार ने अपनी कृति पर भाषाकाव्यशास्त्रीय तथा संस्कृत के ग्रंथों एवं विद्वानों का विना नाम लिए प्रभाव

१. चेतचन्द्रिका—गोकुलनाथ, पृष्ठ ६७,
२. चेतचन्द्रिका—गोकुलनाथ, पृष्ठ ४५-४६,
३. (क) अलंकार-पीयूष—डॉ० रामशंकर शुक्ल 'रसाल,' पृष्ठ १२५
(ख) साहित्यदर्पण—विश्वनाथ, पृष्ठ ३२१,

स्वीकार किया है ।[1] पूरा ग्रंथ पढ़ने पर कुवलयानंद तथा भाषाभूषण की पद्धति से अलंकार-वर्णन मिलता है । प्रधानतः कुवलयानन्द की पद्धति का निर्वाह लक्षण-लक्ष्यों में किया गया है। उदाहरणों का भी अविकल अनुवाद है। केवल श्लेष तथा परिवृत्ति अलंकार के दूसरे भेद का उदाहरण चंदन ने अपना दिया है ।[2] कहीं-कहीं लक्षण-लक्ष्य के लिए एक ही दोहा तथा कहीं पृथक्-पृथक् दोहे रखे गए हैं । जैसे—

(काव्याभरण) उपमा—दोय पदार्थन की जहां शोभा लसत समान ।
उपमा तासो कहत हैं, पंडित परम सुजान ॥७॥
उदाहरण—महाराज यदुवंश मनि, सुनौ कृष्ण सुरनाह ।
हंसी इव तव कीर्ति की, सुरगंगा अवगाह ॥८॥

(कुवलयानन्दः) उपमा— उपमा यत्र सादृश्यलक्ष्मीरुल्लसति द्वयोः ।
हंसीव कृष्ण ते कीर्तिः स्वर्गंगामवगाहते ॥६॥

(काव्याभरण) प्रतिवस्तूपमा—प्रतिवस्तुपम सो समुझियै दोऊ वाक्य समान ।
राज विराजत चापि करि भ्राजत तेज सुभान ॥६३॥

(कुवलयानन्दः) प्रतिवस्तूपमा— वाक्ययोरेकसामान्ये प्रतिवस्तूपमा मता ।
तापेन भ्राजते सूरः शूरश्चापेन राजते ॥५१॥[3]

यह ग्रंथ अलंकार-निरूपण में "भाषाभूषण" की परम्परा का निर्वाह करता है । इस में लक्षणों तथा उदाहरणों का अनुवाद अन्य अनूदित ग्रन्थों की अपेक्षा अधिक परिष्कृत है ।

रसिकगोविन्द : रसिकगोविन्द आनन्दघन (रचनाकाल सं० १८५८ वि०)

आचार्य रसिकगोविन्द ने काव्यशास्त्र के सम्बन्ध में 'रसिकगोविन्द' तथा 'रसिकगोविन्द आनन्दघन' दो ग्रन्थ लिखे । इनमें पहला ग्रंथ 'चन्द्रालोक' अथवा 'भाषाभूषण' की शैली पर लिखा गया है, परन्तु दूसरा ग्रंथ आचार्यत्व की कोटि का है । रसिकगोविन्द आनंदघन में काव्य के विविधांगों का सरल एवं प्रौढ़ निरूपण है । रस, गुण, रीति, नायक-नायिकादि के अतिरिक्त अलंकार-विवेचन भी प्रौढ़ता से किया गया है ।

अलंकारों का निरूपण चतुर्थ प्रबंध में किया गया है । पहले गुणों और अलंकारों का सम्बन्ध-विवेचन तथा तदनन्तर अलंकार-निरूपण किया गया है । सभी अलंकारों

---

१. नमस्कार गुरुदेव को, करि चन्दन बहुबार ।
'काव्याभरण' किये प्रगट, भाषा कवि आधार ॥४॥
ग्रंथ संस्कृत देखि मैं, समुझि अलंकृत अर्थ ।
जथा तथा ही मैं कह्यो, जानिहै बुद्धि समर्थ ॥१६६॥
काव्याभरण—चंदन, पृष्ठ १

२. काव्याभरण—चन्दन, पृष्ठ १३,२१

३. (क) काव्याभरण—चंदन, पृष्ठ १, २, १८
(ख) कुवलयानंदः—अप्पय्यदीक्षित, पृष्ठ २, ६३

के लक्षण गद्य में दिए गए हैं। भेदोपभेदों का निरूपण भी परिष्कृत गद्य में है। शब्दालंकारों में वक्रोक्ति, अनुप्रास, यमक, श्लेष, चित्र और पुनरुक्तवदाभास का निरूपण है। मम्मट, जयदेव और अप्पय्यदीक्षित-निरूपित अलंकारों के अतिरिक्त केशव द्वारा विवेचित अलंकारों को भी इस ग्रंथ में विवेचना दिया गया है। इस प्रकार रीतिकाल में निरूपित अलंकारों का एकत्र विवेचन इस ग्रन्थ में हो गया है। रीतिकाल के आचार्यों के अलंकार-लक्षणों पर किसी प्रकार की टिप्पणी इसमें नहीं है, अपितु सभी अलंकारों के लक्षण गद्यभाषा में स्वनिर्मित ही रखे गये हैं। गद्य-लक्षणों में संक्षिप्तता का गुण अपनाया गया है। लक्षण स्पष्ट एवं परिष्कृत बने हैं। इस से आचार्य रसिकगोविंद की विवेचना-शक्ति की सफलता का परिचय मिलता है। इस प्रकार सारे अलंकारप्रकरण का अध्ययन सिद्ध करता है कि संस्कृत के मम्मट, जयदेव, अप्पय्यदीक्षित तथा भाषाकाव्यशास्त्र के केशव, कुलपति और सोमनाथ आदि का प्रभाव इस ग्रन्थ पर है।

स्वनिर्मित उदाहरणों के अतिरिक्त आचार्य केशव, बिहारी, कुलपति, सूरति मिश्र, सोमनाथ, देव, गंग, कालिदास आदि साहित्यकारों के पद्यों के उदाहरण वहुधा दिये गये हैं। मुकुन्द कवि के पद्य ग्रन्थकार को उदाहरणों के लिए अत्यन्त प्रिय रहे। अनन्वय के उदाहरण में मुकुन्द का पद भी दिया गया है।

मुकुन्दः—रूप जुवन गुन रसभरी तो सी तु ही न आन ॥६०॥[1]

स्वनिर्मित उदाहरणों में बहुधा भगवान् श्री कृष्ण की महिमा का वर्णन किया गया है। अलंकार-संगति के लिये टीका का प्रयोग आचार्य ने नहीं किया, क्योंकि सुबोधता के लिए सुन्दर उदाहरणों का ही चयन किया गया है। इस भाँति रीतिकाल के काव्यशास्त्र का प्रतिनिधित्व करने वाली यह एक प्रौढ़तम रचना है।

जगतसिंह : साहित्य-सुधा-निधि (रचनाकाल सं० १८५८ वि०)

जगतसिंह ने चन्द्रालोक और कुवलयानंद आदि का आधार लेकर यह ग्रन्थ लिखा है।[2] इस ग्रन्थ की छठी तरंग में शब्दालंकारों तथा अर्थालंकारों का विवेचन किया गया है। इस ग्रन्थ के उदाहरणों में वीरतामय भावना व्याप्त है। कुछ पद शृंगार के भी हैं।

नवीन अलंकार

जगतसिह ने 'संग्रामोद्दाम हुंकरा' नामक नए अलंकार की उद्भावना की है। इसका लक्षण किया है कि जहाँ पहलवान एक दूसरे से ऐसा कहें कि 'ऐसा हो

---

१. रसिकगोविंद आनंदघन—रसिकगोविंद, पृष्ठ १६

२. चन्द्रालोक आदि हैं भाषा कीन।
कहि साहित्यसुधानिधि बरवै बीन॥
साहित्य-सुधा-निधि—जगतसिंह, (उद्धृत-हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास)
सम्पादक, डॉ० नगेन्द्र, पृष्ठ ३६७

जाएगा' उसे 'संग्रामोद्दामहुंकृति' मानना चाहिये । लक्षण-उदाहरण भी पठनीय हैं—

लक्षण—मल्ल प्रति मल्लत्व कहि कहं अस होइ ।
संग्रामोद्दाम हुंकृति जानो सोइ ॥
उदाहरण—भानुप्रभा जस अहै निसचै जानु ।
गई निसा तब जानो सब मतिमानु ॥[1]

इस उदाहरण में उत्प्रेक्षालंकार अधिक सौष्टव से समन्वित होता है। 'संग्रामोद्दामहुंकरा' नहीं। इस अलंकार का सम्बन्ध युद्ध-स्थिति से है। वास्तव में यह रौद्र रस का उद्दीपन विभाव ही है, शेष कुछ नहीं।

उमेदराय : वाणीभूषण (रचनाकाल सं० १८६१ वि०)

'वाणीभूषण' ग्रन्थ अलवर राज्य के राजगढ़वासी प्रसिद्ध कवि उमेदराय ने अपने आश्रयदाता 'बखतेस' नृपति के लिए लिखा। अपने ग्रन्थ पर प्रभाव-स्वीकृति के रूप में लेखक ने 'चन्द्रालोक' अपना स्रोत को माना है। कवि द्वारा 'भाषाभूषण' की लक्षण-उदाहरण पद्धति अपनाने की स्वीकृति भी इस ग्रंथ में है।[2] १०८ अर्थालंकारों तथा शब्दालंकारों में भाषा के योग्य अनुप्रास का भेद-समेत वर्णन किया गया है। यमक को भी अनुप्रास के ही अन्तर्गत माना है।[3] उमेदराय ने सीता जी को अपनी इष्टदेवी माना है। उदाहरणों में,, सीता जी के वर्णन के साथ ही नृपति-प्रशंसा सम्बन्धी उदाहरण भी दिए गये हैं।

---

१. साहित्य-सुधा-निधि—जगतसिंह, (उद्धृत—हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास) सम्पादक, डॉ० नगेन्द्र, पृष्ठ ३६८

२. नित चन्द्रालोक विचारि मान ।
किये भाषाभूषन की समान ॥
वाणीभूषण—उमेदराय, पृष्ठ ३

३. एक सो आठ सब अलंकार,
अर्थ के कहे बुद्धयानुसार ।
बर सब्दालंकृत होत हैं जु,
ते अच्छर के संजोग तैं जु ॥१६६॥
षट् अनुप्रास बरने बखानि,
जो जग में भाषा जोगि जानि ॥
करि अलंकार को सुगम पंथ,
मैं 'वाणी भूषन' रच्यो ग्रन्थ ॥१६७॥
'बखतेस' नृपति आज्ञानुसार ।
बरण्यौ उमेद कवि बुधि विचार ॥
यह 'वाणी भूषण' पढ़ैं कोय ।
तिहं अलंकार को ज्ञान होय ॥१६८॥
वाणीभूषण—उमेदराय, पृष्ठ ३६

राजस्थानी शब्दों का पुट लक्षणोदाहरणों में विद्यमान है। लगता है कि कवि ने अपने क्षेत्र की जनभाषा में अलंकारग्रन्थ लिखने का प्रयास किया है। जैसे—

छेकानुप्रास—आर्वात बर्न अन्नेक कीसु ।
ह्वै दोय दोय जामें कबीसु ॥
पूर्णोपमालंकार—धर्म वाचक—उपमे, औपमान ।
ये च्यारि अंग लुप्ता सुजान ।
ये च्यारि अंग जब मिलहिं आय ।
सो 'पूरन उपमा' को सुभाय ।
उज्जल सियमुख ससि सो उदार ।
कंज से नयन प्रफुलित सुढार ॥

उपर्युक्त उदाहरणों में राजस्थानी शब्दों का पुट स्पष्ट है। यही भाषा सम्पूर्ण ग्रन्थ में विद्यमान है। ब्रजभाषा का यह रूप भी भाषा-काव्य-शास्त्रीय ग्रन्थों के लेखन-हेतु समर्थ सिद्ध हो गया था, ऐसा मानना चाहिये।

ब्रह्मदत्त : दीपप्रकाश (रचनाकाल सं० १८६७ वि०)

कवि ब्रह्मदत्त ने अपने आश्रयदाता दीपनारायण सिंह की आज्ञा से इस ग्रन्थ में काव्यशास्त्र के विविधांगों का विवेचन किया है। तृतीय प्रकाश में अनुप्रास के भेद छेकानुप्रास, वृत्त्यानुप्रास, लाटानुप्रास, यमकानुप्रास, कोमलावृत्ति तथा परुषावृत्ति नामक शब्दालंकारों का वर्णन है। चतुर्थ प्रकाश में अर्थालंकारों का विवेचन है।

कवि ने स्वीकार किया है कि इस ग्रन्थ को दूलह के 'कविकुलकंठाभरण' के प्रभाव से रचा गया है।[1] दोहे में लक्षणोदाहरण 'भाषाभूषण' की भांति कहे गये हैं।

ग्रन्थ सामान्य स्तर का है। उदाहरणों में विविधता है। श्री कृष्ण तथा राधा का वर्णन अधिक है। संयत शृंगार के उदाहरण भी हैं। 'अलंकारपंचाशिका' के लेखक मतिराम तथा देव की भांति गुणवत् अलंकार का वर्णन ब्रह्मदत्त ने भी किया है। लक्षण और उदाहरण पूर्ववर्तियों से अधिक स्पष्ट एवं संगत हैं।

गुणवत्—गुणवत् गुरूवाई लहै ओछो आच्छे संग ।
हरि हू निज हिय धरी रज द्विजवर पाय प्रसंग ॥[2]

कहीं-कहीं उदाहरणों में पूर्ववर्ती कवियों का प्रभाव भी स्पष्टतः परिलक्षित होता है। जैसे :—

सम्बंधातिशयोक्ति—तू मोहन के उरबसी नहिं उरबसी सुहाइ ।
बिहारी—तू मोहन के उरबसी ह्वै उरबसी समान ॥

'दीपप्रकाश' ग्रन्थ भाषा-काव्यशास्त्र की परम्परा से प्रभावित है। संस्कृत के ग्रन्थों का अनुवाद-कार्य अब छूट चला था। इसलिए इस ग्रन्थ के लक्षण

१. दीप नरायन सिंह की लहि आयुस कवि ब्रह्म ।
कविकुल कंठाभरण लखि कीन्हों ग्रन्थ अरम्भ ॥
दीपप्रकाश—ब्रह्मदत्त, पृष्ठ ५

२. दीपप्रकाश—ब्रह्मदत्त, पृष्ठ ३८

अनूदित नहीं और उदाहरण भी भाषाकाव्य के हैं। इन दोनों हेतुओं से यह कृति अपना स्वतन्त्र एवं विशिष्ट महत्व रखती है।

पद्माकर : पद्माभरण (रचनाकाल सं० १८६७ वि०)

पद्माकर ने बैरीसाल के भाषाभरण के आधार परे अपने ग्रन्थ पद्माभरण की रचना की है। चन्द्रालोक-कुवलयानन्द जैसे ग्रन्थों का प्रभाव भी इस ग्रन्थ पर विद्यमान है।

इस ग्रन्थ के प्रथम प्रकरण में 'कुवलयानंद' की परिपाटी से १०० अर्थालंकार तथा द्वितीय प्रकरण में १५ अन्य (४ रसवदादि, ३ भावोदयादि, ८ प्रमाणालंकार) अलंकारों का विवेचन है। आगम, आचार, आत्मतुष्टि जैसे प्रमाण बैरीसाल के 'भाषाभरण' से लिए गये हैं। संसृष्टि और संकर का प्रसंग इसके अनन्तर दिया गया है।

अलंकार-संबन्धी दृष्टि

पद्माकर ने अलंकार-रीति में शब्दालंकार, अर्थालंकार और उभयालंकार का नाम-निर्देश किया है।[1] परन्तु ग्रन्थ में शब्दालंकारों की विवेचना नही है। उभयालंकारों में (शब्दार्थालंकार-संसृष्टि में) अनुप्रास, यमक और उपमा की संसृष्टि दिखाई गई है। पद्माकर ने पृथक् शब्दालंकार-वर्णन नहीं किया। पद्माकर ने अलंकार की मुख्यामुख्य रूप से स्वीकृति भी कवीच्छा पर ही निर्भर मानी है, जैसे विशाल महल के भवनों में राजा का किसी विशिष्ट भवन के प्रति अनुराग होने से उसी को प्रधानता मिल जाती है।[2]

अलंकार-विवेचन-शैली

पद्माकर ने लक्षण-लक्ष्य शैली में दोहे से काम लिया है, परन्तु कहीं-कहीं वे इससे भिन्न मार्ग पर भी चले हैं। लक्षण और उदाहरण अलग-अलग दोहे में भी दिए गए हैं। चौपाई छंद का प्रयोग अतिशयोक्ति, तुल्ययोगिता और दीपक के प्रसंग में किया गया है। एक अलंकार के अनेक उदाहरण भी दिये हैं।

पद्माकर पर दूसरों का प्रभाव

पद्माभरण में जसवन्तसिंह, मतिराम, दूलह तथा बैरीसाल, का प्रभाव है। मतिराम और बिहारी सरीखे कवि के भावों को भी अपनी शब्दावली में ला

---

१. सब्दहुं तैं कहुं अर्थ तैं, कहुं दुहुं तैं उर आनि।
अभिप्राय जिहि भांति जहं, अलंकार सो मानि ॥२॥
पद्माभरण—पद्माकर, पृष्ठ ४२

२. अलंकार इक थलहि में, समुझि परैं जु अनेक।
अभिप्राय कवि को जहां, वही मुख्य गनि एक ॥३॥
या विधि एकै महल में, बहु मंदिर, इक मान।
जो नृप के मन में रुचै, गनियत वहै प्रधान ॥४॥
पद्माभरण—पद्माकर, पृष्ठ ४२

रखा है। जैसे—

(क) पद्माकर—समुझो परत सुगंध तें, तन केसर को लेप ॥२४८॥
बिहारी—जानी जात सुबास ही केसर लाई अंग।

(ख) पद्माकर—भली न घर केतिक लगैं, उर कंटक अंगान ॥२५१॥
मतिराम—भलो नहीं यह केवरी, सजनी गेह-आराम।
बसन फटे, कंटक लगैं, निसि दिन आठो याम ॥[1]

उपमालंकार के प्रसंग में बिहारी के तीन दोहे दिये हैं। शेष 'भाषाभरण' से लिए गए हैं।[2]

वास्तव में पद्माकर ने परम्परा का पालन किया है। ऐसा मानने में कदाचित असंगति नहीं कि 'भाषाभूषण' तथा 'भाषाभरण' की भांति अलंकारों को प्रस्तुत करने का प्रयत्न पद्माकर ने किया है। कुछ विवादास्पद स्थलों के अतिरिक्त 'पद्माभरण' अलंकार-विषय के बोध का अच्छा ग्रन्थ माना जा सकता है।

राय शिवप्रसाद : रसभूषण (रचनाकाल सं० १८६९ वि०)

राय शिवप्रसाद ने भी याकूब खां की भांति रसभूषण ग्रन्थ लिखा है।[3] नायिका, नायक (दोनों के भेद भी) हाव-भाव, दूतिभेद, वियोगदशा-भेद आदि के प्रसंग में अलंकार-वर्णन याकूब खां जैसा ही है। रसोत्कर्षक रूप में अलंकार मानने की दृष्टि भी तत्समान है।[4]

ग्रन्थ में उदाहरण तात्कालिक रसिकताभरे जीवन से लिए गए हैं। शृंगार के संयत और असंयत उदाहरण दिए गए हैं। विभावना अलंकार का उदाहरण पठनीय हैं।

अलंकार विभावना उदाहरण—

काहू की नार सो कोऊ कहै मुहि लागे गिलान दसा तुव देखत।
ओठन ऊपर पीक वहे अरु कीचर आंखन माँझ विसेशत॥
धनवी न तोहि मिले कबहू तुम अम्बर ना जल सूरत देखत!
गात में बास गयंद की आवत मो समझाओ तू कत लेखत ॥१५५॥[5]

---

१. (क) पद्माभरण—पद्माकर, (उन्मीलित), पृष्ठ ६३
(ख) पद्माभरण—पद्माकर, (व्याजोक्ति), पृष्ठ ६४

२. पद्माभरण—पद्माकर, पृष्ठ ७२-७३

३. ग्रंथन की आस पाइ कहिगै कवि गुनवन्त।
तिहि परिपाटी प्रेम सौं सिव प्रसाद सिव संत ॥५६०॥

४. जो पढ़िहै या ग्रन्थ को ह्वै है रसिक सुजान।
अलंकार जुत रस कहो, समझ लेत गुनवान ॥५६२॥
रसभूषण—रायशिवप्रसाद, पृष्ठ ३६

५. रसभूषण—रायशिवप्रसाद, पृष्ठ ६५

एक और वैशिष्ट्य इस कृति में देखने को मिलता है कि रसों में अलंकारों को दिखाने का ऐसा प्रयास पहली बार इस रूप में इन्होंने ही किया कि रस विशेष में अलंकार विशेष का ही नाम समन्वित किया है। जैसे—

१. हास्य रस—व्याजवस्तु या व्याजोक्ति अलंकार
२. करुण रस – प्रथम विषमालंकार
३. रौद्र रस—रूपकालंकार
४. वीर रस—उत्प्रेक्षालंकार (वस्तूत्प्रेक्षा)
५. भयानक रस—अतिशयोक्ति-उत्प्रेक्षासंकर
६. वीभत्स—विभावना (उदाहरण ऊपर दिया गया है।)
७. अद्भुत—संभावनालंकार
८. शान्त रस—भेदकातिशयोक्ति

रसराज शृङ्गार के अनेक उदाहरण नायकादि के भेदों में आ चुके थे, परन्तु विशिष्ट रस में विशिष्टालंकार का नामनिर्देश इस क्रम में एक नया प्रयोग भाषा-काव्यशास्त्र में इन्होंने किया। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उपर्युक्त प्रयास विचारणीय है। परन्तु इस दृष्टि से यह ग्रंथ अपना महत्व तो रखता ही है।[1]

प्रतापसाहि : व्यंग्यार्थकौमुदी (रचनाकाल सं० १८८२ वि०)

'व्यंग्यार्थकौमुदी' १३० पदों का एक लघुकाय ग्रंथ है। इसमें शब्द-शक्तियों और अलंकार के स्वरूप का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। अलंकार के भेदोपभेदों को गद्य में लिखा है। अलंकारों के पद्यबद्ध लक्षण भी लिखे गए हैं।

वृत्तिभाग के कारण यह अलंकारग्रंथ बन गया है। यह ग्रंथ व्यंग्यार्थ, नायक-नायिका-भेद और अलंकार से सम्बन्ध रखने के कारण उस काल के एक विचित्र प्रयोग का रूप रखता है। अलंकार प्रसंगतः आ गए हैं, मुख्य रूप से इनकी चर्चा करना प्रतापसाहि का उद्देश्य नहीं रहा। इसलिए उस काल की परम्परा का निर्वाह मात्र इस कृति में अलंकारों को लेकर किया गया है।

कृष्णभट्ट : अलंकार-कला-निधि (रचनाकाल सं० १८८४ वि०)

'अलंकार-कलानिधि' ग्रंथ कृष्णभट्ट ने पटियाला के निवासकाल में लिखा। इस ग्रंथ की प्रामाणिकता इसी तथ्य से सिद्ध है कि इसमें प्रदत्त उदाहरणों का उल्लेख आचार्य अमीरदास (सभामंडन) कवि निहाल (साहित्यशिरोमणि) तथा मुकुन्द कवि ने अपने ग्रंथ (रसिकशिरोमणि) में किया है। इस ग्रंथ के उदाहरण सर्वथा मौलिक हैं। यथा—

द्वितीय विशेषालंकार उदाहरणः—प्राण प्यारी तुव अंगन की उपजी सुवास सोइ,
लगी हरिचंदन मैं इन्दिरा के घर मैं।
मालती लता वन मैं निहारी गुलाबन मैं,
मृग पद घनसार अम्बर अगर मैं।
उछल अछेह छवि छाइ पुनि छित पर,
देखियत सोई मन मानिक मुकुर मैं।

---

१. रसभूषण—राय शिवप्रसाद, पृष्ठ ६४-६६

चन्द्रक बनि मैच गगन की अनी मैं चारु,
चन्द्र की कला मैं, चपलता मैं, चामीकर मैं ।[1]

इसमें नायिका की छवि तो एक है और वह चंदन आदि अनेक आधारों में व्याप्त है । इस उदाहरण से ही कृष्ण भट्ट की मौलिकता स्पष्ट है ।

बलवानसिंह : चित्रचन्द्रिका (रचनाकाल सं० १८८६ वि०)

भाषाकाव्यशास्त्र में ऐसे भी आलंकारिक हुए, जिन्होंने केवल चित्रालंकार को लेकर ही ग्रंथों की रचना कर डाली और इस प्रकार संस्कृतकाव्यशास्त्र की प्रणाली से आगे बढ़कर एक नवीन पद्धति का उद्घाटन किया । अलंकार-विकास के क्रम में चित्र-काव्य और चित्रालंकार भाषाकाव्यशास्त्र में (आचार्य देव ने ऐसा ही किया) एक रूप हो गए । संस्कृतकाव्यशास्त्र में इन दोनों को हीन माना जाता था । तब भी इसका विवेचन काव्यशास्त्र में हुआ है । दण्डी से लेकर नरसिंह तक संस्कृत में और भाषाकाव्य-शास्त्रियों में केशव तथा देव ने भी इसका विवेचन किया परन्तु बलवानसिंह ने जितना विस्तृत एवं विशद निरूपण किया, इतना तो संस्कृतकाव्यशास्त्र में भी नहीं हो सका । यद्यपि इनके प्रेरणास्रोत आनंदवर्धन तथा मम्मट ही हैं, जिन्होंने कि चित्र के शब्दचित्र और अर्थचित्र दो भेद लिखे हैं ।[2]

चित्र-चन्द्रिका के आरम्भ में ही लेखक यह स्वीकार करता है कि चित्र के अगाध सागर की थाह को कोई कवि नहीं पा सका ।[3] इससे सिद्ध है कि चित्रालंकार की वर्णन-सीमा, प्रकृति या लोक-जीवन के चित्रों की भाँति अपना अन्त नहीं रखती ।

आचार्य बलवानसिंह ने चित्रालंकार के तीन भेद शब्दचित्र, अर्थचित्र और संकरचित्र माने हैं ।[4] इन तीनों भेदों के उपभेद भी दिए गये हैं ।

(क) शब्द चित्र—वर्णचित्र, स्थानचित्र, स्वरचित्र, पद्माकारचित्र, गतिचित्र, आकार-बंध-चित्र तथा गुणबंध-चित्र ।

---

१. सभामंडन—आचार्य अमीरदास, पृष्ठ १०२

२. (क) चित्रं शब्दार्थभेदेन द्विविधं च व्यवस्थितम् ।
तत्र किञ्चिच्छब्दचित्रं वाच्यचित्रमतः परम् ॥३-४३॥
ध्वन्यालोकः—आनंदवर्धन, पृष्ठ ४१८

(ख) शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यंग्यं त्ववरं स्मृतम् ॥१-५॥
काव्यप्रकाशः—मम्मट, पृष्ठ १६

३. चित्र समुद्र अगाध कोऊ कवि थाह न ल्यायो ।
मैं अति ही बुधिहीन कछुक ग्रंथन बल गायो ॥
चित्रचन्द्रिका—बलवानसिंह, पृष्ठ २

४. अब शब्दचित्र बखानुं पुनि अर्थचित्र हि जानु ।
संकर सुचित्र हि मानु, त्रय भेद चित्र हि आनु ॥५॥
चित्र-चन्द्रिका—बलवानसिंह, पृष्ठ ३

(ख) अर्थ चित्र—एकाक्षरादि अर्थचित्र, प्रहेलिका, सूक्ष्मालंकार, गूढ़ोत्तर, अपह्नुति, श्लेष और यमक।

(ग) संकरचित्र—पदार्थ संकर्य्य यमकचित्र)[१]

ध्यान देने योग्य बात यह है कि अर्थचित्र-भेद ऐसा बना लिया गया, जिसमें सूक्ष्म, गूढ़ोत्तर, अपह्नुति और श्लेष अर्थालंकार हैं। (श्लेष उभयालंकार है) प्रहेलिका और यमक दो शब्दालंकार हैं। प्रहेलिका को भी आचार्य ने दृष्टिकूट (दृष्टकूट) से समन्वित कर दिया है।[२] यह संभव भी है। अर्थालंकारों को अर्थचित्र मानना इस लेखक की निजी मान्यता नहीं है। यह आनन्दवर्धन-मम्मट से गृहीत है। भाषाकाव्यशास्त्र में नवीन पंथ का उद्घाटन अवश्य है।

चित्रालंकार में अदोषपरक अक्षर

चित्रालंकार में र-ल, ज-य, तथा व-ब आदि के अन्तर को नहीं माना जाता, यह अनेक आलंकारिकों ने कहा है परन्तु बलवानसिंह ने कई अन्य बातें भी कही हैं, इनके मतानुसार चित्रालंकार में विसर्ग-अनुस्वार, ह्रस्व-दीर्घ की चिन्ता नहीं, परन्तु क्रमभंग कदापि सह्य नहीं है। चित्रालंकार का सौन्दर्य विनष्ट होता है तो क्रमभंग से। अन्यथा यह अलंकार काव्य में चमत्कार लाने में समर्थ है।[३]

व्याख्या या टीका-पद्धति

ग्रन्थकार ने चित्रालंकार के विविध रूपों को समझाने के लिए हर पद की टीका गद्य में दी है, जिससे विषय सुस्पष्ट होता जाता है। नायक-नायिका तथा सखी-नायिका के प्रश्नोत्तरों में चित्रों को बांधा गया है, जिससे ग्रन्थ की चारुता बढ़ गई है। प्राकृत, फारसी, पंजाबी, गुजराती आदि भाषाओं के शब्दों का प्रयोग विषय स्पष्टता के लिए किया गया है।

चित्रालंकार पर जीवन की विविधता की प्रकट छाप है। खड्ग, मयूर, कदली, वृक्षाकार, स्वस्तिक-गतिचित्र, डमरू, नवकोष्ठ-गति-चित्र, सर्वतोभद्र,

---

१. (क) वर्ण स्थान स्वर गनो आकृति गति पुनि बंध।
चित्र भेद षट् जानिये बरनत कवि करि बंध ॥६॥

(ख, ग) चित्र-चन्द्रिका—बलवानसिंह, पृष्ठ ३, ५, १११

२. कोऊ बात दुराय के जहाँ बरनिये मित्र।
अर्थ चित्र के भेद से जानु पहेली चित्र ॥७॥
दृष्टिकूट शास्त्रोक्त पुनि सहित नाम पुनि जानु।
अक्षर में ते काढ़िये चारि जात उर मानु ॥८॥
चित्र-चन्द्रिका—बलवानसिंह, पृष्ठ ८६

३. अध ऊरध बिनु बिंदु बिंदु युत एकहि जानो।
रल, डल, सप, ब-व, य-जहि, सकल समता करि मानो ॥४॥
अक्षर मोटे पातरे इनको दोष न देखिये।
क्रमभंग होय नहिं चित्र को, सो विचार उर लेखिये ॥५॥
चित्र-चन्द्रिका—बलवानसिंह, पृष्ठ ३

पादानुपाद-गतागतचित्र, सर्वतोभद्रगतिचित्र, रथगति, कमलाकारबंध, चामराकार-बंध-चित्र, हल की कूंडि बंध-चित्र, करमुष्टि आकारबंधचित्र, कमठाकारबंधचित्र, एकाक्षर त्रिपदीबंधचित्र, गोमूत्रिका, कपाटबंधचित्र (किवाड़-बंध चित्र), अश्वगति-चित्र, चटाईबंध-चित्र, मध्यादि, मध्यान्त्य, त्रिपदीबंधचित्र, अग्निकुंडबंधचित्र, पर्वताकारबंधचित्र, चक्रबंध, द्विचतुष्कचक्रबंध विविडितचक्रबंधचित्र, द्विशृंगारिकचित्र, छत्रबंध, एकदण्डछत्रबंध, द्विदण्डछत्रबंध, पताकाबंधचित्र, ध्वजाबंधचित्र, चौपड़बंधचित्र, चरणगुप्तनिरोष्टक गुप्तोत्तर चित्र, मुरजबंध, मालाबंध, कामधेन्वाकारबंधचित्र, अनेकभाषा-गुणबंधचित्र (एक, दो, तीन—से आठ भाषाओं तक के चित्र) कल्पवृक्षबंधचित्र आदि चित्रालंकार भेद जीवन के धर्म, समाज, पशु-पक्षी, खेती बाड़ी के औजार, युद्ध-सामग्री, पुष्प, गृह-द्वार तथा शृंगार-सामग्री तक, छाए हुए हैं। चित्रालंकार मानवजीवन के सर्वथा निकट स्थान रखता है और उसकी शब्दगत अभिव्यक्ति करता है। बौद्धिक सन्तोष ही सही, इसी बौद्धिक व्यायाम के बल पर मनस्तोष की उपलब्धि भी हो जाती है।

इस तरह बलवानसिंह की 'चित्र-चन्द्रिका' कृति भाषा-काव्यशास्त्र में अनूठी देन है, जिसकी तुलना किसी दूसरी कृति से नहीं की जा सकती।

ईश्वर कवि : चित्रचमत्कृतकौमुदी (रचनाकाल सं० १८६० वि० के लगभग)

ईश्वर कवि ने बलवानसिंह की भाँति छः रश्मियों में विभक्त एक ग्रंथ चित्रालंकारों के सम्बन्ध में लिखा। इसमें चित्र के श्रौती और दृष्टि दो भेद कहे गये हैं।[१]

श्रौती का सम्बन्ध सुनने से और दृष्टि का देखने से माना है। दृष्टि-भेद-गत चित्रालंकारों में गणपतिबंध, कमलबंध तथा खड्गबन्धादि का वर्णन है। दृष्टि से इनका निकटतम सम्बन्ध है।

ईश्वर कवि ने चित्रालंकारों को समझाने के लिए टीका भी साथ दे दी है। जिससे चित्रालंकारों में दूरूहता नहीं रह गयी है। इन्होंने चित्रालंकारों की सीमा बलवानसिंह के समान विस्तृत नहीं रखी, अपितु संक्षिप्त रूप से कतिपय प्रसिद्ध चित्रालंकारों का ही निरूपण किया है। इन चित्रालंकारों में मूषक, नंदी तथा गजबंध का निरूपण सुन्दर बना है। इनका एक अलंकार-ग्रन्थ 'नरेन्द्र-भूषण' भी है, जो सामान्य कोटि का है। इसमें पटियालावासी राजा नरेन्द्रसिंह का यश-वर्णन है।

---

१. ईश्वर कवि द्विज बंस तहँ कियौ ग्रंथ सुभ साज।
चित्र चमत्कृत कौमुदी सब समुझ्यो कविराज ॥४॥
सुनत और देखत सु जिह रचना गति सु विचित्र।
ताही सो सब कहत कवि ईश्वर उत्तम चित्र ॥५॥
सोई पुनि द्वै बिधि जानि मैं स्रौती द्रष्टि ठानि।
स्रौती सुनतहि सुष बढ़त द्रष्टि देषत मानि ॥५॥
चित्र-चमत्कृत-कौमुदी—ईश्वर कवि, पृष्ठ १

गिरिधरदास : भारतीभूषण (रचनाकाल सं० १८६० वि०)

रीतिकाल के अंतिम चरण में आचार्य गिरिधरदास ने परम्परा के निर्वाहार्थ 'भारतीभूषण' ग्रंथ लिखा। एक सौ अर्थालंकारों का वर्णन करने के बाद दो शब्दालंकार अनुप्रास एवं यमक का निरूपण भी इस ग्रंथ में है। अर्थालंकार अधिकतर अप्पय्य दीक्षित के प्रभाव से लिखे गए हैं। कहीं-कहीं आचार्य विश्वनाथ का प्रभाव भी है। अनुप्रासालंकार के श्रुत्यनुप्रास जैसे भेद विश्वनाथवत् भाषाकाव्यशास्त्र में इन्होंने प्रस्तुत किये। आचार्य भिखारीदास ने तुक के नाम से अंत्यानुप्रास का वैज्ञानिक विवेचन किया था, उसे गिरधरदास ने भी विवेचना का विषय बनाया। इन्होंने निजी ढंग से उपमावाचक शब्दों के दो भेद माने हैं—

१. मूलशब्द—इनमें लों, सो, से, सी, सों सरिस, सम, समान, इव, तूल, ऐसो, ऐसे, ए हैं।

२. इतर—इन उपमा वाचक शब्द में जिमि, तिमि, जैसोई, तैसोइ, जथा, तथा, ज्यों और त्यों हैं।

आचार्य दण्डी ने 'काव्यादर्श' में उपमावाचक शब्दों में इव, वद्, वा, यथा, समान, निभ, सन्निभ, तुल्य, संकाय, नीकाय, प्रकाश, प्रतिरूपक, प्रतिपक्ष, प्रतिद्वन्द्वी, प्रत्यनीक, विरोधी, सदृक्, सदृश, संवादी, सजातीय, अनुवादी, प्रतिबिम्ब, प्रतिछंद, सरूप, सम, संमित, लक्षण, सदृक्षाभ, सपक्ष, उपमित, उपमा, कल्प, देशीय, देश्य, प्रतिनिधि, सवर्ण, तुलित,[1] को माना है। गिरिधरदास ने भी शब्द-चयन तो संस्कृत के आचार्यों से ही गृहीत किया है। इनमें दण्डी, आचार्य मम्मट तथा विश्वनाथ का नाम भी लिया जा सकता है आचार्य मम्मट ने श्रौती और आर्थी उपमा-भेदों के लिए भिन्न भिन्न शब्दों का प्रयोग माना है। उपमा-लक्षण-विकास में इनकी विशद चर्चा है। आचार्य गिरिधरदास का संकेत भी इन्हीं की ओर है।

इन्होंने स्मरणालंकार का नाम ही स्पष्ट होने के कारण लक्षण अपने ग्रन्थ में नहीं दिया है। परन्तु स्मरण के दो भेद सुनि (सुनने) और लखि-लखने (देखने) के आधार पर किए गये हैं। आचार्य भिखारीदास ने देखने, सुनने और सुध करने की चर्चा स्मरण में की है। उदाहरणों से अलंकार स्पष्ट हो जाते हैं।

सुनि कोकिल धुनि वचन की भावति है सुधि मोहि।
लखि ससि मुख की होति सुधि तव सुधि धन कौ जोहि ॥६१॥

---

१. (क) लों सो, से, सी, सों सरिस सम समान इव तूल।
ऐसो ऐसे ए सकल उपमा वाचक मूल ॥१३॥
जिमि तिमि जैसो इते सोई जथा तथा ज्यों त्योंहि।
ए उपमा वाचकहि दोय मिले ते होंहि ॥१४॥
भारतीभूषण—गिरिधरदास, पृष्ठ-२

(ख) काव्यादर्शः—दण्डी, पृष्ठ ६३-६४

गूढ़ोक्ति के श्लेषयुक्त और श्लेषमुक्त दो भेद तथा विवृतोक्ति के दो भेद (१) शब्दशक्तियुक्त, (२) अर्थशक्ति युक्त माने हैं। इनके भी लक्षण नहीं दिए गये हैं। केवल उदाहरण ही देकर मन्तव्य प्रकट किया है।[२]

उदाहरणों में अपने पद्य हैं, तथा दूसरों की उक्तियों की छाया भी है। केशव, जसवन्तसिंह, बिहारी आदि का प्रभाव इन पर स्पष्टतः दिखाई देता है जैसेः—

बिहारी—नाचि अचानक ही उठे बिन पावस वन मोर।

गिरिधर—जानि श्यामघन, घन तुम्हें नाचि उठे वनमोर।

लक्षणों और उदाहरणों की स्पष्टता के कारण 'भारतीभूषण' एक उत्तम कृति है। इस कृति से स्पष्ट हो जाता है कि अब काव्यशास्त्रीय भाषा और विवेचन में भी परिष्कार हो गया था।

अमीरदास : श्रीकृष्ण-साहित्य-सिन्धु (रचनाकाल सं० १८९१ वि०)

रीतिकाल के अंतिम वर्षों में पंजाब के अमृतसरक्षेत्र के निवासी आचार्य अमीरदास ने अमृतसर में अपना जीवन भक्ति-भावना में व्यतीत करते हुए काव्यशास्त्र तथा अन्य विषयों पर ग्रंथ लिखे। इनके "शेरसिंह प्रकाश", ब्रजविलास सतसई, वैद्यकल्पतरु (आयुर्वेद शास्त्रसम्बन्धी, अश्वसंहिता-प्रकाश (अश्वादि पशुओं के रोग-निदान-सम्बन्धी) ग्रन्थ प्राप्त हैं। इन्होंने युगप्रवृत्ति के अनुकूल काव्यशास्त्र से सम्बद्ध 'श्रीकृष्ण-साहित्य-सिन्धु' और "सभामंडन" नामक अत्यन्त प्रौढ़ रचनाएं लिखी हैं।[१] इनमें काव्य के विविधांगों का उच्चस्तरीय विवेचन है। ये ग्रंथ ब्रजभाषा के हैं परन्तु पंजाबी लिपि में लिखे गये हैं।

श्री कृष्ण साहित्य सिन्धु पर आचार्य मम्मट का प्रभाव अधिक है। संस्कृत के अन्य काव्यशास्त्रीय आचार्यों (जयदेव, विश्वनाथ) का प्रभाव भी यत्र-तत्र है। उदाहरण पूर्ववर्ती तथा समसामयिक कवियों के दिये गये हैं। भाषाभूषण का उल्लेख कई बार किया गया है।[२]

ग्रन्थ की पंचम तरंग में वर्णित शब्दालंकारों में वक्रोक्ति, अनुप्रास, यमक, श्लेष तथा चित्र का विवेचन है। चित्रालंकारों में घड़ीबंध भी आ गया है। घड़ीबंध-चित्र का पद्य पठनीय है।[३]

---

२. भारतीभूषण—गिरिधरदास, पृष्ठ ७,३०,३१,

१ ९ ८ १

१. (क) संवत नभ ग्रह वसु ससि श्रावण मास पुनीत।
ग्रंथ कृष्ण साहित्य सिंधु रच्यो अमीर कर प्रीत ॥२२९॥
श्रीकृष्ण-साहित्य-सिंधु—अमीरदास, पृष्ठ २२०

(ख) श्रीकृष्ण साहित्य सिंधु को अब करते दास अमीर।
तुमरि कृपा कटाक्ष तें यह होइगो बलवीर ॥६॥
श्रीकृष्ण-साहित्य-सिंधु—अमीरदास, पृष्ठ २०

२. श्रीकृष्ण-साहित्य-सिंधु—अमीरदास, पृष्ठ १९०

३. श्रीकृष्ण-साहित्य-सिंधु—अमीरदास, पृष्ठ १९९,

आज चंद सुखकंद को दर्शन देत अपार ।
जागी जोत बृज गाँव में ग्रह-ग्रह मंगलाचार ।।

अर्थालंकारों का विवेचन प्रौढ़ता से किया गया है। संस्कृत काव्य-शास्त्र की ऊहापोह तथा खंडन-मंडन की शैली को अपनाया गया है। यह शैली टीका-भाग में द्रष्टव्य है, जैसे—

निंदा ते निकसत जहाँ स्तुति व्यंग सो आन ।
निकसत स्तुति तें निंद या व्याजस्तुति जिय जान ।।३३१।।

निंदा से स्तुति—कि वा स्तुति सों निंदा निकसे, सो व्याजस्तुति । ननु, निंदा ते स्तुति क्यों निकासनी—और स्तुति सो निंदा क्यों निकासनी । सीधा ही क्यों न कहे ।

उत्तर—कई स्थान ऐसे होते हैं जहाँ मुख में प्रसिद्ध स्तुति किये सों रस दूर होता है, तब निंदा द्वारा स्तुति करिये हैं । भले गुण देखि, औ केते स्थान में निंदा किए सों वर्णनीय को अपमान होता है, तब स्तुति द्वारा निंदा करी दी है ।[1]

इस विवेचना से एक तथ्य स्पष्ट उभरता है कि आचार्य अमीरदास प्रादेशिक पंजाबी भाषा के प्रभाव से न बच पाये । 'निंदा की जाती है" के स्थान पर "निंदा करी दी है" जैसे वाक्य-प्रयोग इस प्रभाव के प्रमाण हैं । अलंकारों के लक्षणों तथा उदाहरणों में पंजाबी भाषा का किञ्चित्-मात्र प्रभाव ग्रहण न करते हुए भी आचार्य अमीरदास टीका-भाग में प्रभाव-मुक्त नहीं रह सके ।

अमीरदास रीतिकाल के अंतिम दिनों के निष्णात आचार्य हैं, जिन्होंने ऐसा ग्रन्थ लिख कर काव्यशास्त्रीय उच्चविवेचन की पद्धति को भाषा-काव्य-शास्त्र में स्थापित किया और संस्कृत-काव्यशास्त्र की परम्परा के समान ही रीतिकालीन काव्यशास्त्र को उच्चस्तर का सिद्ध किया ।

निहाल : साहित्यशिरोमणि (रचनाकाल सं० १८९३ वि०)

पटियाला राज्य के कवि निहाल ने 'साहित्यशिरोमणि' ग्रन्थ व्रजभाषा का होते हुए भी पंजाबी लिपि में लिखा । इन्होंने अपने ग्रन्थ का आधार आचार्य मम्मट के मत को माना है ।[2] अलंकार-लक्षणों तथा क्रम में तो मम्मट से बाहर निहाल कवि नहीं गए, परन्तु दोहों, कवित्तों में दिए गये उदाहरणों में स्वतंत्र अवश्य रहे हैं ।

---

१. श्रीकृष्ण-साहित्य-सिंधु—अमीरदास, पृष्ठ १९२

२. मम्मट मत जे काव्य के कछु पदारथ चीन्ह ।
ग्रन्थ बांध पूरन करयो कवि निहाल मतिहीन ।।३३६।।
पुष नक्षत्र सुभ जोग में नृपति चन्द्रमा नौम ।
षषटम कवि को जानिये सुभ तिथि वासर सोम ।।३३७।।
राम[3] नाक[9] वसु[8] नभ[1] गणौ संवत् अंक मिलाय ।
श्रावण सप्तमी सुकल पक्ष ग्रंथ फर सुखदाय ।।३३८।।
काव्य भेद रस नाद का भाव दोष अलंकार ।
साहित्य। शिरोमणि ग्रंथ में तत्व पंच निरधार ।।३३९।।
साहित्यशिरोमणि—कवि निहाल, पृष्ठ ४२२

कवि निहाल ने वक्रोक्ति, अनुप्रास, यमक, श्लेष और चित्रालंकार का निरूपण मम्मट के मतानुसार किया है, परन्तु पुनरुक्तवदाभास अलंकार का लक्षणोदाहरण नहीं दिया। मम्मट मतानुयायी होने पर भी उन्होंने उक्त अलंकार का निरूपण क्यों त्याग दिया, इसका कारण निहाल कवि ने नहीं दिया।

कहीं-कहीं अलंकारों के लक्षण नहीं दिये गये। केवल नाम मात्र देकर ही कार्यसिद्धि की गयी है। जैसे—

अथ श्लेष-लक्षण—द्वि प्रकार सलेष है। इक सभंग, इक अभंग।[१]

इस कथन में श्लेष का कहीं भी लक्षण प्रतीत नहीं होता। केवल भेदों का नाम-निर्देश ही दिया गया है। उदाहरणों में अलंकार-संगति दिखाने के लिये टीका भी कहीं-कहीं दी गयी है। टीका में पंजाबी भाषा का प्रादेशिक प्रभाव भी पड़ा है। जैसेः—

यथा दोहा—सभंग सलेष :—

बदन तिहारो इन्दु सो करत परबल चमत्कार।
चमत्कार नहीं इन्दु में सब जानत संसार ॥५-१०॥

टीका—इहां इन्दु पद से दूजो इन्दु पद भिन्न कर अरु फेर्यो।[२]

टीका में दिया गया पंजाबी भाषा का 'फेर्यो' पद आवृत्तिबोधक है। इसी भांति अन्य स्थलों में भी टीका-भाग में पंजाबी भाषा के शब्द पाये जाते हैं।

कवि निहाल ने अर्थालंकारों का क्रम-विन्यास मम्मट की भांति रखा है। अलंकार-लक्षणों तथा उदाहरणों में पंजाबी भाषा का पुट कदाचित् नहीं दिया गया। अपने पंजाब निवासी आश्रयदाता महाराज कर्म सिंह का यश-वर्णन करते हुए भी पद्यों में पंजाबी भाषा का प्रयोग न करना काव्यशास्त्र के क्षेत्र में उनकी सतर्क मति का परिचायक है, परन्तु टीका में पंजाबी भाषा का प्रयोग लोक-रुचि अथवा राज-प्रसादन की प्रवृत्ति का द्योतक है।

उपमालंकार का भेदोपभेद-सहित निरूपण 'काव्यप्रकाश' के आधार पर किया गया है। लुप्तोपमा के आठ भेदों का विवेचन स्पष्ट एवं परिष्कृत है। इसलिए अनुवाद की स्पष्टता तथा विवेचन की परिष्कृति के कारण यह ग्रन्थ प्रौढ़ सिद्ध होता है।

दामोदर : अर्थालंकारमंजरी (रचनाकाल सं० १८९५-१९०० वि०)

टीकमगढ़ के निवासी दामोदर कवि ने अपने ग्रन्थ-निर्माण की भावना की सूचना देते हुए लिखा है—

अर्थालंकारन चहौं, लघु अवने ते जान।
अर्थालंकृत मंजरी तो राखौ करि ध्यान ॥२॥[३]

---

१. साहित्यशिरोमणि—कवि निहाल, पृष्ठ ३२२
२. साहित्यशिरोमणि—कवि निहाल, पृष्ठ ३२२
२. अर्थालंकारमंजरी—दामोदर, पृष्ठ १

दामोदर ने ३६ अर्थालंकारों का संक्षिप्त विवेचन किया है। संकर-संसृष्टि का नाम संकीर्ण रख दिया है।

नानालंकारन मिलन संकीरन है सोइ।
.... ॥७८॥

इनका विश्वास यह है कि अन्य अलंकार तथा उनके बहु भेद भी इन्हीं अलंकारों में ऐसे समा जाते हैं, जैसे नदियाँ समुद्र में जा मिलती हैं।[1]

उदाहरणों में श्री कृष्ण तथा राधा के रूप-चित्रण की प्रधानता है। कहीं-कहीं सामाजिक जीवन के चित्र भी प्रस्तुत किए हैं। ग्रन्थ केवल अर्थालंकार की परम्परा-निर्वाह का द्योतक है। किसी नये अलंकार की उद्‌भावना इन्होंने नहीं की है।

ग्वाल : अलंकार-भ्रमभंजन (रचनाकाल सं० १९०० वि० के लगभग)

ग्वाल ने पंडितराज जगन्नाथ की परम्परा पर 'अलंकार-भ्रम-भंजन' ग्रन्थ लिखा। उन्होंने संस्कृत-आचार्यों तथा भाषा-काव्यशास्त्रियों के मतों का यथास्थान खंडन कर के तर्क-संगत स्थापनाएं की हैं।

'अलंकार-भ्रम-भंजन' ग्रन्थ का अधूरा प्रकाशन 'ब्रज-भारती' के अंकों में श्री कन्हैयालाल पोद्दार ने कराया था। प्रकाशित अंश में चार शब्दालंकार—अनुप्रास, यमक, चित्र और पुनरुक्तवदाभास हैं। अर्थालंकारों में उपमा, प्रतीप, रूपक, परिणाम और उल्लेख तक ही हैं।

दूसरे पद में अलंकार-महिमा का बखान भी सुन्दर रीति से किया गया है। पद्य में दिया गया 'अलम्' पद परिपूर्ण का वाचक है। अलंकार अक्षरों में भरे पूर्ण रहते हैं। हेमादि के भूषण तो लगाए और उतारे जा सकते हैं, परन्तु कविता के भूषण सदा उसके शरीर में (कविता के) ही कान्तिकारक रहते हैं। वे कभी उतारे नहीं जा सकते।[2]

ग्वाल ने अलंकार को रसादिक से, व्यंग्य से भिन्न माना है। शब्दार्थ में रहते हुए भी यह शब्दार्थ से भिन्न है। कुवलयानंद की टीका अलंकारचन्द्रिका के लेखक वैद्यनाथ सूरि के कथन से इसका मतभेद है। क्योंकि वैद्यनाथ अलंकार को

---

१. इन ही ते भे और अलंकार के भेद बहु,
इन में, आवत दौर त्यौं सब सरिता सिंधु में ॥८४॥
अर्थालंकार-मंजरी—दामोदर, पृष्ठ १

२. कविता भूषण कहत है अलंकार बहु जान।
अलम् भाषियत पूर्न को पूरि रह्यो अषरान ॥२॥
हेमादिक भूषनन को ग्रहन उतारन होत।
ये भूषण तन मन दिपत होत न जुदौ उदोत ॥३॥
अलंकार-भ्रम-भंजन—ग्वाल, पृष्ठ ३

रस से रहित, व्यंग्य से पृथक् मानते हैं। ग्वाल अलंकार को व्यंग्य से भिन्न कहते हैं। इसका विस्तृत विवेचन अलंकार-लक्षण प्रसंग में किया जा चुका है।

ग्वाल ने वक्रोक्ति को शब्दालंकारों में नहीं लिया, संभवतः वक्रोक्ति को इन्होंने अर्थालंकारों में माना हो (जो कि ग्रन्थ अधूरा होने से प्राप्त नहीं)।

काव्यप्रकाश, चन्द्रालोक और साहित्य-दर्पण के प्रभाव से यह ग्रन्थ अछूता नहीं है। जहां रूपक में संक्षेपतः कुवलयानंद का अनुकरण है, वहां चन्द्रालोक के परिणाम अलंकार का लक्षण खंडित करके अपना लक्षण कुवलयानंद से अनूदित रखा है। लक्षणों की स्पष्टता के लिए गद्य का सहारा लिया गया है। इसीलिए विषय-बोध में कठिनाई नहीं होती। जैसे—श्रौती और आर्थी उपमा का भेद—

स्रौती सब्दहिं के सुनत, समता भासित होइ।
अर्थ करत में सदृसता, कढ़ै सु आरथि जोइ ॥४६॥[1]

प्राप्य ग्रन्थ के अध्ययन से यह संकेत मिल जाता है कि ग्वाल ने प्रौढ़ आचार्यत्व के बल पर इस ग्रंथ को लिखा था। इस ग्रन्थ से भाषा-काव्यशास्त्र की उत्कृष्टता एवं गम्भीर विवेचना का सहज में ही अनुमान हो जाता है।

कवि दास : अलंकार-माला (रचनाकाल सं० १६०० वि० के लगभग)

महाराज फतेसिंह के आदेश से अलंकार-निरूपण हेतु लिखी 'अलंकार-माला' की दो प्रतियां मिलती हैं। एक भाषा-विभाग पंजाब तथा दूसरी केन्द्रीय पुस्तकालय, पटियाला में है। कवि दास की अलंकार-माला में अर्थालंकारों के अनन्तर शब्दालंकार का वर्णन है। अन्त में अलंकार-संसृष्टि-प्रकरण भी दिया गया है। अलंकार-क्रम परम्परागत है। केशव की भाँति विपरीत अलंकार की विवेचना भी है। केशव का अनुकरण आक्षेपालंकार में भी किया गया है। कवि ने इस सम्बन्ध में स्वयं ही लिखा है कि 'ये आक्षेप केशव के मत के लिखे हैं।'[2]

कवि दास ने अलंकारों के लक्षण पद्य और गद्य में (दो भाँति से) दिए हैं। लक्षणोदाहरण के अन्तर समझाने के लिए टीका दी गई है। जैसे—

(क) (पद्य) अथ असम्भव अलंकार—
कहे असम्भव होत जहं बिनु संभवन काज।
नृप सुत हर-धन तो रहै, को जाने यह आज ॥८६॥
इहाँ निंदा कर कहत हैं—भूप के बालक सिव के धनुख को तोरेगो।
यह सम्भव है। कारज सिद्ध भयो या तें असम्भव अलंकार। इति

(ख) (गद्य) दृष्टान्तः—जहाँ उपमेय उपमान दोउन में मिलती बात हो, तहाँ दृष्टान्त :

---

१. अलंकार-भ्रम-भंजन—ग्वाल, पृष्ठ २१
२. अलंकार-माला—कवि दास, पृष्ठ ३०

उदाहरण:—जो दिय आवत सरन में नृप तिन को सुख देत।
जैसे रवि में सुधाधर आप प्रभा को लेत॥४०॥[1]

रसिकगोविन्दआनन्दघन के अनन्तर गद्य में अलंकार-लक्षण प्रस्तुत करने वाली यह दूसरी कृति है। इस प्रकार इस कृति का अपना महत्व है, क्योंकि रीति-काल के अन्त में संस्कृत की भाँति पद्य-गद्य में काव्यतत्त्वों की चर्चा होने लगी थी। कवि दास का एक अन्य ग्रन्थ "ओज-विलास" भी उपलब्ध है।[2]

टीकाकार आलंकारिक

रीतिकाल के आलंकारिकों के अतिरिक्त कई टीकाकारों ने भी अलंकारों की चर्चा की है। बिहारी, मतिराम जैसे कवियों की सतसइयों की कई टीकाएं लिखी गईं। उन टीकाओं में अलंकार-समन्वय के लिए टीकाकारों ने स्वतंत्र रूप से अलंकार-लक्षण भी दिये। इनमें हरिचरणदास की बिहारी-सतसई पर लिखी गई हरिप्रकाश-टीका तथा सूरति मिश्र की अमरचन्द्रिका नामक टीकाएं ऐसी हैं, जिनमें अलंकारसम्बन्धी स्वतन्त्र विवेचन भी उपलब्ध होता है। इसी क्रम में बिहारी-सतसई की अनवर कृत टीका 'अनवर-चन्द्रिका' में अलंकार-लक्षण और बिहारी-सतसई के उदाहरण में समन्वय प्रस्तुत किया गया है। जैसे:—

अनवर-कृत विषमालंकार-लक्षण:—

आन रंग के कारन ते जहाँ कारज आन रंग ह्‌वै जाइ।
उद्यम कीजे भलो जानिके ताते होइ बुरौ फल आइ॥
अनमिलिते को संग होय, तहं जान लीजियो चित्त लगाय।
अलंकार यह विषम तीन बिधि मैं सबको दीनों समुझाय॥

उदाहरण:—मेरी भव बाधा हरौ राधा नागरी सोय।
जा तन की झाँई पड़े स्याम हरित दुति होय॥[3]

श्लेष ऊ भासत है।

बिहारी के इस प्रसिद्ध दोहे में विषम और श्लेष को दिखाकर दोनों का समन्वय किया गया है! विषम का विस्तृत लक्षण भी दिया गया है।

इस प्रकार का रीतिकाल का अलंकार-साहित्य २०० वर्ष से कुछ अधिक समय तक चलता रहा। इसमें संस्कृत के प्रभाव से शाब्दिक अनुवाद और छायानुवाद भी हुए तथा मौलिक चिन्तन के आधार पर नवीन अलंकारों की उद्‌भावनाएं तथा प्राचीनों के नवीन सूक्ष्म भेद भी बने। रीतिकाल के भाषा-काव्यशास्त्र का संस्कृत-काव्यशास्त्र का ऋणी होना तो स्वाभाविक है।

१. (क) अलंकार-माला—कवि दास, पृष्ठ ३८
(ख) अलंकार-माला—कवि दास, पृष्ठ २०
२. ओज-विलास—भाषा-विभाग, पटियाला।
३. बिहारी-सतसई-टीका—अनवर, पृष्ठ १

आचार्य-पद्धति से गम्भीर विवेचन जैसे संस्कृत में धीरे-धीरे आरम्भ हुआ, उसी प्रकार चिन्तामणि, कुलपति मिश्र, श्रीपति, सोमनाथ, रसिक गोविन्द, बलवान सिंह, ग्वाल तथा अमीरदास को भी माना जा सकता है। विवेचन के लिए गद्य कुलपति से आरम्भ हुआ और आवश्यकतानुसार उसका प्रयोग बढ़ता गया। इसलिए रीतिकाल के भाषा-काव्य-शास्त्र की धन्यता सिद्ध है। शृंगार और अलंकार-प्रधान युगमें भी राज-प्रशंसा तथा भक्ति आदि के माध्यम से अलंकार-विवेचन भी कम महत्वपूर्ण नहीं। इस प्रकार इस काल में स्वस्थ एवं सरस अलंकारवादी परम्परा के दर्शन होते हैं। उसमें जीवन के विविध पक्षों या एक पक्ष के उदाहरण हैं। अतः यह मानना उचित है कि रीतिकाल का भाषा-काव्यशास्त्रीय अलंकार-तत्त्व नगण्य नहीं रहा अपितु अपनी परम्परा, स्वभाव तथा शक्ति के अनुकूल उसने रीतिकालीन काव्य-शरीर को विभूषित किया है और रसरूप काव्यात्मा को उत्कर्ष प्रदान किया है।

: ४ :

विभिन्न काव्य-तत्त्व और अलंकार

शब्द-शक्ति और अलंकार

साहित्य का आधार शब्द है। साहित्य-सृष्टि का बीजाणु या जीवाणु यही है। शब्द ही मानव-जीवन का आधार है। इसी में वह शक्ति है, जो सहृदय को आन्दोलित और उद्वेलित कर देती है। साहित्यशास्त्र में इसी शब्द-शक्ति का विवेचन समृद्ध रूप से हुआ है। 'त्रिवेणिका' के लेखक आशाधर भट्ट ने त्रिविधात्मिका शब्दशक्ति को गंगा, यमुना, सरस्वती के समान माना है, जिनका प्रभाव अमोघ है।[1]

शब्द और अर्थ के शाश्वत सम्बंध को उद्घाटित करके पद-पदार्थ को परस्पर अन्वित कर जो फलितार्थ निकलता है, उसे आचार्यों ने शब्द-बोध की संज्ञा दी है। इसका तात्पर्य प्रत्येक शब्द का विश्लेषण करके उससे विवक्षित अर्थ निकालना है। शब्द-बोध का प्रारम्भ व्याकरण से ही माना जाना चाहिए। इस शास्त्र में पद-पदार्थों का विवेचन है। इसी कारण व्याकरण 'पद-शास्त्र' कहलाता हैं। 'न्याय-शास्त्र' में विशेषतया प्रमाणों का साधिकार विवेचन है। उसे इसीलिए 'प्रमाण-शास्त्र' माना जाता है। 'वाक्यार्थ शैली' का निरूपण 'मीमांसा' में किया गया है। अतः मीमांसा 'वाक्य-शास्त्र' के नाम से प्रसिद्ध है। शब्द-बोध इन तीनों के बल पर अपना रथ साहित्य-मार्ग पर चलाता है। संस्कृत-साहित्य-शास्त्र में शब्द-बोध की इन तीन विधियों के ज्ञाता को 'पद-प्रमाण-वाक्यज्ञ' या 'पदवाक्य-प्रमाणज्ञ' का सम्मानास्पद स्थान प्राप्त होता है।

शब्द-बोध के साधन के सम्बन्ध में इन तीनों ही शास्त्रों में गहनता से विचार किया गया है। साहित्य-शास्त्र अनेक दृष्टियों से स्वतन्त्र शास्त्र होता हुआ भी इन दार्शनिक तत्वों के लिए उपर्युक्त शास्त्रों पर आश्रित है। अतः शब्द-बोध के साधनों का विचार इसमें भी हुआ है। इसमें भी अन्य शास्त्रों की भाँति शब्द-बोध के साधनभूत व्यापारों या शब्द-शक्तियों को स्वीकार किया गया है। ये शब्द शक्तियाँ तीन हैं—अभिधा, लक्षणा और व्यंजना। इनके द्वारा काव्य में वाचक, लाक्षणिक,

---

१. शक्तिभक्तिव्यक्ति गंगायमुनागूढ़निर्झराः।
निर्वाहवन्त्यः सन्त्यत्र यत्तदेषा त्रिवेणिका ॥२॥

त्रिवेणिका—आशाधर भट्ट, पृष्ठ १

व्यंजक-तीन प्रकार के शब्द तथा वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य—तीन प्रकार के अर्थ माने जाते हैं। 'शब्द-शक्ति' में से 'शक्ति' शब्द को आशाधर भट्ट ने अभिधा के अर्थ में लिया है। भक्ति लक्ष्यार्था है। व्यक्ति व्यंग्यार्था मानी गई है। शक्ति का लक्षण करते हुए आशाधर भट्ट ने कहा है कि इससे साक्षात् अर्थ कहा जाता है और शक्यार्थ को खंडित करने के कारण अथवा अर्थान्तर के भजने या सेवन करने के कारण लक्षणा 'भक्ति' कहलाती है। व्यंजित या प्रकट करने के कारण व्यंजनावृत्ति का नाम व्यक्ति है (व्यंजनं व्यक्तिः)। इन तीनों के अर्थज्ञान को त्रिवेणिकाकार ने चारु, चारुतर और चारुतम—तीन रूपों में माना है।[1]

मीमांसकों (अभिहितान्वयवादी) ने वाक्यार्थ (Drift) का ज्ञान कराने वाली एक और वृत्ति स्वीकार की है, जिसका नाम 'तात्पर्य' दिया है और उसके द्वारा बोध्य अर्थ को वाक्यार्थ या तात्पर्यार्थ भी माना है।[2]

इसे मम्मट और विश्वनाथ जैसे प्रौढ़ आलंकारिकों ने भी स्वीकार किया है, परन्तु अलंकारों के प्रकाशन में उसका कोई योग नहीं रहता। अतः उस पर विचार नहीं किया गया है।

शब्द की अभिधा शक्ति को सभी मानते हैं। वही साहित्य की आधार-भूमि है। लक्ष्य तथा व्यंग्य अर्थ औपाधिक हैं। ठीक वैसे ही जैसे एक नाम का व्यक्ति विभिन्न अवस्थाओं तथा सम्बन्धों के कारण विभिन्न सम्बन्धगत नाम तथा उपाधिगत नाम ग्रहण कर लेता है, जो वास्तविक नहीं होते।

इनमें अभिधा और लक्षणा—दो शब्द-शक्तियां ही व्याकरण के अतिरिक्त अन्य शास्त्रों में भी स्वीकार की जाती हैं। व्यंजना को साहित्य-क्षेत्र में ही मान्यता मिली है। व्याकरण-शास्त्र में स्फोट के रूप में उसको स्वीकार किया गया है। अन्य शास्त्रों में इसकी आवश्यकता ही नहीं होती वृत्त्यपरनाम्नी यह शब्द-शक्ति प्रमुखता से अभिधा ही है। संस्कृत साहित्यशास्त्र में इन वृत्तियों का मम्मट, महिम भट्ट, विश्वनाथ, जगन्नाथ तथा आशाधर भट्ट आदि द्वारा अत्यन्त सूक्ष्म विवेचन किया गया है।

---

१. शक्यते साक्षादभिधीयतेऽनयेति शक्तिः। बाहुलकात् करणे क्तिन्। धातूनाम् अनेकार्थत्वाच्छक्नोतेः साक्षादभिधानार्थत्वम्। भज्यते शक्यार्थः खण्डयतेऽनयेति भक्तिर्लक्षणा। भंजो आमर्दने इति धातोः करणे क्तिन्। अथवा भज्यते सेव्यते-ऽर्थान्तरमनयेति भक्तिः। भज् सेवायामिति धातोः क्तिन्। व्यज्यते प्रकटीक्रियते ऽनयेति व्यक्ति व्यंजना।·········काव्यादिषु शब्दजन्यमर्थं ज्ञानं त्रिविधं-चारु, चारुतरं चारुतमञ्चेति।

त्रिवेणिका—आशाधर भट्ट, पृष्ठ १-२

२. तात्पर्याख्यां वृत्तिमाहुः पदार्थान्वयबोधने।
तात्पर्यार्थं तदर्थं च वाक्यं तद्बोधकं परैः ॥२-२०॥

साहित्यदर्पणः—विश्वनाथ, पृष्ठ ४६

काव्यशास्त्र के प्रारम्भिक काल में काव्य के लिए सौशब्द्य या अर्थ-व्युत्पत्ति का प्रयोग होता था। सहृदयों ने दो पक्षों में विभक्त होकर सौशब्द्य या अर्थव्युत्पत्ति को काव्यसर्वस्व मान लिया था। आचार्य भामह ने दोनों मतों अथवा पक्षों का समन्वित रूप प्रस्तुत करने का प्रयास किया और काव्य-परिभाषा (शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्—शब्दार्थ की सहित भावना) में सहित भावना निकाल दिखाई। ऐसी दशा में आचार्य भामह ने व्याकरण-सम्मत शब्द-प्रयोग पर बल दिया। एक भी पद अनुपयुक्त या अपुष्टार्थक न कहने की घोषणा उन्होंने की। उनके अनुसार बुरे पुत्र की भांति अचमत्कृत काव्य निन्दा-दायक बन जाता है। आचार्य भामह ने सुप्, तिङ् विभक्ति। प्रयोग पर विशेष बल दिया। सौशब्द्य और अर्थ-व्युत्पत्ति के बल पर अलंकार का शब्द और अर्थभेद से वर्गीकरण भी भामह ने सांकेतिक रूप से किया। कहने का तात्पर्य यह है कि शब्द का शक्तिमान् प्रयोग और अर्थ का चमत्कार-सम्बन्धी तत्व भामह ने अपनी विवेकशीला प्रतिभा द्वारा साहित्यशास्त्र में प्रस्तुत किया, जिसका व्यापक प्रभाव पड़ा और व्याकरण-सम्मत शब्द-शक्ति का प्रभाव भी अलंकार-साहित्य में स्वीकृत हो गया।[1] मम्मट ने जिस मत का प्रतिपादन अभिधा शक्ति के प्रसंग में किया, उसे भामह ने चतुर्विधा शब्दों के रूप में कहा है[2] और व्याकरण-सम्मत शब्द-प्रयोग तथा शब्दरत्नों के चयन के लिए इस शास्त्र का आश्रय लेने के लिए भामह ने बल दिया है।[3]

अग्निपुराणमें शब्दशक्तिविचार और अलंकार

अलंकार और वृत्तियों पर सर्वप्रथम विचार अग्निपुराण में किया गया है। अग्निपुराण में शब्दालंकार,अर्थालंकार और शब्दार्थालंकार नाम से त्रिभेद किए गए हैं। इनमें शब्दार्थालंकार-प्रकरण में शब्द-वृत्तियों का विवेचन भी है। अभिव्यक्ति नाम से एक शब्दार्थालंकार माना गया है।[4] अभिव्यक्ति का लक्षण लिखते हुए कहा गया है कि शब्द से अर्थ के प्रकट होने को अभिव्यक्ति कहते हैं। उसके दो भेद हैं—श्रुति

१. काव्यालंकारः—भामह, पृष्ठ २

२. वर्णभेदादिदं भिन्नं वर्णाः स्वांशविकल्पतः।
के शब्दाः किंचतद्वाच्यम् इत्यहो वर्त्म दुस्तरम् ॥६-२०॥
द्रव्यक्रियाजातिगुणभेदात् ते च चतुर्विधाः।
यदृच्छाशब्दमप्यन्ये डित्थादि प्रतिजानते ॥६-२१॥
काव्यालंकारः—भामह, पृष्ठ ४३

३. नापारयित्वा दुर्गाधममुं व्याकरणार्णवम्।
शब्दरत्नं स्वयमंगमलंकर्तुमयं जनः ॥६-३॥
काव्यालंकारः—भामह, पृष्ठ ४१

४. प्रशस्तिः कान्तिरौचित्य संक्षेपो यावदर्थता।
अभिव्यक्तिरिति व्यक्तं षड्भेदास्तस्य जाग्रति ॥२॥
अग्निपुराणम्—अध्याय ३४५, पृष्ठ ७०५

(अभिधा-लक्षणा) तथा आक्षेप (व्यंजना)। इनमें से शब्द का अपने अर्थ को अर्पित करने का नाम श्रुति है। श्रुति के दो भेद हैं—(१) नैमित्तिकी (२) पारिभाषिकी। नैमित्तिकी से तात्पर्य है; किसी निमित्त से होने वाली तथा पारिभाषिकी किसी परिभाषा पर आधृत—अर्थात् रूढ़ि होती है। बिना किसी निमित्त के किये गये संकेत को परिभाषा कहा जाता है। उसके द्वारा होने वाली श्रुति पारिभाषिकी मानी जाती है। नैमित्तिकी और पारिभाषिकी दोनों ही श्रुतियाँ अभिधा (मुख्या) और लक्षणा (औपचारिकी) हैं। गौणी लक्षणा गुणों के योग से होती है। वाच्यार्थ से सम्बन्ध रखने वाले अर्थ की प्रतीति को लक्षणा कहा जाता है।

अग्निपुराण में वाच्यार्थ के साथ (साधारण) सम्बन्ध, समीपता, समवाय, विपरीतता और क्रिया के योग से लक्षणा पंचविधा मानी गई है। गौणी लक्षणा को गुणों के कारण अनन्त गुणों वाली माना गया है। जहाँ लोक-मर्यादा का अतिक्रमण न करते हुए व्यक्ति के द्वारा गौणी के कथन की इच्छा से अन्य वस्तु का धर्म अन्य वस्तु में आरोपित किया जाता है, उसे इस शास्त्र में 'समाधि' नाम से अभिहित किया गया है।

अभिधा और लक्षणास्वरूपा श्रुति द्वारा अप्राप्त अर्थ जिस वृत्ति से सहृदयों को प्रतीत होता है, वह आक्षेप नामा वृत्ति कहलाती है। यही ध्वनि है, क्योंकि ध्वनि द्वारा वहाँ शब्द और अर्थ अपने को गौण करके अर्थविशेष की अभिव्यक्ति करते हैं। इसी प्रकार जहाँ किसी विशेष अर्थ को प्रकट करने की इच्छा से निषेध-सा रहता है, उसे ही आक्षेप कहते हैं। ऐसी दशा में आक्षेपालंकार व्यंजनाश्रित हो जाता है।[१] अग्निपुराण की अलंकार और वृत्ति-सम्बन्धी यह परम्परा संस्कृत-काव्यशास्त्र में चलती रही।

रीतिकालीन काव्यशास्त्रीय ग्रंथों में भी शब्द-शक्तियों का निरूपण हुआ। संस्कृत-काव्यशास्त्र की छाया उन पर रही। आचार्य मम्मट के विचारों से विविधांग-निरूपक आचार्य प्रभावित रहे हैं। 'काव्य-निर्णय' के लेखक आचार्य भिखारीदास ने स्पष्टतः अलंकारों को शब्दशक्ति पर आश्रित कहा, वे संभवतः इस सम्बन्ध में रसगंगाधरकार से प्रभावित रहे, क्योंकि वृत्तियों का विश्लेषण पंडितराज जगन्नाथ ने अलंकारों को दृष्टि में रखकर किया था और ऐसी ही धारणा आचार्य दास की भी है। उन्होंने शब्दशक्तियों, प्रौढ़ोक्ति और स्वतःसंभवी चारुव्यंजना से अलंकारों को

१. प्रकटत्वमभिव्यक्तिः, श्रुतिराक्षेप इत्यपि।
तस्या भेदौ श्रुतिस्तत्र शब्दं स्वार्थसमर्पणम् ॥७॥
भवेन्नैमित्तिकी पारिभाषिकी द्विविधैव सा।
संकेतः परिभाषेति ततः स्यात् पारिभाषिकी ॥८॥
मुख्योपचारिणी चेति सा च सा च द्विधाद्विधा।
स्वाभिधेयस्खलद् वृत्तिरमुख्यार्थस्य वाचकः ॥९॥

अग्निपुराणम्—पृष्ठ ७०५-७०६

शोभा प्रदान करने वाला माना है।[२] इस कथन में रीतिकाल के आचार्यों के मत में भी शब्दशक्ति और अलंकारों के पारस्परिक सम्बन्ध का पुष्ट प्रमाण प्राप्त होता है।

अभिधा और अलंकार

अभिधा, लक्षणा और व्यंजना का अलंकारों के जन्म, विकास एवं प्रयोग में बीज, बीजांकुर तथा सौरभ सदृश स्थान है। सर्वप्रथम अभिधा को ही लीजिए।

अभिधा सांकेतिक अर्थ की बोधिका शक्ति है। व्याकरण से इसका सर्वथा निकट का सम्बन्ध है। रूढ़िलक्षणा भी इसी की छोटी बहिन है। शब्दालंकारों का तो जीवन ही अभिधा पर निर्भर है। अतः इनका चमत्कार अभिधा पर ही आश्रित है। वर्णों की आवृत्ति हो, चाहे पदों की, अनुप्रास अलंकार का तारपोर अभिधावृत्ति से बंधा है। श्रुत्यनुप्रास और वृत्त्यनुप्रास भी अभिधा के आश्रय से जीवित हैं। वृत्त्यनुप्रास में कोमला, परुषा, उपनागरिका वृत्तियों की चर्चा अभिधा पर ही अवलम्बित है। कठोर-कोमल शब्दों की क्रीड़ा से ही तो यह अलंकार बनता है। श्रुत्यनुप्रास की भी यही जन्मदात्री वृत्ति है। इसकी स्वरूपसिद्धि सुप्तिङ् वाले शब्द और धातु से है। अनुप्रास का लयात्मकता के कारण संगीत से सीधा सम्बन्ध जुड़ता है। इस प्रकार अभिधा अलंकार और संगीत की संयोजिका शक्ति अथवा उत्पादिका है।

श्लेष को देखा जाए तो वह केवल शब्द पर जीता है। वर्ण, पद, लिंग आदि भेद भी अभिधा के सहारे टिके हैं। अपने विकसित रूप में श्लेष अर्थालंकार के रूप में भी कई आचार्यों द्वारा स्वीकृत हुआ, परन्तु उसके मूल में अभिधावृत्ति विद्यमान है। यमक, प्रहेलिका और चित्रालंकार में जितना खिलवाड़ मचा है, वह अभिधा के बल पर है। वीप्सा और पुनरुक्तवदाभास के शब्दों की पुनरुक्ति अभिधा से ही जीवन-शक्ति तथा चमत्कार लिए हुए है। जयदेव का पुनरुक्ति-प्रकाश भी अभिधा से नहीं बच सका।

अभिधा अपना हाथ अर्थालंकारों पर भी रखती है। उपमा चाहे किसी अवस्था में व्यंग्य हो जाए, अलंकार-संकरता या संसृष्टि में वाच्य-व्यंग्य रूप में अलंकारद्वय के कारण चाहे उपमा व्यंजनाश्रित हो जाए, परन्तु उसका सम्बन्ध मूलतः अभिधा से है। उपमान-उपमेय, साधारण धर्म और वाचक शब्द पहले अभिधा के बल पर टिके हुए हैं, व्यंजना के आश्रित बाद में हैं। अभिधा के आधार पर ही लक्षणा, व्यंजना का प्रासाद खड़ा है। इस कारण से भी सभी अलंकारों में अभिधा का प्रभाव विद्यमान है। जिस प्रकार प्रकाश के लिए दीपक की बत्ती का आश्रय लिया जाता है, इसी प्रकार व्यंग्यार्थ के लिए भी आरम्भ में अभिधा के आश्रित रहना होता है। अतः

२. सब्द-शक्ति, प्रौढ़ोक्ति औ, सुतसंभवी चारु।
अलंकार छवि पावते, कीन्हे त्रिविध प्रकारु॥
काव्यनिर्णय—भिखारीदास, पृष्ठ १५६

वाच्यालंकार एवं व्यंग्यालंकार (दोनों) के लिए अभिधा अनुपेक्षणीय है।[1]

लक्षणा और अलंकार

काव्य में अभिधा के अनन्तर लक्षणा शक्ति का स्थान आता है। साहित्य-शास्त्र तथा नव्य व्याकरण के अतिरिक्त व्यंजना किसी शास्त्र ने स्वीकार नहीं की। सर्वत्र अभिधा और लक्षणा का व्यापार ही प्रधानता रखता है।

लक्षणा के आठ प्रसिद्ध भेदों में निरूढ़ा लक्षणा व्यंग्यरहित है। इस कारण साहित्यशास्त्र में इसका कोई उपयोग नहीं है। न ही किसी अलंकार का सम्बन्ध निरूढ़ालक्षणा से जोड़ा जा सकता है।

प्रयोजनवती के भेदों में गौणी सारोपा और साध्यवसाना प्रसिद्ध हैं। मुख्यार्थ तथा लक्ष्यार्थ का समानाधिकरण करते हुए दो पदार्थों में (उपमान, उपमेय) का एक साथ निर्देश होने में सारोपा गौणी और विषयी (उपमान) के द्वारा विषय (उपमेय) का निगरण करने में साध्यवसाना लक्षणा होती है। गौणी सारोपा का रूपकालंकार से[2] और गौणी साध्यवसाना का अतिशयोक्ति से सम्बन्ध है। इसका चरम चमत्कार भेदाभेदरूपा अतिशयोक्ति में विद्यमान रहता है। इसीलिए इसका नाम रूपकातिशयोक्ति भी है। शुद्धा सारोपा एवं शुद्धा साध्यवसाना पर हेतु अलंकार आश्रित है। आचार्य दण्डी ने लक्षणा को अलंकार ही माना है।[3] विश्वनाथ द्वारा निरूपित लक्षण-लक्षणा समासोक्ति ही है।

लक्षणा के इस भेद का चमत्कार अन्य भेदों से अधिक है। यही लक्षणा-भेद समस्त साधर्म्यमूलक अलंकारों का बीज सिद्ध होती है। अरस्तू ने भी साधर्म्यसम्बन्ध वाले 'एनेलोगस मेटेफर' को सर्वश्रेष्ठ माना है।

रूपक और सारोपा लक्षणा के सम्बन्ध में पाश्चात्य आचार्यों का मत भी भारतीयों से मिलता है। अलंकारों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में एक धारणा यह भी है कि भाषादारिद्रय या अभिव्यक्ति के लिए शब्दाभाव के कारण इनका जन्म होता है। पश्चिमी आलोचकों ने लाक्षणिकता के प्रयोग में भाषा के दारिद्रय को भी एक कारण माना है।[4] शब्द-दारिद्रय से उपमानवाची शब्दों का प्रयोग बढ़ता है और साहित्यकार

---

१. आलोकार्थी यथा दीप-शिखायां यत्नवान् जनः।
ध्वन्यालोकः—आनन्दवर्धन, पृष्ठ ५०

२. विषयिणा अनिगीर्णस्य विषयस्य तेनैव सह तादात्म्यप्रतीतिकृत्सारोपा।
इयमेव रूपकालंकारस्य बीजम्।
साहित्यदर्पणः—विश्वनाथ, पृष्ठ ३३

३. यच्च संध्यंग-वृत्त्यंगलक्षणाद्यागमान्तरे।
व्यावर्णितमिदं चेष्टमलंकारतयैव नः ॥२-३६७॥
काव्यादर्शः—दण्डी, पृष्ठ १५३

४. Metaphor took its rise from the poverty of language. Men not finding upon every occassion words ready made for their ideas, were compelled to have recourse towards analogous, and transfer them from their original meaning to the meaning of the required. Philolo. Inq. P. 11. c. 11

उन शब्दों को मुख्यार्थ से परे हटा कर अभिप्रेत अर्थ की ओर परिवर्तित कर लेते हैं। उपमानवाची अलंकारों में लाक्षणिक प्रयोगों का आधार इसी रीति से स्पष्ट है।

अरस्तू ने जाति से व्यक्तिगत, व्यक्ति से जातिगत, व्यक्ति से व्यक्तिगत तथा साधर्म्यगत रूप से लाक्षणिकता के चार भेद माने हैं।[१] इनमें दूसरा भेद विशिष्ट से सामान्य का बोध कराने वाला है। यह पुनरुक्ति-प्रकाश अलंकार का आधार है, इस प्रसंग में राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त की यह पंक्ति देखने योग्य है—'पर सौ सौ सम्राटों से भी हैं सचमुच वे बड़भागी'—यहाँ सौ-सौ से अभिप्राय 'असंख्य', 'अगणित' हुआ, ऐसे ही स्थानों पर पुनरुक्तिप्रकाश अलंकार माना जाता है।

लाक्षणिकता का चतुर्थ भेद 'साधर्म्यगत' है। यही भारतीय मत से गौणी लक्षणा है। गौणी लक्षणा तो अपने क्षेत्र में रूपक और अतिशयोक्ति को घेरती है परन्तु अरस्तू का 'एनेलोगस मेटाफर' उपमा, मूर्त्तीकरण आदि साधर्म्यमूलक अलंकारों का बीज माना जाता है और साधर्म्यगत भेद सर्वाधिक चमत्कारजनक माना जाता है। इसलिए योरुपीय साहित्यशास्त्र में विवेचित साधर्म्यगत अलंकार इसी लाक्षणिक प्रयोग के क्षेत्र में आश्रय पाते हैं। अरस्तू ने उपमा को एक प्रकार का लाक्षणिक प्रयोग ही माना है क्योंकि उपमा में रूपक की तरह दो भाँति के वाचक रहते हैं।[२] अचेतन में चेतन का आरोप भी इसी साधर्म्यगत तत्व से होता है। सिसरो ने भी लाक्षणिक प्रयोगों को साधर्म्यमूलक ही बताया है। क्विन्तीलियन के मतानुसार लाक्षणिक रूप से प्रयुक्त शब्द साधारण प्रयोग पर आश्रित अर्थ से भिन्न अर्थ की प्रतीति कराता है। पाश्चात्य आलोचक रिचर्ड्स ने लाक्षणिकता को अर्धगूढ़ प्रणाली माना है, जो भारतीय मत के अर्धगूढ़ व्यंग्य के निकट का प्रयोग ही है।[3] यद्यपि पाश्चात्य विद्वानों ने लक्षणा का विवेचन शब्दशक्ति के रूप में नहीं किया है, अपितु अलंकारों के अन्तर्गत रूपक (मेटेफर) का निरूपण करते हुए लाक्षणिक पद्धति पर विचार प्रकट किए हैं। इसलिए पाश्चात्य साहित्य में रूपक (मेटेफर) भारतीय मत में लक्षणा तथा रूपकालंकार दोनों का काम चलाता है।

भामह, दण्डी तथा रुद्रट ने अभिधा एवं लक्षणा का विचार नहीं किया। परन्तु स्फोटवादियों और बौद्धमतावलम्बी अपोहवादियों के शब्दार्थसम्बन्धी मतों

---

१. अरस्तू का काव्यशास्त्र—डा० नगेन्द्र, श्री महेन्द्र चतुर्वेदी, पृष्ठ ५३-५५

२. Similies, also are in some way approved metaphors; for they always are expressed in two terms; like the analogical metaphor.

Rhetorcis—Book II, Chapter XI Para II

३. Metaphor is a semi-surreptitious method by which a greater variety of elements can be wrought into the fabric of experience.

Principles of Literary Criticism—I. A. Richards, Page 240

का खण्डन भामह ने किया है और वाच्यार्थ के प्रसंग में वैयाकरणों का पक्षपात किया है।[1]

आचार्य वामन ने अर्थालंकारों के प्रसंग में वक्रोक्ति के लक्षण में गौणी लक्षणा के अस्तित्व का सीधा मत व्यक्त किया है। वक्रोक्ति अलंकार वहाँ माना गया है, जहाँ सादृश्यमूलक लक्षणा (गौणी लक्षणा) पाई जाती है। इसी प्रसंग में वामन ने अत्यधिक प्रचलित लाक्षणिक शब्दों के प्रयोग पर भी बल दिया है। उद्भट ने रूपक के लक्षण में गुण-वृत्ति (गौणी लक्षणा) की चर्चा की है।

अलंकाररत्नाकर के कर्त्ता आचार्य शोभाकर मित्र ने पश्चिमी साहित्य-शास्त्रियों से बहुत पहले रूपक और लक्षणा का विस्तृत क्षेत्र मानने का प्रश्न उठा कर अपना दृढ़ मत इस पक्ष में दिया है।

रूपकालंकार की विवेचना करते हुए शोभाकर मित्र ने कहा है कि प्रयोजन-रहिता रूढ़ा में अलंकार नहीं रहता, परन्तु रूपकालंकार न केवल सादृश्यमूलक (गौणी) सारोपा लक्षणा में ही रहता है, अपितु सादृश्यभिन्न सम्बन्ध पर आश्रित शुद्धा सारोपा लक्षणा में भी रूपक रहता है। इसी विवेचना में उनका कहना है कि यदि सादृश्य-संबंध-निबंधना लक्षणा में रूपक, अतिशयोक्ति जैसे अलंकार माने जा सकते हैं, तब सादृश्येतर सम्बन्ध वाली शुद्धा सारोपा लक्षणा में अलंकार क्यों नहीं स्वीकृत किया जाता? वास्तव में इस लक्षणा में भी अलंकार मानना चाहिए।[2] इस तरह शोभाकर मित्र लक्षणा (भेदोपभेद सहिता) को पाश्चात्य अलंकारशास्त्रियों की भाँति (फिगरेटिव स्पीच) रूपक मानते हैं तथा उसमें या तो रूपक (सारोपा लक्षणा-गौणी) अथवा अतिशयोक्ति (साध्यवसाना लक्षणा) मानने की स्पष्ट उद्घोषणा करते हैं, परन्तु विशेषता यह है कि शोभाकर मित्र लक्षणा में अलंकार उसी अवस्था में मानते हैं, जबकि लक्षणा विशिष्ट चमत्कारवती हो।

पंडितराज जगन्नाथ ने शोभाकर के मत का खंडन करते हुए कहा है कि गौणी लक्षणा में ही रूपक और अतिशयोक्ति को मानना उपयुक्त है, सादृश्येतर-सम्बंधा लक्षणा में नहीं। रूपकालंकार के विचार-प्रसंग में शोभाकर के मत का परीक्षण करके पंडितराज ने यही मत स्थापित किया है कि अन्य अलंकारों

---

१. अन्यापोहेन शब्दोऽर्थमाहेत्यन्ये प्रचक्षते।
अन्यापोहश्च नामाऽन्य पदार्थाऽाकृतिः किल ॥६१६॥
काव्यालंकारः—भामह, पृष्ठ ४२

२. सादृश्यसंबंधनिबन्धनाया अलंकृतित्वं यदि लक्षणायाः।
साम्येऽपि सर्वस्य परस्य हेतोः सम्बन्धभेदेऽपि तथैव युक्तम् ॥ (इति संग्रहः)
अलंकाररत्नाकरः—शोभाकरमित्र, पृष्ठ ३३

(स्मरणादि) की भाँति यहाँ भी सादृश्य-सम्बन्ध में ही अलंकार मानना उपयुक्त है।[1]

व्यंजना और अलंकार

अभिधा और लक्षणा से भिन्न होते हुए भी इन पर आश्रित रहने वाली व्यंजनाशक्ति का काव्य में अतुल प्रभाव है। ध्वनिसम्प्रदाय इसी के आधार पर खड़ा है। व्यंग्य या प्रतीयमान अर्थ की चर्चा अलंकारवादी आचार्यों ने सीधे रूप से नहीं की, परन्तु उससे अपना अपरिचय भी सिद्ध नहीं किया।

पंडितराज जगन्नाथ ने भामह,दण्डी आदि आचार्यों द्वारा व्यंग्यार्थ के स्वीकृति-सम्बन्धी विवाद की चर्चा करते हुए कहा है कि भामहादि व्यंग्यार्थ की सत्ता अवश्य मानते हैं। यह पृथक् बात है कि वे व्यंजना को पर्यायोक्तादि अलंकारों में समाविष्ट कर इसकी स्वतंत्र स्थिति स्वीकारने का संकेत नहीं देते। पंडितराज का कथन है कि आनंदवर्धन से पूर्ववर्ती अलंकारवादी आचार्य भामह, दण्डी, उद्भट आदि ने अपने ग्रंथों में कहीं भी ध्वनि, गुणीभूतव्यंग्य आदि शब्दों का प्रयोग नहीं किया है। इस कारण वे ध्वनि आदि को स्वीकृत नहीं करते, नव्य अलंकारों का ऐसा मत उचित नहीं, क्योंकि समासोक्ति, व्याजस्तुति, अप्रस्तुत-प्रशंसा आदि अलंकारों का विवेचन करते हुए उन्होंने कई गुणीभूतव्यंग्य-भेदों का निरूपण किया है। इसके साथ ही पर्यायोक्तालंकार में समस्त व्यंग्यप्रपंच को अन्तर्भूत मानते हैं। बालक भी अनुभवसिद्ध अर्थ को अस्वीकार नहीं कर सकता, तब प्रतीयमान जैसे अर्थ की भामहादि आचार्य सर्वथा अस्वीकृति कैसे कर सकते थे। यह पृथक् बात है कि उन्होंने ध्वनि जैसे शब्दों का व्यवहार नहीं किया। इतना कह देने मात्र से उनका ध्वनि का निषेध करना सिद्ध नहीं होता। परन्तु उनका यह मत अवश्य विचारणीय है कि उन्होंने प्रधान व्यंग्यरूप अलंकार्य ध्वनि को अलंकार मानते हुए पर्यायोक्तादि अलंकारों में अन्तर्भूत

---

१. यत्तु सादृश्यप्रयुक्तः संबंधान्तरप्रयुक्तो वा यावान्भिन्नयोः सामानाधिकरण्यनिर्देशः स सर्वोऽपि······तस्मात् दुराग्रह एवायं प्राचाम्।
उपमानोपमेययोरभेदो रूपकम्···न तु कार्यकारणयोः इति रत्नाकरेणोक्तम्। तन्न। अपह्नुत्यादौ भिन्नयोः सामानाधिकरण्यस्य सत्वात् तत्रातिव्याप्तेः। किंच 'सादृश्यमूलकं स्मरणं स्मरणालंकारः, न तु चिन्तादिमूलम्' इति भवतैव पूर्वमुदितम्। तत्र यदि सादृश्यमूलकस्यापि कार्यकारणादिकयोः कल्पितस्य ताद्रूप्यस्य रूपकत्वमभ्युपेयते। तदा सादृश्यामूलकस्य चिंतादिमूलस्य स्मरणस्याप्यलंकारत्वमभ्युपेयताम्।
रसगंगाधरः—पंडितराज जगन्नाथ, पृष्ठ ४५०

कर कैसे लिया ?[१] इस विचार-विवेचन से व्यंजना का अलंकारों से सम्बन्ध तो स्पष्ट है, फिर चाहे इन्हें (अलंकारों को) व्यंजना या ध्वनि में अन्तर्भूत किया जाये या अलंकारों में व्यंजना को माना जाए, परन्तु व्यंजना का महत्व निर्विवाद रूप से सिद्ध होने पर भी अलंकारों का महत्वाभाव प्रमाणित नहीं होता, तभी तो ध्वनिकार ने ध्वनि के वस्तु-ध्वनि, अलंकार-ध्वनि तथा रसध्वनि—तीन भेद स्वीकार किए। अलंकारध्वनि मानना ही व्यंजना और अलंकार का पारस्परिक सम्बन्ध स्वीकार करना है।

शाब्दी व्यंजना के दो भेद हैं। अभिधामूला व्यंजना और लक्षणामूला व्यंजना। अभिधामूला व्यंजना में सदा ही अनेकार्थक शब्दों का प्रयोग होता है। प्राकरणिक अर्थ के साथ अप्राकरणिक अर्थ भी प्रतीत होता है। ऐसे स्थलों पर श्लेष अलंकार या अभिधामूलाव्यंजना के होने का विवाद साहित्यशास्त्र (ध्वन्यालोक में विशेषतः) में विद्यमान है। नव्य आलंकारिक प्राकरणिक और अप्राकरणिक दोनों अर्थों के बोध की अवस्था में भी श्लेष मानते हैं। उनकी दृष्टि में व्यंग्यत्व का मानदण्ड भिन्न ही है।[२] इस विवाद से दूर रहते हुए इतना मान लेना ही श्रेयस्कर है कि अभिधामूला व्यंजना श्लेषालंकार के साथ समन्वित होती है। चाहे प्राकरणिक-अप्राकरणिक अर्थ का साहित्यिक विवाद कितना ही उग्र क्यों न हो जाए। संयोग, विप्रयोग, साहचर्य आदि से शब्दविशेष का अर्थविशेष में नियंत्रण भी हो जाए, तब भी श्लेषालंकार का महत्त्व अभिधामूलाव्यंजना के कारण बन गया है। संभवतः ऐसे ही स्थलों के कारण अलंकार-ध्वनि माननी पड़ी होगी। ध्वन्यालोककार ने अलंकार-ध्वनि के प्रसंग में श्लेषध्वनि का भी निरूपण किया है।

अभिधामूलाव्यंजना में तीन तत्वों का सन्निवेश रहता है—(१) शब्द अनेकार्थक हो, (२) शब्द की अभिधाशक्ति किसी एक प्रकरण में नियंत्रित हो जाए, (३) एक प्रकरण में अभिधाशक्ति के नियंत्रित हो जाने पर भी सहृदयों को अप्राकरणिक अर्थ की प्रतीति हो। परन्तु जहाँ पर दोनों ही अर्थ प्राकरणिक होंगे,

---

१. इदं बोध्यम्—ध्वनिकारात्प्राचीनेर्भामहोद्भटप्रभृतिभिः स्वग्रंथेषु कुत्रापि ध्वनिगुणीभूतव्यंग्यादिशब्दा न प्रयुक्ता इत्येतावतैव तैर्ध्वन्यादयो न स्वीक्रियन्त इत्याधुनिकानां वाचोयुक्तिरयुक्तैव । यतः समासोक्तिव्याजस्तुत्यप्रस्तुतप्रशंसाद्य-लंकारनिरूपणे कियन्तोऽपि गुणीभूतव्यंग्यभेदास्तैरपि निरूपिताः अपरश्च सर्वोऽपि व्यंग्य प्रपंचः पर्यायोक्तकुक्षौ निक्षिप्तः । न ह्यनुभवसिद्धोऽर्थो बालेनाप्यपह्नोतुं शक्यते । ध्वन्यादिशब्दैः परं व्यवहारो न कृतः । न ह्येतावनंगीकारो भवति । प्राधान्यादलंकार्यो हि ध्वनिरलंकारस्य कुक्षौ कथंकारं निविशतामिति तु विचारान्तरम् ।

रसगंगाधरः—पंडितराज जगन्नाथ, पृष्ठ ५५५-५६

२. नानार्थसंश्रयः श्लेषो वर्ण्यावर्ण्योभयाश्रितः ॥६४॥

कुवलयानंदः—अप्पय्यदीक्षित, पृष्ठ ६७

वहाँ पर अभिधामूला शाब्दीव्यंजना नहीं मानी जाएगी। ऐसे स्थलों पर श्लेष से युक्त कोई न कोई साम्यमूलक अलंकार विद्यमान होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि श्लेषालंकार और अभिधामूला व्यंजना में प्राकरणिक तथा अप्राकरणिक अर्थद्वय से अन्तर ज्ञात होता है। प्राकरणिक अर्थद्वय में श्लेष (अन्य साम्यमूलक अलंकार से समन्वित) तथा प्राकरणिक-अप्राकरणिक अर्थ में अभिधामूला व्यंजना रहती है। ऐसे स्थलों में भी प्राकरणिक और अप्राकरणिक अर्थ की असम्बद्धता को मिटाने के लिए दोनों के उपमानोपमेय भाव की कल्पना की जाती है। अतः वहाँ उपमालंकार व्यंग्य रहता है। जैसे बिहारी का यह दोहा—

चिर जीवो, जोरी जुरै क्यों न सनेह गम्भीर।
को घटि ? ए वृषभानुजा, वे हलधर के बीर॥

इस पद में वृषभानुजा और हलधर शब्द द्व्यर्थक हैं। कृष्ण और राधा का अर्थ प्राकरणिक है, बैल और गाय का अर्थ अप्राकरणिक तथा व्यंग्य। यहाँ उल्लेख करना उचित होगा कि अप्पय्य दीक्षित ने विवृतोक्ति को गुणीभूतव्यंग्य की उसी अवस्था में स्वीकार किया है, जिसमें कि किसी शब्द से व्यंग्यार्थ का संकेत कर दिया गया हो। उसके अनुसार 'चिरजीवो जोरी'—आदि में शब्दशक्तिमूलवस्तुध्वनि ही ठहरेगी। कुछ विद्वानों के अनुसार यहाँ अभिधामूलाव्यंजना है, परन्तु आचार्य रसिक गोविन्द ने यहाँ विवृतोक्ति अलंकार माना है।[1] विवृतोक्ति अलंकार का स्वरूप वस्तुध्वनि के न मानने वाले अलंकारवादियों ने प्रस्तुत किया है।

शाब्दी व्यंजना को न मानने या कुछ विशेष अवस्थाओं में मानने वाले साहित्यिक भी व्यंग्य या प्रतीयमानार्थ वाले स्थलों में श्लेषालंकार मानते हैं। अप्पय्य दीक्षित का कहना है कि जिस प्रकार श्लिष्ट शब्द प्राकरणिक अर्थ के नियामक हैं, उसी प्रकार वे अप्राकरणिक अर्थ के भी नियामक हो जाते हैं। जैसे दोनों प्राकरणिक अर्थों में अभिधा व्यापार रहता है, ऐसे ही अप्राकरणिक अर्थों में भी होगा।[2] इसी प्रसंग में प्राचीनों का मत विवेचित करते हुए अप्पय्य दीक्षित ने आगे कहा है कि प्राचीन आलंकारिक इस बात पर बल देना चाहते है कि द्व्यर्थक या अनेकार्थक शब्दों के प्रयोग में जहाँ प्राकरणिक तथा अप्राकरणिक अर्थ की प्रतीति होती हैं, वहाँ उपमा आदि साम्यमूलक अर्थालंकार व्यंग्य या प्रतीयमान रूप में अवश्य रहते हैं। इसलिए

---

१. पराये छिपे श्लेष को परगट कीजै सो विवृतोक्ति
उदाहरण बिहारी—चिर जीवो जोरी जुरै क्यों न सनेह गम्भीर।
को घटि, ए वृषभानुजा वे हलहर के बीर ॥७२३॥
रसिकगोविन्दआनन्दघन—रसिक गोविन्द, पृष्ठ ७९

२. अत्र प्रांचः—तत्र शब्दशक्तिमूलो व्यंजनव्यापार एव शरणाम् गत्यन्तराभावात्।
वृत्तिवार्तिकः—अप्पय्य दीक्षित, पृष्ठ ९

ऐसे स्थलों पर अभिधामूलाव्यंजना माननी चाहिए।[1] इस प्रकार के विवादों से यह निष्कर्ष सहज में ही निकाला जा सकता है कि अभिधामूला व्यंजना और श्लेष अलंकार में से एक की स्थिति या किसी प्रकरणविशेष में निहित होना अलग विवेचन की बात है, परन्तु इन दोनों का सम्बन्ध अभिधाशक्ति से है, इसलिए अभिधा शक्ति पर आधृत अभिधामूला व्यंजना तथा श्लेषालंकार दोनों साहित्यक्षेत्र में बौद्धिक व्यायाम का साधन बने हुए हैं। अभिधावादी महिमभट्ट ने 'व्यक्ति-विवेक' में अपना मत व्यक्त करते हुए कहा है कि अप्राकरणिक अर्थ की व्यंजना के लिये श्लिष्ट शब्दों का प्रयोग काव्य में दोष बन जाता है। 'वाच्यस्य अवचनं' नामक दोष के विवेचन-प्रसंग में कहा गया है किसी निबंधन (प्रासंगिक तथ्य) के कारण श्लिष्ट शब्द का प्रयोग तो गुण होता है, परन्तु बिना किसी विशेष निबंधन के यह दोष होता है। महिम भट्ट के मत से शब्दश्लेष का प्रयोग वहीं होता है, जहाँ अर्थाभिव्यक्ति दोनों स्थलों पर होती हो, नहीं तो श्लेष व्यर्थ है। जहाँ किसी अन्यार्थ की प्रतीति कराने में कोई विशेष कारण न हो, जहाँ श्लेष का प्रयोग क्लेशदायक हो जाता है।[2] महिमभट्ट की इस विवेचना से यह बात और पुष्ट हो जाती है कि शब्द-शक्तियों के अनुसार श्लेष का प्रयोग होता था, परन्तु अकारण प्रयोग से श्लेष कष्ट-काव्य की स्थिति का जनक भी बन जाता था। चाहे ऐसा श्लिष्ट शब्द-प्रयोग साम्यमूलक उपमादि अलंकारों के लिये ही ही क्यों न हो और चाहे महिमभट्ट प्रतीयमान अलंकार की महत्ता भी क्यों न न मानते हों।

अलंकारों के विवेचन में महिमभट्ट ने भी वाच्य से प्रतीयमान अर्थ को अधिक चमत्कारक माना है। यहाँ प्रतीयमान का अर्थ महिमभट्ट के मतानुसार अनुमेय से है, व्यंग्य से नहीं। और भी इस आचार्य का मत है कि साहित्यिकों को प्रतीयमान अर्थ में वाच्य की अपेक्षा अधिक आस्वाद उपलब्ध होता है। इसलिए साम्यमूलक अलंकारों में रूपाकादि अधिक अच्छे हैं, उपमा उतनी नहीं है।[3] उपमा अथवा रूपक में से महिमभट्ट

१. ...इत्यादि रूपेणप्रतीयमाने उपमाद्यर्थालंकारे तदवश्यंभाव दृढ़ीकरणाभिप्रायेण।
न तु तत्रापि वस्तुतोव्यंजना व्यापारास्तित्वाभिप्रायेण।
वृत्तिवार्तिकः—अप्पय्य दीक्षित, पृष्ठ १३

२. उभयत्राप्यभिव्यक्त्यै वाच्यं किंचिन्निबन्धनम्।
अन्यथा व्यर्थ एव स्यात् श्लेषबन्धोद्यमः कवेः ॥२६४॥
तस्मादर्थान्तरव्यक्ति हेतौ कस्मिंश्च नासति।
यः श्लेषबंधनिर्बन्धः क्लेशायैव कवेरसौ ॥२६६॥
व्यक्तिविवेकः—महिमभट्ट, पृष्ठ ७१-७२

३. वाच्यात् प्रतीयमानोऽर्थस्तद्विदां स्वदतेऽधिकम्।
रूपकादिरतः श्रेयानलंकारेषु नोपमा ॥२-३६॥
व्यक्तिविवेकः—महिमभट्ट, पृष्ठ ७३

किसी को अधिक श्रेय दें। यहाँ केवल यह देखना है कि अभिधावादी, अनुमिति-पक्षपाती महिमभट्ट अलंकारों का सम्बन्ध अभिधेय और प्रतीयमान रूपमें शब्दशक्तियों से मानते हैं। आचार्य शुक्ल ने भी अभिधामूलाव्यंजना की विवेचना करते हुए कहा है कि जहां दूसरे अर्थ का बोध कराना भी इष्ट होता है, वहां श्लेष अलंकार होता है, पर जहाँ दूसरे अर्थ की यों ही प्रतीतिमात्र होती है, वहां अभिधामूलक-शाब्दी व्यंजना होती है, श्लेष अलंकार और अभिधामूलक व्यंजना के भेद के लिये 'यों ही' शब्दों का प्रयोग अनायास अर्थ में है। आचार्य शुक्ल ने इस तरह दोनों के भेद को सरल विधि से प्रस्तुत कर दिया है। इस विवेचन के आधार पर यह माना जा सकता है कि शब्दशक्तियों का श्लेष के साथ पर्याप्त विवाद एवं निकट का सम्बन्ध रहा है।

अभिधामूला व्यंजना तथा उस पर आश्रित शब्दशक्तिमूलक ध्वनि पर विचार करते हुए आचार्य आनन्दवर्धन ने कहा कि जहां शब्द की शक्ति के द्वारा वस्तु के साथ ही अलंकार भी प्रतीत हो रहा हो तथा वह अलंकार शब्द द्वारा वाच्य न हो, वहां शब्दशक्तिमूलक ध्वनि रहती है। ऐसी स्थिति में स्पष्ट है कि ध्वनिकार उन्हीं स्थलों पर शब्दशक्तिमूलक ध्वनि मानते हैं, जहां प्राकरणिक वाच्यार्थ की प्रतीति होने पर भी श्लिष्ट शब्द के कारण अप्राकरणिक अर्थ की प्रतीति अलंकार रूप में हो। इस अवस्था में ध्वनिकार का यह कथन स्पष्ट है कि जहां अलंकार व्यक्त होगा, वहीं श्लिष्ट पदों के प्रयोगों में शब्दशक्तिमूलक ध्वनि होगी और जहां प्राकरणिक वाच्यार्थ के अनन्तर प्रतीत होने वाला अप्राकरणिक अर्थ वस्तुमात्र है, अलंकार नहीं, तो वहां व्यंजना और ध्वनि नहीं होगी, केवल श्लेष ही मानना होगा।[1]

आचार्य अभिनवगुप्त ने अपने मत को नए ढंग से, नई कल्पना से प्रस्तुत किया है। ध्वनिकार व्यंग्य अलंकार को शाब्दी व्यंजना के क्षेत्र का मानते हैं, परन्तु अभिनवगुप्त अप्राकरणिक अर्थ तथा अलंकार की प्रतीति व्यंजना से मानते हैं। आचार्य मम्मट ने अभिनवगुप्त की इसी उक्ति के आधार पर संभवतः शब्दशक्तिमूलक ध्वनि के दो भेद अलंकार-रूप तथा वस्तुरूप माने हैं। ऐसा ही साहित्यदर्पणकार ने भी परम्परागत रूप में माना है।[2] आचार्य मम्मट से पूर्ववर्ती आलंकारिक अलंकारांश की व्यंजना होने पर ही ध्वनि को स्वीकार करते हैं, नहीं तो वहां श्लेष मानते हैं, परन्तु मम्मट उस वस्तु को भी ध्वनिक्षेत्र मानते हैं, जहां श्लिष्ट प्रयोग से अप्राकरणिक वस्तुरूप अर्थ की व्यंजना होती हो। आचार्य विश्वनाथ ने मम्मट से ही प्रभावित होकर उपर्युक्त दो भेद शब्दशक्तिमूलक ध्वनि के रखे हैं। वे अलंकार-रूप

१. यस्मादलंकारो न वस्तुमात्रं यस्मिन् काव्ये शब्दशक्त्या प्रकाशते स शब्दशक्त्युद्भवो ध्वनिरित्यस्माकं विवक्षितम्। वस्तुद्वये च शब्दशक्त्या प्रकाशमाने श्लेषः।
ध्वन्यालोकः—आनन्दवर्धन, पृष्ठ १६३-६४

२. (क) काव्यप्रकाशः—मम्मट, पृष्ठ १४७
(ख) वस्त्वलंकाररूपत्वाच्छब्दशक्त्युद्भवो द्विधा॥
साहित्यदर्पणः—विश्वनाथ, पृष्ठ १३३

व्यंग्यार्थ में अप्राकरणिक अर्थ की प्रतीति व्यंजना से ही स्वीकार करते हैं।

पंडितराज जगन्नाथ ने भी मम्मट की भाँति शब्दशक्तिमूलक ध्वनि के अलंकार-रूप तथा वस्तुरूप—दो भेद माने हैं। इस सम्बन्ध में पूर्ववर्ती तीन मतों का खण्डन करने के अनन्तर निष्कर्ष-रूप से पंडितराज का कहना है कि नानार्थक शब्द-शक्तिमूलक ध्वनि के स्थलों में श्लेष की तरह दोनों अर्थों की प्रतीति एक साथ होने में कोई बाधा नहीं। श्लेष की भाँति ही शब्दशक्तिमूलक ध्वनि में भी दोनों अर्थ एक साथ प्रतीत होते हैं। दोनों अर्थ वाच्य ही होते हैं और दोनों अर्थों की प्रतीति अभिधाशक्ति से होती है। अतः दूसरे अर्थ की प्रतीति के लिये व्यंजना को स्वीकार करना अनुचित है।[1] अतः इस अनुशीलन से व्यक्त है कि अलंकार वाच्य और व्यंग्य दोनों प्रकार के होते हैं।

आर्थी व्यंजना में भी शब्द की सहकारिता रहती है। यह मत मम्मट तथा विश्वनाथ का है। शब्द ही सहृदय को अन्यार्थ की प्रतीति करवाने में समर्थ होता है।[2] व्यंग्यार्थ-बोध की शक्ति शब्द और अर्थ दोनों में विद्यमान है। तभी तो ध्वनिकार ने कहा है कि जहाँ अर्थ अथवा शब्द अपने को गौण बना लेता है, वहाँ ध्वनि होती है।[3]

यह सिद्ध है कि व्यंग्यार्थ की प्रतीति के लिये प्रकरण-ज्ञान अनिवार्य है। इसी आधार पर अर्थ-व्यंजकता के साधनों में वक्ता, बोद्धव्य, काकु, वाक्य, वाच्य, अन्य सन्निधि, प्रस्ताव, देश, काल तथा चेष्टागत वैशिष्ट्य के द्वारा सहृदयों को व्यंगार्थ की प्रतीत होती है। ये व्यंग्यार्थ-साधन प्राकरणिक-अप्राकरणिक अर्थ में अलंकार की अभिव्यक्ति भी करते हैं।

व्यंजनाशक्ति से प्रतीत होने वाले व्यंग्यार्थ को वस्तुरूप, अलंकार-रूप तथा रसध्वनिरूप माना जाता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इन्हें वस्तु-व्यंजना, अलंकार व्यंजना तथा भाव-व्यंजना कहा है। यद्यपि आचार्य शुक्ल काव्य में अभिधाशक्ति को प्रमुखता देते हैं, तथापि ये तीन भेद उन्हें स्वीकृत हैं, वस्तुमात्र की व्यंजना से वस्तु-रूप, अलंकार की व्यंजना से अलंकाररूप तथा रस अथवा भाव की व्यंजना से रस-

१. इत्थं च नानार्थस्थलेऽपि तात्पर्यधियः कारणतायां शिथलीभवन्त्यां तात्पर्यार्थ-विषय-शाब्दबुद्धि-संपादनाय व्यक्तिस्वीकारोऽनुचित एव शक्त्येव बोधद्वयो-पपत्तेः।

रसगंगाधरः—पंडितराज जगन्नाथ, पृष्ठ २८

२—शब्दप्रमाणवेद्योऽर्थो व्यनक्त्यर्थान्तरं यतः।
अर्थस्य व्यंजकत्वेऽपि शब्दस्य सहकारिता ॥३-२३॥

काव्यप्रकाशः—मम्मट, पृष्ठ ८९

३—यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यंक्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ॥१-१३॥

ध्वन्यालोकः—आनन्दवर्धन, पृष्ठ ५३

रूप व्यंग्य माना जाता है। व्यंग्यार्थ की प्रतीति में वाच्यार्थ की उपेक्षा की नहीं जा सकती। उपर्युक्त तीनों अर्थों में वस्तु-रूप एवं अलंकाररूप अर्थ व्यंग्य तथा वाच्य दोनों रूप से काव्य में रहते हैं। जैसे स्वभावोक्ति तथा उपमा में, परन्तु रसरूप अर्थ सदा ही व्यंग्य रहता है। इस प्रकार अलंकार के साथ व्यंजकत्व का सम्बन्ध काव्य में विशद रूप से विवेचित है।

ध्वनिवाद की स्थापना से पूर्ववर्ती साहित्यशास्त्र में व्यंजना का इतना उल्लेख एवं ग्रहण नहीं, जितना ध्वनिकाल तथा बाद के आचार्यों द्वारा हुआ है, तब भी वे ऐसे अर्थ का सदा संकेत देते रहे, जो वाच्य तथा लक्ष्यार्थ से सर्वथा भिन्न प्रतीत होता रहा और उन्होंने गम्य, प्रतीयमान अथवा व्यंग्यार्थ का कभी निषेध नहीं किया। पण्डितराज जगन्नाथ का मत पहले पृष्ठों में इसी प्रसंग में उद्धृत किया जा चुका है।

आचार्य भामह के 'काव्यालंकार' में प्रतीयामानार्थ का स्पष्ट संकेत मिलता है। उपमालंकार के प्रसंग में प्रतिवस्तूपमा के लक्षण में 'गुणसाम्यप्रतीतितः' पद का प्रयोग उपलब्ध होता है।[1] इस लक्षण का अर्थ यह है कि यथा, इव आदि के प्रयोग के बिना ही गुणसाम्य की प्रतीति से प्रतिवस्तूपमा होती है। इस प्रकार से भामह ने प्रतिवस्तूपमा के लक्षण में गम्यौपम्य का निर्देश स्पष्ट रूप से किया है। समासोक्ति अलंकार के आचार्य भामह ने अन्यार्थ की प्रतीति का निदर्शन किया है। समासोक्ति अलंकार के लक्षण में प्रयुक्त 'यत्रोक्ते गम्यतेऽन्योऽर्थः', इस वाक्य में वाच्यार्थ से भिन्न प्रतीयमान अर्थ को ही माना है।[2] पर्यायोक्त अलंकार में भी वाच्य से भिन्न गम्य का ही संकेत भामह ने स्पष्टतः दिया है।[3]

आचार्य दण्डी ने उदात्त अलंकार के प्रकरण में व्यंजित पद का प्रयोग किया है। इसके अतिरिक्त प्रतिवस्तूपमा के लक्षण में साम्यप्रतीति, व्यतिरेक अलंकार में प्रतीयमान सादृश्य तथा पर्यायोक्त में प्रकारान्तराख्यान आदि पदों से व्यंग्यार्थ की ही पुष्टि की है।

आचार्य उद्भट ने भी पर्यायोक्तालंकार के प्रसंग में अवगम पद के द्वारा

---

१. समान वस्तुन्यासेन प्रतिवस्तूपमोच्यते ।
यथेवानभिधानेऽपि गुणसाम्यप्रतीतितः ॥२-३४॥
काव्यालंकारः—भामह, पृष्ठ ११

२. यत्रोक्ते गम्यतेऽन्योऽर्थस्तत्समान विशेषणः ।
सा समासोक्तिरुच्छिष्टा संक्षिप्तार्थतया यथा ॥२-७९
काव्यालंकारः—भामह, पृष्ठ १६॥

३. पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते ॥३-८॥
काव्यालंकारः—भामह पृष्ठ १७

व्यंजना का संकेत प्रकारान्तर से दिया है ।[१] व्याजस्तुति के प्रसंग में भी शब्दशक्ति स्वभाव की चर्चा उद्भट ने की है, जो कि व्यंजना से ही सम्बद्ध है। आचार्य रुद्रट के काव्यालंकार में भावालंकार और कुछ नहीं, अपितु ध्वनिवादियों की वस्तुध्वनि और गुणीभूतव्यंग्य ही है। इस तरह ध्वनिकाल तक के अलंकारवादी आचार्यों के कतिपय अलंकारों के साथ व्यंजना का स्पष्टतः सम्बन्ध ज्ञात होता है। रुद्रट ने उत्प्रेक्षा को भी प्रतीयमाना कहा है।[२] आचार्य रुय्यक ने भी पर्यायोक्त, अप्रस्तुत-प्रशंसा, समासोक्ति, आक्षेप, व्याजस्तुति, उपमेयोपमा तथा अनन्वय आदि में गम्यमान अर्थ की चर्चा भामह, उद्भट आदि का नाम लेते हुए उन्हीं के प्रसंग में की है। कहने का अर्थ यह है कि यदि भामह, उद्भटादि, गम्यमान-प्रतीयमान अर्थ को मानते थे, तब रुय्यक भी मानते हैं।[३]

आचार्य भिखारीदास ने अपनी प्रतिभा के कौशल से शब्दशक्तियों और अलंकारों का सम्बन्ध जोड़ा है। श्लेष, विरोधाभासादि के प्रसंग में उन्होंने सारे अर्थालंकारों को शब्दशक्ति से निस्यूत माना है। आचार्य दास का कहना है कि श्लेष, विरोधाभास, मुद्रा, वक्रोक्ति तथा पुनरुक्तवदाभास को शब्दालंकार माना जाता है, इनको अर्थालंकार कोई नहीं मानता, यद्यपि सारे अर्थालंकार शब्द-शक्ति में ही समन्वित हो जाते हैं।[४]

---

१. (क) पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते ।
वाच्यवाचकवृत्तिभ्यां शून्येनावगमात्मना ॥
काव्यालंकार-संग्रहः—उद्भट, पृष्ठ ६०

(ख) शब्दशक्तिस्वभावेन यत्र निन्देव गम्यते ।
वस्तुतस्तु स्तुतिश्चेष्टा व्याजस्तुतिरसौ मता ।
काव्यालंकारसंग्रहः—उद्भट, पृष्ठ ७१

२. उत्प्रेक्षा तु स्वयमेव प्रतीयमाना कथिता ।
अलंकारसर्वस्वम्—रुय्यक, पृष्ठ ७ (रुद्रट मत)

३. इह हि तावद् भामहोद्भटप्रभृतयश्चिरंतनालंकाराः प्रतीयमानमर्थं वाच्योपस्कारकतयालंकारपक्षनिक्षिप्तं मन्यन्ते। तथाहि पर्यायोक्ताप्रस्तुतप्रशंसा समासोक्त्याक्षेप व्याजस्तुत्युपमेयोपमानन्वयादौ वस्तुमात्रं गम्यमानं वाच्योपस्कारकत्वेन स्वसिद्धये पराक्षेपः परार्थं स्वसमर्पणम् इति यथायोगं द्विविधया भंग्या प्रतिपादितं तैः।
अलंकारसर्वस्वम्—रुय्यक, पृष्ठ ३-४

४. श्लेष विरोधाभास है शब्द अलंकृत दास ।
मुद्रा औ वक्रोक्ति पुनि पुनरुक्तीवद-भास ॥
इन पांचन करि अर्थ कों, भूषण कहै न कोई ।
जदपि अर्थ-भूषन सकल, शब्द शक्ति में होई ॥
काव्यनिर्णय—भिखारीदास, पृष्ठ ५५६

अभिधा अन्य शक्तियों के मूल में रहने के कारण सभी अलंकारों में किसी न किसी प्रकार से विद्यमान रहती ही है। लक्षणा के ८० भेदों को देखें तो अलंकारों में लक्षणा का जाल बिछा दिखाई देता है, परन्तु ६, ८, १३ भेद मानने पर भी अलंकारों का आधार लक्षणाशक्ति नहीं त्याग पाई है। व्यंजना से अनेक अलंकार सम्बद्ध हैं। ध्वनि-सम्प्रदाय में अलंकारांग की महत्वपूर्ण विजय इसी बात से सिद्ध हो जाती है कि उसे ध्वनि का एक भेद (अलंकारध्वनि) स्वीकार कर लिया गया। संसृष्टि और संकर का ध्वनिसम्बन्ध भी आचार्य आनंदवर्धन ने स्फुटतः स्वीकार किया है।[1]

शब्द-कौतुकागार में शब्द की क्रीड़ा और अलंकार का सम्बन्ध महत्वपूर्ण है। इसलिए शब्द-शक्तियां अलंकार के क्षेत्र में शब्द और अर्थ के वैशिष्ट्य परक चमत्कारात्मक स्रोत हैं। इन शब्दशक्तियों के बल पर अलंकार का सौन्दर्यसौध छविमान है।

गुण और अलंकार

शब्दार्थमय काव्य में गुण और अलंकार चमत्कारजनक हैं। इनमें गुण स्थायी धर्म एवं अलंकार अस्थायी हेतु हैं, यह धारणा वामन से पूर्ववर्ती काल में नहीं थी। तब दोष का अभाव गुण था और गुण से पृथक् रूप में अलंकारों की चर्चा भरत के नाट्यशास्त्र में हो चुकी थी, परन्तु दोनों के भेदक धर्मों का विवेचन नहीं हुआ था। वामनाचार्य ने अलंकार की परिभाषा प्रस्तुत करते हुए कहा कि काव्य अलंकार से ग्राह्य होता है और सौन्दर्य ही अलंकार है। अलंकार का सम्पादन दोषों के त्याग तथा गुणालंकार के आदान से होता है। इन दोष, गुण एवं अलंकारों का प्रयोग शास्त्रीय दृष्टि से किया जाना चाहिए। यहां तक वामन ने सौन्दर्य मात्र को अलंकार माना है। उन्होंने आगे तृतीय अधिकरण में गुण और अलंकारों में भेदक तत्व का निर्देश किया है। वहां कहा गया है कि काव्य की शोभा के जनक शब्दार्थ के धर्मगुण हैं और अलंकार उस काव्य-शोभा की अतिशयता के हेतु हैं। गुण काव्य में नित्यरूप से विद्यमान रहते हैं। उनके बिना काव्य-शोभा उत्पन्न ही नहीं होती और इसी से सिद्ध हो चला है कि अलंकारों के बिना भी काम चल जाता है।[2]

आलोचकों का मत है कि आचार्य वामन ने सर्वप्रथम इन दोनों का काव्य-धर्मों का भेद स्पष्ट किया। तथापि इससे पूर्व भरत ने नाट्य-शास्त्र में गुण-अलंकार दोषादि का विवेचन पृथक्-पृथक् करके इनकी पृथकता ही स्वीकार की थी, परन्तु भेदक तत्त्व का निरूपण वामन ने ही शोभाजनक तथा शोभातिशय हेतुत्व के रूप में सम्पादित किया है।

गुण और अलंकारों के भेद के सम्बन्ध में ध्वनिकार आनंदवर्धन ने अपना मत अन्य रूप से व्यक्त किया है। ध्वनिकार का कथन है कि जो प्रधानभूत अंगी (रस) के आश्रित रहने वाले हैं, उनको गुण कहते हैं और जो अंग (शब्दार्थ) पर

१. ध्वन्यालोकः—आनन्दवर्धन, पृष्ठ ४२४
२. काव्यालंकारसूत्राणि – वामन, पृष्ठ १,२, २६

आश्रित रहते हैं, उनको कटकादि के समान अलंकार कहते हैं।[1] गुण शूरतादि के समान है और अलंकार काव्य के वाच्य-वाचक रूप और शब्द के आश्रित कटकादि-तुल्य हैं। अलंकार और गुण के भेद की कल्पना आचार्य आनंदवर्धन ने चारुत्व (भेद) से की है। चारुत्व दो तरह का होता है। रूपमात्रनिष्ठ तथा संघटनाश्रित। शब्दालंकारों में शब्दों का सौन्दर्य स्वरूपमात्रनिष्ठ होता है और गुणों में सुन्दरता संघटनाश्रिता होती है। अर्थों का चारुत्व उपमादि अलंकारों में स्वरूपमात्रनिष्ठ होता है। अर्थगुणों में चारुत्व संघटनाश्रित होता है।[2]

गुण और अलंकारों से भेद को न मानने वाले आचार्यों में उद्भट का नाम उल्लेखनीय है। भट्टोद्भट का कथन है कि लोक में गुण और अलंकार का भेद दिखाया जा सकता है क्योंकि हारादि अलंकारों का शरीरादि के साथ संयोग-सम्बन्ध दृष्टिगत होता है तथा शूरतादि गुणों का आत्मा के साथ समवाय सम्बन्ध माना जाता है, परन्तु काव्य में ओज माधुर्यादि गुण तथा अनुप्रास उपमादि अलंकार दोनों की स्थिति समवाय सम्बन्ध से है। दोनों को काव्य से पृथक् करके देखा नहीं जा सकता। इसलिए गुणालंकार में भेद का उत्पादन नहीं हो सकता। आचार्य रुय्यक ने भी भट्टोद्भट के मत का उल्लेख इसी रूप में किया है।[3]

आचार्य मम्मट ने वामन के गुणालंकार-भेदक तत्त्व की आलोचना करते हुए कहा कि वामनकथित समस्त गुणों के होने से काव्यव्यवहार हो सकता है अथवा कतिपय गुणों से, यदि समस्त गुणों के होने से ही काव्यव्यवहार होता है, तो असमस्तगुणा गौड़ी और पांचाली रीति काव्यात्मा कैसे मानी जा सकती है? आचार्य मम्मट ने उद्भट एवं वामन के मतों का खण्डन किया और पूर्ववर्त्तियों के मतों का विवेचन करके ध्वनिकार के मत का समर्थन किया।[4] विश्वनाथ ने इसी मार्ग का

१. तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः।
अंगाश्रितास्त्वलंकाराः मन्तव्याः कटकादिवत् ॥२-६॥
ध्वन्यालोकः—आचार्य आनंदवर्धन, पृष्ठ १३०

२. (क) 'समवाय वृत्त्या शौर्यादयः संयोगवृत्त्या तु हारादयः इत्यस्तु गुणालंकाराणां भेदः। ओज-प्रभृतीनां अनुप्रासोपमादीनां चोभयेषामपि समवायवृत्त्या स्थितिरिति गड्डलिकाप्रवाहेणैवेषां भेदः॥
काव्यप्रकाशः—मम्मट, (आचार्य विश्वेश्वर सम्पादित) पष्ठ ३८४

३. (ख) उद्भटादिभिस्तु गणालंकाराणां प्रायशः साम्यमेव सूचितम्।
विषयमात्रेण भेद-प्रतिपादनात्।
अलङ्कारसर्वस्वम्—रुय्यक, पृष्ठ ६

४. यदप्युक्तम् – काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः इति तदपि न युक्तं। यतः किं समस्तैर्गुणैःकाव्यव्यवहारः। उत कतिपयैः यदि समस्तस्तत् कथम् असमस्तगुणा गौड़ी पांचाली च रीतिः काव्यस्यात्मा।
काव्यप्रकाशः—मम्मट, पृष्ठ ३८५

अवलम्बन किया है। आचार्य मम्मट ने ध्वनिकार-कृत वृत्ति को ही प्रायशः गुणालंकार-भेदक लक्षणों में बांध दिया है। गुण को रस का उत्कर्षकारी तथा अलंकार को उपकारकारी माना है और विश्वनाथ ने स्थिर एवं अस्थिर धर्मों के रूप में गुण और अलंकारों को माना है।[1] दोनों ने अलंकारों में उपकारकत्व की भावना राजशेखर से ग्रहण की और विश्वनाथ ने शोभातिशायी होने की अलंकार-सम्बन्धिनी स्थिति वामन से लेकर अपना मत स्थिर किया। मम्मट ने माना है कि जहाँ रस नहीं, वहाँ अलंकार उक्ति-वैचित्र्य मात्र है और कहीं इसके होते हुए भी अलंकार उपकारक नहीं होते विश्वनाथ ने अलंकारों की स्थिति गुणों के समान आवश्यक नहीं मानी। आचार्य मम्मट ने गुणों के स्वरूप में यह भी कहा है कि माधुर्यादि रसधर्म गुण समुचित वर्णों से व्यंजित होते हैं।[2]

भट्टोद्भट के मत का खंडन माणिक्यचन्द्र तथा हेमचन्द्र ने भी किया और गुण और अलंकारों को काव्य के स्थिर और अस्थिर धर्मों के रूप में स्वीकार किया है।[3]

परवर्ती काल में संस्कृत-काव्यशास्त्र में अलंकार और गुण के भेद-विवेचन-विषयक सिद्धमत की परम्परा आचार्य मम्मट के अनुसार चलती रही। आचार्य भामह ने गुणलेशेनसाम्य को उपमा के लिए आवश्यक बताया है। तब उपमा गुणों के आधिक्य के आधार पर थी, भले ही दण्डी ने हीनोपमा का भी स्वरूप प्रस्तुत कर दिया, तब भी गुण-सादृश्य पर ही उपमालंकार टिका था और गौणी लक्षणा पर आवृत अलंकारों में गण की स्थिति ही तो अलंकार बनाती है। शृंगारादि रस में तो

१. (क) काव्यप्रकाशः - मम्मट, पृष्ठ ३८०-३८१
   (ख) साहित्यदर्पणः—विश्वनाथ, पृष्ठ २६४, २७३

२. (क) माधुर्यादयो रसधर्माः समुचितैर्वर्णैर्व्यज्यन्ते न तु वर्णमात्राश्रयाः ॥
   यत्र तु नास्ति रसस्तत्रोक्तिवैचित्र्यमात्रपर्यवसायिनः ॥
   काव्यप्रकाशः—मम्मट, पृष्ठ ३८०-३८१
   (ख) अलंकारा अस्थिरा इतिनषां गुणवदावश्यकी स्थितिः।
   साहित्यदर्पणः—विश्वनाथ, पृष्ठ २७३

३. (क) शब्दार्थालंकाराणां गुणवत्समवायेन स्थितिरिति-भामहवृत्तौ भट्टोद्भटेन भणनमसत्।
   माणिक्यचन्द्र (मैसूर संस्करण) पृष्ठ २८६
   (डॉ० राघवन-सम्पादित शृंगारप्रकाश से उद्धृत, पृष्ठ ३०५)
   (ख) इह तु उपयेषां समवायेन स्थितिरिति अभिधाय तस्माद् गड्डलिकाप्रवाहेन गुणालंकारभेदः इति भामह-विवरणे यद् भट्टोद्भटोऽभ्यधात् तन्निरस्तम्।
   काव्यानुशासनम्—हेमचन्द्र, पृष्ठ १७

नियत गुण रहते हैं परन्तु अलंकार सर्वरसोपकारक हैं। इसलिए गुण की अपेक्षा अलंकार का क्षेत्र विस्तृत है। आचार्य सिद्धचन्द्रमणि का कथन है कि गुण का विशिष्ट रस में नियतधर्मा होना उसका रस से निकट सम्बन्ध-द्योतक है और अलंकार का सर्वरसगामी होना उसकी आहार्यता का कारण बनता है।[1]

रीतिकाल में गुण-अलंकार-चर्चा

कुलपति ने रीतिकाल में गुण-अलंकार-भेद की चर्चा की है। कुलपति का कहना है कि गुण और अलंकारों से काव्य नीरस नहीं बनता, परन्तु इन दोनों में भेद यों कहा जा सकता है कि अलंकार रस को बढ़ाते हैं (उत्कर्ष देते हैं) और अंगरूप में अनुप्रास उपमादि अलंकार रस में निवास करते हैं।

आचार्य कुलपति ने अपने दोहों की टीका करते हुए लिखा है कि: 'अंग ,शब्दार्थ-रहित व्यंग' कहाता है, उसमें बिना अलंकार के भी रस रह सकता है, जो रस आ जाय तो उल्टे गहनों तक की पोषकता करे। और दोष—उदासीन भी हो जाता है और गुण—जिस रस का नियत हो, उसी का ही पोषण करता है, और प्रसाद तो सब का ही पोषण करता है, यह भेद है। अंग कहिये - शब्दार्थ। तथाहि। जो रस हो तो पोषण करे और नहीं पोषण करे तो उल्टे गहने भी रस बिन रह जायें और वह गुण तो पोषण ही करता है।' आचार्य सोमनाथ ने गुण को सदा एक रस तथा अलंकार को रस-पोषक एवं कहीं-कहीं उदास रहने वाला कहा है।[2]

इस विवेचन के सम्बन्ध में एक प्रश्न उत्पन्न होता है कि शौर्यादि गुण जैसे आत्मा के धर्म हैं, वैसे ही ओज माधुर्यादि गुण रस के नित्य धर्म हैं—ऐसी स्थिति मान लेने पर शूरतादि का सम्बन्ध युवावस्थाविशेष से जैसा है, वैसा शिशुता और

१. शृंगारादौ माधुर्यस्य वीरादौ ओजश्चनियतत्वात्—
अलंकाराणां च सर्वेषां सर्वरसोत्कर्षत्वात्।

काव्यप्रकाशखंडनम्—सिद्धचन्द्रमणि, पृष्ठ ६३

२. (क) होय बड़ाई दुहुन में विरस करे नहिं कोय।
अलंकार अरु गुनन में, भेद कौन विधि होय।
रसहिं बढ़ावे होय जहं, कबहुंक अंग निवास।
अनुप्रास उपमादि वे, अलंकार सुप्रकास॥

रसरहस्य—कुलपति, पृष्ठ ५१-५२

(ख) दोऊ रसदायक प्रगट गुन अरु भूषन जानि।
भेद दुहुं न में होइ ज्यों कहिए सोहित बानि ॥१३॥
अब या को उत्तर—
गुण सदा एक रस है और अलंकार हुं रस को पोषतु है, कहुं उदास है, यह भेदु—

रस-पीयूष-निधिः—सोमनाथ, पृष्ठ १४२

वृद्धावस्था में विद्यमान नहीं रहता। तब रस में भी गुणों की स्थिति में क्या अन्तर उपस्थित होगा ? क्या अवस्था एवं देश-काल की परिस्थिति के परिवर्तन पर वे गुण काव्य में रसपरकता के उतने ही व्यंजक रहेंगे, जैसे काव्य-निर्माणकाल विशेष में रहे होंगे ? क्या कालिदास, भवभूति, केशव, चिन्तामणि, भूषण आदि की विभिन्न गुण-समन्वित कविता का मूल्य युग-परिवर्तन के साथ नित्य धर्म होने से उतना ही रहेगा या वृद्धावस्थादि से शूरता की शिथिलता के समान उसमें भी न्यूनतादि हो जायगी ? तब ऐसी स्थिति में परिवर्तनशीलता के कारण क्या लोकवत् काव्य में भी गुण परिवर्तनशीलता से प्रभावित होकर अस्थिरता की ओर न झुक जाएँगे ? गुण की यह स्थिति विचारणीय है।

गुण और अलंकार की काव्यगत स्थिति पर विचार करते हुए यह भी द्रष्टव्य है कि दोनों ही शब्दार्थ के धर्म हैं। रस-परिपाक में दोनों ही सहायक हैं। आचार्य आनन्दवर्धन ने गुणों और अलंकारों पर विचार करते हुए कहा है कि शृंगार रस में माधुर्य गुण हो, ओज नहीं । यमकालंकार न हो, वह त्याज्य है, परन्तु रूपकादि अलंकार शृंगारादि रसों में त्याज्य नहीं । आचार्य धर्मदत्त ने अपने ग्रन्थ में लिखा है कि सब रसों में चमत्कार, सार रूप से प्रतीत होता है।[1] गुण भी यही चमत्कार काव्य में लाते हैं। अलंकारों का भी उनसे प्रगाढ़तम सम्बन्ध है। इतना ही नहीं, ऐन्द्रिक सम्पर्क गुण और अलंकार दोनों में है। प्रसाद और ओज का सम्बन्ध यदि हृदय से है तो माधुर्य का सम्बन्ध कर्णेन्द्रिय से भो स्पष्ट है। ऐसी स्थिति में गुणों को ही केवल काव्य का स्थायी धर्म मानना तथा अलंकारों को अस्थायी धर्म कहना (विश्वनाथ के मत में) कहां तक उचित है ? जबकि धर्म कभी अस्थायी नहीं होता। फिर चाहे वह लोक का हो, चाहे काव्य का। इसलिए काव्य में अलंकारों की स्थिति पर पुनर्विचार होना चाहिए। अथवा अलंकारों को भी गुणों कीभांति व्यंग्य-काव्य में स्थायी धर्म मान लेनाचाहिए।

काव्य की उक्ति आलंकारिक परिवेश के कारण जैसी चमत्कारक होती है वैसी लोक की नहीं। भावों की योजना तो दोनों में होती है। अलंकार के कारण एक काव्योचित है, दूसरी नहीं। ऐसी दशा में अलंकारों का महत्व न्यून क्यों ?

लोक के शौर्यादि गुण तथा हारादि अलंकारों का दृष्टान्त रखकर साहित्य में गुण तथा अलंकार की चर्चा करना अधिक संगत नहीं रहा। उसका कारण यह है कि अलंकार काव्य में कभी-कभी व्यंग्य भी होते हैं, परन्तु लोक में हारादि कदापि व्यंग्य नहीं होते। शरीर की शोभा बढ़ाएं या नहीं, हमारा इससे कोई सम्बन्ध नहीं, परन्तु काव्य में अलंकार स्वतः प्रवर्तित होने पर अशोभा का कारण नहीं बनते, अपितु रसोत्कर्षक या रसोपकारक बन जाते हैं। साधारणतया अलंकार काव्य में आ ही जाते हैं। स्वभावोक्ति अलंकार तो अपना अधिकार कहां तक फैलाये हुए है, इसके कहने की आवश्यकता नहीं। गुण और अलंकार के भेद-सम्बन्धी विवेचन पर डॉ० नगेन्द्र का मत अधिक संगत है कि—गुण चित्तवृत्तिरूप हैं, अलंकार वाणी का प्रसाधन हैं अर्थात् अभिव्यंजना को प्रभावशाली बनाने के उपकरण हैं परन्तु मूलतः चित्तवृत्ति-

१. साहित्यदर्पण:—विश्वनाथ, पृष्ठ ४६ (धर्मदत्तका मत उद्धृत है)

रूप होने पर भी जिस प्रकार गुण गौण रूप में शब्द और अर्थ (वर्णगुम्फ और शब्दगुम्फ) से भी सम्बन्ध रखते हैं, इसी प्रकार मुख्य रूप में शब्द और अर्थ के धर्म, अभिव्यंजना के चमत्कार—होते हुए भी अलंकार गौण रूप में चित्त को भी चमत्कृत करते हैं। आन्तरिक और बाह्य तत्व की यही सापेक्ष प्रमुखता गुण और अलंकार का मुख्य अन्तर है—गुण मूलतः भाषा के आन्तरिक तत्त्व हैं और अलंकार बाह्य।[1] डॉ० नगेन्द्र के मत में इतना और जोड़ देना संगत होगा कि अलंकार काव्य के बाह्य तत्त्व होते हुए भी जब व्यंग्य होते हैं, तब आन्तरिक तत्त्व की स्थिति में भी आ जाते हैं और ऐसा मानने पर अलंकार-ध्वनि की स्थिति काव्य में गौरवमयी बनी रहेगी।

गुणों का अलंकार-स्वरूप-ग्रहण

आचार्य भरत ने अपने नाट्य-शास्त्र में दस गुणों का निर्देश किया है। वे श्लेष, प्रसाद, समता, समाधि, माधुर्य, ओज, पद-सौकुमार्य, अर्थव्यक्ति, उदारता तथा कान्ति हैं।[2] दण्डी ने भी यही दस गुण भिन्न क्रम से माने हैं। आचार्य वामन ने शब्द तथा अर्थ भेद से इन्हीं दस गुणों को स्वीकार किया है। भरत ने कई गुणों के दो-दो लक्षण दिए हैं, जो गुण की उभयात्मक स्थिति का संकेत देते हैं। भोज ने २४ गुण माने तथा बाह्य, आभ्यन्तर और वैशेषिक के भेद से तीन कोटियां करके हर एक कोटि में २४ गुण रख दिये, जिससे संख्या ७२ तक जा पहुंची। अग्निपुराण में १८ गुणों का वर्णन है। भोज ने भरत के दस गुणों के अतिरिक्त उदात्तता, औचित्य, प्रेयस्, सुशब्दता, सौक्ष्म्य, गांभीर्य, विस्तार, संक्षेप, सम्मितत्व, भाविक, गति, रीति, उक्ति तथा प्रौढ़ि—१४ अधिक गुण माने। अग्निपुराण में गाम्भीर्य, (शब्द गुण), संविधान, प्रौढ़ि, सामयिकता, यथासंख्य, प्राशस्त्य, पाक और राग नए गुण माने गये हैं।

गुणों की संख्या चाहे १०, १८, या ७२ रहे अथवा तीन ही मान्य बन जाएं, इस प्रसंग में गुणों की स्थिति का निरूपण करते हुए एक सत्य यह सामने आता है कि श्लेष, समता, समाधि, अर्थव्यक्ति, उदारता (भरत के) प्रेयस्, सौक्ष्म्य, भाविक, गति, रीति, उक्ति (भोज के) और यथासंख्य (अग्निपुराण का) बाद में अलंकारों के क्षेत्र में जा पहुंचे। इनमें से कुछ के लक्षण परिवर्तित नहीं हुए, कुछ के अवश्य हो गए। कतिपय लक्षणों की तुलना से यह तथ्य स्पष्ट करना आवश्यक है।

(क) समाधि (गुण) दण्डी—अन्यधर्मस्ततोऽन्यत्र लोकसीमानुरोधिना ।
सम्यगाधीयते यत्र स समाधिः स्मृतो यथा ॥१-९३॥

---

१. भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका—डॉ० नगेन्द्र, पृष्ठ ७६

२. श्लेषः प्रसादः, समता, समाधिर्माधुर्यमोजः पदसौकुमार्यम् ।
अर्थस्य च व्यक्तिरुदारता च कान्तिश्च काव्यार्थगुणा दशैते ॥१६-९७॥
नाट्यशास्त्रम्—भरत, पृष्ठ २६५

(ख) समाधि (अलंकार) अग्निपुराण—

अन्यधर्मस्ततोऽन्यत्र लोकसीमानुरोधिना । सम्यगाधीयते यत्र स समाधिरिहस्मृतः ॥[१]

दोनों लक्षणों में किंचित् भी अन्तर नहीं, केवल 'यथा' के स्थान पर 'इह' शब्द का प्रयोग है। अर्थ भी वही है कि लोक-व्यवहार के परिपालन से अन्य अप्रस्तुत का अर्थ जब अन्यत्र, जिस वाक्यार्थ में साध्यवसाना लक्षणा द्वारा सम्यक् स्थापित किया जाता है, वह वाक्य समाधि-गुण-विशिष्ट (या अलंकार विशिष्ट) कहा जाता है।

भरत का अर्थव्यक्ति ही आगे चल कर जाति (स्वभावोक्ति) रूप धारण कर गया।

(क) अर्थ-व्यक्ति (गुण) भरत—

सुप्रसिद्धा धातुना तु लोककर्मव्यवस्थिता ।
या क्रिया क्रियते काव्ये सार्थव्यक्तिः प्रकीर्त्यते ॥१६-१०६॥

(ख) जाति (स्वभावोक्ति अलंकार) रुद्रट—

संस्थानावस्थानक्रियादि यत् यस्य यादृशं भवति ।
लोके चिरप्रसिद्धं तत्कथनमनन्यथा जाति ॥७-३०॥[२]

दोनों लक्षणों में शब्दों का अन्तर है, अर्थ में अन्तर नहीं। दोनों में लोक-प्रसिद्ध वस्तुओं के स्वभाव की अभिव्यक्ति या वर्णन होता है।

उदारता अथवा उदात्तता गुण का लक्षण ही साधारण परिवर्तन से उदात्त अलंकार का लक्षण बन गया। दिव्य भाव से युक्त, शृंगार, अद्भुत से युक्त तथा अनेक भावों से संयुक्त होना ही उदात्त गुण है और ऋद्धिमद् वस्तु-वर्णन या महान् व्यक्तियों का चरितवर्णन ही उदात्त अलंकार है। दोनों लक्षणों में साधारण अन्तर है, मूल भावना एक ही है। जैसे—

(क) उदात्त (गुण) भरत—

दिव्यभावपरीतं यच्छृंगाराद्भुतयोजितम् ।
अनेकभाव संयुक्तमुदारं (तं) तत्प्रकीर्तितम् ॥१६-१०७॥[३]

यही श्लोक पाठांतर में इस प्रकार है—

अनेकार्थविशेषैर्यत् सूक्तैः सौष्ठवसंयुतैः ।
उपेतमतिचित्रार्थैरुदात्तं तच्च कीर्त्यते ॥[४]

(ख) उदात्त (अलंकार) उद्भट—

उदात्तं ऋद्धिमद्वस्तुचरितं च महात्मनाम् ।
उपलक्षणतां प्राप्तं नेतिवृत्तत्वमागतम् ॥[५]

---

१. (क) काव्यादर्शः—दण्डी, पृष्ठ ३६
(ख) अग्निपुराणम्—अलंकार प्रकरण, अध्याय-४३३, पृष्ठ ७०६

२. (क) नाट्यशास्त्रम्—भरत, पृष्ठ २६७
(ख) काव्यालंकारः—रुद्रट, पृष्ठ ८०

३. नाट्यशास्त्रम्—भरत, पृष्ठ २६७

४. नाट्यशास्त्रम्—भरत, पृष्ठ २६७ की पादटिप्पणी।

५. काव्यालंकारसंग्रहः—उद्भट, पृष्ठ ६१

सौक्ष्म्य, (सूक्ष्म) भाविक, गति, रीति, उक्ति तथा यथासंख्य (गुणों) के नाम वाले अलंकार भोज के सरस्वती-कंठाभरण में ही प्राप्त हैं। इनमें गति, रीति तथा उक्ति शब्दालंकारों में, सूक्ष्म अर्थालंकारों में, भाविक यथासंख्य (क्रमनाम से) उभयालंकारों में निर्दिष्ट हैं।[1] प्रेयस् गुण प्रेयस् अलंकार का रूप धारण कर गया, यह सर्वविदित है।

रीतिकाल में भी गुणों के अलंकार-रूप धारण करने की चर्चा हुई है। आचार्य चिन्तामणि ने अर्थव्यक्ति गुण को अलंकार मानने का मत व्यक्त किया है। उस संबंध में इनका कहना है—

अर्थव्यक्त प्रसाद तें अर्थ आनि जो कोइ।
तहां जो अर्थ व्यक्त सों अलंकार कछु होइ ॥१-४॥[2]

इस पद में अर्थव्यक्ति को अलंकार मानने का आग्रह स्पप्ट है। समता गुण में अनुप्रासालंकार मानना भी चिन्तामणि ने स्वीकार किया है। जैसे—

जहं समता जो पदनि मैं बद्ध बद्ध अनुप्रास।
शब्द अलंकारन विषें तिन को प्रगट प्रकास ॥१-४६॥[3]

आचार्य चिन्तामणि ने अर्थ-गुणों में अलंकारों के रहने की चर्चा अत्यन्त विश्वास से की है। जैसे—

या विधि के वैचित्र्य में अलंकार कछु होइ।
ए जो बर्नत अर्थगुन समुझौ सुनौ न कोइ ॥१-६४॥[4]

आचार्य भिखारीदास ने भी गुणप्रकरण में श्लेष तथा प्रसाद गुणों की चर्चा में श्लेष से सम्बद्ध पुनरुक्तिप्रकाश गुण का निरूपण किया है। इसे जयदेव ने अलंकार माना है। प्रसाद गुण के अन्तर्गत आचार्य दास ने सभेद अनुप्रास, वीप्सा तथा यमक का निरूपण किया है।[5] स्पष्ट है कि आचार्य भिखारीदास इन शब्दालंकारों का सम्बन्ध श्लेष तथा प्रसाद गुण से मानते हैं।

इस भांति अलंकार अपना क्षेत्र विस्तृत करके गुणों को भी अपने में समाहित करने का सामर्थ्य सिद्ध करते रहे। गुणों के अलंकार क्षेत्र में आने अथवा लाए जाने से सिद्ध है कि दोनों का परस्पर निकटतम सम्बन्ध है। एक धर्म (गुण) के नाते और दूसरा हेतु (अलंकार) के रूप से काव्यात्मा रस के उत्कर्षक एवं उपकारक रहने से दोनों अपने-अपने पक्ष में स्वतन्त्र एवं आकर्षक तथा समन्वित रूप से काव्यात्मा रस के आस्वादन में सहायक तत्व हैं।

---

१. सरस्वतीकंठाभरणम्—भोज, परिच्छेद २,३,४, पृष्ठ १४०,४३७,३६८ (क)
२. कविकुल-कल्पतरु—चिन्तामणि, पृष्ठ ११
३. कविकुल-कल्पतरु—चिन्तामणि, पृष्ठ १३
४. कविकुल-कल्पतरु—चिन्तामणि, पृष्ठ १७
५. काव्य-निर्णय—भिखारीदास, पृष्ठ, ५४१-५५५

अलंकार और दोष

लोक-जीवन से उठकर अलंकार काव्य-भूमि में आए। सदसत् कवियों द्वारा उनका प्रयोग हुआ। प्रौढ़ाप्रौढ़ काव्यकारों ने रुचिभिन्नता एवं अध्ययनशीलता के आधार पर उनका प्रयोग किया। काव्य के भण्डार में ग्रंथरत्नों का संग्रह हो चला, तब विवेचन तथा परीक्षण की परम्परा ने जन्म लिया और उत्तमाधम प्रयोग पर काव्य-मर्मज्ञों की आंख गड़ने लगी। जो आँख में खटक गया, जो मन, मस्तिष्क, आत्मा को उचित न लगा, वह दोष कहलाने लगा। जो आँखों में समा गया, जो आँखों में गड़ गया, वह गुण हो गया। इनके साथ ही अलंकार भी इसी प्रकार काव्य में अपना आसन दृढ़ करने लगे।

दोष-विवेचन का आधार लोक-जीवन में सामाजिक औचित्य रहता है। लोक-विरुद्धता तो शुद्ध को भी आचरण से रोकती है, तब काव्य में दोष के लिए स्थान कहाँ? धीरे-धीरे काव्य में दोष का क्षेत्र भी विस्तृत हो गया। पद, पदार्थ वाक्य, अर्थ और रस-दोषों का नामकरण हुआ, गणना हुई, संख्या निश्चित हुई, पर स्थिर न रही, (घटती-बढ़ती रही)। ध्वनि-पूर्व के आचार्यों ने अलंकार-दोषों की चर्चा बढ़-चढ़ कर की।

भरत तथा वामन ने गुणों के विपर्यय का नाम दोष रखा।[1] रस-सम्प्रदाय की सर्वोत्कृष्टता की सिद्धि के अनन्तर दोष का लक्षण ही रसापकर्षक (मुख्यार्थापकर्षक) माना जाने लगा।[2] रसापकर्षक अलंकार भी अपना अस्तित्व खोने लगे। उनके प्रयोग पर प्रतिबन्ध लगने लगा। आनन्दवर्धन ऐसे प्रतिबन्ध लगाने वालों में प्रथम हैं, यद्यपि वक्ता के अभिप्राय और औचित्य से दोष भी गुण बन जाते हैं। रीतिकाल में भी दोष-विवेचन हुआ। कुलपति मिश्र, कुमारमणि शास्त्री, सोमनाथ तथा जगतसिंह जैसे आचार्यों ने भी रसापकर्षक तथा शब्दार्थ-सौन्दर्यापहारी को ही दोष माना है।[3] आचार्य केशव ने स्पष्टतः दोष-लक्षण नहीं दिया अपितु पंथविरोध,

---

१. (क) गुणा विपर्ययादेषां (दोषाणां) माधुर्यौदार्यलक्षणाः ॥१६-९६॥
नाट्यशास्त्रम्—भरत, पृष्ठ २६५

(ख) गुणविपर्ययात्मानो दोषाः।
काव्यालंकारसूत्राणि—वामन, पृष्ठ १४

२. मुख्यार्थहतिर्दोषो रसश्च मुख्यस्तदाश्रयाद्वाच्यः।
उभयोपयोगिनः स्युः शब्दाद्यास्तेन तेष्वपि सः ॥४९॥
हतिरपकर्षः शब्दाद्या इत्याद्यग्रहणाद्वर्णरचनैः।
काव्यप्रकाशः—मम्मट, पृष्ठ २६६

३. (क) रस-रहस्य—कुलपति मिश्र, पृष्ठ ३१
(ख) रसिक-रसाल—कुमारमणि शास्त्री, पृष्ठ २२५
(ग) रस-पीयूषनिधि—सोमनाथ, पृष्ठ १३१
(घ) सबद अर्थ सुन्दरता को हरि लेत।
ताहि दोष करि जानो सुकवि सचेत॥ (जगतसिंह)
हिन्दी-साहित्य का बृहद् इतिहास—सम्पादक, डा० नगेन्द्र, पृष्ठ ३६६

शब्द-विरुद्ध, छन्द-विरोध, भूषणहीनता तथा अर्थ-विनात्व को दोष माना है।[1]

यहाँ विवेच्य विषय दोष नहीं है अपितु अलंकारों के प्रयोग में दोषों की उपस्थिति विवेच्य है। इसलिए अलंकार-प्रयोग में कालक्रम से आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट दोषों के सम्बन्ध में विभिन्न मतों पर दृष्टिपात करना उचित है।

संस्कृत-काव्यशास्त्र में अलंकार-दोष-विवेचन

आचार्य भामह से पूर्व ही अलंकारों की प्रधानता काव्य-क्षेत्र में स्थापित थी तथापि उचित प्रयोग के लिए अंकुश भी आचार्यों ने रख दिए थे। विशिष्ट अलंकारों में विभिन्न प्रयोगों को दोष मानने की रीति चल पड़ी थी। स्वयं भामह ने अपने पूर्ववर्ती मेधावी आचार्य द्वारा निर्दिष्ट तथा काव्य में अलंकारों के प्रयोगार्थ त्याज्य दोषों का उल्लेख किया है। मेधावी आचार्य ने (१) हीनता, (२) असम्भव, (३) लिंग-भेद, (४) वचन-भेद, (५) विपर्यय, (६) उपमानाधिक्य, (७) उपमानासादृश्य नामक सात उपमा-दोषों का निरूपण किया था।[2]

काव्यादर्श में दण्डी ने भी लिंग-वचन-भेद-हीनता और अधिकता नामक उपमा-सम्बन्धी चार दोष लिखे हैं।[3]

आचार्य वामन ने उपमा-दोषों की चर्चा पृथक् रूप से की है। उन्होंने (१) हीनता, (२) अधिकत्व, (३) लिंग-भेद, (४) वचन-भेद, (५) असादृश्य तथा (६) असम्भव—ये छः उपमा-दोष स्वीकार किए हैं। वामन ने मेधावी-कथित विपर्यय-दोष परिगणित नहीं किया।[4]

आचार्य रुद्रट ने अलंकारों के सामान्य दोषों का निरूपण काव्यालंकार के ११ वें अध्याय में किया है। (१) अपहेतु, (२) अप्रतीत, (३) निरागम, (४)

---

१. अंध बधिर अरु पंगु तजि नग्न मृतक मति शुद्ध।
अंध विरोधी पंथ को, बधिर सुशब्द विरुद्ध ॥३-७॥
छंद विरोधी पंगु गनि, नग्न जु भूषण हीन।
मृतक कहावै अर्थबिनु केशव सुनहु प्रवीन ॥३-८॥
कविप्रिया—केशव, पृष्ठ २१

२. हीनतासम्भवो लिंगवचोभेदो विपर्ययः।
उपमानाधिकत्वं च तेनासदृशतापि च ॥
त एत उपमादोषाः सप्त मेधाविनोदिताः।
सोदाहरणलक्ष्माणौ वर्ण्यन्तेऽत्र च पृथक् ॥२-३९-४०॥
काव्यालंकारः—भामह, पृष्ठ १२

३. न लिंगवचने भिन्ने न हीनताधिकतापि वा।
उपमादूषणायालं यत्रोद्वेगो न धीमताम् ॥२-५१॥
काव्यादर्शः—दण्डी, पृष्ठ ६२

४. हीनत्वाधिकत्व लिंगवचनभेदासादृश्यासंभवास्तद्दोषाः ॥८॥
काव्यालंकारसूत्राणि—वामन, पृष्ठ ५०

बाधयन, (५) असम्भव, (६) असम्बद्ध, (७) ग्राम्य, (८) विरस, (९) तद्वान्, (१०) अतिमात्र। इनके अतिरिक्त उपमा- दोषों की चर्चा पृथक्ता से की है, ये हैं—(१) सामान्य शब्द-भेद, (२) वैषम्य, (३) असंभव, (४) अप्रसिद्ध। नेमिसाधु ने अपनी टीका में रुद्रट-लिखत चार उपमा-दोषों को ही सम्यक् माना है। मेधावी-कथित सात दोषों में से सामान्य शब्द-भेद में लिंग-वचन-भेद-वैषम्य में हीनता व आधिक्य तथा अप्रसिद्ध में विपर्यय का अन्तर्भाव दिखाया है।[1] भोज ने वाक्यगत और वाक्यार्थगत दोषों के अन्तर्गत ही छः उपमा-दोषों को माना है।[2]

आनन्दवर्धन ने अलंकार-विशेष का प्रयोग रस-पोषण के लिये किये जाने के पक्ष में अपने विचार प्रस्तुत किये हैं। उनकी धारणाएं निम्नलिखित हैं :—

(१) शृंगार रस में (विप्रलम्भ में प्रधानतः) अनुप्रास एवं यमक का निबंधन रसाभिव्यंजना में दोषपरक है।

(२) रूपकादि अलंकारों के प्रयोग की सार्थकता एवं निर्दोषता रसानुकूल प्रयोग में निहित है, परन्तु रससिक्त पक्ष में इन सादृश्यमूलक अलंकारों का प्रयोग ग्रहणत्याग की प्रवृत्ति से होना चाहिये।[3]

आनन्दवर्धन की यह धारणा अलंकारौचित्य के अन्तर्गत रखी गई है, परन्तु अनौचित्य रसभंग का कारण होने से वैसे ही दोष है, जैसे काव्यार्थ-हृति होने से दोषों अर्थात् अनौचित्य-तत्व दोषों में प्रमुख है। इसलिए आनन्दवर्धन ने सादृश्यमूलक अलंकार-प्रयोग में मनोवैज्ञानिक मत प्रस्तुत किया तथा दोषों की अनित्यता का पक्ष भी ले लिया।

आचार्य मम्मट ने काव्य-दोषों का निरूपण सातवें उल्लास में तथा अलंकार-दोषों का निरूपण दसवें उल्लास के अन्त में किया है, परन्तु अपना मत स्पष्टतः दिया

---

१. सामान्य दोष—

अपहेतुरप्रतीतो निरागमो बाधयन्नसम्बद्धः।
ग्राम्यो विरसस्तद्वानतिमात्रश्चेति दुष्टोऽर्थः :।११-१२॥
सामान्य शब्द-भेदो वैषम्यमसंभवो प्रसिद्धिश्च।
इत्येते चत्वारो दोष नासम्यगुपमायाः॥ ११-२४॥
कि च लिंग-वचन-भेदे दोषत्वेनाश्रीयमाणे कलाकारकविभक्तिभेदा नाश्रिताः। सामान्यशब्द-भेद तु तेऽपि संगृहीताः। तथा च हीनताधिक्ये चोपमानोयमेयसाम्याभावाद्दोषत्वेनाश्रिते परेण। तत्र च वैषम्यमेवोभयदोषसंग्राहकमेकमुक्तमस्माभिः। तथा योऽपि हीनताधिक्यविशिष्टो विपर्यय उक्तः सोऽपि न तावन्मात्रेण दोषहेतुः। अतिप्रसंगात्। अपि त्वप्रसिद्धित एव। तस्मादेतन्निरासाच्चत्वार एवामी दोषाः, न तु सप्तेति स्थितम्॥

काव्यालंकारः—रुद्रट, पृष्ठ १४०, १४५, १४६

२. सरस्वतीकंठाभरणम्—भोज, पृष्ठ २५, २६, ५१, ५८

३. ध्वन्यालोकः—आनन्दवर्धन, पृष्ठ १५०

है कि अलंकार-दोष अन्य काव्यदोषों के अन्तर्गत ही आ जाते हैं उन्हें पृथक् परिगणित करने की आवश्यकता नहीं।[1]

काव्यप्रकाशकार ने अनुप्रास के प्रसिद्ध या सम्भव-वैकल्य, वृत्तिविरोध—तीन दोष मान कर उनका अन्तर्भाव क्रमशः प्रसिद्ध-विरुद्धता, अपुष्टार्थत्व तथा प्रतिकूल-वर्णता में कर दिखाया है। यमकालंकार में तीन चरणों में उसका स्थापन अप्रयुक्तत्व दोष ही है। उपमालंकार में उपमान की जातिगत अथवा परिमाणगत न्यूनता अथवा उसी तरह की जातिगत तथा परिमाणगत अधिकता वास्तव में अनुचितार्थत्व दोष में ही आते हैं। साधारण धर्म में सत्ता रखने वाले न्यूनत्व तथा अधिकत्व भी हीनपदत्व और अधिकपदत्व से भिन्न नहीं हो सकते। लिंग-भेद तथा वचन-भेद भी भग्न-प्रक्रमत्व दोष के अन्तर्गत ही माने जाने चाहिएं। तथा जहां उपमान और उपमेय के लिंग एवं वचन में नानात्मक भेद होने पर भी साधारण धर्म के वाचकपद के स्वरूप में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता तब वहां साधारण धर्मवाचक पद का उपमान-उपमेय के साथ उसी रूप से अन्वय हो सकता है, इसलिये वहाँ लिंग-वचन-भेदात्मक दोष नहीं आ सकता। काल-पुरुष-विधि आदि के उपमा-दोष भी भग्नप्रक्रमता में आ जाते हैं और उच्चरित या प्रतीयमान किसी अन्य साधारण धर्म को लेकर उपमान का पर्यवसान मान लेने पर उपमेय का भी प्रकृत धर्म के साथ सम्बन्ध हो जाने पर किसी प्रकार से कालादि दोष नहीं बनता है। असादृश्य तथा असम्भव नामक उपमा के दोषों को भी अनुचितार्थत्व में ही अंतर्भूत किया गया है।

उत्प्रेक्षालंकार के सम्बन्ध में आचार्य मम्मट का कथन बड़ा मार्मिक है। उनका कहना है कि उत्प्रेक्षालंकार का प्राण 'सम्भावन' है। इसका बोध कराने में ध्रुव, इव, वा, मन्ये, शंके आदि पद ही समर्थ हैं न कि यथा शब्द। क्योंकि यथा शब्द केवल साधर्म्य का प्रतिपादन करने में ही समर्थ हो सकता है। यह साधर्म्य उत्प्रेक्षा अलंकार में विवक्षित नहीं होता। इसलिये उत्प्रेक्षालंकार के लिए 'यथा' शब्द का प्रयोग असामर्थ्य-बोधक होने के कारण अवाचकत्व दोष ही है, उससे अन्यथा नहीं। उत्प्रेक्षित अर्थ वास्तव में हीन (केवल कल्पनामात्र) होने के कारण असत् जैसा ही होता है। इसलिये उसके समर्थन के लिए जब अर्थान्तरन्यास अलंकार का आश्रय या साहाय्य लिया जाता है, वह आकाश में बनाये चित्र के समान अत्यंत अनुचित होता है। इस तरह उत्प्रेक्षित अर्थ का अविद्यमानत्व अनुचितार्थत्व दोष ही है. इससे पृथक् कुछ भी नहीं है।

उपमान और उपमेय के दोनों पक्षों में लगने वाले साधारण विशेषणों द्वारा समासोक्ति अलंकार भी उपमान-विशेष को प्रकट करता है। इसलिये समासोक्ति में उपमान-विशेष के पृथक् ग्रहण में कोई प्रयोजन न होने से जो अनुपादेयत्व दोष

---

१. एषां दोषा यथायोगं सम्भवन्तोऽपि केचन।
उक्तेष्वन्तर्भवन्तीति न पृथक् प्रतिपादिताः॥ १०-१४२॥
काव्यप्रकाशः—आचार्य मम्मट, पृष्ठ ५६७

समासोक्ति में माना जाता है, वह अपुष्टार्थत्व अथवा पुनरुक्ति-दोष के अन्तर्गत ही आ जाता है। अप्रस्तुतप्रशंसा के अनुपादेयत्व दोष को भी अपुष्टार्थत्व या पुनरुक्त में ही अंतर्भूत प्रशंसा में साधारण विशेषणों द्वारा ही प्रस्तुत अर्थ की प्रतीति होने से उसका शब्दतः ग्रहण हो जाने पर भी अनुपादेयत्व दोष माना जाता है।

आचार्य मम्मट ने अलंकार-दोषों का विवेचन बड़ी वैज्ञानिक विधि से किया और उन्हें पद, पदांश, वाक्य, अर्थ तथा रस-दोषों में ही अंतर्भूत माना, पृथक् नहीं।[1]

जैन विद्वान् नरेन्द्रप्रभ सूरि ने अनुप्रास के (१) प्रसिद्धि अभाव, (२) वैफल्य, (३) वृत्तिविरुद्धता नामक तीन, यमक के पादत्रयप्रयोग का पूर्वाचार्यसम्मत तथा उपमा के जाति प्रमाणगत, न्यूनता, अधिकता, लिंग-वचन-भेदगत, असाध्य तथा असम्भव दोषों की चर्चा की है, जो कि नवीन नहीं है। पूर्वाचार्यों ने इन सब दोषों की चर्चा की है।[2] पंडितराज जगन्नाथ ने भी उपमा-दोषों के सम्बन्ध में अप्रसिद्ध, जाति, प्रमाण, लिंग, वचनादि में उपमेयोपमान की भिन्नता, तथा न्यूनाधिकता जैसे दोषों की विवेचना परम्परागत मत के अनुरूप की है।[3]

वाग्भट (प्रथम) ने लिंग-वचन-भेद, हीनता, अधिकता ये चार दोष उपमालंकार-सम्बन्धी माने हैं, परन्तु लिंगवचन की भेद-सम्बन्धी स्थिति पर अन्य विद्वानों का मत दिया है कि कहीं-कहीं लिंग और वचन का भेद दोष नहीं रहता।[4] चन्द्रालोककार-प्रदत्त शब्दालंकारों के दोषों में (१)प्रसिद्धयभाव, (२) वैफल्य, (३) रस-प्रातिकूल्य तथा (४) पाद-हीनत्व दोष (यमक से सम्बद्ध) है। अर्थालंकार-दोषों में जाति, प्रमाण-गत न्यूनता तथा अधिकता, अप्रसिद्ध, वचन, लिंग-भेद, काल-पुरुष-विधि-भेद, वैरूप्य तथा उपमानदुष्टत्व जैसे दोष माने हैं।[5]

---

१. तदेतेऽलंकारदोषाः यथासम्भविनोऽन्येऽप्येवं जातीयकाः पूर्वोक्तमेव दोष-जात्यांतर्भा-विता न पृथक् प्रतिपादनमर्हन्तीति।

काव्यप्रकाशः—मम्मट, पृष्ठ ५८३

२. अलंकार-महोदधिः—नरेन्द्रप्रभ सूरि, पृष्ठ ३३३, ३३४, ३३५, ३३६

३. रसगंगाधरः—जगन्नाथ, पृष्ठ ३३९-३४०

४. विभिन्नलिंगवचनानां नातिहीनाधिकां च ताम्।
निबध्नन्ति बुधाः क्वापि लिंगभेदन्तु मेनिरे ॥४-५८॥

वाग्भटालंकारः—वाग्भट, पृष्ठ ११४

५. तत्र शब्दालंकारदोषाः—प्रसिद्धयभावो वैफल्यं प्रातिकूल्यं रसस्यच।
पादहीनत्वमित्येषां शब्दालंकारदुष्टता ॥
अर्थालंकारदोषाः—जतिप्रमाणधर्माणां न्यूनत्वाधिक्ययोरपि।
अप्रसिद्ध्या च वचनलिंगभेदेन वा पुनः ॥
कालस्य पुंसश्च विधेर्भेदो वैरूप्यमेव च ॥
उपमानस्य दुष्टत्वमुपमादिषु दुष्टता ॥

चन्द्रालोकः—जयदेव, पृष्ठ ३१

विद्याधर ने एकावली में यमक और चित्रालंकार में 'असाधुत्व' के कारण रसपुष्टि नहीं मानी तथा यमक को त्रिपाददोष रखना पूर्वाचार्यों की भांति स्वीकार किया ।[1]

विश्वनाथ ने विरस, हीनोपमा, अधिकोपमा, असदृशोपमा, अप्रसिद्धोपमा तथा निरलंकृति नामक दोषों (अलंकार-दोषों) को अर्थालंकारों में ही गिन लिया है। अलंकार-प्रकरण में पृथक् रूप से अलंकार-दोषों का विवेचन नहीं किया ।[2] आचार्य विश्वनाथ ने पद, वाक्यादि दोषों में ही अलंकार-दोषों को माना है। पृथक् कहने की आवश्कता ही नहीं रखी। उपमा के असादृश्य, असंभव जाति-प्रमाणगतन्यूनत्व, अधिकता, अर्थान्तरन्यास में उत्प्रेक्षितार्थ का समर्थन जैसे दोष का अनुचितार्थत्व दोष में ही अन्तर्भाव माना है। यमक यदि तीन ही चरणों में हो तो अप्रयुक्तत्वदोष कहा है। उत्प्रेक्षा में 'यथा' शब्द के प्रयोग से अवाचकत्व दोष आता है। अनुप्रास में विरोधी रस के अननुगुण वर्णों की रचना को प्रतिकूलवर्णत्व दोष माना जाता है। उपमा के लिंग-वचनभेद, न्यूनता, अधिकता, काल,पुरुष,विधि आदि दोषों का अन्तर्भाव भग्नप्रक्रमत्व में हो जाता है।

श्री वत्सलांछन ने 'काव्य-परीक्षा' में मम्मटोक्त अलंकार-दोषों को ही लिया है। इनका ग्रन्थ ही मम्मट की अनुकृति पर है। इसलिए इन दोषों में किसी नवीन दोष की प्रकल्पना उन्होंने नहीं की ।[3]

साहित्यदर्पणकार की अलंकार-दोष-सम्बन्धिनी विवेचना मम्मट के विचारों से पूर्णतया प्रभावित है ।[4] केशव मिश्र ने अलंकारशेखर में अर्थ-दोषों में हीनोपमा,

---

१. प्रायशो यमके चित्रे रसपुष्टिर्न दृश्यते ।
दुष्करत्वादसाधुत्वमेकमेवात्र दूषणम् ॥७-५॥
यमकं तु विधातव्यं कथंचिदपि न त्रिपात् ॥७॥

एकावली—विद्याधर, पृष्ठ ७८

२. अपार्थं व्यर्थमेकार्थं ससंशयमपक्रमम् ।
भिन्नं चैवातिमात्रं च परुषं विरसंतथा ॥
हीनाधिकोपमे स्यातामसदृशोपमं तथा ।
अप्रसिद्धोपमं हेतुशून्यं च निरलंकृतिः ॥

प्रतापरुद्रीय यशोभूषणम्—विद्यानाथ, पृष्ठ २२६

३. काव्य-परीक्षा—वत्सलांछन, पृष्ठ १०६

४. एभ्यः पृथगलंकारदोषाणां नैव संभवः ॥ एभ्यः दोषेभ्यः ॥
तथाहि उपमायामसादृश्यासंभवयोरुपमानस्य जातिप्रमाण-
गतन्यूनत्वाधिकत्वयोरर्थान्तरन्यासे उत्प्रेक्षितार्थसमर्थने
चानुचितार्थत्वं ।

साहित्य-दर्पणः—विश्वनाथ, पृष्ठ २५६

अधिकोपमा, असदृशोपमा जैसे उपमालंकार-गत दोषों का वर्णन कर दिया है।[1] कवि कर्णपूर ने भी 'अलंकार कौस्तुभ' ग्रन्थ में अनुप्रास, यमक, उपमा तथा उत्प्रेक्षागत मम्मट-सम्मत अलंकार-दोषों का ही नाम दिया है। रूपकालंकार में लिंग-भेद की चर्चा की है, परन्तु उसे दोष नहीं माना है और न ही गुण कहा है। अर्थात् कर्णपूर स्पष्ट रूप से लिंग-भेद को दोष न कह पाए।[2]

नृसिंह कवि ने 'नंजराजयशोभूषण' नामक ग्रन्थ में हीनोपमा, अधिकोपमादि दोषों को वाक्य-दोषों में माना है तथा उपमा के लिंग-वचन-भेद को भग्नप्रक्रमत्व-दोष के अन्तर्गत कहा है।[3]

रीतिकाल के आचार्यों द्वारा अलंकार-दोष-विवेचन :

रीतिकाल के आचार्यों में केशव, चिन्तामणि, कुलपति मिश्र, पदुमनदास, देव, सूरति मिश्र, कुमारमणि शास्त्री, श्रीपति, सोमनाथ, भिखारीदास, जनराज, जगतसिंह रसिकगोविंद, प्रतापसाहि तथा ग्वाल जैसे विविधांग-निरूपक आचार्यों की रचनाओं में दोषों का विवेचन संस्कृत की पद्धति पर हुआ है, परन्तु अलंकार-दोषों के सम्बन्ध में पृथक् नवीन विवेचन इनमें से किसी ने नहीं किया।

आचार्य केशव ने दोष-प्रकरण में अन्ध, बधिर, पंगु, नग्न और मृतक नामक दोषों में नग्न उस कविता को माना है, जो अलंकार-विहीन हो।[4] चिन्तामणि और कुलपति मिश्र ने अलंकार-दोषों का पृथक् विवेचन नहीं किया, दोनों ने मम्मट-सम्मत दोषों का ही निरूपण किया है। आचार्य कुलपति ने 'रस-रहस्य' के अलंकार-प्रकरण के अन्त में कह दिया है कि अलंकार-दोषों के पृथक् निरूपण की आवश्यकता नहीं। वे तो पूर्वविवेचत दोषों के अन्तर्गत ही आ जाते हैं।[5] पदुमनदास ने 'काव्य-मंजरी'

---

१. अष्टार्थदोषा विरसग्राम्यव्याहतखिन्नता।
हीनाधिकासदृक्साम्यं देशादीनां विरोधि च ॥६-१॥
अलंकार-शेखरः—केशव मिश्र, पृष्ठ १७

२. रूपक दोषः—साप्रूये लिंगभेदस्तु न दोषो न च वागुणः ॥३२६॥
अलंकार कौस्तुभः, कविकर्णपूर, पृष्ठ ३४६

३. (क) अथ वाक्यदोषाः—हीनोपमादि वही, पृष्ठ ६१
(ख) यत्रोपमा भवेद्भिन्नवचना भिन्नलिंगका।
तद्भिन्नवचनं भिन्नलिंगं चाहुर्मनीषिणः ॥
प्रक्रान्तनियमत्यागे भग्नप्रक्रममुच्यते ॥
नंजराजयशोभूषणम्—नृसिंहकवि, पृष्ठ ६२०

४. छंद विरोधी पंगु गति, नग्न भूषण हीन।
मृतक कहावै अर्थ बिनु, केशव सुनहु प्रवीन ॥३-८॥
कविप्रिया—केशव, पृष्ठ २१

५. दोष जिते भूषनन के न्यारे कहे न जांहि।
जे दूषन पहले कहे, ताहीं मांझ समांहि ॥३-८॥
रसरहस्य—कुलपति मिश्र, पृष्ठ ८८

में उपमा-दोषों का विवेचन मम्मट के अनुसार किया है। सोमनाथ ने भी पृथक् रूप से अलंकार-दोषों का निरूपण नहीं किया, न ही इनके अन्तर्भाव के सम्बन्ध में किसी प्रकार की चर्चा की है। भिखारीदास ने 'काव्य-निर्णय' के २३वें, २४वें उल्लास में दोषों तथा उनके उद्धार का वर्णन किया है, परन्तु अलंकार-दोषों पर पृथक् नहीं लिखा। दोषोद्धार-वर्णन में एक स्थान पर दीपक, लाटानुप्रासादि—अनुप्रास, वीप्सा, पुनरुक्तवदाभास और विधि अलंकार में 'कथितपद' दोष के निवारण का विवेचन किया है। जैसे:—

दीपक, लाटा, बीप्सा, पुनरुक्तावद-भास।
विधि-भूषन में कथितपद गुन करि लेखा दास॥

अन्य उदाहरण:—ज्यों दरपन में पाइऐ तरनि-तेज ते आंच।
त्यों पृथ्वी-पति तेज ते- तरनि तपत वे सांच॥[1]

यहाँ 'तरनि' शब्द दो बार प्रयुक्त होकर दोषव्यापी नहीं, गुणवाची है।

जनराज का दोषप्रकरण साहित्यदर्पण के तथा जगतसिंह का दोष-विवेचन चन्द्रालोक के आधार पर लिखा गया है। रसिकगोविन्द ने दोष-प्रकरण के उदाहरण अपने से पूर्ववर्ती तथा समसामयिक कवियों के पद्यों के ही दिये हैं। प्रतापसाहि पूर्ववर्तियों से प्रभावित होते हुये भी शिथिल विवेचक हैं। ग्वाल कवि का 'दूषण-दर्पण' ग्रन्थ प्राप्त नहीं, अन्यथा उसमें रीतिकाल के कवियों के काव्य में दोष-विवेचन-सम्बन्धिनी प्रौढ़ सामग्री प्राप्त होती।

'कविवल्लभ-वचनिका' दोष-विवेचन की परम्परा में अपनी दृष्टि से समस्त संस्कृत एवं रीतिकालीन काव्यशास्त्र में एक अनूठा ग्रंथ है। केवल दोष-विषय पर दूसरा कोई ग्रंथ अब तक देखने में नहीं आया। समस्त दोषों का पांच अध्यायों में विभाजन किया गया है। इसका अन्तिम अध्याय अलंकार-दोषों से संबंधित है। इस ग्रन्थ के लेखक कवि हरिचरणदास ने रीतिकालीन कवियों के काव्य में पद, पदांश, अर्थ, वाक्य तथा रस सम्बन्धी दोषों का विस्तृत विवेचन किया है। इसमें अलंकार-दोषों का निरूपण भी है।[2] इसी पुस्तकालय में कवि निहाल का 'साहित्य-शिरोमणि' तथा कविवर अमीरदास का 'श्रीकृष्ण-साहित्य-सिन्धु' गुरुमुखी लिपि में लिखा काव्य-शास्त्रीय ग्रन्थ है। कवि निहाल का विवेचन मम्मट पर आधारित है और अमीरदास का विवेचन स्वतन्त्र है। अमीरदास ने अलंकार-दोषों को अलग नहीं कहा, पदादि दोषों में ही अन्तर्भूत माना है।

विभिन्न अलंकार-दोषों के लक्षण तथा उनके उदाहरण

कवि हरिचरण दास ने अलंकार-दोषों का वर्णन संस्कृत-काव्यशास्त्र के

१. काव्य-निर्णय—भिखारीदास, पृष्ठ ६७०

२. तनै रामधन सूरि को, हरि कवि किय मरु वास।
कवि वल्लभ ग्रंथहि रच्यौ, कविता दोष प्रकाश॥७६॥
कविवल्लभ वचनिका—हरिचरणदास (हरिनामकृत टीका)
पृष्ठ १०७

अनुरूप ही किया है। आचार्य मम्मट का प्रभाव रीतिकाल के आचार्यों पर है। इसी परम्परा में इन अलंकार-दोषों का विवेचन हुआ है।

जाति सु औरि प्रमाण ते, न्यून अधिकता दोष।
उपमा तें हरि कवि कहें, होत न रस की पोष ॥१४॥

कवि हरिचरणदास ने अलंकार-दोषों को रस-दोषों अन्तर्गत माना है। इनका विचार है कि यदि अलंकार-दोष पृथक् होते तो षट् प्रकार के दोष कहे जाते, केवल पांच प्रकार के दोष होने के कारण अलंकार-दोष भिन्न नहीं माने जाने चाहिएं।[1]

कवि हरिचरणदास ने दोषों के उदाहरण भी दिये हैं—जैसे—

उपमा में जाति तैं न्यूनता दोहराः—

कर गोधा बांधि ले धनुष बांधि कमर करवाल।
सत्रुनि को संग्राम में मारत ज्यों चंडाल ॥१५॥

वार्त्ता—इहां राजा की स्तुति करत चंडाल की उपमा दीनी, वहाँ उपमालंकार में जाति करि के दोष आये। चण्डाल नीचे जाति है, गोधा-दस्ताना कर-हाथ सौं बांधिकै और कमर में षंग बांधि के यह अर्थ।[2]

व्याख्या से स्पष्ट है कि राजा और चांडाल का जातिगतसमताप्रदर्शन उपमा में न्यूनता-दोष का परिचायक है।

उत्प्रेक्षा में अवाचकता दोष की विशद चर्चा कवि ने की है।

दोहराः—मूर्तिमान शृंगार जिमि तिय संग करत विहार।
सावन उकछावन न तुहि लागत चल कर धार ॥२५॥

वार्त्ता—उकछावन तो को दुःखदायक नहीं है। जो तैं मान कियो है। मूर्तिमान शृंगार यह उत्प्रेक्षित अर्थ है। संभावना की तहां जिमि वाचक दियोई तौ संभावना जाती रही। या ते अवाचकते को दोष प्रमान। मूरतवंत सिंगार समीप सिंगार किए मन सुन्दरताई, इहाँ उत्प्रेक्षावाचक मानो पद है ॥२५॥ जहां उत्प्रेक्षित अर्थ का समर्थन अर्थान्तरन्यास से होता है, वहां भी उत्प्रेक्षालंकार सदोष माना जाता है।[3]

अथ अनुप्रास विषै प्रसिद्ध विरुद्ध-दोष ॥

दोहराः—नास करैं सब त्रास कौ निरखि निसा कर भास।
हास विलास हुलास जुत रमें गनेस सुरास ॥३८॥

वार्त्ता—निसाकर चन्द्रमा के प्रकास को देख के गनेश जी रमे। रास कृष्ण देव की प्रसिद्ध है। गणेस की रासक्रीड़ा कोई प्रारम्भ में, काव्य में नहीं कही। सो

१. जो अलंकारदोष भिन्न होते तो षट् प्रकार के दोष कहते, सो अभिन्न जानत ही कहे।
कवि-वल्लभ-वचनिका—हरिचरणदास (हरिनामकृत टीका) पृष्ठ ६४-६५
२. कवि-वल्लभ-वचनिका—हरिचरणदास, (हरिनामकृत टीका) पृष्ठ ६५
३. कवि-वल्लभ-वचनिका—हरिचरणदास, (हरिनामकृत टीका) पृष्ठ ६७

प्रसिद्ध विरुद्ध-दोष यहां है ।[1]

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि दोष तथा अलंकार के सम्बन्ध में तथा अलंकार-दोषों को लेकर रीतिकाल के अंतिम समय के आचार्यों में पर्याप्त प्रौढ़ चर्चा हो रही थी, यद्यपि आधार संस्कृत का था, तथापि विवेचन भाषाकाव्य के उदाहरणों द्वारा हो रहा था । विवेचन भी मम्मट-पद्धति के समान व्याख्यायुक्त था ।

अलंकार में दोष की भावात्मक स्थिति

संस्कृत-आलोचना-शास्त्र में कई आचार्यों ने दोषों को अनित्य धर्म माना है । दोष कभी-कभी गुण भी बन जाते हैं और कभी गुण दोष का रूप ले लेते हैं । साहित्य में आलोचित काव्य-रचना-परक गुण-दोष की स्थिति लोकजीवन पर ही आश्रित है । लोक में ही व्यावहारिक जीवन में कभी-कभी दोष-गुण की स्थिति परस्पर परिवर्तित होकर अन्य का रूप ग्रहण कर लेती है ।

साहित्य-शास्त्र में इन रचना-सम्बन्धी दोषों के विवेचन के अतिरिक्त भी एक अन्य पक्ष पर विचार करना होगा कि कुछ अलंकारों का चमत्कार व्यावहारिक जीवन से सम्बद्ध दोषों पर ही आश्रित रहता है । इसमें अपह्नुति का चमत्कार सत्य को छिपाकर झूठ का आश्रय लेने में है । मिथ्या-कथन दोष ही है, परन्तु चमत्कावश यह अलंकार संज्ञाभाक् है उल्लास अलंकार में गुण से दोष और दोष से गुण-परिवर्तन में ही चमत्कार रहता है । लक्षण द्रष्टव्य है—

सो उल्लास गुण सो सुगुन होत दोष सों दोष ।
गुण सों दूषन दोष तें गुन, विधि चारि संतोष ॥३८०॥

उदाहरण—

ठाकुर कूर की संगति सों पहिले बसुधा बिच कूर कहावै ।
श्री रघुनाथ की सौंह सुनौ मन चाहै सदा धन हाथ न आवै ॥
फीको परे अति ही अंग को रंग है गुन जो सब सो बिसरावै ।
खोज करे न कोऊ हित मानुष ओज के दारिद रोज सतावै ॥३८२॥[2]

यहां दोष से दोष की चमत्कारक अभिव्यक्ति है । इसी प्रकार अवज्ञालंकार भी गुण के साथ ही दोष की स्थिति में सापेक्ष है । जैसेः—

अवज्ञा—गुण तें गुण जहां होत नहिं नहीं दोष तें दोष ।
कहत अवज्ञा सुकवि सब अलंकार रस पोष ॥३२८॥

उदाहरण—जाति नहीं प्रभुता रघुनाथ जो सेवरे मान्यो न देव धुनी कों ।
मोल घटै नहिं पामर पाइके जो कहूँ देत फेंकि चुनी कों ।
मैली परै नहिं कछु जो हंस्यो कोऊ पातकी देखि मुनी कों ।
ठाकुर कूर कियौ जो न आदर लागत है नहिं दोष गुनी कों ॥३९०॥[3]

१. कवि-वल्लभ-वचनिका—हरिचरणदास, (हरिनामकृत टीका) पृष्ठ ६८
२. रसिकमोहन—रघुनाथ, पृष्ठ ५९
३. रसिकमोहन—रघुनाथ, पृष्ठ ६०

उक्त उदाहरण दोष से दोष न होने की चमत्कारक अभिव्यक्ति के लिए अवज्ञा अलंकार का रूप लिए हुए है। इसी क्रम में लेश अलंकार में गुण-दोष के परिवर्तन की स्थिति पर ही चमत्कार आश्रित रहता है।

अतिशयोक्ति, मिथ्याध्यवसिति और अत्युक्ति भी लोक में यथार्थता की परिभूमि से ऊपर उठकर बात कहने में तो दोश ही हैं। अधिक नमक-मिर्च लगाना या बिना बात के बतंगड़ पैदा करना अतिशयता और अत्युक्ति का मूल है, परन्तु जहां बढ़ाचढ़ा कर बातें करना व्यावहारिक जीवन में दोष है तथा बिना आधार के ही बात बनाना और बेपर की उड़ाना दोष माना जाता है, वही अलंकार-क्षेत्र में जाकर अतिशयोक्ति और विभावना का रूप धारण कर लेता है। सत्य तो यह है कि दोष पर ही ये दोनों अलंकार टिके हुए हैं। इन लौकिक दोषों ने आलोचना-शास्त्र का सहारा लेकर गुणत्व-लाभ किया है, यहीं अलंकार का दोष को भी चमत्कृत करने का दायित्व स्पष्ट हो जाता है, जो अभिनंदनीय कदापि नहीं। व्याजनिन्दा एवं व्याज-स्तुति में दोष की ही प्रधानता है। व्याज से (व्याज भी दोष ही तो है) निन्दा की जाए अथवा निन्दा द्वारा स्तुति की जाए।

इस प्रकार उपर्युक्त अलंकार जीवन में दोषों की स्थिति का निरूपण करने के लिए काव्यशास्त्र में अपना महत्वपूर्ण योग दे पाए हैं।

आचार्य दण्डी ने निन्दोपमा और आचिख्यासोपमा में दोष की चर्चा की है।[1] इसी परिपाटी पर आचार्य केशवदास ने दूषणोपमा का निरूपण किया है। जहां उपमानों में दोष बता कर उपमेय की प्रशंसा की जाय, वहां दूषणोपमा मानी जाती है—

जहां दूषण गुण बरनिये, भूषण भाव दुराय।
भूषण उपमा होत तहं, बुधजन कहत बनाय ॥१५॥

उदाहरण—जो कहौं केशव सोम सरोज सुधा सुर भृंगन देह दहे हैं।
दाड़िम के फल शेफलि विद्रुम हाटक कौटिक कष्ट सहे हैं॥
कोक कपोत करी, अहि, केहरि कोकिल कीर कुचील कहे हैं।
अंग अनूपम वा प्रिय के उनकी उपमा कहं बेई रहे हैं ॥१६०॥[2]

इस प्रकार व्यावहारिक जीवन के दोष भी अलंकारों में रहकर चमत्कार-जनकता में सहायक सिद्ध होते हैं।

---

१. पद्मं बहुरजश्चन्द्रः क्षयी ताभ्यां तवाननम्।
समानमपि सोत्सेकमिति निन्दोपमा स्मृता ॥२-३०॥
चन्द्रेणत्वन्मुखं तुल्यमित्याचिख्यासु मे मनः।
स गुणो वास्तु दोषो वेत्याचिख्यासोपमां विदुः ॥२-३२॥
काव्यादर्शः—दण्डी, पृष्ठ ५४-५५

२. कविप्रिया—केशव, पृष्ठ २७६

रीति और अलंकार

रीति और अलंकार का सम्बन्ध शब्द एवं पदजाल से है। यद्यपि वैदर्भी-गौड़ीपांचाली रीति का सम्बन्ध प्रारम्भ में देश-विशेष से रहा और कालान्तर में वह काव्योन्मुख हो गया। उनमें गुणों का आधार आ गया और रीति सिद्धान्त-रूप से काव्य में आत्मतत्व का पद ग्रहण करने के लिए प्रयासवती हुई।

प्रदेश विशेष से रीति का सम्बन्ध मानने के युग में बाण ने 'हर्षचरित' में एक पद कहा, जो रीति के अलंकाराधार होने का स्पष्ट संकेत करता है—

श्लेष प्रायमुदीच्येषु-प्रतीच्येष्वर्थगौरवम् ।
उत्प्रेक्षा दाक्षिणात्येषु, गौड़ेष्वक्षरडम्बरः।।[1]

तात्पर्य यह है कि उदीच्यों में श्लेष की प्रधानता, प्रतीच्यों में अर्थगौरव, दाक्षिणात्यों में उत्प्रेक्षा और गौड़ी में अक्षराडम्बर की प्रधानता रही। श्लेषपद को लेकर साहित्य में यह विवाद चला है कि यहां श्लेष गुण है या अलंकार? साहित्यिक क्षेत्र के विवाद में तर्कसंगत बात कही जाए तो उदीच्यों के श्लेष का द्वितीय पदार्थ में उक्त दाक्षिणात्यों की उत्प्रेक्षा से सम्बन्ध है। उत्प्रेक्षा तो गुण नहीं, इसलिए श्लेष भी यहाँ गुण नहीं, अलंकार-रूप से ही है। भरत के बाद ही श्लेष-गुण अलंकार, क्षेत्र में अपने पांव धर चुका था। इसलिए बाण का अभिप्राय इस पद में श्लेषालंकार से है। बाण ने हर्षचरित में जो श्लेष-प्रयोग किया है, वह भी दृष्टि में रखने योग्य है।

भामह ने रीतियों के प्रदेशसम्बन्धी विचारों का विरोध किया, परन्तु वैदर्भी और गौड़ी रीति की परम्परा को अक्षत माना। आचार्य दण्डी ने रीति को भी अलंकारान्तर्गत माना और गोंड़ देशीय कवियों को गौड़ी रीति के प्रयोक्ता होने के कारण उनका अनुप्रास-प्रिय होना बताया। श्रुत्यनुप्रास उन्हें प्रिय नहीं रहा, वह वैदर्भी रीति के प्रयोक्ताओं के क्षेत्र में अधिक लोकप्रिय हुआ। गौड़ों की काव्य-पद्धति का विकास अलंकार-प्रियता या अलंकार के उत्कर्ष का अनुसरण करते हुए ही कहा है।[2]

आचार्य दण्डी ने गौड़ी रीति में अनुप्रास का वर्णन गुणों के प्रसंग में किया है, परन्तु सारी चर्चा अलंकारों की ही की है, जो यह सिद्ध करने के लिए पुष्ट प्रमाण है कि दण्डी तक अलंकार के क्षेत्र में ही रीति को भी माना जाता था और उसकी पृथक् सत्ता भी अलंकार-क्षेत्र के अन्तर्गत ही मानी जा रही थी।

---

१. हर्षचरित—बाण, पृष्ठ २

२. (क) अनुप्रासधिया गौड़ैस्तदिष्टं बन्धगौरवात् ।।४४।।
(ख) इतीदं नादृतं गौड़ैरनुप्रासस्तु तत्प्रियः ।
(ग) इत्यनालोच्य वैषम्यमर्थालंकाराडम्बरो ।
अवेक्षमाणा बवृधे पौरस्त्या काव्यपद्धतिः ।।५०।।
काव्यादर्शः—दण्डी, पृष्ठ २४,२६,२७

दण्डी के मत में रीति, मार्ग विशेष ही थी, परन्तु आचार्य वामन ने 'विशिष्टा पदरचना रीतिः' कहकर रीतिलक्षण किया, जिसमें विशिष्ट को 'विशेषो गुणात्मा' रूप में स्वीकार किया। विशेष का सम्बन्ध कान्ति तत्व से स्थापित कर उसे काव्यात्मा रस की पदवी पर लाया गया। रीति को काव्यात्मा मानने का आग्रह वामन का ही रहा। वामन तक अलंकारवादी काव्य में यही आत्मस्थान अलंकारों को दे चुके थे। इसलिए दोनों परस्परानुग्रही काव्यतत्व प्रतिद्वन्द्वी बन गए। रीति के इन लक्षणों की परम्परा आचार्य विश्वनाथ तक चलती रही और रीतिकाल में केशव से चिन्तामणि, कुलपति, देव, भिखारीदास, जगतसिंह, और अमीरदास तक की परम्परा में किसी आचार्य ने नवीन लक्षण नहीं दिया। देव की रस-रीति भी उसी घेरे में घिरी है। इससे संस्कृत के रीति-लक्षणों में रीति एवं अलंकार-सम्बन्ध पर विशेष प्रकाश पड़ सकता है—

(क) वामन—विशिष्टा पद-रचना रीतिः (विशिष्ट पद रचना रीति है)

(ख) आनन्दवर्धन—संघटना-स्वरूपमेव तावान्निरूप्यतेः—

असमासा, समासेन, मध्यमेन च भूषिता।
तथा दीर्घ्यसमासेति त्रिधा संघटनोदिता ॥५॥
गुणाश्रित्य तिष्ठन्ती, माधुर्यादीन् व्यनक्ति सा रसान्।

१. समास रहित, २. मध्यम (लघुसमानयुक्ता), ३. दीर्घसमासयुक्ता-संघटना तीन तरह की होती है। आनन्दवर्धन का कहना है कि कुछ आचार्य इस संघटना (रीति) को गुणाश्रिता मानते हैं।

(ग) राजशेखर—'वचन-विन्यास-क्रमो रीतिः' (वचन के विन्यास-क्रम का नाम रीति है।)

(घ) कुन्तक—'कवि-प्रस्थानहेतुः' (रीति कवि प्रस्थान-हेतु रीति है।)

(ङ) भोज—वैदर्भादिः कृतः पन्थाः काव्ये मार्ग इतिस्मृतः।
रीङ् गताविति धातोस्सा व्युत्पत्त्या रीतिरुच्यते ॥

(वैदर्भी आदि काव्य में मार्ग हैं, रीङ गतौ धातु से रीति की व्युत्पत्ति-सिद्धि है।)[1]

(च) आचार्य मम्मटः—एतास्तिस्रो वृत्तयो वामनादीनां मते वैदर्भी गौडीया पांचाल्याख्या रीतयो मताः। वृत्तिः—वृत्तिर्नियतवर्णगतो रस-विषयो व्यापारः।

---

१. (क) काव्यालंकारसूत्राणि—वामन, पृष्ठ ४
(ख) ध्वन्यालोकः—आनन्दवर्धन, पृष्ठ २२९,२३१
(ग) काव्य-मीमांसा—राजशेखर, पृष्ठ ९
(घ) वक्रोक्तिजीवितम्—कुन्तक, पृष्ठ ९८
(ङ) सरस्वती-कण्ठाभरणम्—भोज, पृष्ठ १४६
(च) काव्यप्रकाशः—मम्मट, पृष्ठ ४०४,४०६
(छ) साहित्य-दर्पणः—विश्वनाथ, पृष्ठ २७१

तीन वृत्तियां वामनादि के मत में वैदर्भी, गौड़ी, पांचाली नामक रीतियां कही जाती हैं। वृत्तिः—नियत वर्णों में रहने वाला रस-विषयक व्यापार वृत्ति है।)

(छ) आचार्य विश्वनाथ—पदसंघटनारीतिरंगसंस्था-विशेषवत्—उपकर्त्री रसादीनाम्।

(पदों की संघटना का नाम रीति है—यह अंग-संस्थान की भाँति है, तथा काव्य के आत्मस्वरूप रसादि की उपकारिका है।)[1]

इन लक्षणों पर क्रमशः विचार किया जाय तो वामन का रीति-लक्षण बाह्यधर्मी होते हुए भी रसपरक है क्योंकि उसमें विशिष्ट शब्द को कान्तिगुणसम्पन्न वामन ने ही माना है। आचार्य रुद्रट ने अनुप्रास का सम्बन्ध वृत्तियों में बताते हुए अनुप्रास की मधुरा, प्रौढ़ा, परुषा, ललिता और भद्रा वृत्तियों का निर्देश किया है। आनन्दवर्धन भी संघटन (रीति) को रसपरक ही मानते हैं। राजशेखर भी वामन के निकट रहे। कुन्तक तो रीति में हर शैली की बात कह गये। कवि-प्रस्थान-हेतु का सम्बन्ध कवि-स्वभाव से है। स्वभाव शैली का आधार है।

आचार्य भोज ने रीति और वृत्ति को शब्दालंकारों में गिना है।[2] परन्तु रीति को श्लेषादि गुणों से समन्वित माना है, श्लेषालंकार से नहीं (यद्यपि अब तक 'श्लेष' अलंकार के रूप में ही अधिक प्रसिद्धि पा चुका था)। भोज द्वारा रीति को शब्दालंकार मानना किस गतिका बोधक है—इस पर बल देकर कहने की आवश्यकता नहीं। अलंकारों का चारुत्व-हेतु होने तथा अभिव्यक्ति का प्रकार-विशेष होने की स्थिति-सीमा में रीति स्वतः प्रविष्ट हो गई, क्योंकि दोनों काव्य के बाह्य तत्व माने गये हैं। विचार-परिवर्तन एवं विकासक्रम में रीति दण्डी के काल में अलंकारान्तर्गत थी और दण्डी से प्रभावित भोज के काल में उसे पुनः वही स्थिति प्राप्त हो गई।

आचार्य मम्मट ने भी शब्दालंकारों के अनुप्रास-प्रसंग में वृत्ति-विवेचन की चर्चा में रीति का उल्लेख किया है। अनुप्रास के दो भेदों में एक वृत्त्यनुप्रास है। वृत्त्यनुप्रास के तीन भेद उपनागरिका, परुषा तथा कोमला—(ग्राम्या नाम भी इसी का है)[3] इन वृत्तियों के आधार पर किए गए हैं (उद्भट ने भी इन्हीं तीन वृत्तियों को अनुप्रास के अन्तर्गत उल्लिखित किया है।) आचार्य मम्मट ने आचार्य उद्भट के

---

१. मधुराप्रौढ़ा परुषाललिताभद्रेति वृत्तय पंच।
वर्णानां नानात्वादस्येति यथार्थनामफलाः ॥२-१९॥
काव्यालंकारः—रुद्रट, अध्याय २, पृष्ठ १७

२. जातिर्गतिरीतिवृत्तिच्छायामुद्रोक्तियुक्तयः।
भणितिर्गुम्फना शय्या पठितिर्यमकानि च ॥२-३॥
सरस्वतीकंठाभरणम्—भोज, पृष्ठ १४०

३. तामेव केचिद् ग्राम्येति वदन्ति।
काव्यप्रकाशः—मम्मट, पृष्ठ ४०६

मत का समर्थन किया और अनुप्रास शब्दालंकार को रीति-वृत्ति से समन्वित कर दिया। वृति का अर्थ 'वर्तन' होने से 'वर्त्यते अनया सा वृत्तिः' यह व्युत्पत्ति होगी। फलतः वह काव्य-रचना का अनुपेक्षणीय आधार सिद्ध हो जाती है, उसकी उपेक्षा से रस, गुण और अलंकार किसी की भी योजना सम्भव नहीं, जब कि अलंकार अनिवार्य तत्व नहीं माना जाता। आचार्य विश्वनाथ ने रीति को रस-उपकर्त्री और अलंकारों को रस के उपकारक तत्व माना है। इस तरह आचार्य विश्वनाथ ने रीति और अलंकार को रस के प्रति उपकारक तत्व मान कर एक ही स्तर पर ला खड़ा किया और दोनों को एक ही स्तर का माना है।

इन मान्यताओं अथवा सिद्धान्तों के निरीक्षण एवं विवेचन से यह मानना अनिवार्य हो जाता है कि संस्कृत-साहित्य-शास्त्र में रीति एवं अलंकार के काव्यगत स्थान के सम्बन्ध में विचार-परिवर्तन का क्रम चलता रहा। 'काव्यात्मा' का वामनप्रदत्त स्थान तो परवर्ती काल में रीति को न मिल सका, परन्तु बाह्य तत्व की स्थिति से वह पदच्युत न हो पाई। रीति-वृत्ति को एक मान लेने के अनन्तर तो रीति और अलंकार दो सहोदर बहिन-भाई की भाँति काव्य-परिवार में जीने लगे, काव्य-जीवन में रसात्मकता के उपकारक भी बन गए।

रीतिकाल में आचार्य देव ने शब्दालंकार-प्रसंग में रीति को रसद्वार माना है। इन १२ रीतियों में अनुप्रास और यमक की छटा रीतिकालीन प्रवृत्ति के अनुसार देव ने छटायित मानी है।[1] शेष आचार्य केवल रीति-भेद वर्णन कर गए हैं। अलंकार और रीति के सम्बन्ध पर किसी ने चर्चा नहीं की है। साधारणतः चिन्तामणि, भिखारीदास ने भी यही कहा है।

दण्डी के युग से अलंकार काव्य के शोभाकारक धर्म बने और रीति, वृत्ति आदि सभी अलंकार-सीमा में रहे। वामन के काल में रीति का विशद् विवेचन हुआ परन्तु अलंकार भी साथ ही समन्वित रहे तब भी यह प्रश्न विचारणीय हुआ कि शब्द और अर्थ का कौन सा प्रयोग रीति माना जाये और कौन सा अलंकार? रीति ऐसी रचना है, जो अपनी वर्ण-योजना, समस्तपदों का प्रयोग, उचित अर्थवान् शब्दों के गुम्फन तथा भाव एवं विचारों के क्रम-बन्धन से मनःप्रसादन करती है और अलंकार रचना में परिस्फुट सौन्दर्याधायक तत्व है।

डा० नगेन्द्र ने रीति और अलंकार के सम्बन्ध में अपना मत देते हुए कहा है कि रीति वस्तुगत शैली का पर्याय है और अलंकार उक्ति चमत्कार का अथवा शब्द-

---

१. (क) ताते पहले बरनिये काव्य द्वार रस रीति।
अनुप्रास अरु यमक कहि है सनाथ कवि रीति॥
(ख) अनुप्रास अरु यमक जुत, अद्भुत बारह भाँति।
इन्हें अछत नीको लगे, अलंकार की पांति॥
(ग) या ते द्वादस रीति रस, कवि बरनत करि प्रीति।
शब्द-रसायन—देव, पृष्ठ ७१, ७२, ८५

अर्थ के प्रसाधन का हेतु है। अलंकार और रीति के परस्पर सम्बन्ध पर भी डा० नगेन्द्र ने अपना निष्कर्ष दिया है कि रीति का क्षेत्र व्यापक है...अलंकार रीति का अंग है और अलंकार-सिद्धान्त की अपेक्षा रीति में व्यक्ति या आत्म-तत्त्व की अधिकता है।[१]

डा० नगेन्द्र का यह मत उस दशा में स्वीकार्य है, जब कि रीति को शैली का रूप मान लिया जाय। रीति के प्रादेशिक, ऐतिहासिक, गुणाश्रित विकास में तो शैली की परम्परा ज्ञात होती है परन्तु अलंकारों का जिस विधि से रीति के साथ सम्बन्ध साहित्यशास्त्र में चला है, वह यह निष्कर्ष प्रस्तुत करता है कि दोनों रसोपकारक तत्त्व हैं।

रीति का स्थान रसवादियों ने अवयवसंस्थान-विशेष की भाँति स्वीकार किया है। उसके अनुसार शरीर की आकर्षक बनावट के समान ही काव्य में पदों के चमत्कारक ढंग से विन्यास को ही रीति माना जा सकता है। फलतः काव्य के शरीर रूप से स्वीकृत शब्द और अर्थ में बाह्य रूप शब्द से ही उनका सम्बन्ध सिद्ध होता है। जिन अलंकारों में अर्थ की उपेक्षा के साथ शब्द-विन्यास-मात्र से चमत्कार आता है, उन से तो रीति का प्रत्यक्ष सम्बन्ध है परन्तु जहाँ शुद्ध अर्थगत चमत्कार है, वहाँ रीति कोई प्रभाव नहीं डालती। यह बात अवश्य है कि गुणों के साथ रीति का चोली-दामन का सा अपरिहार्य सम्बन्ध है। ध्वनिकार ने रीति और गुणों को परस्पराश्रित बताया है—

गुणाश्रया संघटना, संघटनाश्रया वा गुणाः।[२]

नव्य आचार्यों ने अर्थ-गुण स्वतन्त्र रूप से स्वीकार नहीं किये, परन्तु अर्थालंकारों का सम्बन्ध अर्थ-चमत्कार से है। रीति का सम्बन्ध उन गुणों से हो जाने से अप्रत्यक्ष भाव से अर्थालंकारों से भी बन जाता है। इसके साथ ही एक तथ्य यह भी प्रकाश में आता है कि उपर्युक्त विश्लेषण से अर्थालंकार काव्य-शरीर के मात्र ऊपरी धर्म न रह कर आन्तरिक धर्म बन जाते हैं। इस प्रकार उनका प्रत्यक्ष भाव से रीति की अपेक्षा महत्त्व उभर आता है।

वामन का 'रीतिरात्मा काव्यस्य' (काव्य की आत्मा रीति) देहात्मवादियों की भांति काव्य के शारीरिक महत्व को आधार बना कर ही है क्योंकि तब रस की आत्मभाव से सत्ता ही नहीं थी।

रस और अलंकार

ध्वनि-सम्प्रदाय की सम्यक् संस्थापना से पूर्व भी रस और अलंकार के संबंध में चर्चा थी। अलंकारवादियों का साहित्यशास्त्र के क्षेत्र में प्रभुत्व होते हुए भी रस के प्रति अनास्था किसी आलंकारिक की नहीं थी। आचार्य भरत ने अलंकार, गुण तथा दोषों की विवेचना के अनन्तर रसों में विशिष्ट अलंकारों के प्रयोग का विधान

१. भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका—डा० नगेन्द्र, पृष्ठ १७१
२. ध्वन्यालोकः—आनन्दवर्धन, पृष्ठ २३२

भी कर दिया था। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि अलंकारों का रसोत्कर्ष के लिए प्रयोग किया जाता रहा। उपमा और रूपक को वीर, रौद्र और अद्‌भुत रस में आश्रय मिलना आवश्यक है। शृंगार रस में रूपक तथा दीपक का प्रयोग सुखकर होता है।[1]

आचार्य दण्डी ने रस और अलंकार के सम्बन्ध में अपनी धारणा अलंकार-वादी होते हुए भी रसवादियों जैसी प्रकट की है। दण्डी ने कहा है कि यद्यपि सभी अलंकार (शब्दालंकार-अर्थालंकार-उभयालंकार) अर्थ में रस का ही संचार करते हैं, तथापि ग्राम्यता-दोष का अभाव ही इस भार को वहन करता है।[2] इस प्रकार अलंकार के रस के प्रति उपयोगी होने का तथ्य आचार्य दण्डी ने प्रबल शब्दों में समर्थित किया है।

ध्वनि और अलंकार

ध्वनि-सम्प्रदाय के आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वनि के तीन भेद माने। वस्तु-ध्वनि, अलंकारध्वनि तथा रसध्वनि उन्होंने ध्वनि शब्द का सम्बन्ध रस से जोड़ दिया है। रस की अलौकिकता ध्वनि-कार से पूर्व भी विद्यमान थी। आचार्य आनन्दवर्धन ने उसमें ऐसा स्थायित्व ला दिया कि अब तक रसवादी मत ही अपनी प्रधानता लिए हुए है। वक्रोक्तिवाद तथा अनुमितिवाद (महिमभट्ट) भी इस रसध्वनि की जड़ें न हिला पाए। मीमांसक-अभिधावादियों की तो शक्ति ही क्या थी?

ध्वनि और व्यंजना में अन्तर

रसध्वनि पर विचार करने से पूर्व ध्वनि एवं व्यंजना में अन्तर स्पष्ट करना अनिवार्य है। वैयाकरणों के सिद्धान्तानुसार ध्वनि वह अखण्ड तथा नित्य शब्द है जो स्फोट (शब्दब्रह्म) को व्यक्त करता है। इसी आधार पर व्यंजनाशक्ति के द्वारा प्रतीयमान अर्थ को द्योतित कराने वाला काव्य साहित्यशास्त्र में ध्वनि नाम से अभि-हित किया जाता है। ध्वनि-सम्प्रदाय में आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वनि-काव्य उसे माना है, जहाँ शब्द तथा अर्थ अपने आपको तथा अपने अर्थ को गौण बना देते हैं और

---

१. एवमेते ह्यलंकारा गुणा दोषाश्च कीर्तिताः।
प्रयोगमेषां च पुनर्वक्ष्यामि रससंश्रयम् ॥१६-१०९॥
लघ्वक्षरप्रायकृतेमुपमारूपकाश्रयम्।
काव्यं कार्यं तु काव्यज्ञैर्वीररौद्राद्‌भुताश्रयम् ॥१६-११०॥
रूपक-दीपक-संयुक्तं नार्यावृत्तसमाश्रयम्।
शृंगारे तु रसे कार्यं काव्यं स्यान्नाटकाश्रयम् ॥१६-११२॥
नाट्यशास्त्रम्—भरत, पृष्ठ २६७

२. काव्यं सर्वोऽप्यलंकारो रसमर्थे निषिंचति।
तथाप्यग्राम्यतैवेनं भारं वहति भूयसा ॥६२॥
काव्यादर्शः—दण्डी, पृष्ठ ३०

विशेष प्रतीयमान अर्थ को व्यक्त करते हैं।[1] व्यंजना एक शब्द-शक्ति है, ध्वनिकाव्य के लिए कार्य करती है यद्यपि अभिनवगुप्त ने ध्वनि शब्द का प्रयोग व्यंजना के लिए भी किया है,[2] तथापि प्रायः इस शब्द (ध्वनि) का व्यवहार व्यंग्य-प्रधान काव्य के लिए ही होता रहा है।

इसी ध्वनिकाव्य में रसध्वनि की चर्चा सर्वाधिक एवं सर्वोत्तम मानी जाती है। काव्य के मम्मट-मतानुसार उत्तम, मध्यम या पंडितराज जगन्नाथ के मताधीन उत्तमोत्तम, उत्तम और मध्यम काव्य-भेदों में ध्वनि का स्थान रहता है यद्यपि गुणीभूत व्यंग्य (मध्यम) काव्य में ध्वनि की प्रधानता बलवती नहीं मानी जाती है।

रसध्वनि और अलंकार

ध्वनि-सम्प्रदाय की संस्थापना से पूर्ववर्ती आचार्यों ने समासोक्ति, आक्षेप, अनुक्तनिमित्ता-विशेषोक्ति, पर्यायोक्ति, अपह्नुति, दीपक, संकरादि अलंकारों में ही ध्वनि को अन्तर्भूत करने की चेष्टा की, परन्तु आनन्दवर्धन ने इनमें गम्यार्थ स्वीकार करते हुए भी वाच्यार्थ की प्रधानता ही मानी। उन्होंने ध्वनि का विषय वहाँ माना, जहाँ अर्थ तथा शब्द अपने अर्थ को गुणीभूत करके अर्थान्तर की अभिव्यक्ति करें। ध्वनि-व्यंग्यार्थ की प्रधानता में होती है, परन्तु अलंकारों में तो वाच्य की प्रधानता रहती है।[3] इस प्रकार अलंकारवादियों का खण्डन करने पर भी वे अलंकार-ध्वनि से अपना पिण्ड न छुड़ा पाए (अलंकार-ध्वनि का विवेचन व्यंजना-प्रसंग में आ चुका है) और व्यंजनाश्रित ध्वनि-काव्य में अलंकारों की स्थिति मानने को बाध्य हुए। चाहे इन अलंकारों को उन्होंने वाच्य-वाचक-चारुत्व-हेतु ही माना है।

रसध्वनि के प्रसंग में आचार्य आनन्दवर्धन ने रसवदादि अलंकार-भेदों तथा अलंकारों की ग्राह्यताग्राह्यता की विवेचना की है। आनन्दवर्धन ने विवक्षितवाच्य (अभिधामूला) ध्वनि को असंलक्ष्यक्रम तथा संलक्षितक्रम से द्विविधा माना है। इसी प्रसंग में रस की व्यंग्यात्मकता की चर्चा करते हुए कहा गया है कि रसादि व्यंग्य भी अप्रधान होने पर ध्वनि नहीं कहला सकते। किसी अंगी के अंग बनने पर वे रस-

१. यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यंक्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ॥१-१३॥
ध्वन्यालोकः—आनन्दवर्धन, पृष्ठ ५३

२. एतदुक्तं भवति-ध्वनतीति वा ध्वन्यत इति वा ध्वननमिति वा।
ध्वन्यालोकः—आनन्दवर्धन (लोचन टीका) पृष्ठ ३१

३. परिकरश्लोकश्चात्र—(क) व्यंग्य व्यंजकसम्बन्ध निबन्धनतयाध्वनेः।
वाच्यवाचकचारुत्वहेत्वन्तः पातितः कुतः ॥
(ख) पर्यायोक्तेऽपि यदि प्राधान्येन व्यंग्यत्वं तद् भवतु नाम तस्य
ध्वनावन्तर्भावः। न तु ध्वनेस्तत्रान्तर्भावः ॥
ध्वन्यालोकः—आनन्दवर्धन, पृष्ठ ५५-६५

वदादि अलंकार कहलाते हैं। इससे आनन्दवर्धन द्वारा रसवदादि की अलंकारता गृहीत है। अलंकारवादी भामह-दण्डी आदि ने भी इसी रीति से अलंकारों के अन्तर्गत रस को लाने की चेष्टा की थी, परन्तु आनन्दवर्धन ने अप्रधानता के कारण रसवदादि की अलंकारता मान ली। कहने का तात्पर्य यह है कि अलंकार का प्रभुत्व ध्वनि-सम्प्रदाय पर भी इतना था कि प्राचीनों की स्थापनाएँ शब्दान्तर से स्वीकृत होती गईं।[१] स्पष्टतः इस प्रकार माना जा सकता है कि जहाँ रस किसी रस का अंग हो, वहाँ रसवदलंकार, यदि भाव अन्य का अंग हो तो प्रेयोऽलंकार, रसाभास तथा भावाभास के अंग बनने पर ऊर्जस्वि और भावशान्ति, भावोदय, भावशबलतादि की अंगता होने पर समाहित अलंकार बन जाता है। यद्यपि भावोदय, भावशान्ति भावशबलतादि को भी पृथक् रूप से अलंकार-कोटि प्राप्त है।

रसध्वनि-विषय की चर्चा पुनः पुनः आनन्दवर्धन को करनी पड़ी, क्योंकि बार-बार अलंकार उनके मार्ग में आते थे। इस प्रसंग में यह कहा गया है कि वाच्य (अर्थ) एवं वाचक (शब्द) तथा उनके चारुत्व-हेतु (शब्दार्थालंकार) रसादि के अंग रहें, वहाँ ही ध्वनि-काव्य होता है। और सिद्धान्त-स्थापना के रूप में कहा गया है कि जिस काव्य में प्रधानता से कोई अपरार्थ (रस या वस्तु अथवा अलंकार) वाच्यार्थ हो, उस प्रधान वाच्यार्थ के अंगभूत रसादि को रसादिअलंकार (रसवत्-प्रेयस्-ऊर्जस्वि-समाहित) का विषय माना जाता है। जैसे चाटुकारिता में प्रेयोऽलंकार के मुख्य रूप से वाक्यार्थ होने पर भी रसादि अंग रूप में दिखाई देते हैं। इन रसादि अलंकारों को शुद्ध और संकीर्ण भेद से भी दर्शाया गया।[२] यह भी माना है कि रस-भाव आदि तात्पर्य से अलंकारों की स्थिति ही सब अलंकारों के चारुत्व-हेतुत्व (अलंकारत्व) का साधक है।

रसवदादि तथा उपमादि अलंकारों को लेकर चेतन-अचेतन के भेद की एक विवादास्पद समस्या 'ध्वन्यालोक' में उठाई गई है। चेतन के वर्णन में रसवदादि अलंकार तथा अचेतन के वाक्यार्थीभूत होने पर उपमादि अलंकार की स्थिति उत्पन्न होने पर आनन्दवर्धन ने वही मान्यता दुहराई है कि किसी रस के अलंकार्य तथा किसी दूसरे रस के अंग होने पर रसवदलंकार होते हैं और रस के अलंकार्य और किसी दूसरे रस के अंगभूत न होने पर वहां उपमादि अलंकार होते हैं। आनन्दवर्धन का यह समाधान उपयुक्त है, इससे अलंकार की रसपरक काव्य में स्थिति सुदृढ़ होती है।

---

१. ध्वन्यालोकः—आनन्दवर्धन, पृष्ठ १७५

२. (क) प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे यत्रांग तु रसादयः।
काव्ये तस्मिन्नलंकारो रसादिरिति मे मतिः ॥२-५॥

(ख) तद् यथा चाटुषु प्रेयोऽलंकारस्य वाक्यार्थत्वेऽपि रसादयोऽङ्गभूता दृश्यन्ते ॥
स च रसादिलंकारः शुद्धः संकीर्णोवा ॥

ध्वन्यालोकः—आनन्दवर्धन, पृष्ठ ११६-१२०

आनन्दवर्धन ने रसों में अलंकारों के प्रयोग के सम्बन्ध में भी अपनी धारणाएं व्यक्त की हैं। आचार्य भरत की परम्परा का निर्वाह आनन्दवर्धन ने भी किया। इन्होंने कहा है कि वियोग श्रृंगार रस में किसी प्रकार से भी अनुप्रास का प्रयोग नहीं करना चाहिए। श्रृंगार के प्रभेदों में एकाकार रूप से निरन्तर निबद्ध अनुप्रासालंकार रस की अभिव्यक्ति करने में समर्थ नहीं होता, परन्तु गुणीभूत श्रृंगार में अनुप्रास की रचना रखी जा सकती है और यमक, श्लेष (सभंग श्लेष भी) आदि का प्रयोग तो ध्वनि के आत्मभूत श्रृंगार (विशेषत: वियोग श्रृंगार) में वर्जित कहा है। आचार्य आनन्दवर्धन का कथन है कि यदि विप्रलम्भ श्रृंगार में कवि यमक अथवा श्लेष जैसे दुष्कर शब्दों वाले अलंकारों का प्रयोग करता है तो यह शक्तिशाली कवि का प्रमाद ही माना जाना चाहिए। प्रमाद के अतिरिक्त यह है ही क्या? प्रमाद से भी विशिष्ट तात्पर्य की ओर इंगित किया गया है। वह यह कि काकतालीय न्याय से कभी किसी एक यमकादि की रचना हो जाने पर भी अन्य अलंकारों के समान बाहुल्य से रसांग रूप में उनकी रचना विप्रलम्भ में विशेषतया नहीं होनी चाहिए। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि ध्वनिकार यमक का प्रतिषेध विप्रलम्भ में नियम से करना चाहते हैं।[१]

रसध्वनि में अलंकारों का सहज प्रयोग

आचार्य आनन्दवर्धन ने रसध्वनि में अलंकारों के समावेश के लिए मनोवैज्ञानिक विधि का आश्रय लिया है। उन्होंने कहा है कि रसध्वनि में रस से आक्षिप्त, बिना पृथक् यत्न किए अलंकार का निबंधन स्वतः हो जाए तो वह अलंकार असंलक्ष्य-क्रम व्यंग्य ध्वनि में मान्य है। अर्थात् ध्वनिकार रसनिष्पत्ति में अनायास आ बैठने वाले अलंकारों का स्वागत करते हैं। उन्हें ऐसे अलंकारों से कोई विरोध नहीं जो स्वतः प्रवर्तित हो जाएं, जिन्हें खींचतान कर बिठाने की आवश्यकता कवि को प्रतीत न हो।

ध्वनि के आत्मभूत श्रृंगार की अभिव्यक्ति करने वाले अलंकारों का विवेचन भी आनन्दवर्धन ने किया है। इस सम्बन्ध में कहा गया है कि अलंकार बाह्यचारुत्व-हेतु होने के कारण लौकिक अलंकारों के समान अनन्त हैं, परन्तु यदि उनका प्रयोग समीक्षण-पुरस्सर किया जाए तो असंलक्ष्य-क्रम-व्यंग्य ध्वनि के लिए वे सब अलंकार

---

१. (क) श्रृंगारस्यांगिनो यत्नादेकरूपानुबन्धनात् ।
सर्वेषु प्रभेदेषु नानुप्रासः प्रकाशकः ॥२-१४॥

(क) ध्वन्यात्मभूते श्रृंगारे यमकादिनिबन्धनम् ।
शक्तावपि प्रमादित्वं विप्रलम्भे विशेषतः ॥२-१५॥

तस्मिन् यमकादीनां यमकप्रकाराणां निबंधनं दुष्करशब्दभंगश्लेषादीनां शक्तावपि प्रमादित्वम् । ध्वन्यालोक:—आनन्दवर्धन, पृष्ठ १४३

चारुत्वहेतु सिद्ध हो जाते हैं।[1]

अलंकारों के समीक्षापूर्वक प्रयोग की ओर भी ध्वन्यालोककार का ध्यान था, इसलिए रूपकादि अलंकार-वर्ग का रस में अंगरूप से प्रयोग करने के लिए विशिष्ट नियमों का संकेत भी उन्होंने किया है। उनका कहना है कि रूपकादि अलंकारों की विवक्षा रस को प्रधान स्थान देकर ही होनी चाहिए। अंगी (प्रधान) रूप से कभी भी इन अलंकारों को स्थान नहीं मिले। उचित समय पर अलंकार विशेष का ग्रहण अथवा त्याग हो जाना ही चाहिए। पद्य में प्रारम्भ से लेकर अन्त तक अलंकार के निर्वाह की इच्छा कदापि नहीं रहे। यदि कहीं अनजाने में आद्यन्त निर्वाह हो भी जाए तो भी कुशल कवि को उसे पुनः देख लेना चाहिए कि कहीं अलंकार ने प्रधानता तो नहीं ले ली। इस प्रकार रूपकादि अलंकारवर्ग का रस को प्रधान रखकर अंगत्व साधन करना चाहिए। ऐसे नियमों का बन्धन आनन्दवर्धन ने केवल रस-ध्वनि को प्रधान रखने के लिए ही लगाया है। अलंकार इस विधि में तो कहीं अंगी बन ही न पाएगा, परन्तु प्रश्न यह है कि रस जिनके बल पर प्रधान बनता है, उनको बाह्य क्यों माना जाता है ? इस दशा में उन अलंकारों को भी आन्तरिक तत्व ही मानना चाहिए, क्योंकि ऐसी स्थिति में उपमा-रूपकादि अलंकारों के बल पर ही रसानुभूति तीव्ररूप से होती है। अलंकार जब बाधक नहीं है तो बाह्य रूप से अंग मानने की कोई तुक नहीं है। यह तो अलंकार-शास्त्र में हठधर्मिता है कि लौकिक स्वर्णादि धातुओं से निर्मित अलंकारों के समान ही काव्यगत-अलंकारों की स्थिति स्वीकार कर ली गई है। शब्दालंकारों में यह कथन लागू भी कर लिया जाए, (यद्यपि वहां भी नाद एवं अर्थ ही शक्ति रखता है।) परन्तु अर्थालंकारों के विषय में अलंकारों को काव्य का आन्तरिक रसोत्कर्षकारी या रसोपकारकारी तत्व मानने में गुणपरक व्यामोह नहीं होना चाहिए।

असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि में अलंकार-स्थिति पर अपना मत देने के अनन्तर ध्वनिकार ने संलक्ष्यक्रमव्यंग्य की चर्चा की है। इसके शब्दशक्त्युद्भव एवं अर्थ-शक्त्युद्भव दो भेद होते हैं। शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि में भी आक्षेप-सामर्थ्य से ही शब्दशक्ति द्वारा अलंकार-प्रतीति होती है। अलंकार इस ध्वनिभेद में शब्द से अनुक्त ही रहता है।[2] यदि ऐसा न माना जाएगा तो श्लेषालंकार के लिए काव्य-

---

१. (क) रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धः शक्यक्रियो भवेत्।
अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यः सोऽलंकारो ध्वनौ मतः ॥२-१६॥
(ख) ध्वन्यात्मभूते शृंगारे समीक्ष्य विनिवेशितः।
रूपकादिरलंकारवर्ग एति यथार्थताम् ॥२-१७॥
ध्वन्यालोकः—आनन्दवर्धन, पृष्ठ १४५, १५०

२. आक्षिप्त एवालंकारः शब्दशक्त्या प्रकाशते।
यस्मिन्ननुक्तः शब्देन शब्दशक्त्युद्भवो हि सः ॥२-२१॥
ध्वन्यालोकः—आनन्दवर्धन, पृष्ठ १६३

विषय ही न रहेगा। श्लेषालंकार का आक्षेप ध्वनिकार ने अभिधाशक्ति से माना है, जो द्व्यर्थक और प्राकरणिक होना चाहिए।

आक्षिप्त होने पर भी, जहां वह अलंकार अन्य शब्द से अभिहितरूप बन जाता है, वहां शब्दशक्त्युद्भव संलक्ष्यक्रमध्वनि व्यवहृत नहीं होती, वहां वक्रोक्ति आदि वाच्य अलंकार का ही व्यवहार होता है।[1]

ध्वनिकार ने शब्दशक्त्युद्भव के अनन्तर अर्थशक्त्युद्भव संलक्ष्यक्रमव्यंग्य का निरूपण किया है। नवीन आचार्यों ने उसके स्वतःसंभवी, कविप्रौढ़ोक्तिसिद्ध और तन्निबद्धवक्तृप्रौढ़ोक्तिसिद्ध - ये तीन भेद और पुनः प्रत्येक के वस्तु से वस्तु, वस्तु से अलंकार, अलंकार से वस्तु एवं अलंकार से अलंकार-व्यंग्य—ये चार भेद किए हैं। ये कुल मिलाकर १२ भेद बन जाते हैं। आर्थी व्यंजना का इनसे पूर्ण समन्वय-परक सम्बन्ध है। इस अर्थशक्त्युद्भव संलक्ष्यक्रम-व्यंग्य में अर्थ शब्दव्यापार के बिना ही अपने सामर्थ्य से अन्यार्थ की अभिव्यक्ति करता है।

आचार्य भिखारीदास का मत

रीतिकाल में चिन्तामणि, आचार्य भिखारीदास आदि ने इन सभी भेदों का उदाहरणसहित निरूपण किया है। इनमें से आचार्य दास का विवेचन निम्नलिखित है। यथा—

स्वतः संभवी वस्तु से अलंकार-व्यंग्य—

सखि तेरौ प्यारौ चलौ, दिन न्यारौ ह्वै जात।
मो ते नहिं बलवीर कौ, पल बिलगान सुहात॥[2]

यहां पर स्वाधीनपतिका नायिका अपनी बड़ी बातें बनाती है। इस प्रकार वस्तु से व्यतिरेकालंकार व्यंग्य है।

स्वतःसंभवी अलंकार से वस्तु व्यंग्य—

गिलि गए सेंदन जहां ई तहां छिलि गए।
मिलि गए चंदन भिरोहें इहि भाइ सों।
गाढ़े ह्वै रहे-ई-सहि सनमुख तुकांन-लीक,
लोहित लिलार लागी छींटे करि धाइ सों॥
श्रीमुख-प्रकास तंन 'दास' रीति साधुन की,
अज-हुं लों लोचन तंमीले रिसताइ सों।
सोहै सब अंग सुख-पुलक सुहाए हरि,
आए जीति संभर संभर महाराइ सों॥

---

१. स चाक्षिप्तोऽलंकारो यत्र पुनः शब्दान्तरेणाभिहितस्वरूपस्तत्र (न) शब्दशक्त्युद्भवानुरणनरूपव्यंग्यध्वनिव्यवहारः ॥ तत्र वक्रोक्त्यादिवाच्यालंकारव्यवहार एव। ध्वन्यालोकः—आनन्दवर्धन, पृष्ठ १६६

२. काव्य-निर्णय—भिखारीदास, पृष्ठ १२५

यहाँ खंडिता नायिका रूपक और उत्प्रेक्षालंकार के द्वारा नायक का अपराध प्रकट करती है। इसलिए यहां अलंकार से वस्तु व्यंग्य है।

स्वत: सम्भवी अलंकार से अलंकार व्यंग्य—

पातक तजि सब जगत कौ मो में रह्यौ समाइ।
राम तिहारे नांम कौ इहां न कछु बसियाइ।।

किसी भक्त का कथन है कि मुझमें सारे जगत के पाप ढिंढोरा पीट-पीटकर रह रहे हैं। यहां परिसंख्यालंकार है (परिसंख्या वहां होता है, जब किसी वस्तु को अन्य स्थानों से हटाकर किसी एक स्थान पर नियुक्त कर दिया जाता है।) और (भगवान्) तुम्हारा नाम समर्थ है, परन्तु यहाँ उसकी कुछ भी शक्ति नहीं चलती है—यह विशेषोक्ति अलंकार व्यंग्य है। (विशेषोक्ति अलंकार वहाँ होता है, जहां कारण उपस्थित रहने पर भी कार्य की उत्पत्ति नहीं होती) और इसके अनन्तर 'मैं ही सबसे बड़ा पापी हूं'—ऐसा होने पर व्यतिरेकालंकार है। इस प्रकार यहां स्वत: संभवी अलंकार से अलंकार-व्यंग्य है।

कवि-प्रौढ़ोक्ति-वस्तु से अलंकार-व्यंग्य—

निज गुमान दै मान कों, धीरज करि हिय थाप।
सु तौ स्याम छवि देखतहिं पैहलें भाज्यौ आप।।

यहाँ नायिका को बिना मनाए ही मान छूट जाने से विभावना है। यहाँ वस्तु से अलंकार-व्यंग्य है।

प्रौढ़ोक्ति द्वारा अलंकार से वस्तु-व्यंग्य—

कहा ललाई लै रहीं अंखियां वे मरजाद।
लाल, भाल-नख-चंद कछु, दीन्हों इन्हें प्रसाद।।

यहाँ रूपकालंकार द्वारा यह कहा गया है कि तुम (नायक) परस्त्री के यहाँ रहे हो। यहाँ अलंकार से वस्तु व्यंग्य है।

प्रौढ़ोक्ति द्वारा अलंकार से अलंकार-व्यंग्य—

मेरो हियौ परवांन है तिय-दृग तींछन बान।
फिरि फिरि लागत ही रहें, उठे वियोग कृसान।।[1]

यहाँ रूपकालंकार से समालंकार व्यंग्य है। अत: यहाँ अलंकार से अलंकार व्यंग्य है।

इस प्रकार अर्थशक्त्युद्भव संलक्ष्य-क्रम-व्यंग्य ध्वनि में अलंकारों का निरूपण हिन्दी-काव्यशास्त्र में भी हुआ है।

ध्वन्यालोककार ने अलंकार तथा रसध्वनि के सम्बन्ध में अन्ततः एक धारणा व्यक्त की है कि अलंकारों की ध्वन्यंगता व्यंजक तथा व्यंग्य रूप से (दो प्रकार की) हो सकती है। अलंकारों के व्यंग्य होने की अवस्था में भी प्राधान्य विवक्षा होने से

१. काव्य-निर्णय—भिखारीदास, पृष्ठ १२४-१३०

ही ध्वनि में अन्तर्भाव संभव है, नहीं तो व्यंग्य होने पर भी अप्रधान होने की अवस्था में उस व्यंग्य का गुणीभूत व्यंग्यत्व ही प्रतिपादित होता है। जब अलंकार वस्तुमात्र से व्यंग्य होते हैं तो उनकी ध्वन्यंगता निश्चित होती है, क्योंकि काव्य का सारा व्यापार ही अलंकाराश्रित होता है। उन्हीं अलंकारों के दूसरे अलंकारों से व्यंग्य होने पर भी व्यंग्यालंकार की ध्वन्यंगता ही मानी जाती है और यदि चारुत्व के उत्कर्ष से अलंकारों के व्यंग्य का प्राधान्य हो तो अर्थशक्त्युद्भव संलक्ष्यक्रम-व्यंग्य-ध्वनि रूप ही मानना होगा।

संस्कृतकाव्यशास्त्र में रसध्वनि के अलंकार के साथ सम्बन्ध पर विस्तृत विवेचना की गई है, जो मनोवैज्ञानिक एवं साहित्यशास्त्र के विभिन्न प्रयोगों पर ही आधृत है। परन्तु एक तथ्य बड़ा ही प्रभावशाली है, वह है अलंकारों के स्वाभाविक प्रयोग पर बल। अयत्नज अलंकार रसोत्कर्षक या रसोपकारक होते हैं। आनंदवर्धन ने ध्वन्यालोक के तृतीय प्रद्योत में गुणीभूतव्यंग्य (काव्य-भेद) के प्रसंग में उपमा, रूपक, अतिशयोक्ति, दीपक, संकर, संसृष्टि आदि अलंकारों की विशद चर्चा भी की है। यह सिद्धान्त अत्यन्त परिष्कृत एवं ग्राह्य है।

आचार्य मम्मट ने भी शब्दशक्त्युद्भव (व्यंजनाभेदों) के आधारों पर अलंकार तथा रसध्वनि के सम्बन्ध पर विचार किया है। परम्परा आनंदवर्धन की ही अपनाई गई है। यही परम्परा संस्कृत-साहित्य में चलती रही, पंडितराज जगन्नाथ ने भी इस समस्या को उठा कर विशद व्याख्या की है, जो किंचित् मतभेद के अतिरिक्त इसी पद्धति की है। पं० जगन्नाथ का मत व्यंजना और अलंकार के प्रसंग में दिया जा चुका है।

रीतिकाल में रस और अलंकार-सम्बन्धी विभिन्न धारणाएं

रीतिकाल के काव्यशास्त्रियों ने मम्मट की रीति से ही विचार किया। चिन्तामणि, कुमारमणि शास्त्री, आचार्य भिखारीदास आदि ने उसी क्रम से अपने विचार प्रस्तुत किए।

आचार्य देव ने रस एवं अलंकार पर अपने विचार प्रकट किए हैं। रीतिकाल में अनुप्रास एवं यमकालंकार का प्रयोग करना कवियों की मनोवृत्ति को प्रिय था। राजप्रशंसा के लिए ये दोनों हीअ लंकार खूब चमक-दमक दिखा सकते थे। यही तब चाहिए था। ध्वनिकार ने विप्रलम्भ शृंगार में यमक का विन्यास निषिद्ध ही ठहराया (यद्यपि कहीं एक बार आ जाने के लिए उन्होंने कुछ ढील भी दे रखी थी) परन्तु रीतिकाल की प्रवृत्ति ऐसी नहीं थी। इसलिए आचार्य देव ने अनुप्रास को 'रसपूर' कहा और उसमें अर्थ की अदूरता स्वीकार की। अनुप्रास तथा यमक से कवि-रीति सनाथ होने की चर्चा भी की और कहा कि इसीलिए कवियों ने प्रीतिपूर्वक रस-रीति द्वादश विधि की मानी है।[1] देव का इन दोनों शब्दालंकारों को रसविरोधी न मानना

१. शब्द-रसायन— देव, अष्टम प्रकाश, पृष्ठ ८५

संभवतः उनकी उस धारणा के अनुकूल था, जिसके अनुसार वे अभिधा को उत्तम-काव्य, मध्यमा (लक्षणा) को मध्यम और व्यंजना को अधम काव्य मानते हैं।

आचार्य देव ने अर्थालंकारों के प्रसंग में शब्द एवं अर्थ-भेद में अलंकार नहीं कहे, अपितु अर्थालंकारों के स्थान पर उन्हें रसालंकार माना है। अलंकार देव के लिए भी चाहे स्वर्णावर्ण ही रहे, परन्तु उन्होंने रस के अलंकार कहकर अलंकारों को रसोपकारक स्वीकार किया।[1] इस प्रकार देव ने सब अर्थालंकारों (रसालंकारों) को तो रसपरक माना और शब्दालंकारों में अनुप्रास तथा यमक को भी अपनी समयुगीन प्रवृत्ति के अनुसार रस के लिए अत्यन्त उपयोगी अलंकार ठहराया।

राय शिवप्रसाद—रस तथा अलंकार

रीतिकाल के अलंकारनिरूपक आचार्यों में राय शिवप्रसाद ने अपने 'रस-भूषण' ग्रन्थ में आचार्य भरत की भाँति रसों में विशिष्टालंकारों की योजना की समर्थ चर्चा की है। हास्य में व्याजवस्तु अलंकार (व्याजस्तुति, करुण में प्रथम विषम, रौद्र में रूपक, वीर रस में वस्तूत्प्रेक्षा, भयानक में अतिशयोक्ति तथा उत्प्रेक्षा का संकर, वीभत्स में विभावना, अद्भुत में संभावनालंकार तथा शान्त रस में भेदकातिशयोक्ति अलंकार-विशेष का निरूपण किया गया है। दो रसों एवं अलंकारों के उदाहरण पठनार्थ प्रस्तुत हैं, परन्तु इन सभी अलंकारों की योजना भरत से भिन्न है।

हास्यरसलच्छन—दोहा—

बुरो रूप लखि होत जहं इह रस तीनी भाँति।
अस्थाइ हासी जहाँ तहाँ हास रस पांति ॥५४४॥

उदाहरण व्याजवस्तु अलंकार (व्याजस्तुति)—

छोटे-छोटे नैन और थोरे थोरे बार सीस रंग स्यामता को प्रगटाइ परत है,
कंठ में न पीत और गहने सी चली है कौन तापे ऐंड बात रूप को कहत है।
ताल तोर ठाड़ी यह बाल और आरसी देख देख निज मुख गुमान हि धरत है,
देखि यह सूरत हँसे हैं सब नारीनर धन वह पुरुष यासों जो रत लहत है ॥[2]

अथ करुणलच्छन—दोहा—

अस्थाई जहँ सोक है, सो करुना रस होइ।
उपजे देखि दया तहाँ समझ लेउ सब कोइ ॥५४६॥

अलंकार विषम पहिलो—उदाहरण—

कान्ह बुलाइ के कंस कहो अरे बालक तू लर मल्लन सो अब।
वैसे ही मल्ल पहार समान चढ़ाई के धूर आइ गये जब।

---

१. अलंकार रस, शब्द के सोहत सुबरन रूप।
अंग अंग मनि मानि कै, भरे धरे ब्रज भूप ॥

शब्द-रसायन—देव, पृष्ठ ९४

२. रसभूषण—राय शिवप्रसाद, पृष्ठ ६४

छोटे बड़े पुर के लख हाल करे करुना रहे सोक सने सब ।
हाय दई गत कौन ठई यह बालक दानिब सो बचि हैं कब ॥४४७॥[1]

'रसभूषण' के लेखक राय शिवप्रसाद ने ग्रन्थ के अन्त में अलंकारयुक्त रसवर्णन करने की इस रीति को गुणवानों से समझने की प्रार्थना भी की है । यद्यपि यह प्रयोग साहित्यशास्त्र में नया नहीं था । तब भी आचार्य भरत के अनन्तर विशिष्ट रस में विशिष्टालंकार की योजना के प्रति भाषाकाव्यशास्त्र में यह प्रशंसनीय प्रयोग है ।[2]

रस-ध्वनि संबंधी अलंकार-प्रसंग में बिहारी के इस पद से ध्वनि-अलंकार सम्बन्धी विषय की और स्पष्टता की जाती है—

पत्रा ही तिथि पाइये वा घर के चहुं पास ।
नित प्रति पून्यौई रहत आनन ओप उजास ॥

ध्वनि-सिद्धान्त के अनुसार इसमें काव्यत्व पूर्णतया है । चाहे मम्मट का उत्तम या जगन्नाथ के मतानुसार उत्तमोत्तम काव्य माना जाए—प्रस्तुत काव्य-पद में कवि-प्रौढ़ोक्तिनिबद्ध अथवा वक्तृप्रौढ़ोक्ति निबद्ध (यदि उक्त चाटुकार नायक द्वारा कथित मानी जाए) संलक्ष्यक्रम-व्यंग्य-ध्वनि है । वस्तु से अलंकार की व्यंजना है । वस्तु भी प्रौढ़ोक्तिनिबद्ध अर्थात् कल्पित है । 'नायिका की मुखप्रभा के कारण उसके गृह के चारों ओर सदा पूर्णिमा का रहना' इस कल्पित वस्तु के द्वारा 'उसका मुख पूर्ण चन्द्रमा है' इस व्यंग्यार्थ की प्रतीति हो जाती है । वाच्य रूप में यहाँ परिसंख्या और काव्यलिंग अलंकार भी है । उक्त वस्तु से—'उसका मुख पूर्णिमा का चन्द्र है' यह रूपकालंकार भी यहाँ व्यक्त हो रहा है । यहाँ 'नित पून्यो ई रहत' इस उक्ति से नायिका-मुख (विषय) पर पूर्णिमा-चन्द्र (विषयी) का आरोप प्रतीत होता है । जो 'चन्द्र' के अनुपादान के कारण व्यंग्य है तथा जो पुनः व्यंग्य रूप में व्यतिरेकालंकार की प्रतीति कराता है ।

इस रस-अलंकार-सम्बन्धी चर्चा से यह धारणा पुष्ट होती है कि इन दोनों (काव्यांगी-काव्यांग) का परस्पर अभेद्य सम्बन्ध है । यद्यपि ऐसे पद ढूंढे जा सकते हैं या गढ़े जा सकते हैं, जिनमें रस हो अथवा केवल अलंकार हो । परन्तु साधारणतः काव्य में रसमय पदों में किसी न किसी अलंकार की स्थिति अवश्य बनी रहती है । कहीं वाच्य, कहीं व्यंग्य रूप से अलंकार अपनी सत्ता रसमय काव्य में रखते ही हैं । इस धारणा से मानना होगा कि रस तथा अलंकारों का पारस्परिक सम्बन्ध चोली-दामन का है । शरीर तथा बाह्य मणिकंचन सा नहीं है ।

---

१. रसभूषण—राय शिवप्रसाद, पृष्ठ ६४

२. जो पढ़ि है या ग्रन्थ को ह्वै है रसिक सुजान ।
अलंकार जुत रस कही समझ लेउ गुनवान ॥५६२॥
रसभूषण—शिवप्रसाद, पृष्ठ ६६

उक्ति और अलंकार

उक्ति काव्य की आधारशिला है। क्रोचे ने तो उक्ति को काव्य ही माना है, परन्तु भारतीय दृष्टि से भाव-प्रधानता और रसात्मकता भी उक्ति के काव्य-पदवाची होने के लिए अनिवार्य है।

आचार्य मम्मट ने लिखा है कि रस के बिना तो अलंकार का प्रयोग उक्ति-वैचित्र्यमात्र ही रहता है। इसी प्रकार साहित्यदर्पणकार ने भी उक्ति-वैचित्र्यमात्र होने के कारण प्रहेलिका को अलंकार नहीं माना है।[1] इन दोनों के कथनों से क्रोचे के मत का अस्तित्व स्थिर नहीं रहता कि अलंकार उक्ति से बाहर कुछ नहीं है।

उक्ति के सम्बन्ध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने तो प्रकारान्तर से कहा है—'यह बात ठीक है कि हृदय पर जो प्रभाव पड़ता है, उसके मर्म का जो स्पर्श होता है—वह उक्ति के द्वारा ही।···जो उक्ति हृदय में कोई भाव जाग्रत करदे या उसे प्रस्तुत वस्तु या तथ्य की मार्मिक भावना में लीन कर दे, वह तो है काव्य। जो उक्ति केवल कथन के ढंग के अनूठेपन, रचना-वैचित्र्य, चमत्कार, कवि के श्रम या निपुणता के विचार में ही प्रवृत्त करे, वह है सूक्ति। यदि किसी उक्ति में रसात्मकता और चमत्कार दोनों ही हों तो प्रधानता का विचार करके सूक्ति या काव्य का निर्णय हो सकता है।'[2]

आचार्य शुक्ल के इस कथन से संस्कृत के उपर्युक्त दोनों आचार्यों की धारणा को बल मिलता है कि अलंकार उक्ति को रसपरक बनाने में सहायक हैं या कहीं-कहीं प्रधानता का कार्य भी करते हैं।

श्री लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु' ने अलंकार और उक्ति के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करते हुए लिखा है कि—'उक्ति में स्वाभाविक रूप से मिला हुआ जो चमत्कार आ जाता है, उसके लिए अलंकार की संज्ञा अनुपयुक्त ही नहीं, उलझन को बढ़ाने वाली भी है। इससे क्रोचे के 'उक्ति ही काव्य है'—कथन का विरोध नहीं होता। काव्य में अलंकार की स्थिति अनिवार्य मानी जाती है तो क्रोचे का विरोध संभव था। अलंकार को काव्य में पृथक् मानने से ही उसकी प्रतिष्ठा है। आचार्य मम्मट तथा विश्वनाथ आदि ने अलंकार को काव्य का नित्य अंग नहीं माना, किन्तु जो नित्य नहीं है वह पृथक् भी रह सकता है, इस पर संस्कृत के आलंकारिकों ने विचार नहीं किया। अलंकार का प्रधान उद्देश्य वस्तु का बोधमात्र कराना नहीं हो सकता। भाव को तीव्र करने में कभी-कभी सहायक होने वाली योजना ही अलंकार है और उसका उद्देश्य स्पष्ट है। यदि वस्तु का बोध कराने में भी अलंकार

---

१. (क) यत्र तु नास्ति रसः तत्रोक्तिवैचित्र्यमात्रपर्यवसायिनः।

काव्यप्रकाशः—आचार्य मम्मट, पृष्ठ ३८१

(ख) उक्ति वैचित्र्यमात्रम्······

साहित्य-दर्पणः—विश्वनाथ, पृष्ठ २९१

२. चिन्तामणि—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ १७१

की व्याप्ति मानी जाए तो साधारण से साधारण उक्ति में भी अलंकारत्व मानना पड़ेगा। सादृश्यमूलक अलंकारों में बहुत थोड़े ऐसे हैं, जिनमें चमत्कार में ही वास्तविक अलंकारत्व मानना चाहिए, जहाँ सादृश्य-व्यंग्य रहे, वहाँ प्रायः वह वस्तु या भाव की अपनी सम्पत्ति है।"[1]

ऊपर दिये गए विचारों से इस तथ्य की पुष्टि होती है कि उक्ति सालंकार होते हुए भी काव्य बनती है तो रसवत्ता के कारण, परन्तु उक्ति का चमत्कार द्रष्टव्य है कि 'स्वभाव' से लेकर 'विशेष' तक विशेषणों को अपना कर यह अलंकार के क्षेत्र में जा पहुंची और गूढ़, विवृत, अन्य लोक आदि पदों के बल से रहस्याख्यान, प्रस्तुताप्रस्तुत कथन तथा लोकजीवन के अनुभव के बल पर बने वाक्यांशों को अलंकार संज्ञा देने में समर्थ हो गई। भामह द्वारा उक्त शब्द तथा अर्थपरक (अभिधेय) उक्ति ने तो काव्य आक्रान्त कर दिया। वक्रोक्ति द्वारा वर्ण से प्रबन्ध तक आक्रान्त हो गए, यह सब उक्ति की अलंकारता के बल पर ही तो हुआ। इसलिए उक्ति ने अलंकार-विकास एवं विस्तार में अमूल्य सहयोग दिया है। अतिशयोक्ति में उक्ति ने अतिशयता अपनाकर चमत्कार की एक विशिष्ट सीमा स्पर्श की, सभेद वर्णन में अतिशयोक्ति का चमत्कार काव्य भर में व्याप्त होने की चर्चा भामह से लेकर आधुनिक आलोचना-शास्त्रियों तक ने मुक्तकंठ से की है। अत्युक्ति में बेपर की भी उड़े, परन्तु अलंकार की सीमा तो उसने नहीं त्यागी, चमत्कार तो नहीं खोया। अन्योक्ति अलंकार से संस्कृत से सेकर हिन्दी-साहित्य तक की काव्य-परम्परा अनुप्राणित है। व्याजोक्ति की माया का व्याज कौन साहित्यकार चुका सकता है?

विशेषणों के बिना भी उक्ति ने अपना अलंकार प्राप्त किया, भोज ने 'सरस्वती-कण्ठाभरण' में उक्ति के लक्षण में कहा कि विधि या निषेध में जहाँ विशिष्टार्थ की प्रतीति होती है, उसे उक्ति कहा जाता है। इस उक्ति के पुनः नियम से छः भेद कहे हैं।[2] इस विवेचन से यह बात प्रमाणित हो जाती है कि उक्ति ने विधि-निषेध की सीमाओं में बंधकर अलंकारत्व स्वीकार किया, परन्तु भोज के काल में जहां अनेक शब्दालंकार जन्मे, वहाँ उक्ति ने भी बिना विशेषण के अपना स्वतन्त्र अलंकारत्व प्राप्त कर लिया।

संस्कृत-साहित्य में किसी दूसरे आचार्य ने उक्ति अलंकार का स्वतन्त्र विवेचन नहीं किया। केवल अप्पय्य दीक्षित ने उक्ति को विवेचनापरक बनाकर निरुक्त्यलंकार

१. काव्य में अभिव्यंजनावाद—लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु' पृष्ठ १०९-११०

२. विधिद्वारेण वा यत्र निषेधेनाथ वा पुनः ।
प्रतीयते विशिष्टोऽर्थः सोक्तिरत्रभिधीयते ॥२-९०॥
विधेरथ निषेधात् स्यादधिकाराद् विकल्पतः ।
नियमात् परिसंख्यायायाउपाधेः सेह षड्विधा ॥२-९१॥

सरस्वती-कण्ठाभरणम्—भोज, पृष्ठ १७०

भी बना डाला,यह निरुक्त्यलंकार रीतिकाल के आचार्यों ने अप्पय्य दीक्षित से विरासत के रूप में ग्रहण किया और चिरकाल तक इसकी चर्चा भाषाकाव्यशास्त्र में भी होती रही।

उक्ति के एक अन्य पक्ष पर भी विचार करना उपयुक्त होगा, यह वह कि अभिधा, लक्षणा तथा व्यंजना के बल पर उक्ति ने अलंकारशास्त्र को पकड़ा है। वाच्यालंकारों में तो स्पष्टतः उक्ति की प्रधानता दीखती ही है। परन्तु रूपक, अपह्नुति जैसे अलंकारों में लक्षणा के बल पर जा बैठती है, गूढ़ोक्ति, विशेषोक्ति, विवृतोक्ति जैसे अलंकारों में व्यंजना का सहारा लिए रहती है। इस तरह उक्ति ने शब्द-शक्तियों के साहाय्य से अलंकार-क्षेत्र पर अपना औचित्यपूर्ण प्रभाव सिद्ध किया है। इस आधार पर यह स्वीकार करना समीचीन है कि विशेषणपदयुक्त तथा स्वतन्त्र रूप से अलंकार बन कर उक्ति ने काव्य को अलंकृत किया है।

वक्रोक्ति तथा अलंकार

वक्रोक्ति के तीन रूप

वक्रोक्ति की व्याख्या भारतीय आलोचना-साहित्य में तीन रूपों में प्राप्त है।

१. वक्रोक्ति—अतिशयोक्ति सब अलंकारों का आधार।

२. वक्रोक्ति—अलंकार (कहीं शब्दालंकार, कहीं अर्थालंकार)

३. वक्रोक्ति—काव्यजीवित अथवा वक्रोक्तिसम्प्रदाय की सिद्धान्तबद्ध आलोचना-विधि।

इन तीनों में पहले रूप की चर्चा सर्वप्रथम भामह ने की। उनके काव्यालंकार में वर्णित वक्रोक्ति के बिना किसी अलंकार की सत्ता सम्भव नहीं, अतिशयता बिना क्या अलंकार? यहां कथित 'वक्रोक्ति' अलंकार वक्रोक्ति से भिन्न है। वक्रोक्ति के सर्वालंकाराधारत्व रूप वाले सिद्धान्त को कचोटने का प्रयास आचार्य दण्डी ने किया और स्वभावोक्ति या (जाति) को आद्य अलंकृति (अलंकार तथा काव्य में वांछनीय) माना तथा वाङ्मय को स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति के द्विविध क्षेत्र में विभक्त कर दिया। दण्डी ने स्वभावोक्ति का पक्ष अधिक लिया परन्तु वक्रोक्ति का विरोध भी नहीं किया। वाङ्मय के द्विविध होने की स्थिति में भोज ने नया अध्याय जोड़ा और उसका स्वरूप त्रिविध माना—वक्रोक्ति,रसोक्ति और स्वभावोक्ति।[1] वाङ्मय के

---

१. (क) सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया बिना ॥२-८५॥
काव्यालंकारः—भामह, पृष्ठ १७

(ख) नानावस्थं पदार्थानां रूपं साक्षात् विवृण्वती।
स्वभावोक्तिश्च जातिश्चेत्याद्या सालंकृतिर्यथा ॥२-८॥
भिन्नं द्विधा स्वभावोक्ति वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम् ॥३६१॥
काव्यादर्शः—दण्डी, पृष्ठ ४७

(ग) वक्रोक्तिश्च रसोक्तिश्च स्वभावोक्तिश्चेति वाङ्मयम्।
श्रृंगारप्रकाशः—भोज, उद्धत, भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका—
डॉ० नगेन्द्र, पृष्ठ ३२१

इस त्रिविध भेद के अनन्तर वक्रोक्ति अलंकार रूप में ही विवेचना पाती रही। उसकी सर्वालंकाराधार वाली पदवी अपहृत हो गई।

भोज से पूर्व दण्डी ने स्वभावोक्ति को वक्रोक्ति से पहले इसलिए रखा कि स्वभाव का साक्षात् वर्णन होने के कारण इसका (स्वभावोक्ति) का सम्बन्ध जीवन की यथार्थता से निकटता का है। यद्यपि विद्वानों में साक्षात् पद को लेकर भिन्नार्थ-ग्रहण की चर्चा है। तरुण वाचस्पति ने साक्षात् का अर्थ 'प्रत्यक्षमिव दर्शयन्ती' अर्थात् प्रत्यक्षवत् दर्शाती हुई लिया है। हृदयंगमा (काव्यादर्श-टीका) में साक्षात् का अर्थ अव्याज से लिया है। 'अव्याज' अर्थ लेना संगत हो सकता है, परन्तु स्वभाव-वर्णन में 'प्रत्यक्ष इव' का महत्व अधिक है। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि दण्डी ने वक्रोक्ति को स्वभावोक्ति से पृथक् मानते हुए भी उसे दूसरा स्थान वाङ्मय में दिया और स्वभावोक्ति को पहला।

भोज ने वक्रोक्ति को पुनः काव्य में प्रथम स्थान दिया और वक्रोक्ति तथा स्वभावोक्ति के मध्य रसोक्ति की चर्चा भी कर दी। प्रश्न यह है कि भोज के काल में स्वभावोक्ति को वाङ्मय में तीसरा भेदक स्थान क्यों प्राप्त हुआ ? साहित्यिक आलोचना एवं वक्रोक्ति अलंकार का (रुद्रट से वक्रोक्ति शब्दालंकार बनी) सैद्धान्तिक विकास वक्रोक्ति से अपना पीछा न छुड़ा पाया। वक्रोक्ति भामह के काल से अलंकारों की आधार भूमि बनी थी। दण्डी के प्रयत्न के होते हुए भी स्वभावोक्ति ऊपर न उठ पायी, वामन ने वक्रोक्ति का सम्बन्ध लक्षणा से जोड़ ही दिया था और वह अर्थालंकार भी बन चुकी थी। इस प्रकार भोज वक्रोक्ति के महत्व को अलंकार क्षेत्र में महत्वपूर्ण मानने लगे। इतना ही नहीं, आचार्य कुन्तक वक्रोक्ति को लेकर एक सम्प्रदाय-विशेष की स्थापना कर चुके थे। अतः भोज ने समन्वयवादी दृष्टिकोण अपनाते हुए वक्रोक्ति को वाङ्मय में सर्वप्रथम स्थान दिया।

भोज के अनन्तर वक्रोक्ति सम्प्रदाय की अपेक्षा ध्वनिवादी आचार्य अधिक हुए, जिन्हें रस-सम्प्रदाय का पक्ष ही प्रिय लगा, इसलिए वक्रोक्ति सम्प्रदाय शिथिल पड़ गया और वाङ्मय में वक्रोक्ति अलंकार मात्र बन कर रह गई।

वक्रोक्ति अलंकार के सम्बन्ध में सर्वप्रथम चर्चा भामह ने की। यद्यपि उनकी सर्वालंकाराधाररूपा वक्रोक्ति अलंकाररूपा वक्रोक्ति से भिन्न है, तथापि अलंकार के लक्षण-भेद में भामह ने वक्रता का संकेत दिया, जो उनकी वक्रोक्ति की अलंकार-सम्बन्धी धारणा की संपुष्टि करता है। भामह का यह कथन कितना स्पष्ट है।—

न नितान्तादि मात्रेण जायते चारुता गिराम्।
वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलंकृतिः ॥३६॥[1]

इस पद में से अभिधेय (अर्थालंकार) तथा शब्द (शब्दालंकार) को द्योतित करता है, तथा इन दोनों के आदि का वक्र शब्द और उक्ति शब्द वक्रोक्ति अलंकृति का स्पष्ट द्योतक है। यही वक्रोक्ति (अलंकृति) वाचाम् इष्टा है अर्थात् वाणियों की (काव्य के रूपों में भी) इष्टा (वांछित) है। आचार्य कुन्तक के वक्रोक्ति संप्रदाय

१. काव्यालंकारः—भामह, पृष्ठ ५

तथा भावी आलंकारिकों द्वारा शब्दार्थालंकार रूप में निरूपित वक्रोक्ति अलंकार का आधार यही भामहोक्त उक्ति है। यद्यपि कुछ विद्वान् वक्रोक्ति-संप्रदाय का जन्म ध्वनि-संप्रदाय के विरोध में हुआ मानते हैं, तथापि भामह के वक्रोक्तिसम्बन्धी कथन का प्रभाव आचार्य कुन्तक की इस कारिका में अत्यन्त स्पष्ट है।

शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि ॥१-७॥[1]

अर्थात् काव्य-मर्मज्ञों को आनन्द-दात्री सुन्दर (वक्र) कवि-व्यापार युक्त रचना (बन्ध) में व्यवस्थित शब्द और अर्थ मिलकर (सहितौ-सहित रूप में) काव्य कहलाते हैं। भामह का काव्य-लक्षण 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यं' प्रसिद्ध है। वह इस कुन्तक-कृत कारिका में भी है। पीछे इसी प्रसंग में शब्दालंकार रूप में भामह-कृत चर्चा का उल्लेख किया गया है। वह भी इस कारिका के वक्र व्यापार में झांक रहा है और व्यवस्थिति में कुन्तक भामह से अधिक कुशल है। इस प्रकार भामह की उक्ति को विस्तार देने का प्रयास आचार्य कुन्तक ने किया है।

आचार्य वामन ने वक्रोक्ति को सादृश्यलक्षणा से लक्षणा ही माना और आचार्य रुद्रट ने इसे शब्दालंकार कहा। इस प्रकार भामह की उक्ति के अनन्तर यह अलंकार द्विरूप में अपनी स्थिति अब तक बनाए हुए है। परन्तु वक्रोक्ति को शब्दालंकार कहना कहां तक संगत है? क्या यह शब्दालंकार की परिभाषा-अनुसार परिवृत्यसह है? क्या शब्द-विशेष पर टिका हुआ है अथवा शब्द विशिष्ट के परिवर्तन से भी जीवित रहता है। विचारणीय यह बात है कि वक्ता के कथन से भिन्नाशय लेने के अतिरिक्त वक्रोक्ति अलंकार में सार ही क्या है? भिन्न शब्द-ग्रहण तो होता नहीं। शब्द का भिन्नार्थ ही प्रधानता रखता है और फिर यह श्लेष वक्रोक्ति में रहते हुए भी अर्थ की ओर अधिक झुका हुआ है। शब्दश्लेष में तो शब्दपरिवृत्ति सह्य नहीं। मम्मट ने तो शब्दाश्लेष को शब्दालंकार ही माना है। तथापि वक्रोक्ति में अर्थग्रहण की प्रवृत्ति मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी सबल है। उसे शब्दालंकार केवल शब्दश्लेष के कारण माना जाता है, परन्तु अर्थ की प्रधानता का पक्ष भी विचारणीय है। शब्दार्थ (द्वय) के कारण काव्य की सत्ता स्थिर है, इसलिये वक्रोक्ति शब्दालंकार और अर्थालंकार (दोनों रूपों में) भी मान ली गई है, चाहे औचित्य उसे अर्थालंकार मानने में ही है, क्योंकि अर्थ के कारण ही वक्रता का चमत्कार होता है।

काकु वक्रोक्ति की चर्चा विचित्र है। शब्दोच्चारण पर भी अलंकार टिकने लगे, तब तो जनसाधारण के वाक्य भी अलंकार (वक्रोक्ति) होने लगेंगे। इस पक्ष से तो यह जनसाधारण के जीवन में दैनिक भाषा के प्रयोग का अलंकार बन गया। काकु से अलंकार-ग्रहण की चेष्टा भाषा-विज्ञान से सम्बद्ध है। परन्तु अभिव्यक्ति की सार्थकताकी दृष्टि से इसे अलंकार का भेद नहीं माना जा सकता। ऐसा इसलिए कि

१. वक्रोक्तिजीवितम्—कुन्तक, पृष्ठ १८

वक्रोक्ति के इस भेद के उदाहरण का उच्चारण करने के अनन्तर भी शब्दों के अर्थ की ओर ध्यान जाता है। शब्दों के अर्थ का ग्रहण होने पर ही काकु वक्रोक्ति की सार्थकता सिद्ध होती है। इसलिये विपरीतार्थकता के कारण तो यह विपरीत लक्षणा कही जा सकती है। विपरीतलक्षणा भी न माने तो भी शब्दों के अर्थ जाने बिना वक्रोक्ति की सफलता कहां है? इस भेद में भी यह शब्दालंकार नहीं बनता। वक्रोक्ति का यह पक्ष भी अर्थालंकार की ओर अधिक झुका हुआ है।

वक्रोक्ति का तीसरा रूप सम्प्रदाय-विशेष का है। आचार्य कुन्तक ने अपने ग्रन्थ में इसकी विशद चर्चा की है। उन्होंने काव्य का इसे सर्वातिशायी और अत्यन्त आवश्यक तत्व माना है,परन्तु विनम्र निवेदन है कि आचार्य कुन्तकने वक्रोक्तिको काव्य का जीवित कहीं नहीं कहा। ग्रन्थ की प्राप्त प्रतियों में वक्रोक्ति-सम्बन्धिनी व्याख्या में कहीं भी उसे काव्यजीवित नहीं लिखा,परन्तु सर्वत्र वक्रोक्ति-भेदों में इसे काव्य का प्रधान तत्व माना तथा ग्रंथ का नाम 'वक्रोक्ति-जीवित' ख्यात हो गया। इसीलिए यह प्रचारित हो गया कि आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति को काव्य का जीवित माना है। आचार्य विश्वनाथ ने 'साहित्य-दर्पण' में इस प्रकार का संकेत दिया,[1] जिससे प्रमाणित हो जाए कि आचार्य कुन्तक ने वक्रोवित को 'काव्य-जीवित' कहा है। यह धारणा ग्रन्थ के नाम अथवा ग्रंथ में सर्वत्र वक्रोक्ति की चर्चा के कारण प्रसूत हो गई अन्यथा स्वयं आचार्य कुन्तक ने कहीं भी ग्रन्थ में इसका उल्लेख नहीं किया। यह 'जीवित' शब्द कुन्तक से पहले अभिनवगुप्त ने भी प्रयुक्त किया था। 'काव्यजीवित' पद रस को प्राप्त था। यही आत्मा नाम से भी ख्यात था, बाद में क्षेमेन्द्र ने भी औचित्य को काव्य-जीवित कहा। इसलिए कुन्तक के वक्रोक्ति सिद्धान्त को काव्य का जीवित कहा जाने लगा।

आचार्य कुन्तक के ग्रन्थ में यह संकेत भी प्राप्त है कि उनके ग्रंथ के मूल कारिका भाग का वास्तविक नाम 'काव्यालंकार' है। और वृत्ति भाग का नाम 'वक्रोक्ति जीवितम्' है। इसी आधर पर इस ग्रंथ का नाम 'वक्रोक्ति जीवितम्' पड़ गया, वास्तविकता कुछ और थी। एक अनुमान यह भी लगाया जाता है कि भामह के 'काव्यालंकार' पर विशद विवेचना की दृष्टि से आचार्य कुन्तक ने इस ग्रन्थ का नाम वक्रोक्ति-जीवित रखा है। इस अनुमान की पुष्टि में दो तर्क दिए जाते है।

१—ग्रंथ का नाम काव्यालंकार तथा विशद टीका-युक्त होने के कारण वक्रोक्तिजीवतं ही प्रसिद्ध नाम हो गया।

२—वक्रोक्ति की प्रधानता, (समूचे कुन्तक-कृत) ग्रंथ में तथा वक्रोक्ति के क्षेत्र की व्यापकता का चित्र है।[2]

---

१. तत्र सालंकारशब्दार्थयोरपि काव्ये उत्कर्षमात्राधायकत्वात्। एतेन 'वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्' इति वक्रोक्ति—जीवितकारोक्तमपि परास्तम्। वक्रोक्तेरलंकार-रूपत्वात्। साहित्य-दर्पणः—आचार्य विश्वनाथ, पृष्ठ १६०

२. अस्य ग्रन्थस्यालंकार इत्यभिधानम्। उपमादि प्रमेयजातम् अभिधेयम्। उक्तरूप-वैचित्र्य-सिद्धिः प्रयोजनम् इति।
वक्रोक्ति-जीवितम्:—आचार्य कुंतक, पृष्ठ ८

कुछ विद्वानों के मतानुसार वक्रोक्ति को सम्प्रदाय का रूप आचार्य कुन्तक ने दिया, वस्तुतः उन्होंने इसे अलंकार ही माना है और भामह के बीजात्मक सिद्धान्त को व्यापक रूप दे दिया है। आचार्य कुन्तक का कथन है कि कितने ही चिरन्तन अलंकारों के होते हुए भी वक्रोक्ति-रूपी अपूर्व अलंकार का विधान किया जा रहा है। विद्वानों ने यद्यपि अलंकार शब्द से यहां ग्रन्थनाम ही अर्थ लिया है क्योंकि, उसी का संकेत आचार्य कुन्तक ने वृत्ति में किया है तथापि अलङ्कार या काव्यालङ्कार नाम के पीछे वक्रोक्ति अलङ्कार की व्यापकतामयी अपूर्वता है। उपमादि अलंकारों को प्रतिपाद्य बताते हुए भी आचार्य वक्रोक्ति का पक्ष दृढ़ करता है।[1]

आचार्य कुन्तक ने 'सालंकारस्य काव्यता'[2] का सिद्धान्त प्रतिपादित किया, जो इस तथ्य का प्रबल प्रमाण है कि वे काव्य में अलङ्कारों की प्रधानता मानते हैं और इसी कारण वक्रोक्ति अलङ्कार की काव्य में व्यापकता उन्होंने प्रदर्शित की है। इसकी पुष्टि उन्होंने बार-बार की है। आचार्य कुन्तक का कहना है कि ये शब्द अलंकार दोनों ही अलंकारीय हैं। और इन दोनों का अलंकार केवल वक्रोक्ति है, जिससे शब्द और अर्थ अलंकृत होते हैं।[3] इसी कारण से अलंकार-साहित्य में वक्रोक्ति को शब्द एवं अर्थालंकार के रूप में विभिन्न आचार्यों ने माना है।

आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति को भी विचित्र अभिधा कहा है, जिसमें विदग्धों की विदग्धता या वैदग्ध्य अपना चमत्कार रखता है।[4] इसलिये भी वक्रोक्ति अलंकारों की वाच्यस्थिति में स्थित है।

वक्रोक्ति को सम्प्रदाय का रूप इसलिए भी नहीं दिया जा सकता कि रस, ध्वनि, अलंकारादि संप्रदायों की भांति अनेक आचार्यों ने इसको मान्यता नहीं दी, कुन्तक समेत सबने ही इसे अलंकार माना, परन्तु कुन्तक के अतिरिक्त किसी ने भी विशद चर्चा न की। कुन्तक की चर्चा का विश्लेषण किया जाए तो वक्रोक्ति की व्यापकता का क्षेत्र सीमित हो जाएगा। आचार्य रुद्रट ने श्लेष के वर्ण, पदादि के क्रम

---

१. (क) लोकोत्तरचमत्कारकारिवैचित्र्यसिद्धये।
काव्यस्यायमलंकारः कोऽप्यपूर्वो विधीयते ॥२॥

(ख) तदयमर्थः। ग्रन्थस्यास्य अलंकार इत्यभिधानम्। उपमादि प्रमेयजातमभिधेयम्। उक्तरूपवैचित्र्यसिद्धिः प्रयोजनम् इति।

वक्रोक्ति-जीवितम् – कुन्तक, पृष्ठ ७-८

२. वक्रोक्ति-जीवितम्—कुन्तक, पृष्ठ १७

३. उभावेतावलंकार्यौ तयोः पुनरलंकृतिः।
वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभंगीभणितिरुच्यते ॥१०॥
तयोर्द्वित्वसंख्याविशिष्टयोरप्यलंकृतिः पुनरेकैव, यया द्वावप्यलंक्रियेते कोऽसौ, वक्रोक्तिरेव।

वक्रोक्ति-जीवितम्—कुन्तक, पृष्ठ ५१

४. विचित्रैवाभिधा वक्रोक्तिरित्युच्यते।

वक्रोक्ति-जीवितम्—कुन्तक, पृष्ठ ५१

से भेद किए। स्वयं वक्रोक्ति में श्लेष चिपटा हुआ है। तब श्लेष के प्रयोग-स्थलों के अतिरिक्त वक्रोक्ति के लिए प्रकरण और प्रबन्ध का क्षेत्र ही विशेष रूप से कुन्तक ने चर्चित किया है, परन्तु प्रकरण एवं प्रबन्धवक्रता, पदादि के बल पर जीवित रहती है। इस दृष्टि से भी आचार्य कुन्तक का महत्व इतना अवश्य है कि उन्होंने इस अलंकार को काव्य के विस्तृत क्षेत्र तक प्रभावी सिद्ध किया है, परन्तु किसी सम्प्रदाय स्थापना की दृष्टि से ऐसा किया हो, ऐसी बात नहीं है। उन्होंने ध्वनि-सिद्धान्त का विरोध एवं भामह के वक्रोक्ति सिद्धांत की अलंकारवादी धारणा की पुष्टि का सफल प्रयोग दिखाया है। ध्वनि यदि वस्तु, अलंकार और रस तक व्यापक हो सकती है तो वक्रोक्ति भी उतनी ही व्यापकता रखने में समर्थ है, यही सिद्ध करना आचार्य कुन्तक को अभीष्ट था, परन्तु वक्रोक्ति को उन्होंने भी अलंकार माना है और वह भी विचित्र एवं अपूर्व अलंकार। इस प्रकार वक्रोक्ति की विशद विवेचना हो जाने पर अलंकार संप्रदाय के क्षेत्र में एक अन्य उपवृक्ष ने शाखाएँ फैलायीं, जिससे अलंकार-संप्रदाय का वटवृक्ष और घना हो गया तथा काव्य की काव्यता अलंकार से कुन्तक द्वारा प्रमाणित हो गई।

वक्रोक्ति के तीनों रूपों की विवेचना से यह स्पष्ट हो जाता है कि अलंकार-क्षेत्र से इसका अटूट सम्बन्ध रहा और काव्य का महत्वपूर्ण अंग 'अलंकार' वक्रोक्ति के बल पर अन्य सम्प्रदायों से टक्कर लेता रहा और भावाभिव्यक्ति का साधन होने के कारण अपनी स्थिति काव्य-क्षेत्र में आज तक दृढ़ बनाए हुए है।

चमत्कार और अलंकार

काव्य-शास्त्र में अलंकार, रस, ध्वनि, और रीति की भाँति चमत्कार की चर्चा भी प्राप्त है। आत्मा की चमत्कृत स्थिति का नाम ही आनन्दानुभूति है। स्पष्ट है कि जब पाठक काव्य पढ़ता है या सुनता है तो किसी स्वर, भाव या विचार से उसे आनन्दोपलब्धि होती है। आनन्द की तीव्रानुभूति की अवस्था का नाम ही चमत्कृति या चमत्कार है। चमत्कार की चर्चा काव्य-शास्त्र में पाक-शास्त्र से उद्भूत, पल्लवित तथा पोषित है। यही चमत्कार कहीं काव्यानन्द तथा आश्चर्य-परक आत्मानन्दानुभूति माना जाता है।

चमत्कार की उद्भूति किसी पदार्थ के आस्वादन-काल में आँखों तथा चित्त की प्रफुल्लता से सम्बन्ध रखती है। जब हम किसी स्वादिष्ट पदार्थ को खाते हैं तो चटखारे मारते हुए प्रफुल्ल विकसित नेत्रों से चित्त की आनन्दातिरेकित अवस्था का बोध, बिना बोले या बोलकर भी, करवा देते हैं। इसको चमत्कारमयी स्थिति कहते हैं।

'साहित्यदर्पण' के कर्त्ता आचार्य विश्वनाथ के पूर्वज प्रतिभाशाली विद्वान् नारायण तथा धर्मदत्त का कथन है कि चित्त-विस्तार का नाम चमत्कार है। रस का सम्बन्ध भी चमत्कार से अवश्य है, परन्तु इसकी स्वतन्त्र सत्ता से भी इन्कार नहीं

किया जा सकता। चमत्कार का उदाहरण अद्भुत रस को माना जा सकता है।[1]

चमत्कार-भेद—आचार्य आनंदवर्धन, अभिनवगुप्त, भट्टनायक तथा कुन्तक ने चमत्कार को रस से सम्बद्ध माना है। आचार्य क्षेमेन्द्र ने 'कवि कण्ठाभरण' कृति में 'चमत्कार-कथन' नामक तृतीय सन्धि में विशद चर्चा की है। चमत्कार के दस भेद गिनाए गए हैं—

(१) अविचारित रमणीय, (२) विचारित रमणीय, (३) समस्तसूक्त व्यापी, (४) सूक्तैकदेश दृश्य, (५) शब्दगत, (६) अर्थगत, (७) शब्दार्थगत, (८) अलंकारगत, (९) रसगत (१०) प्रख्यातवृत्तिगत।[2]

क्षेमेन्द्र की दृढ़ धारणा है कि चमत्कार के बिना न तो कवि को कवित्व उपलब्ध होता है और न काव्यत्व ही। अमूल्य मणि के समान एक भी चमत्कारपूर्ण पद यदि काव्य में न हो तो वह निर्दोष भले ही हो, परन्तु मणिहीन सुवर्ण के समान किसी के चित्त पर नहीं चढ़ता, जैसे कि अंगनाओं का लावण्यहीन यौवन।

अलंकार-चमत्कार की चर्चा क्षेमेन्द्र ने की और उदाहरण से उसे पुष्ट भी किया। हिंदी-साहित्य में कबीर का यह पद भी उदाहरण के लिए लिया जा सकता है—

पानी केरा बुदबुदा अस मानुस की जात।
देखत ही छिप जाएगा ज्यों तारा परभात॥

उपमालंकार बिना यहां चमत्कार कहां से आ टिकेगा और शान्त रस की चर्चा तो दूर की बात हो जाएगी। अतः सिद्ध है कि इस पद में चमत्कार का आधार अलंकार ही है।

काव्य में चमत्कार को विशिष्ट स्थान प्रदान करने का श्रेय सिंहभूपाल के आश्रित कवि विश्वेश्वर को है। इन्होंने अपनी 'चमत्कार-चन्द्रिका' कृति में चमत्कार को सहृदयानन्द माना है। इस चमत्कार का आलम्बन गुण, रीति, वृत्ति, पाक, शय्या

---

१. तदाह धर्मदत्तः स्वग्रन्थे—
रसे सारश्चमत्कारः, सर्वत्राप्यनुभूयते।
तच्च चमत्कारसारत्वे सर्वत्राप्यद्भुतो रसः।
तस्मादद्भुतं एवाह कृति नारायणो रसम्।
साहित्य-दर्पण:—विश्वनाथ, पृष्ठ ४९

२. तत्र दशविधश्चमत्कारः—अविचारितरमणीयः, विचारितरमणीयः, समस्तसूचक व्यापी, सूक्तैकदेशदृश्यः, शब्दगतः, अर्थगतः, शब्दार्थगतः, अलंकारगतः, रसगतः, प्रख्यातवृत्तिगतश्च।
कविकण्ठाभरणम्—क्षेमेन्द्र, (काव्यमाला-संस्करण, पृष्ठ १२९)

अलंकार और रस को स्वीकार किया है।[1] विश्वेश्वर ने चमत्कार के आधार पर चमत्कारी, चमत्कारितर तथा चमत्कारितम नाम से काव्य विभाजन किया है। चमत्कारी में शब्दचित्र की प्रधानता अर्थात् चित्रालंकार की महत्ता मानी गई है। चमत्कारितर में अर्थचित्र तथा गुणीभूत व्यंग्य और चमत्कारितम को व्यंग्य प्रधान स्वीकार किया गया है। काव्य के इन तीनों भेदों में अलंकार-प्रयोग से चमत्कार आता है।

मथुरा मिश्र गंगेश के मेधावी पुत्र आचार्य हरिप्रसाद ने अपने 'काव्यालोक' नामक ग्रन्थ में चमत्कार को काव्यात्मा माना है। और उसकी विशद व्याख्या भी की है।[2] रसगंगाधरकार पंडितराज जगन्नाथ ने भी लोकोत्तराह्लाद का अपर पर्याय चमत्कार को ही माना है और इसे अनुभव-सिद्ध कहा है।[3]

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने चमत्कार के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करते हुए लिखा है कि—'चमत्कार से हमारा अभिप्राय यहां प्रस्तुत वस्तु के अद्भुतत्व या वैलक्षण्य से नहीं, जो अद्भुत रस के आलम्बन में होता है। 'चमत्कार' से हमारा तात्पर्य उक्ति के चमत्कार से है, जिसके अन्तर्गत वर्णविन्यास की विशेषता (जैसे अनुप्रास में) शब्दों की क्रीड़ा (जैसे श्लेष, यमकादि में) वाक्य की वक्रत या वचनभंगी (जैसे काव्यार्थापति, परिसंख्या, विरोधाभास, असंगति इत्यादि में) तथा अप्रस्तुत वस्तुओं का अद्भुतत्व अथवा प्रस्तुत वस्तुओं के साथ उनके सादृश्य या सम्बन्ध की अनहोनी या दूरारूढ़ कल्पना जैसे उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति आदि में, इत्यादि बातें आती हैं'।[4]

---

१. (क) यह पंडित विश्वेश्वर 'अलंकार-कौस्तुभ' के लेखक आचार्य विश्वेश्वर से भिन्न है। इसका काल १३३० ईस्वी पश्चात् है, परन्तु अलंकारकौस्तुभ का लेखक १८वीं शताब्दी का है। चमत्कार-चन्द्रिका की पाँडुलिपि मद्रास सरकार की ओरियंटल लायब्रेरी (आर २६७६) में है।

(ख) चमत्कारस्तु विदुषामानंदपरिवाहकृत्।
गुणं रीतिं रसं वृत्तिं पाकं शय्यामलंकृतिम्,
इण्डिया आफिस, पांडुलिपि नं० ३६६६
(उद्धृत-सम कन्सेप्ट आफ अलंकारशास्त्र—डा० राघवन, पृष्ठ २७०)

२. विशिष्टशब्दरूपस्य काव्यस्यात्मा चमत्कृतिः।
उत्पत्तिभूमिः प्रतिभा मनागत्रोपपादितम्॥
(पीटरसन्स, तृतीय रिपोर्ट—पृष्ठ ३५६-३५७)
(उद्धृत—सम कनसेप्ट्स आफ अलंकारशास्त्र—डा० राघवन, पृष्ठ २७०)

३. रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्। रमणीयता च लोकोत्तराह्लादजनकज्ञानगोचरता।
लोकोत्तरत्वं चाह्लादगतः चमत्कारापरपर्यायः अनुभवसाक्षिको जातिविशेषः।
रसगंगाधरः—पंडितराज जगन्नाथ, पृष्ठ १०

४. चिन्तामणि—दूसरा भाग, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ १६२

आचार्य शुक्ल के इस कथन से चमत्कार और अलंकार का निकटतम सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है।

बिहारी के इस पद में ध्वनिकाव्य और परिसंख्या, काव्यलिंग तथा रूपकालंकार कितने चमत्कारविधायक हैं, यह सहृदयवेद्य ही है।

पत्रा ही तिथि पाइए वा घर के चहुं पास।
नित प्रति पून्यौई रहत आनन ओप उजास॥

यहां चमत्कारितम काव्य के लिए अलंकार का प्रयोग चमत्कारकारक प्रमाणित होता है।

क्षेमेन्द्र तथा विश्वेश्वर ने भी चमत्कार का सम्बन्ध अलंकार से माना है। आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त तथा कुन्तक ने रसोत्कर्ष-प्रकरण में अलंकार-प्रयोग से चमत्कारित्व को सिद्ध किया है। रीतिकालीन काव्य-शास्त्र में चमत्कार पर सर्वथा ध्यान नहीं दिया गया है। इसलिए इस सम्बन्ध में किसी आचार्य ने अपनी कलम नहीं उठाई।

भाव और अलंकार

अलंकार अभिव्यक्ति के लिए शब्दाभाव की पूर्त्ति भी करते हैं और कभी-कभी भाव को तीव्रता भी देते हैं। भाव में तीव्रता की योजना से ही अलंकार की सार्थकता है, क्योंकि ऐसी ही दशा में भाव उद्‌बुद्ध होकर रसोन्मुख हो जाता है। भाव का सम्बन्ध मानसिक शक्ति से है। मनोविज्ञान के अनुसार भाव की चर्चा यहां अपेक्षित नहीं, वह अन्य अध्याय में होगी, परन्तु आलोचना-क्षेत्र में भाव को जिस रूप से लिया गया है, वह भी मनोविज्ञान की परिधि को त्याग नहीं सका है। भाव और अलंकार के सम्बन्ध में विचार करने से पूर्व भाव का विवेचन आवश्यक है।

आचार्य भरत ने 'नाट्यशास्त्र' में प्रश्न उठाया है कि क्या भाव 'भावयन्ति' (परिव्याप्ति) होने के कारण भाव कहलाते हैं? उत्तर भी स्वयं भरत ने दिया है कि ये भाव इसलिए कहलाते हैं कि अनुभावों के वाचक, सात्विक, आंगिक तथा आहार्य प्रदर्शन द्वारा ये (काव्य) नाटक के अर्थ को भावित अर्थात् व्यंजित करते हैं। 'भाव' का अर्थ कारण है, क्योंकि यह भावित, वासित तथा कृत का समानार्थक है और उसकी मूलधातु 'भू' का अर्थ है सत्ता या परिव्याप्त होना। इस प्रकार जब विभाव तथा अनुभाव का अर्थ दर्शक के मन में परिव्याप्त किया जाता है, (गमयते) तो इसे भाव कहते हैं। वस्तुतः भरत के अनुसार मानसिक अवस्थाओं का व्यंजक

प्रदर्शन ही भाव है,[1] परन्तु यह 'भाव' की व्याख्या रसपरक तथा नाटक के विधानानुकूल है।

धनंजय ने भी 'दशरूपक' में भाव का लक्षण दिया है, उसका कहना है कि आश्रय की सुख-दुःखादिक भाव-स्थितियों के ज्ञापन को भाव कहा जाता है।[2] इससे सामाजिक के अन्तःकरण में आश्रय की भाँति भावस्थिति बन जाती है। धनंजय का मत है कि सात्विक भावों को भी भाव की संज्ञा दी जाती है। क्योंकि ये सत्व (मानसिक स्थिति विशेष) से उत्पन्न होते हैं। सत्व का अर्थ है, अनुकार्य रामादि के दुःख-सुखादि भाव से भावक के चित्त का भावित होना। धनंजय का भाव-सम्बन्धी विवेचन भी रसानुकूल तथा नाटकविधान से सम्बद्ध है। आचार्य मम्मट ने भाव की चर्चा करते हुए कहा है कि देवादि विषयक रति (आदि शब्द से सभी स्थायीभाव) और व्यंग्य व्यभिचारीभाव 'भाव' कहलाते हैं। लक्षण में आदि शब्द से मुनि, गुरु, राजा और पुत्रादि विषयक रति का ग्रहण करना चाहिए। ऐसा ही रति-ग्रहण 'भाव' पदवाची होता है। स्त्रीविषयक 'रति' व्यक्त होने पर 'श्रृंगार' का नाम धारण कर लेती है।[3]

'साहित्य-दर्पण' में आचार्य विश्वनाथ ने भाव का मार्मिक लक्षण दिया है कि 'जन्म से निर्विकार चित्त में उद्बुद्धमात्र विकार को भाव कहते हैं।' यह लक्षण अलंकार-क्षेत्र के लिए अत्यन्त उपयोगी है।[4]

---

१. भावानिदानीं व्याख्यास्यामः। अत्राह—भावा इति कस्मात् किं भवन्ति इति भावाः किं वा भावयन्ति इति भावाः। उच्यते वागंगसत्वोपेतान् काव्यार्थान् भावयन्ति इति भावा इति। भू इति करणे धातुः तथा च भावितं, वासितं कृतमित्यनर्थान्तरम्। लोकेऽपि च सिद्धमहो ह्यनेन गन्धेन रसेन वा सर्वमेव भावितमिति। तच्च व्याप्त्यर्थम्। श्लोकाश्चात्र भवन्ति—

विभावैराहृतो योऽर्थो ह्यनुभावैस्तु गम्यते।
वागंगसत्वाभिनयैः स भाव इति संज्ञितः ॥७-१॥
वागंगमुखरागेण सत्वेनाभिनयेन च।
कवेरन्तर्गतं भावं भावयन्भाव उच्यते ॥७-२॥

नाट्यशास्त्रम्—भरत, पृष्ठ १०५

२. सुखदुःखादिकैर्भावैर्भावस्तद्भावभावनम् ॥

दशरूपकम्—धनंजय, पृष्ठ १८०

३. रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाञ्जितः ॥४-३५॥ भावःप्रोक्तः
आदिशब्दान्मुनि-गुरु-नृपपुत्रादिविषया, कान्ताविषया तु व्यक्ता, श्रृंगारः।

काव्यप्रकाशः—मम्मट, पृष्ठ १४०

४. निर्विकारात्मके चित्ते भावः प्रथमविक्रिया।
जन्मतः प्रभृति निर्विकारे मनसि उद्बुद्धमात्रो विकारो भावः ॥

साहित्यदर्पणः—विश्वनाथ, पृष्ठ ८३

रीतिकाल में आचार्य कुमारमणि ने 'रसिक-रसाल' में भाव का लक्षण दिया है, जो आचार्य मम्मट तथा उनके पूर्ववर्ती संस्कृत-आचार्यों के लक्षणों के आधार पर लिखा गया है। कुमारमणि शास्त्री ने रसानुकूल विकार को भाव माना है। चित्त में उत्पन्न होने वाले भावों को आन्तरिक मानते हुए उनमें स्थायी और व्यभिचारी को स्वीकार किया है तथा शारीरिक भावों में सात्विकों को गिना है—क्योंकि इन सात्विक भावों की स्पष्ट अभिव्यक्ति शरीरांगों पर होती है।[1]

'रसपीयूष-निधि' में सोमनाथ ने भाव को वासनारूप माना है। तथा रसानुकूल विकार को ही भाव कहा है।[2]

'रस-रहस्य' में कुलपति मिश्र ने भाव को 'निश्चल इच्छा वासना' कहा है। रस का मूल भाव को माना है।[3] आधुनिक काल में आचार्य शुक्ल ने प्रत्ययबोध, अनुभूति और वेगयुक्त प्रवृत्ति—इन तीनों के गूढ़ संश्लेषण का नाम 'भाव' है—ऐसा माना है।[4]

ऊपर दिये गये भाव-लक्षणों से यह स्पष्ट है कि संस्कृत तथा हिन्दीभाषा के सभी आचार्यों ने भाव का लक्षण रस को दृष्टिगत रखते हुए लिखा है। रस की महत्ता से बाहर देखने का प्रयास नहीं हुआ।

ध्वनि-परवर्ती आचार्यों ने अलंकारों का विवेचन भी रसपरक दृष्टि से किया तथा अलंकार-क्षेत्र को इतना विस्तृत किया कि नायिकाओं के 'अंगज अलंकारों' का विस्तृत विवरण भी प्रस्तुत किया गया, भाव इन्हीं 'अंगज अलंकारों में एक बन गया। आचार्य विश्वनाथ ने भाव-हाव-हेला को अंगज अलंकार माना है।[5]

---

१. रस अनुकूल विकार सों भाव कहत कवि धीर।
चित्त जनित आंतर कहत, दूजौ है शरीर ॥४-१॥
रसिक-रसाल, कुमारमणि शास्त्री, पृष्ठ ३७

२. रस को मूल भाव पहिचानौ—ताको यह लक्षन उर जानौ।
चित्तवृत्ति ही लो ठहराई। भाव वासना रूप बताई ॥
रसानुकूल विकार जु होत। तासौ भाव कहत कवि गोत ॥७॥
चितु कछु हेतुहि पाइ अब होइ और तें और।
ता कौ नाम विकार कहि बरनत कवि सिरमौर ॥
रसपीयूषनिधि—सोमनाथ, पृष्ठ ४८-४६

३. रसका मूल भाव है। इस कारण प्रथम ही भाव के लक्षण कहते हैं—
हियो रहै जब लगी रहै सब वृत्तिन को भूप।
निश्चल इच्छा वासना भाव वासना रूप ॥१०॥
रसरहस्य—कुलपति मिश्र, पृष्ठ १२

४. रसमीमांसा—आचार्य रामचंद्र शुक्ल, पृष्ठ १६८

५. अथासामलंकाराः—यौवने सत्वजास्तासामष्टाविशंतिसंख्यकाः।
अलंकारास्तत्र भावहावहेलास्त्रयोऽङ्गजाः ॥३-८६॥
साहित्य-दर्पणः—विश्वनाथ, पृष्ठ ८२

भाव नामक अलंकार

अलंकार-क्षेत्र में 'भाव'अलंकार का लक्षण सर्वप्रथम आचार्य रुद्रट ने किया है। इस लक्षण में कहा गया है कि जिस अप्रतिबद्ध हेतु से उत्पन्न होता हुआ, जिसका विकार अर्थात् उस कार्य के विशिष्ट अभिप्राय को व्यक्त करवा देता है और उसके प्रतिबन्ध को भी दर्शाता है तो उसे भावालंकार कहते हैं। भावालंकार(अन्य भेद)का अन्य लक्षण देते हुए आचार्य रुद्रट ने कहा है कि जब कथन के द्वारा अपना अन्य अभिप्राय सूचित कर दिया जाए तब भी भाव अलंकार होता है। भावालंकार के द्वितीय भेद का उदाहरण उस मूढ़ यात्री का दिया गया है, जिसके निवासार्थ याचना करने पर साभिलाषा नारी कहती है कि मैं घर में अकेली हूं। गृहपति विदेश गया हुआ है। और यह सास अन्धी और बहरी है, तब भी क्या तुम यहां निवासार्थ कह रहे हो? साभिलाषा नारी का यात्री से कथन तो और है परन्तु अभिप्राय यह है कि इच्छानुकूल निश्चित भाव से यहाँ निवास करो।[1] आचार्य भोज ने अभिप्राय के अनुकूल प्रवृत्ति प्रकट करने को भावालंकार माना है। उसके उद्भेद और निरुद्भेद दो भेद भी किए हैं। निरुद्भेद भाव की अभिव्यक्ति इंगिताकार से मानी है।[2] आचार्य अप्पय्य दीक्षित ने प्रेयस् अलंकार को ही भावालंकार माना है। प्रियतर आख्यान ही दण्डी ने प्रेयोऽलंकार कहा है। अप्पय्य दीक्षित तक आते आते इस अलंकार का रूप प्रिय-वचन मात्र रह गया।[3]

रस तथा अलंकार-क्षेत्र के 'भाव' सम्बन्धी लक्षण में अन्तर

रसपरक भाव की लक्षण-व्याख्या अलंकारपरक भाव से सर्वथा भिन्न है। अलंकार-क्षेत्र में भाव को अभिप्राय-विशेष के कथन के लिए प्रयुक्त किया गया है

---

१. यस्य विकारः प्रभवन्नप्रतिबद्धेन हेतुना येन।
गमयति तदभिप्रायं तद्प्रतिबन्धं च भावोऽसौ ॥७-३८॥
अभिधेयमभिधानं तदेव तदसदृशसकलगुणदोषम्।
अर्थान्तरमवगमयति यद्वाक्यं सोऽपरो भावः ॥७-४० ॥
उदाहरण—एकाकिनी यदबला तरुणी तथाह
अस्मिन्गृहे गृहपतिश्च गतो विदेशम्।
किं याचसे तदिह वासमियं वराकी।
श्वश्रूर्ममान्धबधिरा ननु मूढ़ पान्थ ॥७-४१॥
काव्यालंकारः—रुद्रट, पृष्ठ २३

२. अभिप्रायानुकूल्येन प्रवृत्तिः भाव उच्यते।
सोद्भेदोऽथनिरुद्भेदश्चैकतश्चाभिमतश्च सः ॥१७६॥
निरुद्भेदस्तु यो भावः स सूक्ष्मस्तैर्निगद्यते।
इंगिताकारलक्ष्यात् सः सूक्ष्मात् स्यात् भूमिकान्तरम् ॥१८१॥
सरस्वतीकंठाभरणम्—भोज, पृष्ठ ४०३ (क) ४०४ (क)

३. प्रेयोऽलंकार एव भावालंकार उच्यते
कुवलयानंदः—अप्पय्य दीक्षित, पृष्ठ २७०

और रस-क्षेत्र में तो रसमूल माना गया है। भावालंकार में मूल की अपेक्षा भाव को अवान्तर अभिप्राय स्वीकार किया गया है, चाहे मूल वही है और कथन में भिन्नता है, अर्थात् मूलभाव की अभिव्यक्ति के लिए अन्य भावबोधक शब्दों का प्रयोग भावालंकार में होता है।

भाव और अलंकार का सम्बन्ध

साहित्य मानवजीवन का प्रतिबिम्ब मान लिया जाये तो चित्तवृत्ति या वासना रूप भाव से सारा साहित्य आवृत है। ऐसी स्थिति में अलंकार भी भावक्षेत्र में आ जाते हैं, परन्तु विशुद्ध भाव और उसके चमत्कार-साधन-रूप अलंकार में अन्तर अवश्य है। अलंकार अभिव्यक्ति की शैली है और भाव मूलत: मानव-चित्तवृत्ति है। दोनों का सम्बन्ध अभिधेयाभिधान (वाच्य-वाचक) का है। इतने पर भी यह देखा जाता है कि कहीं-कहीं मूलभाव ही अलंकार का रूप ले जाता है, जैसे कि ऊपर रुद्रट, भोजादि के भावालंकार-लक्षण से व्यक्त है। कभी-कभी भाव की स्थिति को तीव्र रूप में प्रकट करने के लिए कल्पना का आश्रय लेना पड़ता है और वहीं उसमें अलंकार आ बैठता है।

उल्लेख अलंकार भाववर्णन के अतिरिक्त क्या है? एक वस्तु को भिन्न रूपों में देखना अथवा भिन्न व्यक्तित्वों द्वारा एक वस्तु का भिन्न-भिन्न वर्णन ही उल्लेख है, तब यहाँ चमत्कार भाव का ही है। भाव-वर्णन में स्वतः इतना सौन्दर्य है कि उसके लिए अलंकार नाम धरने की आवश्यकता नहीं। विभिन्न रूप-भावों में एक वस्तु को देखना स्वतः प्रवर्त्तित शोभारूप है। इसलिए उल्लेख को भाव के अतिरिक्त क्या माना जाए। स्मृति, भ्रम, सन्देह में भी अलंकार-चमत्कार के लिए स्थान कहां है? ये केवल चित्तवृत्तियां ही तो हैं जिनमें प्रस्तुत से स्मरण, भय, निश्चय, तथा विकल्प भाव काम करते हैं। 'दृष्टान्त' और 'निदर्शना' में भाव-भिन्नता-वर्णन के अतिरिक्त क्या है? अलंकार के शोभाधायकत्व या चमत्कारवर्धकत्व धर्म के लिए स्थान कहाँ है? व्याजनिन्दा, व्याजस्तुति, प्रहर्षण, विषादन, उल्लास, तिरस्कार, प्रशस्ति, वीप्सा, मिथ्याध्यवसिति, परिवृत्ति, ललित, अवज्ञा, अनुज्ञा, लेश, रत्नावली, अनुगुण, सूक्ष्म, विरोध, पिहित, उदात्त, अत्युक्ति और प्रतिषेध नामक अलंकारों में चित्तवृत्तियां ही प्रधान हैं। शोभाकर मित्र द्वारा अलंकाररत्नाकर में वर्णित आदर, अनादर, विनोद, वितर्क, विकल्पाभास, सन्देहाभास, विपर्यय, समता तथा उद्रेक, कैसे अलंकार बना दिए गए, समझ में नहीं पड़ता। ये सब भाव कोटि में ही आते हैं। वितर्क की गणना व्यभिचारी भावों में की गई है। अलंकार तो नाम भर देदिया गया है। निन्दा व्याज से की जाए या स्तुति व्याज से। हर्ष, विषाद, उल्लास, तिरस्कार या पुनः पुनः भय अथवा अर्थ-सूचन के हेतु, वीप्सा का नाम दिया जाए। मिथ्याध्यवसिति में झूठ के अतिरिक्त है क्या? ललित, अवज्ञा-अनुज्ञा में भी केवल लालित्यपूर्ण तथा प्रभावशाली भावों की वर्णना ही तो है। उदात्त में अलंकार मानना हास्यास्पद है। अत्युक्ति में अनाधार वर्णन भावों का खिलवाड़ है। इनको अलंकार-क्षेत्र में रखना

कहाँ तक उचित है। जब ऐसी ही चित्तवृत्तियों या भावों के वर्णनमात्र को अलंकार मान लिया जाए तो अलंकार कहां नहीं होता है।

औचित्यसिद्धान्त और अलंकार

औचित्य-सम्प्रदाय की स्थापना आचार्य क्षेमेन्द्र ने की और व्यापक रूप से उसे साहित्यिक उदाहरणों में समन्वित भी किया। औचित्य की काव्यगत चर्चा कई शताब्दियों तक साहित्य में चलती रही, 'औचित्य' शब्द के लक्षण भी लिखे गये और उनका समन्वयात्मक स्वरूप-विवेचन भी हुआ।

औचित्य की परिभाषा

औचित्य की परिभाषा तो आचार्य भरत ने नहीं की, परन्तु उसने व्यावहारिक या प्रायोगिक पक्ष पर अपना मत अवश्य दिया है। आचार्य रुद्रट ने काव्यालंकारों की विवेचना करते हुए औचित्य पद की व्याख्या दोष-विवेचन के प्रसंग में की है। अनुचित भाव को छोड़ने वाले को उन्होंने 'उचित पद' माना है।[1] उसका भावपरक रूप औचित्य है। नमिसाधु ने रुद्रट के 'काव्यालंकार' की टीका में औचित्य की व्याख्या अलंकारों के काव्यगत प्रयोग को लेकर की है, उसकी टीका में लिखा है कि यमक, अनुप्रासादि अलंकारों का स्थान-अस्थान-परिज्ञान से सन्निवेश ही औचित्य है।[2]

आचार्य राजशेखर ने विवेक को उचित-अनुचित का आधार मानकर व्युत्पत्ति की है। जिसे विवेक उचित माने, वही औचित्य है।[3] अपनी पत्नी अवन्ति-सुन्दरी के मत का राजशेखर ने उल्लेख किया है। इस विदुषी ने औचित्य को पाक का रूप दिया है, परन्तु यह पाक रसोचित शब्द, अर्थ तथा सूक्ति के निबंधन से माना है। इस आचार्या का मत रसौचित्य का पक्षपाती है। आचार्य अभिनवगुप्त ने भी उचित शब्द से रसविषयक औचित्य का ही समर्थन किया है और इसे रसध्वनि का जीवित माना है।[4]

---

१. अनुचितभावं मुञ्चति तथाविधं पदं सदपि।
काव्यालंकारः—रुद्रट, पृष्ठ १४२

२. औचित्यं यमकादिविधानास्थानस्थानादिकम्।
काव्यालंकारः—रुद्रट, (टीका नमिसाधु), पृष्ठ ३५

३. (क) उचितानुचितविवेको व्युत्पत्तिः इति यायावरीयः
काव्यमीमांसा—राजशेखर, पृष्ठ १६

(ख) तस्माद् रसोचितशब्दार्थसूक्तिनिबन्धनः पाकः।
काव्य-मीमांसा—राजशेखर, पृष्ठ २०

४. उचितशब्देन रसविषयमौचित्यं भवतीति।
दर्शयन् रसध्वनेः जीवितत्वं सूचयति। तदभावे हि किमपेक्ष्येदमौचित्यं
नाम सर्वत्र, उद्घोष्यत इति भावः।
ध्वन्यालोकः—आनंदवर्धन, (लोचना), पृष्ठ ११

भोज ने 'शृंगारप्रकाश' कृति में औचित्य की व्याख्या करते हुए 'यशोवर्मन्' के 'रामाभ्युदय' नाटक से उद्धरण देते हुए औचित्य की स्थिति का स्पष्टीकरण किया है। वास्तव में यशोवर्मन् ने औचित्य की परिभाषा दृढ़ शब्दों में की है, उनका कहना है कि प्रकृत्यनुगत वचन, पात्रानुकूल रस की स्वावसर-परिपुष्टि, कथामार्ग में अनतिक्रमता, प्रस्तुत संविधानविधि में शुद्धि तथा शब्दार्थ की प्रौढ़ि ही औचित्य है, सावधानी से विद्वानों द्वारा इनका प्रयोग करना चाहिए।[१] इस परिभाषा में प्रकृति-पात्रादि के विषय में औचित्य का निर्देश नाटकक्षेत्र का है, परन्तु यह नाटकेतर साहित्यांगों में भी लागू हो सकता है।

ध्वनिकार के पश्चात् आचार्य कुन्तक ने गुणों की विवेचना में औचित्य का लक्षण दिया है। अलंकारों के प्रसंग में औचित्य का लक्षण नहीं दिया। औचित्य (गुण) के निरूपण में कहा गया है कि उचित वर्णन ही जिसका प्राण है, इस तरह के स्वभाव का महत्त्व स्पष्ट रूप से जिसके द्वारा पुष्ट होता है, वह औचित्य (साधारण गुण) है। इसी भाव की छाया से छायित दूसरा लक्षण भी औचित्य का कुन्तक ने दिया है कि जिससे वक्ता और श्रोता (बोद्धा) के शोभातिशायी स्वभाव से वाच्यार्थ को आच्छादित कर दिया जाता है, वह भी औचित्य (गुण) ही है।[२] आचार्य कुन्तक ने काव्य-जीवित के रूप में औचित्य की परिभाषा नहीं दी है, अपितु गुणों में औचित्य को धर कर उसकी परिभाषा लिख दी है। अन्यत्र आचार्य कुन्तक ने औचित्य को वस्तु के स्वभावोत्कर्ष रूप में कहा है।[३]

आचार्य क्षेमेन्द्र ने औचित्य के पूर्ववर्ती लक्षणों से भिन्नता दिखायी। कुन्तक ने वक्रोक्ति को काव्यजीवित कहा, परन्तु प्रकारान्तर से ही, स्पष्टतः नहीं कहा, कारण रसवादी परम्परा की उत्कृष्टता थी। क्षेमेन्द्र ने औचित्य को काव्यजीवित स्पष्टतः माना। उसे रस-सिद्ध काव्य का स्थिर जीवित स्वीकार किया तथा यह कहा कि कोई वस्तु यदि दूसरी वस्तु के अनुरूप (सदृश) होती है तो आचार्य लोग उसे

---

१. औचित्यं वचसां प्रकृत्यनुगतं, सर्वत्र पात्रोचिता।
पुष्टिः स्वावसरे रसस्य च, कथामार्गे न चातिक्रमः।
शुद्धिः प्रस्तुतसंविधानकविधौ, प्रौढ़िश्च शब्दार्थयोः।
विद्वद्भिः परिभाष्यतामविहितैः एतावदेवास्तु नः॥
शृंगारप्रकाशः—भोज (मद्रास संस्करण), पृष्ठ ४११

२. आंजसेन स्वभावस्य महत्त्वं येन पोष्यते।
प्रकारेण तदौचित्यमुचिताख्यानजीवितम्॥१-५३॥
यत्र वक्तुः प्रमातुर्वा वाच्यं शोभातिशायिना।
आच्छाद्यते स्वभावेन तदप्यौचित्यमुच्यते॥१-५४॥
वक्रोक्ति-जीवितम्—कुन्तक, पृष्ठ १५६-१५८

३. औचित्यं वस्तुनः स्वभावोत्कर्षः।
वक्रोक्ति-जीवितम्—कुन्तक, पृष्ठ १६०

उचित कहते हैं, इसी उचित के भावतत्त्व को ही औचित्य कहा जाता है।[1] जयमंगलाचार्य ने भी 'कवि-शिक्षा' ग्रंथ में क्षेमेन्द्र के ही लक्षण को आधार बना कर औचित्य की व्याख्या की है, परन्तु थोड़ी भिन्नता दर्शायी है और औचित्य को कविता का जीवित तुल्य माना है।[2]

अग्निपुराण में औचित्य शब्द अलंकारांतर्गत स्वीकार हुआ। औचित्यालंकार की परिभाषा में कहा गया है कि रीति वस्तु के अनुकूल वृत्ति रसानुकूल होती है। ऊर्जस्वि और मृदु सन्दर्भ से औचित्य उत्पन्न होता है।[3] 'रसार्णवालंकार' के कर्त्ता श्री प्रकाशवर्ष ने औचित्य से शब्दार्थ का उपकार्योपकारकत्व सम्बन्ध मानकर इसे काव्य का उत्कर्षाधायक तत्त्व लिखा है। इससे औचित्य का लक्षण केवल इतना ही द्योतित करता है कि क्षेमेन्द्र का औचित्यलक्षण अपना प्रभाव जमाए हुए था।[4] औचित्य को इन्होंने भी अलंकारों में ही स्थान दिया है।

आचार्य कुप्पू स्वामी ने काव्य में औचित्य का महत्व प्रदर्शित करते हुए कहा है कि सब ही सम्प्रदाय औचित्य के बल पर जीवित हैं, रसोन्नायक सभी काव्यसाधन औचित्य का ही मुख देखते हैं।[5]

इस प्रकार से विभिन्न आचार्यों ने औचित्य की परिभाषाएँ प्रस्तुत कीं, गुण एवं अलंकार के अन्तर्गत उसे समाहित किया, परन्तु यथा-तथा की सीमा में आबद्ध औचित्य काव्य में उचित की भावात्मकता से बाहर न जा सका और औचित्य कुछ काल के लिए ही काव्य-जीवित कहलाने में समर्थ हुआ।

---

१. (क) औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्यजीवितम् ॥५॥
(ख) उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य यत् ।
उचितस्य च यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते ॥७॥
औचित्य-विचार-चर्चा—क्षेमेन्द्र, पृष्ठ ११५-११६

२. औचित्यं श्लाघ्यते तत्र कविता जीवितोपमम् ।
कवयस्तदजानन्तः कथंस्युः कीर्तिभाजनम् ॥
(पीटरसन १ रिपोर्ट, अन्तिम सूची, परिशिष्ट १, पृष्ठ ७८-७९)
उद्धृत-सम कन्सेप्ट्स आफ अलंकारशास्त्र—डा० राघवन, पृष्ठ २४६

३. यथा वस्तु तथा रीतिर्यथावृत्तिस्तथा रसः ।
ऊर्जस्वि मृदु संदर्भादौचित्यमुपजायते ॥
अग्निपुराण—३४५ अध्याय, पृष्ठ ७०५

४. उपकार्योपकारत्वं यत्र शब्दार्थयोर्भवेत् ।
उत्कर्षाधायकं—(प्राज्ञैः) औचित्यं तत्प्रकीर्तितम् ॥
उद्धृत-सम कन्सेप्ट्स आफ अलंकार-शास्त्र—डा० राघवन, पृष्ठ २५२

४. औचितीमनुधावन्ति सर्वध्वनिरसोन्नयाः ।
गुणालंकृतिरीतीनां नयाश्चानृजुवाङ्मयाः ॥
Highways and Byways of Literary Criticism in Sanskrit.
—कुप्पु स्वामी, पृष्ठ २७

अलंकारों का औचित्य से सम्बन्ध

संस्कृत-साहित्य में रस, रीति, ध्वनि, अलंकार, वक्रोक्ति जैसे सम्प्रदाय अपना महत्व बनाए हुए थे, परन्तु औचित्य ने सबको प्रभावित किया। क्षेमेन्द्र ने औचित्य की सीमा विस्तृत की। यद्यपि आनन्दवर्धन ने रस-सिद्धि-हेतु गुण-रीति में औचित्य का सन्निवेश और विवेचन भी किया है, परन्तु अलंकारों तथा औचित्य का सम्बन्ध संस्कृत-आलोचना-शास्त्र में भरत से लेकर क्षेमेन्द्र के परवर्ती आचार्यों तक बड़े महत्वपूर्ण ढंग से विवेचित हुआ।

आचार्य भरत ने औचित्य का बोध कराने के लिए अलंकारों का सहारा लिया। लोकधर्मी नाटक से भी उनका सम्बन्ध था ही। हमें केवल यह दिखाना है कि औचित्य की नींव रस पर बाद में टिकी, पहले अलंकारों पर ही जमी। आचार्य भरत ने कहा कि अदेशज वेष शोभाजनक नहीं होता, मेखला को वक्षःस्थल पर धारण करना और हार को पांव में बांधना हास्यास्पद ही होता है।[1] मेखला और हार सरीखे अलंकारों के बल पर आचार्य भरत ने नाटक (काव्यांग विशेष) में औचित्य के महत्व का प्रतिपादन किया। भामह और दण्डी अलंकारवादी थे, उन्होंने औचित्य-सम्बन्धी मत प्रकारान्तर से व्यक्त किए हैं।

आचार्य हेमचन्द्र ने आचार्य लोल्लट का मत 'काव्यानुशासन' में दिया है। लोल्लट का मत है कि यमक और चित्रबंध सरीखे अलंकार महाकाव्योपयोगी नहीं, महाकाव्य तो रसवद् होना चाहिए।[2] आचार्य हेमचन्द्र भी इसी मत से सहमत रहे।

आचार्य रुद्रट ने अलंकारों के उचित प्रयोग पर अपना प्रबल मत व्यक्त किया। अनुप्रास, यमकादि अलंकारों की चर्चा के अनन्तर कहा कि इन अलंकारों का प्रयोग औचित्य को दृष्टिगत रख कर ही गृहीत-मुक्त रीति से कवीन्द्रों को करना चाहिए। औचित्यविदों को इन शब्दालंकारों का प्रयोग रससिद्धि के लिए विवेकबुद्धि से ही करना चाहिए।[3]

---

१. अदेशजो हि वेषस्तु न शोभां जनयिष्यति।
मेखलोरसि बन्धे च हास्यायैवोपजायते ॥१-६६॥
नाट्यशास्त्रम्—भरत, पृष्ठ ३३७

२. यस्तु सरिदद्रिसागरनगतुरगपुरादिवर्णनैः यत्नः।
कविशक्तिख्यातिफलो विततधियां नो मतः प्रबन्धेषु।
यमकानुलोमतदितरचक्रादिभिदोऽतिरसविरोधिन्यः ॥
अभिमानमात्रमेतद् गड्डरिकादि प्रवाहो वा ॥
काव्यानुशासनम्—हेमचन्द्र, पृष्ठ २१५

३. (क) एताः प्रयत्नादधिगम्य सम्यग् औचित्यमालोच्य तथार्थसंस्थम्।
मिश्राः कवीन्द्रैरघनाल्पदीर्घाः कार्या मुहश्चैव गृहीतमुक्ताः ॥२-३२॥
(ख) इति यमकमशेषं सम्यगालोचयद्भिः।
सुकविभिरभियुक्तैः वस्तु च औचित्यविद्भिः ॥३-५६॥
काव्यालंकारः—रुद्रट, पृष्ठ २०, ३५

ध्वनि-सिद्धान्त के संस्थापक आचार्य आनन्दवर्धन ने रुद्रट के गृहीत-मुक्त विधान को ग्रहण करके अलंकारों के उचित प्रयोग पर बल दिया। रस-भावादि तात्पर्य का आश्रय लेकर विनिविष्ट अलंकार ही अलंकारत्वपदभाक् हो सकते हैं। रसाक्षिप्त एवं सहजगत अथवा अपृथक्-यत्न-निर्वर्त्य होना अलंकारों के लिए आवश्यक है, तभी वे ध्वनिकाव्य में स्थान पा सकते हैं तथा बहिरंग होते हुए भी अन्तरंगत्व का भी संस्पर्श पा जाते हैं। अलंकार के इस सौन्दर्य का वर्णन पाश्चात्य आलोचक लांजिनस ने भी किया है—इनका कथन है कि अलंकार वही सर्वोत्तम माना जाता है जो यह अलंकार है' इसका ध्यान ही पाठक के समक्ष उपस्थित नहीं होने देता, पाठक का ध्यान वह अलंकार के नाते आकृष्ट नहीं करता, अपितु कविता के साथ इतना घुलमिल जाता है कि उसकी पृथक् सत्ता की प्रतीति नहीं होती।[1]

शृंगाररस (विशेषतया विप्रलम्भ शृंगार) में अनुप्रास तथा यमक का विन्यास ध्वनिकार ने वर्जित माना, परन्तु कुन्तक ने औचित्ययुक्त यमक तथा अनुप्रास को रस का पोषक स्वीकार किया, रसविरोधी नहीं कहा। कुन्तक का यह भी कथन है कि कवि अनुप्रास के लिए न अत्यन्त आग्रह दिखाये, न ही उसे अनुकुमार बनाए। पूर्वावृत्त वर्णों को छोड़कर नए वर्णों के आवर्त्तन पर दृष्टि रखनी चाहिए, इससे अनुप्रासालंकार का औचित्य स्पष्टतः ग्राह्य है।[2]

अभिनवगुप्त ने अलंकारौचित्य के सम्बन्ध में लिखा है कि अचेतन (शव) शरीर पर कुण्डल शोभा नहीं देता, क्योंकि उसमें अलंकार्य आत्मा या जीवित का अभाव है और यति के शरीर पर कटकादि आभूषण अनौचित्य के कारण हास्यास्पद हो जाते हैं। कवि के विभावादि औचित्य के परिज्ञान पर बल देते हुए भी अभिनवगुप्त ने अलंकारगत औचित्य का प्रतिपादन किया है, जो कि परम्परा का निर्वाह-मात्र ही लगता है।[3]

---

१. (क) रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धः शक्यक्रियोभवेत्।
अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यः सोऽलंकारो ध्वनौ मतः ॥२-१६॥
अलंकृतीनां शक्तावप्यानुरूप्येण योजनम्।
प्रबन्धस्य रसादीनां व्यंजकत्वे निबन्धनम् ॥३-१४॥
ध्वन्यालोकः—आनन्दवर्धन पृष्ठ १४५, ३५७

(ख) a figure looks lost when it escapes one's notice that it is a figure.
लांजिनस (उद्धृत-भारतीय साहित्य-शास्त्र—बलदेव उपाध्याय, पृष्ठ ५८)

२. नातिनिर्बन्धविहिता नाप्यपेशलभूषिता।
पूर्वावृत्तपरित्यागनूतनावर्तनोज्ज्वला ॥२-४॥
वक्रोक्ति-जीवितम्—कुन्तक, पृष्ठ १६१

३. तथा ह्यचेतनं शवशरीरं कुण्डलाद्युपेतमपि न भाति।
अलंकार्यस्याभावात्। यतिशरीरं कटकादियुक्तं हास्यावहं भवति।
अलंकार्यस्यानौचित्यात्।
ध्वन्यालोकः—आनंदवर्धन (लोचन), पृष्ठ ७५

आचार्य भोज ने पद्य, गद्य तथा मिश्र (उभयात्मक-चम्पूकाव्य) काव्य में अर्थौचित्य के बल पर कवि-गति को ही गति अलंकार माना है। कहने का तात्पर्य यह है कि अर्थौचित्य के कारण ही 'गति' भी अलंकारता को प्राप्त हो गई।[1]

आचार्य क्षेमेन्द्र ने आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्तादि की भांति अलंकारों का अलंकारत्व ही तब माना, जबकि उनका प्रयोग औचित्य से हो। अन्यथा किसी फूहड़ द्वारा पहने गए अलंकारों की भांति वे अलंकार न होकर वैरूप्य के ही कारण बनेंगे। क्षेमेन्द्र ने अलंकारों के लिए उचित स्थान-विन्यास पर बड़ा बल दिया है। कवियों की उक्ति प्रस्तुत अर्थ के अनुरूप अलंकार-विन्यास होने से वैसे ही चमत्कृत होती है, जैसे पीनस्तनों पर रखे हार से हरिण-लोचना सुन्दरी। रसपोषक होने से ही अलंकार का अलंकारत्व औचित्य प्राप्त करता है।[2]

पाश्चात्य आलोचक आचार्य अरस्तू ने पद्य के सौन्दर्य-विधान के अनेक उपाय बताए हैं, परन्तु गद्य को अलंकृत करने का मुख्य साधन 'रूपक' को माना है। रूपक अलंकार है। भारतीय-साहित्य में (संस्कृत तथा अन्य भाषाओं में भी) गद्य-पद्य दोनों में अलंकार-प्रयोग होता है, परन्तु अरस्तू ने रूपक के गद्य में प्रयोग और रूपक-प्रयोग में औचित्य पर बल दिया है। उन्होंने उषा को 'गुलाबी अंगुली वाली' कहना स्वीकार किया है 'बैंगनी अंगुली वाली' या 'लाल अंगुली वाली' नहीं। इसलिए गद्य में रूपकौचित्य के नियमों की चर्चा भी अरस्तू ने की है। परन्तु पद्य में अपेक्षित चर्चा न होने से यह संकेततः लिख दिया है। लांजिनस का अलंकार-औचित्य-सिद्धान्त भी ध्वनिकार से मिलता है। यह पहले कहा जा चुका है।

रीतिकालीन अलंकार-निरूपक आचार्यों ने तो औचित्य के अलंकार-सम्बद्ध-तथ्य का स्पर्श नहीं किया। सर्वांगनिरूपकों में आचार्य देव ने यमक और अनुप्रास को रसपोषक माना है, जिसमें यमक की चर्चा पर कुन्तक का प्रभाव प्रतीत होता है। शेष आचार्यों ने भी औचित्य को विवेचना का विषय नहीं बनाया। अनवाद-परम्परा

---

१. पद्यं गद्यं च मिश्रं च काव्यं यत् सा गतिः स्मृता।
अर्थौचित्यादिभिः सापि वागलंकार इष्यते ॥२-३०॥
सरस्वतीकंठाभरणम्—भोज, पृष्ठ १४६

२. काव्यस्यालमलंकारैः किं मिथ्यागणितैर्गुणैः।
यस्य जीवितमौचित्यं विचिन्त्यापि न दृश्यते ॥४॥
अलंकारास्त्वलंकाराः गुणा एव गुणास्सदा।
औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम् ॥५॥
उचितस्थानविन्यासादलंकृतिरलंकृतिः।
औचित्यादच्युता नित्यं भवन्त्येव गुणा गुणाः ॥६॥
अर्थौचित्यवती सूक्तिरलंकारेण शोभते।
पीनस्तनस्थितेनैव हारेण हरिणेक्षणा ॥१५॥
औचित्य-विचार-चर्चा—क्षेमेन्द्र, पृष्ठ १-३

में औचित्य का स्थान तो बन नहीं सकता था, परन्तु संस्कृतकाव्यशास्त्र की परम्परा के कारण यह तथ्य विद्वज्जन-विदित था कि शब्दार्थमय काव्य में औचित्य का स्थान है, चाहे उन्होंने इसका विवेचन स्वयं आवश्यक न समझा हो।

मुहावरा और अलंकार

मुहावरों का प्रयोग दैनिक तथा साहित्यिक भाषा में होता है। मुहावरा एक फारसी शब्द है और 'हौर' शब्द से बना है। 'गयासुल्लुगात' में इस शब्द के सम्बन्ध में लिखा गया है—

'महावराविज्जम मीम वफतेह बाव बा मकदीगर कलाम करदन ब पासुख-दादन चक दीगर-अजसेराह् बकनज बगेर आं।'[1]

इसका अर्थ है कि मुहादरा 'मीम' पर पेश और बाव पर जबर है, उसका अर्थ परस्पर बातचीत और एक दूसरे के साथ सवाल-जवाब करना है।

मुहावरों का आधार बातचीत है, परन्तु कालक्रम से इसके लक्षण बनते चले गए। विभिन्न भाषाओं में इसके भिन्न-भिन्न लक्षण दिए गए हैं। ऊपर फारसी में मुहावरे के अर्थ का स्पष्टीकरण किया जा चुका है। अंग्रेजी के प्रसिद्ध विद्वान् वेबस्टर साहब ने मुहावरे के बारे में लिखा है—

(१) किसी जाति विशेष अथवा प्रान्त या समाज की भाषा या बोली।[2]

जे० पी० मार्श का मत है कि—

(२) किसी भाषा के उन साधारण नियमों का समाहार जो उस भाषा की व्याकरण-संबन्धी शैली की विशेषता दिखलाता और दूसरी भाषाओं से उसे अलग करता है।[3]

हिन्दी शब्दसागर में लिखा है कि—

(३) मुहावरा-संज्ञा पुं० (१) लक्षणा या व्यंजना द्वारा सिद्ध वाक्य या प्रयोग, जो किसी एक ही बोली अथवा लिखी जाने वाली भाषा में प्रचलित हो और जिस का अर्थ प्रत्यक्ष (अभिधेय) अर्थ से विलक्षण हो, किसी एक भाषा में दिखाई पड़ने वाली असाधारण शब्द-योजना का प्रयोग। जैसे 'लाठी खाना' मुहावरा है।

१. गयासुल्लुगात—गयास, पृष्ठ ४४५

२. The language proper or peculiar to a people, a language to a district or community (a dialect).

वेबस्टरकोष, पृष्ठ १०६७

३. Idiom—signifies the totality of the general rules of construction which characterise the syntax of a peculiar language and distinguish it from other Languages. —G. P. Marsh.

(उद्धृत, बोलचाल—अयोध्यासिंह उपाध्याय, पृष्ठ११५)

क्योंकि इसमें खाना शब्द अपने साधारण अर्थ में नहीं आया है, लाक्षणिक अर्थ में आया है। लाठी खाने की चीज नहीं है पर बोलचाल में 'लाठी खाना' का अर्थ 'लाठी का प्रहार सहना' किया जाता है। इसी प्रकार गुल खिलाना, घर करना, चमड़ा खींचना, चिकनीचुपड़ी बातें करना आदि मुहावरे के अन्तर्गत हैं। कुछ लोग इसे रोजमर्रा या बोलचाल भी कहते हैं। (२) अभ्यास, आदत, जैसे—आजकल मेरा लिखने का मुहावरा छूट गया है।

आचार्य रामदहिन मिश्र ने अपने ग्रंथ में 'हिन्दी मुहावरे' के १२ लक्षण दिए हैं। उनमें से केवल तीन यहाँ उद्धृत किये जाते हैं।

१. (रामदहिन मिश्र का क्रमांक ४) कोई-कोई विलक्षण अर्थ प्रकाशित करने वाले वाक्य को ही मुहावरा कहते हैं। जैसे—बाल की खाल निकालना, दांतों में तिनका दबाना, आठ-आठ आँसू रोना आदि।

२—(५) कितने भंगी-पूर्वक अर्थ-प्रकाशन के ढंग को ही मुहावरा मानते हैं—जैसे फारसी भाषा के कवियों ने इस नई भाषा को शाहजहानी बाजार में अनवस्था में इधर उधर फिरते देखा, उन्हें इसकी भोली सूरत बहुत पसन्द आई वह उसे अपने घर ले गये।

३—(७) कोई-कोई आलंकारिक भाषा को ही मुहावरा कहते हैं—जैसे···बसन्त बरसों पैर, चुनरी चारु चुईसो परै, 'स्वर लहरी आकाश में लहराने लगी', नेत्रों के सामने सब नाचने लगते हैं, तुम पराये धन पर नाचते हो। आदि।

अलंकारों से मुहावरों का सम्बन्ध

मुहावरों में अनेक अलंकार निहित हैं। यद्यपि इस प्रसंग में लोकोक्ति की चर्चा भी असंगत न होगी, तथापि वह अभी अपेक्षित नहीं है। क्योंकि लोकोक्ति तो संस्कृत भाषा-साहित्य की परम्परा से लेकर भाषा-काव्यशास्त्र तक अलंकारपद प्राप्त कर चुकी है। संस्कृतकाव्यशास्त्र में लोकोक्ति अलंकार का प्रयोग भोज, अप्पय्य दीक्षित, आचार्य विश्वेश्वर तथा नृसिंह कवि ने दर्शाया है।[2] भाषा-काव्यशास्त्र में तो प्रायः सभी आचार्यों ने इसे अलंकार का प्रयोग माना है। कहावतें भी लोकोक्ति के अन्तर्गत आ जाती हैं। इसलिए लोकोक्ति की विवेचना आवश्यक नहीं।

मुहावरों का सम्बन्ध लक्षणा और व्यंजना शक्तियों से भी है, अतएव कई अलंकारों के अन्तर्गत आ जाते हैं, परन्तु सभी नहीं। शब्दालंकार भी मुहावरों में प्राप्त होते हैं, अर्थालंकार तो बहुधा हैं ही, अयोध्यासिंह उपाध्याय ने 'बोलचाल' ग्रंथ की भूमिका में लिखा है कि—'शब्दालंकार भी मुहावरों में मिलते हैं किन्तु कहावत

१. (क) बोलचाल—अयोध्यासिंह उपाध्याय, पृष्ठ १८८
(ख) हिन्दी मुहावरे—रामदहिन मिश्र, पृष्ठ ६

२. कुवलयानन्दः—अप्पय्य दीक्षित, पृष्ठ २५६, अलंकारदीपिका—विश्वेश्वर, पृष्ठ ४० नंजराजयशोभूषणम्—नरसिंह कवि, पृष्ठ २१८

में उनका आधिक्य है। स्वभावोक्ति, ललित, गूढ़ोक्ति अलंकारों के अतिरिक्त मुहावरों में उपमा, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति आदि अलंकारों की भरमार है'।[1]

मुहावरा तथा अलंकार का लक्षण-साम्य

संस्कृत के आलोचना-साहित्य में आचार्य दण्डी ने काव्य के शोभाकारक धर्मों को अलंकार माना है। आचार्य मम्मट का कथन है कि जो काव्य में वर्तमान उस अंगी रस को (शब्द तथा अर्थ रूप) अंगों के द्वारा कभी-कभी उपकृत करते हैं वे अनुप्रास और उपमादि (शब्दालंकार तथा अर्थालंकार दोनों) शरीर के शोभासाधन परम्परया शरीरी आत्मा के उत्कर्षजनक हारादि (शारीरिक अलंकारों) के समान काव्य में अलंकार होते हैं।

अंग्रेजी साहित्य में भी अलंकार की परिभाषा आचार्य मम्मट के समान ही है। वे भी किसी बात को अधिक प्रभावोत्पादक बनाने के लिए सरल और साधारण ढंग को छोड़ कर किसी विचित्र ढंग से उसे व्यक्त करने को अलंकार कहते हैं।[2]

इन दोनों लक्षणों के समान ही मुहावरे का लक्षण फरहंग आसफिया (संख्या-२) में भी दिया गया है—अर्थात् वह कलमा या क्लाम जिसे चन्द सकात ने लगवी मानी की मुनसिबत या गैरमुनसिबत से किसी खास मानी के वास्ते मुख्तस कर लिया हो—यह मुहावरा-लक्षण तथा शब्दसागर के किसी एक भाषा में दिखाई पड़ने वाली असाधारण शब्द-योजना अथवा प्रयोग वाले लक्षण से उपर्युक्त अलंकार-लक्षण प्रायः मिलता है। इन लक्षणों से यह तथ्य सामने आता है कि दोनों ही वैचित्र्याधायक हैं।

आचार्य रामदहिन मिश्र ने अपने 'हिन्दी-मुहावरे' नामक ग्रन्थ की भूमिका में लिखा है—'मुहावरों में अलंकार की भी बड़ी भरमार देखी जाती है। उनमें उत्प्रेक्षा, उपमा, रूपक, अतिशयोक्ति, लोकोक्ति, आदि अलंकार प्रायः रहते हैं। जैसे—मानों धरती पर पैर ही नहीं रखता, बिच्छू सा डस गया, इस बात का झंडा उड़ाए फिरना, आकाश पाताल बांध दिया', हाथ को हाथ पहिचानता है, इत्यादि। अर्थालंकार की भांति शब्दालंकार भी मुहावरे में खूब ही मिलते हैं। जैसे तन छीन मन मलीन दीन हीन हो गया',[3] इत्यादि।

अलंकारों का वर्गीकरण शब्द, अर्थ तथा शब्दार्थ से प्रायशः माना जाता है। अर्थालंकार उपमामूलक, सादृश्यमूलक, लोकन्यायमूलक, विरोधमूलक तथा शृंखलामूलक आदि भेदों से वर्गीकृत हैं। पाश्चात्य साहित्यिक भी सादृश्य (Simlarity) विरोध (Contrast) और सन्निधि (Contiguity) के आधार पर अलंकारों का वर्गीकरण करते हैं। वस्तुतः मानव की बौद्धिक क्रियाएँ ही मुहावरों और अलंकारों

१. बोलचाल—अयोध्यासिंह उपाध्याय, पृष्ठ १७७

२. A deviation from the plain and ordinary mode of speaking with a view to greater effect.
(उद्धृत, मुहावरामीमांसा—डा० ओम्प्रकाश गुप्त, पृष्ठ २९)

३. हिन्दी मुहावरे—रामदहिन मिश्र, पृष्ठ ११

के सम्बन्ध को समेटे हुए हैं। मुहावरों के रूढ़ प्रयोग ही अलंकारकोटि में आते हैं, सभी नहीं। ऊपर दिये गये इन तीनों वर्गों से अलंकारों के विभिन्न रूपों का प्रयोग मुहावरों में द्रष्टव्य है।

सादृश्यमूलक-उपमा—लाल अंगार जैसा होना, आंख का तारा, कलेजे की कोर। बरफ को मात करना (व्यतिरेक) अंगारे उगलना (रूपक, निरंगरूपक अथवा अतिशयोक्ति)।

व्यतिरेक—दादा बड़ा न भैय्या सबसे बड़ा रुपय्या।

अतिशयोक्ति—आसमान से बातें करना, आसमान सिर पर उठाना। काला अक्षर भैंस बराबर, हवा से बातें करना, आदि।

अत्युक्ति—आसमान के तारे उतारना, आग बबूला होना, अँगुली पर नचाना।

स्वभावोक्ति—कांय-कांय करना, बाल खिचड़ी होना, होंठ कँपना, दांत निकालना, दांत दिखाना, आँखें लाल होना, कलेजा कांपना, पीला पड़ना, मुँह सूखना, अंजर पंजर ढीला होना, आदि।

पदार्थवृत्तिदीपक—बाल बीनना, पात पात छानना, आठ-आठ आँसू रोना।

विरोधमूलक—सींक सलाई होना, हाथी होना, दाएं-बाएं न देखना, जीभ कतरनी होना।

लोकन्याय तथा सन्निधिमूलक—दुनिया की हवा लगना, रंग जमाना, पांव जमाना, बिल्ली के भागों छींका टूटना, भीगी बिल्ली बनना, नौ दो ग्यारह होना, कान खड़े होना, सुहाग लुटना।

ऊपर दिये मुहावरों में अलंकार तो माना ही जा सकता है, परन्तु रूढ़ार्थी होने के कारण इन्हें रूढ़ि लक्षणा के क्षेत्र में रखना बहुसम्मत है।

लोकोक्ति अलंकार तो परम्परागत रूप से स्वीकृत एवं ख्यात है, परन्तु रीति-काल के आचार्यों ने कहीं-कहीं अलंकारों को मुहावरों के आश्रित भी रखा है। नीचे दिए गए उदाहरण इस कथन की पुष्ट के लिए पर्याप्त हैं—

(क) प्रवास विरह—

मेह कि हैं सखि आँसू, उसाँसनि
साथ निसा सु बिसासिनि बाढ़ी।
हांसी गयी उड़ी हंसिनि ज्यों,
चपला सम नींद भई अति काढ़ी।
चातकी ज्यों पिय-पीय रटै,
चढ़ी ताप तरंगिनि ज्यों तन गाढ़ी!
केशव नारि दशा सुनि हों अब,
आगि बिना अंग-अंगन डाढ़ी ॥८-४३॥[1]

---

१. कविप्रिया—केशव, पृष्ठ-१४२

यहाँ पांचवीं पंक्ति तक रूपकालंकार दीखता है, परन्तु अन्तिम पंक्ति में आग बिना अंग-अंग जलना (आगि बिना अंग अंग डाढ़ी) में विभावना है कि आग के बिना अंग जल रहे हैं। अंग-अंग जलना रूपी कार्य के कारण विभावनालंकार का चमत्कार है, इसलिए यहाँ इस मुहावरे पर विभावनालंकार टिका हुआ है।

केशव ने 'भूमिश्री' नामक अलंकारों में सागर-वर्णन को भी अलंकार के अन्तर्गत माना है। उसमें मुहावरे के बल पर तद्गत चमत्कार दिखाया गया है—

भूति बिभूति पियूषहु की बिष ईश शरीर कि पाप बिमोहै।
है किधौं केशव कश्यप को घर देव अदेन के मन मोहैं।
संत हियो कि बसै हरि संतन शोभ अनन्त कहै कवि कोहै।
चंदन नीर तरंग तरंगित नागर कोऊ कि सागर सोहै ॥२६ ॥[1]

इस पद में मन मोहैं (मन मोहन) मुहावरा प्रयुक्त किया गया है, जो सागर-वर्णन में चमत्कार ला रहा है।

(ग) गोप कवि ने सीताजी के कष्टों के वर्णन से परिपूर्ण इस पद में मुहावरे द्वारा अलंकार की छटा को प्रस्तुत किया है—

करी करतार ऐसी धरी-धरी पल पलु,
खरी खरी व्याकुल है द्रगहु न डोल हौं।
जरि जाउ लंक, मरि जाउ किनि लंक पति,
होती हो निसंक रंक, तो सो मुख बोलि हौं।
वारिये अनंग अंग अंग की निकाई लखि,
बिना स्याम रंग हो भसम अंग ओलि हौं।
गए मृग संग मृगनैनी कहे हाय आय,
देखी रामचन्द्र, तब ही पै द्रग खोलि हौं।[2]

"दृग खोलना" मुहावरा इस पद में अलंकार का चमत्कार अपने में लपेटे हुए है। सीता की मानसिक तथा शारीरिक कष्ट की परिसमाप्ति रामचन्द्र को देखने से ही होगी और वह (सीता) भी तब दृग खोलेगी (होश में आएगी) जबकि रामचन्द्र जी को आया हुआ देख लेगी।

इस प्रकार रीतिकाल में अलंकारों के लिए मुहावरों का प्रयोग हुआ है. और स्पष्ट है कि मुहावरों के बल पर ही अलंकारों में चमत्कार उत्पन्न हुआ।

शैली और अलंकार

रीति के प्रसंग में ही शैली और अलंकार के सम्बन्ध में विवेचन करना संगत होता, क्योंकि रीति और शैली को आलोचकों का बहुमत भारतीय एवं पाश्चात्य नाम की भिन्नता के अतिरिक्त एक ही मानता है। उसका कारण दोनों में स्वभाव का प्राधान्य मानना है। शैली का सीधा सम्बन्ध शील (स्वभाव) से है और रीति में भी आचार्य कुन्तक ने कवि-स्वभाव की प्रधानता मानी है। दोनों में व्यक्तितत्व निहित

१. कविप्रिया—केशव पृष्ठ ११०
२. रामचन्द्राभरण—गोप, पृष्ठ २१

है, यद्यपि रीति में कम और शैली में अधिक है। अभिव्यंजना के दोनों ही साधन हैं। अभिव्यक्ति का प्रकार होने से शैली अलंकार का एक रूप है।

इन कारणों से शैली की स्थिति अलंकार के साथ कैसी है, यह विचारणीय प्रश्न केवल नवीन नाम के कारण है। विवेचना से पूर्व शैली के विभिन्न लक्षणों पर दृष्टि-निक्षेप आवश्यक है। पश्चिमी विद्वानों के कई शैली-लक्षण प्रसिद्ध हैं :—

१. शैली विचारों का परिधान है।—पोप

२. जब विचारों को तात्विक रूप का आकार दे दिया जाता है तो शैली का उदय होता है।—प्लेटो

३. शैली का अस्तित्व इसमें निहित है कि दिए हुए विचार के साथ उन सब परिस्थितियों को जोड़ दिया जाए, जो कि उस विचार के अभिमत प्रभाव को सम्पूर्णता में उत्पन्न करने वाली हैं।—फ्रांसीसी उपन्यासकार स्तान्थाल

४. प्रभावपूर्ण अभिव्यक्ति ही शैली का अर्थ और दृष्टि है। बर्नार्डशा

ऊपर दिए गए लक्षणों को देखने पर एक तथ्य यह स्पष्ट हो जाता है कि शैली अभिव्यक्ति का प्रभाव-पूर्ण साधन है। यही बात अलंकार के एक संस्कृत-लक्षण में भी विद्यमान है कि अभिधान का प्रकार-विशेष ही अलंकार है।[१] अभिव्यक्ति पक्ष में अलंकार और शैली में कोई मौलिक अन्तर नहीं है। दूसरा तत्व सजावट का है, जो शैली और अलंकार में समान है।

रीति और शैली को समान मान लिया जाए तो रीति में पाए जाने वाले दस या तीन गुणों का आधार इसमें खोजना होगा। दस गुणों में समाधि, श्लेष, समता, अर्थव्यक्ति आदि ने कालान्तर में अलंकार का रूप धारण कर लिया, इसलिए शैली एक प्रकार से अलंकार ही है। इसी के साथ ही शैली में अलंकारों के प्रयोग के कारण अलंकृतशैली (शैलीभेद) भी विख्यात है। केशव की शैली अलंकार-प्रधान मानी जाती है। यह पक्ष सिद्ध करता है कि अलंकार शैली का एक अंग है। अलंकार चारुत्वहेतु है। वाग्-विकल्प होने के कारण आनन्दवर्धन के मतानुसार अलंकार अनन्त हैं। इसलिए अलंकार शैली के सौन्दर्य-वर्धक-तत्व भी सिद्ध होते हैं। इस प्रकार अलंकार एक ओर तो शैली के समकक्ष हैं और दूसरी ओर उसके अंग भी। अलंकारों को विचारों के परिधान के रूप में देखा जा सकता है। अपह्नुति, व्याजस्तुति, आक्षेप तथा व्याजोक्ति जैसे अलंकार विचारों का परिधान ही हैं, जिनमें विचार अपना चमत्कार पाते हैं। अपनी बात को सजाकर प्रस्तुत करने का तत्व भी अलंकार में विद्यमान है। इस प्रकार अलंकार का एक रूप शैली है। इस सम्बन्ध में आचार्य शुक्ल का कथन उचित ही है कि अलंकार कथन की रोचकता, सुष्ठु और प्रभावपूर्ण प्रणाली है। अलंकार है क्या ? सूक्ष्म दृष्टिवालों ने काव्यों के सुन्दर-सुन्दर स्थल चुने

१. अभिधानप्रकारविशेषा एव चालंकाराः।

अलंकार-सर्वस्वम्—रुय्यक, पृष्ठ ६

और उनकी रमणीयता के कारणों की खोज करने लगे। वर्णनशैली या कथन की पद्धति में जो जो विशेषताएं मालूम होती गई, उनका वे नामकरण करते गए। जैसे विकल्प अलंकार का निरूपण पहले पहल राजानक रुय्यक ने किया। कौन कह सकता है कि काव्य में जितने रमणीय स्थल हैं, सब ढूंढ निकाले गये हैं? वर्णन की जितनी सुन्दर प्रणालियां हो सकती हैं, सब निरूपित हो गई है।[1]

हिन्दी-काव्य में शैली और अलंकार

शैली की दृष्टि से विचार करने पर हिन्दी-काव्य में नाथपन्थी साधुओं का वाणी-साहित्य विभिन्न शैलियों का आगार है। संधा भाषा में लिखे गये ग्रंथों में तात्कालिक परिस्थिति के अनुकूल साहित्यिक शैलियों का प्रयोग है। अप्रस्तुतों तथा प्रतीकों की औपम्यमूलक तथा विरोधमूलक द्विविध योजना प्रचलित थी। उससे आगे आकर कबीर का समय तो शैली की दृष्टि से अधिक विचित्र है। नाथपन्थ की होड़ में कबीर ने उलटबाँसियों का प्रयोग किया। शब्दविशेष के भिन्नार्थग्रहण की प्रवृत्ति या शब्द-विशेष में विशिष्टार्थ को निहित करना कबीर जैसे सन्त ने भी उचित माना। उलटबाँसियां शैली का ही एक प्रकार हैं। कहीं-कहीं ये बहुत अधिक चमत्कारपूर्ण है। परन्तु उनमें उपमा एवं रूपक का आश्रय जहां-तहां लिया गया है। जैसे इस पद में—

> ऐसो अचरजु देखिओ कबीर। हरि अंगूरी गदहा चरै।
> दधिकै भोले बिरोलै नीरू। नित उठि हासे हींग भरै॥[2]

इस पद में दधि तथा हरि-अंगूरी का आरोप ब्रह्मज्ञान, और गदहा का कपटी गुरु या कपटी मन पर किया गया है। इस प्रकार के रूपकों को बाँधने की कबीर की शैली प्रसिद्ध ही है। कबीर ने महारस (ब्रह्मानंद) का रूपक शराब की भट्टी से बाँध दिया। उन दिनों तो रूपकालंकार का साहित्य पर साम्राज्य छा गया था।

इसी प्रकार के अनेक पद कबीर ने रचे हैं, जिन में साधारण से विशिष्ट अथवा विपरीतार्थ बौद्धिक व्यायाम के अनन्तर ही ज्ञात होता है। कबीर के अनन्तर जायसी के महाकाव्य'पद्मावत' का अन्योक्ति अलंकार अथवा रूपकमें लिखा गया माना जाना अलंकार-प्रधान शैली का ही रूप है। भले ही अन्य काव्य-शैलियों (प्रबन्धशैली इत्यादि) का समन्वय वहाँ है। कबीर के अनन्तर सूरदास की कूट-शैली पर भी दृष्टि जाती है। कूटशैली में भी निहित गम्भीरार्थ तब समझ जाता है, जब शब्द विशेष में निहित या कल्पित अथवा स्वीकृत अर्थ प्रतीत हो जाय। यह शैली भी अलंकृत ही है। रूपक और अपह्नुति की छटा कई पदों में दीखती है। श्लेष के साम्राज्य में विनोक्ति अलंकार का निर्देशक एक कूट-पद द्रष्टव्य है—

---

१. चिन्तामणि—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ १८५
२. कबीर-ग्रंथावली—डॉ० श्यामसुन्दरदास, पृष्ठ २०८

बीती जामिनी जुग चार ।
जातबेद सुमोहि मारी, बीर भूषन जार।
दनुजपति की अनुज प्यारी गई निपट बिसार ।
नागरिपुभष लगत नाहीं हौं रही पचि हार ॥
कपटहीन न मीन ए री मरन बिछुरत त्यार ।
'सूर' करत बिनोक्त भू चराचर न करत पुकार ॥२३॥[१]

भक्तिकाल के अन्त में आचार्य केशवदास ने अलंकार-प्रधान शैली का आश्रय प्रमुखता से लिया। इसके अतिरिक्त वीरगाथाकाल, भक्तिकाल तथा रीतिकाल में अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन होते रहे। भक्तिकाल में रहस्यवाद एक नवीन शैली के रूप में सामने आया, जिसमें अलंकार-प्रयोग अपेक्षित रहता ही है। रीतिकाल तो अलंकार काल इसलिए भी कहा जाता है कि तब अलंकार-प्रधान शैली का साहित्य अधिक मात्रा में लिखा गया।

विरोधाभास भी घनानंद की विशिष्ट मानसिक स्थिति के कारण किस प्रकार शैली का रूप धारण कर बैठ गया है, यह भी सर्वविदित है। इस शैली का एक उदाहरण द्रष्टव्य है।

सुधा तें स्रवत विष, फूल में जमत सूल,
तम उगलित चन्द, भई नई रीति है।
जल जारे अंग और राग करै सुरभंग,
संपति विपति पारै, बड़ी विपरीति है।
महा गुन गहे दोषै, औषद हू रोग पोषै,
ऐसे जान रस मांहि बिरस अनीति है।
दिनन को फेर मोहिं तुम मन फेरि डारचो,
जहां घन आनन्द न जानौ कैसी बीति है ॥२४४॥[२]

कवि काशीराज ने चित्र-चन्द्रिका में पहेलियां (शब्दालंकार) के अन्तर्गत ही कूटशैली को स्वीकार किया है।[३] यों भी सम्पूर्ण चित्रालंकार शैली के अतिरिक्त है

---

१. साहित्य-लहरी— प्रभुदयाल मीतल, पृष्ठ ५०
२. घनानंद—विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृष्ठ ७३
३. अथ प्रहेलिका अर्थचित्र लक्षणम्—दोहा—
कोऊ बात दुराय के जहां बरनिये मित्र ।
अर्थचित्र के भेद से जानु पहेली चित्र ॥७॥
दृष्टि-कूट शास्त्रोक्त पुनि सहित नाम पुनि जानु ।
अक्षर में तो काढ़िए चारि जाति उर मानु ॥८॥
चित्र-चन्द्रिका—काशीराज, पृष्ठ ८६

ही क्या? मुरज, खड्ग, मयूर, धनुष, हलादि के चित्रों में शब्दों का विन्यास चित्रालंकार शैली का ही एक ऐसा रूप है, जो पाठक को बौद्धिक व्यायाम एवं सन्तोष का अभ्यासी बनाता है और आधुनिक युग के रहस्यवाद, छायावाद, प्रतीकवाद, प्रयोगवाद (नई कविता)—सब शैलीगत वैशिष्ट्य रखते हुए भी अलंकार का सहारा लिए हुए हैं। इससे यह निष्कर्ष निकालना सहज है कि शैली का व्यक्तितत्व अलंकार के चमत्कार तत्त्व से अलंकृत होकर सहृदय को चमत्कृत करने में समर्थ होता है। वास्तव में दोनों ही (शैली-अलंकार) अभिव्यक्ति के परस्पराश्रित दो रूप हैं।

: ५ :

अलंकारों का लक्षण-विकास

अलंकारों की संख्या आचार्य भरत द्वारा निर्दिष्ट केवल चार से आरम्भ होकर संस्कृत-काव्यशास्त्र में ही १२५ से ऊपर तक पहुंच गई। रीतिकाल के आचार्यों ने भी इस संख्या को बढ़ाने में ही अपना योगदान दिया है।

अलंकारों के विकास का मुख्य कारण है, आचार्यों द्वारा उक्तियों के नवीन चमत्कारक रूपों को पहचानना और स्वविवेचन से उन्हें नवीन अलंकारों के नाम-रूपों में प्रस्तुत करना। यही कारण है कि अलंकारों की निश्चित सीमावधि नहीं बाँधी जा सकती और न यह कहा जा सकता है कि अब नवीन अलंकारों के उदय होने की सम्भावना ही नहीं है।

अलंकारों के सम्बन्ध में सूक्ष्म चिन्तन उनके भेदोपभेदों की संख्या में भी वृद्धि करता आया है। एक ही आधार की यदि और भी अनेक उक्तियां समक्ष आती हैं तो विशिष्ट अलंकारों के नवीन भेदों के रूपों में ग्रहण कर ली जाती हैं और यदि समान रूप से बलशाली सिद्ध होती हुई कुछ आधार-पृथक्ता का संवहन करती हैं तो वे नवीन अलंकार का ही आसन ग्रहण कर लेती हैं।

अलंकार और उसके भेदोपभेदों की कहानी बड़ी रोचक है। विशिष्ट पृष्ठ-भूमियों में इसका विकास पिछले अध्यायों में दिखाया गया है, परन्तु अलंकारों के विकास के समान ही अलंकारों के लक्षण-विकास की कथा भी उतनी ही रोचक है।

मानव-मन सतत क्रियाशील है और शास्त्र-निर्माण में मानव के मस्तिष्क की क्रियाशीलता अपने पूर्ण कौशल से सूक्ष्म चिन्तन के द्वारा बाल की खाल निकालती हुई भी अपने सिद्धान्तों को निर्दुष्ट बनाने का भरसक प्रयत्न करती है। अलंकारों के विकास के समान ही आलंकारिकों की मेधा ने अलंकारों का लक्षण-विकास भी किया है। यह लक्षण-विकास वास्तव में अलंकारों का एक क्रमिक विकास है, जिसके मूल में अलंकारों के मूलरूप को समझने का मानसिक संघर्ष विद्यमान है।

लक्षण-विकास का आधार लक्षण-परीक्षण है। अपने से पूर्ववर्ती आलंकारिकों के अलंकार-लक्षण को जब कोई आचार्य अपनी तर्क-कसौटी पर परखता है और यदि वह लक्षण किसी प्रकार अयुक्ति-युक्त, अस्पष्ट एवं संकीर्ण लगता है तो उस लक्षण का पुनर्निर्माण किया जाता है। परवर्ती आचार्य अपनी तर्क-तुला पर तोल कर और तर्क-निकष पर कसकर उसे शुद्ध करता है। स्वरूप स्पष्ट करता है।

व्याप्ति, अतिव्याप्ति आदि दोषों का विचार कर अलंकार-क्षेत्र को निर्धारित करता है। नवीन सम्भावित क्षेत्रों का उद्घाटन भी कर देता है। इस प्रकार विशिष्ट अलंकार का लक्षण पूर्णता की ओर बढ़ने का प्रयत्न करता हैं। प्रत्येक नवीन रचना का नवीन अंश अपने भीतर छिपे नवीन दृष्टिकोण का परिचायक होता है, जो कि तात्विक विश्लेषण का परिणाम है। यही कारण है कि अलंकार-लक्षण विषयक सूक्ष्म अध्ययन के लिये प्रत्येक अलंकार का लक्षण-विकास भी अनिवार्य रूप से अध्ययनीय है।

अलंकारों के लक्षण-विकास की यह यात्रा ज्ञानवर्धक होने के साथ साथ रोचक भी कही जायेगी। यदि एक अलंकार अपने लक्षण-विकास के क्रम में अपना मूल रूप ही खो दे अथवा अपने स्थान को छोड़कर किसी दूसरे स्थान पर जा बैठे, वह अपना नाम ही परिवर्तित कर ले अथवा अपनी स्वतन्त्र सत्ता त्याग कर किसी का भेद मात्र बनकर जीवन व्यतीत करे तो इन परिवर्तनों का अध्ययन रोचक ही होगा। इस लक्षण-विकास के क्रम में ऐसी घटनायें हुई हैं। दण्डी के समाहित अलंकार ने अपने लक्षण-विकास-क्रम की अवस्था में विश्वनाथ के 'समाधि' अलंकार में समाधि ले ली। विशेषोक्ति अलंकार का जो लक्षण दण्डी के युग में स्वतन्त्र सत्ताधीश था, वही अप्पय्य दीक्षित तक पहुंचते-पहुंचते विभावनालंकार का द्वितीय भेद बनकर रह गया। इससे विशेषोक्ति का लक्षण-गृह रिक्त हुआ, और उसमें दूसरा लक्षण आ बैठा, जो वस्तुतः उसके पहले लक्षण से सर्वथा भिन्न था। रुद्रट-कृत व्याघातालंकार अपना मूलरूप छोड़कर भविष्यत् के काव्य-शास्त्र में किसी अन्य लक्षण का प्रतिनिधि बन बैठा और तो और अप्रस्तुतप्रशंसा अनेक अलंकार-ग्रन्थों में केवल अन्योक्ति बनकर रह गई है। कुछ अलंकार ऐसे भी भाग्यशाली हैं, जो अनेक नाम-रूपों से अकेले ही चमक रहे हैं और कुछ अपने प्रतिदिन बढ़ते हुए भेदोपभेदों को लेकर किसी भरे-पूरे परिवार के समान व्यापक-यशस्वी हो रहे हैं। जिन अलंकारों में ऐसे क्रान्तिकारी परिवर्तन नहीं भी हुए हैं, उनमें भी अन्तःसंघर्ष की कमी नहीं है। वे एक-एक अक्षर एक-एक शब्द और अपने लक्षण की एक-एक क्रिया को अनेक क्रिया-प्रतिक्रियाओं के तूफानों से निकालकर चले हैं। उपमा के स्वरूप में उसके 'साम्य' को लेकर कितनी उथल-पुथल मची है और रूपक के 'आरोप, पर न जाने कितने प्रकार के शब्दों के आरोप हुए, आक्षेप भी प्रतिषेधादि के आक्षेप से न बच सका और इसी प्रकार दीपक की लौ भी कितनी बार नहीं उकसाई गई। इसीलिए यह यात्रा कौतूहलवर्द्धक है। यह सम्भव नहीं है कि प्रस्तुत प्रबन्ध में विकास की यह सूक्ष्म प्रक्रिया सभी अलंकारों में देखी जा सके, इसलिए केवल कुछ ही अलंकारों के प्रसंग में यह विवेचन प्रस्तुत किया जा सकता है।

यदि अलंकारों के लक्षणों के विकास की पृष्ठभूमि में ऐतिहासिक दृष्टि से समयापेक्षी मूल्यांकन की बात उठाई जाय तो कहा जा सकता है कि संस्कृत-काव्य-शास्त्र के लगभग दो सहस्र वर्षों में यह विकास सूत्रबद्ध विकास ही रहा। भरत, दण्डी, मम्मट और पंडितराज जगन्नाथ सभी ने पूर्ण विवेचन किया है। हां, अलंकारों

के सम्बन्ध में जैसा दृष्टिकोण दण्डी आदि का था, बीच में वैसा न रहा। जयदेव, अप्पय्य दीक्षित आदि के समय संस्कृत-काव्य-शास्त्र के संध्याकाल में पुनः अलंकारों को लक्षण की दृष्टि से पूर्ण और प्रौढ़ बनाने का यत्न किया गया। जहाँ तक रीति-काल का सम्बन्ध है, उसके केवल दो सौ वर्षों का भी एक काल-विभाजन किया जा सकता है।

केशव से आरम्भ कर गोप तक प्रथम उत्थान के लगभग ७० वर्षों में संस्कृत से अनुवाद करने वालों की संख्या अधिक रही। संस्कृत के अलंकार-विषयक ज्ञान को ज्यों की त्यों भाषा-काव्यशास्त्र में लाने की प्रवृत्ति इन अनुवादकों में विशेष रूप से है। चिन्तामणि, जसवन्तसिंह, मतिराम, कुलपति आदि आचार्य अनुवादक ही हैं।

द्वितीय उत्थान में मौलिकता की भावना ने आचार्यों को लक्षणों में नवीनता लाने की ओर उन्मुख किया। परिणाम यह हुआ कि अधिकतर लक्षण-ग्रन्थ मौलिक होने के स्थान पर शिथिल और अस्पष्ट होते गये। भिखारीदास जैसे कुछ आचार्यों को छोड़कर शेष इसी कोटि के हैं।

रीतिकाल के अन्तिम उत्थान में आलंकारिकों की विश्लेषण-प्रतिभा प्रौढ़ता-ग्रहण करने लगी थी। भाषा में भी विवेचन की शक्ति बढ़ी और साथ ही विचार भी परिष्कार की दिशा में अग्रसर हुए। इस खेवे के आचार्यों ने संस्कृत-काव्य-शास्त्र की सहायता से अथवा मौलिक रूप में भी हिन्दी-काव्यशास्त्र को प्रौढ़ता प्रदान की है। रसिक गोविन्द, अमीरदास निहाल, गोकुल, ग्वाल आदि की गणना ऐसे ही आचार्यों में हैं।

इन तीनों समय-विभागों के कुछ प्रतिनिधि लेखकों के लक्षण यहां उदाहरणार्थ प्रस्तुत हैं :—

मध्य के ७० वर्ष में

(क) जसवन्तसिंह :—है पर्याय अनेक को, क्रम सौं आस्रय एक ॥१४१॥[1]

(ख) मतिराम :—कै अनेक हैं एक में, कै अनेक में एक
रहत जहाँ पर्याय सों, है पर्याय विबेक ॥[2]

(ग) रामसिंह :—क्रम सों एक बहुत थल कहिये।
सो पर्य्याय समझि सुख लहिये ॥२५४॥[3]

अगले ७० वर्ष में

(घ) सेवादास :—छिन ही में छवि और ही ऐसे बरननु होइ।
परजाइ तहि बखानही, ताको बरननु होइ ॥१२६॥[4]

---

१. भाषाभूषण—जसवन्तसिंह, पृष्ठ ७३
२. ललित-ललाम—मतिराम, पृष्ठ ६२
३. अलंकार-दर्पण—रामसिंह पृष्ठ २३
४. रघुनाथालंकार—सेवादास पृष्ठ १८

अन्तिम ६० वर्षों में

(ङ) गोकुल :—एक बीच परजाय जहं कीजै बहुत विचारि।
अलंकार परजाय सो बरनत सुकवि निहारि ॥४२३॥[1]

(क) ब्रह्मदत्त :—एक अनेकन में कहे अलंकार पर्याय ॥११८॥[2]

(ख) रसिकगोविन्द:—क्रम सों अनेक कौ आश्रय एक ही होइ सो प्रथम।[3]

(ग) कविदास :—जहाँ एक को अनेक में वास होय, सो परजाय ॥[4]

इस लक्षण-विकास-सम्बन्धिनी धारणा के अनन्तर क्रमशः शब्दालंकारों तथा अर्थालंकारों में से कतिपय अलंकारों के लक्षण-विकास का इतिहास आगे दिया जाता है।

शब्दालंकार

१. अनुप्रास

आचार्य दण्डी ने अनुप्रास को रसावह कहकर सिद्धान्त-स्थापना की[5] और कालान्तर में आचार्य मम्मट ने अनुप्रास का महत्व उसके रसानुकूल होने में माना है। आचार्य विश्वनाथ तथा हेमचन्द्र ने भी इसी मत की पुष्टि की है। आचार्य नरेन्द्र प्रभसूरि ने इसे सकल-कविकुलाराध्य माना है।[6]

संस्कृतकाव्यशास्त्र में भामह ने सर्वप्रथम अनुप्रासालंकार का लक्षण लिखा है। उन्होंने अनुप्रासों को नानार्थक तथा सदृशाक्षरों वाले माना है। इन अनुप्रासों के प्रयोग से वाणियों में चारुता आ जाती है।[7] आचार्य दण्डी ने लक्षण में नया मोड़ देते हुए कहा कि पादों और पदों में होने वाली वर्णावृत्ति को अनुप्रास कहा जाता है। इस वर्णावृत्ति में पूर्वानुभव-संस्कार-बोध तथा अदूरता की क्षमता होनी आवश्यक है।

---

१. चेतचन्द्रिका—गोकुल, पृष्ठ १०७
२. दीपप्रकाश—ब्रह्मदत्त पृष्ठ ३५
३. रसिकगोविन्दआनंदघन—रसिकगोविन्द, पृष्ठ ६०
४. अलंकारमाला—कवि दास, पृष्ठ ४५
५. यया कयाचिच्छ्रुत्या यत् समानमनुभूयते।
तद्रूपा हि पदासत्तिः सानुप्रासा रसावहा ॥१-५२॥
काव्यादर्शः—दण्डी, पृष्ठ २७
६. (क) रसानुगतः प्रकृष्टो न्यासोऽनुप्रासः।
काव्यप्रकाशः—मम्मट, पृष्ठ ४०४
(ख) अथादौ तावत् सकलकविकुलाराध्यमनुप्रासं लक्ष्यति।
अलंकार-महोदधिः—नरेन्द्र प्रभसूरि, पृष्ठ २०४
७. नानार्थवन्तोऽनुप्रासा न चाप्यसदृशाक्षराः
युक्तयानया मध्यमया जायन्ते चारवो गिरः ॥२-७॥
काव्यालंकारः—भामह, पृष्ठ ९

दण्डी के लक्षण में नानार्थकत्व नहीं रहा।[1] आचार्य उद्भट ने सरूप व्यंजनों के न्यास को अनुप्रासालंकार के लक्षण में आवश्यक कहा। इस व्यंजन-न्यास की पृथक्ता से ही अनुप्रास-भेदों की चर्चा भी उद्भट ने मानी है।[2] आचार्य वामन ने उद्भट के समान ही सरूप व्यंजन-न्यास को मानते हुए भी अनुप्रास के लक्षण में अनुल्वणत्व और जोड़ दिया। इससे अनुप्रास-लक्षण की कोमलता बढ़ चली।[3] आचार्य रुद्रट तथा भोज के अनुप्रास-लक्षणों में किसी नये तत्व का निवेश नहीं हुआ। आचार्य मम्मटकृत लक्षण में वर्णसाम्य की ही प्रधानता स्वीकार की गई। पिछले लक्षणों से इस लक्षण में अन्तर आ गया। उन्होंने विषमता होने पर भी व्यंजनसदृशता को वर्ण-साम्य माना है।[4] आचार्य वाग्भट (प्रथम) ने तुल्यश्रुति वाले अक्षरों की आवृत्ति पर अपने अनुप्रासलक्षण में बड़ा बल दिया है। परम्परागत बात को केवल नये ढंग से कहा है, शेष कुछ नवीन नहीं है।[5] विद्याधर विद्यानाथ ने लक्षणों में व्यंजनावृत्ति पर ही बल दिया है। आचार्य विश्वनाथ ने अनुप्रास-लक्षण में वर्णसाम्य की अपेक्षा शब्द-साम्य को माना है। स्वर की विषमता मम्मट के समान ही मानी है।[6] आचार्य नरेन्द्र-प्रभ सूरि, वत्सलांछन, केशव मिश्र तथा कर्णपूर आदि विद्वानों ने किसी नये तत्व को अनुप्रासालंकार के लक्षण में नहीं जोड़ा, अपितु परम्परा का निर्वाह होता रहा।

अनुप्रास-भेद—संस्कृत-काव्यशास्त्र में अनुप्रासालंकार के भेदोपभेदों का निरूपण सबसे अधिक आचार्य विश्वनाथ ने किया है। उन्होंने छेकानुप्रास, वृत्त्यनुप्रास, श्रुत्यनुप्रास, लाटानुप्रास तथा अन्त्यानुप्रास नामक भेद कहे हैं। आचार्य भामह ने ग्राम्यानुप्रास, लाटानुप्रास तथा आचार्य उद्भट ने छेक, वृत्त्यनुप्रास तथा लाटानुप्रास का निरूपण किया है। इन भेदों की चर्चा तो संस्कृत-काव्य-शास्त्र में प्रायः सभी आचार्यों ने की है। विश्वनाथ ने उसी परम्परा को विकसित रूप में प्रस्तुत किया है, परन्तु श्रुत्यनुप्रास तथा अन्त्यानुप्रास संस्कृत-काव्य-शास्त्र में अधिक प्रचलित नहीं हो पाये।

---

१. वर्णावृत्तिरनुप्रासः पादेषु च पदेषु च।
पूर्वानुभवसंस्कारबोधिनी यद्यदूरता ॥१-५५॥
काव्यादर्शः— दण्डी, पृष्ठ २८

२. सरूपव्यंजनन्यासं तिसृष्वेतासु वृत्तिषु।
पृथक्पृथगनुप्रासमुशन्ति कवयः सदा ॥
काव्यालंकारसंग्रहः—उद्भट, पृष्ठ ५

३. अनुल्वणो वर्णानुप्रासः श्रेयान्। काव्यालंकारसूत्राणि—वामन, पृष्ठ ४७

४. वर्णसाम्यमनुप्रासः स्वरवैसादृश्येऽपि व्यंजनसदृशत्वं वर्णसाम्यम्।
काव्यप्रकाशः—मम्मट, पृष्ठ ४०४

५. तुल्यश्रुतिरक्षरावृत्तिरनुप्रासः स्फुरद्गुणः।
वाग्भटालंकार—वाग्भट, पृष्ठ ८४

६. अनुप्रासः शब्दसाम्यं वैषम्येऽपि स्वरस्य यत्।
साहित्यदर्पणः—विश्वनाथ, पृष्ठ २७५

लाटानुप्रास-छेकानुप्रास— लाटानुप्रास और छेकानुप्रास का लक्षण प्रदेश तथा चतुरजनों से सम्बद्ध है। लाट देश के व्यक्तियों का प्रिय होने से लाटानुप्रास तद्गत सीमा में बंध गया। इसे वाग्देवतावतार आचार्य मम्मट ने पदानुप्रास भी कहा है। छेकानुप्रास में 'छेक' शब्द चतुर जनों के लिए प्रयुक्त होता है। उनका प्रिय होने से यह छेकानुप्रास कहलाया। इसी 'छेक' शब्द की एक और व्युत्पत्ति आचार्य उद्भट के 'काव्यालंकारसंग्रहः' की लघुवृत्ति में प्रातीहारेन्दुराज ने प्रस्तुत की है। इस व्युत्पत्ति का प्रचार साहित्य-क्षेत्र में न्यून ही हुआ। उन्होंने 'छेक' शब्द का अर्थ लिया है कि कुलाय (खोंते या घोंसले) में तल्लीन अथवा बैठने के लिए उत्सुक पक्षियों के मधुर शब्द को 'छेक' कहा जाता है। तद्वत् मधुरा वाणी के कारण इस अनुप्रास का नाम छेकानुप्रास पड़ गया है।[1]

इन दोनों अनुप्रासों के लक्षण में और किसी प्रकार का परिवर्तन या परिवर्द्धन नहीं हुआ। यही लक्षण परम्परागत रूप से प्रचलित रहे।

रीतिकाल में अनुप्रासालंकार का लक्षण प्रधानतया आचार्य मम्मट, विद्यानाथ, विश्वनाथ आदि के अनुयायियों ने तो किया है। आचार्य अप्पय्य दीक्षित की परम्परा का पालन करने वाले आलंकारिकों ने अलंकार-प्रसंग के अन्त में अनुप्रास तथा अनुप्रासभेदों के लक्षणों का निरूपण किया है। लक्षण बहुधा तो परम्परागत रहा, परन्तु वैशिष्ट्य की दृष्टि से आचार्य देव ने अर्थ की अदूरता के साथ ही अनुप्रास को रसपूर मान कर लक्षण में अनुप्रास के शाब्दिक अर्थ को जोड़ दिया है। आचार्य गोप ने व्यवधानपूर्वक पदावृत्ति को छेकानुप्रास के लिए उचित माना।[2] गोप-कृत-लक्षण को रसिक गोविन्द, ब्रह्मदत्त तथा कवि दास से स्वीकार किया। बहुधा आचार्यों ने मम्मट-कृत लक्षण की परम्परा को ही छेकानुप्रास के लक्षण में अपनाया है।

लाटानुप्रास के लक्षण में रीतिकाल के आचार्यों ने पदावृत्ति के साथ अर्थ-भिन्नता की चर्चा की है। लाटदेश के वासियों का प्रिय होने की बात इस काल के आलंकारिक भूल से गये। कारण सम्भवतः यह रहा है कि उस काल के काव्य में अनुप्रास अलंकार का प्रयोग कम नहीं हुआ, तब किसी प्रादेशिक पद्धति से बंधकर चलना रीतिकाल में उपयुक्त नहीं माना गया। आचार्य सोमनाथ ने अपने लक्षण में इसे रसिकजनों को सुख देने वाला माना है। ऐसा मानने में लाटीय जनों का संकेत नहीं मिलता, अपितु इसे रसिक मात्र की प्रियता इस काल में प्राप्त हो गयी थी, ऐसा शुभ

---

१. छेकशब्देन कुलायाभिरतानां पक्षिणामभिधानम्। तदुक्तम् छेकान् गृहेष्वभिरतानु-शन्ति मृगपक्षिणः इति। तेषां च कुलायाभिरतत्वादन्येन केनचिद् अनायास्यमाना-नामनेनानुप्रासेन सदृशी मधुरा वागुच्चरति। अतोऽयमनुप्रासश्छेकैर्व्यपदिश्यते। छेकानुप्रास इति। अथवा छेका विदग्धा : तद्वल्लभत्वादस्य छेकानुप्रासत।...सा लाटदेशनिवासिजन वल्लभत्वाल्लाटानुप्रासो अभिधीयते।

काव्यालंकारसंग्रहः—उद्भट, पृष्ठ ४

२. रामचन्द्राभरण—गोप, पृष्ठ २४

संकेत अवश्य मिल जाता है। छेकानुप्रास में छेक या विदग्ध शब्द का प्रयोग कुलपति ने किया है। अन्य आलंकारिक परम्परा के निर्वाहक रहे हैं।

अन्य अनुप्रास-भेदों का लक्षण रीतिकाल में किसी नये परिवर्तन या परिवर्द्धन का द्योतक नहीं है। आचार्य भिखारीदास ने अवश्य ही तुक का विशद निरूपण किया है। जिसका विवेचन लक्षण-परीक्षण प्रसंग में किया गया है। अनुप्रास का तुकभेद रीतिकाल की मौलिक देन है। इस काल में यमकानुप्रासभेद का निरूपण जसवंतसिंह, भिखारीदास तथा ब्रह्मदत्त ने किया है, जो यमक से भिन्न नहीं। इस तरह तुक के अतिरिक्त रीतिकाल में अनुप्रास तथा अनुप्रास-भेदों के लक्षण में कोई सर्वथा नवीन परिवर्तन दृष्टिगत नहीं होता है।

२. यमक

आचार्य भरत ने शब्दाभ्यास से यमक-लक्षण का आरम्भ किया। पादचर्चा भी उन्होंने की। आचार्य भामह ने पादाभ्यास को प्रमुखता दे दी। इनके अनन्तर आचार्य दण्डी ने यमकालंकार (भेदसहित) के लक्षण का इतना विस्तृत विवेचन किया कि संस्कृत-काव्यशास्त्र में किसी आचार्य को नये लक्षण के निर्माण का साहस न हुआ।

रीतिकाल में आचार्य केशव ने भी दण्डी के समान ही यमक-लक्षण की विस्तृत विवेचना की है। तदनन्तर जसवंतसिंह ने यमकानुप्रास तथा देव ने सिंहावलोकन नामक यमक-भेद का उल्लेख किया। नाम नये हैं। लक्षणों में बहुधा संस्कृत-काव्यशास्त्र के लक्षणों की परम्परा का निर्वाह है। 'रसभूषण' के कर्त्ता याकूबखाँ ने यमक के लक्षण में श्लेष का साहाय्य माना है। जो अब तक यमक-लक्षणों में स्पष्टतः किसी ने नहीं कहा था।[1] अन्य रीतिकालीन आलंकारिकों ने संस्कृत-काव्य-शास्त्रीय परम्परा का ही निर्वाह किया है।

३. चित्र

चित्रालंकार का लक्षण आचार्य दण्डी ने नहीं दिया। गोमूत्रिकाबंध से अपना क्रम चला दिया है। आचार्य रुद्रट ने क्रमिक वर्ण-विन्यास से वस्तुओं की रूपयोजना को चित्रालंकार माना है। इसमें विचित्रता की अनिवार्यता उन्होंने स्वीकार की है। खड्ग, मूसल धनुषादि की आकृति की चर्चा भी आचार्य रुद्रट ने चित्रालंकार के प्रसंग में कर दी।[2] भविष्यत् के संस्कृत-काव्य-शास्त्रियों ने इसी लक्षण को पकड़े रखा। नया तथ्य इस अलंकार के लक्षण में नहीं आया।

रीतिकाल में आचार्य केशव ने इसे समुद्र समान और भिखारीदास ने कवियों की वाणी को थकाने वाला माना है। बलवानसिंह ने चित्रालंकार के लक्षण में तो

---

१. यमक सहित अश्लेष, पुनि पुनि पद आवै वही।
रसभूषण—याकूबखां, पृष्ठ ४२

२. काव्यालंकारः—रुद्रट, पृष्ठ ४६-५०

नई बात नहीं कही, परन्तु उसके शब्दचित्र, अर्थचित्र और संकरचित्र नामक भेदों इतना विस्तृत विवेचन किया है कि चित्रालंकार भी महत्वपूर्ण बन गया है। अर्थालंकारों को भी इस आचार्य ने चित्रालंकार की सीमा में ला दिया है। पंजाबी, फारसी, मराठी आदि भाषाओं के चित्रों की विशद विवेचना की है।

आचार्य केशव तथा बलवानसिंह ने चित्र के लिए अर्ध-बिन्दु, बिन्दु, र-ल, ड-ल, स-ष, व-ब, य-ज आदि अक्षरों के प्रयोग-भेद को अशुद्ध नहीं माना है।[1] चित्रालंकार का क्षेत्र कृषक के हल तथा हल की मूठ तक विस्तृत हो गया।

चित्रालंकार का लक्षण-क्षेत्र-विकास रीतिकाल के काव्यशास्त्र की ऐसा जो तत्कालीन या पूर्ववर्ती किसी भाषा के काव्य-शास्त्र में दृष्टिगत नहीं होता।

४. प्रहेलिका

प्रहेलिकालंकार का सर्वप्रथम भामह ने उल्लेख किया। उन्होंने किन्हीं राम शर्मा द्वारा उदित मानते हुए कहा कि यह नाना धात्वर्थं गम्भीरा और यमक-व्यय-देशिनी होती है। यमक से सम्बन्ध-निर्देश उस काल की यमक-प्रहेलिका-प्रवृत्ति का परिबोधक है। आचार्य दण्डी ने चित्रालंकार के अन्तर्गत प्रहेलिकालंकार की विस्तृत विवेचना की है। तदनन्तर आचार्य रुद्रट, भोज, जयदेव, केशवमिश्र आदि आचार्यों ने इसका लक्षण लिखा है। अग्निपुराण में भेदोपभेदों का पुनः विस्तृत विवेचन है परन्तु आचार्य विश्वनाथ ने इसे रस-विरोधी अलंकार मान कर त्याज्य ठहरा दिया है।[2] इसलिए इसका महत्व ही जाता रहा।

रीतिकाल में प्रहेलिकालंकार के प्रति आलंकारिक प्रायः उदासीन रहे। आचार्य केशवदास ने प्रहेलिका का विवेचन किया। उन्हीं की पद्धति पर रसरूप, बलवानसिंह तथा कवि दास ने चित्रालंकार के अन्तर्गत इसका निरूपण किया है। परन्तु लक्षण में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं है।

५. पुनरुक्तवदाभास

सर्वप्रथम आचार्य उद्भट ने इस अलंकार के लक्षण में भिन्नार्थक एकरूपात्मक पदों के विन्यास को प्रस्तुत किया।[3] आचार्य मम्मट ने इसे उभयालंकार का रूप देकर इसका लक्षण लिखा, तब भी शब्दनिष्ठता को प्रमुखता दी। तदनन्तर आचार्य रुय्यक, हेमचन्द्र, विद्याधर, विद्यानाथ, विश्वनाथ (अर्थालंकार माना है) शोभाकर, वत्सलांछन, नरेन्द्रप्रभसूरि, कर्णपूर तथा नृसिंह कवि ने इसका लक्षण लिखा, परन्तु किसी प्रकार की नवीनता लक्षण में नहीं है।

---

१. (क) कविप्रिया—केशव, पृष्ठ ३०८
(ख) अथ अरघ, बिनु बिन्दु, बिन्दु भूल एकहि जानो।
र ल, ड ल, स ष, व ब, य ज हि सकल समता करि जानो ।।४।।
चित्र-चन्द्रिका—बलवानसिंह, पृष्ठ ३

२. साहित्य-दर्पणः—विश्वनाथ, पृष्ठ २९१

३. काव्यालंकार-संग्रहः—उद्भट, पृष्ठ २

रीतिकाल में चिन्तामणि, भूषण, कुलपति, कुमारमणि, भिखारीदास, रसिकगोविन्द, ग्वाल तथा कवि दास ने इस अलंकार का लक्षण लिखा, चिन्तामणि ने पदविन्यास पर अर्थ में पुनरुक्ति न होने की चर्चा की, परन्तु अन्य आचार्यों ने लक्षण में केवल 'पुनरुक्ति' पद का ही दो बार प्रयोग किया है। वास्तव में "पुनरुक्ति" शब्द का प्रयोग अशुद्ध है। क्योंकि इस अलंकार में तो पर्यायवाची शब्द के प्रयोग से पुनरुक्ति की प्रतीति होती है। तभी यह अलंकार बनता है। रीतिकाल के आचार्य इस अलंकार का लक्षण-विकास तो न कर पाये अपितु इसे ह्रास की ओर ले गये।

६. वक्रोक्ति

वक्रोक्ति अलंकार को कभी शब्दालंकार और कभी अर्थालंकार के क्षेत्र में आचार्य मानते रहे। एकमत से सबने न तो इसे शब्दालंकार माना और न ही इसे अर्थालंकार कहा है। बहुमत इसे अर्थालंकार मानने का पक्षपाती रहा है। तब भी अलंकार रूपसे इस के लक्षण में स्थिरता रही है। इसलिए विवेचन अपेक्षित नहीं, 'वक्रोक्ति और अलंकार' के प्रसंग में इसका विस्तृत विवेचन किया जा चुका है।

७. श्लेष

श्लेष के शब्द और अर्थगत दो भेद हैं। इसे शब्दालंकार मात्र मानने की चर्चा भी संस्कृत-काव्य-शास्त्र में हुई है। शब्द-निष्ठ होते हुए भी अर्थ के कारण इसका महत्व अधिक है। इसलिए बहुमत मान्य होने से अर्थालंकार प्रसंग में इसका विवेचन किया गया है।

अर्थालंकार

उपमालंकार, उपमा-महत्त्व

अलंकार-सम्प्रदाय में स्वीकृत समग्र अर्थालंकारों में उपमा का नाम सर्वप्रथम आता है। इसका अलंकारमूलत्व रूप में महत्व है। सादृश्यमूलक अलंकारों की तो वह आधार-शिला ही है। इसके महत्व-संस्थान तथा वैशिष्टयाख्यान के सम्बन्ध में विद्वानों के विभिन्न मत हैं। दण्डी ने उपमा जो अलंकार-प्रपंच-भूता, वामन ने अलंकार-मूल[२], राजशेखर ने अलंकार-शिरोरत्न, काव्य-संपदा का सर्वस्व और कविवंश की माता[३], रुय्यक ने अनेकालंकारबीजा (मूल)[४] तथा आचार्य अप्पय्य दीक्षित ने

१. उपमा नाम सा तस्याः प्रपंचोऽयं प्रदर्श्यते ॥१४॥

काव्यादर्शः—दण्डी, पृष्ठ ४६

२. संप्रत्यर्थालंकाराणां प्रस्तावः तन्मूलं चोपमेति सैव विचार्यते।

काव्यालंकारसूत्राणि—वामन, पृष्ठ ४८

३. अलंकारशिरोरत्नम् सर्वस्व काव्यसम्पदाम्।
उपमा कविवंशस्य मातेवेति मतिर्मम ॥

राजशेर-मत अलंकारशेखरः—केशवमिश्र, पृष्ठ ३२

४ उपमैवानेकप्रकारवैचित्र्येणानेकालंकारबीजभूतेति प्रथमं निर्दिष्टा।

अलंकारसर्वस्वम्—रुय्यक, पृष्ठ ३२

उसे शैलूषी[1] कहा है। इस प्रकार उपमा का महत्व निर्विवाद है।

१. उपमा

उपमालंकार संपूर्ण अलंकारों में लोक-प्रियतम है। साधारण अशिक्षित व्यक्ति से लेकर प्रौढ़ विद्वान् तक भावाभिव्यक्ति के लिए इसका आश्रय लिया करते हैं। संस्कृत-साहित्य के प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद में उपमा के अनेक उदाहरण उपलब्ध होते हैं।[2] उपनिषदों में भी जहाँ तहाँ उपमाएँ विद्यमान हैं। शास्त्रीय विवेचन के रूप में निरुक्त में उल्लिखित उपमा संबंधी धारणायें सुन्यर एवं दर्शनीय हैं। उपसर्ग प्रकरण में अनु को सादृश्य-बोधक उपसर्ग माना गया है।[3] निपात प्रसंग में इव, न, चित्, नु को उपमार्थक स्वीकार किया गया है। इन चारों निपातों का प्रयोग दिखा कर यह सिद्ध किया गया है कि उपमा का प्रयोग उस काल में भी अच्छी और बुरी परिस्थिति के बोधक भावों के प्रकाशन के लिए किया जा चुका था। इसलिए निरुक्त काल तक उपमा का लक्षण-निरूपण इव, न, चित्, नु—इन निपातों पर आश्रित था। इन ही के प्रयोग से तब उपमा का ज्ञान होता था। तृतीय अध्याय में भी निघंटु के १२ उपमा-वाचक शब्दों में से १० के (एक प्रथम अध्याय चतुर्थपाद, ऊपर दिया जा चुका है, तथा अन्य नवम अध्याय के षष्ठ पाद में देखे जा सकते हैं) उदाहरण-सहित प्रयोग दिखाये गये हैं।[4] गार्ग्य आचार्य के मत से भिन्न वस्तु का उस (उपमान) से सादृश्य ही उपमा है। उपमा का कर्म है गुणवान्, अथवा प्रख्याततम से गुणन्यून अथवा अप्रख्यात वस्तु की तुलना, कभी कभी न्यूनगुण से अधिक गुण (परन्तु प्रख्यात) की तुलना भी हो सकती है।[5]

---

१. उपमैका शैलूषी संप्राप्ता चित्रभूमिकाभेदात्।
रंजयति काव्यरंगे नृत्यन्ती तद्विदां चेतः।
चित्रमीमांसा—अप्पय्य दीक्षित, पृष्ठ ६

२. (क) अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायो मनोजवेष्वसमा बभूवुः।
आदघ्नास उपकक्षास उत्वे ह्रदा इव स्नात्वा उत्वे ददृश्रे।
ऋग्वेदः, सं० ८-२, ३४२

(ख) अभ्रातेव पुंस एति प्रतीची गर्तारुगिव सनये धनानाम्।
जायेव पत्य उशती सुवासा उषा हस्रेव निर्णीते अप्सः॥
ऋग्वेदः, १,१,२४,७

३. अनु—इति सादृश्यापरभावम्। निरुक्तम्—यास्क, पृष्ठ ५६

४. इदमिव (१), इदं यथा (२), अग्निर्नये (३)। चतुरश्चिद् ददमानात् (४)। ब्राह्मणा व्रतचारिणः (५)। वृक्षस्य नु ते पुरुहूत-वयाः (६)। जार आ भगम् (७)। मेषो भूतो इमिन्नयः (८)। तद्रूपः तद्वर्णं तद्वत् (९)। तथेत्युपमाः॥१३॥
निरुक्तम्—यास्क, पृष्ठ-६५ (अध्याय-३)

५. अथात उपमाः यदतत्तत्सदृशम् इति गार्ग्यः तदासां कर्म। ज्यायसा वा गुणेन प्रख्याततमेन वा कनीयांसं वा अप्रख्यातं वा उपमियीते। अथापि कनीयसा ज्यायांसम्। निरुक्तम्—यास्क, ३ अध्याय, पाद-१ पृष्ठ ६७

उपमा के लक्षण-कर्त्ताओं में गार्ग्य आचार्य को सर्वप्रथम माना जा सकता है, जिन्होंने प्रख्यात और न्यूनगुण की तुलना या उपमा की चर्चा की और लक्षण में सादृश्य को प्रधान माना। उपमान का प्रख्यात होना भी स्वीकार किया। वस्तुत: गार्ग्य ने उपमा के लक्षण में अतत् से तत्सदृशता की प्रधानता को सर्वप्रथम मान्य ठहराया है।

उत्तरवर्ती काल में रामायण-महाभारत आदि ग्रन्थों में भी उपमा के उदाहरण तो हैं, परन्तु लक्षण का वहां प्रश्न ही नहीं। दर्शन-शास्त्रों में उपमा नामक प्रमाण मिलता है। परन्तु उसमें उपमा के लक्षण की आंशिक स्वीकृति ही है। अलंकार-रूप से गार्ग्य के अनन्तर भरत ने ही उपमा का लक्षण किया है। भरत ने उपमा के लक्षण में साम्य के हेतु की प्रधानता कहते हुए भी उस में गुण और आकृति समाश्रय की मुख्यता मानी है।[1] भरत ने उपमा-लक्षण में सादृश्य में आकृति-समाश्रय की चर्चा गार्ग्य की अपेक्षा कहीं विस्तार से की है। इससे उपमा के लक्षण में सादृश्य-मूलत्व और गुण-आकृति-समाश्रय—दो तत्व और जा जुड़े। भामह ने तो साम्य को लोकसम्भव ही नहीं माना। उनका कहना है कि एक भाव या वस्तु की किसी दूसरे से समता नहीं हो सकती। यह तो कवि-कल्पित (उपपत्तिकृत) अर्थात् बौद्धिकता-जन्य है।[2] भामह ने उपमा-लक्षण में देश-काल क्रियादि से विरुद्ध उपमान के साथ उपमेय की समता को उपमा कहा और 'गुण-लेशता' का को साथ जोड़ा।[3] लक्षण में समता के लिए गुण-लेश की प्रधानता हो गई, चाहे देशकाल और क्रियादि से अपमान-विरुद्ध हो तो भी भामह के मत में कोई अनौचित्य नहीं।

आचार्य दण्डी ने उपमा-लक्षण में सादृश्य को मूल तो माना, परन्तु यथा कथंचित् की शर्त लगा दी। यद्यपि इसका संकेत भरत ने किंचित्सदृशी उपमा-भेद में दिया हुआ है। और वह सादृश्य भी दो पदार्थों में जैसे-कैसे भी उद्भूत प्रतीत हो, तभी उपमा होती है।[4] अग्निपुराण में भी उपमा में सादृश्य धर्म की चर्चा है और वह भी दण्डी से प्रभावित है।[5] परन्तु यह लक्षण लोक-यात्रा से अनुप्राणित है। उपमा

१. नाट्यशास्त्रम्—भरत, पृष्ठ २६०

२. काव्यालंकार:—भामह पृष्ठ १२

३. विरुद्धेनोपमानेन देशकालक्रियादिभि: ।
उपमेयस्य यत्साम्यं गुणलेशेन सोपमा ॥३०॥
काव्यालंकार:—भामह, पृष्ठ ११

४. यथाकथंचित् सादृश्यं यत्रोद्भूतं प्रतीयते ।
उपमा नाम सा तस्या: प्रपंचोऽयं प्रदर्श्यते ॥१४॥
काव्यदर्श:—दण्डी, पृष्ठ ४९

५. किंचिदादाय सारूप्यं लोकयात्रा प्रवर्तते ।
समासेनासमासेन सा द्विधा प्रतियोगिन: ॥७॥
अग्निपुराणम—पृष्ठ ७०३-७०४

का मूल सम्बन्ध लोक-जीवन से है। इस लिए लक्षण में सादृश्य, न्यूनता, उच्चता और गुण-लेशता का समावेश तब तक हो गया था। भट्टोद्भट ने उपमा-लक्षण में 'चेतोहारित्व' तत्व का समावेश किया। सदृश्यता, गुण-लेशता तथा किंचित्सादृश्य की चर्चा तो रही, परन्तु तब तक लक्षण लोक-जीवन का अनुकारी रहा। उद्भट ने चित्ताकर्षण के साधर्म्य की बात कहकर लक्षण-विकास में नयी कड़ी को जोड़ा और उपमा का लक्षण अलंकार की चमत्कार-जनकता से विमंडित हो उठा। भामह की विभिन्न देशकाल-गुण-दिशा, जात्यादि का कथन उद्भट ने यथावत् स्वीकार किया। वामन का उपमा-लक्षण भी भामह से उपकृत रहा। गुण-लेशता की बात वामन ने भी कही।[1] परन्तु वामन ने उपमा-लक्षण में गार्ग्य की भांति उपमान की उत्कृष्टता और उपमेय की न्यूनगुणता स्वीकार की। साथ ही यह भी कहा कि लोकप्रसिद्ध उपमेय और उपमान ही उपमालंकार के लिए प्रयोज्य हैं, अन्य नहीं।[2] रुद्रट ने भी गुणादि से सिद्ध एक समानता की बात उपमा-लक्षण में जोड़ी। इस आचार्य के लक्षण में गुणादि से गुणसंस्थानादि का बोध होता है, परन्तु यह तात्पर्य भी अभिप्रेत है कि एक गुण से ही उपमान-उपमेय में उपमा बांधी जा सकती है, पर दोनों पक्षों में वह एक गुण रहना चाहिए।[3] उपमा-प्रसंग में शब्द-साम्य का प्रसंग आने से रूपसाम्य एवं प्रभावसाम्य की विवेचना भी अपेक्षित हो जाती है क्योंकि इनमें भी तारतम्य है। सादृश्य के विवेचन में उसका आधार भी विचारणीय है। अतः रुद्रट ने शब्द-साम्य-मात्र को भी उपमा का मूल स्वीकार किया है।[4] शब्दसाम्य श्लिष्टोपमा में, रूपसाम्य, अपह्नुति, उत्प्रेक्षा तथा अतिशयोक्ति में तथा प्रभावसाम्य उपमा और रूपक में स्पष्ट हो जाता है। आचार्य विश्वनाथ ने

---

१. उपमानेनोपमेयस्य गुणलेशतः साम्यमुपमा।
काव्यालंकारसूत्राणि—वामन, पृष्ठ-४८

२. उपमीयते सादृश्यमानीयते येनोत्कृष्टगुणेनान्यत्तदुपमानम्। यदुपमीयते न्यूनगुणं तदुपमेयम्'''यदेवोपमेयमुपमानं च लोकप्रसिद्धं तदेव परिगृह्यते, नेतरत्।
काव्यालंकारसूत्राणि—वामन, पृष्ठ ४८

३. उभयोः समानमेकं गुणादि सिद्धं भवेद् यथैकत्र।
अर्थेऽन्यत्र तथा तत्साध्यत इति सोपमा त्रेधा ॥४॥
प्रस्तावादुपमानोपमेययोः समानं साधारणमेकमद्वितीयगुणादि
गुणसंस्थानादि।'''प्रसिद्धमुपमानं इति न्यायादुपानं लभ्यते।
काव्यालंकारः—रुद्रट, पृष्ठ-९८-९९

४. (क) स्फुटमर्थालंकारावेतावुपमा-समुच्चयौ, किंतु।
आश्रित्य शब्दमात्रंसामान्यमिहापि सम्भवतः ॥
(ख) गुणक्रियासाम्यस्यैवोपमाप्रयोजकता युक्ता, तत्र साधर्म्यस्य वास्तवत्वात्।
शब्दसाम्यस्य तु न तथा, तत्र साधर्म्यस्यावास्तवत्वात् ॥
साहित्य-दर्पणः—विश्वनाथ, पृष्ठ २८८-२८९

रुद्रट के मत की आलोचना करते हुए गुण तथा क्रियाकृत समानता को पूर्णोपमा का स्थल माना है और शब्द-साम्य में उपमा मानने का निषेध किया है। परन्तु अप्पय्य दीक्षित ने शब्द-साम्य में उपमा स्वीकार की है।

कुन्तक ने काव्य में वक्रोक्ति को प्रधानता दी थी, इसलिए उपमालंकार के लक्षण में विदग्धता का समावेश अपेक्षित था। इस दृष्टि से वक्रोक्तिजीवितकार का उपमा-लक्षण पूर्ववर्ती आचार्यों के लक्षणों से भिन्न है। उसके अनुसार वर्णनीय पदार्थ के स्वरूप की सौन्दर्य-सिद्धि के लिए तादृश-विलक्षण सौन्दर्यातिशय सम्पन्न किसी अन्य वस्तु के साथ साम्यप्रदर्शन ही उपमा है। साधारण धर्म के शब्द से उक्त होने अथवा आपेक्ष वाक्यार्थ में अन्वित होने पर इवादि पदों या चमत्कारपूर्ण क्रिया द्वारा साम्य के वाच्य होने की अवस्था में उपमालंकार माना जाता है।[1] कुन्तक के लक्षण में मनोहारित्व की सिद्धि हुई। उत्कर्षवान् उपमान से साम्य तथा क्रियापद की सुन्दरता तीन विशिष्ट तत्व हैं। इवादि पद तो पूर्व लक्षणों में भी निर्दिष्ट रहे थे। प्राचीन आचार्यों की भाँति कुन्तक के मत में भी साम्य युक्ति-युक्त होना चाहिये। पिछले लक्षणों की अपेक्षा इस लक्षण के क्रियापद के सौन्दर्य पर विशेष ध्यान दिया गया है। देश-काल-क्रियादि की चर्चा तो भामह-वामन ने भी की थी, परन्तु इस पर इतना बल उन्होंने नहीं दिया था। लक्षण-विकास में क्रिया-सौन्दर्य की नवीम योजना कुन्तक ने ही की है।

भोज ने उपमा-लक्षण में उपमान-उपमेय में अवयव-सामान्य (आकृति) का योग प्रधानतः स्वीकार किया और प्रसिद्ध उपमान की चर्चा पूर्वाचार्यों के समान की है। परन्तु एक स्थान पर उन्होंने उपमा-भ्रान्ति की चर्चा भ्रान्तिमान् अलंकार में की है।[2] लक्षण में किसी नये तत्व का निवेश भोज ने नहीं किया।

आचार्य मम्मट ने उपमा-लक्षण में केवल साधर्म्य की सत्ता का प्रतिपादन किया है। लक्षण-व्याख्या में यह बताया गया है कि उपमान और उपमेय का ही साधर्म्य होता है। कार्य-कारण आदि का नहीं। इसलिए उनका समान धर्म-संबन्ध-योजना ही उपमा है। मम्मट के काल से पूर्व ही उपमा के लक्षण को निर्दोष बनाने की रीति चल पड़ी थी। दर्शन-शास्त्रगत निर्दुष्ट लक्षण-संबन्धी धारणा का प्रचार

---

१. विवक्षितपरिस्पन्द मनोहारित्वसिद्धये ।
वस्तुनः केनचित् साम्यं तदुत्कर्षवतोपमा ॥३०॥
तां साधारण धर्मोक्तौ वाक्यार्थे वा तदन्वयात् ।
इवादिरपि विच्छित्त्या यत्र वक्ति क्रियापदम् ॥३१॥

वक्रोक्तिजीवितम्—कुन्तक, पृष्ठ-४३२

२. (क) तत्र प्रसिद्धोऽनुरोधेन यः परस्परमर्थयोः ।
भूयोऽवयवसामान्ययोगः सा इह उपमा मता ।

सरस्वतीकण्ठाभरणम्—भोज, पृष्ठ ३६८

(ख) उपमा भ्रान्ति—सरस्वतीकंठाभरणम्—भोज, पृष्ठ-३६३

अलंकार-साहित्य में भी हो चुका था। इसलिए अतिव्याप्ति, अव्याप्ति आदि दोषों का अन्वेषण इस शास्त्र में भी आ गया। अतः इस काल में अन्य अलंकार-लक्षणों की भांति उपमा-लक्षण की-निर्दोषता के लिए व्याख्या होने लगी। उत्तरवर्ती आचार्यों ने मम्मट का ही अनुसरण किया। यह नया परिवर्तन था। रुय्यक और हेमचन्द्र ने केवल 'हृद्यं' शब्द जोड़ा, जो नवीन नहीं, प्रत्युत मम्मट से पूर्ववर्ती आचार्यों ने भी मनोहारित्व रूप से कहा हुआ था।[1] रुय्यक ने भेदाभेदतुल्यत्वे शब्द का प्रयोग किया। उन्होंने सदृश की विवेचना करते हुए कहा है कि जहां कुछ सामान्य और कुछ विशेष रहता है, वह विषय सदृशता का है।[2] भेदाभेदतुल्यत्व की व्याख्या करते हुए वे कहते हैं कि साधर्म्य तीन प्रकार का होता है। १. भेद-प्रधानसाधर्म्य, जैसे कि व्यतिरेकादि अलंकारों में २. अभेदप्रधानसाधर्म्य, जैसे रूपकादि में और भेदाभेद का तुल्यत्व उपमा में रहता है।[3] अर्थात् भेदाभेद-तुल्यता वाले विषय में जो सादृश्य प्रत्यय होता है, वही उपमा का विषय है। सादृश्य में सामान्य का अर्थ अभेद-हेतुकत्व और विशेष का अर्थ भेद-हेतुकत्व है। उपमा में दोनों का तुल्यत्व रहता है।

नरेन्द्रप्रभ सूरि ने अपने उपमा-लक्षण में रुय्यक और कुन्तक के लक्षण को संयुक्त कर दिया, परन्तु उपमान का उत्कर्षकत्व पूर्ववर्तियों की भांति स्वीकरणीय लिखा है। तत्स्वरूपप्रतीतिकृत् शब्द से नरेन्द्रप्रभ सूरि ने यह स्पष्ट कर दिया कि उपमेय में उपमानस्वरूप की प्रतीति होने पर किसी प्रकार का अतिशय प्रकर्ष रहना चाहिए।[4] मनोहारिता का पुराना तथ्य तो अब तक उपमा-लक्षण में चला आ रहा था। हृद्य भी उसी का वाची था। नरेन्द्रप्रभ सूरि ने मनोहारित्व की व्याख्या कर दी कि सचेतन के चित्त का चमत्कारी होना ही मनोहारित्व है। इससे सत्वज्ञेयत्व, प्रमेयत्व, वृत्तत्व आदि के मात्रसाधर्म्य में उपमा नहीं होगी। जैसे कि कुम्भ के समान मुख है, यहां उपमा नहीं होगी। यही बात हेमचन्द्र ने भी अपने काव्यानुशासन में संक्षेपतः कही है।[5]

१. हृद्यं साधर्म्यमुपमा ॥१॥
काव्यानुशासनम्—हेमचन्द्र, पृष्ठ ३३६

२. यत्र किंचित्सामान्यं कश्चित् च विशेषः सः विषयः सदृशतायाः।
अलंकारसर्वस्वम्—रुय्यक, पृष्ठ ३१

३. साधर्म्य त्रयः प्रकाराः भेदप्राधान्यं व्यतिरेकादिवत्। अभेदप्राधान्यं रूपकादिवत् द्वयोस्तुल्यत्वं यथास्याम् ॥···सामान्यमित्यभेदहेतुकम्। विशेष इति भेदहेतुकः।
अलंकारसर्वस्वम्—रुय्यक, पृष्ठ ३१-३२

४. यदुत्कर्षवताऽन्येन तत्स्वरूपप्रतीतिकृत्।
भेदाभेदमनोहारि साधर्म्यं वर्ण्यवस्तुनः ॥७॥
अलंकारमहोदधिः—नरेन्द्र प्रभसूरि, पृष्ठ २३८

५. पुनः कीदृशं साधर्म्यं मनोहारि अचेतनचेतश्चमत्कारितेन सत्व, ज्ञेयत्व प्रमेयत्व वृत्तत्वादिमात्रसाधर्म्येनोपमा यथा कुम्भ इव मुखमित्यादि। शृंगारादौ हास्यादौ तु न दोष इति—
अलंकार-महोदधिः—नरेन्द्रप्रभ सूरि, पृष्ठ २३५

जयदेव ने उपमालंकार के लक्षण को नया मोड़ दिया और कहा कि उत्कर्षवान् उपमान की अपेक्षा उपमा में उपमान और उपमेय दोनों में सादृश्यलक्ष्मी (चमत्कार-जनक सादृश्य) वाच्य रहती है। अब उपमागर्भित अन्य अलंकारों के लक्षणों से पार्थक्य-बोधक शब्दों का प्रयोग भी उपमा-लक्षण में होने लगा। जयदेव ने 'द्वयोः' पद से अनन्वय की व्यावृत्ति की। उल्लसति (उल्लसित होता है, वाच्य रहता है) पद से अलंकार-ध्वनि की व्यावृत्ति की। 'लक्ष्मीः' पद के वस्तुतत्त्व प्रमेयत्वादि के साथ सादृश्य की व्यावृत्ति कर दी। इस प्रकार उपमालक्षण में जो सूक्ष्मता मम्मट से कुछ पूर्व आरम्भ हुई थी, वह अब उपमा अलंकार के लक्षण पर छाने लगी। लक्षण का सूक्ष्मत्व-युग अपनी चरम सीमा को स्पर्श करने लगा।[1] आर्थी उपमा में इस वाच्य-सादृश्य का पक्ष जयदेव ने नहीं माना। गुण-लेशत्व की बात किसी आचार्य को कहनी नहीं भायी। वाग्भटालंकार के कर्त्ता वाग्भट तथा एकावली के लेखक विद्याधर ने उपमालक्षण में किसी विशिष्ट पद को नहीं रखा। वाग्भट ने वद्भट की भाँति प्रत्यय, अव्यय, तुल्यार्थशब्द तथा समास-संकेत दिया है। विद्याधर का लक्षण जयदेव से प्रभावित है।[2] विद्यानाथ के लक्षण में जयदेव की सी चर्चा तो है, परन्तु शब्दान्तर से। इस आचार्य ने उपमान का उपमेय से स्वतः भिन्न होना तथा सहृदयों द्वारा सम्मत होना आवश्यक माना। स्वतःसिद्ध शब्द का प्रयोग उपमा-लक्षण में उत्प्रेक्षा की व्यावृत्ति के लिए किया। उत्प्रेक्षा में अप्रसिद्ध उपमान भी सम्भव है, परन्तु विद्यानाथ को उपमा में अप्रसिद्ध उपमान मान्य नहीं था।[3]

आचार्य विश्वनाथ ने उपमा के लक्षण में और सूक्ष्मता प्रस्तुत कर दी। इन के मत में एक वाक्य में दो पदार्थों के, वैधर्म्यरहित, वाच्यसादृश्य को उपमा कहते

---

१. उपमा यत्र सादृश्यलक्ष्मीरुल्लसति द्वयोः।
अत्र 'द्वयोरिति सागरः सागरोपमा इत्याद्यनन्वयं व्यावृत्तये। उल्लसतीति अलंकार-ध्वनि व्यावृत्तये। लक्ष्मीरिति चमत्कारानाधायकवस्तुत्वप्रमेयत्वादिना सादृश्य व्यावृत्तये। तेनान्यनिरूपितमन्यनिष्ठं चमत्काराधायकं वाच्यं सादृश्यमुपमालंकार इत्यार्थः फलितः न चार्थ्युपमायां सदृशस्यवाच्यतया सादृश्यस्याऽवाच्यत्वेनाव्याप्तिरिति वाच्यम्। चन्द्रालोकः—जयदेव, पृष्ठ ५०

२. विलसति सति साधर्म्येऽस्याद् उपमानोपमेययोरुपमा।
एकावली—विद्याधर, पृष्ठ ८१

३. स्वतः सिद्धेन भिन्नेन सम्मतेन च धर्मतः।
साम्यं अन्येन वर्ण्यस्य वाच्यं चेदेकदोपमा॥
यत्र स्वतःसिद्धेन स्वतोभिन्नेन सहृदयसंमतेनाप्रकृतेन सह प्रकृतस्य धर्मतः सादृश्यमेकदा वाच्यं चेद् भवति तत्रोपमा। स्वतः सिद्धेनेत्यनेनोत्प्रेक्षा व्यावृत्तिः उत्प्रेक्षायामप्रसिद्धस्याप्युपमानत्वसंभवात्।
प्रतापरुद्रीययशोभूषणम्—विद्यानाथ, पृष्ठ २५४

हैं। विश्वनाथ ने लक्षण को निर्दुष्ट बनाने के लिए वाच्य, अवैधर्म्य और वाक्यैक्य पदों को रखा। रूपक, दीपक, तुल्ययोगितादि में सादृश्य व्यंग्य होता है, वाच्य नहीं। व्यतिरेकालंकार में वैधर्म्य का भी कथन हो सकता है। उपमेयोपमा में दो वाक्य होते हैं। अनन्वय अलंकार में एक ही पदार्थ का सादृश्य निरूपित रहता है। इस लिये इन सब अलंकारों से पृथक् करने के लिए उक्त विशेषण उपमा-लक्षण में रखे गए हैं।[1] शोभाकर मित्र ने लक्षण में कोई नवीनता नहीं दी। केशव मिश्र ने उपमान और उपमेय में भेदकता आवश्यक मानी परन्तु नवीनता कुछ नहीं। यही दशा 'काव्य-परीक्षा' के लेखक श्रीवत्सलांछन की भी है। अलंकारकौस्तुभकार कर्णपूर ने उपमा-लक्षण में दण्डी का अनुसरण किया है।[2] कवि कर्णपूर ने साधर्म्य के सम्बन्ध में इतना ही कहा कि वह अंशतः होना चाहिये, न कि सर्वांश रूप से। अप्पय्य दीक्षित ने 'कुवलयानन्द' में तो जयदेव का ही लक्षण दे दिया, परन्तु 'चित्र-मीमांसा' में उपमा के लक्षण की सूक्ष्मता और निर्दोषता पर विशद विवेचन किया। आचार्य दीक्षित ने अन्य आचार्यों के लक्षणों में दोषान्वेषण भी किया। विद्यानाथ के लक्षण को दीक्षित ने कल्पितोपमा में अघटित सिद्ध किया। 'भिन्नेन' पद के प्रयोग को भी सामान्य और विशेष के आधार पर निरर्थक बताया। 'धर्मतः' पद के द्वारा विद्यानाथ ने शब्द-साम्य का निषेध किया है, परन्तु अप्पय्य दीक्षित का कथन है कि उपमा में शब्द-साम्य भी रहता है और रुद्रट इसके पक्षपाती रहे हैं। इसी प्रकार दीक्षित ने भोज के उपमा-लक्षण में भी साधर्म्य-अवयव पद पर आपत्ति की। इस प्रकार पूर्ववर्तियों के लक्षणों पर अनेक आपत्तियां उठाने के अनन्तर अप्पय्य दीक्षित ने स्वयं उपमा के दो लक्षण दिए।[3]

पहले लक्षण में दीक्षित ने माना कि जिस सादृश्य-वर्णन में उपमिति क्रिया की निष्पत्ति हो, वह उपमा है। दूसरे लक्षण में कहा कि जो सादृश्य-वर्णन अपने निषेध में पर्यवसित नहीं हो, वहां उपमा होती है। दीक्षित ने उपमालंकार के उपर्युक्त लक्षण को निर्दुष्ट बनाने के लिए 'अदृष्टं और अव्यंग्यं' शब्द का प्रयोग उपर्युक्त

---

१. साम्यं वाच्यमवैधर्म्यं वाक्यैक्य उपमा द्वयोः ॥१४॥
रूपकादिषु साम्यस्य व्यंग्यत्वम्। व्यतिरेके च वैधर्म्यस्याप्युक्तिः। उपमेयोपमायां वाक्यद्वयम्। अनन्वये त्वेकस्यैव साम्योक्तिरित्यस्या भेदः
साहित्य-दर्पणः—विश्वनाथ, पृष्ठ २६२

२. यथा कथंचित् साधर्म्यमुपमा।
उपमानोपमेययोर्यथाकथंचिद् येन केनापि समानेन धर्मेण सम्बन्ध उपमा।
स च अंशेन न तु सर्वैरंशैः—सर्वांशत्वेनाभेदादुपमानोपमेयभाव एव न भवतीति।
अलंकार-कौस्तुभम्—कर्णपूर, पृष्ठ २७६

३. (क) उपमितिक्रियानिष्पत्तिमत्सादृश्यवर्णनमुपमा।
(ख) स्वनिषेधापर्यवसायि सादृश्यवर्णनमुपमा।
चित्रमीमांसा—अप्पय्य दीक्षित, पृष्ठ २०

उपमा-लक्षण के साथ करना भी अभीष्ट माना। इस तरह दीक्षित के मत में उपमालंकार का लक्षण यह बना कि वह सादृश्य-वर्णन, जो अदुष्ट हो (निर्दोष हो) तथा व्यंग्य न हो (वाच्य हो) तथा उपमितिक्रिया में निष्पन्न हो, अथवा जो अपने सादृश्य के निषेध में पर्यवसित न हो, वही उपमालंकार है।[1]

अप्पय्य दीक्षित ने उपमा-विवेचन में साधर्म्य-भेद पर भी विचार किया है। शब्द-साम्य और रूप-साम्य में प्रभाव या गुण-साम्य की ही भांति उपमा स्वीकार की है। इस सम्बन्ध में कालिदास के रघुवंश से 'यथा प्रह्लादनाच्चन्द्रः' और 'पाण्ड्योऽयमंसर्पित-लम्ब-हारः' आदि उदाहरण प्रस्तुत किये हैं।

पंडितराज जगन्नाथ ने उपमालंकार में वाक्यार्थ या उपस्कारक सुन्दर सादृश्य आवश्यक ठहराया।[2] लक्षणवाक्य में 'सुन्दर' पद से तात्पर्य—सौन्दर्य का होना है। सौन्दर्य का अभिप्राय चमत्कारजनकता अर्थात् विलक्षणानन्दप्रदाता है, जो कि सहृदय-हृदय-प्रमाणित हो। इस प्रकार जगन्नाथ ने उपमालंकार का लक्षण यह माना कि वाक्यार्थ को शोभित करने वाले जिस सादृश्य में सहृदयों के हृदय में एक विलक्षण आनन्द उत्पन्न हो, उस सादृश्य को उपमालंकार कहते हैं। इसी 'सुन्दर' पद के निवेश से अपह्नुति, व्यतिरेक और रूपक आदि अलंकारों में उपमा-लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती। पंडितराज जगन्नाथ ने अप्पय्य दीक्षित के चित्र-मीमांसा-दत्त दोनों उपमा-लक्षणों में दोष सिद्ध किए। अव्यंग्य विशेषण पर उन्हें विशेष आपत्ति रही। जगन्नाथ का कथन है कि शब्दात्मक अथवा ज्ञानात्मक वर्णन—किसी भी दशा में व्यंग्य हो ही नहीं सकता। अतः 'सादृश्य-वर्णन' में अव्यंग्य विशेषण भी व्यर्थ है।[3] पंडितराज का लक्षण अत्यन्त स्वस्थ और निर्दोष है। इनके अनन्तर विश्वेश्वर पंडित ने इन्हीं से प्रभावित होकर उपमालंकार का लक्षण लिखा। उसने अधिक स्पष्ट शब्दों में चमत्कार-प्रयोजक सादृश्य की चर्चा की है।[4] अभिनव कालिदास नरसिंह कवि ने पूर्ववर्ती आचार्यों के लक्षणों का समन्वयमूलक उपमा-लक्षण ही प्रतिपादित किया, इस सम्बन्ध में नवीन कोई विचार प्रस्तुत नहीं किया।[5]

---

१. अलंकारभूतोपमालक्षणं त्वेतदेवादुष्टाव्यंग्यत्वविशेषितम्।
चित्रमीमांसा—अप्पय्य दीक्षित, पृष्ठ २०

२. सादृश्यसुन्दरं वाक्यार्थोपस्कारमुपमालंकृतिः।
रसगंगाधरः—जगन्नाथ, पृष्ठ १६५

३. वर्णनस्य विलक्षणशब्दात्मकस्य विलक्षणज्ञानात्मकस्य वा शब्दवाच्यता विरहेणालंकारताया वाच्यात्। तस्य सर्वथैवाव्यंगवत्वादव्यंग्यत्वविशेषण वैयर्थ्याच्च।
रसगंगाधरः—पंडितराज जगन्नाथ, पृष्ठ २०३

४. चमत्कारप्रयोजनं सादृश्यवर्णनमुपमा।
अलंकारप्रदीपः—पंडित विश्वेश्वर, पृष्ठ १

५. साधर्म्यलोकसिद्धेन भिन्नेन कविसम्मतम्।
यदेकवाक्यवाच्यं स्यात्, प्रकृतस्य मतोपमा।
नंजराजयशोभूषणम् – नरसिंह कवि, पृष्ठ १६०

रीतिकाल में उपमालंकार का लक्षण अपनी परम्परा का निर्वाह करता रहा। आचार्य केशव ने इस काल के पूर्व अपने उपमा-लक्षण में संस्कृत-काव्यशास्त्र के आचार्यों से रूप-समता की बात अवश्य नवीन कही।[1] आचार्य चिन्तामणि ने अधिकांशतः अनुवादक होते हुए भी उपमालंकार के लक्षण में 'मंजुल भांत' की चर्चा की, जो शब्दों की रीतिकालीन भाषागत-प्रकृति की बोधक है। जसवन्तसिंह के 'यहि विधि सब समता मिले, उपमा सोई जानि' लक्षण में सीमाबन्धन नहीं रहा। उपमा-लक्षण का क्षेत्र किसी भी प्रकार की समता के लिए खुला रहा। वहां चमत्कारात्मकता का संकेत नहीं है। कुलपति ने उपमेय और उपमान में शब्दगत तथा अर्थगत समता पर बल दिया, आचार्य देव ने गुण के साथ ही अवगुण-समता की चर्चा लक्षण में कर दी। 'औगुण' शब्द स्पष्टतः हीनोपमा के कारण रखा गया है।[2] आचार्य भिखारीदास ने उपमा-लक्षण में उपमेय और उपमान की निहिति मात्र से सन्तोष किया और इन दोनों के होने से ही उपमा-विस्तार माना है। दामोदर ने एक देशगत समता तथा न्यूनाधिक समता को भी उपमा-लक्षण में ला बिठाया। आलंकारिक दामोदर ने तो उपमा-दोषों को भी लक्षण में स्थान दे दिया है।[3] यह परिवर्तन विचित्र लगता है। आचार्य गिरिधरदास ने समता को शोभापरक अर्थात चमत्कार जननी होना आवश्यक ठहराया है। इस प्रकार रीतिकाल के आचार्यों ने भी उपमा-लक्षण में अपनी रुचि-भिन्नता का परिचय दिया है और उपमा-लक्षण के विकास में योग दिया है।

उपमाभेद

संस्कृतकाव्यशास्त्र में दण्डी, उद्भट (व्याकरणगत भेदों के कर्त्ता) भोज, मम्मटादि आचार्यों ने भेदोपभेदों की विस्तृत चर्चा की है। पंडितराज जगन्नाथ ने उसे अनन्त भेद वाली होने के कारण अन्त में कविबोध्या कह कर विराम लिया।

रीतिकाल में उपमा-भेदों में व्याकरणगत भेद को छोड़ शेष भेदों की ही चर्चा हुई। लुप्तोपमा भेद का प्रसंग (पद्माकर का) अवश्य ही अप्रशस्त सिद्ध हुआ। प्रायः आचार्यों ने प्रचलित भेदों का ही विवेचन रीतिकाल में भी किया है।

२. दीपक

आचार्य भरत ने सर्वप्रथम दीपकालंकार का लक्षण किया कि नाना अधिकरणों में रहने वाले शब्दों का एक वाक्य से संयोगसम्प्रकीर्तन ही दीपकालंकार है।

---

१. रूपशील गुण होय सम, जो क्यों हूँ अनुसार।
तासों उपमा कहत कवि, केशव बहुत प्रकार ॥१॥
कविप्रिया—केशव, पृष्ठ १७४

२. गुन-औगुन—रूप तौलि कें, जहां एक सम और।
सो उपमा, कहि वाक्य-पद, सकल अर्थ लघु ठौर।
शब्द-रसायन—देव, पृष्ठ ६७

३. एक देश समता कछुक लै पुनि ताकी सोइ।
नन अधिक गुन सदृशता ल्याये उपमा होइ ॥७॥
अर्थालंकार-मंजरी—दामोदर, पृष्ठ ३

इस लक्षण में एक क्रिया से भिन्न-भिन्न अधिकरणगतार्थ शब्दों का संयोग दर्शाया गया है।[1] भामह ने एक-क्रिया-व्यवस्थिति द्वारा अर्थ-दीपन से दीपकालंकार का उद्भव बताया है।[2] स्पष्टतः इसका कोई पृथक् लक्षण भामह ने नहीं दिया। दण्डी ने जाति, क्रिया, गुण, द्रव्य-वाची पद के द्वारा सारे वाक्य के सम्बन्धित होने का तथ्य इस अलंकार के लक्षण में सन्निविष्ट किया। यद्यपि उतरकाल में क्रिया की प्रधानता हो गई, परन्तु दण्डी के काल तक दीपक अलंकार का लक्षण जाति, क्रिया, गुण और द्रव्य के क्षेत्र तक पहुंच गया। धर्म को वाक्य के आदि, मध्य और अन्त में रखने की बात भामहवत् इस काल तक मान्य बनी रही।[3] उद्भट ने भामह का अनुसरण करते हुए भी अपने दीपक-लक्षण में प्रधान तथा इतर (अप्रधान) सम्बद्धता एवं उपमा-गर्भितता का भी प्रतिपादन किया। दोनों में (प्रधानाप्रधान उपमेय, उपमान) प्रतीयमान साधर्म्य सम्बन्ध होना चाहिए। यही उद्भट का वक्तव्य रहा।[4] वामन ने इसी उद्भटकृत लक्षण को स्पष्ट कर दिया कि उपमानोपमेय वाले वाक्यों में एक क्रिया से सम्बन्ध होना ही दीपकालंकार है।[5] रुद्रट ने कोई नया तथ्य नहीं जोड़ा।

आचार्य कुन्तक ने भामह के लक्षण में आठ दोष ठहराए तथा केवल क्रियापद से दीपकालंकार की अवस्थिति का खण्डन किया और उद्भट के लक्षण को प्रामाणिक मानते हुए अपने लक्षण में औचित्य, सौन्दर्य, सहृदयहृदयाह्लादिकारित्व तथा प्रतीयमान धर्म की अवस्थिति स्वीकार की। कुन्तक के लक्षण में औचित्य का पक्ष प्रबलता से ग्रहण किया गया है। चमत्कारिकता से सहृदयों को आनन्ददान दीपक का प्रधान उद्देश्य माना है। इस प्रकार कुन्तक के दीपक-लक्षण में अलंकार के शोभातिशायी होने का उपक्रम प्रचलित हो गया। यह मानना होगा कि पूर्वापरवर्ती

---

१. नानाधिकरणार्थानां शब्दानां सम्प्रकीर्तितम्।
एकवाक्येन संयोगात्तद्दीपकमिहोच्यते ॥१६-६०॥
नाट्य-शास्त्रम्—भरत, पृष्ठ २६२

२. आदिमध्यान्तविषयं त्रिधा दीपकमिष्यते।
एकस्यैव व्यवस्थत्वादिति तद्भिद्यते त्रिधा।२-२५।
अमूनि कुर्वतेऽन्वर्थामस्याख्यामर्थदीपनात्।
त्रिभिनिर्दर्शनैश्चेदं त्रिधा निर्दिश्यते यथा ॥२-२६।
काव्यालंकारः—भामह, पृष्ठ ११

३. जातिक्रियागुणद्रव्यवाचिनैकत्रवर्तिना।
सर्ववाक्योपकारश्चेत् तमाहुर्दीपकं यथा ॥२-९७॥
काव्यादर्शः—दण्डी, पृष्ठ ७४

४. आदिमध्यान्त विषयाः प्राधान्येतरयोगिनः।
अन्तर्गतोपमाधर्माः यत्र तद्दीपकं विदुः ॥
काव्यालंकार-संग्रहः—उद्भट, पृष्ठ १६

५. उपमानोपमेयवाक्येषु एकक्रियादीपकम् ॥३-१८॥
काव्यालंकारसूत्राणि—वामन, पृष्ठ ६२

आचार्यों से पृथक् लक्षण कुन्तक ने दिया है।[1] भोज ने इस सम्बन्ध में दण्डी का ही अनुकरण किया है।

आचार्य मम्मट ने दीपक के लक्षण में किसी प्रकार की नवीनता नहीं दी। रुय्यक ने मम्मट के लक्षण का अनुकरण किया। उपमेय और उपमान के लिए लक्षण में प्रकृताप्रकृत तथा प्रस्तुताप्रस्तुत शब्दों का विन्यास होने लगा। दीपकालंकार की लक्षण-निर्दोषता का आरम्भ कुन्तक से हो चुका था, जिन्होंने भामह और उद्भट के लक्षणों की दोषान्वेषण सहित चर्चा की थी। यह परिपाटी अब भी चलती रही। आचार्य विश्वनाथ ने दीपक-लक्षण में विशेषतया सूक्ष्मता प्रदर्शित की। इन्होंने दो तत्व लक्षण में स्पष्ट किए। पहला यह कि अप्रस्तुत तथा प्रस्तुत पदार्थों में एक धर्म का सम्बन्ध हो तथा दूसरा यह कि अनक क्रियाओं का एक ही कारक हो।[2] अप्पय्य दीक्षित ने भी वर्ण्यावर्ण्य का एक धर्माभिसम्बन्ध ही दीपकालंकार का लक्षण माना।[3] वास्तव में इस अलंकार के लक्षण-विकास में कुन्तक का योग अधिक रहा है।

दीपक-भेद

भामह ने दीपकालंकार के भेदों में आदि, मध्य और अन्त नामक दीपक-भेद क्रिया के अवस्था-भेद से माने। दण्डी ने जाति, क्रिया, गुण, द्रव्य-भेद से दीपकालंकार के भेदों की चर्चा की और क्रिया का आदि, मध्य तथा अन्त में प्रयोग भी प्रदर्शित किया। मालादीपक, विरुद्धार्थदीपक, एकार्थदीपक, श्लिष्टार्थदीपक सदृश भेदों का उदाहरणसहित परिचय दिया। अर्थावृत्ति, पदावृत्ति और उभयावृत्ति से भी दीपक-भेदों का महत्व वर्णित किया।[4] मालादीपक की दण्डी-कृत परिभाषा ही उत्तर युग में भी प्रचलित रही। मालादीपक के लक्षण में उत्तरोत्तर कथित वस्तु में अपने से पूर्वकथित वस्तु की सापेक्षितता होना आगे भी मान्य रहा। आवृत्तिदीपक में उसी वाक्य में उसी पद का प्रयोग होता है तथा अब वाक्य में भिन्न शब्द के रूप में उसका आवृत्ति होती है और दीपकालंकार में तो प्रथम वाक्य में कथन करने के पश्चात्

---

१. औचित्यावहमम्लानं तद्विदाह्लादकारणम्।
अशक्तं धर्ममर्थानां दीपयद् वस्तु दीपकम् ॥१७॥
वक्रोक्ति-जीवितम्—कुन्तक, पृष्ठ ३६७

२. (क) क्रियाजातिगुणद्रव्यवाचिनैकत्रवर्तिना।
सर्ववाक्योपकारश्चेद् दीपकं तन्निगद्यते।
सरस्वती-कंठाभरणम्—भोज, पृष्ठ ५११

(ख) अप्रस्तुतप्रस्तुतयोर्दीपकं तु निगद्यते।
अथ कारकमेकं स्याद् अनेकासु क्रियासु चेत् ॥४६॥
साहित्यदर्पण:—विश्वनाथ, पृष्ठ ३२८

३. वदन्ति वर्ण्यावर्ण्यानां धर्मैक्यं दीपकं बुधाः।
कुवलयानन्दः—अप्पय्य दीक्षित, पृष्ठ ५६

४. काव्यादर्श:—दण्डी, पृष्ठ ७४,८०

द्वितीय वाक्य में उसी पद का अन्वय द्वारा ग्रहण हो जाता है। दीपकावृत्ति अलंकार इस दृष्टि से दीपक का भेद होते हुए भी लक्षण-सूक्ष्मता में अगला पग स्वीकृत हुआ। दण्डी ने दीपक के भेद-विकल्पों की ओर भी संकेत किया है।[1] उद्भट और वामन ने भामह-दण्डी का ही भेद-सम्बन्धी दृष्टिकोण मान्य ठहराया।

रुद्रट ने दीपक के छः भेदों का उल्लेख किया है। क्रिया-दीपक और कारक-दीपक नामक दो भेद रुद्रट ने सर्वप्रथम प्रस्तुत किये। आदि, मध्य और अन्त में क्रिया और कारक की अवस्थिति से उसके छः भेद कर दिये।[2] कुन्तक ने केवल दीपक और पंक्तिस्थ दीपक नाम से दो भेद माने पंक्तिस्थ मालादीपक का ही नया नाम है।[3] भोज मम्मट, रुय्यक, हेमचन्द्र,नरेन्द्रप्रभ सूरि,भावदेव सूरि तथा जयदेवने भी दीपक-भेदों की चर्चा की है,परन्तु किसी नये भेद का संकेत नहीं किया जयदेव ने दण्डी-प्रदर्शित दीपका-वृत्ति को आवृत्ति-दीपक नाम दे दिया माला-दीपक के लक्षण में जयदेव ने अपना नया मत दिया कि दीपक और एकावली अलंकार से मालादीपकालंकार बना है।[4] वाग्भट, विद्याधर, विद्यानाथ, विश्वनाथ, शोभाकर मित्र, केशव मिश्र, वत्सलांछन, कर्णपूर, अप्पय्य दीक्षित तथा विश्वेश्वर ने भी इन्हीं दीपक-भेदों का यथारुचि वर्णन किया है। नरसिंह कवि (अभिनव कालिदास)ने समन्वित रूप से षड्भेदों का निरूपण किया है। उन्होंने पूर्वाचार्यों के अनुसार समान धर्म के आदि, मध्य, अन्तगतत्व से तीन भेदों का और उनके गुण-क्रिया रूप से स्वीकृत छः भेदों को नहीं माना अपितु द्रव्यादि भेद से धर्म के षड्भेद स्वीकार किये। गुणतद्भावरूपधर्मान्वय, क्रियातद्भावान्वय और द्रव्यतद्भावान्वय से द्विविध दीपक को छः प्रकार का माना।[5]

वास्तव में दीपकालंकार का सौध व्याकरण की भित्ति पर खड़ा है और लक्षण तथा भेद का विकास भी क्रिया और कारक के बल पर ही हुआ है और इसके चमत्कार का कारण भी व्याकरण ही है।

रीतिकाल में आचार्य चिन्तामणि ने प्रकृत और अप्रकृत शब्दों का प्रयोग लक्षण में प्रचलित कर दिया। 'फतेप्रकाश' के लेखक रतनेश (रतन कवि) ने उप-मेय और उपमान का प्रयोग आरम्भ किया और एक क्रिया की चर्चा पूर्ववत् रखी है।

---

१. अनेनैव प्रकारेण शेषाणामपि दीपके।
विकल्पानाम् अवगतिर्विधातव्या विचक्षणैः ॥१५॥
काव्यादर्शः—दण्डी, पृष्ठ ७९

२. काव्यालंकारः—रुद्रट, पृष्ठ ८८

३. एकं प्रकाशकं सन्ति भूयांसि भूयसा क्वचित्।
केवलं पंक्तिस्थं वा द्विविधं परिदृश्यते ॥१८॥
वक्रोक्ति-जीवितम्—कुन्तक, पृष्ठ ३९८

४. दीपक एकावली योगात् मालादीपकमिष्यते। ८९
चन्द्रालोकः—जयदेव, पृष्ठ ९६

५. नजंराजयशोभूषणम्—नरसिंह, पृष्ठ १९८

आचार्य भिखारीदास ने एक शब्द के बहुतों में संगत होने को दीपक के लक्षण में आवश्यक माना है। आचार्य दास का दीपक-लक्षण विकास की दृष्टि से नवीनता लिये हुए है। चाहे वह स्पष्ट न बना हो। पद्माकर और उमेदराय ने 'धर्मैक्य' पर अधिक बल दिया है। आचार्य रसिकगोविन्द ने वर्ण्यावर्ण्य के एक भाव का तथ्य अपने दीपक-लक्षण में कहा है। इस काल के दीपक-लक्षणों में विभिन्न पदों का प्रयोग तो अवश्य हुआ है परन्तु लक्षण की आत्मा संस्कृत-काव्यशास्त्रवत् रही है।

आचार्य केशव ने इस अलंकार का मणिदीपक नामक नया भेद माना है। उनके अनुसार वर्षा, शरद, वसन्त, शशि, शुभता, शोभ, सुगन्ध, प्रेम, पवन, भूषण तथा भावों के वर्णन में मणिदीपक अलंकार होता है।[1] देव ने परिवृत्ति, कारणमाला और समुच्चय को दीपक-भेदों में मान लिया।[2] कारणमाला का सम्बन्ध कारकदीपक से हो सकता है! आचार्य भिखारीदास ने देहरी-दीपक भेद भी माना है, जो भाषा-काव्य-शास्त्र में ही है। संस्कृत में इस भेद की चर्चा नहीं हुई।[3] दीपक-भेदों के सम्बन्ध में आचार्य दास देव के अंशतः अनुयायी हैं। इन्होंने भी कारणमाला को कारक-दीपक में अन्तर्भूत रखा है।[4] प्रायः अन्य दीपक-भेदों की चर्चा इस काल में संस्कृत के समान ही हुई है।

३. रूपक

रूपकालंकार के लक्षण में भरत ने नाना द्रव्यों के अनुषंग द्वारा गुणाश्रित औपम्य, रूपनिर्वर्णना, स्वविकल्प-विरचित तुल्यावयव-लक्षण तथा किंचित् सादृश्य-सम्पन्नता का होना आवश्यक बताया है।[5] भामह ने लक्षण में दुरूहता न रखी, अपितु स्पष्टता से कहा कि उपमान के साथ समानता को देख कर उपमेय में जो

---

१. कवि-प्रिया—केशव, पृष्ठ २६५

२. माला, अरु एकावली, आवृत्ति अरु परिवृत्ति।
कारनमाला, समुच्चयो, दीपक भेद सुवृत्ति॥
शब्दरसायन—देव, पृष्ठ १०५

३. देहरी-दीपक—परे एक पद बीच में, दुहु दिस लागे सोय।
सो है दीपक-देहरी जानत हैं सब कोय।
काव्यनिर्णय—भिखारीदास, पृष्ठ ५२२

४. आदि, आवृत्ति, देहरी, कारन माला बांच।
काव्य-निर्णय—भिखारीदास, पृष्ठ ४८५

५. नानाद्रव्यानुषंगाद्यैर्यदौपम्यं गुणाश्रयम्।
रूपनिर्वर्णनायुक्तं तद्रूपकमिति स्मृतम्॥१६-५७॥
स्व विकल्पैर्विरचितं तुल्यावयवलक्षणम्।
किंचित्सादृश्यसम्पन्नं यद्रूपं रूपकं तु तत्॥१६-५८॥
नाट्यशास्त्रम्—भरत, पृष्ठ २६१

उपमान का आरोप किया जाता है, वही रूपक है।[1] दण्डी ने रूपक को उपमा का वह रूप माना, जिसमें प्रकृत-अप्रकृत का भेद तिरोभूत रहता है।[2] अग्निपुराण में भामह और दण्डी दोनों के लक्षण संगृहीत हैं।[3] उद्भट ने रूपक-लक्षण में निर्दोषता लाने के साथ-साथ चमत्कारवत्ता को भी ध्यान में रखा। उद्भट ने श्रुति-सम्बन्ध-राहित्य (निरन्तर अर्थ-निष्ठ शब्द-व्यापार से रहित) के द्वारा गुण-वृत्ति से एक पद का दूसरे पद से योग रूपक में अनिवार्य माना। प्रधान पद से प्राकरणिक अर्थ के कथन की प्रधानता को सूचित करने की ओर स्पष्ट संकेत दिया।[4] आरोप के सम्बन्ध में भी उद्भटके ग्रन्थ पर प्रतीहारेन्दुराज की वृत्ति में तीन बातें कही गई हैं—शब्दारोपपूर्वक अर्थारोप, अर्थारोपपूर्वक शब्दारोप तथा शब्दार्थारोप का योगौगम्य।[5] इससे आरोप के प्रसंग में यह स्पष्ट हो जाता है कि रूपकालंकार के लक्षण पर विबुधमण्डली में कितना विवेचन हो चुका था। वामन ने रूपक-लक्षण में कोई नया तत्व नहीं जोड़ा। गुण-साम्य की बात भरत ने भी कही तो थी, परन्तु इसी लक्षण की वृत्ति में वामन ने लिखा कि उपमान और उपमेय दोनों का ग्रहण यहाँ लौकिकी और कल्पिता उपमा के प्रकृतिगत रूप से ही किया जाना चाहिये। आचार्य रुद्रट ने उत्प्रेक्षा से भेद-पूर्वक रूपक-अलंकार का स्वरूप स्पष्ट दर्शाने के लिए सामान्य का अविवक्षित रहना और उपमानोपमेय में गुणों का तुल्यत्व आवश्यक ठहराया। उत्प्रेक्षा में छद्म, लक्ष्य, व्याज, व्यपदेशापि शब्दों के द्वारा उपमानोपमेय का अभेद या भेद विवक्षित होता है, परन्तु रूपक में नहीं।[6] ऐसे स्थलों में सापह्नवोत्प्रेक्षा कही गई है। ऐसी दशा में कैतवापह्नुति से उत्प्रेक्षा का क्या भेद रहा? आचार्य कुन्तक ने रूपकालंकार में

---

१. उपमानेन यत् तत्वम् उपमेयस्य रूप्यते ।
गुणानां समतां दृष्ट्वा रूपकं नाम तद् विदुः ॥२-२१॥
काव्यालंकारः—भामह, पृष्ठ १

२. उपमेव तिरोभूतभेदा रूपकमुच्यते ॥२-३६॥
काव्यादर्शः—दण्डी, पृष्ठ ६५

३. अग्निपुराण, पृष्ठ ७०४

४. श्रुत्या सम्बन्ध विरहाद् यत्पदेन पदान्तरम् ।
गुणवृत्ति प्रधानेन युज्यते रूपकं तु तत् ॥
काव्यालंकारसंग्रहः—उद्भट, पृष्ठ ११

५. शब्दोपचारात्तद्रूपं रूपकं कैश्चिदुच्यते ।
ताद्रूप्यारोपतश्चान्यैः शब्दारोपोऽत्र कथ्यते ।
उपमानगणैस्तुल्यैरुपमेयगतान् गुणान् ।
पश्यतां तु सकृद् भाति तत्र तच्छब्दरूपता ।
काव्यालंकारसंग्रहः—उद्भट (लघुवृत्ति) पृष्ठ १३

६. यत्र गुणानां साम्ये सत्युपमानोपमेययोरभिदा ।
अविवक्षितसामान्या कल्पयत इति रूपकं प्रथमम् ।८-३८॥
काव्यालंकारः—रुद्रट, पृष्ठ १०६

उपचारवक्रता (सादृश्यमूलक गौणीलक्षणा वृत्ति) को उसका सर्वस्व माना है। उपमान अपना रूप उपमेय को अर्पित कर दे, यही रूपक की रूपकता है।[1] इस उपचारवक्रता से रूपकालंकार में सरसता विद्यमान रहती है। भोज ने भी रूपकालंकार में गौणवृत्ति (लक्षणा) की प्रधानता मानी है।

आचार्य मम्मट ने गुणातिशयता, किंचित् सादृश्य तथा उपमैव तिरोभूत-भेदा आदि कथनों का सर्वथा त्याग किया। लक्षणा वृत्ति की चर्चा छोड़ी और उपमान-उपमेय के अभेद वर्णन को रूपक कहा। रुय्यक, शोभाकर मित्र, हेमचन्द्रादि आचार्यों ने परम्परागत लक्षणानुसरण ही किया। जयदेव ने चन्द्रालोक में उपमान-चित्रण के द्वारा उपमेय को उपरंजित (अपने रंग में रंग देना) करने का तथ्य नवीन शब्दावली में कहा। उनके अनुसार उपमान की अभिन्नता से उपमेय का आहार्य निश्चय ही रूपक है।[2] वाग्भट द्वितीय तथा विद्याधर ने मम्मट के लक्षण का ही आशय ग्रहण किया। विद्यानाथ ने अपने लक्षण को सूक्ष्मता की ओर ले जाने का प्रयास किया अपने लक्षण में आरोप विषयस्य (मुखादि) अतिरोहित रूपी (तिरोधान रहित) और उपरंजकत्व, (रंग में रंगना) आरोप्यमाण चन्द्रादि तत्व निर्दिष्ट किये। इन तीनों पदों के उत्प्रेक्षादि की, अतिरोहित पद से संदेह-भ्रांतिमान,अपह्नुति आदि की, तथा उपरंजकत्व से निवेश का उद्देश्य निर्दोष लक्षण बनाना था। आरोप विषयता के कथन से परिणामालंकार की व्यावृत्ति वर्णित की ताकि रूपक का लक्षण निर्दुष्ट हो जाये। इस लक्षण में भी दोषान्वेषण का कार्य दीक्षित ने किया।[3] आचार्य विश्वनाथ ने रूपक लक्षण में 'रूपितं' और 'निरपह्नवे' पदों का निवेश परिणाम और अपह्नुति अलंकार की व्यावृत्ति रूपक से करने के लिये किया, साहित्यदर्पणकार के अनन्तर केशवमित्र, वत्सलांछन और कर्णपूर ने रूपकलक्षण में किसी नयी विवेचना को प्रस्तुत नहीं किया। अप्पय्य दीक्षित ने अवश्य ही विद्यानाथ के रूपक लक्षण का खण्डन किया। उपर्युक्त लक्षण में अप्पय्य दीक्षित ने पहला दोष यह माना कि 'आरोप विषयस्य' पद से उत्प्रेक्षा का तथा 'अतिरोहित' पद से अपह्नुति का वारण नहीं हो सकता। तथा इस लक्षण की निदर्शनता अलंकार में अतिव्याप्ति पायी जाती है। दीक्षित ने भोज के लक्षणाधृत रूपक-लक्षण में भी तीन दोष निकाले। प्रथम तो यह रूपक-लक्षण (भोज द्वारा दत्त) व्यंग्य रूपक में नहीं घटता। दूसरे शुद्धा सारोपा लक्षणा-मूलक रूपक अलंकार में भी

---

१. उपचारैकसर्वस्वं यत्र (वस्तु) तत् साम्यमुद्वहत्।
   यदर्पयति रूपं स्वं वस्तुतत् रूपकं विदुः ॥३-२०॥
   वक्रोक्तिजीवितम्—कुन्तक, पृष्ठ ४०६

२. यत्रोपमानचित्रेण सर्वथाप्युपरज्यते।
   उपमेयमयी भित्तिस्तत्र रूपकमिष्यते। ५-१८ ॥
   चन्द्रालोकः—जयदेव, पृष्ठ ५८

३. आरोप विषयस्य स्यादतिरोहित रूपिणः।
   उपरंजकमारोप्यमाणं तद्रूपकम् मतम् ॥
   प्रतापरुद्रीय यशोभूषणम्—विद्यानाथ, पृष्ठ २६६

यह नहीं घटेगा। तीसरे 'गौर्वाहीक:' जैसे पदों में भी रूपकालंकार घट जायगा, जिनमें चमत्कार का नाम भी नहीं। दीक्षित ने दण्डी के ही के 'उपमेव तिरोभूतभेदा रूपकमुच्यते' तथा वत्सलांछन के 'तद्रूपकमभेदोऽयमुपमानोपमेययो:' (मम्मट-प्रभावित) इस लक्षण में भी अतिव्याप्ति आदि दोष निकाले और अन्त में 'चित्रमीमांसा' में रूपक का अपना लक्षण दिया कि जहाँ बिम्बाविशिष्ट (बिम्ब-प्रतिबिम्ब-भावरहित) शब्दत: उपात्त (निर्दिष्ट) तथा अनिह्नुत (निषेधरहित या गोपनरहित) विषय (मुख-हाथ आदि) पर विषयी चन्द्र, कमलादि) उपरंजकता को प्राप्त हों अर्थात् उस विशिष्ट विषय को अपने रंग में रंग दें, वहाँ रूपक अलंकार होता है।[1] यह लक्षण जयदेव से स्पष्टत: प्रभावित है। इस लक्षण में निर्दोषता को इस प्रकार सिद्ध किया है कि बिम्ब-प्रतिबिम्ब के साहित्य से निदर्शना का स्वशब्दत: निर्देश (निर्दिष्ट पद) से अतिशयोक्ति का, अनिह्नुति पद से अपह्नुति का, उपरंजकता से सन्देह, भ्रान्तिमान्, उत्प्रेक्षा, समासोक्ति तथा परिणाम का वारण किया है। परन्तु यह लक्षण केवल रूपक का है। रूपकालंकार का नहीं। इस के साथ अव्यंग्य विशेषण लगा देने पर वही रूपक अलंकार का विशेषण हो जायगा। कुवलयानन्द में प्रदत्त लक्षण सरल तथा खण्डन-मण्डन की रीति से रहित है।

पंडितराज जगन्नाथ का लक्षण अपना वैशिष्ट्य लिये हुए है। यद्यपि नई चर्चा तो नहीं, परन्तु नये शब्दों के रखने से विवेचन नया किया गया है। पंडितराज के उपमेयावच्छेदक शब्द से अपह्नुति, भ्रान्तिमान्, अतिशयोक्ति और निदर्शना का शब्दात् से आहार्य निश्चय का, निश्चीयमान पद से वस्तूत्प्रेक्षा का वारण किया गया है। उपमान तादात्म्य से सादृश्यमूलक आरोप का महत्त्व प्रदर्शित किया गया है। इस प्रकार 'रूपक' पदार्थ का लक्षण देकर कहा है कि यदि इस के साथ पद उपस्कारक पद (प्रधानवाक्यार्थोत्कर्षक) जोड़ दिया जाय तो रूपकालंकार का लक्षण समझा जाएगा।[2] पंडितराज ने अप्पय्य दीक्षित और शोभाकरमित्र के लक्षणों का खण्डन किया है। दोनों लक्षणों में इन्होंने अतिव्याप्ति और अव्याप्ति दोष माने हैं। विश्वेश्वर, अभिनव कालिदास, नरसिंह कवि तथा मंदार-मरंद चम्पू के कर्त्ता, ने भी अपने लक्षणों में तादात्म्य तथा अनिह्नुतत्व पर अधिक बल दिया। इस प्रकार रूपक का लक्षण में सादृश्यमूलक अलंकार में विशिष्ट स्थान पा गया। उसमें गुण-सादृश्य में से सादृश्य का प्राधान्य रहा। अभेदात्मकता ने मम्मट के काल में जोर पकड़ा और जयदेव के युग में उपमान द्वारा उपमेय को अपने रंग में रंगने की प्रवृत्ति बलवती हुई और पंडितराज जगन्नाथ के युग में सूक्ष्मता की चरमसीमा का स्पर्श करता हुआ यह अलंकार चमत्कारिकता से विलसित हुआ।

१. बिम्बाविशिष्टे निर्दिष्टे विषये यथा निह्नुतं।
उपरंजकतामेति विषयी रूपकं तदा ॥
चित्रमीमांसा—अप्पय्यदीक्षित, पृष्ठ ५६

२. रसगंगाधर:—जगन्नाथ, पृष्ठ ४४६

रूपक-भेद

आरम्भ में रूपकालंकार के भेद समस्तवस्तुविषयक तथा एकदेशविवर्ति हुए। तदनन्तर दण्डी ने समस्त, असमस्त और समस्तव्यस्तरूपक भेद कहे, और सकल, अवयव, योगायोग, युक्त, अयुक्त, ललित, सविशेषण, विरुद्ध, हेतु, श्लिष्ट, उपमारूपक, (बाद में पृथक् रूपकालंकार बन गया) व्यतिरेकरूपक, आक्षेपरूपक, समाधानरूपक, रूपकरूपक, तथा तत्वापह्नवरूपक भेदों का निर्देश-विवेचन किया। उद्भट ने समस्त-वस्तुविषयक का नाम मालारूपक रखा।[1] पहले रुद्रट ने रूपकालंकार का एक भेद समासोक्त रूपक कहा तथा सावयव, निरावयव और संकीर्ण पुनः तीन भेद किये। पुनः रूपक के समस्तवस्तु विषयक और एक-देशितासे दो भेद किये हैं। मालारूपक, रशना रूपक और परम्परित रूपक का निरूपण भी रुद्रट किया है। कुन्तक, ने समस्त वस्तु विषयक और एक देशविवर्ति दो ही भेद। माने भोज ने २४ भेद कर दिये।[3] मम्मट ने सांग, निरंग नाम देकर नाममात्र की भिन्नता दर्शायी, तदनन्तर अन्य आचार्यों ने इन्हीं भेदों के लक्षण दिए और उनका विवेचन किया। इन सब के विवेचनों से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि रूपक पर मम्मट-रूपक-लक्षण का प्रभाव रहा. यद्यपि अप्पय्य दीक्षित ने इस तथ्य का विरोध किया है। उन्होंने अतिशयोक्ति में लक्षणा को आवश्यक ठहराया[4] परन्तु रूपक में नहीं, तथापि यह अलंकार अन्य आचार्यों के मत से लक्षणा के आधार पर ही इतना विस्तार ले पाया है। व्यंग्य रूपक में तो व्यंजना तक का क्षेत्र आक्रान्त है। रीतिकाल में रूपकालंकार का लक्षण-विकास की दृष्टि से अधिक नये मोड़ न प्राप्त कर सका। आचार्य कुलपति ने उपमेय और उपमान में भेद दिखाई न पड़ने पर भी समता का व्यंग्य होना आवश्यक माना। कुलपति ने इतना कह कर लक्षण में नवीनता के लिए एक संकेत दिया और अलंकार के व्यंग्यत्व पक्ष का समर्थन किया। अन्य आचार्यों ने रूपक-लक्षण में अनूदित पम्परा का पालन किया है।

इस काल में रूपकालंकार के भेदोपभेदों की चर्चा भी पूर्ववत् रही। केवल केशव ने 'रूपक रूपक' नाम से एक नये भेद का निर्देश किया है।

रूपक—रूप भाव जहं बरनिये, कौनिहु बुद्ध विवेक,
रूपक रूपक—कहत कवि, केशव दास अनेक ॥१३-१६॥

---

१. काव्यादर्शः—दण्डी, पृष्ठ ६६-७४
२. काव्यालंकारसंग्रहः—उद्भट, पृष्ठ ११, १४
३. सैवा रूपकभेदानां विंशतिश्चतुरुत्तरा ॥४ ७७॥
सरस्वतीकंठाभरणम्—भोज, पृष्ठ ४२५
४. वस्तुतस्त्वतिशयोक्तावेव लक्षणा न तु रूपके इति शक्यं व्यवस्थापयितुं तथाहि अतिशयोक्तौ विषयाभिधायिमुखादिपदाप्रयोगाच्चन्द्रादिपदेनैव तत्प्रत्यायनं कार्यमिति तस्य तत्र लक्षणावश्यमास्थेया।...अशक्या च तत्र लक्षणाभ्युपगन्तुम्।
चित्रमीमांसा—अप्पय्य दीक्षित, पृष्ठ ५४

अर्थात् जहां किसी वस्तु का, किसी भाव का रूपक मनमानी वस्तु से बांधे, वहां रूपक रूपक होता है। विरुद्ध और अद्भुतरूपक भेदों की चर्चा भी केशव ने की है।[1]

४. आक्षेप

आक्षेप अलंकार का लक्षण सर्वप्रथम भामह ने किया। इस के लक्षण में विशेष बात कहने लिए उक्त विषय का प्रतिषेध जैसा किया जाता है, वास्तविक निषेध नहीं होता। भामह ने सरलता से लक्षण प्रस्तुत किया और स्पष्टतः प्रतिषेध इव (प्रतिषेध जैसा) पद का प्रयोग किया।[2] दण्डी ने आरोप का लक्षण यह दिया कि प्रतिषेध का कथन ही आक्षेप है। यह तीनों कालों के लिए प्रयुक्त हो सकता है। इस अलकार के लक्षण में त्रिकालात्मकता का प्रयोग दण्डी ने ही किया। अग्निपुराण में आक्षेप अलंकार के लक्षण में ध्वनि का बोलबाला है। आक्षेप को ध्वनि से सम्बद्ध करने का कार्य इसी पुराण में हुआ।[3] उद्भट ने इस विषय में भामह का अनुसरण किया, परन्तु वामन ने आक्षेप का लक्षण करते हुए कहा कि उपमान का निषेध करना ही आक्षेप है अर्थात् वामन ने निषेधाभास के लिए स्थान ही नहीं छोड़ा। सीधा प्रतिषेध ही इसका स्वरूप माना। वामन का लक्षण वास्तव में दण्डी की परिभाषा के निकट रहा।[4] रुद्रट ने आक्षेपालंकार वहां माना, जहां लोकप्रसिद्ध वस्तु के अथवा विरुद्ध वस्तु के सम्बन्ध में वचन को आक्षिप्त करके तदर्थसिद्धि के लिए अन्य वस्तु को कह दे। रुद्रट के अनुसार प्रसिद्ध वस्तुगत आक्षेप से तत्समर्थ हेतु द्वारा अन्यद् वस्तु संस्थापन अथवा विरुद्ध के लिए तद्गतवस्तुसंस्थापन आक्षेप के लिए आवश्यक तत्व ठहरा जो कि पूर्ववर्ती आचार्यों के लक्षणों की अपेक्षा वर्तमान लक्षण में एक उल्लेखनीय नवीनता थी।[5] कुन्तक ने प्रस्तुतवस्तु के ही सौन्दर्य की अत्यधिक वृद्धि के लिए निषेधाभास रूप से उसके आक्षेप (निन्दा) को ही आक्षेपालंकार कहा। उनके अनुसार निषेधाभास ऐसा हो, जिससे कथन की शोभा और बढ़ जाए। चमत्कारप्रधानता आक्षेप-लक्षण में यहीं से आरम्भ हुई, यद्यपि ध्वन्यात्मकता की चर्चा

---

१. कविप्रिया—केशव, पृष्ठ २६१, २६२, २६३

२. प्रतिषेध इव इष्टस्य यो विशेषाभिधित्सया।
आक्षेपं इति तं सन्तः शंसन्ति द्विविधं यथा। २-६८॥
काव्यालंकारः—भामह, पृष्ठ १५

३. (क) प्रतिषेधोक्तिराक्षेपस्त्रैकाल्यापेक्षया त्रिधा॥ २-१२०॥
काव्यादर्शः—दण्डी, पृष्ठ ८१

(ख) श्रुतेरलभ्यमानोऽर्थो यस्मात् भाति सचेतनः
स आक्षेपो ध्वनिः स्यात् च ध्वनिना व्यज्यते यतः॥ अग्निपुराणम्, पृष्ठ ७०६

४. उपमानाक्षेपश्चाक्षेपः : २७॥ काव्यालंकारसूत्राणि—वामन, पृष्ठ ६६

५. वस्तु प्रसिद्धमिति यद्विरुद्धमिति वास्य वचनमाक्षिप्य।
अन्यत्तथात्व सिद्ध्यै यत्र ब्रूयात्स आक्षेपः ॥८॥
काव्यालंकारः—रुद्रट, पृष्ठ ११७

अग्निपुराण के लक्षण-प्रसंग में की जा चुकी है।[1]

भोज ने आक्षेप के लक्षण में नया तत्व जोड़ा। यहां आक्षेप विधि द्वारा प्रतिषेध तथा प्रतिषेध से प्रतिषेधोक्ति की सीमा में आ गया। प्रकटतः विधि भी आक्षेप के लिए प्रकारान्तर से प्रतिषेधोक्ति बन गई। अब तक प्रतिषेधोक्ति ही आक्षेप का भार वहन कर रही थी। भोज ने विधि का विधान भी आक्षेपवाहक बनाया।[2] उन्होंने अन्य आचार्यों द्वारा स्वीकृत 'रोध' नाम अलंकार को भी आक्षेप ही माना है।

आचार्य मम्मट ने आक्षेपालङ्कारके लक्षण में नये तथ्य को नहीं जोड़ा। रुय्यक ने आक्षेप में प्राकरणिक का ऐसा निषेधाभास आवश्यक माना जो कि विशेष प्रतिपत्ति के हेतु हो, चाहे वह उक्त के लिए हो या वक्ष्यमाण के लिए।[3] हेमचन्द्र ने लक्षण में वक्ष्यमाण की चर्चा नहीं की और निषेधाभास माना।[4] जयदेव ने आक्षेप-लक्षणमें विचारणा की प्रधानता प्रस्तुत की। यह तत्व लक्षण में नया आया और लक्षण में विचार-प्रधानता हो गई। जयदेव ने आक्षेप वहां माना, जहां उपमानत्व के लिए सम्मस्त तत्व का विचार करनेके अनन्तर निषेध इस लिए किया जाए कि यह कार्य तो उपमेय ही करने में समर्थ है। उन्होंने उदाहरण भी ऐसा ही दिया कि—हे चन्द्र ! तुम अपने आपको दिखाओ अथवा रहने दो, प्रिया का मुख है, अर्थात् प्रिया-मुख से तुम्हारे दर्शन का कार्य चल सकता है। विचार-प्रधानता का पुट देखकर जयदेव ने आक्षेप का लक्षण तर्क-प्रधान बना दिया।[5] यहां जयदेव ने प्रतिषेधाभास की अपेक्षा सर्वथा प्रतिषेध को ही आक्षेप में मुख्य माना। भोज ने आक्षेप में विधि द्वारा भी प्रतिषेधोक्ति को माना, परन्तु जयदेव ने ऐसे आक्षेप को गूढ़ाक्षेप कह दिया। यह केवल लक्षण का केश-कर्षण सहित भेद कल्पनामात्र था।

अब तक आक्षेप के लक्षण में प्रतिषेधाभास, सर्वथा प्रतिषेध और विधि पूर्व निषेध—तीन तत्व संगृहीत हो चुके थे, जिनमें प्रतिषेधाभास तो सर्वथा प्रतिषेध का

---

१. निषेधच्छाययाऽऽक्षेपः कान्तिं प्रथयितुं पराम्।
आक्षेप इति स ज्ञेयः प्रस्तुतस्यैववस्तुनः ॥३-४०॥
वक्रोक्तिजीवितम्—कुन्तक, पृष्ठ ४७१

२. विधिना अथ निषेधेन प्रतिषेधोक्तिरत्र या।
शुद्धा मिश्रा च साक्षेपो रोधो न आक्षेपतः पृथक् ॥४-२०६॥
सरस्वतीकंठाभरणम्—भोज, पृष्ठ ८८४

३. उक्तवक्ष्यमाणयोः प्राकरणिकयोर्विशेष प्रतिपत्त्यर्थनिषेधाभास आक्षेपः।
अलंकारसर्वस्वम्—रुय्यक, पृष्ठ १५८

४. विवक्षितस्य निषेध इव उपमानस्याक्षेपश्चाक्षेपः।
काव्यानुशासनम्—हेमचन्द्र, पृष्ठ ३७१

५. आक्षेपस्तु प्रयुक्तस्य प्रतिषेधो विचारणात्।
चन्द्र ! सन्दर्शयात्मानमथवाऽस्ति प्रियामुखम् ॥
चन्द्रालोकः—जयदेव, पृष्ठ ८८

विरोधी तत्त्व था। इन तीनों पक्षों को लेकर ही उत्तरवर्ती आचार्यों ने लक्षण लिखे। सर्वथा प्रतिषेध के पक्ष में वाग्भट, शोभाकर, कर्णपूर, अप्पय्य दीक्षित और विश्वेश्वर पंडित ने आक्षेप-लक्षण लिखा। अप्पय्य दीक्षित ने निषेधाभास और विधि से भी आक्षेपालंकार का निरूपण किया और इन्हें अन्य आचार्यों का मत माना।[1]

निषेधाभास (अथवा प्रतिषेधाभास) के पक्ष में नरेन्द्र प्रभ सूरि, विद्याधर, विद्यानाथ, विश्वनाथ, केशव मिश्र, वत्सलांछन, और नरसिंह कवि रहे। पण्डितराज जगन्नाथ ने आक्षेपालंकार के लक्षण पर अपनी विशद विवेचना प्रस्तुत की। खण्डन-मण्डन की रीति से अन्ततः सर्वथा निषेध करने का पक्ष पण्डितराज ने नहीं लिया। उन्होंने निषेधाभास का पक्ष ही उचित माना है।

आक्षेप-भेद

भामह ने उक्त-विषय और वक्ष्यमाण-विषय के नाम से आक्षेप के दो भेद माने। दण्डी ने उसे भूत, वर्तमान, भविष्यत् के काल-भेद से तीन प्रकार का मानते हुए भी धर्माक्षेप, कार्याक्षेप, अनुज्ञाक्षेप, प्रभुत्वाक्षेप, अनादराक्षेप, आशीर्वचनाक्षेप, परुषाक्षेप, साचिव्याक्षेप, यत्नाक्षेप, उपमाक्षेप, मूर्छाक्षेप (रसादिकृत व्यभिचारी भाव) अनुक्रोशाक्षेप, श्लिष्टाक्षेप, अनुशयाक्षेप, संशयाक्षेप तथा अर्थान्तराक्षेप भेद कहे। इतने पर भी आक्षेप के भेदों की कल्पना का क्षेत्र उन्मुक्त कहा। इसी प्रकार आक्षेप के विकल्पों की बात कहकर दण्डी चुप हो गये।[2] उद्भट भामह के अनुयायी रहे। आचार्य रुद्रट ने प्रसिद्ध और विरुद्ध नामक दो भेद ही माने। उक्त और वक्ष्यमाण का नाम तक नहीं लिया। भोज ने विधि और निषेध-भेद से आक्षेप के भेद किए, पुनः दोनों के शुद्ध और मिश्र दो भेद माने। उक्ति और युक्ति का प्रयोग रोधालंकार में होता है। आक्षेप के अन्तर्गत रोध को मानने के कारण उन्होंने विधि और निषेध से अनुकूल और प्रतिकूल का भेद करते हुए भी आक्षेप के भेद किए हैं। मम्मट भेदों में भामहानुयायी हैं। इनके अनन्तर रुय्यक, हेमचन्द्र, नरेन्द्र प्रभ सूरि, जयदेव, विद्याधर, विद्यानाथ, विश्वनाथ, केशव मिश्र, वत्सलांछन, कर्णपूर, पंडितराज जगन्नाथ, विश्वेश्वर, नरसिंह तथा मंदारमरंदचम्पूकार ने भी उक्त और वक्ष्यमाण भेद से आक्षेप के दो ही भेद माने और लक्षण सब का समान है। हां, नरेन्द्र प्रभसूरि ने वस्तु-निषेध और वस्तु-कथन-निषेध दो भेदों की चर्चा भी की है।

ऊपर लिखे विवेचन से यह तथ्य सामने आता है कि आक्षेप अलंकार के लक्षण-विकास में तीन परिवर्तन हुए, जिनके पीछे मानसिक परिस्थितियों का हाथ रहा। सम्भवतः नरेन्द्रप्रभ सूरि ने इसीलिए आक्षेप को व्याघात का एक भेद मानना उचित

१. निषेधाभासमाक्षेपं बुधाः केचन मन्वते ॥७४॥
आक्षेपोऽन्यो विधौ व्यक्ते निषेधे च तिरोहिते ॥७५॥
कुवलयानन्द—अप्पय्य दीक्षित, पृष्ठ १३८-१४०

२. अनयेव दिशान्येऽपि विकल्पाः शक्यमूहितुम् ॥२-१६८॥
काव्यादर्शः—दण्डी, पृष्ठ ९२

समझा।[1] रीतिकाल में आक्षेप-लक्षण में रघुनाथ कवि तथा रामसिंह ने विचारपूर्वक निषेध करने को अधिक महत्व दिया है। आचार्य भिखारीदास ने किसी कार्य को अवश्य करने के लिए कह कर उसे न करने की या उस कार्य को करने से रोकने पर बल देते हुए मुकर जाने तक का कथन किया है। अपने कथन को सदोष बनाकर पुनः कुछ और कहना भी आक्षेप-लक्षण में आचार्य दास ने संगत माना है। आक्षेप के लक्षण-विकास में आचार्य दास की सूझ नई है।

आचार्य केशव ने सर्वप्रथम आक्षेप के भेदों का मौलिक ढंग से निरूपण किया है, जो लक्षण-विकास में महत्वपूर्ण कड़ी है—

प्रेम, अधीरज, धीरजहु, संशय, मरण, प्रकास।
आशिष, धरम, उपाय कहि, शिक्षा-केशवदास।[2]

इनमें धर्म, आशिष, संशय और उपायाक्षेप दण्डी से लिए हैं। शेष नये हैं। केशव के अनन्तर आक्षेपालंकार के भेद-लक्षण में कोई विकास नहीं हुआ और न ही किसी ने नए भेद किए। संस्कृत-काव्य-शास्त्र के लक्षणों के अनुवाद होते रहे, नवीनता या मौलिकता नहीं आयी।

५. अर्थान्तरन्यास

अर्थान्तरन्यास अलंकार के लक्षण में भामह ने उचित अर्थ के आदर के लिए अन्य अर्थ का न्यास समर्थन-हेतु करना ही चमत्कारतत्व माना है। 'हि' शब्द का प्रयोग इसीलिए बलदायक तथा अलंकार-साधक माना।[3] रुद्रट ने कहा कि उपमेय के विशेष और सामान्य धर्म के समर्थन के लिए जो विशेष या सामान्य समानधर्म के उपमान से समर्थन साधर्म्य से या वैधर्म्य से किया जाए, उसे अर्थान्तरन्यास कहते हैं। वैधर्म्य-समर्थित अर्थान्तरन्यास के लक्षण में रुद्रट ने सामान्य वस्तु का विशेष और विशेष का सामान्य से समर्थन स्वीकार किया।[4] रुद्रट द्वारा कथित सामान्य और विशेष का पारस्परिक समर्थन ही पश्चाद्वर्ती के लक्षणकर्त्ताओं ने अर्थान्तरन्यासके लिए गृहीत किया

---

१. परित्याग निषेधकत्वेन ततो व्याघातभेद एवायं आक्षेपः।
अलंकारमहोदधिः—नरेन्द्रप्रभ सूरि, पृष्ठ २९८

२. कविप्रिया—केशवदास, पृष्ठ १६६

३. उपन्यसनम् अन्यस्य यदर्थस्य उदितादृते।
ज्ञेयः सोऽर्थान्तरन्यासः पूर्वार्थानुगतो यथा ॥२-७१॥
हि शब्देन अपि हेत्वर्थप्रथनात् उक्तसिद्धये।
अयम् अर्थान्तरन्यासः सुतरां व्यज्यते यथा ॥२-७३॥
काव्यालंकारः—भामह, पृष्ठ १६

४. धर्मिणमर्थविशेषं सामान्य वाभिधाय तत् सिद्ध्ये।
यत्र सधर्मिकं इतरं न्यस्येत सोऽर्थान्तरन्यासः ॥८-७९॥
वैधर्म्येणाह-पूर्ववदभिधाय एकं विशेषसामान्ययोर्द्वितीयं तु।
तत्सिद्ध्येऽभिदध्याद् विपरीतं यत्र सोऽन्योऽयम् ॥८-८२॥
काव्यालंकारः—रुद्रट, पृष्ठ ११५

मम्मट ने सामान्य और विशेष के अन्योऽन्य समर्थन को स्पष्ट कर दिया।[1] तदनन्तर नरसिंह कवि तक यही लक्षण चला और कोई परिवर्तन इस अलंकार के लक्षण में नहीं हुआ।

रुद्रट ने उभयन्यास नामक अलंकार अलग माना था। इसके लक्षण में उपमा का स्वरूपराहित्य स्वीकार किया,परन्तु दो अर्थों की प्रकटतः सामान्य विद्यमानता और तुल्यकक्षता मानी।[2] भोज ने इसी उभयन्यास को अर्थान्तरन्यास माना है क्योंकि समर्थन उभयन्यास में भी रहता है।[3]

अर्थान्तरन्यास-भेद

दण्डी ने विश्वव्यापी, विशेषस्थ, श्लेषाविद्ध, विरोधवान्, अयुक्तकारी, युक्तात्मा, युक्तायुक्त तथा विपर्यय (विपरीत गुण-युक्त) भेद से आठ भेद किये।[4] रुद्रट ने साधर्म्य-वैधर्म्य से भेद गणना की। भोज ने पूर्ववर्तियों की भांति भेद-गणना करते हुए भी 'उभयन्यास अलंकार' के दो भेदों (प्रत्यनीकन्यास, प्रतीकन्यास) को भी अर्थान्तिरन्यास में गिन लिया। वाग्भटालंकार के कर्त्ता वाग्भट ने श्लिष्ट और अश्लिष्ट भेद से अर्थान्तिरन्यास का निरूपण किया। आचार्य विश्वनाथ ने इसके आठ भेद, सामान्य, विशेष के परस्पर समर्थन, कार्यकारणके परस्पर समर्थन तथा साधर्म्य-वैधर्म्य से इन चारों के द्विविध होने से आठ भेद अर्थान्तिरन्यास के माने।[5] यही परम्परा बाद में भी चलती रही।

अर्थान्तिरन्यास के लक्षण में सामान्य-विशेष के समर्थन की प्रवृत्ति के आधार पर विकास हुआ। सादृश्य-मूलक अलंकार होने के कारण गुण-दोष की भित्ति पर भी इसके लक्षण का विकास हुआ। इसलिए अधिक परिवर्तन नहीं हुआ।

---

१. सामान्यं वा विशेषो वा तदन्येन समर्थ्यते।
यत्तु सोऽर्थान्तिरन्यास, साधर्म्येण इतरेण वा ॥१०-१०६॥
काव्यप्रकाशः—मम्मट, पृष्ठ ५००

२. सामान्यवप्यर्थौ स्फुटमुपमायाः स्वरूपतोऽपेतौ।
निर्दिश्येते यस्मिन्नुभयन्यासः सः विज्ञेयः ॥८-८५॥
काव्यालंकारः—रुद्रट, पृष्ठ ११७

३. प्रोक्तो-यस्तूभयन्यासोऽर्थान्तिरन्यास एव सः।
स प्रत्यनीकन्यासश्च प्रतीकन्यास एव च ॥४-२२८॥
सरस्वती-कण्ठाभरणम्—भोज, पृष्ठ ४६३

४. विश्वव्यापी विशेषस्थः श्लेषाविद्धो विरोधवान्।
अयुक्तकारी युक्तात्मा युक्तायुक्तो विपर्ययः ॥२-१७०॥
काव्यादर्शः—दण्डी, पृष्ठ ६३

५. सामान्यं वा विशेषेण विशेषस्तेन वा यदि।
कार्यं च कारणेनेदं कार्येण च समर्थ्यते।
साधर्म्येणेतरेणार्थान्तिरन्यासोऽष्टधा ततः ॥१०-६३॥
साहित्यदर्पणः—विश्वनाथ, पृष्ठ ३४७

आचार्य केशवदास-कृत अर्थान्तरन्यासालंकार के लक्षण में संस्कृत-काव्य-शास्त्र के लक्षण की छाया भी नहीं है। यह लक्षण सर्वथा नवीन है। उन्होंने अर्थान्तर-न्यासालंकार वहां माना है, जहाँ और कुछ कहकर और ही कुछ अर्थ लिया जाता है।

रीतिकाल में इस अलंकार के भेदों की चर्चा संस्कृत-काव्यशास्त्र के समान ही है। केशव-कृत युक्त, अयुक्त, अयुक्तायुक्त और युक्तायुक्त भेद रसरूप और रसिकगोविन्द के काल में पृथक् अलंकार का रूप धारण कर गये हैं।[1] आचार्य दास ने अर्थान्तरन्यासमाला का उदाहरण मात्र दिया है; लक्षण नहीं दिया है।

६. व्यतिरेक

व्यतिरेक अलंकार का लक्षणनिरूपण सर्वप्रथम भामह ने किया और उपमान वाले अर्थ का विशेष निदर्शन ही उसमें आवश्यक माना।[2] दण्डी ने उपमान और उपमेय में शब्दोपात्त या प्रतीतिगत सादृश्य के भेद-कथन को व्यतिरेक अलंकार माना है। दण्डी ने व्यतिरेक का आधार श्लेष को भी स्वीकार किया है। उद्भट ने उपमान से उपमेय का अथवा उपमेय से उपमान का किसी विशेषता से अतिरेक (आधिक्य) ही व्यतिरेकालंकार का विषय बताया है।[3] रुद्रट ने गुण-दोष के आधार पर व्यतिरेक-लक्षण बांधा,उपमान और उपमेय दोनों में गुण-दोष स्वीकार किया,उपमेय का उत्कर्ष ही नहीं।[4] वामन तथा मम्मट का लक्षण उपमेय की उत्कृष्टता का ही पक्षपाती है। कुन्तक ने भी व्यतिरेक के पीछे श्लेष का हाथ माना है। भोज ने भेदालंकार को ही व्यतिरेक कहा है। कुन्तक और रुय्यकने अति अधिकता और न्यूनता के उपमेय-उपमान में विद्यमानता के रूप में रुद्रट का पक्ष लिया है। जयदेव ने उपमान-उपमेय में से एक का दूसरे से विशेषाधिक्य-कथन ही व्यतिरेक माना है। हेमचन्द्र, वाग्भट, नरेन्द्र प्रभ सूरि, भावदेव सूरि,विद्याधर, विश्वनाथ, शोभाकर, केशव मिश्र, अप्पय्य दीक्षित, विश्वेश्वर तथा नरसिंह कवि ने उपमान और उपमेय के परस्पर आधिक्य और न्यूनत्व के आधार पर व्यतिरेक का लक्षण लिखा है। वत्सलांछन और कर्णपूर मम्मट के

---

१. (क) कविप्रिया—केशव, पृष्ठ २२७
(ख) तुलसीभूषण - रसरूप, पृष्ठ ६

२. उपमानवतोऽर्थस्य यद्विशेषनिदर्शनम्।
व्यतिरेकं तमिच्छन्ति विशेषापादनाद् यथा ॥२-७५॥
काव्यालंकारः—भामह, पृष्ठ १६

३. तत्र हि उपमानात् उपमेयात् उपमानस्य वा केनचिद्।
विशेषेण अतिरेकः आधिक्यं तस्माद् व्यतिरेकः ॥
काव्यालंकार-संग्रहः—उद्भट, (लघु वृत्ति) पृष्ठ ४१

४. यो गुण उपमेये स्यात् तत्प्रतिपन्थी च दोष उपमाने।
व्यस्तसमस्तन्यस्तौ तौ व्यतिरेकं त्रिधा कुरुतः ॥७-८६॥
काव्यालंकारः—रुद्रट, पृष्ठ ६३

अनुकर्त्ता रहे। पंडितराज जगन्नाथ ने भी उपमेय के उत्कर्ष या आधिक्य-वर्णन में ही व्यतिरेक माना है।

इस प्रकार उपमान से उपमेय के प्रकर्ष को बताने वाला लक्षण प्रायशः १२०० वर्षों में उपमान और उपमेय दोनों में से किसी एक के आधिक्य अथवा न्यूनता के वर्णन पर टिक गया। इसमें एक ही परिवर्तन हुआ, जो विशेष महत्वपूर्ण नहीं कहा जा सकता।

व्यतिरेक-भेद

व्यक्तिरेकालंकार के भेदों का कथन शब्दोपात्तता तथा प्रतीयमानत्व नाम से दण्डी ने आरम्भ किया। दण्डी ने श्लेष के आधार पर भी व्यतिरेक के भेद कहे, जाति के अनुयोग से भी व्यतिरेक-विवेचन किया। उद्भट का भेद-निरूपण भामह से प्रभावित है। रुद्रट ने गुण-दोष की क्रमशः उपमान-उपमेय में विद्यमानता और उपमेय के गुण का उपमान में दोषत्व-प्रदर्शन से भी व्यतिरेक का भेद-विवेचन किया। भोज ने १६ भेद माने। मम्मट ने २४ भेद किये और आचार्य विश्वनाथ ने ४८ भेद किए। १. उपमेयाधिक्य २. अनुक्तोत्कृष्टता का कारण ३. उक्तोत्कृष्टताकारण ४. अनुक्तोभय कारण—इनके चारों के उपमानोपमेय भाव का कथन, कहीं शब्दतः, कहीं अर्थबलात् और कहीं आक्षेपत-गम्य होने से चारों के ४×३=१२भेद हैं। श्लेष और अश्लेष (केवल) से १२×२=२४ भेद हैं। इसी प्रकार उपमेय से उपमान की हीनता में भी २४ भेद होते हैं। सब मिलाकर ४८ भेद हो जाते हैं। पूर्वाचार्यों के भेदों की गणना विश्वनाथ ने कर दी तथा परवर्ती आचार्यों ने इन से बढ़ कर भेद नहीं माने अपितु संख्या कम ही हुई। विश्वेश्वर पंडित ने २४ भेद ही माने। व्यतिरेक के भेदों की संख्या उपमा से भी बढ़ गई, यद्यपि यह भी सादृश्यमूलक अलंकार है।

इस अलंकार के लक्षण-विकास में विशेष परिवर्तन नहीं हुआ परन्तु भेदों में सूक्ष्मता अवश्य प्रतिपादित हुई। इसी सूक्ष्मता-निरीक्षण के कारण व्यतिरेक दृष्टान्त से भिन्न हुआ। अर्थान्तरन्यास भी हेतुत्व की दृष्टि से विभिन्न परिलक्षित हुआ।

रीतिकालीन काव्य-शास्त्र में व्यतिरेक के लक्षण में विशेष अन्तर न आया। परम्परा का निर्वाह होता रहा। लक्षण-अनुवादों के युग में मौलिकता से नया अध्याय जोड़ना संभव नहीं हुआ। 'कर्णाभरण' के लेखक गोविन्द ने अन्य आलंकारिकों की भांति उपमान से उपमेय की अधिकता व्यतिरेक-लक्षण में न कह कर उपमेय में उपमान से कुछ विशेषता दिखाने का मत प्रकट किया। आचार्य सोमनाथ ने रसिकों को सुख पहुंचाने वाले व्यतिरेक-लक्षण में उपमान से बढ़कर उपमेय में गुण-वर्णन को उपयुक्त समझा है। संस्कृत-काव्य-शास्त्र (विश्वनाथ समान) के समान व्यतिरेक के भेदोपभेदों की विवेचना भी रीतिकाल में न हो पाई, संक्षेपतः ही भेदोपभेद वर्णित हुए हैं।

७. विभावना

भामह ने विभावना अलंकार के लक्षण में कारण के अर्थ में क्रिया शब्द का प्रयोग किया है। 'क्रियतेऽनया इति क्रिया' व्युत्पत्ति से क्रिया शब्द कारण का बोधक है। भामह ने क्रिया का प्रतिषेध होने पर उससे सम्बद्ध फल का विभावन जहाँ हो, वहीं विभावनालंकार माना है।[1] दण्डी ने विभावना के मूल में प्रसिद्ध हेतु की व्यावृत्ति तथा कारणान्तर की कल्पना के साथ ही स्वाभाविकता और विभावन को आवश्यक माना। विभावना-लक्षणमें स्वाभाविकता का निदर्शन दण्डी ने किया जो कि औचित्य-पूर्ण है। लक्षण का औचित्य उदाहरण में स्वाभाविकता-प्रदर्शन से किया गया है, यथा—हे सुन्दरि! तुम्हारी आँखें अंजन न लगाने पर भी काली तथा भौंहें न सिकोड़ने पर भी टेढ़ी है और अधर न रंगे जाने पर भी लाल हैं।[2] रुद्रट ने विभावना के लक्षण में तीन तथ्य नये शब्दों में प्रतिपादित किये। यथा—१ किसी पदार्थ की उत्पत्ति जनक कारण से न कह कर कारणान्तर से कही जाय। २—जो विकार किसी वस्तु में जिस कारण से होता है, वही विकार कारणान्तर से दिखाया जाय। ३—लोक में एक पदार्थ का प्रसिद्ध धर्म जिस कारण से हो, अन्य का भी वैसा ही धर्मत्व उसी कारण से दर्शाया जाय। विकार तथा धर्म की जनकता—दो तथ्य विभावना-लक्षण में रुद्रट ने नये जोड़े हैं।[3] कुन्तक ने विभावना-लक्षण में कान्ति-सिद्धि की चर्चा की है। भोज का लक्षण दण्डी का अनुकरणमात्र है। क्रिया शब्द के स्थान पर उसके 'हेतु' का प्रयोग दण्डी और तदनुसार भोज ने किया। रुय्यक के काल में क्रिया शब्द का स्थान 'कारण' शब्द ने ले लिया। अब 'क्रिया' शब्द से उत्पन्न होने वाली भ्रान्ति जाती रही।[4] वाग्भट ने दण्डी के अनुसरण से स्वाभाविकता के स्थान पर नैसर्गिक शब्द का प्रयोग कर लिया तथा गुणोत्कर्ष की भी चर्चा की है। विभावनालक्षण में जाति, गुण, क्रिया, द्रव्यरूप कारणों के अभाव से भी फलोदय

---

१. क्रियायाः प्रतिषेधे या तत्फलस्य विभावना।
ज्ञेया विभावनैवासौ समाधौ सुलभे सति ॥२-७७॥
काव्यालंकारः—भामह, पृष्ठ १६

२. प्रसिद्धहेतुव्यावृत्या यत् किंचित् कारणान्तरम्।
यत्र स्वाभाविकत्वं वा विभाव्यं सा विभावना ॥२-१९९॥
काव्यादर्शः—दण्डी, पृष्ठ १०२

अनंजितासिता दृष्टिर्भ्रूरनावर्जिता नता।
अरंजितारुणश्चायमधरस्तव सुन्दरि ॥२-२०१॥
काव्यादर्शः—दण्डी, पृष्ठ, १०२

३. यस्य यथात्वं लोके प्रसिद्धमर्थस्य विद्यते तस्मात्।
अन्यस्यापि तथात्वं यस्यामुच्येत सान्येयम् ॥९-२०॥
काव्यालंकारः—रुद्रट, पृष्ठ १२५

४. कारणस्याभावे कार्यस्योत्पत्तिर्विभावना।
अलंकार-सर्वस्वम्—रुय्यक, पृष्ठ १५७

की चर्चा 'अलंकारमहोदधि' ग्रन्थ में नरेन्द्रप्रभ सूरि ने भी की है।[5] परन्तु गुणोत्कर्ष चर्चा कुन्तक से प्रभावित रही। अप्पय्य दीक्षित ने पूर्ववर्ती आचार्यों के लक्षण के अतिरिक्त हेतुओं की असमग्रता (असमर्थता) होने पर भी कार्यजन्म—कार्योत्पत्ति में प्रतिबन्धकता होने पर भी कार्योत्पत्ति तथा प्रसिद्ध कारण से भिन्न वस्तु (कारण) से भी कार्योत्पत्ति। विरोधी कारण से कार्यजन्म तथा कार्य से कारण-जन्म भी विभावना-लक्षण में जोड़ दिया। कार्य से कारण-जन्म की चर्चा लक्षण में पूर्वाचार्यों से सर्वथा नवीन ही की गयी है। हेतु की असमग्रता दण्डी की विशेषोक्ति है। जो अप्पय्यदीक्षित के काल में विभावना के लक्षण में समाविष्ट हो गई।[1] इसके अनन्तर 'कारणविना कार्योत्पत्ति' वाला विभावना-लक्षण ही चला। पंडितराज जगन्नाथ के अनुसार अलंकार-शास्त्र में इस अलंकार का विकास कवि-प्रतिभा से कारण-कार्य की उत्पत्ति-सम्बन्धी शाश्वत प्रामाणिकता का विरोध करने के लिए ही हुआ।

वास्तव में कल्पना इस लक्षण के विकास का प्रमुख आधार रही है। केवल दण्डी ने स्वाभाविकता के रूप में 'यथार्थता' को इसका आधार प्रस्तुत किया है।

विभावना-भेद

रुद्रट ने विभावना के तीन भेद किए। भोज ने शुद्धा, चित्रा और विचित्रा नाम से तीन प्रकार की विभावना स्वीकार की।[2] विश्वनाथ ने उक्त-निमित्ता तथा अनुक्त-निमित्ता—दो भेद किये। दीक्षित ने पूर्ववर्णित छः भेदों का निरूपण किया। शेष विद्वान् इन्हीं विभावना-भेदों के अन्तर्गत अपना विवेचन करते रहे। अप्पय्यदीक्षित की भाँति किसी ने भी छः भेदों के अलग-अलग लक्षण नहीं किये। नरेन्द्रप्रभ सूरि ने 'विभावना-माला' भी एक नया भेद माना, उसका उदाहरण भी चमत्कारपूर्ण दिया दिया। जैसे—'अनिद्र-दुःस्वप्नयुक्त अनद्रिः, प्रयतत-द्रुमतट, जरासेन-कम्पयुक्त, तिमिर-रहित, त्राससमय, अनाघात-दुःखयुक्त, निगड़रहित बन्धन धृतिः' आदि।[3]

विभावना के लक्षण-विकास के साथ ही उसका भेद-विकास भी हुआ और उसमें यह कवि-प्रतिभा के कौशल से चमत्कार पाने में अत्यधिक सफल हुआ।

---

५. जात्यादीनामभावेऽपि कारणानां फलोदयात्—
विभाव्यते चमत्कारकारणं कारणान्तरम् ॥८-५४॥
यदा नैसर्गिकं यत्र सौन्दर्यं सा विभावना ॥

अलंकार-महोदधिः—नरेन्द्र प्रभ सूरि, पृष्ठ २९६

१. (क) हेतूनामसमग्रत्वे कार्योत्पत्तिश्च सा मता ॥७८॥

कुवलयानन्दः—अप्पय्य दीक्षित, पृष्ठ १४४

ख) गुणजातिक्रियादीनां यत्र वैकल्यदर्शनम्।
विशेषदर्शनायेव सा विशेषोक्तिरिष्यते ॥२-३२३॥

काव्यादर्शः—दण्डी, पृष्ठ १३९

२. शुद्धा, चित्रा, विचित्रा च विविधा सा निगद्यते।

सरस्वती-कंठाभरणम्—भोज, पृष्ठ ४४३

३. अलंकार-महोदधिः—नरेन्द्र प्रभसूरि, पृष्ठ २९७

रीतिकाल के काव्यशास्त्र में विभावना के लक्षण और भेदोपभेदों की चर्चा चन्द्रालोक तथा कुवलयानन्द के आधार पर होती रही, परन्तु आचार्य भिखारीदास ने विभावनालंकार के लक्षण में नया मन्तव्य जोड़ दिया। उन्होंने बिना कारण अथवा लघुकारण से कार्य की उत्पत्ति विभावना-लक्षण में मान ली। इसमें लघुकारण से चाहे उन का तात्पर्य हेतु की असमग्रता से रहा हो या अन्य कुछ,परन्तु एक नया मोड़ विभावना-लक्षण को उन्होंने दिया। वास्तव में इसमें अलंकार का लक्षण लंगड़ा गया है। इसी प्रकार एक क्रान्तिकारी पग राय शिवप्रसाद ने उठाया कि वीभत्स रस के द्योतन के लिए विभावनालंकार का योग स्वीकार किया। यथा—

अथ वीभत्स लक्षण—दोहा

लखि गलान होत जहं सो वीभत्स बखान।
सो समुझो लखि ग्रन्थ मत पंडित गुनी सुजान ॥५५४॥

उदाहरण—अलंकार विभावना :—

काहूं को नार सों कोऊ कहे मुहि लागे गिलान दसा तुव देखत।
ओठन ऊपर पीक बहे अरु कीचर आंखन मांझ विसेषत।
धन्वी न तोहि मिले कबहूं तुव अम्बर ना जल सूरत देखत।
गात में बास गयंद की आवत मो समझाओ तू कत लेखत ॥५५५॥

वर्तमान काल में मनोवैज्ञानिक आलोचक इस प्रकार के प्रयोग का समर्थन करते हैं। इसका कारण यह है कि परिस्थितिविशेष में कवि विशिष्ट प्रकार काव्य लिखता है, उसमें रसात्मकता और तदनुकूल अलंकार का चमत्कार आ जाता है। इस दृष्टि से रीतिकाल में राय शिवप्रसाद ने 'रसभूषण' ग्रंथ में विभावनालंकार को नये ही रूप में प्रस्तुत किया है।

८. अतिशयोक्ति

आचार्य भरत ने भूषणों में एक 'अतिशय' भी माना है। इस भूषण का लक्षण है कि सामान्यजनों में होने वाले बहुत से गुणों का संकीर्तन करके जो विशेष का कीर्तन होता है, उसे बुधजन अतिशय कहते हैं, अर्थात् सामान्यों में विशेष का कीर्तन अतिशम है।[1] भामह ने इस अतिशयोक्ति को (वक्रोक्तिरूपा)ही सर्वालंकारमूला माना। लक्षण में भामह ने लोकातिक्रान्तगोचर वचन का निमित्त से कथन ही अतिशयोक्ति माना। गुणों के अतिशय के योग के कारण भामह ने इसे आदि अलंकार कहा। भामह की दृष्टि से अतिशयोक्ति चमत्काराश्रित अलंकार-जननी है।[2] कुछ विद्वानों का यह भी

---

१. बहून गुणान कीर्तयित्वा सामान्यजनसंभवान्।
विशेषः कीर्त्यते यस्तु ज्ञेयः सोऽतिशयो बुधैः ॥१६-२०॥
नाट्य-शास्त्रम्—भरत, पृष्ठ २५७

२. निमित्ततो वचो यत्तु लोकातिक्रान्तगोचरम्।
मन्यन्तेऽतिशयोक्तिं तामलंकारतया यथा ॥२-८१॥
इत्येवमादिरुदिता गुणातिशययोगतः।
सर्वैवातिशयोक्तिस्तु तर्कयेत् तां यथागमम् ॥२-८४॥
काव्यालंकारः—भामह, पृष्ठ १७

मत है कि भामह का 'अतिशयोक्ति (वक्रोक्ति) बिना क्या अलंकार' वाले कथन का तात्पर्य कवि-कल्पित चमत्कार से है। इसका सम्बन्ध अतिशयोक्ति नामक अलंकार से नहीं है।[1] परन्तु पहले भामह द्वारा प्रदत्त लक्षण का स्वरूप-विवेचन किया गया है। दण्डी का लोकसीमातिवर्त्तिनी होने का दाय अतिशयोक्ति को सौंपना भामह से ही लिया हुआ है। इसे अलंकारों में उत्तम कहने की बात भी नयी नहीं। दण्डी ने अतिशयोक्ति की महिमा गाते हुए कहा कि वाचस्पति से पूजित इस अतिशयोक्ति को कविगण अन्यालंकार-परायणा (अन्य अलंकारों का परम आश्रय) मानते हैं।[2] परवर्ती आचार्य उद्भट ने इसमें कार्य-कारण पौर्वापर्य-विपर्यय का तत्व नया जोड़ दिया।

वामन ने उत्प्रेक्षा में अतिशयोक्ति का अन्य विद्वज्जनों द्वारा स्वीकृत मत का खण्डन करते हुए कहा कि सम्भाव्य धर्म की उत्कर्ष-कल्पना ही अतिशयोक्ति है। सम्भावना तो उत्प्रेक्षा का मूल है, परन्तु अतिशयोक्ति में उत्कर्षकल्पना का अंश प्रधान रहता है। बस, यहाँ से अतिशयोक्ति के लक्षण में लोकसीमा की अतिक्रान्तता मंद पड़ गई और सम्भाव्य की उत्कर्ष-कल्पना की मान्यता का युग आरम्भ हुआ। यह अतिशयोक्ति के लक्षणों में नया मोड़ था। अब अतिशयोक्ति को और ठोस आधार मिल गया। आचार्य रुद्रट ने इस अलंकार के लक्षण का विवेचन ही नहीं किया है। कारण अज्ञात है।

अग्निपुराण में वर्णित लक्षण में गुण, जाति, क्रियादि से अतिशयता की चर्चा की गई थी, परन्तु भोज ने द्रव्य और जाति में अतिशयता की सत्ता का स्पष्ट निषेध किया।[3] भोज ने प्रभावातिशयता, अनुभवातिशयता तथा अन्योऽन्यातिशयता को भी लक्षण में समाविष्ट कर लिया है।

मम्मट से पूर्ववर्ती उद्भट के अतिरिक्त अन्य आचार्यों के लक्षण में अतिशयता की चर्चा तो थी, परन्तु मम्मट ने भेदोपकल्पना समेत वर्णित अतिशयोक्ति के लक्षण में उपमान द्वारा उपमेय को निगीर्ण करके अध्यवसान करना, प्रस्तुत अर्थ का अन्य

---

१. न तु अतिशयोक्तिरलंकारोऽत्र विवक्षितः।
तस्यात्रासम्भावात्—उद्योतः॥ उद्धृत, काव्यप्रकाशः—मम्मट, पृष्ठ ५७२

२. अलंकारान्तराणामप्येकमाहुः परायणाम्।
वागीशमहितामुक्तिमिमामतिशयाह्वयाम् ॥२-२२०॥
काव्यादर्शः—दण्डी, पृष्ठ १०८

३. (क) भवेद् अतिशय नाम सम्भवासम्भवाद् द्विधा।
गुण-जाति-क्रियादीनां यत्र वैकल्यदर्शनम् ॥२६॥
अग्निपुराणम्—पृष्ठ ७०४

(ख) सा च प्रायो गुणानांच क्रियाणांचोपकल्पते।
न हि द्रव्यस्य जातेर्वा भवत्यतिशयः क्वचित् ॥४-२६२॥
सरस्वतीकंठाभरणम्—भोज, पृष्ठ ५२५

रूप से वर्णन, 'यदि' के समानार्थक शब्दों की योजना से कल्पना तथा कार्य-कारण के पौर्वापर्य का विपर्यय-कथन भी समन्वित कर दिया है।[१] इस प्रकार अध्यवसान, पौर्वापर्य-विपर्यय आदि शब्द-योजना से लक्षण में नया विकास हुआ। सर्वत्र व्याप्त रहने वाला अतिशयोक्ति अलंकार अपनी सीमाएं बांधने लगा और उसका पृथक् स्वरूप उपस्थित हो गया। मूल रूप से अलंकारमात्र में भी उसका साहाय्य माना गया।

मम्मट के अनन्तर नरसिंह कवि तक किसी भी विद्वान् ने अतिशयोक्ति के लक्षण में किसी नवीन तत्व का समावेश नहीं किया। अप्पय्य दीक्षित ने चित्र-मीमांसा में अतिशयोक्ति को लक्षणाश्रित माना है। इस तथ्य की चर्चा रूपकालंकार के लक्षण में भी की जा चुकी है।

अतिशयोक्ति-भेद

आचार्य दण्डी के अतिशयोक्ति-सम्बन्धी उदाहरणों में आये पदों के आधार पर उनकी दृष्टि में निर्णय, संशय और आधिक्यातिशयोक्ति—ये ३ भेद माने जा सकते हैं।[२] अग्निपुराण में सम्भवासम्भव भेद से अतिशय का द्विविध होना माना गया। कार्य-कारण पौर्वापर्य-विपर्यय भेद की चर्चा सर्वप्रथम उद्भट ने की। तीन भेद और भी कहे—अर्थात् १—अन्यत्व में अनन्यत्व (एकता) २—ऐक्य में नानात्व ३—बाहिर अविद्यमान अर्थ का सम्भावना मात्र से उपनिबन्धन। मम्मट-कृत भेदों पर इन्हीं का पूर्ण प्रभाव रहा। अक्रमा, अत्यंता, चपला—इन भेदों का निरूपण और रूपकातिशयोक्ति का नामकरण जयदेव ने किया। सम्बन्धासम्बन्ध-भेद की चर्चा एकावलीकार विद्याधर ने की। विद्यानाथ ने भेदेभेदः, अभेदेभेदः, सम्बन्धे सम्बन्धः असम्बन्धे-सम्बन्धः—नामक चार भेद किये। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने पांच भेदों का निरूपण किया। १—भेद में अभेद २—सम्बन्ध में असम्बन्ध ३—अभेद में भेद ४—असम्बन्ध में सम्बन्ध ५—कार्यकारण के पौर्वापर्य का विपर्यय सापह्नवा तथा निरपह्नवातिशयोक्ति की चर्चा अप्पय्य दीक्षित ने की है।[३] पंडितराज ने अपने विचार पूर्ववर्तियों के समान व्यक्त किये। कार्यकारण के ऐक्य और व्यत्यय के आधार पर नरसिंह कवि ने इसके दो भेद कर भेदों की संख्या छः तक पहुंचा दी।[४]

---

१. निगीर्याध्यवसानन्तु प्रकृतस्य परेण यत्।
प्रस्तुतस्य यदन्यत्वं यद्यर्थोक्तौ च कल्पनम्॥७-१००॥
कार्यकारणयोर्यश्च पौर्वापर्यविपर्ययः।
विज्ञेयातिशयोक्तिः सा। काव्यप्रकाशः—मम्मट, पृष्ठ ४८२

२. काव्यादर्शः—दण्डी, पृष्ठ १०७-१०८

३. यद्यपह्नुतिगर्भत्वं सैव सापह्नवा मता।
कुवलयानन्दः—अप्पय्य दीक्षित, पृष्ठ ५४

४. कार्यकारणयोः कालस्यैक्य तद् व्यत्ययोऽपि च।
षड्विधातिशयोक्तिर्हि सम्मता चारुचेतसाम्॥
नंजराजयशोभूषणम्—नरसिंह कवि, पृष्ठ १८२

अतिशयोक्ति को विद्यानाथ ने कविप्रौढ़ोक्ति का प्राण माना। नरेन्द्रप्रभसूरि ने भी कहा कि सब अलंकार इसी से ही स्फुरद्रूप हैं। इसके बिना तो प्रपीतकल्पना मात्र है। इससे सर्वालंकारबीजभूत अतिशयोक्ति का स्वरूप विभिन्न क्षेत्रों में विकसित हुआ और अलंकार-क्षेत्र में अपूर्व प्रभावशाली सिद्ध हुआ।[1]

रीतिकाल में अतिशयोक्ति अलंकार के लक्षण में नवीनता के लिए अवकाश नहीं था। विद्यानाथ ने सदोष लक्षण गढ़ने में ही अपना मस्तिष्क खपाया और अनुवाद के चक्र में लक्षण अशुद्ध कर दिया। अपने अतिशयोक्ति-लक्षण में प्रौढ़ोक्ति और अतिशयोक्ति को एक समान मान लिया। रीतिकाल में अतिशयोक्ति नाम के सामान्यालंकार का लक्षण भी अल्पसंख्यक आचार्यों ने दिया है। बहुधा तो रूपकातिशयोक्ति ही इसका बोधक अलंकार माना गया है। रामसिंह, रत्नेस, बैरीसाल, रसिक गोविन्दादि आचार्य इसी कोटि के लक्षण-लेखकों में हैं।

अतिशयोक्ति अलंकार के भेदों की विवेचना भी संस्कृत-काव्यशास्त्र की भांति ही हुई है। विशेष उल्लेखनीय कोई तथ्य इन भेदों में दृष्टिगत नहीं होता है।

६. उत्प्रेक्षा

भामह ने उत्प्रेक्षालंकार में तीन तत्वों को मान्यता दी—उपमा के साथ जिसका कुछ भी सामान्य विवक्षित नहीं—अर्थात् उपमा के साथ जिसका कुछ भी सम्बन्ध नहीं। क्रिया और गुण का योग भी उपमेय और उपमान में एक सा नहीं, तथा अतिशय से जो समन्वित है, वह उत्प्रेक्षा है।[2] दण्डी ने माना कि उत्प्रेक्षा के लक्षण में चेतन या अचेतन (प्रस्तुत रूप) की स्वाभाविक गुण-क्रिया आदि की अन्य प्रकार (अप्रस्तुत रूप) से सम्भावना की जाती है। दण्डी के लक्षण में उत्प्रेक्षा चेतन-अचेतन पदार्थों की सम्भावना के क्षेत्र को स्पर्श कर गई।[3] अग्निपुराण में लोक-सीमातिवर्तन की चर्चा अतिशयोक्ति के तत्व के कारण कर दी गई। उद्भट ने लक्षण पूर्ण स्पष्ट कर दिया कि क्रिया के साथ प्रयुक्त इव आदि पदों के प्रयोग द्वारा जहां साम्य न कहा जाय और सम्भावना की जाय, वहां उत्प्रेक्षा होती है। उद्भट ने भामह के लक्षण का स्पष्टीकरण-मात्र किया है। वामन ने 'अध्यवसान' पद का प्रयोग करके उत्प्रेक्षा का लक्षण-चमत्कार पूर्ण बना दिया। आतिशयार्थ पद का

---

१. सर्वालंकारजीवितम् अलंकारा हि सर्वेऽप्यनयैव स्फुरद्रूपा क्रियन्ते।
एनां बिना तु प्रपीतकल्पा एव।
अलंकार-महोदधिः—नरेन्द्रप्रभ सूरि, पृष्ठ २३१

२. अविवक्षित सामान्या किंचिच्चोपमया सह।
अतद्गुणक्रियायोगादुत्प्रेक्षातिशयान्विता ॥२-९१॥
काव्यालंकारः—भामह, पृष्ठ १८

३. अन्यथैव स्थिता वृत्तिश्चेतनस्येतरस्य वा।
अन्यथोत्प्रेक्ष्यते यत्र तामुत्प्रेक्षां विदुर्यथा ॥२-२२१॥
काव्यादर्शः—दण्डी, पृष्ठ १०९

प्रयोग भ्रान्तिपूर्वक ज्ञान की निवृत्ति के लिये किया।[1] रुद्रट ने उपमेय में उपमान की संभावना की सीमा विस्तृत कर दी। उसने उपमेय की उपमेय में तथा उपमान में उपमान के ताद्रूप्य की सम्भावना मानी है। रुद्रट ने दूसरी परिभाषा ६वें अध्याय में दी है। उसमें 'किसी वस्तु में असम्भाव्य क्रिया गुणादि की सम्भावना करना' यह लक्षण माना है।[2] अतितथाभूत पद का अर्थ अतिशयान्वित माना है।

कुन्तक के उत्प्रेक्षा-लक्षण में नया परिवर्तन हुआ। इस आचार्य ने सम्भावना के कारण सम्भाव्यमात्र के अनुमान से (सम्भावनाऽनुमानेन) तथा सादृश्य से और उन दोनों से भी उत्प्रेक्षा का होना माना। इनके लक्षण में अतिशयोद्रेक, पूर्ववर्तियों के लक्षणों से प्राप्त रहा। इवादि पदों को भी कुन्तक ने उत्प्रेक्षा का द्योतक माना है। इसलिए उनके अनुसार वर्णित अर्थ से अतिरिक्त (अतिशययुक्त) अर्थ की योजना उत्प्रेक्षा है। इस प्रकार चमत्कारपूर्ण लक्षण कुन्तक ने ही प्रस्तुत किया है।[3]

वाग्भट प्रथम ने उत्प्रेक्षा-लक्षण में औचित्य से कल्पना (सम्भावना) का तत्व समाविष्ट किया। औचित्य शब्द का प्रयोग क्षेमेन्द्र के अलंकारौचित्य सम्बन्धी विचारों से निश्चित प्रभावित है। इनसे पूर्व भोज ने दण्डी का अनुसरण किया था।

मम्मट, हेमचन्द्र, नरेन्द्रप्रभ सूरि, विश्वनाथ, विद्यानाथ, शोभाकर, वत्स लांछन, (मम्मट का पूर्णानुयायी) अप्पय्य दीक्षित, पंडितराज जगन्नाथ, विश्वेश्वर, तथा अभिनव कालिदास नरसिंह कवि, उत्प्रेक्षालंकार में सम्भावना के ही पक्षपाती रहे। जयदेव ने निह्नुति बिना हेत्वादि भेदों से रहने वाली उत्प्रेक्षा को अनुमानगता कहा। रुय्यक और विद्याधर ने लक्षण में अध्यवसान की चर्चा भी की। केशव मिश्र ने रुद्रट की भांति उत्प्रेक्षा में आरोप ही माना।

---

१. अतद्रूपस्य अन्यथा अध्यवसानम् अतिशयार्थम् उत्प्रेक्षा।
अतिशयार्थम् इति-भ्रान्तिज्ञाननिवृत्त्यर्थम्॥
काव्यालंकार-सूत्राणि—वामन, पृष्ठ ५६

२. (क) सान्येत्युपमेयगतं यस्यां सम्भाव्यतेऽन्यदुपमेयम्।
उपमानप्रतिबद्धापरोपमानस्य तत्त्वेन॥८-३४॥
काव्यालंकारः—रुद्रट, पृष्ठ १०५

(ख) यत्रातितथाभूते सम्भाव्यते क्रियाद्यसम्भाव्यम्।
सम्भूतमतद्वति वा विज्ञेया सेयमुत्प्रेक्षा॥६-११॥
काव्यालंकारः—रुद्रट, पृष्ठ १२४

३. सम्भावनाऽनुमानेन सादृश्येनोभयेनवा।
निर्वर्ण्यातिशयोद्रेकप्रतिपादनवांछया॥३-२५॥
वाच्यवाचक सामर्थ्याक्षिप्तस्यार्थैरिवादिभिः।
तदिवेति तदेवेति वादिभिर्वाचकं बिना॥३-२६॥
समुल्लसित वाक्यार्थ व्यतिरिक्तार्थ योजनम्।
उत्प्रेक्षा······ ॥३-२७॥
वक्रोक्तिजीवितम्—कुन्तक, पृष्ठ ४२२-४२३

इस प्रकार उत्प्रेक्षा-लक्षण में उपमा से भिन्नता, अध्यवसान, सम्भावना और आरोप का विषयत्व स्वीकार किया गया। केशव मिश्र ने इस अलंकार को सर्वालंकार-सर्वस्व माना। इसके मूल में भी अतिशयोक्ति की स्वीकृति आचार्यों ने की है। सम्भवतः केशव मिश्र ने इसीलिए अपना मत प्रस्तुत कर दिया।[1] उत्प्रेक्षा के लक्षण में इन तीन परिवर्तनों ने उसके चमत्कार-क्षेत्र का विस्तार कर दिया। इसलिए भेदोपभेदों की कल्पना भी बहुत हो गई।

उद्भट ने भाव तथा अभाव के अभिमान से दो भेद माने। इवादि से वाच्य और इनके प्रयोग न करने पर प्रतीयमान उत्प्रेक्षा स्वीकृत की।[2] आचार्य रुद्रट ने ८वें, ९वें अध्याय में उत्प्रेक्षा के दो तथा एक भेद कहे हैं।[3] कुन्तक ने भी उत्प्रेक्षा-भेदों का सम्भावनानुमान, काल्पनिक सादृश्य, वास्तव सादृश्य तथा उभय सादृश्य भेद से निरूपण किया। चौथा भेद और भी कहा। इस चतुर्थ भेद में कहा गया है कि क्रिया-रहित वस्तु में भी उसके स्वाभाविक सौन्दर्य के अनुरूप और देखने वाले को उस प्रकार की प्रतीति होने के कारण किसी क्रिया के प्रति कर्तृत्व का प्रदर्शन भी उत्प्रेक्षा है।[4] रुय्यक ने उत्प्रेक्षा के ८६ भेद माने हैं।

जयदेव ने हेतु, वस्तु, फलादि उत्प्रेक्षा-भेदों का निरूपण किया और गूढ़ोत्प्रेक्षा का लक्षण माना कि इवादि पदों के अभाव में भी जो रहे, वही यह उत्प्रेक्षा है। प्रतापरुद्रीययशोभूषणकार विद्यानाथ ने वाच्या तथा प्रतीयमाना के १६-१६ भेद माने हैं।[5] जाति, क्रिया गुण-द्रव्य-भेद से दोनों ४-४ प्रकार की होती हैं पुनः भावाभाव रूप से ८-८, गुणनिमित्त और क्रियानिमित्त भेद से १६-१६ प्रकार बन जाते हैं। विश्वनाथ ने इसके ३२ भेद माने हैं।[6] विद्यानाथ ने १०४ भेदों की चर्चा भी की है।

---

१. इयं च सर्वालंकारसर्वस्वं कविकीर्तिविवर्धिनी।
उत्प्रेक्षा हरति स्वान्तम् अचिरोढ़ास्मितादिव ॥
अलंकार-शेखरः—केशव मिश्र, पृष्ठ २४

२. लोकातिक्रान्तविषया भावाभावाभिमानतः।
संभावनेयमुत्प्रेक्षा वाच्या इवादिभिरुच्यते ॥
काव्यालंकार-संग्रहः—उद्भट, पृष्ठ ५१

३. काव्यालंकारः—रुद्रट, पृष्ठ १०५-१०७, १२४

४. प्रतिभासा तथा बोद्धः स्वस्पन्दमहिमोचितम्।
वस्तुनो निष्क्रियस्यापि क्रियायां कर्तृतार्पणम् ॥३-२८॥
वक्रोक्ति-जीवितम्—कुन्तक, पृष्ठ ४२५-४२८

५. भेदा : वाच्या, प्रतीयमाना च। जातिक्रियागुणद्रव्याणां चतुर्णामध्यवसाय विषयत्वेन सा द्विविधा, प्रत्येकं चतुर्विधा। तेषां भावाभावरूपतया द्वैविध्ये अध्यवसायस्य गुण-निमित्तत्वेन क्रियानिमित्तत्वेनच द्वैविध्यं प्रत्येकं षोडशप्रकाराः।
प्रतापरुद्रीययशोभूषणम्—विद्यानाथ, पृष्ठ २७८

६. ताः द्वात्रिंशद्विधतां यान्ति। साहित्य-दर्पणः—विश्वनाथ, पृष्ठ ३१६

नरेन्द्र प्रभसूरि ने ६६ भेदों की चर्चा की है। उनमें से ८० तो समीक्षा के निष्कर्ष पर परखने के अनन्तर माने ही जा सकते हैं।[1] नरसिंह कवि ने भी ६६ भेद माने हैं, परन्तु उनमें चमत्कारशाली भेदों का नाम-उदाहरण अपने ग्रंथ 'नंजराज यशोभूषण' में क्रमशः दिया है।[2]

उत्प्रेक्षालंकार का लक्षण तथा भेदोपभेद-विकास सिद्ध करता है कि उपमा, रूपक, व्यतिरेक और अतिशयोक्ति से अधिक इसका प्रयोग कवियों ने किया तथा प्रयोग द्वारा इसे अलंकारशास्त्र तथा काव्य में भी महत्वपूर्ण पद पर आसीन कर दिया है।

रीतिकालीन काव्य-शास्त्र में उत्प्रेक्षा के वस्तु, हेतु, फल तथा सिद्ध-असिद्ध, भेदों की चर्चा बहुत हुई, परन्तु संस्कृत-काव्य-शास्त्र के समान भेदों की उतनी अधिक संख्या नहीं बनी। उत्प्रेक्षा के मूल लक्षण में न तो विशेष विकास हुआ, न ही इस अलंकार की गम्भीर चर्चा ही इस काल में हुई। गोविन्द कवि ने उत्प्रेक्षा-लक्षण में तर्क को प्रधानता देने पर बल दिया है। गोकुल कवि ने सम्भावना को ऊहा मान कर उत्प्रेक्षा का लक्षण लिखकर अपनी सूझ का परिचय दिया है। इतने से वैशिष्ट्य के अतिरिक्त लक्षण परिपाटी-बद्ध ही रहा है।

१०. श्लेष

श्लेष का महत्व—'श्लेष' शब्द 'जतुकाष्ठन्याय' (जैसे लाख लकड़ी से भिन्न होते हुए भी उस पर चिपकी रहती है इसी प्रकार दूसरा शब्द भिन्न होने पर भी एक शब्द पर चिपका रहता है, तथा 'एकवृन्तगतफलद्वयन्याय' (एक डाली पर दो फूलों के समान एक शब्द में दो अर्थ रहते हैं) पर टिका हुआ है। इसलिए काव्य में श्लेष का महत्व आचार्यों ने स्थापित किया। श्लेषालंकार की महिमा का वर्णन सर्वप्रथम दण्डी ने किया। दण्डी ने उपमा, रूपक, आक्षेप, व्यतिरेकादि में उसकी गोचरता सिद्ध की तथा अन्य अलंकारों में भी उसका योग माना। दण्डी ने वक्रोक्तियों में (प्रायः सभी अलंकारों में) श्लेष को ही शोभाकारक माना है।[3] उद्भट ने श्लेष की प्रधानता प्रबल शब्दों में कही। श्लेष के साथ आ पड़ने वाले अलंकारों में इसकी प्रबलता स्वीकार की। आचार्य रुद्रट ने शब्दानुशासन (व्याकरण) के गहन अध्ययन, देशभाषाओं के प्रौढ़ ज्ञान और अभिधानकोषों के मनन के

---

१. फलस्वरूप हेतूनामुत्प्रेक्षा कर्म निमित्तौ।
भेदाः षण्णवतिस्तस्याः अशीतिर्निकषे पुनः ॥८-२८॥
अलंकार-महोदधिः—नरेन्द्रप्रभ सूरि, पृष्ठ २६६

२. नंजराजयशोभूषणम्—नरसिंह कवि, पृष्ठ १७६-१८१

३. (क) उपमारूपकआक्षेपव्यतिरेकादि गोचरः।
प्रागेव दर्शिताः श्लेषा, दर्श्यन्ते केचनपरे ॥२१३॥
(ख) श्लेषः सर्वासु पुष्णातिः प्रायो वक्रोक्तिषु श्रियम् ॥२-३६३॥
काव्यादर्शः—दण्डी, १३६,१५२

अनन्तर महाकवियों को श्लेष-प्रयोग की सम्मति दी ताकि श्लेष-प्रयोग उपयुक्त और सहृदय, सम्मत हो सके।[1] आचार्य रुय्यक ने श्लेष का महत्त्व स्थापित करते हुए कहा कि श्लेष के साथ जहाँ उपमादि अन्य अलंकारों की प्रतीति होती है, श्लेष वहाँ अन्य अलंकारों का प्रतिबन्धक होता है। ऐसे स्थलों पर अन्य अलंकार अस्फुट (आभास मात्र) होते हैं और पूर्णतया नहीं रहते, केवल श्लेष ही मुख्य रहता है और वह अलंकारान्तर के प्रतिभास मात्र का हेतु होता है। आचार्य मम्मट ने इस मत का खण्डन करके श्लेष को ही वहाँ आभासमात्र माना है, परन्तु रुय्यक ने प्रतिष्टा स्थापित करते हुए कहा है कि यदि अन्यालंकार प्रधानता लेते रहेंगे तो श्लेष की कहीं भी स्वतन्त्र स्थिति सम्भव नहीं है, जबकि अन्य अलंकार स्वतन्त्र भी रह सकते हैं। आचार्य मम्मट ने श्लेष की स्वतन्त्र स्थिति का महत्त्व भी प्रदर्शित किया है।[2] अन्य आचार्यों ने भी श्लेष को इसी प्रकार महत्त्वपूर्ण माना है और अनेक अलंकारों में इसकी विद्यमानता स्वीकार की है।

श्लेष-लक्षण

भरत ने श्लेष को गुणों में गिना था। यही श्लेष कालान्तर में शब्द और अर्थ के भेदानुसार अलंकार-क्षेत्र में आ गया। आचार्य भरत ने श्लेष का लक्षण लिखते हुए कहा कि इच्छित अर्थसमूह से परस्पर अनुसम्बद्ध पदों की श्लिष्टता (परस्पर जुड़ा होना) ही यहाँ श्लेष है। एक दूसरा भी लक्षण कहा गया है कि जहां स्वभाव से ही स्फुटता और विचारगहनता हो तथा स्वतः ही सुप्रतिबद्धता शब्दों में हो, वहाँ श्लेष होता है। गुण रूप से गृहीत श्लेष में इच्छित अर्थ-श्लिष्टता पर ही बल दिया गया है। 'ईप्सितेनार्थजातेन' पद से कवि की वांछित अर्थ में मनोगत भावनानुसार शब्द का प्रयोग करने की प्रवृत्ति प्रतीत होती है। श्लेष के लक्षण में यह तथ्य मुख्य रहता है कि शब्द भिन्न-भिन्न अर्थ दे या दो पक्षों या दो से अधिक पक्षों में सार्थक रहे। यह सार्थकता कवि द्वारा ईप्सित ही हो सकती है। इसलिए

---

१. शब्दानुशासनमशेषमवेत्य सम्यग्
आलोच्य लक्ष्यमधिगम्य च देशभाषाः।
यत्नादधीत्य विविधानाभिधानकोषान्।
श्लेषं महाकविरिमं निपुणो विदध्यात्॥४-३५॥

काव्यालंकारः—रुद्रट, पृष्ठ ४६

२. (क) अतएव अलंकारान्तराणां बाधित्वात्प्रतिभानमात्रेणावस्थानम्……।
(ख) तेनालंकारान्तरविविक्तो नास्य विषयोऽस्तीति सर्वालंकारापवादोऽयमिति-स्थितम्।

अलंकारसर्वस्वम्—रुय्यक, पृष्ठ १२६, १३२

(ग) न चायमुपमाप्रतिभोत्पत्तिहेतुः श्लेष, अपितु श्लेषप्रतिभोत्पत्तिहेतुरुपमा।

काव्यप्रकाशः—मम्मट, पृष्ठ ४२६

भरत ने श्लेष में कवि की ईप्सा तथा स्वभावतः स्फुटता को प्राधान्य प्रदान किया ।[1]

भामह ने लक्षण में गुण-क्रिया और नाम के द्वारा उपमान के साथ उपमेय का अभेद सिद्ध करना ही श्लिष्टता माना (श्लिष्ट का लक्षण कहा) । इस लक्षण में उपमान और उपमेय की अभेद-सिद्धि की चर्चा विशेषता पा गई ।[2] दण्डी ने उपमानोपमेय की चर्चा त्याग दी और एक साथ अनेक अर्थों का प्रतिपादन करता हुआ एक रूप से स्थित व क्य को ही श्लेषालंकार का स्वरूप माना, यद्यपि उपमानोपमेय की विद्यमानता उदाहरणों में है ।[3] उद्भट ने श्लेष के (शब्दार्थ श्लेष) लक्षण में एकप्रयत्नोच्चार्यमाण तथा उन शब्दों की छाया धारण करने वाले शब्दों का भिन्न स्वरितादि गुणों से बन्ध को श्लेष का विषय माना । एकप्रयत्नोच्चार्यमाण शब्दों के प्रयोग में अर्थ श्लेष और छायाधारियों के प्रयोग में शब्द-श्लेष मान कर श्लेष के लक्षण में विकास उपस्थित किया ।[4] आचार्य रुद्रट ने विविधपद-सन्धि की चर्चा श्लेष के लक्षण में की । सन्धि-बिना द्व्यर्थकता की सिद्धि कठिन है, जब तक कि शब्द लोकतः द्व्यर्थ-प्रसिद्ध न हो (जैसे—अलि, भंवरा-सखी)। रुद्रट ने अर्थश्लेष पृथक् रूप से कहा । जहाँ अनेकार्थ पदों से रचित एक वाक्य अनेक अर्थों में निश्चय का बोध कराता है, वह अर्थश्लेष है । इस तरह दोनों प्रकार के श्लेषों के दो भिन्न-भिन्न

---

१. ईप्सितेनार्थजातेन सम्बद्धानुपरस्परम् ।
श्लिष्टता या पदानां हि श्लेष इत्यभिधीयते ॥१६-६८॥
विचारगहनं यत्स्यात् स्फुटं चैव स्वभावतः ।
स्वतः सुप्रतिबद्धं च श्लिष्टं तत्परिकीर्तितम् ॥१६-६९॥
नाट्यशास्त्रम्—भरत, पृष्ठ २६६

२. उपमानेन यत् तत्वम् उपमेयस्य साध्यते ।
गुणक्रियाभ्यां नाम्ना च श्लिष्टं तद् अभिधीयते ॥३-१४॥
काव्यालंकारः—भामह, पृष्ठ २

३. श्लिष्टमिष्टं अनेकार्थम् एकरूपान्वितं वचः
तद् अभिन्नपदं भिन्नपदप्रायं इति द्विधा ॥२-६१०॥
काव्यादर्शः—दण्डी, पृष्ठ १३५

४. एकप्रयत्नोच्चार्यमाणां तच्छायां चैव विभ्रताम् ।
स्वरितादिगुणैर्भिन्नैर्बन्धः श्लिष्टमिहोच्यते ।
एवं चावस्थिते ये तन्त्रेणोच्चारयितुं शक्यन्ते ते एकप्रयत्नोच्चार्याः तद्बन्धे सत्यर्थश्लेषो भवति । तथा ये तेषामेवैकप्रयत्नोच्चार्याणां शब्दानां छाया सादृश्यं बिभ्रति, तदुपनिबन्धे च शब्दश्लिष्टम् ।
काव्यालंकारसंग्रहः—उद्भट, पृष्ठ ६३-६४

लक्षण रुद्रट ने प्रस्तुत किए ।[1]

भोज के अनन्तर मम्मट ने शब्दालंकार के प्रकरण में श्लेष का लक्षण किया और उसे शब्दालंकार ही माना, क्योंकि इसमें शब्द की ही प्रधानता है और परिवृत्यसहता का तत्त्व रहता है । श्लेष अर्थालंकार किसी पद्य में तभी होता है, जब उस पद के स्थान पर पर्यायवाची पद रख देने पर भी (अर्थ की) द्वयर्थता में अन्तर न आए । मम्मट ने रुय्यक के श्लेष को अर्थालंकार स्वीकार करने का विरोध करते हुए उसका लक्षण ही नहीं दिया । मम्मट के बाद अर्थश्लेष का लक्षण जयदेव ने दिया, तथा कर्णपूर ने उसे केवल अर्थालंकार ही माना । भेदोपभेदों में तो शब्दश्लेष और अर्थश्लेष की चर्चा नरसिंह कवि तक चलती रही, परन्तु इस काल में श्लेष के लक्षण में कोई विशेष परिवर्तन न आया । न ही किसी नए तथ्य का ही संयोजन उसमें हुआ ।

श्लेष-भेद

श्लेष के भेद की चर्चा तो भामह के काल में ही चल पड़ी थी । भामह ने गुण, जाति, क्रिया के भेद के अतिरिक्त सहोक्ति, उपमा,हेतु-निर्देशमूलक तीन और भी भेद माने ।[2] आचार्य दण्डी ने सभिन्न और अभिन्न (सभंग, अभंग) दो भेद किये । समान क्रियायुक्त, अविरोधी क्रियायुक्त, विरोधी क्रियायुक्त और नियमयुक्त भेद से भी दण्डी ने श्लेषालंकार के भेद किये हैं ।[3] उद्भट ने शब्द तथा अर्थ भेद से ही श्लेष को विभक्त किया । रुद्रट ने शब्दश्लेष के वर्ण, पद, लिंग, भाषा, प्रकृति, प्रत्यय, विभक्ति तथा वचन भेद से आठ भेद किये । अर्थश्लेष के अविशेष, विरोध, अधिक, वक्र, व्याज, उक्ति, असम्भव, अवयव, तत्वश्लेष और विरोधाभास नाम से दस भेद

---

१. (क) वक्तुं समर्थमर्थसुश्लिष्टाक्लिष्टविविधपदसंधि: ।
युगपदनेकं वाक्यं यत्र विधीयेत स श्लेषः ॥४-१॥ श्लेषः (शब्दालंकार)
(ख) यत्रैकमनेकार्थैर्वाक्यं रचितं पदैरनेकस्मिन् ।
अर्थे कुरुते निश्चयमर्थश्लेषः स विज्ञेयः ॥१-१॥ श्लेषः (अर्थालंकार)
काव्यालंकारः—रुद्रट, पृष्ठ ३६,१३२

२. श्लेषात् एव अर्थवचसोः अस्य च क्रियते भिदा ।
तत्सहोक्ति उपमा हेतुः निर्देशात् क्रमशो यथा ॥३-१७॥
काव्यालंकारः—भामह, पृष्ठ २०

३. अस्त्यभिन्नक्रियः कश्चिदविरुद्धक्रियोऽपरः ।
विरुद्धकर्मा चास्त्यन्यः श्लेषो नियमवानपि ॥२-३१४॥
काव्यादर्शः—दण्डी, पृष्ठ १३७

किए ।[१] भोज ने शब्दश्लेष के छः भेद और उभयालंकार में वर्णित श्लेष के भी छः भेद किए । शब्दालंकार के प्रकृति, प्रत्यय, विभक्ति, वचन, पद तथा भाषा-भेद से और (श्लेष) अर्थालंकार के पद, क्रिया, कारक भेद से छः भेद कहे ।[२] मम्मट ने भी रुद्रट के शब्दश्लेष-भेदों को माना और अभंग श्लेष को भी शब्दश्लेष का ही नवम भेद माना ।[३] आचार्य मम्मट के अनन्तर नरसिंह कवि तक की दीर्घ परम्परा में किसी आचार्य ने भी और किसी नवीन भेद की कल्पना नहीं की । मम्मट के आधार पर ही भेदों का विवेचन चलता रहा । आचार्य रुय्यक ने श्लेष में विशेष्य-साम्य माना है । अप्पय्य दीक्षित ने वर्ण्यनिक श्लेष, अवर्ण्यनिक श्लेष और वर्ण्यावर्ण्यनिक श्लेष नाम से भेद कहे हैं ।[४]

श्लेषालंकार का लक्षण तथा भेद-विस्तार व्याकरणशास्त्र के आश्रित रहा है । इसी शब्द-निर्माण-योजना पर श्लेष का चमत्कार भी लक्षण में उल्लसित हुआ ।

आचार्य केशव ने पंचार्थी श्लेष के उदाहरण दिये हैं । लक्षण में अन्तर नहीं आया । 'रसरहस्य' के लेखक आचार्य कुलपति ने भाषाकाव्य में वर्णश्लेष की दुर्लभता को माना है । श्लेष तथा अन्य अलंकारों के सम्बन्ध में उद्भट, आनन्दवर्धन तथा मम्मट के समान इस काल के किसी आचार्य ने विवेचन नहीं किया । इस काल के आलंकारिकों ने परम्परागत लक्षण से ही अपनी लक्ष्यसिद्धि की है । भेदों का वर्णन भी संस्कृत-काव्यशास्त्र के अनुसार ही हुआ है ।

११. रसवद्

आचार्य भामह ने रसवद् अलंकार की परिभाषा में शृंगार आदि रसों को दर्शित तथा स्पष्ट अथवा स्पृष्ट (छुए हुए) रूप से प्रस्तुत करना ही इस अलंकार का प्रयोजन माना है । दण्डी ने रसवत् को रस-संश्रय या रस-पेशलत्व के कारण

---

१. (क) वर्ण-पद—लिंगभाषाप्रकृतिप्रत्ययविभक्तिवचनानाम् ।
अत्रायं मतिमद्भिः विधीयमानोऽष्टधा भवति ॥४-२॥

(ख) अविशेष विरोधाधिकवक्रव्याजोक्त्यसंभवावयवाः ।
तत्वविरोधाभासाविति भेदास्तस्य शुद्धस्य ॥१०-२॥
काव्यालंकारः—रुद्रट, पृष्ठ ३६,१३२

२. सरस्वती-कंठाभरणम्—भोज, पृष्ठ २२७, ५२८

३. भेदाभावात्प्रकृत्यादेर्भेदोऽपि नवमो भवेत् ।
काव्यप्रकाशः—मम्मट, पृष्ठ ४२१

४. नानार्थसंश्रयः श्लेषो वर्ण्यावर्ण्योभयाश्रितः ६४।
कुवलयानन्दः—अप्पय्य दीक्षित, पृष्ठ ६७

अलंकार कहा है। उद्भट-कृत लक्षण भामह के समान ही है।[1]

इन तीनों विद्वानों के लक्षणों का खण्डन करके कुन्तक ने अपना मत दिया। इन लक्षणों की अनेक व्याख्याएं (व्याकरणानुसार) देकर भी कुन्तक ने इन्हें दोषी ठहराया। इन लक्षणों में अलंकार-लक्षण तथा अलंकार के अस्पष्ट होने का दोष निर्दिष्ट किया। काव्य में रसवद् अलंकार मानने विषयक मत का भी उन्होंने खण्डन किया। किसी अन्य वाक्यार्थ के प्रधान होने पर रस के उसका अंगभूत प्रतीत होने पर रसवद् अलंकार[2] स्वीकार करने वाले आनन्द-वर्धन का भी कुन्तक ने खण्डन किया। वक्रोक्ति-जीवितकार के मत में रसवत् उसी भांति सर्वालंकारजीवित है, जैसे कि भामह के मत में अतिशयोक्ति-वक्रोक्ति, और दण्डी ने जैसे स्वभावोक्ति को प्रधानता प्रदान की है। कुन्तक ने इसके लक्षण में कहा है कि रस तत्व के विधान से सहृदयों के आह्लाददायक होने से जो कोई अलंकार भी रस के समान बन जाता है, वही रसवत् अलंकार है।[3] भामह- उद्भट के मत में रस से युक्त अलंकार रसवत् है और कुन्तक के मत से रस के समान आह्लाद-कारक 'अलंकार' रसवत् है। इस परिभाषा के अनन्तर रुय्यक, विश्वनाथ और अप्पय्य दीक्षित ने तो रसवत् का नाम-मात्र परिगणित किया है। आचार्य विश्वेश्वर ने रस के परांगत्व होने से रसवद् अलंकार की परिभाषा आनन्दवर्धन से प्रभावित होकर लिखी। वास्तव में रसवत् अलंकार की कुन्तककृत विवेचना के बाद किसी आचार्य ने नया लक्षण लिखने का साहस न किया। विश्वनाथ ने रसवत् का लक्षण रस के गुणीभाव से अन्य का पोषक होना स्वीकार किया है।[4] रीतिकाल में दूलह, रसरूप भिखारीदास, बैरीसाल, याकूब खाँ, पद्माकर, दामोदर, दास कवि आदि ने रसवत् का लक्षण लिखा है। आचार्य केशव ने उसका 'रसमय' होना ही लक्षणबद्ध किया है, उसका अंग होना नहीं माना। आचार्य भिखारीदास का लक्षण परम्परागत है। याकूब खाँ ने रसवत् को अंगत्व मानते हुए भी 'मंदहास' के रूप में माना है।[5] अन्य

१. (क) रसवत् दर्शितस्पष्ट श्रृंगारादि रसं यथा।
काव्यालंकारः—भामह, पृष्ठ १६

(ख) रसवद् रससंश्रयात्, रसवद् रसपेशलम्।
काव्यादर्शः—दण्डी, पृष्ठ १२४

(ग) रसवद् दर्शित स्पष्ट श्रृंगारादि रसं यथा।
स्व शब्द स्थायी संचारि विभावाभिनयास्पदम्॥
काव्यालंकारसंग्रहः—उद्भट, पृष्ठ ५७

२. ध्वन्यालोकः—आनन्दवर्धन, पृष्ठ ११६

३. (क) यथा स रसवन्नाम सर्वालंकारजीवितम्।
काव्यैकसारतां याति तथेदानीं विवेच्यते॥३-१४॥

(ख) रसेन वर्तते तुल्यं रसवत्वविधानतः।
योऽलंकारः स रसवत् तद्विदाह्लादनिर्मितेः॥३-१२॥
वक्रोक्तिजीवितम्—कुन्तक, पृष्ठ ३८३

४. साहित्य-दर्पणः—विश्वनाथ, पृष्ठ ३६६

५. रसभूषण—याकूब खाँ, पृष्ठ ४५

आचार्यों ने भी किसी नई उद्भावना को लक्षण में नहीं जोड़ा। केवल उक्त दो मन्तव्य ही नवीन हैं।

१२. अपह्नुति अलंकार

अपह्नुति अलंकार के लक्षण में विकास की स्थितियां कम ही आईं। भामह ने उपमा का किंचित् अन्तर्गत विद्यमान होना अपह्नुति के लिए आवश्यक माना।[1] दण्डी ने उसे पहले ही उपमा अलंकार का भेद कहा। बाद में उसे पृथक् भी स्वीकार किया। भामहकृत लक्षण से अधिक तत्व अपह्नुति में नहीं जुड़ पाए।[2] रुद्रट ने साम्य का महत्व अपह्नुति के लिए उपयोगी स्वीकार किया।[3] और उपमान की सद् स्थिति का अनुमोदन खूब किया। कुन्तक ने अपह्नुति को उत्प्रेक्षामूलकत्व वाली माना है। उत्प्रेक्षा मूल में रहने के कारण अपह्नुति की जान है। यह कथन भामह और दण्डी से भिन्न दिशा में कहा गया है, चाहे उत्प्रेक्षा भी सादृश्यमूलकालंकार है। तथापि सम्भावना के द्वारा अनुमान से और सादृश्य से वर्णनीय वस्तु को (प्रस्तुत को) और कुछ अपूर्व सौन्दर्य प्रदान करने के लिए अपने रूप का अपह्नव (स्वस्वभाव निषेध) ही अपह्नुति का विषय है। इस कथन में तो सम्भावना और अनुमान दो तथ्य और भी नए हैं जो अपह्नुति की लक्षण-सीमा का विस्तार करते हैं।[4] भोज ने अपह्नुति को औपम्यवती के साथ ही अनौपम्या भी माना है। लक्षण में अनौपम्य का प्रयोग पहली बार ही हुआ।[5] मम्मट का अपह्नुति-लक्षण रुद्रट से प्रभावित है। अपह्नुति के लक्षण में अपह्नव के स्थान पर आरोप शब्द का प्रयोग जयदेव ने किया और उस आरोप को अतथ्य कहा, यही प्रयोग विद्याधर, विद्यानाथ, अप्पय्य दीक्षित, पंडितराज जगन्नाथ, विश्वेश्वर पंडित तथा नरसिंह कवि ने भी अपनाया। शेष ने अपह्नव, अपह्नुति आदि शब्द ही लक्षण में प्रयुक्त किए।

---

१. काव्यालंकारः—भामह, पृष्ठ २१

२. उपमापह्नुतिः पूर्वमुपमासु एव दर्शिता।
इत्यपह्नुतिभेदानां लक्ष्यो लक्ष्ये सुविस्तरः।२-३०६।
काव्यादर्शः—दण्डी, पृष्ठ १३५

३. अतिसाम्यादुपमेयं यस्याम् असदेव कथ्यते सदपि।
उपमानमेव सदिति च विज्ञेयापह्नुतिःसेयम्।।८-४३।।
काव्यालंकारः—रुद्रट, पृष्ठ १११

४. संभावनानुमानात् सादृश्याच्च वर्णनीयस्य वस्तुनः प्रस्तुतस्यार्थस्य अन्यत् किमप्यपूर्वं रूपमर्पयितुं, रूपान्तरं विधातुं स्वरूपापह्नवस्वभावापलापः सम्भवति यस्यामसौ तथाविधभणितिरेवापह्नुतिर्मता प्रतिमाता तद्विदाम्।
वक्रोक्तिजीवितम्—कुन्तक, पृष्ठ ४७५

५. अपह्नुतिरपह्नुत्य किंचदन्यार्थदर्शनम्।
औपम्यवत्यनौपम्या चेति सा द्विविधा उच्यते।।४-११६।।
सरस्वतीकण्ठाभरणम्—भोज, पृष्ठ ४४५

लक्षण में किंचिदुपमागर्भता तथा अनौपम्या के समावेश के अतिरिक्त कोई परिवर्तन नहीं हुआ। भेदों के लिए शब्द-विशेषों का प्रयोग भेद-सूक्ष्मता का परिचायक बना।

अपह्नुति-भेद

दण्डी ने अपह्नुतिभेदों का विस्तार उदाहरणों में खोजने का संकेत दिया है। तब इसके भेद तो मान लिये गए थे, परन्तु उनका नामकरण नहीं हुआ था।[1] भोज ने औपम्यवती और अनौपम्या दो भेदों के अनन्तर वाक्य और प्रतीयमान सादृश्य से दोनों के दो-दो भेद और माने। अनौपम्या को पूर्व और अपूर्व भेद से द्विविधा माना।[2]

नरेन्द्रप्रभ सूरि ने सादृश्यवती, सादृश्यरहिता नामक अपह्नुति भोज से प्रभावित हो कर दो प्रकार से मानी। आरोप पूर्वोऽपह्नवअपह्नवपूर्वकारोप ये दो भेद और भी कहे।छलछद्मदादि शब्द-प्रयोग से सादृश्यवती का भेद वर्णन किया। सादृश्यरहिता का भी वाच्यापह्नोतव्या तथा प्रतीयमानापह्नोतव्या भेद से द्विविधा निरूपण किया है।[3]

जयदेव ने अपह्नुति-भेदों का नवीन नामकरण किया। पर्यस्त, भ्रान्तिमान्, छेक, कैतवापह्नुति नाम से भेद-निरूपण किया। विश्वनाथ ने नरेन्द्रप्रभ सूरि से प्रभावित होकर अपह्नवपूर्वक आरोप और आरोपपूर्वकोऽपह्नव भेद से अपह्नुति अलंकार का विभाजन किया। श्लेषमूला तथा अश्लेषमूला अपह्नुति भी विश्वनाथ ने अलग से कही है।[4] अप्पय्यदीक्षित तथा जयदेव ने हेत्वपह्नुति भेद की चर्चा की है। अप्पय्यदीक्षित ने वाक्यभेदवती और द्विवाक्यगत दो प्रकार की अपह्नुति की चर्चा चित्रमीमांसा में की है। शुद्धापह्नुति जब युक्तिपूर्वक हो तो हेत्वापह्नुति कहलाती है।[5]

पंडितराज जगन्नाथ ने पर्यस्तापह्नुति को रूपक का एक भेद माना है। परन्तु इन दोनों में अन्तर यह है कि रूपक में बिना निषेध के आरोप होता है और पर्यस्तापह्नुति में निषेधपूर्वक उपमानका उपमेय में आरोप करना आवश्यक है। सावयवा और

---

१. काव्यादर्श:—दण्डी, पृष्ठ १३५

२. सरस्वतीकण्ठाभरणम्—भोज, पृष्ठ ४४५-४४६

३ सा च सादृश्यवती सादृश्यरहिता चेति द्विविधा। तत्रारोपपूर्वोऽपह्नवोऽपह्नवपूर्वं श्चारोप इति द्वौ भेदौ छलच्छद्मादि शब्दैर्वपुर्मूर्त्यादिशब्दैश्च विषयपह्नवे द्वौ भेदाविति चतुर्भेदी प्रथमा। क्वचित् पुनर्नञ्च्छलादीन् विनैव प्रकारान्तरेणाप्य पह्नवारोपो दृश्यते सादृश्यरहितापि द्विविधावाच्यापह्नतव्या प्रतीयमानापह्नोतव्या। च। अलंकारमहोदधिः—नरेन्द्रप्रभसूरि, पृष्ठ २५७

४. इयं द्विधा। क्वचिदपह्नवपूर्वक आरोपः क्वचिदारोपपूर्वकोऽपह्नव इति। गोपनीयं कमप्यर्थं द्योतयित्वा कथंचन। यदि श्लेषेणान्यथा वान्यथेप्यत्सायपह्नुतिः। साहित्यदर्पण:—विश्वनाथ, पृष्ठ ३१३-३१४

५. स एव युक्ति पूर्वश्चेदुच्यते हेत्वपह्नुतिः।
कुवलयानन्दः—अप्पय्य दीक्षित, पृष्ठ २९

निरवयवा भेद भी पंडितराज ने कहे हैं। उन्होंने नञ् तथा छद्म-कैतवादि शब्द-प्रयोगों से व्यक्त होने वाली अपह्नुति की चर्चा भी की है।

विश्वेश्वर पंडित ने शाब्दी और आर्थी नाम से दो भेद विश्वनाथ के मत से प्रभावित होकर दिये हैं। नरसिंह कवि ने निषिध्यारोप, आरोप्यनिषेध और छलादि शब्द-प्रयोग से अपह्नुति को त्रिविधा माना।[1]

अपह्नुतिअलंकार का लक्षण सादृश्य की सीमा से बाहर भी निकल गया। यही उसका विकास माना जा सकता है। वह सादृश्यमूलक अलंकार ही न रहा (यद्यपि सादृश्य की सीमा से यह बाहर नहीं रह सकता)।[2] भेदों में शब्दविशेष का प्रयोग इस अलंकार के भेद-विकास का आधार बना।

आचार्य केशव ने अपह्नुति-लक्षण में मन की बात छिपाने पर बल दिया है। संस्कृत-काव्यशास्त्र में प्रचलित लक्षण में अन्य के निषेध से अन्य की स्थापना होती थी, परन्तु केशव मन की बात दुराने को ही अपह्नुति का लक्षण-मानने लगे और 'बात' पद से अपह्नुति का लक्षण बांधा गया है,जो लक्षण-विकास की दृष्टि से नया मार्ग है। अपह्नुति में जिस सादृश्य की स्थिति बनी रहती थी, वह अब बातों पर आ टिकी। विषयी और विषय का नाम लेना भी आचार्य केशव को न भाया। इस प्रकार रीतिकाल के पूर्व ही केशवकृत अपह्नुतिलक्षण नया रूप लेकर आया। रघुनाथ कवि ने सच्ची बात छिपा कर उस पर झूठी बात को आरोपित करने को अपह्नुति माना है। आचार्य दास ने सच्चा धर्म छिपा कर और किसी धर्म को स्थापित करने में अपह्नुति मानी, फिर चाहे वह झूठा हो या अधझूठा। गोकुल कवि ने झूठ को सत्य और सत्य को झूठ बना कर कहने में अपह्नुति अलंकार माना है। वास्तव में रीतिकाल में अपह्नुति-लक्षण झूठ-सच्च की प्रवृत्ति पर टिक गया। शास्त्रीय लक्षण की सीमा से निकल कर लोक-जीवन की प्रवृत्ति के क्षेत्र में आकर खड़ा हो गया।

अपह्नुति-भेदों की चर्चा संस्कृत-काव्य-शास्त्र के समान ही इस काल में हुई है। किसी नये भेद की उद्भावना नहीं हुई।

१३. विशेषोक्ति

भरत ने ३६ भूषणों में 'विशेषण' को भी माना है। उन्होंने इस भूषण का लक्षण दिया कि बहुत से सिद्ध तथा प्रधान अर्थों को कहकर यहाँ प्रयोग किया जाता है और जो विशेषता-युक्त वचन होता है उसे ही विशेषण माना जाता है।[3] विशेषयुक्तता की

---

१. निषिध्यारोपः, आरोप्यनिषेधः, छलादिशब्दप्रयोगश्चेति।
नंजराजयशोभूषणम्—नरसिंह कवि, पृष्ठ-१७४

२. प्रकृतस्य निषेधेन यदन्यत्वप्रकल्पनम्।
साम्यादपह्नुति वाक्यभेदाभेदवती द्विधा॥
चित्रमीमांसा—अप्पय्य दीक्षित, पृष्ठ ६२

३. सिद्धान् बहून् प्रधानार्थानुक्त्वा यत्र प्रयुज्यते।
विशेषयुक्तं वचनं विज्ञेयं तद्विशेषणम्॥ १६-१८॥
नाट्य-शास्त्रम्—भरत, पृष्ठ २५७

परिपाटी भामह ने भी ग्रहण की उन्होंने अपने लक्षण में कहा कि एक देश से विगत हो जाने पर भी अन्यत्र गुणान्तर की स्थिति विशेषता-प्रथनके लिए जब प्रयुक्त हो तब वहाँ विशेषोक्ति मानी जाती है ।[1] दण्डी ने गुण, जाति, क्रियादि के विकलता-प्रदर्शन द्वारा प्रस्तुत के विशेष प्रदर्शन को विशेषोक्ति माना, अप्पय्य दीक्षित ने इसी लक्षण को विभावना का एक भेद माना है ।[2] इसलिए विशेषोक्ति का दण्डीकृत लक्षण विरोधी अलंकार (विभावना) के क्षेत्र में चला गया, इतना परिवर्तन हो गया । यह विचार-भेद का ही परिणाम है । उद्भट ने विशेषोक्ति का लक्षण स्पष्टतः नया किया शक्तियों की समग्रता रहने पर भी (कारणों के समग्र रूप से विद्यमान होने पर भी) फल की (कार्य की) अनुत्पत्ति का निबन्धन ही विशेषोक्ति है । बाद के आचार्यों ने इसी लक्षण को शब्दान्तर से जीवित रखा ।[3] एक गुण की हानि की कल्पना से जब उपमानोपमेय में साम्य दृढ़ता को प्राप्त हो, उसे वामन ने विशेषोक्ति माना है । वामन ने प्रायशः इसे रूपक कहा है ।[4] भोज का लक्षण दण्डी का अनुकरण मात्र है । मम्मट ने उद्भट से भी अधिक स्पष्ट शब्दों में लक्षण किया कि सम्पूर्ण कारणों के होने पर फल का न कहना विशेषोक्ति है । यही लक्षण परवर्ती आचार्यों ने प्रस्तुत किया । इन्होंने लक्षणों में कारण के साथ साकल्य,पुष्कलादि शब्दों का प्रयोग कर लिया । नरेन्द्रप्रभ सूरि ने विशेषोक्ति का प्रथम लक्षण तो मम्मट से प्रभावित दिया परन्तु वामन के विशेषोक्ति-लक्षण को अब विशेषोक्ति का एक भेद मान लिया ।[5] नरेन्द्र प्रभ सूरि ने भी वामन के समान ही इसे रूपक के सौरूप्य से अलंकृत माना है । इस

१. एकदेशस्य विगमे या गुणान्तर संस्थितिः ।
विशेष प्रथनाय असौ विशेषोक्तिर्मता यथा । ३-२३ ।
कव्यालंकारः—भामह, पृष्ठ २१

२. (क) गुणजाति-क्रियादीनां यत्तु वैकल्यदर्शनम् ।
विशेषदर्शनाय एव सा विशेषोक्ति इष्यते । ३-३२३ ॥
काव्यादर्शः—दण्डी, पृष्ठ १३१

(ख) हेतूनामसमग्रत्वे कार्योत्पत्तिश्च सा मता ।
कुवलयानन्दः—अप्पय्य दीक्षित, पृष्ठ १४४

३. यत् सामग्र्येऽपि शक्तीनां फलानुत्पत्तिबन्धनम् ।
विशेषस्याभिधित्सातः तद्विशेषोक्तिः उच्यते ॥
काव्यालंकार-संग्रहः—उद्भट, पृष्ठ ६७

४. एकगुणहानि कल्पनायां साम्यदार्ढ्यं विशेषोक्ति : । २३ ।
एकगुणस्य हानेः कल्पनायां शेषैर्गुणैः साम्यं यत्तस्य दार्ढ्यं विशेषोक्तिः रूपकं चेदं प्रायेणेति ।
काव्यालंकार-सूत्राणि—वामन, पृष्ठ ६४

५ प्रकारान्तरमाह—हानिकल्पनया कस्याप्येकस्यैव गुणस्य यत् ।
दृढ़ता नीयते साम्यं विशेषोक्तिस्तु सापरा ॥८-५३॥
इयं च प्रायो रूपक सौरूप्यगर्भैव ।
अलंकारमहोदधिः—नरेन्द्रप्रभ सूरि, पृष्ठ २९५

अलंकार के लक्षण-विकास में तीन धाराएं व्यक्त हुई हैं। १. विभावनाविरोधी अलंकार, २. विभावना का एक भेद ३. यह प्रायः रूपक ही है।

विशेषोक्ति-भेद

दण्डी ने हेतु विशेषोक्ति का निर्देश करने के अनन्तर अन्य भेद उदाहरणों में देखने का संकेत दिया।[1] उद्भट ने दर्शितनिमित्त तथा निमित्तादर्शन नाम से दो भेद माने।[2] मम्मट ने उक्तनिमित्ता, अनुक्तनिमित्ता और अचिन्त्यनिमित्ता तीन प्रकार से विशेषोक्ति के भेद माने।[3] विश्वनाथ ने अचिन्त्य निमित्ता को नहीं माना। इस काल के अनन्तर आचार्यों ने नये भेद नहीं कहे हैं।

रीतिकाल में विशेषोक्ति अलंकार के लक्षण तथा भेदों में मम्मट तथा अप्पय्य दीक्षित की परम्परा का निर्वाह मात्र होता रहा।

१४. तुल्ययोगिता

भामह ने सर्वप्रथम तुल्ययोगिता का लक्षणनिरूपण किया और उस में न्यून की विशिष्ट के साथ गुणसाम्य की विवक्षा को तुल्यकार्य या तुल्यक्रिया के योग से स्वीकार किया। न्यून से तात्पर्य उपमेय और विशिष्ट से उपमान लिया जाता है।[4] कालान्तर में यह लक्षण तुल्ययोगिता के एक भेद तक सीमित रह गया और व्यापक न बना। दण्डी-कृत लक्षण भी भामह के तुल्य ही है।[5] इन्होंने तुल्ययोगिता में स्तुति, निन्दा का कीर्तन भी प्रतिपादित किया है। उद्भट ने इस के लक्षण में प्रस्तुतों या अप्रस्तुतों का एक धर्म से सम्बन्ध होना निरूपित किया और इस स्वरूप को उत्तरवर्ती आचार्यों ने भी स्वीकार किया। वामन का लक्षण भामह से प्रभावित रहा। कुन्तक ने तुल्ययोगिता को उपमा से अभिन्न बताया है।[6] भोज ने इस प्रसंग में सुखनिमित्त

---

१. सैषा हेतुर्विशेषोक्ति तेजस्वीति विशेषणात्।
अयमेव क्रमोऽन्येषां भेदानामपि कल्पते। २-३२६ ॥
काव्यादर्शः—दण्डी, पृष्ठ १४१

२. दर्शितेन निमित्तेन निमित्तदर्शनेन च।
तस्य बंधो द्विधा लक्ष्ये दृश्यते ललितात्मकः ॥
काव्यालंकारसंग्रहः—उद्भट, पृष्ठ ६८

३. अनुक्तनिमित्ता, उक्तनिमित्ता, अचिन्त्यनिमित्ता च।
काव्यप्रकाशः—मम्मट, पृष्ठ ४६८

४. न्यूनस्यापि विशिष्टेन गुणसाम्यविवक्षया।
तुल्यकार्यक्रियायोगाद् इत्युक्ता तुल्ययोगिता।३-२७ ॥
काव्यालंकारः—भामह, पृष्ठ २१

५. विवक्षित गुणोत्कृष्टैर्यत् समीकृत्य कस्यचित्।
कीर्तनं स्तुतिनिन्दार्थ-सा मता तुल्ययोगिता। २-३३।
काव्यादर्शः—दण्डी, पृष्ठ १४२

६. तथैव (उपमेयोपमा इव) तुल्ययोगिता सा भवति उपमास्फुटता।
वक्रोक्तिजीवितम्—कुन्तक, पृष्ठ ४४१-४४२

तथा दुःखनिमित्त, रूप-भेदों की चर्चा की है तथा दण्डी की भांति स्तुति-निन्दा को भी इसका विषय माना है।[1] नरसिंह कवि तक की लम्बी परम्परा में किसी आचार्य ने भी लक्षण में नया तत्व नहीं जोड़ा

तुल्ययोगिता-भेद

उद्भट ने प्रस्तुतों या अप्रस्तुतों के एक धर्माभिसम्बन्ध से भेदों की चर्चा की। भामह का लक्षण तीसरा भेद बन गया। चार भेदों की चर्चा विद्याधर ने एकावली में की है।[2] हित और अहित दोनों में तुल्यवृत्तिरूप भेद का उल्लेख दीक्षित ने किया है। वे भोज से प्रभावित रहे।[3] नरसिंह कवि ने तुल्ययोगिता के १२ भेदों का उल्लेख किया है।[4]

रीतिकाल में तुल्ययोगिता के लक्षण में आचार्य कुलपति ने नये मत की स्थापना की। उनके कथनानुसार दीपक और तुल्ययोगिता में अन्तर नहीं मानना चाहिये। दीपक का ही एक भेद तुल्ययोगिता है। अन्य आचार्यों का लक्षण परम्परागत ही भेद है। भेदों में तीन ही प्रधानता से विवेचित हुए हैं।

१५. अप्रस्तुत-प्रशंसा

इस अलंकार के स्वरूप में भामह से नरसिंह कवि तक कोई अन्तर नहीं आया। कुन्तक ने अप्रस्तुतप्रशंसा को 'तद्दर्शन-सम्पन्निबंधना' (रूपक के ज्ञान की पूर्णता निमित्तक) माना है। इसके लक्षण में भोज ने हेतु से वाच्य और प्रतीयमानत्व का तत्व अवश्य जोड़ा और इसे शब्दार्थगत अलंकार माना है।[5] यह अप्रस्तुत प्रशंसा, धर्म, अर्थ-काम तीनों में से किसी एक की बाधा से और अपने अभिप्राय की प्रसिद्धि से उत्पन्न होती हुई दिखाई देती है।

---

१. अन्ये सुखनिमित्ते च दुःखहेतौ च वस्तुनि।
स्तुतिनिन्दार्थमेवाहुस्तुल्यत्व तुल्ययोगिताम् ॥४-१७१॥
सरस्वतीकण्ठाभरणम्—भोज, पृष्ठ १७१

२. चतुर्विधा तुल्ययोगिता ज्ञेया ॥१५॥
एकावली—विद्याधर, पृष्ठ १०४

३. हिताहिते वृत्तितौल्यमपरा तुल्ययोगिता ॥४६॥
कुवलयानन्दः—अप्पय्य दीक्षित, पृष्ठ ५७

४. द्रव्यतद्भाव, गुणतद्भाव, क्रियातद्भावभेदेन भिन्नानां षण्णां धर्माणां प्रत्येकं प्रकृतगतत्वाप्रकृतगतत्वभेदेन तुल्ययोगिता द्वादशविधित्वम्।
नंजराजयशोभूषणम्—नरसिंह कवि, पृष्ठ १९७-१९८

५. (क) एवं रूपकं विचार्य तद्दर्शनसम्पन्निबन्धनां अप्रस्तुतप्रशंसां प्रस्तौति।
वक्रोक्तिजीवितम्—कुन्तक, पृष्ठ ४१३

(ख) कुतोऽपि हेतोर्वाच्या च प्रत्येतव्या च सोच्यते ॥१८२॥
सा च धर्मार्थकामानां प्रायोऽन्यतम बाधया।
स्वाभिप्रायप्रसिद्धया च जायमाना इह दृश्यते ॥४-१५९॥
सरस्वतीकंठाभरणम्—भोज, पृष्ठ ४६४-४६५

अप्रस्तुत-प्रशंसा-भेद

आचार्य मम्मट ने इस अलंकार के पाँच भेद गिनाये हैं—(१) अप्रस्तुत कार्य से प्रस्तुत कारण का द्योतन। (२) अप्रस्तुत कारण से प्रस्तुत कार्य का द्योतन। (३) अप्रस्तुत समान वस्तु से प्रस्तुत समान वस्तु का बोधन।(४) अप्रस्तुत सामान्य से प्रस्तुत विशेष का व्यंग्यत्व। (५) अप्रस्तुत विशेष से प्रस्तुत सामान्य का सूचन।[1] आचार्य कर्णपूर ने इन पाँचों भेदों को आरोपित और अनारोपित भेद से पुनः दो प्रकार का माना है।[2]

इस अलंकार का विवेचन समासोक्ति के विरोध में हुआ। भेदों का निरूपण कारण-कार्य तथा सामान्य विशेष सम्बन्ध के आधार पर होते हुए भी आरोप और अनारोप के प्रसंगों से अलंकृत हुआ। इसलिए मूलतः यह अलंकार रूपक की अतिशयता की सीमा का स्पर्श करता रहा है।

रीतिकाल में 'अप्रस्तुतप्रशंसा' में प्रशंसा शब्द को मतिराम ने वस्तुतः प्रशंसार्थ में लिया, वर्णन के अर्थ में नहीं। अप्रस्तुतप्रशंसा को आचार्य कुलपति, कुमार मणि शास्त्री तथा अमीरदास जैसे आचार्यों ने 'अन्योक्ति' माना है। इसलिए इस काल में अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार अन्योक्ति के लक्षण में बंध गया। भेदों की चर्चा अवश्य ही परम्परागत रही है। भेदों की विवेचना भी परम्परागत रूप से ही हुई है।

१६. व्याजस्तुति

आचार्य भरत ने ३६ भूषणों में 'गर्हण' नाम भी गिनाया है, उसका लक्षण व्याजस्तुति से मिलता है। भोज ने सरस्वतीकंठाभरण में इसी गर्हणम् नामक भूषण से प्रभावित होकर व्याजस्तुति का लक्षण लिखा है। भरत ने कहा है कि जहाँ गुणातिपात या दोषातिपात से दोष का संकीर्तन हो परन्तु अर्थ से गुण का प्रदर्शन हो, उसे गर्हण कहते हैं।[3] अलंकार-सम्प्रदाय से सर्वप्रथम भामह ने व्याज-स्तुति की चर्चा की और कहा कि दूर या अधिक गुण-स्तोत्र के बहाने से तुलना करते हुए जो कुछ निन्दा से स्तुति कही जाती है, वही व्याजस्तुति अलंकार है।[4] इस लक्षण में

---

१. कार्ये निमित्ते सामान्ये विशेषे प्रस्तुते सति।
तदन्यस्य वचस्तुल्ये तुल्यस्येति च पंचधा ॥१०६६॥
काव्यप्रकाशः—मम्मट, पृष्ठ ४७६

२. प्रतीयमानस्यारोपानारोपाभ्यां पुनर्द्विधा ॥८-२६॥
अलंकारकौस्तुभम्—कर्णपूर, पृष्ठ ३०३

३. यत्र संकीर्तयन् दोषं गुणमर्थेन दर्शयेत्।
गुणातिपाताद् दोषाद्वा गर्हणं नाम तद्भवेत् ॥१६-३१॥
नाट्यशास्त्रम्—भरत, पृष्ठ २५६

४. दूराधिकगुणस्तोत्रव्यपदेशतुल्यताम्।
किंचिद् विधित्सोर्या निन्दा व्याजस्तुतिरसौ यथा ॥३-३१॥
काव्यालंकारः—भामह, पृष्ठ २२

अन्य व्यक्तित्वों से तुलना करना प्रधानतत्व माना गया है । दण्डी के लक्षण में तुलना का नाम मिट गया, यद्यपि उसकी प्रक्रिया उदाहरणों में बनी रही, परन्तु लक्षण में आपाततः स्तुतिका बोध होना स्वीकार किया गया है । इसमें गुण आपाततः दोष प्रतीत होते हैं । तात्पर्य यह कि भामह की गुण-चर्चा पर दण्डी ने अधिक बल दिया । साथ ही श्लेष की चर्चा कर दी कि श्लेष के बल से इस अलंकार में विशेष सौन्दर्य आ जाता है ।[1] उद्भट ने अपने लक्षण में शब्द-शक्ति के बल से आपाततः निन्दा के बोध से वास्तव में स्तुति-चेष्टा को व्याजस्तुति स्वीकार किया । शब्द-शक्ति स्वभाव की व्याख्या प्रतिहारेन्दुराज ने की है कि इन शब्दों का अर्थ-प्रत्यायन के प्रति औत्सुक्य और उस औत्सुक्य की निश्चित् अर्थनिष्ठा ही उनका स्वभाव है, ऊपर से यह निन्दा ज्ञात होती है, परन्तु वस्तुतः निन्दा नहीं होती ।[2] यह लक्षण भामह और दण्डी के लक्षण से अधिक विकसित और स्पष्ट है । शब्दों की अर्थ-प्रत्यायन की शक्ति का निवेश इस लक्षण की प्रधानता है । वामन ने विशिष्ट कार्य का प्रतिपादन करते हुए उसमें 'संभाव्य' पद जोड़ा और उस कर्म को न करने से स्तुति के लिए निन्दा का प्रयोग ही व्याजस्तुति माना । संभाव्य और विशिष्ट कार्यों की व्याख्या में अत्यन्त गुणाधिकता को विशिष्टता स्वीकार किया । संभाव्य का अर्थ 'विशिष्ट कर्म को करने में समर्थता' माना । व्याजस्तुति में सामर्थ्य का बोध वामन ने नए ढंग से प्रस्तुत किया ।[3] साम्य-सम्पादन की चर्चा पूर्ववर्तियों से ग्रहण की गई है ।

भोज ने उभयालंकारों में व्याजस्तुति और लेश को एक ही माना है और दोष का गुणीभाव तथा गुण का दोषरूप से वर्णन ही लेश अलंकार है, यही व्याजस्तुति

1. यदिनिंदन्निव स्तौति व्याजस्तुतिरसौस्मृता ।
दोषाभासा गुणा एव लभन्ते ह्यत्र सन्निधिम् ॥२-३४३॥
इतिश्लेषानुबिद्धानामन्येषां चोपलक्ष्यताम् ।
व्याजस्तुतिप्रकाराणामपर्यन्तस्तु विस्तरः ॥२-३४७॥
काव्यादर्शः—दण्डी, पृष्ठ १४७

2. शब्दशक्तिस्वभावेन यत्र निन्देव गम्यते ।
वस्तुतस्तु स्तुतिश्चेष्टा व्याजस्तुतिरसौ मता ॥
यत्र शब्दानामभिधायकानां या शक्तिरर्थप्रत्यायनौत्सुक्यं तस्याः
यः स्वभावो नियतार्थनिष्ठात्वात्मकस्तेन निन्दा गम्यते इव नत्वसौ निन्दैव ।
काव्यालंकार-संग्रहः—उद्भट, पृष्ठ ७१

3. सम्भाव्यविशिष्ट कर्माकरणान्निन्दास्तोत्रार्थाव्याजस्तुतिः ॥३-२४॥
अत्यन्तगुणाधिको विशिष्टः, तस्य च कर्म विशिष्टकर्म,
तस्य सम्भाव्यस्य कर्तुं शक्यस्याकरणान्निन्दा विशिष्टसाम्यसम्पादनेन स्तोत्रार्थं व्याजस्तुतिः ।
काव्यालंकार-सूत्राणि—वामन, पृष्ठ ६५

है ।[१] मम्मट ने दण्डी के लेश को व्याजोक्ति बताया है । परन्तु भोज के इस लक्षण से निन्दा से स्तुति और स्तुति से निन्दा—दोनों तत्व व्याजस्तुति के लक्षण में समाविष्ट हो गये । अब तक केवल निन्दा से स्तुति का कथन ही इस अलंकार का चमत्कार था । भोज के काल में स्तुति से निन्दा (गुण का दोषीभाव) रूप तत्व भी इस लक्षण में आ जुड़ा । मम्मट ने इसे स्पष्टतः स्वीकार कर लिया ।[२]

आचार्य मम्मट के उपरान्त नरसिंह कवि तक किसी आचार्य ने भी इस लक्षण में परिवर्तन नहीं किया । एक समानता चलती रही । श्लेष की चर्चा भी किसी ने नहीं की ।

व्याजस्तुति-भेद

इस अलंकार के श्लिष्टगत अनेक भेदों की चर्चा दण्डी ने सर्वप्रथम की, परन्तु वे नामकरण न कर पाये । भोज ने गुण-कथन से दोष तथा दोषकथन से गुणीभाव की चर्चा करके इसके दो भेद किए (उल्लेख ऊपर किया जा चुका है) । श्लेषमूला व्याज-स्तुति का भेद तीसरा माना जा सकता है एक की स्तुति से अन्यकी स्तुति की व्यंजना भी उदाहरणों में मिलती है इसलिए यह भी इसका भेद माना जा सकता है । निन्दया स्तुति और स्तुत्या निन्दा के समानविषयक और भिन्न विषयक दो भेद हो सकते हैं । एक की स्तुति से दूसरे की स्तुति-व्यंजना केवल भिन्न विषयक ही होती है । इस प्रकार छः भेद माने जा सकते हैं । इनमें भी यदि श्लेषमूलता को इसलिए पृथक् कर लें कि श्लेष पृथक् अलंकार है तो वास्तव में स्तुति निन्दा का विषय ही इस अलंकार में चमत्कार पाता है । तब व्याजस्तुति के ५ भेद सुगमता से माने जा सकते हैं ।

रीतिकाल के काव्यशास्त्र में व्याजस्तुति का लक्षण संस्कृत के समान है । केवल गोप तथा रघुनाथ ने इसे व्याजोक्ति नाम दिया है । यद्यपि व्याजोक्ति अलंकार इससे भिन्न है । भेद-वर्णन भी परम्परागत है । व्याजनिन्दालंकार की चर्चा रीतिकाल में नहीं हुई ।

१८. व्याजोक्ति अलंकार

इस अलंकार का निरूपण सर्वप्रथम आचार्य वामन ने किया, और उन्होंने व्याज का सत्य के साथ सारूप्य-कथन ही इसका प्रमुख तत्व माना ।[३] परन्तु इसे दण्डी के लेश के समान न कहा । मम्मट ने दण्डी के लेश को व्याजोक्ति माना और प्रायशः

---

१. दोषस्य यो गुणीभावो दोषीभावो गुणस्य यः ।
स: लेशः स्यात् ततो नान्या व्याजस्तुतिरभीष्यते ।।४-१७४।।
सरस्वती-कंठाभरणम्—भोज, पृष्ठ १७१

२. व्याजस्तुतिर्मुखेनिन्दा स्तुतिर्वा व्याजस्तुतिः ।
काव्यप्रकाशः—मम्मट, पृष्ठ ५०५

३. व्याजस्य सत्यसारूप्यंव्याजोक्तिः ।।२५।।
काव्यालंकार-सूत्राणि, वामन, पृष्ठ ६५

वही लक्षण दिया है।[1] केवल छद्म (बहाना) शब्द का प्रयोग अधिक किया है। भोज ने लेश को व्याजस्तुति ही कहा है। मम्मट के लक्षण के अनन्तर किसी आचार्य ने नया तत्त्व इस अलंकार के लक्षण में सन्निविष्ट नहीं किया।

रीतिकाल में 'व्याजोक्ति' नाम गोप तथा रघुनाथ कवि ने व्याजस्तुति अलंकार के लिए भी प्रयोग किया। व्याजोक्ति अलंकार के लक्षण में चिन्तामणि ने केवल और कुछ बात बना कर प्रकट होती हुई बात को छिपाने का वर्णन किया। कुलपति ने छल-वचनों को इस लक्षण में प्रधानता दी, रत्नेश कपट के पक्षपाती बने। 'कान्ताभूषण' के लेखक रत्नेस व्याज से आकार-गोपन करने में ही इस अलंकार के लक्षण का औचित्य मानने वाले हैं। लक्षण-विकास की दृष्टि से रघुनाथ कवि ने मनोवैज्ञानिक आधार लिया और लक्षण में 'भय' भाव को प्रधानता दे दी। परम्परा से सर्वथा भिन्न लक्षण रघुनाथ कवि का है, जो व्याजोक्ति में नया तत्त्व समन्वित कर पाया है।

१६. सहोक्ति

भामह ने सर्वप्रथम सहोक्ति अलंकार का लक्षण प्रतिपादित किया और उसमें कहा कि जहां दो वस्तुओं में रहने वाली और एक साथ होने वाली दो क्रियाएं एक ही पद के द्वारा (एक साथ) कही जायें, वहाँ सहोक्ति अलंकार है।[2] दण्डी ने उसमें अपना इतना मत नया जोड़ा कि सह भाव से गुणकीर्त्तन ही सहोक्ति है। इससे दण्डी सहोक्ति का प्रयोग गुणकीर्त्तनहेतु ही मानते हैं।[3] अग्निपुराण में दण्डी का अनुसरण मात्र है। वामन का लक्षण भी पूर्ववर्तियों का सर्वथा अनुकारी रहा। रुद्रट ने सहोक्ति को अर्थालंकार माना है। परन्तु वास्तव और औपम्यगत अलंकारों में दो स्थानों पर लक्षण दिया है। रुद्रट के वास्तवगत सहोक्ति अलंकार का लक्षण हेतुहेतुमद्भाव का

---

१. (क) लेशो लेशेन निर्भिन्नवस्तुरूपनिगूहनम्।
उदाहरणमेवास्य रूपमाविर्भविष्यति ॥२-२६५॥
काव्यादर्शः—दण्डी, पृष्ठ १२१

(ख) व्याजोक्तिश्छद्मनोद्भिन्नवस्तुरूपनिगूहनम्।
काव्यप्रकाशः—मम्मट, पृष्ठ ५२४

२. तुल्यकाले क्रिये यत्र वस्तुद्वयसमाश्रये।
पदेनैकेन कथ्येते सहोक्तिः सा मता यथा ॥३-३६॥
काव्यालंकारः—भामह, पृष्ठ २३

३. सहोक्ति सह भावेन कथनं गुणकर्मणाम् ॥२-३५१॥
काव्यादर्शः—दण्डी, पृष्ठ १४८

द्योतक है और दूसरा (औपम्यगत) लक्षण इसके विपरीत है।[1] इसमें औपम्य है, औपम्याभाव नहीं।

आचार्य कुन्तक ने भामह के सहोक्तिलक्षण को उपमा-लक्षण ही माना। भामह के उदाहरण का खण्डन कर दिया और कहा कि सहोक्ति का लक्षण एक वाक्य में होना चाहिए। कुन्तक ने अपने लक्षण को चमत्कार-बोधक बताते हुए उसे निर्दुष्ट बनाने का प्रयास किया है। उसने कहा कि जहां वर्णनीय अर्थ की सिद्धि के लिए एक ही वाक्य से अनेक अर्थों का एक साथ कथन किया जाता है, उसे सहृदयों ने सहोक्ति अलंकार माना है। आचार्य कुन्तक के कथन का अभिप्राय यह है कि जहां अन्य वाक्य द्वारा कहे जाने वाले अर्थ का भी प्रस्तुत अर्थ की सिद्धि के लिए सुन्दरता के साथ उसी वाक्य के द्वारा कथन कर दिया जाता है, वह सहोक्ति अलंकार है।[2] इस कथन के साथ कुन्तक ने अपने सहोक्ति-लक्षण में श्लेष की अतिव्याप्ति का निवारण इस तर्क के साथ किया है कि श्लेष में कहीं दोनों का मुख्य भाव रहता है, कहीं एक का, परन्तु सहोक्ति में किसी का भी मुख्य भाव नहीं रहता है। सहोक्ति के रूप में कहे जाने वाले दोनों अर्थों का गुणभाव रहता है। प्रधानता उसी की रहती है, जिसकी सिद्धि के लिए गौणों का सहभाव वर्णित होता है। सहोक्ति में सारा वाक्य आवृत्ति द्वारा दूसरे अर्थ को प्रकाशित करता है परन्तु श्लिष्ट शब्द एक साथ अनेक अर्थों को प्रकाशित करता है। इस तरह कुन्तक का लक्षण श्लेष का अनुप्रवेश रोके हुए है।

भोज ने इसे उभयालंकार कहा है। सहोक्ति के लक्षण में अन्यों के साथ कर्त्तादि का विविक्त (विवेककृत) और अविविक्त (अविवेक-कृत) समावेश वर्णित किया है। वैसादृश्यवती और ससादृश्या (सहोक्ति) की चर्चा में सह शब्द के साथ

---

१. (क) भवति यथारूपोऽर्थः कुर्वन्नेवापरं तथाभूतम्।
उक्तिस्तस्य समाना तेन समं या सहोक्तिः सा ॥७-१३॥

(ख) सा हि सहोक्तिर्यस्यां प्रसिद्धदूराधिकक्रियो योऽर्थः।
तस्य समानक्रिय इति कथ्येतान्यः समं तेन ॥८-९९॥

(ग) अथ वास्तवसहोक्तेरस्याश्च को विशेषः। उच्यते-तत्र कार्यकारणभावः औपम्यभावश्च समस्ति। अस्यां तु तद्विपर्ययः॥

काव्यालंकार:—रुद्रट (टीकाभाग) पृष्ठ ७७, ११९

२. यत्रैकेनैव वाक्येन वर्णनीयार्थसिद्धये।
अर्थानां युगपदुक्तिः सा सहोक्तिः सतां मता ॥३७॥
तदिदमुक्तं भवति-यत्र वाक्यान्तरवक्तव्यमपि वस्तुप्रस्तुतार्थनिष्पत्तये विच्छित्या तेनैव वाक्येनाभिधीयते।

वक्रोक्तिजीवितम्—कुन्तक, पृष्ठ ४६१-४६२

ही इव शब्द का प्रयोग भी स्वीकार किया है।[1] भोज के लक्षण में सहोक्ति अतिशयोक्ति से विलसित लगती है। रुय्यक ने उपमान और उपमेय में से एक की प्रधानता तथा दूसरे का सहार्थ सम्बन्ध (गौण भाव) सहोक्ति में माना है। रुय्यक को उपमान में तृतीयान्त (तृतीया विभक्ति का प्रयोग) और उपमेय मे प्रथमा विभक्ति का प्रयोग मान्य रहा। विभक्तिप्रयोग के हेतु उपमानोपमेय की इतनी सार्थक चर्चा अब तक किसी आचार्य ने नहीं की थी। •रुय्यक ने भी इसे अतिशयोक्तिमूला कहा है।[2] हेमचन्द्र और जयदेव-कृत लक्षण में कोई वैशिष्ट्य नहीं। नरेन्द्र प्रभसूरि ने सहोक्ति में मुख्यामुख्य (कारण-कार्य) की एकधर्मता, जिसमें एक क्रिया-रूप या गुण-रूप का वर्णन रहता है, स्वीकार की है। यही एकधर्मता, सहोक्ति है। भोज की परम्परा का यहाँ पुनरुदय हुआ। इवादि का प्रयोग भी सहोक्ति में मान्य हुआ और इसे गर्भीकृतोपमारूपा माना जाने लगा। इसमें अतिशयोक्ति की मान्यता नरेन्द्र-प्रभ सूरि ने भी स्वीकार की।[3] इवादि के प्रयोग में सहार्थ तो वाक्यार्थ के सामर्थ्य से ही प्राप्त हो जाता है। अतः उसका अभाव रहता है।

विद्याधर और विद्यानाथ का लक्षण रुय्यक से प्रभावित है। विश्वनाथ ने सहोक्ति के लक्षण में अतिशयोक्ति को मूल तत्व मानने की बात पूर्ववर्तियों की भांति कहते हुए भी उस अतिशयोक्ति को कहीं अभेदाध्यवसायमूलक और कहीं कार्य-कारण पौर्वापर्य-विपर्यय-मूलाक माना है। अभेदाध्यवसाय में भी यह अतिशयोक्ति कहीं श्लेषमूलक और कहीं अश्लेषमूलक रहती है। इस विवेचना से सिद्ध है कि सहोक्ति अलंकार का लक्षण अपना कितना क्षेत्र-विस्तार कर पाया था।[4] शोभाकर

---

१. कर्त्रादीनां समावेशः सहान्यैर्यः क्रियादिषु।
विविक्तश्चाविविक्तश्च सहोक्तिः सा निगद्यते ॥४-१८१॥
वैसादृश्यवती चेयमुच्यमाना मनीषिभिः।
सह इवादिप्रयोगेषु ससादृश्या च दृश्यते ।४-१८२
सरस्वतीकंठाभरणम्—भोज, पृष्ठ ४७४

२. उपमानोपमेययोरेकस्य प्राधान्यनिर्देशे परस्य सहार्थसम्बन्धे (सम्बन्ध) सहोक्तिः तत्र तृतीयान्तस्य नियमेन गुणत्वादुपमानत्वम्। अर्थाच्च परिशिष्टस्य प्रधानत्वादुपमेयत्वम्'''तत्र नियमेनातिशयोक्ति मूलत्वमस्याः।
अलंकारसर्वस्वम्—रुय्यक, पृष्ठ १०३-१०४

३. सहार्थयोगे या मुख्यामुख्ययोरेकधर्मता।
क्रोडस्थातिशयोक्तिः सा सहोक्तिरिति विश्रुता ॥५॥
अथातिशयोक्तिसब्रह्मचारिणीं सहोक्तिमाह--
सहार्थानां परित्यागादिवादीनां परिग्रहे।
गर्भीकृतोपमारूपा सेयमौपम्यगर्भिता ॥८-६॥
अलंकारमहोदधिः— नरेन्द्रप्रभ सूरि, पृष्ठ २३२, २३३

४. अतिशयोक्तिरप्यत्राभेदाध्यवसायमूला कार्यकारणपौर्वापर्यविपर्ययरूपा च।
अभेदाध्यवसायमूलापि श्लेषभित्तिकान्यथा च।
साहित्य-दर्पणः—विश्वनाथ, पृष्ठ ३३५

मित्र ने इसे तुल्ययोगितामूला भी माना है। प्रस्तुताप्रस्तुत में इसका विनियोजन और प्रायशः अतिशयोक्ति-मूलकता पूर्ववर्तियों की भांति इस आचार्य को भी स्वीकृत है।[1] केशव मिश्र ने सहोक्ति को समानकालोक्ति माना है।[2] इसके अनन्तर नरसिंह कवि तक किसी आचार्य ने भी लक्षण में नया तत्त्व निविष्ट नहीं किया।

सहोक्ति-भेद

रसिकरंजनीकार ने सहोक्ति के कार्यकारणपौर्वापर्यरूप और अभेद-अध्यवसायरूप दो भेद माने हैं। केशव मिश्र ने इसे दो प्रकार की कहा। नरेन्द्र-प्रभ सूरि ने भी क्रियारूपा और गुणरूपा नाम से दो भेद किये हैं। परन्तु ये सब भेद रुद्रट के वास्तवगत और औपम्यगत सहोक्ति (दो, दो) भेदों के अन्तर्गत आ जाते हैं। इवादि प्रयोगयुक्त सहोक्ति को अलग भेद मानना चाहिये।

सहोक्ति अलंकार के लक्षण-विकास में 'सह' उपपद विभक्ति से व्याकरण का प्रभाव परिलक्षित है। अतिशयोक्ति के बिना तो सहोक्ति में चमत्कार ही कहां? कार्य-कारण तथा प्रस्तुताप्रस्तुत की चर्चा से सहोक्ति का विभिन्न अलंकारों से सहभावात्मक समन्वय यह सिद्ध करता है कि यह अलंकार अपने लक्षण-विकास के कारण चमत्कार पा सका है। यदि केवल व्याकरण पर टिका रहता तो साधारण वचन मात्र रह जाता।

रीतिकाल में लक्षण का अनुवादमात्र हुआ परन्तु उपपद विभक्ति (सह, साकं, सार्धं) की चर्चा यहां सम्भव नहीं थी। इसलिए संग, साथ जैसे शब्द गढ़े गये। देव ने सहोक्तिमाला का उदाहरण तो दिया है, लक्षण नहीं दिया। रीतिकाल में इस अलंकार के दोनो भेदों का विवेचन भी नगण्य ही रहा है।

१६. अर्थापत्ति

आचार्य भरत ने अर्थापत्ति का नाम ३६ भूषणों में गिना है। अर्थापत्ति का लक्षण करते हुए कहा गया है कि अर्थान्तर के कथन में जहाँ अन्य अर्थ की प्रतीति हो और (वह) वाक्य माधुर्य-युक्त हो, उसे अर्थापत्ति कहते हैं।[3] यही भूषण कालान्तर में अलंकारों में आ पहुंचा। भोज ने सर्वप्रथम अर्थापत्ति अलंकार का लक्षण दिया कि प्रत्यक्षादि प्रमाणों से प्रतीत अर्थ यहाँ अनुपपन्न होता है तथा उससे

---

१. इयं च प्रस्तुताप्रस्तुतयोर्वा भवन्ती क्वचित् तुल्ययोगितामूला।
प्रायशोऽतिशयोक्तिमूलत्वमस्याः।
अलंकार-रत्नाकरः—शोभाकरमित्र, पृष्ठ ७०

२. समानकालोक्तिः सहोक्तिः सा द्वयी-उदासीनयोस्त्वराप्रतिपत्तये कार्यकारणयोरपि।
अलंकारशेखरः— केशवमिश्र, पृष्ठ ३६

३. अर्थान्तरस्य कथने यत्रान्यार्थः प्रतीयते।
वाक्यमाधुर्यसंयुक्तं (क्तः) सार्थापत्तिरुदाहृता ॥१६-३२॥
नाट्य-शास्त्रम्—भरत, पृष्ठ २५६

ही अर्थान्तर का आक्षेप होता है, वहां अर्थापत्ति अलंकार है।[1] रुय्यक ने अर्थापत्ति अलंकार के लक्षण में दण्डापूपिका न्याय का आश्रय लेकर स्पष्टता ला दी। विद्यानाथ ने इस अलंकार के लक्षण में कैमुत्यन्याय की चर्चा कर दी जो कि दण्डापूपिकान्याय से भिन्न नहीं। कैमुत्यन्याय में न्यूनार्थ विषय रहता है। अप्पय्य दीक्षित ने भी यही न्याय अलंकार-लक्षण के लिए उपयुक्त माना, परन्तु पंडितराज ने इस न्याय से अर्थापत्ति अलंकार की उत्पत्ति न मानकर तुल्यन्याय से मानी। प्रधानतया दण्डापूपिका न्याय ही इस अलंकार के लक्षण पर छाया रहा। नरसिंह कवि का लक्षण विद्यानाथ से प्रभावित है। स्पष्टतः यह तथ्य मानना उचित है कि 'न्याय-विशेष' का बल अलंकार का आधार बन गया, अन्यथा भरत के लक्षण से नरसिंह कवि के लक्षण तक इसमें किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं हुआ, केवल शब्दों के पूर्व-पश्चात् प्रयोग हुए।

अर्थापत्ति-भेद

भोज ने सर्वप्रथम इस अलंकार के छः भेद माने। १—एकशः प्रत्यक्ष पूर्विका, २—अनेकशः प्रत्यक्षादि पूर्विका, ३—एकशोऽनुमानपूर्विका, ४—अनेकश उपमानादिपूर्विका, ५—एकशोऽभावपूर्विका, ६—अनेकशोऽर्थापत्त्यादि पूर्विका।[2] रुय्यक ने १—प्राकरणिक से अप्राकरणिक के अर्थ का बोध तथा २—अप्राकरणिक से प्राकरणिक का अर्थ-बोध अर्थापत्ति के (ये) दो भेद माने हैं।[3] नरेन्द्रप्रभ सूरि, विद्याधर तथा नरसिंह कवि ने इन्हीं भेदों की चर्चा अपने अपने ग्रन्थों में की है।

यह अलंकार प्रमाणों के आधार पर अपना स्थान काव्यक्षेत्र में जीवित रखे हुए है। वक्रोक्ति की छाया इस पर पड़ी हुई है।

रीतिकाल में काव्यार्थापत्ति के लक्षण में विद्यमान दण्डापूपिका न्याय निकल गया। लक्षणों के अनुवाद भी स्वेच्छा से हुए हैं। महाराज जसवन्तसिंह, आचार्य भिखारीदास तथा पद्माकर के प्रौढ़ लक्षणों में भी यह न्याय अपना स्थान न पा सका। रघुनाथ तथा उनके पुत्र गोकुल ने कैमुत्त पद (कैमुत्य न्यायवाची) प्रयोग किया है। अन्य किसी ने नहीं। कैमुत्यन्याय का प्रयोग[4] विद्यानाथ की परम्परा से

१. प्रत्यक्षादि प्रतीतोऽर्थो यस्तथा नोपपद्यते।
अर्थान्तरञ्च गमयति अर्थापत्तिर्वदन्ति ताम् ॥३-२१५॥
सरस्वती-कंठाभरणम्—भोज, पृष्ठ ४१६

२. सर्वप्रमाणपूर्वत्वात् एकशोऽनेकशश्च सा।
प्रत्यक्षपूर्विका इत्यादिभेदैः षोढ़ा निगद्यते ॥३-२१६॥
सरस्वती-कंठाभरणम्—भोज, पृष्ठ ४१६

३. इयं च द्विधा। प्राकरणिकादप्राकरणिकस्यार्थापतनमेकः प्रकारः
अप्राकरणिकात्प्राकरणिकस्यार्थापतनं द्वितीयःप्रकारः।
अलंकार-सर्वस्वम्—रुय्यक, पृष्ठ १९७

४. (क) रसिक-मोहन—रघुनाथ, पृष्ठ ५४
(ख) चेतचन्द्रिका—गोकुल, पृष्ठ ११४

आया है। अर्थापत्ति के अर्थ पर ही लक्षण निर्भर हो गया। जैसे—

जसवन्तसिंह : भाषाभूषण

(क) काव्यार्थापत्ति को सबै, इहि विधि-बरनत जात।
मुख जीत्यो वा चन्द को, कहा कमल की बात॥

भिखारीदास : काव्यनिर्णय

(ख) यहै भयौ तो यै कहा—या विधि जहां बखान।
कहत काव्य पद सहित, तहं अरथापत्ति सुजान॥

पद्माकर : पद्माभरण

(ग) वह जु कियो तौ यह कहा, यों काव्यार्थापत्ति।
जु हर धनुष तोरचो तुमहिं कहा लंक रघुपति॥[1]

अर्थापत्ति का अर्थ है—काव्यागत अर्थ का आ पड़ना—इसी के आधार पर आचार्य भिखारीदास तथा पद्माकर का लक्षण बना है। इस अलंकार का लक्षण-विकास न्यायमूलक न रह कर अलंकार के अर्थ पर आश्रित हो गया। इस काल में इसके भेदों की चर्चा तो हुई ही नहीं है।

२०. प्रत्यनीक

रुद्रट ने प्रत्यनीक अलंकार के लक्षण में उपमेय की उत्तमता के कथन को प्रधानता दी और उपमान की कल्पना वचनमात्र से उपमेय की विजयेच्छा से कल्पित स्वीकार की।[2] परवर्ती लक्षणों में यह अलंकार उपमेय, उपमान की चर्चा छोड़कर केवल प्रतिपक्षी के सम्बन्धी की तिरस्क्रिया में झुक गया। आचार्य मम्मट का लक्षण ही नरसिंह कवि तक प्रधानता लिए हुए है। प्रधान शत्रु का तिरस्कार करने में असमर्थ होने से यदि उसके किसी सम्बन्धी का तिरस्कार किया जाए और उससे भी शत्रु का ही उत्कर्ष प्रकट हो—वहां प्रत्यनीक अलंकार होता है। मात्र यही परिभाषा चलती रही। पंडितराज जगन्नाथ ने प्रत्यनीक के लक्षण पर विचार करते हुए कहा कि जहाँ हेतूत्प्रेक्षा इवादि शब्द के बिना गम्यमान हो, वहां प्रत्यनीक अलंकार माना जाएगा। हेतूत्प्रेक्षा में दो अंश रहते हैं। एक हेत्वंश, दूसरा उत्प्रेक्षांश। जहां दोनों अंश आर्थ हों, अथवा केवल हेत्वंश शाब्द हो (किन्तु उत्प्रेक्षांश आर्थ हो) वहीं प्रत्यनीक अलंकार माना जाएगा। जहां उत्प्रेक्षांश और हेत्वंश दोनों शाब्द हों, वहां प्रत्यनीक नहीं माना जा सकता। वहां तो स्पष्टतः उत्प्रेक्षा ही होगी। अप्पय्य दीक्षित ने विरोधी को किंचित् बाधित करने में भी प्रत्यनीक अलंकार माना है। परन्तु मम्मट,

---

१. (क) भाषाभूषण—जसवन्तसिंह, पृष्ठ ७८
(ख) काव्य-निर्णय—भिखारीदास, पृष्ठ ४२७
(ग) पद्माभरण—पद्माकर, पृष्ठ ५६

२. वक्तुमुपमेयमुत्तममुपमानं तज्जिगीषया यत्र।
तस्य विरोधीत्युक्त्या कल्पयेत् प्रत्यनीकं तत्॥८-६२॥
उपमेयस्तुतिस्तु अत्र तात्पर्यार्थः। काव्यालंकारः—रुद्रट, पृष्ठ ११८

रुय्यक, पंडितराज जगन्नाथ आदि ने प्रतिपक्षि-सम्बन्धिबाधन या प्रतिपक्षि-सम्बन्धि-तिरस्कार में ही प्रत्यनीक की स्थिति मानी है।

इस अलंकार के लक्षण-विकास में दो ही प्रयत्न हुए। उनमें चमत्कार-जनकता का कारण उपमान का कवि-कल्पित तिरस्कार ही रहा है।

भाषा-काव्य-शास्त्र में इसी आधार पर लक्षण लिखा जाता रहा। लक्षण में नया मोड़ किसी आचार्य ने नहीं दिया है।

२१. परिकर

परिकर अलंकार का लक्षण सर्वप्रथम आचार्य रुद्रट ने दिया और साभिप्राय विशेषण पदों से वस्तु में वैशिष्ट्य प्रस्तुत करने की चर्चा की।[1] परन्तु भोज ने परिकर का सम्बन्ध क्रिया-कारक आदि से स्थापित किया। क्रियापद का उपयोगी परिकर को माना। उपमा और रूपकादि के शब्दार्थभंगियों से साधर्म्य-उत्पादन को भी (अन्य विद्वानों द्वारा मान्य) परिकर कहा। भोज ने एकावली को भी परिकर ही माना है।[2] आचार्य मम्मट के स्पष्ट लक्षण के अनन्तर, नरसिंह कवि तक यही लक्षण चलता रहा। विद्याधर ने विशेषणों की प्रतीयमानार्थगर्भता का विलास ही परिकर के लक्षण के लिए विशेष तत्त्व स्वीकार किया, परन्तु यह प्रतीयमानता वाच्य की उप-स्कारक होती है।

आचार्य रुद्रट ने द्रव्य, क्रिया, जाति और गुण के आधार पर परिकर के चार भेद कहे हैं। भोज ने क्रिया, कारक, सम्बन्धी, साध्य तथा दृष्टान्त-भेद से परिकर को पांच प्रकार का माना है।

रीतिकाल में यह अलंकार परम्परागत लक्षण को लिये रहा। इस काल में लक्षण पर कुवलयानन्द का प्रभाव सर्वत्र दिखाई पड़ता है।

२२. समाधि

समाधि को भरत ने गुण माना[3] और बाद में 'समाधि' गुण को अलंकारों में

---

१. साभिप्रायैः सम्यग् विशेषणैः वस्तु यद् विशिष्येत् ।।७-७२।।
काव्यालंकारः—रुद्रट. पृष्ठ ८६

२. क्रियाकारकसम्बन्धिसाम्यदृष्टान्तवस्तुषु ।
क्रियापदाद्युपस्कारमाहुः परिकरं बुधाः ।।२३५।।
उपमारूपकादीनां शब्दार्थोभयभंगिभिः ।
साधर्म्योत्पादनं यत् तमन्ये परिकरं विदुः ।।२५६।।
एकावली इति या सापि भिन्ना परिकरान्नहि ।।४-२६०।।
सरस्वती-कंठाभरणम्—भोज, पृष्ठ ४६७, ५०७, ५०९

३. अभियुक्तैर्विशेषस्तु योऽर्थस्यैवोपलभ्यते ।
तेन चार्थेन सम्पन्नः समाधिः परिकीर्त्यते ।।१६-१०२।।
नाट्यशास्त्रम्—भरत, पृष्ठ २६६

स्थान अग्नि पुराण में मिला।[1]

तदनन्तर भोज ने यह प्रतिपादन किया कि अन्य वस्तु के गुण-क्रिया-रूप-धर्मों का अन्य वस्तु में आरोप करना ही समाधि लक्षण का मूल तत्व है। मीलित को समाधि मानने की चर्चा भी भोज ने की है। उभयालंकारों में गणना कर के समाधि शब्दालंकार भी सिद्ध किया है, जो कि अनुचित ही है।[2] आचार्य मम्मट ने समाधि का लक्षण सर्वथा पृथक् न करके भी इस लक्षण में यह परिवर्तन किया कि कारणान्तर के योग से कार्य का सुकर हो जाना ही समाधि अलंकार है।[3] परन्तु रुय्यक ने माना है कि काकतालीय न्याय से समाधि तथा खलेकपोतिका न्याय से बहुत सी वस्तुओं का एक स्थान पर एकत्र होना समुच्चय है। विद्याधर ने समुच्चय के सादृश्य से समाधि नाम की चर्चा को है।[4] विद्यनाथ ने भी काकतालीयन्याय पद का प्रयोग समाधि अलंकार के लक्षण में करके समुच्चय से उसे पृथक् सिद्ध कर दिया। नरसिंह कवि ने 'काकतालनय' पद द्वारा समुच्चय के भेद तत्कर से समाधि का अन्तर स्पष्टतः माना है।[5] परन्तु मम्मट के अनंतर किसी आचार्य ने किसी विशिष्ट परिवर्तन का साहस नहीं किया।

---

१. अन्य धर्मस्ततोऽन्यत्र लोकसीमानुरोधिना।
सम्यगाधीयते यत्र स समाधिरिह स्मृतः॥

अग्निपुराणम्—पृष्ठ ७०६

२. समाधिमन्यधर्माणामन्यतारोपणं बिदुः ॥४-१२६॥
समाधिमेव मन्यन्ते मीलितं तदपि द्विधा ॥४-१२०॥

सरस्वतीकंठाभरणम्—भोज, पृष्ठ ४४६ ४५१

३. समाधि सुकरं कार्यं कारणान्तरयोगतः।

काव्यप्रकाशः—मम्मट, पृष्ठ ५३४

४. हेत्वन्तरसम्बंधात् स्फूर्जति कार्यस्य यत्र सौकर्यम्।
स समुच्चयः सादृश्यात् समाधिर्नामात्र निर्दिष्टः ॥५६॥

एकावली—विद्याधर, पृष्ठ १५१

५. (क) काकतालीयनयतः सा समाधिरुदीर्यते।

प्रतापरुद्रीययशोभूषणम्—विद्यानाथ, पृष्ठ ३३१

(ख) तत्र ह्येकस्य कार्यंप्रतिपूर्णं साधकत्वम्। अन्यस्तु कार्याय काकतालीयेन आपतति, तत्र समाधिर्वक्ष्यते। यत्र तु खलेकपोतिकया बहूनामवतारस्तत्रायं समुच्चयः।

अलंकारसर्वस्वम्—रुय्यक, पृष्ठ २०२

(ग) काकतालेति विशेषणात् तस्कराद् भेदः।
तस्करे तु कारणमेलनं खले कपोतन्यायेन।

नञ्जराजयशोभूषणम्—नरसिंह, पृष्ठ २१५

समाधि के निरुद्भेद और सोद्भेद नाम से दो भेद भोज ने माने हैं।[1]

२३. समाहित

समाहित अलंकार का दण्डि-कृत लक्षण परवर्ती आचार्यों के समाधि अलंकार से मिलता है। आचार्य विश्वनाथ का लक्षण समाधि में दण्डी के समाहित का ही पूर्ण प्रभाव लिए हुए है। दण्डी ने कहा है कि किसी कार्य को आरम्भ करने के लिए उद्यत होते ही दैवयोग से उस कार्य के साधन की प्राप्ति हो जाने को ही समाहित अलंकार कहते हैं। आचार्य विश्वनाथ ने लिखा है कि दैववश आई हुई किसी वस्तु के कारण यदि प्रस्तुत कार्य सुकर हो जाय तो समाधि अलंकार होता है। दोनों आचार्यों का उदाहरण भी एक है।[2] 'मैं इस कामिनी का मान दूर करने के लिए पैरों पर गिरने को तैयार ही था कि मेरे प्रारब्ध से यह मेघगर्जन उदित हो गया।' इससे यह स्पष्ट है कि कालान्तर में दण्डी का समाहित ही समाधि का रूप धारण कर गया। भोज के समाहित-लक्षण पर भी दण्डी का प्रभाव है परन्तु वह दैव के साथ अदैव को भी मानते हैं। उदाहरण दण्डिदत्त ही है आचार्य विश्वनाथ ने समाहित का लक्षण दूर करना (परीहार) कर दिया है।[3] तात्पर्य यह कि जहां किसी के विशिष्ट भाव से विपक्ष के भावों का प्रशमन प्रकट हो, वहाँ समाहित अलंकार होता है। वाग्भट (प्रथम) ने भी समाहित का लक्षण दण्डी-भोज से प्रभावित होकर लिखा है।[4] उद्भट, कुन्तक, कर्णपूर, अप्पय्य दीक्षित और विश्वेश्वर ने इसे रस-संबंधी भावों में समाहित किया है। वामन आचार्य ने अवश्य ही इन से पृथक् तथ्य कहा कि जिस वस्तु की सदृशता कोई वस्तु ग्रहण करती है, उसका वही रूप हो जाता है। उदाहरण में दिया गया है कि पुरुरवा ने लता को उर्वशी के समान ग्रहण किया तो वह लता उर्वशी

---

१. निरुद्भेदोऽथ सोद्भेदः स द्विधापरिपठ्यते ॥४-१२६॥
सरस्वतीकंठाभरणम्—भोज, पृष्ठ ४८६

२. (क) किंचित् आरभमाणस्य कार्यं दैववशात् पुनः।
तत्साधनं समापत्तिर्या तदाहुः समाहितम् ॥२-९८॥
काव्यादर्शः—दण्डी, पृष्ठ १३२

(ख) समाधिः सुकरे कार्ये दैवाद् वस्त्वन्तरागमात्।
साहित्यदर्पणम्:—विश्वनाथ, पृष्ठ २६१

(ग) मानमस्या निराकर्तुं पादयोर्मे पतिष्यतः।
उपकाराय दिष्ट्येयमुदीर्णं घनगर्जितम्।
काव्यादर्शः—दण्डी, पृष्ठ १३२
साहित्यदर्पणः—विश्वनाथ, पृष्ठ ३६१

३. समाहितं परीहार। साहित्यदर्पणः—विश्वनाथ, पृष्ठ ३६६।

४. (क) सरस्वतीकंठाभरणम्-भोज, पृष्ठ ३८६
(ख) वाग्भटालंकारः—वाग्भट, पृष्ठ १४७

ही गयी ।[१] यह लक्षण सर्वथा विलक्षण रहा । परवर्तियों ने ऐसा लक्षण नहीं लिखा । इस अलंकार के लक्षण में उक्त तीन परिवर्तन महत्वपूर्ण रहे ।

समाहित-भेद

भोज ने समाहित के छः भेद आकस्मिकी दैवकृता, आकस्मिकी अदैवकृता, बुद्धिपूर्वा दैवकृता, बुद्धिपूर्वा अदैवकृता, आकस्मिकी बुद्धिपूर्वा दैवकृता, आकस्मिकी बुद्धिपूर्वा अदैवकृता माने हैं ।[२] शेष आचार्यों ने तो लक्षण ही अन्य रूप से लिखे । भेद चर्चा नहीं की है ।

समाधि और समाहित के लक्षण में संस्कृत-काव्य-शास्त्र में दण्डी से विश्वनाथ तक जाते ही परिवर्तन हो गया परन्तु रीतिकाल के काव्य-शास्त्र में ये दोनों पृथक् पृथक् रहे । लक्षण-परिवर्तन नहीं हुआ । समाहित (रसवदादि अलंकार) का विवेचन प्रायशः हुआ । समाधि के लक्षण में नायिकाओं की चेष्टाएँ भी समन्वित की गयीं । परन्तु बहुशः लक्षण का अनुवाद परम्परागत सा रहा । समाधि तथा समाहित अलंकारों के भेदों की ओर किसी आचार्य ने ध्यान नहीं दिया है ।

२४. व्याघात

आचार्य रुद्रट ने सर्वप्रथम व्याघात-लक्षण लिखा । उन्होंने कहा कि जहां कारण कारणांतरों से बाधित न होकर भी कार्य को करता हुआ वर्णित हो, वह व्याघात अलंकार है । रुद्रट कृत इस लक्षण के अनंतर आचार्य मम्मट ने दूसरे ही प्रकार का सर्वथा भिन्न लक्षण किया, जिसमें कहा गया कि कोई बात को जिस प्रकार से सिद्ध करे, उस को उसी प्रकार से यदि दूसरा परिवर्तित कर दे (बिगाड़ दे) उसे व्याघात कहते हैं । आचार्य मम्मट के अनंतर उन्हीं का लक्षण नरसिंह कवि तक शब्दांतर से चलता रहा । रुद्रट के लक्षण की परम्परा नहीं चली । इस प्रकार व्याघात अलंकार के लक्षण में मम्मट द्वारा एक ऐसा परिवर्तन हुआ जो स्थायी बन गया ।[३]

---

१. यत्सादृश्यंतत्सम्पत्तिः समाहितम् ।१६।
उदाहरण—तन्वीमेघजजार्द्रपल्लवतया ।।
अत्र पुरुरवसो लतायामुर्वश्याः सादृश्यं गृह्णतः सैव
लतोर्वशी सम्पन्नेति ।

काव्यालंकारसूत्राणि—वामन, पृष्ठ ६७

२. सरस्वतीकंठाभरणम्—भोज, पृष्ठ ३८६-३८८

३. (क) अन्यैरप्रतिहतमपि कारणमुत्पादनं न कार्यस्य ।
यस्मिन् अभिधीयेत् व्याघातः स इति विज्ञेयः ।।

काव्यालंकारः—रुद्रट, पष्ठ १३१

(ख) यद्यथा साधितं केनाप्यपरेण तदन्यथा ।
तथैव यद् विधीयेत स व्याघात इति स्मृतः ।।

काव्यप्रकाशः—मम्मट, पृष्ठ ५५२

रीतिकाल में मम्मट तथा अप्पय्य दीक्षित के अलंकार-लक्षणही अनूदित हुए। इसलिए परम्परा का निर्वाह होता रहा।

संस्कृत से रीतिकाल के काव्य-शास्त्र की परम्परा तक अलंकारों के लक्षणों में विकास, परिवर्तन तथा त्याग होता रहा। संस्कृत की काव्य-शास्त्रीय परम्परा में गम्भीर विवेचन का वातावरण था। भाषा-काव्य-शास्त्र में ग्रहण की प्रवृत्ति थी और वह भी उस परम्परा से जो कि अपनी पूर्ववर्ती प्रौढ़तम साहित्यिक भाषा में बन चुकी थी, तब भी रीतिकाल में लक्षणों में निर्माण-विवेचन, नायक-नायिकाओं, दूतियों, हाव-भावों आदि से समन्वित करके नए प्रयत्न भी हुए, जो उपाहासास्पद नहीं, प्रतिभा-कौशल के प्रतीक हैं। लक्षण-विकास तथा भेदोपभेद की वृद्धि का अवकाश इसलिए थोड़ा रहा कि संस्कृत-काव्य-शास्त्र का विकास सहस्राब्दियों का था। अब वहां नया क्या लाया जाता, तब भी आक्षेप, श्लेष, दीपक, रूपक, सहोक्ति आदि अलंकारों के क्षेत्रों में जो नवीन जोड़ा गया, वह चाहे अल्प मात्रा में है तब भी साहित्यिक श्रीवृद्धि के लिए उपयोगी और प्रशस्त है।

: ६ :

अलङ्कारों का तुलनात्मक लक्षण-परीक्षण

रीतिकालीन आचार्यों के अलंकारों के लक्षण संस्कृत-काव्यशास्त्र की एक सुदीर्घ प्राचीन परम्परा के प्रतिफलित रूप हैं। संस्कृत-काव्यशास्त्र में सभी प्रमुख अलंकारों के लक्षणों के स्वरूप का निर्धारण हो चुका था और हिन्दी-आलंकारिकों ने प्रायः संस्कृत के अलंकार-लक्षणों का अनुवाद ही अपने लक्षण-ग्रंथों में प्रस्तुत किया साधारणतया दण्डी, मम्मट, जयदेव तथा अप्पय्य दीक्षित का ही प्रभाव, इस दृष्टि से, हिन्दी-आलंकारिकों पर माना जाता रहा है, परन्तु अन्य भी ऐसे संस्कृत-आचार्यों का प्रभाव इन लक्षणों पर है, जो अभी तक हिन्दी के पाठकों के लिए प्रायः अनजाने हैं। भावानुवाद करने वाले आलंकारिकों पर तो कई-कई संस्कृत-आचार्यों का प्रभाव एक साथ है, जिससे उनकी तथ्यग्राहिणी प्रवृत्ति का ज्ञान होता है।

अनुवाद, छायानुवाद आदि लक्षणरूपों का वास्तविक परीक्षण करने के लिए अपेक्षित है कि उन लक्षणों को आधारभूत संस्कृत-लक्षणों के साथ रखकर तुलनात्मक विवेचन किया जाए लक्षणकारों की विषय को ग्रहण करने की योग्यता इस अध्ययन से सामने आती है।

शास्त्रीय दृष्टि से लक्षणों की शुद्धि का परीक्षण भी आवश्यक है। हिन्दी के अनूदित अथवा स्वतन्त्र लक्षणों में अलंकार के मूलभाव को ग्रहण करते हुए कहां तक उन्हें अव्याप्ति या अतिव्याप्ति दोषों से बचाया गया है, यह भी द्रष्टव्य है। ऐसा प्रतीत होता है कि जिन आलंकारिकों ने सरल शब्दों में संस्कृत-लक्षणों का अनुवाद करने का प्रयत्न किया है, प्रायः वे ही कुछ स्पष्ट रहे हैं अन्यथा अनेक आचार्य कहीं शब्दों के अर्थ को लेकर, अथवा प्रायः भाषा की शिथिलता के कारण निर्दोष लक्षण प्रस्तुत नहीं कर पाए हैं। आचार्यत्व की सबसे बड़ी मांग है—लक्षणों की निर्दोषता—और इस दृष्टि से रीतिकालीन आचार्यों के अलंकार-लक्षणों का मूल्यांकन एक महत्त्व की बात है।

अलंकार-लक्षणों के हिन्दी-गद्य में किए गए अनुवाद प्रायः शुद्ध और सरल बन पड़े हैं, ऐसा प्रतीत होता है, परन्तु छन्दोबद्ध लक्षणों में कहीं-कहीं भाषा-सम्बन्धी दोष उभर आये हैं। पादपूर्ति के लिए अतिरिक्त शब्दों की भरती भी प्रायः देखी जाती है, अथवा यति में बैठाने के लिए भी कहीं-कहीं शब्दों को तोड़ने-बदलने की प्रक्रिया भी अपनाई गई है। लक्षणों की छन्दोबद्धता अवश्य ही रीतिकालीन लक्षणों की शुद्धि में एक बड़ी रुकावट रही है।

रीतिकालीन आचार्यों के अलंकार-लक्षण-निर्माण की दृष्टि से दो वर्ग बनाए जा सकते हैं—

प्रथम वर्ग—इस वर्ग में वे आचार्य आते हैं, जिन्होंने अपने लक्षणों का संस्कृत से ही सीधा अनुवाद किया है। इस वर्ग में चिन्तामणि, जसवन्तसिंह, श्रीधर ओझा, वैरीसाल, पद्माकर (किसी अंश तक) चन्दन तथा उमेदराय प्रमुख हैं।

द्वितीय वर्ग—द्वितीय वर्ग उन आलंकारिकों का है, जिन्होंने संस्कृत-काव्यशास्त्र का अध्ययन कर अपने लक्षणों को निजी परिपाटी से लिखा है। इन पर संस्कृत-लक्षणों की छाया दिखाई देती है, परन्तु कहीं-कहीं ये बहुत कुछ स्वतन्त्र जैसे भी प्रतीत होते हैं। इस वर्ग में मतिराम, कुलपति, देव, गोप, रघुनाथ, गोविन्द, सोमनाथ, रत्नेश, ऋषिनाथ, रामसिंह, याकूबखाँ, गोकुल, राय शिवप्रसाद, गिरधरदास, दामोदर आदि हैं।

हिन्दी के इन आलंकारिकों ने अलंकारों के लक्षण-क्षेत्र के पूरक अलंकारों के उदाहरणों में अपना कौशल व्यापक रूप से प्रदर्शित किया है। इस आधार पर भी इनके वर्ग बनाये जा सकते हैं।

प्रथम वर्ग—प्रथम वर्ग में लक्षणों के साथ संस्कृत-काव्यशास्त्र में प्रदत्त उदाहरणों का भी अनुवाद करने वाले आचार्य हैं। उनके नाम लक्षण सम्बन्धी प्रथम वर्ग में दिये जा चुके हैं

द्वितीय वर्ग—द्वितीय वर्ग के आलंकारिकों ने उदाहरणों में स्वनिर्मित रचनाओं को ही स्थान दिया है। इस वर्ग के तीन उपवर्ग हो सकते हैं—

(क) जिन्होंने साहित्यिक दृष्टि से सभी विषयों पर अपनी रचनाएं प्रस्तुत की हैं। जैसे—कुलपति, देव, गोविन्द, दामोदर आदि।

(ख) जिन्होंने केवल अपने आश्रयदाताओं या इष्ट देवताओं से सम्बन्धित उदाहरण दिये हैं, जैसे—मतिराम, भूषण, गोप, सेवादास, आदि।

(ग) जिन्होंने स्वनिर्मित उदाहरणों को नायक-नायिका, हावभाव, रसादि से सम्बद्ध किया है, जैसे—रत्नेश, याकूबखाँ तथा शिवप्रसाद।

तृतीय वर्ग—इस वर्ग में वे आलंकारिक आते हैं, जिन्होंने उदाहरणों के लिए हिन्दी के अन्य कवियों की रचनाएं चुनी हैं। इनमें भी कुछ उपवर्ग हैं—

(क) जिन्होंने केवल एक ही कवि के उदाहरण दिये है। जैसे—रसरूप। इस आचार्य ने केवल तुलसीदास के ही काव्य-ग्रन्थों के उदाहरण अपने ग्रंथ तुलसीभूषण में प्रस्तुत किये हैं।

(ख) जिन्होंने व्यापक रूप से हिन्दी-कवियों की रचनाओं को उद्धृत किया है, जैसे, रसिकगोविन्द, अमीरदास, निहाल, कवि दास आदि।

रीतिकालीन आलंकारिकों ने कुछ क्षेत्रों में संस्कृत-काव्यशास्त्र को पीछे छोड़ कर अपनी मौलिक परम्पराएं भी बनाईं। ऊपर अलंकारों को नायक नयिका आदि से सम्बन्धित करने की चर्चा की गई है, इसके अतिरिक्त चित्रालंकार पर बलवानसिंह कृत चित्रचंद्रिका तथा ईश्वर कवि कृत चित्रचमत्कृतकौमुदी ऐसे ग्रंथ हैं, जिनमें

चित्रालंकार की नवीनतम योजनाएं हैं । बलवानसिंह ने अपने उदाहरणों में हिन्दी के अतिरिक्त बंगला, गुजराती, मराठी, पंजाबी आदि भाषाओं को भी समन्वित करने का यत्न किया है ।

अलंकार-निरूपण-शैली

संस्कृत-काव्यशास्त्र में भामह से पूर्व पृथक् लक्षणोदाहरण शैली का प्रचलन था । भामह के काल में ही लक्षणोदाहरण शैली का आरम्भ हो गया और दण्डी ने उसका प्रभूत प्रयोग किया ।[1] आचार्य वामन ने गद्य में अलंकार-लक्षण-लेखन-शैली का आरम्भ किया । इसे सूत्र-वृत्ति शैली कहा गया है । इन दोनों शैलियों का प्रचलन संस्कृत-साहित्य में होता रहा । आचार्य मम्मट ने दो-दो अलंकारों के लक्षणों को कहीं-कहीं एक कारिका में और कहीं अगली कारिका तक ले जाने का क्रम भी रखा । एक अलंकार आधी कारिका में समाप्त हुआ तो दूसरा वहीं से आरम्भ हो गया ।[2] इसी शैली को आचार्य विश्वनाथ ने भी अपनाया । परन्तु दोनों ने लक्षणों के साथ ही उदाहरण दिये, चाहे कारिका दो भागों में बंट गयी है । उधर चन्द्रालोक में जयदेव ने दण्डी द्वारा प्रयुक्त शैली को प्रभूत आश्रय दिया । अप्पय्य दीक्षित ने चित्रमीमांसा में प्रथम शैली का अनुसरण किया और कुवलयानन्द में वे जयदेव के व्याख्याकार रहे । कहीं-कहीं जो नवीन लक्षण भी दिये, तो गद्य में ही दिए हैं ।[3]

एकपदीय (लक्षणोदाहरण) शैली

रीतिकालीन काव्यशास्त्र में लक्षणोदाहरण एक ही पद में तथा लक्षण-उदाहरण पृथक्-पृथक् रूप से देने की दो शैलियां चलीं । प्रथम शैली के आलंकारिकों में जसवन्तसिंह, गोप, दूलह, रत्नेश (अलंकारदर्पण के लेखक), चन्दन, ब्रह्मदत्त और पद्माकर का नाम उल्लेखनीय है । चिन्तामणि, मतिराम, कुलपति, भूषण, गोप (दोनों शैलियों को अपनाया है), कुमारमणि, रघुनाथ, गोविन्द, सोमनाथ, भिखारीदास, रसरूप, बैरीसाल, जनराज, रामसिंह, याकूब खाँ, सेवादास, गोकुल कवि, रसिक गोविन्द, राय शिवप्रसाद, गिरिधरदास, अमीरदास, निहाल कवि, दामोदर

---

१. उपमेव तिरोभूतभेदा रूपकमुच्यते ।
यथा बाहुलता पाणिपद्मं चरणपल्लवः ।२-६६।
काव्यादर्शः—दण्डी, पृष्ठ ६५

२. (क) परोक्तिर्भेदकैः श्लिष्टैः समासोक्तिः
अभवन्वस्तुसम्बन्ध उपमा परिकल्पकः निदर्शना ॥१०-९७॥
काव्यप्रकाशः—मम्मट, पृष्ठ ४७४

(ख) समाधिःसुकरं कार्यं कारणान्तरयोगतः ।
समं योग्यतया योगो यदि सम्भावितिः क्वचित् ॥१०-१२५॥
काव्यप्रकाशः—मम्मट, पृष्ठ ४७४

३. येषां चन्द्रालोके दृश्यन्ते लक्ष्यलक्षणश्लोकाः ।
प्रायस्त एव तेषामितरेषां त्वभिनवा विरच्यन्ते ॥५॥
कुवलयानंदः—अप्पय्य दीक्षित, पृष्ठ २

ग्वाल तथा कवि दास दूसरी शैली को अपनाने वाले हैं। इनमें लक्षण-कारिका-वृत्ति के धनी आलंकारिक कुलपति, सोमनाथ (टीका रूप) भिखारीदास, (तिलक रूप में), रसरूप (अन्य अलंकारों से तुलनात्मक आलोचना-रूप में) अमीरदास, निहाल तथा दास कवि हैं। इन्होंने लक्षणों के सम्बन्ध में मत-मतान्तरों को प्रस्तुत कर निष्कर्ष दिये हैं।

सामूहिक लक्षण-शैली

कई लक्षणों को एक बार लिखकर तदनन्तर उनके उदाहरण देने की शैली को कहीं-कहीं जसवन्तसिंह तथा आचार्य देव ने (शब्द-रसायन में) अपनाया है। देव ने कई अलंकारों के लक्षण एक साथ देकर तदनन्तर उनके उदाहरण दिये हैं।

गद्य-लक्षण-शैली

चिन्तामणि, कुलपति, सोमनाथ से लक्षणों की व्याख्या के लिए गद्य प्रयोग होने लगा था,परन्तु लक्षण गद्य में लिखने का क्रम रसिक गोविन्द ने चलाया, कवि दास भी उसी मार्ग पर चले हैं।

रीतिकालीन काव्य-शास्त्रीय क्षेत्र में शतशः आचार्यों ने अलंकार-विवेचन किया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तथा डा० भगीरथ मिश्र के ग्रंथों के आधार पर निम्नलिखित लेखकों के नाम सामने आते हैं—केशव, चिन्तामणि, जसवन्तसिंह, मतिराम, कुलपति, पदुमनदास, भूषण, गोपालराय, बलवीर, देव, सूरतिमिश्र, श्रीधर ओझा, श्रीपति, गोप, कुमारमणि, रसिकसुमति, भूपति, वंशीधर, रघुनाथ, गोविन्द, सोमनाथ, दूलह, भिखारीदास, शम्भूनाथ, रसरूप, रूपसाहि, गुमानमिश्र, बैरीसाल, नाथ(हरिनाथ), रत्नेस (रतन),दत्त, रत्नेश, ऋषिनाथ, जनराज, उत्तमचन्द भण्डारी, महाराज रामसिंह, याकूब खां, सेवादास, थान कवि, चन्दन, गोकुल कवि, भानकवि, बेनी बंदीजन, रसिक गोविन्द, गुरदीन पांडे, करन, संग्रामसिंह, उमेदराय, ब्रह्मदत्त, पद्माकर, राय शिवप्रसाद, प्रतापसाहि, बलवानसिंह, जगत्सिंह, गिरिधरदास, प्रतापसिंह, चतुर्भुज, रणधीरसिंह, दामोदर तथा ग्वाल। आचार्य अमीरदास, कवि निहाल तथा कवि दास द्वारा निरूपित अलंकारों का विवेचन भी यहाँ दिया गया है। ये तीनों लेखक अब तक अज्ञात रहे हैं। इन पर अभी तक हिन्दी-साहित्य के इतिहास में कहीं भी विवेचन नहीं हुआ है। ये लेखक संवत् १९०० तक से पूर्व के ही लिए गए हैं। भावी लेखकों को रीतिकाल के परवर्ती भाग में विवेचनार्थ रखा गया है।

ऊपर लिखे लेखकों के अलंकार-लक्षणों के सम्बन्ध में सभी आलंकारिकों द्वारा लिखित विभिन्न अलंकार-लक्षणों का विवेचन-परीक्षण अनावश्यक विस्तार की चरम सीमा को स्पर्श कर जाएगा। इसलिए इस अध्याय में उन आलंकारिकों के लक्षणों को विवेचनार्थ रखा गया है, जिनका विवेचन अब तक प्रायशः नहीं हुआ। वे विविधांग-निरूपक आचार्य भी नहीं छोड़े गए हैं, जिनके ग्रंथों से रीतिकाल गौरवान्वित है।

शब्द और अर्थ भेद से अलंकार वर्गद्वय के लक्षण रीतिकाल के आचार्यों ने लिखे हैं, यद्यपि प्रधानता अर्थालंकार-लेखकों की रही है, तब शब्दार्थ की अन्विति में

शब्द के पहले होने से 'वार्गर्थी इव' (वागार्थाविव) की पद्धति से भी शब्दालंकारों का विवेचन प्रथम करना उपयुक्त है।

शब्दालंकार-लक्षण-परीक्षण

अनुप्रास

अनुप्रास (सामान्य) अलंकार का लक्षण चिन्तामणि से कविदास तक बहुधा आचार्यों ने लिखा है। इनके लक्षणों का परीक्षण करने से स्पष्ट हो जाता है कि इन सब पर प्रायः आचार्य मम्मट के लक्षण का ही प्रभाव है। आचार्य विश्वनाथ का लक्षण भी मम्मट से प्रभावित है। मम्मट ने जो कुछ वृत्ति में कहा है, वही विश्वनाथ ने अपने लक्षण में ले लिया है। उन्होंने अनुप्रासगत स्वरसाम्य विशेष को चमत्कारहीन माना है। स्पष्टतः विश्वनाथ की इस दृष्टि को हिन्दी-आचार्यों ने प्रायः नहीं अपनाया और उनका मूल प्रेरणाकेन्द्र मम्मट ही रहे।

अनुप्रास के कुछ लक्षण निम्नलिखित हैं—

(क) मम्मट—वर्णसाम्यमनुप्रासः छेकवृत्तिगतो द्विधा।[१]

(ख) चिन्तामणि—समता जो आखरन की अनुप्रास सो जानि।
छेक वृत्ति द्वै भांति सों द्वै विधि-ताहि बखानि ॥८॥[२]

(ग) कुलपति— बरण एक से फिरे जहाँ, अनुप्रास है सोय।
छेक विदग्धा वृत्ति करि, सो पुनि द्वै विधि-होय ॥७॥[३]

(घ) रसिकसुमति—अछर ही समता मिलै अनुप्रास है सोइ ॥[४]

(ङ) रसरूप— जहाँ समता आछरन की अनुप्रास ताहि नाम।
छेकवृत्ति लाटासहित तीन भेद गुन धाम ॥[५]

(च) रसिकगोविन्द—बर्नंनि की समता सो अनुप्रास।[६]

(छ) गिरिधरदास—स्वर बिन व्यंजन बरनि की तहं समता दरसाइ।
स्वर संयुक्तहुं कहहिं तेहि अनुप्रास कविराइ ॥[७]

(ज) अमीरदास—बरनन की समता जहं अनुप्रास कहि ताहि।[८]

(झ) निहाल बरनन की समता बहुत आवै फिरि फिरि जाहि।
पड़त स्वादल कर्णं रस अनुप्रास कहि ताहि ॥१५॥[९]

---

१. काव्यप्रकाशः—मम्मट, पृष्ठ ४०४
२. कविकुलकल्पतरु—चिन्तामणि, पृष्ठ २२
३. रसरहस्य—कुलपति, पृष्ठ ५४
४. अलंकार-चन्द्रोदय—रसिक सुमति, पृष्ठ ७
५. तुलसी-भूषण—रसरूप, पृष्ठ १
६. रसिकगोविन्द-आनंदघन—रसिकगोविंद, पृष्ठ १०
७. भारती-भूषण—गिरिधरदास, पृष्ठ ३५६
८. श्रीकृष्ण-साहित्यसिंधु—अमीरदास, पृष्ठ ५
९. साहित्य-शिरोमणि—निहाल, पृष्ठ २

(क) कवि दास—अच्छरन की समता जहाँ होय तहाँ अनुप्रास है यह मुक्ख लच्छन है।[1]

ऊपर दिये इन लक्षणों में चिन्तामणि ने आचार्य मम्मट के लक्षण का अविकल अनुवाद स्पष्टतः किया है। कुलपति के अनुवाद में छेक तथा विदग्ध शब्द पुनरावृत्ति में आ गया है जो अनुवाद अथवा प्रभाव की दृष्टि से भी दोष ही है। कुलपति के अनुप्रास-लक्षण पर आचार्य भामह के अनुप्रास-लक्षण की छाया भी स्पष्ट है। (यद्यपि कुलपति ने अपने लक्षण मम्मट से प्रभावित माने हैं) भामह का अनुप्रास-लक्षण है कि सरूप वर्णविन्यास को अनुप्रास कहते हैं।[2] इसी तरह कुलपति ने भी 'वर्ण एक से फिरे जहां', का विन्यास अपने लक्षण में किया है। छेक का ही पर्याय विदग्ध है। रसिकसुमति ने मम्मट के अनुप्रास-लक्षण का अविकल अनुवाद किया है, जिसमें किंचित् मात्र भी अस्पष्टता नहीं है। भेद-भाग का अनुवाद उन्होंने किया ही नहीं है। रसरूप ने अनुप्रास-भेदों में लाट को भी गिन लिया है, जो कि शुद्ध अनुवाद की अपेक्षा मम्मट के लक्षण का भाव लेकर स्वतः स्वतन्त्रताप्रसूत लक्षण मानना चाहिए। गिरधरदास के लक्षण पर आचार्य विश्वनाथ का प्रभाव है। विश्वनाथ के अनुप्रास-लक्षण में स्वर की बिषमता रहने पर भी शब्द अर्थात् पद, पदांश के साम्य को अनुप्रास माना गया है।[3] गिरधरदास ने भी विश्वनाथ के अनुप्रास-लक्षण का अध्ययन करके स्वशब्दों में लक्षण लिखा है, परन्तु उसे 'स्वर बिन' तथा 'स्वर संयुक्त' व्यंजन पद रखने पर विवश होना पड़ा है। विश्वनाथ के लक्षण का पूर्ण भाव पहली पंक्ति में आ सकने के कारण पुनः 'स्वर संयुक्त व्यंजन' कहना पड़ा, नहीं तो पहली पंक्ति से तो 'स्वर-बिना व्यंजन' अर्थ हो जाता, इसमें तो सभी हल् व्यंजनों की समता अर्थ निकल जाता, तब हल् या अर्ध उच्चारित व्यंजनों से अनुप्रास क्या बनता? इसलिए गिरधरदास जी को लक्षण की स्पष्टता के लिए दो बार प्रयास करना पड़ा, तब कहीं जाकर लक्षण स्पष्ट हुआ। अतः इस लक्षण को बिश्वनाथ से छाया-प्रभावित ही माना जा सकता है, इसे शुद्ध अनुवाद नहीं कहा जा सकता।

आचार्य रसिकगोविन्द, अमीरदास, निहालकवि तथा कवि दास के लक्षण मम्मट के अनुप्रास-लक्षण के सफल अनुवाद हैं। निहाल कवि ने 'पड़त स्वादल कर्ण-रस' कहकर अपनी कुशल मति का परिचय दिया है। संभवतः उन्होंने 'रसाद्यनुगतः प्रकृष्टो न्यासोऽनुप्रासः' अर्थात् रसादि के अनुगत (अनुकूल) वर्णों के प्रकृष्ट न्यास (सन्निवेश) को अनुप्रास कहते हैं—मम्मट की इस उक्ति का सुन्दर भावानुवाद कर दिया है।' 'स्वादल कर्ण-रस' कथन, लक्षण में चमत्कार ला देता है।

---

१. अलंकार-माला, कवि दास पृष्ठ ७२

२. सरूपवर्णविन्यासं अनुप्रासं प्रचक्षते ॥२-५॥

काव्यालंकारः—भामह, पृष्ठ ८

३. अनुप्रासः शब्दसाम्यं वैषम्येऽपि स्वरस्य यत्।

साहित्य-दर्पणः—विश्वनाथ, पृष्ठ २७५

इस विवेचन से यह तथ्य निर्णीत माना जा सकता है कि आचार्य मम्मट का अनुप्रास-लक्षण ही रीतिकाल के आचार्यों के सम्मुख रहा और उसके सफल अनुवादकों में चिन्तामणि, रसिकसुमति, रसिकगोविन्द, अमीरदास, निहाल कवि तथा कवि दास हुए। शेष ने भाव ग्रहण किया या छायानुवाद किए।

आचार्य देव ने अनुप्रास को 'रसपूर' मानकर अपना लक्षण लिखा है। इसके लक्षण पर दण्डी का प्रभाव है। देव ने दण्डी की छाया पर ही अपना लक्षण बनाया है। दोनों लक्षण द्रष्टव्य हैं—

(क) दण्डी—वर्णावृत्तिरनुप्रासः पादे च पदेषु च।
पूर्वानुभवसंस्कारबोधिनी यद्यदूरता ॥१-५५॥[1]

(ख) देव—पर पूर्व पद, एक ते, आवै अर्थ अदूर।
अक्षर लपटे संगलौं, अनुप्रास रस पूर ॥[2]

देव ने लक्षण में पाद की अपेक्षा पद को गृहीत किया है। 'रसपूर' होने की बात अपनी ओर से जोड़ दी है। इससे लक्षण दण्डी-भावापन्न होते हुए भी स्वतन्त्र मति-प्रयोग का परिचायक बन गया है।

छेकानुप्रास

छेकानुप्रास का लक्षण चिन्तामणि से लेकर दास कवि तक अनेक आचार्यों ने लिखा है। उद्भट, मम्मट तथा विश्वनाथ के लक्षणों का प्रभाव ही प्रमुखता से इनके छेकानुप्रास-लक्षणों पर दृष्टिगत होता है।

(क) उद्भट—छेकानुप्रासस्तु द्वयोर्द्वयोः सुसदृशोक्तिकृतो।
अर्थात् दो-दो शब्दों में वर्णों की आवृत्ति ही छेकानुप्रास है।

(ख) मम्मट—सोऽनेकस्य सकृत्पूर्वः।
(अनेकस्य अर्थात् व्यंजनस्य सकृदेकवारं सादृश्यं छेकानुप्रासः अर्थात् अनेक व्यंजनों का—एक बार सादृश्य छेकानुप्रास है।)[3]

(क) विश्वनाथ—छेको व्यंजनसंघस्य सकृतसाम्यमनेकधा ॥३॥
(व्यंजनों के समुदाय की एक ही बार अनेक प्रकार की समानता होने को छेकानुप्रास कहते हैं—यह समानता स्वरूप और क्रम से भी होनी चाहिए।)

(ख) विद्यानाथ—भवेदव्यवधानेन द्वयोर्व्यंजनयुग्मयोः
आवृत्तिर्यत्र स बुधैश्छेकानुप्रास इष्यते ॥[4]

---

१. काव्यादर्शः—दण्डी, पृष्ठ २८
२. शब्द-रसायन—देव, पृष्ठ ८५
३. (क) काव्यालंकारसंग्रहः—उद्भट, पृष्ठ ४
(ख) काव्यप्रकाशः—मम्मट, पृष्ठ ४०४
४. (क) साहित्यदर्पणः—विश्वनाथ, पृष्ठ २७४
(ख) प्रतापरुद्रीययशोभूषणम्—विद्यानाथ, पृष्ठ २४७

(दो व्यंजनयुग्मों की अव्यवधान से आवृत्ति को विद्वान् छेकानुप्रास कहते हैं।)

हिन्दी के काव्य-शास्त्रियों में चिन्तामणि, कुलपति, कुमारमणि तथा ग्वाल के लक्षणों पर आचार्य मम्मट का सीधा प्रभाव है। इनके लक्षण निम्नलिखित हैं—

(क) चिन्तामणि—ललिते हैं आखरन की बारक समता होइ।
चिन्तामणि कवि कहत यों छेक कहावै सोइ ॥६॥

(ख) कुलपति— बहुत बरण इक बार जहाँ फिरै विदग्धा होय।

(ग) कुमारमणि—व्यंजन तुल्य अनेक जहाँ एकै बार निहार।
छेकनको प्रिय 'छेक' यह अनुप्रास निर्धार ॥२॥

(घ) ग्वाल— बरन अनेकन की सु जहिं समता हो इक बेर।
सो छेकानुप्रास है, नीके चित दै हेर ॥१६॥[1]

इन तीनों लक्षणों में से चिन्तामणि का अनुवाद शुद्ध एवं पूर्ण है। इस आचार्य ने मम्मट के शब्दों से अधिक अपनी ओर से कुछ भी नहीं जोड़ा, न ही कुलपति ने जोड़ा, परन्तु उसने 'विदग्ध' शब्द छेक के लिए रख दिया। निश्चित रूप से अपना कौशल दर्शाने के लिए ऐसा किया। कुमारमणि शास्त्री ने मम्मट की कारिका की वृत्ति का अनुवाद अपने छेकानुप्रास-लक्षण में किया है। अनुवाद शब्दशः न होकर भावशः हुआ है। आचार्य ग्वाल का अनुवाद मम्मट के लक्षण का भावशः है न कि अक्षरशः, परन्तु इन सब लक्षणों में अस्पष्टता नहीं है।

आचार्य जसवन्तसिंह का लक्षण आचार्य उद्भट के लक्षण का छायानुवाद है परन्तु लक्षण का उत्तरार्ध भाग जसवन्तसिंह का अपना है। इनका लक्षण द्रष्टव्य है—

जसवंतसिंह—आवृत्ति बर्न अनेक की, दोय-दोय जब होय।
है छेकानुप्रास, स्वर समता बिनहु-सोय ॥ १६८ ॥[2]

भाषाभूषण के ऊपर दिये छेकानुप्रास-लक्षण की छाया में याकूब खाँ तथा उमेदराय ने अपने लक्षण लिखे हैं। याकूब खाँ ने लक्षण में दो-दो शब्दों में अनेक वर्णावृत्ति का भाग त्याग कर केवल संक्षिप्त लक्षण दे दिया है, जिससे लक्षण में अस्पष्टता आ गई है, परन्तु उमेदराय ने अपने लक्षण में केवल शब्द-परिवर्तन मात्र किया है, भाव 'भाषा-भूषण' का ही रखा है। दोनों लक्षण पठनीय हैं—

(क) याकूब खाँ—सो छेकानुप्रास, द्वै द्वै अक्षर वृत्ति जहाँ।

(ख) उमेदराय—आवृत्ति बर्न अन्नेक कीसु।
ह्वै दोय दोय जामें कबीसु ॥[3]

---

१. (क) कविकुलकल्पतरु—चिन्तामणि, पृष्ठ २४
(ख) रसरहस्य—कुलपति, पृष्ठ ५४
(ग) रसिकरसाल—कुमारमणि शास्त्री, पृष्ठ १
(घ) अलंकारभ्रम-भंजन—ग्वाल, पृष्ठ ११

२. भाषाभूषण—जसवंतसिंह, पृष्ठ १०३

३ (क) रसभूषण—याकूब खाँ, पृष्ठ ४७
(ख) वाणीभूषण—उमेदराय, पृष्ठ ४७

आचार्य सोमनाथ तथा गिरिधरदास के छेकानुप्रास के लक्षण साहित्य-दर्पणकार से लिए गए हैं। विश्वनाथकृत-लक्षण तथा आचार्यद्वय के लक्षण निम्न-लिखित हैं —

(क) विश्वनाथ—छेको व्यंजनसंघस्य सकृतसाम्यमनेकधा ॥

(ख) सोमनाथ—इकबार हीं फिरै जहं घने बरन समुदाइ

(ग) गिरिधरदास—समता बहु व्यंजन की क्रम सौं जहं इक बार।
तहं छेकानुप्रास है सुनिए कबि सरदार॥ ३५८॥[1]

सोमनाथ के लक्षण में विश्वनाथकृत-लक्षण का पूर्ण अनुवाद नहीं हुआ, अपितु उसने इच्छानुसार 'व्यंजन संघस्य सकृत्' का अनुवाद कर लिया, अनेकधा को त्याग दिया, इसी प्रकार गिरिधरदास ने किया परन्तु इन्होंने विश्वनाथ की लक्षणवृत्ति में से क्रम पद ले लिया।[2] शेष लक्षण यथावत् अनुवाद करने का प्रयास किया है, तब भी लक्षण भावानुवाद मात्र बना है।

रीतिकाल में गोप ने व्यवधानपूर्वक छेकानुप्रास का लक्षण प्रचलित किया। आचार्य विद्यानाथ ने दो व्यंजन युग्मों की अव्यवधानपूर्वक अनुप्रास को व्यंजन माना था, परन्तु गोप ने व्यवधानपूर्वक ही मान लिया और लक्षण कर दिया कि—

गोप—अनुप्रास फिरि बीच पद अनुप्रास फिरि होय।
सो छेकानुप्रास है, कहत सबै कवि लोय। २२३॥[3]

व्यवधानपूर्वक पदवृत्ति वाला लक्षण भावी लेखकों ने भी अपनाया, जिनमें आचार्य रसिकगोविंद, ब्रह्मदत्त तथा कवि दास (अलंकारमाला-लेखक) का नाम उल्लेखनीय है। इनके लक्षण निम्नलिखित हैं—

(क) रसिकगोविन्द—अनेक वर्णों की समता असंनिधि जामें सो छेकानुप्रास।

(ख) ब्रह्मदत्त—बीच राखि पद परत सम तहं छेकानुप्रास।
गरद दिखाति न शरद ऋतु वरद मयंक प्रकास॥३६॥

(ग) कवि दास—जहाँ बीच पद दे के अच्छरन की समता आवै, तहां छेकानुप्रास।[4]

भूषण के छेकानुप्रास के लक्षण का आधार वाग्भट का लक्षण है। दोनों (छेकानुप्रास तथा लाटानुप्रास) अनुप्रासों का लक्षण आचार्यद्वय ने एक ही पद में किया है।

---

१ (क) साहित्यदर्पण:—विश्वनाथ, पृष्ठ २७५
(ख) रसपीयूषनिधि—सोमनाथ, पृष्ठ १४३
(ख) भारतीभूषण—गिरिधरदास, पृष्ठ ३४

२. अनेकधेति स्वरूपत: क्रमतश्च।
साहित्यदर्पण:—विश्वनाथ, पृष्ठ २७५

३. रामचन्द्राभरण—गोप, पृष्ठ २४

४. (क) रसिकगोविन्द-आनन्दघन—रसिकगोविन्द, पृष्ठ ५
(ख) दीपप्रकाश—ब्रह्मदत्त, पृष्ठ १७
(ग) अलंकारमाला—कवि दास, पृष्ठ ७३

(क) वाग्भट—तुल्यश्रुत्यक्षरावृत्तिरनुप्रासः स्फुरद्गुणः ।
अतत्पदः स्याच्छेकानां लाटानां तत्पदश्च सः ॥४-१७॥

(ख) भूषण—स्वर समेत अच्छर पदनि, आवत सदृश प्रकास ।
भिन्न अभिन्न पदन सों छेक लाट अनुप्रास ॥३५५ ॥[1]

भूषण ने वाग्भट के अतत्पद का अनुवाद भिन्न पद और तत्पद का अभिन्न पद कर दिया है। तुल्यश्रुत को सादृश्य-प्रकाश में परिवर्तित कर भावानुवाद कर लिया है, तथापि भावानुवाद पूर्णतया नहीं हुआ। खींचतान अधिक है।

आचार्य भिखारीदास का छेकानुप्रास-लक्षण आचार्य विश्वनाथ से प्रभावित हो कर भी स्वतंत्र है। उनकी प्रतिज्ञा थी कि प्राचीन तथा नवीन को मिश्रित कर अपनी बात कहनी है, यह इसी बात का संकेत देता है कि उन्होंने अध्ययन पुरःसर अपनी बौद्धिकता के बल पर लक्षण लिखे हैं।[2] दास-कृत लक्षण यह है—

भिखारीदास—बरन बौहौत के एक की, आवृत्ति एकै बार ।
सो 'छेकानुप्रास' है, आदि अन्त इक बार ॥[3]

विश्वनाथ के व्यंजन-संघ की आवृत्ति की चर्चा इस लक्षण में है। वहां अनेकधावद् पद स्वरूपतः तथा क्रमतः के अर्थ में आया है, यहाँ अन्तिम चरण में स्वर-साम्य और स्वरवैषम्य का कथन है। इसलिए भिखारीदास का लक्षण स्वतन्त्र मति का परिचायक मानना ही उचित है।

लाटानुप्रास

लाटानुप्रास का लक्षण चिन्तामणि से लेकर कवि दास तक अनेक आचार्यों ने लिखा है। इनके लक्षणों के आधार 'काव्यप्रकाश' तथा 'साहित्यदर्पण' ग्रन्थ हैं। इन दोनों संस्कृत-ग्रन्थों के लक्षण निम्नलिखित हैं—

(क) मम्मट—शब्दस्तु लाटानुप्रासो भेदे तात्पर्यमात्रतः ॥८१॥
एष पदानुप्रास इत्यन्ये पदानां सः, पदस्यापि ।

(ख) विश्वनाथ—शब्दार्थयोः पौनरुक्त्यं भेदे तात्पर्यमात्रतः, लाटानुप्रास इत्युक्तः ॥[4]

रीतिकाल के काव्य-शास्त्र के आचार्यों में चिन्तामणि, कुलपति, कुमारमणि, रसिकसुमति, सोमनाथ, भिखारीदास, उमेदराय, निहाल, ग्वाल और दास कवि पर आचार्य मम्मटकृत-लक्षण अपना प्रभाव रखता है। इनके लक्षण दर्शनीय हैं—

(क) चिन्तामणि—तात्पर्य के भेद तें दीन्हों जो पद देइ ।
सो लाटानुप्रास है समझ सज्जनै लेइ ॥१९॥

---

१. (क) वाग्भटालंकार—वाग्भट, पृष्ठ ८४
(ख) शिव (राज) भूषण—भूषण, पृष्ठ २०७
२. काव्यनिर्णय—भिखारीदास, पृष्ठ ३
३. काव्यनिर्णय—भिखारीदास, पृष्ठ ५४३
४. (क) काव्यप्रकाशः—मम्मट, पृष्ठ ४०७
(ख) साहित्यदर्पणः—विश्वनाथ, पृष्ठ २७७

(ख) कुलपति—फिरैं अर्थपद जुत जहां, अर्थभेद नहीं होय।
सो लाटानुप्रास पुनि, भाव भेद ते होय ॥१३॥
एक शब्द बहु शब्द को, एक रु भिन्न समास
बरने वचन समास हुं, पांच भांति सु प्रकाश ॥१४॥

(ग) कुमारमणि—तात्पर्य के भेद ही, अर्थ एक ही ल्याइ।
फेरि शब्द कहिये वहै, 'प्रास' 'लाट' कहि जाइ।

(घ) रसिक सुमति—शब्द अर्थ न फिरैं, फिरैं भाव सु लाटा जानि।
मृदुबोलनि अतिमृदु हंसनि मृदुसब अंग मृदुबानि ॥१८४॥

(ङ) सोमनाथ—वही होय पद अर्थ वह, भाव जहं फिरि जाइ।
सो लाटानुप्रास है, रसिकनि को सुषदाइ ॥२१॥

(च) भिखारीदास—एक सबद बहु बार जहां, सो लाटानुप्रास।
तातपर्ज ते होत है, औरै अर्थ प्रकास ॥

(छ) उमेदराय—पद की आवृत्ति जा मांहि होय।
बिन शब्द अर्थ के भेद सोय॥
अरु भिन्न भाव कछु इक लखाहि।
लाटानुप्रास कवि कहत ताहि ॥१८७॥

(ज) निहाल—अर्थ सहित जो पद फिरैं, भाव भिन्न ह्वै जाय।
अनुप्रास लाटा कहैं तासों सब कवि राय ॥२०॥

(झ) ग्वाल—अक्षरार्थं वहई रहे चरन दुबेर प्रकाश।
इक पद भावारश फिरे सो लाटानुप्रास ॥२८॥

(ञ) कवि दास—अथ लाटानुप्रासः जहां वही अर्थ के सहित वही पद फिरे, कछुक भिन्न भाव होय।[1]

इन में चिन्तामणि ने मम्मटकृत लक्षण का भावानुवाद किया है,शब्दशः नहीं। शब्दगतोऽनुप्रासः (शब्दः) को 'जो पद देइ' में अपनी कुशलता से रूपान्तरित कर लिया है। लक्षण में अस्पष्टता नहीं आने दी। कुलपति मिश्र ने मम्मटकृत लक्षण-वृत्ति

---

१. (क) कविकुलकल्पतरु—चिन्तामणि, पृष्ठ २७
(ख) रसरहस्य—कुलपति, पृष्ठ ५५
(ग) रसिकरसाल—कुमारमणि, पृष्ठ ४३
(घ) अलंकारचन्द्रोदय—रसिकसुमति, पृष्ठ ७
(ङ) रसपीयूषनिधि—सोमनाथ, पृष्ठ १४३
(च) काव्यनिर्णय—भिखारीदास, पृष्ठ ५४८
(छ) वाणीभूषण—उमेदराय, पृष्ठ ३२
(ज) साहित्यशिरोमणि—निहाल, पृष्ठ ३२
(झ) अलंकार-भ्रमभंजन—ग्वाल, पृष्ठ १२
(ञ) अलंकारमाला—कवि दास, पृष्ठ ७४

को अपने लक्षण में बांधा है। इसका कारण हिन्दी की दोहागत प्रकृति है। इसमें कुलपति को सुविधा भी रही है। मम्मट की वृत्ति का यह भाग कुलपति के लक्षण से समानता रखता है—

(क) शब्दार्थयोरभेदेऽप्यन्वयमात्रभेदात्।
(ख) एकस्मिन् समासे, भिन्ने वा समासे, समासासमासयोर्वा, नाम्नः प्रातिपदिकस्य न तु पदस्य सारूप्यम्॥[1]

अर्थात् (क) शब्द और अर्थ का अभेद होने पर भी अन्वय-मात्र के भेद से। (ख) एक समास में अथवा भिन्न समासों में अथवा समास और असमास में नाम अर्थात् प्रातिपदिक की, (पद की नहीं) आवृत्ति पर भी लाटानुप्रास होता है।

आचार्य कुलपति का लक्षण मम्मट-कृत लक्षण के सम्पूर्ण भाव को समेटने एवं व्यक्त करने में समर्थ हुआ है। कुमारमणि-कृत लक्षण सफल एवं स्वच्छ अनुवाद है। चाहे दोहा छन्द की प्रकृति के कारण शब्दों में आगे पीछे निहित है, तथापि लक्षण अस्पष्ट नहीं रहा है। रसिकसुमति ने भी मम्मट-कृत कारिका-वृत्ति के प्रथम भाग को समासतः बांधा है। लक्षण में कहीं अशुद्धि नहीं। उदाहरण में मृदु शब्द का प्रयोग भी कितनी मृदुता से अपना भाव प्रकट करता है। यह पढ़ते ही बनता है। सोमनाथ का लक्षण भी मम्मट-कृत कारिका-भाग का ही अनुवाद है। भिखारीदास ने आचार्य मम्मट के कारिका-वृत्ति भाग का ही छायानुवाद किया है। लक्षण में भाव की संरक्षा हो गई है और अस्पष्टता भी नहीं है, उमेदराय ने भी वृत्तिभाग को अपने लक्षण में बांधा है। कवि निहाल का लक्षण भी स्पष्ट अनुवाद है, कहीं शिथिलता नहीं है।

ग्वाल ने मम्मटकृत लक्षण का प्रभाव ग्रहण करके भी अपनी स्वतन्त्र मति का परिचय दिया है और एक चरण की आवृत्ति को लाटानुप्रास के लिए भावार्थ भिन्न होने में आवश्यक माना है। शब्दावृत्ति तात्पर्य-भेद से नहीं मानी। 'चरन दुबेर प्रकास' पर ग्वाल का आग्रह है। कवि दास ने 'अलंकारमाला' में निहाल के लक्षण को गद्यबद्ध कर दिया है, जो परम्परागत मम्मट-कृत लक्षण से प्रभावित है।

कवि निहाल तथा कवि दास के लक्षण में 'फिरे' शब्द से आचार्य विश्वनाथ के 'शब्दार्थयोः पौनरुक्त्यं' शब्दार्थ की पुनरुक्ति की छाया मिलती है। परन्तु वहां 'फिरे' शब्द भिन्न भाव से सम्बद्ध है। स्वयं विश्वनाथ का लक्षण भी मम्मट से प्रभावित है, इसलिए विश्वनाथ की आंशिक छाया स्वीकार करने में भी आपत्ति नहीं है।

गिरिधरदास का लक्षण शब्दशः विश्वनाथ के लक्षण का अनुवाद है। अनुवाद में अपूर्णता या हीनता नहीं है। लक्षण में संस्कृत लक्षणवत् स्पष्टता विद्यमान है—

गिरिधरदास-—शब्द अर्थ इन दुहुन की जहं पुनरुक्ति प्रकास।
तातपरज जहं भेद कछु, तहं लाटानुप्रास॥३७०॥[2]

---

१. (क) और (ख) काव्यप्रकाशः—मम्मट, पृष्ठ ४०७-४०८
२. भारती-भूषण—गिरिधरदास, पृष्ठ ३५

भूषण का लक्षण वाग्भट का अनुवाद है। यह छेकानुप्रास के प्रसंग में संयोगतः कहा जा चुका है। गोप तथा ब्रह्मदत्त के लक्षण विचारणीय हैं—

(क) गोप—एक अर्थ की सिद्धि जहं सुनिये दूजो बार।
सो लाटानुप्रास कहि भाव भिन्न निरधार ॥२२६॥

(ख) ब्रह्मदत्त—तहं लाटानुप्रास जहं पर्दाहि गहत पद अन्त।
अन्त न लहति वसन्त को जौ नहिं आवत कन्त ॥३८॥[1]

गोप के लक्षण में भिन्न भावनिर्धारण की बात तो है परन्तु दूसरी बार सुनने पर एकार्थ की सिद्धि की चर्चा में गोप अवश्य अस्पष्ट रह गये हैं। इनका भाव क्लिष्टता से अवगत होता है। दूसरी बार सुनने पर भी जहाँ एकार्थ की सिद्धि अर्थात् प्राप्ति हो—इसका भी अर्थ करना होगा कि शब्द या पदावृत्ति होने में अंतर न आए, परन्तु भाव निश्चित रूप से भिन्न हो जाए। इतना विचारने पर ही लक्षणार्थ भी समझ में आ सकता है। यह पढ़ते ही स्पष्ट नहीं होता। इस कारण गोप के लक्षण में अक्षमता और अस्पष्टता है। दीपप्रकाशकार ब्रह्मदत्त का लक्षण सर्वथा असंगत है। लाटानुप्रास में चरणावृत्ति या शब्दावृत्ति तो रहती है, परन्तु तात्पर्य का अन्तर आने पर ही लाटानुप्रास की शोभा है। इस लक्षण के अनुसार लाटानुप्रास नहीं बनता, न ही यह लक्षण उदाहरण में समन्वित होता है। इसलिए लक्षण अस्पष्ट एवं असम्बद्ध है।

आचार्य रसिकगोविन्द ने कुलपति के लक्षण की पहली दो पंक्तियों का गद्यानुवाद करके उन्हीं का उदाहरण सर्वप्रथम दिया है, इसलिए संस्कृत-लक्षण की अपेक्षा कुलपति का ऋण ही रसिकगोविन्द-कृत लक्षण पर है।[2]

वृत्त्यनुप्रास

अनुप्रास के इस भेद का लक्षण चिन्तामणि से लेकर कवि दास तक कई आचार्यों ने लिखा है। आचार्य मम्मट, विद्यानाथ तथा विश्वनाथ के लक्षण इन आचार्यों के वृत्त्यनुप्रास के लक्षणों के आधार रहे हैं। संस्कृत आचार्यों के लक्षणों की कारिकावृत्ति पर बहुधा इनके लक्षण आधृत हैं।

(क) मम्मट—एकस्याप्यसकृत्परः ॥७९॥

(एकस्य) अपि शब्दादनेकस्य व्यंजनस्य द्विबहुकृत्वो वा सादृश्यं वृत्त्यनुप्रासः।

अर्थात् एक वर्ण का भी और अनेक वर्णों का भी अनेक बार आवृत्ति-साम्य होने पर वृत्त्यनुप्रास होता है तथा एक वर्ण को और 'अपि शब्द' से अनेक व्यंजनों का एक बार या अनेक बार सादृश्य वृत्त्यनुप्रास कहलाता है।

(ख) विश्वनाथ—अनेकस्येकधा साम्यमसकृद् वाप्यनेकधा।
एकस्य सकृदप्येष वृत्त्यनुप्रास उच्यते ॥४॥[3]

---

१. (क) रामचन्द्राभरण—गोप, पृष्ठ २४
(ख) दीपप्रकाश—ब्रह्मदत्त, पृष्ठ १८

२. भावभेद ते शब्दार्थ फिरि आवे सो लाटानुप्रास।
रसिकगोविन्द-आनन्दघन—रसिकगोविन्द, पृष्ठ ८

३. (क) काव्यप्रकाशः—मम्मट, पृष्ठ ४०५
(ख) साहित्यदर्पणः—विश्वनाथ, पृष्ठ २७५

(एकधा स्वरूपतः एव, न तु क्रमतोऽपि । अनेकधा स्वरूपतः क्रमतश्च । सकृदपीत्यपि शब्दादसकृदपि) । अर्थात् अनेक व्यंजनों की एक ही प्रकार से समानता होने पर, अथवा अनेक व्यंजनों की अनेक बार आवृत्ति होने पर अथवा अनेक प्रकार से अनेक बार अनेक वर्णों की आवृत्ति होने पर किंवा एक ही वर्ण की एक बार समान आवृत्ति होने पर या एक ही वर्ण की अनेक बार आवृत्ति होने पर वृत्यनुप्रास होता है । एकधा का तात्पर्य केवल स्वरूप से है न कि क्रम से । अनेकधा का तात्पर्य स्वरूप और क्रम से, सकृत् (एकबार) के साथ अपि (भी) शब्द से असकृत् (अनेक बार) का भी बोध है ।

(ग) विद्यानाथ—एकद्विप्रभृतीनां तु व्यंजनानां यथा भवेत् ॥
पुनरुक्तिरसौ नाम वृत्यनुप्रास इष्यते ॥[1]

रीतिकालीन आचार्यों में चिन्तामणि, कुलपति, कुमारमणि, सोमनाथ और भिखारीदास के वृत्यनुप्रास के लक्षणों का आधार आचार्य मम्मट का लक्षण है । इनके लक्षण निम्नलिखित हैं—

(क) चिन्तामणि—एक अनेक अक्षर रचित बार बार सर होइ ।
चिन्तामणि कवि कहत है वृत्य कहावै सोइ ॥११॥

(ख) कुलपति—एक अनेकों बरन बहु फिरे वृत्ति तब होय ।

(ग) कुमारमणि—व्यंजन एक अनेक ता सम जहां बार अनेक ।
वृत्ति नाम को प्राप्त तहं जानौ सुमति विवेक ॥४॥

(घ) सोमनाथ—एको बरन अनेकहु लगां-लगीं जहं होत ।
सो वृत्यनुप्रास है कहत कविनि के गोत ॥३८

(ङ) भिखारीदास—कहुं सरि बर्न, अनेक की, परै अनेकन बार ।
एकै की आवृत्ति बहु, वृत्यो जु प्रकार ॥[2]

इनमें से चिन्तामणि ने मम्मट के लक्षण के वृत्तिभाग को पद्यबद्ध किया है, जोकि पूर्णतया स्पष्ट है । कुलपति ने कारिका-भाग का समस्त रूप भावार्थ से अपने लक्षण में समन्वित कर दिया है । कुमारमणि का लक्षण मम्मट की वृत्ति का सुन्दर एवं स्पष्ट अनुवाद है । लक्षण सरल भी बना है । सोमनाथ का लक्षण मम्मट की वृत्ति से भावानूदित होते हुए भी स्वतन्त्र बन गया है । जब सोमनाथ ने 'कविन के गोत' की साक्षी दे दी, तब किसी एक का लक्षण न रह गया । भिखारीदास ने अवश्य ही मम्मट एवं विश्वनाथ से भावग्रहण करते हुए लक्षण बनाया है ।

इनमें से कलपति का प्रभाव ग्रहण कर रसिकगोविन्द ने गद्यबद्ध लक्षण लिखा है । प्रथम उदाहरण भी कुलपति का ही दिया हुआ है ।

---

१. प्रतापरुद्रीययशोभूषणम्—विद्यानाथ, पृष्ठ २४८
२. (क) कविकुलकल्पतरु—चिन्तामणि, पृष्ठ २५
(ख) रसरहस्य—कुलपति, पृष्ठ ५४
(ग) रसिकरसाल—कुमारमणि, पृष्ठ २
(घ) रसपीयूषनिधि—सोमनाथ, पृष्ठ १४४
(ङ) काव्यनिर्णय—भिखारीदास, पृष्ठ ५४४

रसिक गोविन्द—एक वर्ण की अथवा अनेक की समता सन्निधि होइ जा में, सो वृत्यनुप्रास ।[1]

जसवन्तसिंह का लक्षण स्व-निर्मित है, परन्तु प्राचीनों के लक्षण पढ़कर उन्होंने स्वयं लक्षण-रचना की है। आचार्य उद्भट के लक्षण का छायानुवाद किया गया है। दोनों लक्षण इस प्रकार हैं—

(क) उद्भट—सरूप व्यंजनन्यासं तिसृसु एतासु वृत्तिषु ।
पृथक् पृथक् अनुप्रासं उशन्ति कवयः सदा ॥

(ख) जसवन्तसिंह—प्रति अच्छर आवृत्ति बहु वृत्ति तीनि विधि मानि ।
मधुर बरन जामें सबै, उपनागरिका जानि ॥२०३॥[2]

'जसवंतसिंह' का प्रभाव याकूब खाँ तथा उमेदरायकृत वृत्यनुप्रास-लक्षण में देखा जा सकता-हैं ।

याकूब खाँ—आवे अक्षर एक से, वृत्ति कहत सब कोय ।
सोई कहिये तीन बिध, भाषत है कवि लोय ।[3]

उमेदराय—आवृत्ति प्रति अच्छर बहुत होय ।
वृत्ति तीन भांति समझेहु लोय ।।
मधुर बरन जामें अनन्त ।
सो उपनागरिका, भनत सन्त ।।[4]

गोप, रसिकसुमति तथा कवि दास के लक्षण स्वतन्त्र हैं। यदि शब्द-भेद न माना जाए तो, गोप और कवि दास का लक्षण (गद्यबद्ध) समान सा है, ये लक्षण पठनीय हैं—

(क) गोप—प्रति अक्षर आवृत्ति बहु अनुप्रास की होइ ।
सो वृत्यनुप्रास है बिना बीच पद सोइ ।।

(ख) रसिकसुमति—अक्षर समता में नहीं अन्तर वृत्ति सुजानि ।
लियो मोहि मन मोहिनी मधुर मंद मुसिक्यांनि ॥१८२॥

(ग) कवि दास—जहां पद बीच न परे, तहां वृत्त अनुप्रास ।।[5]

गोप एवं कवि दास की समानता स्पष्ट है। रसिक सुमति ने पद बीच में न पड़ने वाली बात को 'तामें नहीं अन्तर' से कह दिया है। मूलतः गोप के लक्षण से दोनों परवर्तियों का लक्षण मिलता है। गोप का लक्षण अपना है। यद्यपि विद्यानाथ

१. रसिकगोविन्दआनन्दघन—रसिकगोविन्द, पृष्ठ ६
२. (क) काव्यालंकारसंग्रह —उद्भट, पृष्ठ ५
(ख) भाषाभूषण—जसवन्तसिंह, पृष्ठ १०४
३. रसभूषण—याकूब खाँ, पृष्ठ ४२
४. वाणीभूषण—उमेदराय, पृष्ठ ३९
५. (क) रामचन्द्राभरण—गोप, पृष्ठ २४
(ख) अलंकारचन्द्रोदय—रसिकसुमति, पृष्ठ-७
(ग) अलंकारमाला—कवि दास, पृष्ठ ७३

के लक्षण की टीका में कुमार स्वामी ने लिखा है—कि व्यवधान या अव्यवधान से आवृत्ति देखी जा सकती है। अर्थात् पदों का व्यवधान हो भी सकता है, नहीं भी।[1] सर्वथा सम्भव है कि गोप ने इस टीका का ज्ञान प्राप्त किया हो। निहाल कवि ने भी ऐसे ही भाव से लक्षण लिखा है। मम्मट का प्रभाव मानते हुए भी निहाल कवि ने वृत्त्यनुप्रास के लक्षण में स्वतन्त्रता दर्शायी है—

निहाल—समता बहुते बरन की होय समीप समीप।
अनुप्रास वृत्त्या कहें सब कवि कर रस प्रीत ॥१८॥[2]

उक्त लक्षण में 'कविकर रस प्रीत' की बात विश्वनाथ से ली गई है। आचार्य विश्वनाथ ने—'रसविषयव्यापारवती वर्णरचना वृतिः' अर्थात् रस-विषयक अनुकूल व्यापार से युक्त रचना को वृत्ति कहते हैं, ऐसा माना है। विश्वनाथ-कृत लक्षण से ही गिरिधरदास और ग्वाल ने लक्षण बनाए हैं। दोनों लक्षण इस प्रकार हैं—

(क) गिरिधरदास—समता बहु व्यंजनन की जहं बिनु क्रम इक बारु।
कै क्रम सों बहुबार तहं वृत्ति अलंकृति चारु ॥३६०॥
एकहु व्यंजन की जहां समता करति निवास।
एक बार बहु बार करि, तहाँ वृत्त्यनुप्रास ।३६१॥

(ख) ग्वाल—इक या बहुतसु बरन को बहुबिरियां समताहि।
सो वृत्त्यानुप्रास है, बरनत सुकवि सराहि ॥२१॥[3]

दोनों में से गिरिधरदास का लक्षण सुन्दर भावानुवाद है। यद्यपि विश्वनाथ-कृत लक्षण की वृत्ति का प्रयोग अधिक किया गया है, मूल लक्षण का अत्यल्प मात्रा में ग्रहण है।

ब्रह्मदत्त कवि का लक्षण विचित्र है, लाटानुप्रास की भांति इस अनुप्रास का लक्षण भी सर्वथा भिन्न है। एक वर्ण या अनेक वर्ण की आवृत्ति की अपेक्षा ब्रह्मदत्त ने वर्ण की बराबर आवृत्ति को वृत्त्यनुप्रास के लिए आवश्यक माना है। लक्षण दर्शनीय है—

ब्रह्मदत्त—तहां वृत्त्यानुप्रास जहं बर्ण बराबर देत।
शारद बारद, पारदौ, नारद सो यस लेत ॥३७॥[4]

'रद' गत दो वर्णों की आवृत्ति ही यहाँ वृत्त्यनुप्रास-बोधक है। राय शिवप्रसाद-कृत लक्षण में एक अक्षर की बहुत जगह आवृत्ति को ही वृत्त्यनुप्रास माना गया है। लक्षण आंशिक है, पूर्ण नहीं है। लक्षण यह है—

१. प्रतापरुद्रीय-यशोभूषणम्—विद्यानाथ, पृष्ठ २४८, टीका भाग, पंक्ति-१०
२. साहित्यशिरोमणि—निहाल, पृष्ठ २
३. (क) भारतीभूषण—गिरिधरदास, पृष्ठ ३४
(ख) अलंकारभ्रमभंजन—ग्वाल, पृष्ठ ११
४. दीपप्रकाश—ब्रह्मदत्त, पृष्ठ १८

राय शिवप्रसाद—अक्षर एक जु बहुत ठां वृत्त कहियतु सोइ ।
अनुप्रास में है जु यह, समझ लेउ कवि लोइ ।।४६२।।[1]

वृत्यनुप्रास के लक्षण-विवेचन से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि अनुवादकों ने बहुधा स्वतन्त्र मति से काम लिया है । मूल लक्षण या वृत्तिभाग का भावानुवाद बहुश: किया गया है । लक्षण-लेखकों में 'दीपप्रकाश' के लेखक ब्रह्मदत्त सर्वथा अलग खड़े हैं ।

वृत्यनुप्रास के उपनागर, परुषा तथा कोमला नामक भेदों का लक्षण-विवेचन भी भाषा-काव्य-शास्त्र में किया गया है । यह विवेचन उद्भट तथा मम्मट से[2] प्रभावित है । चिन्तामणि, जसवन्तसिंह तथा भिखारीदासकृत लक्षण निम्नलिखित हैं—

(क) चिन्तामणि—माधुर्यविंजक बरन उपनागरिका होइ ।
मिलि प्रसाद पुनि कोमला, परुषा ओज समोइ ।।१३।।

(ख) जसवन्तसिंह—मधुर बरन जा में सबै,उपनागरिका जानि ।
दूजौ परुषा कहत सब, जामें बहुत समासु ।
बिन समास बिनु मधुरता, कहै कोमला तासु ।।२०४।।

(ग) भिखारीदास—मिलै बर्न माधुर्ज के उपनागरिका वृत्ति ।
परुषा ओज प्रसाद के, मिले कोमिलावृत्ति ।।[3]

इन तीनों लक्षणों पर मम्मट के माधुर्यव्यंजक वर्णों से उपनागरिका, ओज प्रकाशकों से परुषा तथा शेष से कोमला वृत्ति वाले लक्षण का प्रभाव है । चिन्तामणि ने कोमला के लिए प्रसाद गुण की अन्विति स्वयं कर ली है । जसवन्तसिंह के लक्षणों पर समस्त तथा असमस्त पदों से युक्त परुषा और कोमला की संस्कृत-काव्य-शास्त्र में बहुचर्चित वृत्तियों का प्रभाव है । याकूब खाँ तथा राय शिवप्रसाद ने इन वृतियों का नाममात्र लिया है । लक्षण नहीं दिये । अन्त्यानुप्रास तथा श्रुत्यनुप्रास, का लक्षण भाषा-काव्यशास्त्र में गिरिधर तथा कवि दास ने लिखा है। दोनों पर विश्वनाथ के लक्षणों का प्रभाव है । दोनों लक्षण द्रष्टव्य हैं—

(क) विश्वनाथ—(श्रुत्यनुप्रास) उच्चार्यत्वाद् यदेकत्रस्थाने तालुरदादिके ।
सादृश्यं व्यंजनस्यैव श्रुत्यनुप्रास उच्यते ।।५।।

---

१. रसभूषण—राय शिवप्रसाद, पृष्ठ ५७
२. (क) काव्यालंकारसंग्रह:—उद्भट, पृष्ठ ६-७
(ख) माधुर्यव्यंजकैर्वर्णैरुपनागरिकोच्यते । ओज: प्रकाशकैस्तस्तु परुषा कोमला परै:।
काव्यप्रकाश:—मम्मट, पृष्ठ ४०६
३. (क) कविकुलकल्पतरु—चिन्तामणि, पृष्ठ २५
(ख) भाषाभूषण—जसवंतसिंह, पृष्ठ १०४
(ग) काव्यनिर्णय—भिखारीदास, पृष्ठ ५४६

(तालु, कंठ, मूर्धा, दन्त आदि किसी एक स्थान से उच्चारित होने वाले व्यंजनों की (स्वरों की नहीं) समता को श्रुत्यनुप्रास कहते हैं।)

(अ) गिरिधर—तालुरादिस्थान कृत व्यंजन को उच्चार।
जहँ सादृश्य अनुप्रास श्रुति बरनिये करि निरधार ॥३६६॥

(आ) कवि दास—जहां एक वर्ग को वर्ण होय तहाँ स्रुत अनुप्रास।[1]

(ख) विश्वनाथ (अन्त्यानुप्रास)—

व्यंजनं चेद् यथावस्थं सहाद्येन स्वरेण तु।
आवर्त्यतेऽन्त्ययोज्यत्वादन्त्यानुप्रास एव तत् ॥६॥

(अ) गिरिधर कवि—आदि स्वर संजुत जहाँ व्यंजन आवृत होइ।
सो अन्त्यानुप्रास है कहियतु कांतहि जोइ ॥३६८॥

(आ) कवि दास—जहां तुक के अन्त में अनुप्रास निकले। स्वर अनुसार अच्छर जैसे के तैसे ही रहें, सर्व छन्द के अन्त में अनुप्रास होता है।[2]

आचार्य भिखारीदास ने 'तुक' का विवेचन किया है। संस्कृत-काव्यशास्त्र में यही अंत्यानुप्रास है। आचार्य दास ने 'तुक' के संबन्ध में अपने मौलिक विचार प्रस्तुत किए हैं।[3] तुक के उत्तम, मध्यम तथा अधम तीन भेद माने हैं। समसरि, विषमसरि, कष्टसरि (उत्तम तुक-भेद), असंयोग मिलित, दुरमिलित (मध्यम तुक-भेद) तथा अमिल-सुमिल (अधम तुक-भेद) का निरूपण आचार्य दास ने किया है। वीप्सा और यमक अलंकार में तुक का महत्त्व भी बताया गया है। लाटिया तुक का उदाहरण—

तो बिन बिहारी में निहारी गति और ही मैं,
बौर ही के नन्दन समेंटति फिरत है।
दारिम के फूलन में 'दास' दारचौ दाने भरी,
चूमि मधुरानन लपेटति फिरत है।
खंजन चकोरन परेबा पिक मोरन,
मराल सुक भौंरन समेटति फिरत है।
कासमीर हारन को, सोनजुही भारन को,
चंपक की डारन को भेंटति फिरत है॥

अस्य तिलक

इहाँ चारों तुकन में फिरत है, यह तुक है, जा ते 'लाटिया' तुक कहाति है।

जहाँ 'वाक' वा शब्द और अर्थ में भेद न होय पै वाकी आवृत्ति होइ तौ लाटिया है।[4]

---

१. (क) साहित्यदर्पणः—विश्वनाथ, पृष्ठ २७६
(अ) भारतीभूषण—गिरिधरदास, पृष्ठ ३५
(आ) अलंकारमाला—कवि दास, पृष्ठ ७३

२. (ख) साहित्यदर्पण—विश्वनाथ, पृष्ठ २७६
(अ) भारतीभूषण—गिरिधरदास, पृष्ठ ३५
(आ) अलंकारमाला—कवि दास, पृष्ठ ७३

३. भाषा बरनन में प्रथम तुक चाहिये विसेखि।
उत्तम मध्यम अधम सों, तीनि भांति की लेखि ॥
काव्यनिर्णय—भिखारीदास, पृष्ठ ६१९

४. काव्यनिर्णय—भिखारीदास, पृष्ठ ६२६

लाटीया तुक तो उर्दू 'काफिया' और 'रदीफ' का प्रदर्शन है।[१] सम्भवतः आचार्य दास ने उर्दू में प्रचलित पद्धति को अपना लिया था। इन तुकों में अमिल तुक व्यर्थ है। जब आदि मात्रा शब्द में समान नहीं मिलती, तब तुक कैसी ?

यमकानुप्रास नाम से जसवन्तसिंह, भिखारीदास तथा ब्रह्मदत्त ने अलंकार-लक्षण लिखा है। वास्तव में यह यमक का ही लक्षण है। इसलिए यमक-लक्षण में ही इसका विवेचन किया जाएगा।

पुनरुक्तवदाभास

रीतिकाल के चिन्तामणि से कवि दास तक ६ आचार्यों ने इस अलंकार का लक्षण दिया है। संस्कृत में मम्मट, के लक्षण का आधार ही भाषा-काव्यशास्त्र के अलंकार-लेखकों ने लिया। संस्कृत में लिखे लक्षणों में आचार्य मम्मटकृत लक्षण के अर्थ-भाग का शब्दानुवाद करने का सफल प्रयत्न चिन्तामणि का है। कुलपति ने सम्पूर्ण लक्षण में कारिका का भावानुवाद प्रस्तुत किया है। कुमारमणि शास्त्री का लक्षण भी मम्मट की लक्षण-कारिका के पूर्वार्ध का भावानुवाद है, शब्दशः नहीं। दोनों प्रकार के लक्षण निम्नलिखित हैं—

(क) मम्मट—पुनरुक्तवदाभासो विभिन्नाकार शब्दगा।
एकार्थतेव शब्दस्य तथा शब्दार्थयोरयम् ॥८६॥[२]

(ख) चिन्तामणि—भिन्न पदन में एक सो जहाँ अर्थ आभास।
चिन्तामणि कवि कहत सो पुरुक्तवदाभास ॥३४॥[3]

(ग) कुलपति—भासे पद पुनरुक्ति सो, पै पुनरुक्त न सोय।
सो पुनरुक्तवदाभास है, शब्द अर्थ ते सोय ।:४८॥[४]

(घ) कुमार मणि—एकार्थक पुनरुक्त सों शब्द परत जहं जानि।
पुनरुक्तवदाभास, तहाँ अलंकार पहिचानि ॥[५]

---

१. (क) काफिया उन कई हरफों का नाम है कि बैत के हर मिसरा या मिसरा सानी के आखिर में या हुकमे आखिर में अलफाज मुख्तलिफ़ा के अन्दर मुकई वाकया हुए हों और मुस्तकिल न हों यानी और बगैर जीम जमीया के न जाते हों। जैसे कार और बार के इसमें हरफ काफिया का रे और अल्फ है और अलहदा नहीं आया बल्कि कार और बार के जमन में है।
हदायक उल बिलगात (अनूदित), पृष्ठ १४५

(ख) रदीफ उस हरफ या मुस्तकिल कलमा को कहते हैं जो शेअर के आखीर में काफिया के बाद आए, अगर वह मुस्तकिल लफ़ज, हरफ या कलमा एक मानी के खिलाफ कोई और मानी पैदा करे तो कोई मुजाइका नहीं—
आमफहम अरूज—आकश शराजी, पृष्ठ ७६

२. काव्यप्रकाशः—मम्मट, पृष्ठ ४३८
३. कविकुलकल्पतरु—चिन्तामणि, पृष्ठ ३१
४. रसरहस्य—कुलपति, पृष्ठ ५८
५. रसिकरसाल—कुमारमणि, पृष्ठ ७

कवि भूषण तथा आचार्य भिखारीदास के लक्षण स्वतन्त्र रूप से पूर्ववर्त्तियों के लक्षणाध्ययनानन्तर लिखे गए हैं। छाया दोनों लक्षणों में है। एक दूसरे के समान भी हैं, परन्तु प्रकटत: किसी संस्कृत-काव्य-शास्त्री-कृत लक्षण का भावानुवाद भी नहीं हैं। लक्षण द्रष्टव्य हैं—

(क) भूषण—भासति है पुनरुक्ति सी, नहिं निदान पुनरुक्ति।
वदाभास पुनरुक्त सों, भूषन बरनत जुक्ति ॥३६७॥[1]

(ख) भिखारीदास—कहत लगै पुनरुक्त सी, पै पुनरुक्त न होय।
'पुनरुक्तवदाभास' तिहिं कहत सकल कवि सोइ ॥[2]

भिखारीदास ने 'सकल कवि सोइ' कह कर स्पष्ट कर दिया है कि पूर्ववर्त्तियों के लक्षण पढ़कर यह लक्षण स्वतन्त्र बुद्धि से लिखा गया है। रसिक गोविन्द, ग्वाल तथा कवि दास कृत लक्षण भी भूषण और आचार्य भिखारीदास के लक्षणों का नया संस्करण हैं। लक्षण ये हैं—

(क) रसिकगोविन्द—भासे पद पुनरुक्त पर नहिं पुनरुक्त विचार ॥५७॥[3]

(ख) ग्वाल—भासे जहाँ पुनरुक्त सो पै न होय पुनरुक्त।
सो आभास पुनरुक्त वह, कीन्ही सुकविन उक्त ॥३२॥[4]

(क) कवि दास—भासे जहाँ पुनरुक्त सों पै पुनरुक्त न होय।[5]

इस अलंकार के लक्षण में कुलपति के अतिरिक्त किसी ने भी पूर्ण स्पष्ट लक्षण नहीं दिया। वास्तव में मम्मट के अनन्तर संस्कृत में भी पुनरुक्तवदाभास के शब्दार्थ-गत दो भेदों की चर्चा मिट गयी, इसलिए कुलपति के अतिरिक्त अन्य किसी कवि ने लक्षण के उतने भाग का शब्दानुवाद या भावानुवाद भी नहीं किया। भूषण, भिखारीदास, रसिकगोविन्द, ग्वाल तथा कवि दास के लक्षण का प्रथम भाग तो पूर्णतया कुलपति का ही है। केवल दो शब्दों के हेर फेरसे लक्षण-परिवर्तन किया गया है। इस तरह मूलत: मम्मट-कृत लक्षण ही रीतिकाल के आचार्यों का आधार सिद्ध होता है।

वीप्सालंकार

वीप्सालंकार आचार्य भिखारीदास ने ही लिखा है। संस्कृत-काव्यशास्त्र में इस नाम का अलंकार नहीं है। अति आदर से एक शब्द की आवृत्ति वीप्सा का आधार है। वि+ईप्सा—विशिष्ट इच्छा का परिद्योतन करने के लिए आदर आदि के विषय में इस अलंकार का प्रयोग होता है। भिखारीदास की यह अपनी नवीन सूझ है। उन्होंने तो इस अलंकार को आदर के साथ ही संयुक्त किया है परन्तु कालांतर में इसका क्षेत्र विस्तृत हो गया है।

१. शिव (राज) भूषण—भूषण, पृष्ठ २१७
२. काव्यनिर्णय—भिखारीदास, पृष्ठ ५७२
३. रसिकगोविन्दआनन्दघन—रसिकगोविंद, पृष्ठ १६
४. अलंकारभ्रमभंजन—ग्वाल, पृष्ठ १३
५. अलंकारमाला—कवि दास, पृष्ठ ७६

भिखारीदास –एक शब्द बहु बार जहं अति आदर सों होइ।
ताहि वीप्सा कहत हैं कबि-कोविद सब कोइ ॥[1]

सिंहावलोकन

यह अलंकार केवल नवीन विशेषणात्मक नाम देकर रखा गया है। देव के 'शब्दरसायन' में भी इसका उदाहरण दिया गया है, लक्षण नहीं। आचार्य मम्मट, दण्डी तथा रुद्रट आदि पूर्ववर्त्तियों ने इसे आद्यंतिक यमक कहा है। इसका मम्मट-कृत लक्षण वृत्तिभाग में निम्नलिखित है—

मम्मट—अन्तादिकम् आद्यंतिकम् तत्समुच्चयः।[2]

भिखारीदासकृत लक्षण भी इसका भावानुवाद है। आचार्य दास ने इसे मुक्तक-पद-ग्रस (ग्राह्य) यमक ही माना है। लक्षण इस प्रकार है—

भिखारीदास—चरन अंत और आदि के जमक कुण्डलित होइ।
सिंघ-बिलोकनि है, वहै मुक्तक-पद-ग्रस सोइ ॥[3]

वस्तुतः यह यमकालंकार का एक भेद ही है। इससे अधिक कुछ नहीं। इसलिए आचार्य दास की मौलिकता इसमें कदाचित् नहीं है।

यमक

इस अलंकार का लक्षण रीतिकाल के अधिकसंख्यक आचार्यों ने लिखा है। यमकालंकार के भेदोपभेदों की चर्चा केशव के अनन्तर किसी आचार्य ने इतने विस्तृत रूप से नहीं की है। प्रायः मम्मट-कृत भेदों में से कुछ का उल्लेख, कुलपति, देव, कुमारमणि, भिखारीदास, अमीरदास तथा कवि दास ने किया है। केशव-कृत यमकालंकार भेदों का विवेचन अनेक आलोचक कर चुके हैं और उन पर दण्डी का प्रभाव प्रमाणित है। इसके अतिरिक्त रीति-काव्य-शास्त्र में प्रायः यमक-भेदों के उदाहरण दिए गए हैं। लक्षण नहीं। लक्षण हों भी क्या (यमक के लक्षण को ही पादों के आदि, मध्य, अन्त या चरण पूर्वार्ध, चरणापरार्ध या चरणों के क्रम से भेदोपभेदों की अनन्त संख्या की कल्पना की गई है, जो दुस्साध्य एवं दुष्पाठ्य भी हो गई है। इसलिए उनके अनन्त भेदों में न जाकर केवल यमकालंकार के लक्षण तक ही यह विवेचन सीमित रखा गया है।

रीतिकाल के आचार्यों में सभी के यमक-लक्षण विवेचनापेक्षी नहीं। प्रमुख आलंकारिकों में केशव, चिन्तामणि, जसवन्तसिंह, कुलपति, देव, कुमारमणि, सोमनाथ, याकूब खाँ, रसिक गोविन्द, गिरिधर, कवि निहाल, ग्वाल तथा कवि दास के लक्षणों पर ही विवेचना केन्द्रित की जा सकती है। आचार्य मम्मट तथा विश्वनाथ-कृत लक्षणों का ही प्रभाव ग्रहण किया गया है। दोनों प्रकार के लक्षण निम्नलिखित हैं—

१. काव्यनिर्णय—भिखारीदास, पृष्ठ ५४६
२. काव्यप्रकाशः—मम्मट, पृष्ठ ४११
३. काव्यनिर्णय—भिखारीदास, पृष्ठ ५५५

आचार्य मम्मट—अर्थे सत्यर्थभिन्नानां वर्णानां सा पुनः श्रुतिः ।
यमकं, पादतद्भागवृत्ति तद् यात्यनेकताम् ॥[1]
आचार्य विश्वनाथ—सत्यर्थे पृथगर्थायाः स्वरव्यंजन संहतेः ।
क्रमेण तेनैवावृत्तिर्यमकं विनिगद्यते ॥८॥[2]
(क) केशव—पद एकै नाना अरथ जिसमें जेति वित्तु ।
तामें ताको काढ़िये, यमक माहि है चित्तु ॥
(ख) चिन्तामणि—अरथ होत अन्यारथक बरनन को जहं होइ ।
फेर श्रवन सो जमकहिं बरनत यों सब कोइ ॥२१॥
(ग) जसवन्तसिंह—जमक सब्द को फिरि स्रवन, अर्थ जुदा तो जानि ।
सीतल चन्दन चन्द नहिं, अधिक अग्नि तें जानि ॥२०२॥
(घ) भूषण—भिन्न अरथ फिरि फिरि जहां, वेई अच्छरवृन्द ।
आवत है, सो जमक करि, बरनत बुद्धि बलंद ॥३६५॥
(ङ) कुलपति—अर्थ होय भिन्ने जहां, शब्द एक अनुहार ।
जमक कहत ता सों सबै, भेद अनन्त विचार ॥१६॥
चरन यमक अधचरन पुनि अर्द्धहु अर्द्ध प्रकार ।
कहत लक्ष लक्षण सबै, होय ग्रंथ विस्तार ॥१७॥
(च) देव—वेई पद बैठत उठत, फिर फिर अर्थ अनन्त ।
आदि अन्त मध्यहु सकल, यमक बखानत संत ॥
(छ) कुमारमणि—अर्थसहित आखर बहुत जहं सुनियतु है फेरि ।
भिन्न अर्थ के भेद ही 'यमक' नाम तहं हेरि ॥१२॥
(ज) सोमनाथ—शब्द एक ही भांति अरु अर्थ और ही होइ ।
जमक ताहि पहिचानियों सुनतहि हिय सुष मोइ ॥
(झ) भिखारीदास—वहै सबद फिर फिर फिरै, अर्थ और ही और ।
सो जमकानुप्रास है, भेद अनेकन ठौर ।[3]

---

१. काव्यप्रकाशः—मम्मट, पृष्ठ ४०६-४१
२. साहित्यदर्पणः—विश्वनाथ, पृष्ठ २८०
३. (क) कविप्रिया—केशव, पृष्ठ २६६
(ख) कवि-कुल-कल्पतरु—चिन्तामणि, पृष्ठ २७
(ग) भाषाभूषण—जसवंतसिंह, पृष्ठ २०४
(घ) शिव (राज) भूषण—भूषण, पृष्ठ २२६
(ङ) रसरहस्य—कुलपति, पृष्ठ ५५
(च) शब्द-रसायन—देव, पृष्ठ ८५
(छ) रसिक-रसाल—कुमारमणि, पृष्ठ ४
(ज) रसपीयूषनिधि—सोमनाथ, पृष्ठ १८५
(झ) काव्यनिर्णय—भिखारीदास, पृष्ठ ५५१

(ञ) याकूब खाँ—यमक सहित अश्लेष, पुनि पुनि पद आवै वही।
अद्भुत कहै विशेष, अचरज उपजै आय चित् ॥४६८॥
(ट) रसिक गोविन्द—सब्द को फिरि श्रवण अरु अर्थ दूसरो होइ सो जमक।
(ठ) गिरिधर—स्वर व्यंजन गन की जहां आवृत्ति कवि बरिबंड।
जमक सोई है दोय विधि—इक अखंड इक खंड ॥३१२॥
सो अखंड सार्थक सबै शब्द जमक को होय।
खंड शब्द सार्थक कोऊ कोऊ निरर्थक सोय ॥३७३॥
(ड) कवि निहाल—एक बार जो पद कह्यो आवे फिरि फिरि सोइ।
अर्थ भिन्न सब पदन के यमकालंकृत सोइ ॥२२॥
(ढ) ग्वाल—कई बार इक सब्द कहि अर्थ होइ सब भिन्न।
जमक कहत आय सु तिहिं कविवर अनवच्छिन्न ॥२७॥
(ण) कवि दास—जमक सबद सोई रहे अरथ और ह्वै जाय।
नागिन सी मोतनि लरी मो तनि लरी रिसाय।[1]

ऊपर दिये यमक-लक्षणों में केशव तथा देव आचार्य दण्डी से प्रभावित हैं। भावानुवाद भी दोनों ने नहीं किया, अपितु अध्ययन के बल पर अपने शब्दों में नया लक्षण लिख दिया है। दण्डीकृत लक्षण क्लिष्ट है—

दण्डी—अव्यपेतव्यपेतात्मा व्यावृत्तिर्वर्णसंहतेः।
यमकं तच्च पादानामादिमध्यान्तगोचरम् ॥३-१॥[2]

अर्थात् व्यवधानरहित तथा व्यवधानयुक्त रूप वाले वर्ण-समुदाय की पुनरावृत्ति को यमक कहते हैं और वह यमक श्लोक के पादों के आदि, मध्य तथा अन्त में दृष्टिगोचर होता है। दण्डी ने वर्णसंघात की गोचरवृत्ति को भी यमक कहा है—

दण्डी—आवृति वर्णसंघातगोचरां यमकं विदुः ॥१-६१॥[3]

केशव ने तो अपने लक्षण में दण्डी का प्रभाव साधारणतः लिया, परन्तु देव ने आदि, मध्य तथा अन्त से सम्बद्ध यमक-भेद की बात अवश्य दण्डी से पूर्णतया प्रभावित होकर ही अपने लक्षण में रखी, तब भी देव का लक्षण केशव से सरल है। यद्यपि देवकृत लक्षण में पदों की 'उठत बैठत' काव्यशास्त्रीय मस्तिष्क की प्रयोग-रीति के अनुसार उपयुक्त नहीं है।

आचार्य चिन्तामणि ने मम्मट-कृत लक्षण का यमकान्त भाग ही अनूदित किया है, तथापि शब्दशः अनुवाद में चिन्तामणि की सफलता सराहनीय है। इसमें

१. (ञ) रसभूषण—याकूबखाँ, पृष्ठ ४२
(ट) रसिकगोविन्दआनन्दघन—रसिकगोविंद, पृष्ठ ६
(ठ) भारतीभूषण—गिरिधरदास, पृष्ठ ३५
(ड) साहित्यशिरोमणि—निहाल, पृष्ठ २
(ढ) अलंकारभ्रमभंजन—ग्वाल, पृष्ठ १३
(ण) अलंकारमाला—कवि दास, पृष्ठ ७४
२. काव्यादर्शः—दण्डी, पृष्ठ १५५
३. काव्यादर्शः—दण्डी, पृष्ठ २६

अस्पष्टता नाम को भी नहीं है। जसवन्तसिंह ने भी मम्मट का अनुसरण किया, परन्तु लक्षण संक्षिप्त कर दिया। अपने लक्षण में मम्मट-कृत 'अर्थसति' वाले भाग को छोड़ दिया। भिखारीदास तथा ब्रह्मदत्त ने जसवन्तसिंह के समान उसे जमकानुप्रास (यमकानुप्रास) कहा और लक्षण भी 'भाषाभूषण' से प्रभावित होकर लिखा। भूषण तथा कुलपति ने भी मम्मट-कृत लक्षण का भाव ग्रहण किया, परन्तु कुलपति ने लक्षण को मम्मट-कृत कारिका तथा वृत्ति को पढ़कर अपने शब्दों में बांधा। इसलिए यह लक्षण भूषण से कहीं अधिक स्पष्ट है। कुमारमणि ने भी यमकपदांत मम्मट-कृत लक्षण का अनुवाद सफलता से किया। इस अनुवाद में चिन्तामणि से भी अधिक परिष्कार है। सोमनाथ के लक्षण पर प्रभाव की चर्चा नहीं की जा सकती। उसने स्वतन्त्र लक्षण लिखा है। लक्षण को हिन्दी की प्रकृति में सोमनाथ ने ढाल दिया। लक्षण में इसीलिए सरलता आ गयी है। रसिक गोविन्द ने 'भाषाभूषण' का लक्षण नए शब्दों में रखा है। कवि निहाल ने मम्मट-कृत लक्षण का भावानुवाद किया, परन्तु निरर्थक पदों की चर्चा नहीं की। हिन्दी के किसी भी लक्षणकार ने वृत्ति-कृत व्याख्या के निरर्थक पदों से सम्बन्धी कथन को अपने लक्षण में स्थान नहीं दिया। निहाल ने 'सब पदन' लक्षण-भाग में अधिक कहा है कि एक पद पूरे पथ में जितनी बार आये, उसका अर्थ भिन्न होना चाहिए, यहीं उनका बौद्धिक अल्पप्रयास लक्षण की ओर आकृष्ट करता है। ग्वाल का लक्षण कवि निहाल से मिलता है। कवि दास का लक्षण कवि निहाल से मिलता है। कवि दास का लक्षण सोमनाथकृत लक्षण के समान है। दोनों ने स्वतन्त्र भी लिखा हो, तब भी लक्षण की भावभूमि समान है। शब्द-विन्यास का अन्तर वैयक्तिक है।

इस काल में यमक का नवीन उद्भावनापूर्ण लक्षण लिखने का श्रेय याकूबखाँ को है। इस कवि का मत है कि यमक श्लेषसंहित होता है, तभी तो अर्थ भिन्न होगा। शब्द भंग या अभंग रखने पर भी अर्थ-भिन्नता आवश्यक है। अर्थ-भेदक अलंकार श्लेष है, इसलिये यमक तभी बनता है जब श्लेष उसका सहायक हो। इसके अतिरिक्त याकूबखाँ ने यमकालंकार का सम्बन्ध लक्षण में ही अद्भुत रस से भी दिखाया है। देव ने यमक और अनुप्रास को रसपूर कहा ही था। आचार्य कुलपति ने भी यमक को रसपोषक मानने वाले नवीन कवियों का संकेत किया है।[1] इसलिए याकूबखाँ का यमकलक्षण भाषा-काव्य-शास्त्र में अपने ढंग का अकेला और मौलिक है।

आचार्य गिरिधर का यमकलक्षण साहित्यदर्पणकार के लक्षण का सफल अनुवाद है। भेदों का नामकरण इनका अपना है। अनुवाद में शिथिलता नहीं, स्पष्टता एवं कसावट है।

इस प्रकार रीतिकाल में याकूब खाँ के अतिरिक्त शेष आचार्यों ने मम्मट एवं विश्वनाथ के यमकलक्षणों का प्रभाव ग्रहण कर लक्षण लिखे। इन लक्षणों में अनुवाद (चाहे जितने अंश का है) असंगत या अशुद्ध नहीं, तथापि भावानुवाद को अधिक प्रश्रय दिया गया है।

---

१. रस पोषक कविता नये, जाको कहैं बखानि।
कछुक लक्षण यह कहे—और लीजो जानि ॥१८॥
रसरहस्य—कुलपति, पृष्ठ ५५

चित्रालंकार

चित्रालंकार का जितना विस्तृत वर्णन दण्डी ने संस्कृत-काव्यशास्त्र में किया, उतना केशव ने भाषा-काव्यशास्त्र में प्रायः कर दिया, परन्तु इतने पर ही इतिश्री नहीं हुई, अपितु आचार्य बलवानसिंह ने 'चित्र-चन्द्रिका' ग्रन्थ में चित्रालंकार का अत्यन्त विस्तृत वर्णन किया। शब्द-चित्र, अर्थचित्र तथा संकर चित्र—तीन भेदों के उपभेदों में ग्रन्थाकार बढ़ता चला गया है। कई अर्थालंकार भी अर्थचित्र के अन्तर्गत वर्णित हैं। सूक्ष्म, गूढ़ोत्तर, अपह्नुति तथा श्लेष को यमक और प्रहेलिका के साथ अर्थचित्रों में स्थान दिया गया है। इस पर ग्रन्थ की विवेचना के लिए शतशः पृष्ठ चाहिये। इसलिए अगाध सागर में न जाकर उसकी लहरों का संस्पर्श ही पर्याप्त होगा। दूसरी चित्रालंकार-सम्बंधी कृति ईश्वरकवि की 'चित्र-चमत्कृत-कौमुदी' है। इसमें भी चित्रालंकार का संक्षेपतः विवेचन है।

संस्कृत-काव्यशास्त्र में वर्णित चित्रालंकार-लक्षणों में मम्मट का लक्षण रीति-काव्य-शास्त्र में काव्य-शास्त्रियों के लिए प्रधान आधार रहा। चिन्तामणि ने मम्मटकृत लक्षण का भावानुवाद किया है। यह अनुवाद अशक्त नहीं। दोनों लक्षण दर्शनीय हैं—

मम्मट— तच्चित्रं यत्र वर्णानां खड्गाद्याकृतिहेतुतः ॥९-८५॥[2]

चिंतामणि—खड्ग आदि ह्वै कर मुरज कामधेनु ह्वै आदि।
चित्रालंकृत बहुत विधि बरनत सुकवि अनादि ॥२९॥[3]

चिन्तामणि के अतिरिक्त कुलपति, भूषण, सोमनाथ, बलवानसिंह, निहाल, ईश्वर कवि तथा ग्वाल ने चित्रालंकार के लक्षण लिखे हैं। सब ने प्राचीनों के लक्षण का अध्ययन करके भी स्वतन्त्रता से लक्षण लिखे हैं। बलवानसिंह, ईश्वरकवि तथा ग्वाल के लक्षण पठनीय हैं—

(क) बलवानसिंह—वर्णस्थान स्वर गनो आकृति गति पुनि बंध।
चित्र भेद षट् जानिये बरनत कवि करि संध ॥६।

(ख) ईस्वर(ईश्वर)कवि—सुनत और देखत सु जिह रचना गति सु बिचित्र।
ताई सों सब कहत कवि ईश्वर उत्तम चित्र ॥२॥

(ग) ग्वाल—सब्दन की जहँ चित्रता, चित्र रूप लिख जाइ।
कमलबंध इत्यादि सब, चित्रा भूषण गाइ ॥३०॥[4]

---

१. सब शब्द चित्र बरनानु पुनि अर्थ चित्रहि जानु।
संकर सुचित्र हि मानु त्रयभेद चित्रहि आनु ॥१॥
चित्रचन्द्रिका—बलवानसिंह, पृष्ठ ३

२. काव्य-प्रकाश—मम्मट, पृष्ठ ४३४

३. कवि-कुलकल्प-तरु—चिन्तामणि, पृष्ठ २९

४. (क) चित्रचन्द्रिका—बलवानसिंह, पृष्ठ ३
(ख) चित्रचमत्कृतकौमुदी—ईश्वर कवि, पृष्ठ १
(ग) अलंकारभ्रमभंजन—ग्वाल, पृष्ठ १४

भिखारीदास ने भी चित्रालंकार को 'सुकवि की बानी को थकाने वाला' माना है परन्तु बलवानसिंह ने अर्थालंकारों में चित्र का समन्वय कर अद्भुत प्रतिभा का परिचय दिया है। गूढ़ोत्तरालंकार का अन्तर्लापिका में समाहार द्रष्टव्य है—

उत्तर जा को अति दुरो गूढ़ोत्तर सो जानु।
बरनत काशीराज कवि ग्रन्थन को मत मानु ॥२१॥

टीका—उत्तर जा को अति दुरो, जहां अत्यन्त छिपाय के दीजिये सो गूढोत्तर अन्तरलापिका चित्र जानिये, काशीराज बरनन करे है, ग्रन्थन को मत मानि के ॥२१॥[1]

अपह्नुति अर्थालंकार है परन्तु उसे भी अर्थचित्रों (अपह्नुति चित्र) में रखा गया है। लक्षण पठनीय है—

चित की बात दुराय के और कैहे मित्र।
रसिकन को अति सुखद यह जान अपह्नुति चित्र ॥३५॥

टीका—जहाँ मन की बात छिपाय के फेर से दूसरी बात का आरोपण कर दीजिये, हे मित्र! रसिकन को परम सुखदाता यह अपह्नुति चित्र जानिये, याही को मुकरी कहैं हैं ॥३५॥[2]

इस प्रकार 'चित्रचन्द्रिका' में भंग तथा अभंग श्लेष के उदाहरण देकर उनके सरोवर, महादेव, चन्द्रमा, बाँसुरी तथा नायिका के पक्ष में विस्तृत अर्थ किये गये हैं। सभंग श्लेष का यह उदाहरण उपर्युक्त पक्षों में समन्वित किया गया है—

सारस बलित माल कमलाकर सों छवि रस कल मीन नैन चंचल रास रहै।
बासुकि लसत जहां हरित बसन धारे प्रिय वृष परभृत ध्वनि सुखकर है।
भूषन अमृत कर कोकनद गति मृग काशीराज द्विजराज राज तारावर है।
मोहन को अंग यह सुद्ध सुरताल सहै भले वंश की है किधौं बिंब ओष्ठ धर है ।३८।[3]

चित्रचन्द्रिका में महाराष्ट्री तथा प्राकृत भाषा का प्रयोग भी किया गया है। महाराष्ट्री भाषा में कल्पवृक्ष का चित्रबंध-बोधक यह पद है—

सो डुनि कुंज भवन अता धरात या रो राव।
एथे चिमन्या बोलल्या दिसूं लागला राव ॥३४॥

या को भावार्थ यह है कि जहाँ केलि को समय नहीं, ह्यां याते भवन के भीतर चलिए, केलि कीजिये। कल्पवृक्ष में अरुणाक्षरन तें चतुष्कोण मंडल मेढ़िए ॥३४।[4]

फारसी भाषा का चित्र भी दर्शनीय है—

दंदानेतु अंदरस्कलू लू ।३१।

अर्थात् तेरे दंतन की समता को मोती नहीं पावै है, या तें डाह करे हैं। कल्पवृक्ष में अरुणाक्षरन तें उलटी तिर्य्यक् गति बाँधिये ॥३१॥[5]

१. चित्र-चन्द्रिका—बलवानसिंह, पृष्ठ ९१
२. वही, पृष्ठ ९६
३. वही, पृष्ठ ९७
४. वही, पृष्ठ ८२,
५. वही, पृष्ठ ८१

यह कल्पवृक्ष चित्रबंध का फारसी भाषा का उदाहरण है।

पंजाबी भाषा में कल्पवृक्ष-चित्रबंध भी दर्शनीय है—

चलदी साडे नाल नू जितदा साडा देस।
की करदा बदनामि दा मोही तुसिदा बेस ॥ ३३ ॥

यहां परकीया नायिका को वचन उपपति सों चल दी साड नाल नू नाम चलोंगी तिहारे संग में, जितदा साडा देस, नाम जहाँ है तुमारो देश, की करदा बदनामी दा नाम कहा करेगी बदनामी मेरो काहे ते कि मोही तुसिदा वेस, नाम मोहित भई हूं, तेरे स्वरूप पै, कल्प वृक्ष में पीताक्षरन तें सिखर गति सो पढ़िए ॥३३॥[1]

इस प्रकार 'चित्र-चन्द्रिका' एक भाषा-चित्र-कोश है, जिस में कवि ने चित्रालंकार की प्रकृष्टता विभिन्न क्षेत्रों में व्यक्त की है। ईश्वर कवि ने भी 'चित्र-चमत्कृत-कौमुदी' में प्रसिद्ध चित्रालंकारों का संक्षिप्त विवेचन किया है, विस्तृत नहीं।

काव्यशास्त्रीय दृष्टि से चित्रालंकार अधम काव्य का परिद्योतक है, तथापि इसकी विविधता सागर-तरंगों की भाँति है। इसलिए बौद्धिक कौशल के लिए इस पर लिखे गए ग्रन्थ काव्य-शास्त्रीय क्षेत्र में रीतिकाल की विशिष्ट देन हैं।

निष्कर्ष

अब तक किये गये शब्दालंकार-सम्बन्धी लक्षण-विवचन को दृष्टि में रख कर कहा जा सकता है रीतिकाल के आचार्यों ने कि तीन प्रकार से लक्षण-निर्माण किया—

१. अनुवाद, २. भावानुवाद, तथा ३. स्वतंत्र या मौलिक। शब्दालंकार के क्षेत्र में इन आचार्यों का लक्षण-निर्माण मौलिक मात्रा में अल्प है। भावानुवाद तथा छायानुवाद का क्रम अधिक चला है। इसमें भी संस्कृत-लक्षणों के वृत्ति-भाग पर ही रीतिकालीन अलंकार-लक्षणकारों का ध्यान अधिक केन्द्रित रहा है।

अर्थालंकार-लक्षण-विवेचन

अर्थालंकारों के लक्षणों के परीक्षण-विवेचन में भी यह सम्भव नहीं कि सभी आचार्यों के लक्षणों को प्रस्तुत किया जाए। ऐसा करने से ग्रन्थ की सीमा का प्रश्न उत्पन्न हो जाएगा। इस कारण इस क्रम में उन आचार्यों के लक्षणों को लिया जाएगा, जिनका विवेचन अब तक हिन्दी-काव्य-शास्त्र में प्रायः नहीं हुआ, अथवा हुआ है तो न्यूनतः ही। उन प्रसिद्ध आचार्यों द्वारा लिखित लक्षण भी इस क्रम में रखने आवश्यक हैं, जो उक्त युग में मूर्धन्य हैं। चाहे उनके सम्बन्ध में पर्यालोचन पहले हो चुका है।

उपमा

रीतिकाल के सब आचार्यों ने उपमा का लक्षण लिखा है। इस अलंकार के लक्षणों में काव्य-प्रकाश, साहित्यदर्पण, चन्द्रालोक तथा कुवलयानन्द के लक्षण आधारभूत हैं। सर्वांग-निरूपक आचार्य मुख्यतः काव्यप्रकाश, प्रतापरुद्रीयशोभूषण तथा

१. चित्र-चन्द्रिका—बलवानसिंह, पृष्ठ ८१

साहित्यदर्पण से प्रभावित हुए तथा शुद्ध अलंकार-लेखकों ने चन्द्रालोक तथा कुवलयानन्द को अपना उपजीव्य ग्रन्थ बनाया।

आचार्य मम्मट, विश्वनाथ, जयदेव तथा अप्पय्य दीक्षित के उपमा-लक्षण निम्नलिखित हैं—

(क) आचार्य मम्मट—साधर्म्यमुपमा
(उपमानोपमयोरेव न तु कार्यकारणादिकयोः साधर्म्यं भवतीति तयोरेव समानेन धर्मेण सम्बन्धः उपमा)

(ख) विश्वनाथ—साम्यं वाच्यमवैधर्म्यं वाक्यैक्य उपमा द्वयोः ॥१०-१४॥

(ग) जयदेव—उपमा यत्र सादृश्यलक्ष्मीरुल्लसति द्वयोः।
हृदये खेलतोरुच्चैस्तन्वंगी स्तनयोरिव ॥५-११॥

(घ) अप्पय्य दीक्षित—उपमा यत्र सादृश्यलक्ष्मीरुल्लसति द्वयोः।
हंसीव कृष्ण! ते कीर्त्तिः स्वर्गंगामवगाहते ॥६॥[1]

रीतिकाल के केशव, चिन्तामणि, जसवन्तसिंह, कुलपति, कुमारमणि, भिखारीदास, याकूब खां, रसिक गोविन्द, गिरिधरदास तथा निहाल कवि के लक्षण यहां विवेचनार्थ दिये जाते हैं—

(क) केशव—रूप शील गुण होय सम, जो क्यों हूं अनुसार।
ता सों उपमा कहत कवि केशव बहुत प्रकार ॥१४-१॥

(ख) चिन्तामणि—जा में मंजुल भांत सो समता बरनी होइ।
वर्णमान कछु वस्तु जो उपमा कहिये सोइ ॥२॥

(ग) जसवन्तसिंह—यहि विधि सब समता मिलै उपमा सोई जानि।
ससि-सो उज्जल तिय-बदन, पल्लव-से मृदुपानि ॥४३॥

(घ) कुलपति—शब्द अर्थ समता कहे दोउन की जेहि ठौर।
नहीं कलपित उपमान जेंहि सो उपमा सिरमौर ॥३॥

(ङ) कुमारमणि—बरनौ है उपमेय जहं, तहं उपमान बखान।
दुहुं धर्म इक ठानि कहि, समता वाचक न्यान ॥१॥
इति चार्यौ मिलि तुल्यता, बसति चारु जिहि ठौरि।
पूरन उपमा कहत है, बुध जन बुधि की दौरि ॥२॥[2]

---

१. (क) काव्यप्रकाशः—मम्मट, पृष्ठ ४४३
(ख) साहित्यदर्पणः—विश्वनाथ, पृष्ठ २६२
(ग) चन्द्रालोकः—जयदेव, पृष्ठ ५०
(घ) कुवलयानन्द—अप्पय्य दीक्षित, पृष्ठ २

२. (क) कविप्रिया—केशव, पृष्ठ २७४
(ख) कवि-कुल-कल्प-तरु—चिन्तामणि, पृष्ठ ३२
(ग) भाषाभूषण—जसवंतसिंह, पृष्ठ १७
(घ) रसरहस्य—कुलपति, पृष्ठ ५६
(ङ) रसिकरसाल—कुमारमणि, पृष्ठ १२

(क) भिखारीदास—जहं उपमा-उपमेइ है, सो, उपमा-विस्तार ।
होत आरथी-स्रौतियौ ताके द्वै जु प्रकार ॥

(ख) याकूब खां—पूरन उपमा जानि—चार पदारथ होइ जहि ।
ताहि नाइका मान, रूपवंत सुन्दर सुछबि ॥६॥

(ग) रसिक गोविन्द—उपमेय को जहां साधारण धर्म करि कै अरु उपमान
की साद्रस्य कीजै—सो उपमा ।

(घ) गिरिधरदास—सो उपमा जहं बरनिए उपमेय उपमान ।
समताई सोभित सदा इमि कवि कर्हांह सुजान ॥५॥

(ङ) निहाल—उपमानरु उपमेय बखाना,
साधारण सो धर्म पछाना ।
उपमा ताको कहिये वीर ।
चार रीति सों जानो धीर ॥५४॥[1]

आचार्य केशव का लक्षण भामह, दण्डी तथा वामन से प्रभाव ग्रहण करके लिखा गया है । हिन्दी-साहित्य के समालोचकों ने बहुधा केशव के इस लक्षण पर दण्डी का ही प्रभाव माना है ।[2] परन्तु केशव ने उपमालक्षण के लिए तीनों के लक्षणों से भाव उठाए और रूप-शील अपनी ओर से जोड़ दिया, जो गुणान्तर्गत आ जाता है या दण्डी के 'यथा कथंचित्' पद के अन्तर्गत भी समाहित माना जा सकता है । उपमा में गुण की चर्चा तो रुद्रट ने भी की है ।[3] भामह तथा दण्डी के लक्षण निम्नलिखित हैं—

(क) भामह—विरुद्धेन उपमानेन देशकालक्रियादिभिः ।
उपमेयस्य यत्साम्यं गुणलेशेन सोपमा ॥२-३०॥

(ख) दण्डी—यथा कथंचित् सादृश्यं यत्रोद्‌भूतं प्रतीयते ।
उपमा नाम सा तस्याः प्रपंचोऽयं प्रदर्श्यते ॥२-१४॥

(ग) वामन—उपमानेनोपमेयस्य गुणलेशतः साम्यमुपमा ॥[4]

---

१. (क) काव्य-निर्णय—भिखारीदास, पृष्ठ १६०
(ख) रसभूषण—याकूबखाँ, पृष्ठ १
(ग) रसिकगोविन्दानन्दघन—रसिकगोविन्द, पृष्ठ १७
(घ) भारतीभूषण—गिरिधरदासदास, पृष्ठ २
(ङ) साहित्यशिरोमणि—निहाल, पृष्ठ ६

२. (क) केशव की काव्यकला—कृष्णशंकर शुक्ल, पृष्ठ १७०
(ख) केशवदास—जीवनी कला और कृतित्व—डॉ० किरणचन्द, पृष्ठ ३६६
(ग) आचार्य केशवदास—डॉ० हीरालाल दीक्षित, पृष्ठ २५४

३. उभयोः समानं एकं गुणादिसिद्धं भवेत् यथा एकत्र ।
अर्थेऽन्यत्र तथा तत्साध्यत इति सोपमा त्रेधा ॥४॥
काव्यालंकारः—रुद्रट, पृष्ठ ६८

४. (क) काव्यालंकारः—भामह, पृष्ठ ११
(ख) काव्यादर्शः—दण्डी, पष्ठ ४६
(ग) काव्यालंकारसूत्राणि—वामन, पृष्ठ ४८

आचार्य चिन्तामणि ने मम्मट-कृत लक्षण की अपेक्षा जयदेव के लक्षण का भावानुवाद करके अपना उपमा-लक्षण बनाया है। 'मंजुल भाँत' पद 'लक्ष्मीरुल्लसति' का भाव लिए हुए है। सादृश्य के लिए समता शब्द उपयुक्त ही है। जसवन्तसिंह ने पूर्णोपमा को ही उपमा लिखा है। लक्षण पूर्णोपमा का है, जिस में उपमान-उपमेय, साधारण धर्म एवं वाचक पद रहता ही है। उपमा तो चार में से एक के लुप्त हो जाने पर भी होती है, यथार्थतः पूर्णोपमा ही प्रारम्भ में उपमा रही। लोपादि की भेद-गत भाग-दौड़ तो अवान्तर कालकी सूक्ष्मविवेचनपरक परिद्योतना है। कुलपति का लक्षण संस्कृत के आचार्यों के लिखे लक्षणों से नहीं मिलता। कल्पितोपमा में कल्पित उपमान की चर्चा शोभाकर ने की है;[1] परन्तु कुलपति ने उपमा के लक्षण में उपमान के कल्पित न होने की घोषणा की है। शब्दार्थ की समता भी उपमान-उपमेय में रहनी आवश्यक है। कुलपति-कृत उपमा-लक्षण नितान्त मौलिक एवं स्पष्ट है। कुमारमणि शास्त्री-कृत उपमा-लक्षण स्वतन्त्र मति का परिचायक है। भिखारीदास ने ऐसा लंगड़ा लक्षण दिया है, जिससे काम नहीं चलता, जहां भी उपमान-उपमेय रहेंगे वहाँ उपमा ही क्यों होगी, रूपक, व्यतिरेक जैसे अलंकार क्यों न होंगे, इसलिए आचार्य दास का उपमा-लक्षण सर्वथा अशुद्ध है। उपमा-विस्तार की बात अलग है।

याकूबखाँ ने उपमेय, उपमान, वाचक पद तथा साधारण धर्म से युक्त उपमा का लक्षण माना है। उसे रूपवती, सुन्दर, सुछविवाली नायिका का स्थान भी साथ ही दे दिया है। यद्यपि याकूबखाँ ने यह लक्षण पूर्णोपमा का ही कहा है, परन्तु उसके मन में उपमा की भावना है।

रसिक गोविन्द का लक्षण गद्यबद्ध है। उसमें किसी की छाया नहीं। गिरिधरदास का लक्षण विश्वनाथ के लक्षण का छायानुवाद है। निहाल कवि ने भी कुमारमणि के लक्षणसमान अपना बौद्धिक कौशल दिखाया है। लक्षण में अस्पष्टता नहीं आने दी, परन्तु इसे पूर्णोपमा का लक्षण ही माना जा सकता है।

रीतिकाल के कई आचार्यों ने उपमा का लक्षण पूर्णोपमा के रूप में दिया है। यह प्रमाद नहीं, अपितु उपमा का स्वरूप ही इन चार अंगों से सरलता से हृदयंगम होता है। इसलिए पूर्णोपमा का लक्षण उपमा के लिए प्रचलित हो गया है।

केशव ने उपमा के २२ भेद कहे हैं। १५ दण्डीवत् हैं। शेष सात के नाम नए हैं, रीतिकाल में मतिराम, देव, गोप, कुमारमणि, रसिक सुमति, रघुनाथ, गोबिन्द, सोमनाथ, दूलह, भिखारीदास, रसरूप, बैरीसाल, रत्नेश, रामसिंह, सेवादास, रसिकगोविन्द, उमेदराय, पद्माकर, राय शिवप्रसाद, गिरिधरदास, ग्वाल आदि कई आचार्यों ने इन भेदों को लिखा है। प्रभाव के लिए मम्मट, विश्वनाथ तथा अप्पय्य दीक्षित ही प्रधान रहे हैं। पद्माकर की पूर्ण लुप्तोपमा न जाने कैसे उपमा कहलाई। उसका उदाहरण तो प्रतीप का बन जाता है। उदाहरण द्रष्टव्य है—

१. कल्पितेन कल्पितोपमा ॥८॥

अलंकाररत्नाकरः—शोभाकरमित्र, पृष्ठ ६

जाहि निरखि सुक मंद ह्वै ताहि लखहु करि चोप।[1]

यहां शुक का मन्द होना उपमा का द्योतक न होकर प्रतीप का परिद्योतक बन बैठा है। इसी भांति केशव की संकीर्णोपमा भूषण के मत में ललितोपमा बन गई है। दोनों के लक्षण पठयनीय हैं—

केशव—बंधु चोर बादी सुहृद, कल्पब्रच्छ प्रभु जानि।
अंगी रिपु सोदर सहित, इन के अर्थ बखानि ॥१४-१७॥[2]

भूषण—जहँ समता को दुहुन की लीलादिक पद होत।
ताहि कहत ललितोपमा, सकल कविन के गोत ॥५७॥
बहसत निदरत, हंसत जहं, छवि अनहरत बखान।
सत्रु, मित्र इमि और, लीलादिक पद जान ॥[3]

भूषण-कृत लक्षण पर चन्द्रालोक के ललितोपमा-लक्षण का प्रभाव स्पष्ट है। भूषण ने छायानुवाद कर दिया है।

जयदेव—उपमाने च लीलादिपदाढ्ये ललितोपमा ॥[4]

व्याकरण-कृत भेदोपभेदों के लक्षण प्रायशः समान हैं। विवेचन अपेक्षित भी नहीं है।

रसिक सुमति, रघुनाथ, गोविन्द, रसरूप, चन्दन तथा पद्माकर सदृश कवि कुवलयानंद से अधिक प्रभावित हुए। कवि चन्दनकृत 'काव्याभरण' में उपमा-लक्षण दर्शनीय है। इसमें अनुवाद भाव-प्रधान है, अक्षरशः नहीं, तब भी भाव की रक्षा स्पष्टतः हुई है—

चन्दन—दोय पदार्थन की जहां, शोभा लसत समान।
उपमा तासों कहत हैं, पंडित परम सुजान ॥७॥[5]

इस प्रकार रीतिकाल के आचार्यों के पूर्ववर्तियों से प्रभावान्वित होते हुए भी कुछ को छोड़कर शेष का उपमालंकार का लक्षण-निर्माण स्वतन्त्र मति का परिचायक ही रहा है।

मालोपमा

भाषा-काव्य-शास्त्र में मालोपमा को पृथक् अलंकार-रूप में रखा गया है। संस्कृत-काव्य-शास्त्र में भी यह रीति रही है। मम्मट-विश्वनाथ-कृत अलंकार-लक्षणों का प्रभाव सर्वत्र व्याप्त है। आचार्य केशवदास का मालोपमा-लक्षण नवीन उद्भावना वाला है, उसमें प्राचीनों के लक्षणों का मोह नहीं है।

---

१. पद्माभरण—पद्माकर, पृष्ठ ४३
२. कविप्रिया—केशव, पृष्ठ २६४
३. शिव (राज) भूषण—भूषण, पृष्ठ ३०
४. चन्द्रालोकः—जयदेव, पृष्ठ ५७
५. काव्याभरण—चन्दन, पृष्ठ १

केशवदास—जो जो उपमा दीजिये, सो सो पुनि उपमेय ।
सो कहिये मालोपमा केशव कवि कुल गेय ।।१४-४३।।[1]

मालोपमा के भूषण तथा पद्माकर कृत लक्षण में आचार्य मम्मट एवं विश्वनाथ के लक्षणों की छाया विद्यमान है ।

(क) आचार्य मम्मट—भिन्ने च तस्मिन् एकस्यैव बहूपमानोपादाने मालोपमा ।
(ख) विश्वनाथ—मालोपमा यदेकस्योपमानं बहु दृश्यते ।।
(ग) भूषण—जहां एक उपमेय के होत बहुत उपमान ।
ताहि कहत मालोपमा, भूषण सुकवि सुजान ।।५५।।
(घ) पद्माकर—मालोपमा उपमेय इक, ताके बहु उपमान ।
ऊख पियूख मयूख को इक तुव बचन बिधान ।।२२।।[2]

ऊपर दिये दोनों लक्षण मम्मट की अपेक्षा विश्वनाथ से अधिक प्रभावित हैं । इनमें विश्वनाथ-कृत लक्षण का भावानुवाद सरलता से प्रस्तुत किया गया है ।

आचार्य भिखारीदास ने मालोपमा का लक्षण स्वतन्त्र मति से दिया है, जिसमें पूर्ववर्तियों के लक्षणों का सारसंग्रह अभूतपूर्व विधि से किया गया है—

भिखारीदास—कहुं अनेक की एक हो, कहुं जु एक अनेक ।
कहुं अनेक—अनेक की, मालोपमा विवेक ।।[3]

परन्तु संस्कृतकाव्यशास्त्र में वाग्भटालंकार के कर्त्ता के विचारों की छाया इस पर स्पष्ट प्रतीत होती है । वाग्भट का मत दर्शनीय है—

'उपमेयानामनेकत्वनिबंधनाप्युपमा सम्भवतीति तामेवोदाहरति सम्प्रति बहु उपमानमूलमुपमाविशेषमुदाहरति ।'[4]

अर्थात् उपमेयों के एकत्व निबन्धनवाली तथा बहुत से उपमानों की मूलभूता, उपमा का नाम मालोपमा है । —ये दोनों बातें आचार्य दास-कृत लक्षण में विद्यमान हैं ।

रशनोपमा

रशनोपमा के रीतिकालीन लक्षण विश्वनाथ-कृत लक्षण से ही भावानूदित हुए । कुलपति, रसिक सुमति, रसरूप तथा पद्माकरकृत लक्षणों की पदावली से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है—

(क) विश्वनाथ—कथिता रशनोपमा ।
यथोर्ध्वमुपमेयस्य यदि स्यादुपमानता ।।१०-२५।।[5]

---

१. कविप्रिया—केशव, पृष्ठ २९२
२. (क) काव्यप्रकाशः—मम्मट, पृष्ठ ४२९
(ख) साहित्यदर्पणः—विश्वनाथ, पृष्ठ ३०१
(ग) शिव (राज) भूषण—भूषण, पृष्ठ २९
(घ) पद्माभरण—पद्माकर, पृष्ठ ४३
३. काव्य-निर्णय—भिखारीदास, पृष्ठ १६२
४. वाग्भटालंकारः—(टीकाभाग) वाग्भट, पृष्ठ ११२-११३
५. (क) साहित्य-दर्पणः—विश्वनाथ, पृष्ठ ३०१

(क) जयदेव—यत्र याति उपमानत्वं उपमेयं यथोत्तरं ।
सा भिन्नेनापि अभिन्नेन धर्मेण रशनोपमा ।

(ख) कुलपति— आगे आगे कीजिए उपमेयोपमान ।
वैसे ही रसनोपमा, सोऊ द्वै विधि जान ।

(ग) रसिकसुमति—जहाँ प्रथम उपमेय ही होतु जाइ उपमान ।
रसनोपमा सो, कंज से नैन, नैन से बान ।।२०।।

(घ) रसरूप—जहाँ प्रथम उपमेय पुनि होत जात उपमान ।
ताहि सो रसनोपमा पंडित करत बखान ।।

(ङ) पद्माकर—रसनोपम उपमेय जहं, होत जात उपमान ।
सुभ सरूप के सम सुमति, सुमति सरिस गुन ज्ञान ।।२४।।[1]

आचार्य कुलपति ने रशनोपमा का लक्षण चन्द्रालोक-कृत लक्षण का भावानुवाद किया है। भिन्नधर्मा तथा अभिन्नधर्मा भेद नाम से न कह कर केवल 'द्वैविध' कह कर लक्षण संक्षिप्त कर लिया है। रसिकसुमति, रसरूप तथा पद्माकर का लक्षण विश्वनाथ से छायागृहीत है ।

स्तबकोपमा

इस उपमा-भेद का लक्षण रीतिकाल में रघुनाथ, रसरूप जैसे कुछ आचार्यों ने लिखा है। ये लक्षण चन्द्रालोककार-कृत लक्षण के छायानुवाद हैं। रघुनाथ ने 'युग्म' शब्द तथा रसरूप ने 'अनेकार्थ'—वाला भाग छोड़ दिया है ।

(क) जयदेव—अनेकार्थस्य युग्मस्य सादृश्ये स्तबकोपमा ।

(ख) रघुनाथ—अर्थ अनेकनि को जहां सादृश वर्णन होइ ।
जथा तथातबकोपमा कहत सुकवि सुख भोइ ।।७।।

(ग) रसरूप—स्तबकोपम होत जहाँ युग्म अर्थ ठहराय ।।[2]

उपमा के कल्पितोपमा जैसे भेदों का रीतिकाल के आचार्यों ने लक्षण-निर्माण नहीं किया, तथापि उपमा के भेदों का निरूपण तो खूब हुआ, परन्तु यह सारा विवेचन संस्कृत-काव्य-शास्त्रियों के लक्षणों के आधार पर हुआ है। नवीनता कहीं नहीं है।

अनन्वय

इस अलंकार का लक्षण भाषा-काव्यशास्त्र के सभी आचार्यों ने लिखा है। आचार्य मम्मट, जयदेव, विद्यानाथ, विश्वनाथ तथा अप्पय्य दीक्षित के लक्षण इनके

---

१. (क) चन्द्रालोकः—जयदेव, पृष्ठ ५५ (गागाभट्ट-कृत व्याख्याः भाग)
(ख) रसरहस्य—कुलपति, पृष्ठ ६१
(ग) अलंकारचन्द्रोदय—रसिक सुमति, पृष्ठ १
(घ) तुलसीभूषण—रसरूप, पृष्ठ ७
(ङ) पद्माभरण—पद्माकर, पृष्ठ ४४

२. (क) चन्द्रालोकः—जयदेव, पृष्ठ ५७
(ख) रसिकमोहन—रघुनाथ, पृष्ठ ५
(ग) तुलसीभूषण—रसरूप, पृष्ठ ७

सामने थे। प्रायः सभी ने भावानुवाद किया है। सोमनाथ, रघुनाथ, गोकुल कवि तथा चन्दन कवि ने अप्पय्य दीक्षित-कृत लक्षण का अनुवाद किया है। अनुवाद शब्दशः तथा स्पष्ट है। दोनों वर्गों के लक्षण इस प्रकार हैं—

(क) मम्मट—उपमानोपमेयत्वे एकस्यैवैक वाक्यगे अनन्वयः।

(ख) जयदेव—उपमानोपमेयत्वे यदेकस्य जागृतः ॥५-१२॥

(ग) विद्यानाथ—एकस्यैवोपमानोपमेयत्वेऽनन्वयो मतः ॥

(घ) विश्वनाथ—उपमानोपमेयत्वमेकस्यैव त्वनन्वयः ॥२६॥ अर्थादिकवाक्ये।

(ङ) अप्पय्य दीक्षित—उपमानोपमेयत्वं यदेकस्यैव वस्तुनः ॥१०॥[1]

(क) चिन्तामणि—कहिये जो उपमेय अरु वहै जहाँ उपमान।
ताहि अनन्वय कहत हैं, पण्डित सुकवि सुजान ॥३५॥

(ख) कुलपति—नहिं पाइये समता जगत, जा की तत उपमान।
उपमेय कीजै तहां, ताको अनन्वय जान ॥२३॥

(ग) निहाल कवि— नहिं पाइये समता जगत जाहि सम उपमान।
उपमेय कीजै जहां, अनन्वय ता को जान ॥७०॥

(घ) रत्नेश—एकहि को उपमेयता उपमानता बषानि।
एक वाक्य में भरत भनि नाम अनन्वय जानि ॥२०॥

(ङ) सोमनाथ—उपमेय रु उपमानता एक वस्तु को होइ।
तहां अनन्वय जानियो सुकवि सयाने लोइ ॥१३॥

(च) रघुनाथ—उपमा अरु उपमेय जहां एक वस्तु के होत।
ताहि अनन्वय कहत हैं करता ग्रन्थ उदोत ॥१०॥

(छ) गोकुल— उपमा उपमेयत्व जहं एक वस्तु में होत।
नियत न वर्न्य अवर्न्य को सोऽनन्वय सुख सोत ॥७६॥

(ज) चन्दन— उपमाने उपमेय दोऊ एक वस्तु में होय।
इन्दु इन्दु हुइ श्री धरे, कहत अनन्वय सोय ॥१३॥[2]

---

१. (क) काव्यप्रकाशः—मम्मट, पृष्ठ ४६०
(ख) चन्द्रालोकः—जयदेव, पृष्ठ ५५
(ग) प्रतापरुद्रीययशोभूषणम्—विद्यानाथ, पृष्ठ २६७
(घ) साहित्यदर्पणः—विश्वनाथ, पृष्ठ ३०२
(ङ) कुवलयानन्दः—अप्पय दीक्षित, पृष्ठ ८

२. (क) कवि-कुल-कल्पतरु—चिन्तामणि, पृष्ठ ३७
(ख) रसरहस्य—कुलपति, पृष्ठ २१
(ग) साहित्यशिरोमणि—निहाल, पृष्ठ ९
(घ) फतेप्रकाश—रत्नेश, पृष्ठ ५९
(ङ) रसपीयूषनिधि—सोमनाथ, पृष्ठ १५२,
(च) रसिकमोहन—रघुनाथ, पृष्ठ २
(छ) चेतचन्द्रिका—गोकुल कवि, पृष्ठ १६
(ज) काव्याभरण—चन्दन, पृष्ठ २

गोप—गोप कहै जहं दीजिए जा की उपमा जाहि ।
अनन्वय लगे न और सों, कहत अनन्वय ताहि ।।२७।।[1]

केशव ने अनन्वय का लक्षण नहीं दिया । उपमान्तर्गत भी प्रस्तुत नहीं किया । चिन्तामणि ने मम्मट-कृत लक्षण का भावानुवाद किया, परन्तु 'एकवाक्यग' पद को नहीं रखा । 'जहाँ' पद से इसका अध्याहार किया जा सकता है ।

आचार्य कुलपति का लक्षण मम्मट की कारिका-वृत्ति का छायानुवाद है । वृत्ति में 'उपमानान्तरसम्बन्धाभावोऽनन्वयः'— अर्थात् अन्य उपमान का सम्बन्ध न होना ही अनन्वय है—यह कहा गया है । कुलपति ने दोनों का छायाग्रहण अपने लक्षण में किया है । वृत्ति-भाग की छाया इस लक्षण के प्रथम भाग में स्पष्ट है । कवि निहाल ने भी कुलपति के लक्षण में थोड़े हेर फेर से अपना लक्षण प्रस्तुत किया है ।

आचार्य सोमनाथ, रघुनाथ तथा गोकुल कवि के लक्षण अप्पय्य दीक्षित-कृत लक्षण के अविकल स्वच्छ शब्दानुवाद हैं ।

फतेप्रकाश के लेखक रत्नेश कवि ने आचार्य मम्मट के लक्षण का अविकल अनुवाद प्रस्तुत किया है । वैसा किसी अन्य कवि ने नहीं किया है ।

कवि रघुनाथ तथा गोकुल ने अप्पय्य दीक्षित-कृत लक्षण में उपमान की उपेक्षा उपमा शब्द प्रयुक्त किया है । यह प्रयत्न-लाघव की प्रक्रिया है । वर्ण्य-अवर्ण्य की बात कारिका-व्याख्या भाग से लेकर अनन्वय के व्युत्पत्यर्थ को सिद्ध करके गोकुल कवि ने अपना लक्षण पूरा कर लिया है ।[2]

रामचन्द्राभरण के लेखक गोप कवि-कृत लक्षण संस्कृत-काव्य-शास्त्र के अध्ययन का परिपाक तो माना जा सकता है, परन्तु लक्षण उनका सर्वथा मौलिक है । किसी का अनुवाद नहीं । उन्होंने इस अलंकार का अध्ययन पुरःसर लक्षण लिखा है ।

उस काल के अन्य कवियों—मतिराम, भूषण, गोविन्द, दूलह, बैरीसाल, रामसिंह, सेवादास, रसिकगोविन्द, उमेदराय, पद्माकर, राय शिवप्रसाद तथा दामोदर के लक्षणों पर स्पष्टतः अप्पय्य दीक्षित के लक्षण का प्रभाव है । इन्होंने भावानुवाद अधिक किया है । आचार्य कुमारमणि तथा भिखारीदास आचार्य मम्मट तथा विद्यानाथ से भावग्रहीता हैं । गिरिधर दास ने विशुद्ध रूप से साहित्यदर्पण का लक्षण अनूदित किया है । अनुवाद स्पष्ट एवं सरल है—

गिरिधरदास—एकहि में उपमेयता उपमानता जु होइ ।
दूजे सो समता नहीं अहै अनन्वय सोइ ।।३४।।[3]

याकूबखाँ ने सदृशता पर जोर देकर और समस्त रस-कोविदा नायिका-समान उपमा को मान कर, लक्षण प्रस्तुत करते हुए अपना पृथक् मार्ग निर्दिष्ट किया है ।

---

१. रामचन्द्राभरण—गोप, पृष्ठ ४

२. वर्ण्यमानमपि स्वस्य साधर्म्यं न अन्वेति, इति व्युत्पत्तेः ।
कुवलयानन्दः— अप्पय्य दीक्षित, पृष्ठ ८

३. भारतीभूषण—गिरिधरदास, पृष्ठ ४

याकूबखां—अनन्वय समस्त रसकोविदा

वह अनन्वय होय, उपमेय उपमा एक गुन ।
सब रस कोविद सोय, दे रस जो रस पिय चहै ॥२५॥[1]

इस तरह अनन्वयालंकार का लक्षण भाषा-काव्य शास्त्र में विशेष परिवर्तित या परिवर्धित भी नहीं हुआ । उसमें अशुद्धि भी नहीं आई ।

प्रतीप

इस अलंकार का (पांच भेद-सहित) निरूपण रीतिकाल के बहुसंख्यक आचार्यों ने किया है । आचार्य चिन्तामणि, कुलपति तथा 'फतेप्रकाश' के लेखक रत्नेश कवि ने द्विविध प्रतीप लिखा, जिसमें आचार्य मम्मट-कृत लक्षण को आधार बनाया । विद्यानाथ का लक्षण भी मम्मट से प्रभावित है । कुवलयानन्द के लक्षण की आधार-शिला पर अनेक आचार्य खड़े हैं । जयदेव-विश्वनाथ की परम्परा के वाहकों में मतिराम, भूषण, कुमार मणि जैसे आचार्य हैं । भिखारीदास ने प्रतीप का लक्षण मम्मट के प्रभाव से बनाया, परन्तु भेद जयदेव के अनुसार वर्णित किए हैं । संस्कृत-काव्य-शास्त्रीय लक्षण इस प्रकार हैं—

(क) मम्मट—आक्षेपं उपमानस्य प्रतीपमुमेपयता ।
तस्यव यदि वा कल्प्या तिरस्कारनिबन्धनम् ॥१०-२३३॥

उपमान पर आक्षेप करना प्रतीप है । अथवा उपमान के तिरस्कारसूचन के लिए यदि उस (उपमान) को उपमेय बना दिया जावे, तब भी प्रतीपालंकार होता है ।

(ख) विद्यानाथ—आक्षेप उपमानस्य कैमर्थक्येन कथ्यते ।
यद् वा उपमेयभावः स्यात् तत्प्रतीपमुदाहृतम् ॥

(ग) जयदेव—विख्यातस्योपमानस्य यत्र स्याद् उपमेयता ।
प्रतीपमुपमानस्योपमेयत्व प्रकल्पनम् ॥१२॥

(घ) अप्पय्य दीक्षित—प्रतीपमुपमानस्योपमेयत्वप्रकल्पनम् ॥

(ङ) विश्वनाथ—प्रसिद्धस्योपमानस्योपमेयत्वप्रकल्पनम् ।
निष्फलाभिधानं वा प्रतीपमिति कथ्यते ॥८७॥[2]

चिन्तामणि ने व्याख्यापुरःसर लक्षण बनाया है । दो पंक्तियों का लक्षण चार पंक्तियों में बना है । यह भावानूदित लक्षण सरल भी है—

चिन्तामणि—यह रचिकै, क्यों ए रचै ऐसी कहि कछु बात ।
जु आक्षेप उपमान कौ सो प्रतीप कहि जात ॥२३५
उपमान लोपमेय यह करै अनादर काज ।
इहां प्रतीपै कहत हैं पंडित सब कवि राज ॥२३६॥[3]

---

१. रसभूषण—याकूब खां, पृष्ठ ४
२. (क) काव्यप्रकाशः—मम्मट, पृष्ठ ५४४
(ख) प्रतापरुद्रीयशोभूषणम्—विद्यानाथ, पृष्ठ ३२१
(ग) चन्द्रालोकः—जयदेव, पृष्ठ ५६
(घ) कुवलयानन्दः—अप्पय्यदीक्षित पृष्ठ १०
(ङ) साहित्यदर्पणः—विश्वनाथ, पृष्ठ ३६२
३. कवि-कुल-कल्पतरु—चिन्तामणि, पृष्ठ ८५

चिन्तामणि ने पहली पंक्ति में आक्षेप की व्याख्या की है, तब लक्षण बांधा है। कुलपति ने मम्मट-कृत कारिका-वृत्तिभाग को ही लक्षण-बद्ध किया है—

(क) कुलपति—जहां लघुता उपमान की सो प्रतीप द्वै भेद।
प्रथम निरादर कीजिए पुनि कीजे उपमेव ॥२६॥

कारिका-भाग को कुलपति ने स्पर्श नहीं किया। 'फतेप्रकाश' में रत्नेश ने पर्याप्त मात्रा में सफल छायानुवाद किया है। लक्षण में अस्पष्टता भी नहीं रही है—

(ख) रत्नेश—आछेपक उपमान को बहुत प्रतीप बिचारि।
अथवा जो उपमेयता कहिए ताहि उतारि ॥२०६॥[1]

मतिराम, भूषण तथा कुमारमणि ने जयदेव तथा विश्वनाथ के लक्षण का छायानुवाद किया है। पूर्ण भाव भी संग्रथित नहीं किए हैं। इच्छानुसार ग्रहण-त्याग का क्रम अपनाया है। इसलिए लक्षण पूरे नहीं उतरे अतः विश्वनाथ के लक्षण-गौरव का इनमें अभाव है। लक्षण निम्नलिखित हैं—

(क) मतिराम—जहं प्रसिद्ध उपमान को पलटि कहत उपमेय।
बरनत तहं प्रतीप है, कवि जन जगत अजेय ॥५७॥

(ख) भूषण—जहं प्रसिद्ध उपमान को, करि बरनत उपमेय।
तहं प्रतीप उपमा कहत भूषन कविता प्रेय ॥४१॥

(ग) कुमारमणि—जहां प्रसिद्ध उपमान जो, सो उपमेय रचाइ।
तहं 'प्रतीप' भूषण भनत, पंच प्रतीप सुभाइ ॥१३॥[2]

भूषण के लक्षण में प्रतीपोपमा शब्द चन्द्रालोककार का है। जयदेव ने प्रतीप को प्रतीपोपमा कहा है।

कुवलयानन्दकार के लक्षण का भावानुवाद करने वालों में जसवन्तसिंह, बैरीसाल, उमेदराय, रसिकगोविन्द तथा पद्माकर के लक्षण पठनीय हैं—

(क) जसवन्तसिंह—सो प्रतीप उपमेय को कीजे जब उपमानु ॥४८॥

(ख) बैरीसाल—उपमानहि उपमेय करि कीजत जहाँ बखान।
तहाँ प्रतीप बनावहीं, सिगरे ज्ञान निधान ॥३२॥[3]

---

१. (क) रसरहस्य—कुलपति, पृष्ठ ६२
(ख) फतेप्रकाश—रत्नेश, पृष्ठ १०६

२. (क) ललितललाम—मतिराम, पृष्ठ २२
(ख) शिव (राज) भूषण—भूषण, पृष्ठ २१
(ग) रसिकरसाल—कुमारमणि, पृष्ठ १४

३. (क) भाषाभरण—जसवन्तसिंह, पृष्ठ २०
(ख) भाषाभरण—बैरीसाल, पृष्ठ ३

(क) उमेदराय—उपमेय कीजिये ओपमान ।
ताको प्रतीप जानहु सुजान ।।२१

(ख) रसिक गोविन्द—उपमेय को उपमान कीजे सो प्रतीप ।

(ग) पद्माकर—सो प्रतीप उपमान जहं कीजे उपमेय ।
मुख सो सोभित सरद-ससि, कमल सुलोचन सेय ।।२८।।[1]

इन लक्षणों में जसवन्तसिंह और उमेदराय का लक्षण समान है। दोनों लक्षणों में कुवलयानन्द से विपरीत ढंग से बात कही गई है। कुवलयानन्द में तो उपमान को उपमेय कहने की स्थिति है, जबकि इन दोनों के लक्षणों में उपमेय को उपमान कहने की। जसवन्तसिंह के आधार पर उमेदराय ने लक्षण गढ़ा है। दोनों समझे तो सही, परन्तु विपरीत भाव से। तब भी प्रतीप का लक्षण आहत नहीं हुआ। यही वैशिष्ट्य इन दोनों के लक्षणों में है। शेष के लक्षण भावानुवाद हैं। इनके अतिरिक्त अन्य आचार्यों पर कुवलयानन्द के लक्षण का प्रभाव है।

प्रतीप अलंकार के दो अथवा पांच भेदों का लक्षण-निर्माण अनुवाद पुरःसर रीतिकाल में हुआ। पांच भेद मानने वाले सभी आलंकारिक 'कुवलयानन्द' से भावानुवाद करते रहे। दो भेद मानने वाले कुलपति तथा रत्नेश ने मम्मट का आधार लिया है। लक्षणों में प्रायः अस्पष्टता नहीं है। पंचम प्रतीप के दूलह तथा बैरीसाल के लक्षण पठनीय हैं—

(क) दूलह—उपमान को न काम पांचवों प्रतीप नाम ।
रामतन ताके काम काके मन भायो है ।।१२।।

(ख) बैरीसाल— जहाँ विषय को अन्य को करत काज पहिचानि ।
कहत वृथा अन्यहि तहां, पंचम तथा बखानि ।।४०।।[2]

रूपक

रीतिकाल के सभी अलंकार-लेखकों ने इस अलंकार का भेदोपभेद-सहित वर्णन किया है। याकूबखाँ के 'रसभूषण' ग्रन्थ में दिया गया लक्षण संस्कृत-काव्य-शास्त्रीय-लक्षण से अप्रभावित है। परम्परागत लक्षणानुवाद पद्धति से वह परे है। इसलिए उसका विवेचन सर्वप्रथम आवश्यक है।

याकूब खाँ— जहां आन के रूप सम, करे आन को रूप ।
ताको रूपक कहत हैं, सब मिलि कवि जन भूप ।।४६।।[3]

इस लक्षण में उपमेय, उपमान तथा उनके आरोप-सम्बन्धी कारण में शास्त्रीय विशिष्ट शब्दों का प्रयोग नहीं किया गया है। अभेदता तथा निरपह्नुत्व का संयोग भी इसमें नहीं है। तब भी लक्षण सरल एवं ग्राह्य है।

१. (क) वाणीभूषण —उमेदराय, पृष्ठ ५
(ख) रसिकगोविंदआनन्दघन—रसिक गोविंद, पृष्ठ २१
(ग) पद्माभरण—पद्माकर, पृष्ठ ४४
२. (क) कविकुल-कण्ठाभरण—दूलह, पृष्ठ १८
(ख) भाषाभरण—बैरीसाल, पृष्ठ ४
३. रसभूषण—याकूबखाँ, पृष्ठ ५

संस्कृत-काव्य-शास्त्र के मम्मट, विश्वनाथ तथा अप्पय्य दीक्षित के रूपक-लक्षणों की छायामात्र ही रीतिकालीन रूपक-लक्षण में है। शब्दशः अनुवाद अत्यल्प हुआ है। मम्मट के लक्षण के आधार पर चिन्तामणि, कुलपति तथा गोप ने अपने लक्षण प्रस्तुत किए हैं।

चिन्तामणि ने मम्मट तथा विद्यानाथ-प्रणीत लक्षणों का अनुवाद अपने लक्षण में किया है। मम्मट की लक्षण-कारिका का एक दोहे में तथा विद्यानाथ के लक्षण का दूसरे दोहे में अनुवाद प्रस्तुत किया है। दोनों को अलग-अलग देखिये—

मम्मट— तद्रूपकमभेदोपमानोपमेययोः।
समस्तवस्तुविषयं श्रोता आरोपिता यदा ॥१०-९३॥[1]

चिन्तामणि— जहं विषयी अरु विषय को बरन्यो होइ अभेद।
अलंकार रूपक तहां, समझौ सुजन अखेद ॥७७॥

विद्यानाथ— आरोपविषयस्य स्यादतिरोहितरूपिणः
उपरंजकमारोप्यमाणं तद्रूपकं मतम् ॥[2]

चिन्तामणि— जो अतिरोहित विषय को, उपरंजक जो होइ।
विषयी सो रूपक बरन यों बरनत कवि कोइ ॥७८॥[3]

आचार्य कुलपति ने लक्षण-कारिका का आधा भाग अनूदित करके अपना लक्षण निर्मित किया और समता को रूपक में व्यंग्य अपनी ओर से माना है। कुलपति का लक्षण शब्दशः अनुवाद होते हुए भी अत्यन्त स्पष्ट एवं सरल है—

कुलपति— उपमा अरु उपमेय को भेद परे नहिं जानि।
समता व्यंग रहे जहां, रूपक ताहि बखानि ॥३९॥[4]

आचार्य कुलपति से प्रभावित होकर देव, रसिकगोविन्द तथा निहाल कवि के लक्षण लिखे गये हैं। तीनों लक्षण इसी लक्षण के पूर्वभाग की छाया हैं—

(क) देव— उपमा अरु उपमेय में रूपक, भेद न जाहि।
सो समस्त असमस्त कहि, व्यस्त समस्तौ नाहि ॥[5]

(ख) रसिकगोविन्द—उपमान को और उपमेय को,
एक रूप करि दिखावे सो रूपक।[6]

(ग) निहाल कवि—उपमान को उपमेय में भेद न, परे लखाय।
रूपक सो त्रय भांत को कहै महाकवि राय ॥८८॥[7]

---

१. काव्यप्रकाशः—मम्मट, पृष्ठ ४६४
२. प्रतापरुद्रीययशोभूषणम्—विद्यानाथ, पृष्ठ २६८
३. कवि-कुलकल्प-तरु—चिन्तामणि, पृष्ठ ४०
४. रसरहस्य—कुलपति, पृष्ठ ६३
५. शब्द-रसायन—देव, पृष्ठ १०२
६. रसिकगोविन्दआनन्दघन—रसिकगोविन्द, पृष्ठ २३
७. साहित्यशिरोमणि—निहाल, पृष्ठ १३

हिन्दी-साहित्य के कई समालोचक देव के लक्षण पर आचार्य केशव के माध्यम से दण्डी का प्रभाव मानते हैं। परन्तु रूपक में दण्डी की अपेक्षा मम्मट का प्रभाव अधिक दिखाई देता है। आचार्य केशव के लक्षण पर दण्डी का पूर्ण प्रभाव है। उसे दण्डी का छायानुवाद ही मानना उचित है—

केशव—उपमा ही के रूप सी, मिल्यो बरनिये रूप।
ताही सो सब कहत हैं केशव रूपक रूप ॥१३-१२॥[1]

दण्डी—उपमैवतिरोभूतभेदा रूपकमुच्यते ॥२-६६॥[2]

केशव के अद्भुत रूपक, विरुद्ध रूपक तथा रूपक-रूपक भेदों में विरुद्ध रूपक को रूपकातिशयोक्ति ही कहना उचित है। विरुद्ध रूपक में कुछ अनमिल कहने की चर्चा है और रूपकातिशयोक्ति में केवल उपमानों के वर्णन की ही चर्चा है।[3]

गोप कवि का लक्षण भी मम्मट का ही शब्दानुवाद है—

गोप—उपमेय और उपमान को भेद परे नहिं जान।
सोई रूपक जानिये बरनत गोप सुजान।[4]

अप्पय्यदीक्षित के रूपक-लक्षण का भावानुवाद रीतिकाल के बहुसंख्यक कवियों ने किया। मतिराम, रघुनाथ, गोविन्द, रसरूप, बैरीसाल, रत्नेस, रामसिंह, उमेदराय पद्माकर, राय शिवप्रसाद, गिरिधर, अमीरदास, दामोदर, ग्वाल तथा कवि दास के रूपक-लक्षण इसी से अनूदित हैं। कुछ लक्षण निम्नलिखित हैं—

अप्पय्य दीक्षित—विषय्यभेदताद्रूप्यरंजनं विषयस्य यत्।
रूपकं तत्त्रिधाधिक्यन्यूनत्वानुभयोक्तिभिः ॥१७॥[5]

अर्थात् जहाँ विषय में विषयी का अभेद एवं ताद्रूप्य वर्णित किया जाए, वहाँ रूपक अलंकार होता है। यह रूपक तीन प्रकार का होता है—आधिक्य, न्यून, तथा अनुभय रूप।

मतिराम— बरनत बिषयी बिषय में करि अभिन्नतद्रूप।
अधिक, हीन, रूप उक्तिसों रूपक त्रिबिध अनूप ॥६८॥[6]

गोविन्द— एक बर्न्य तें भिन्न नहिं इकता सदृस सरूप।
कहत सुकवि जन ग्रंथ में यों रूपक बिय रूप ॥
तीनि तीनि परकार सों छ तरह मिलि के होइ।
कहूँ बर्न्य सम कहूं अधिक कहूं अनहूं होइ ॥२६॥[7]

---

१. कविप्रिया—केशव, पृष्ठ २६०
२. काव्यादर्शः—दण्डी, पृष्ठ ६५
३. जहं कहिये अनमिल कछु सुमिल सकल विधि अर्थ।
तेहि विरुद्ध रूपक कहै, केशव बुद्धि समर्थ ॥१७॥
कविप्रिया—केशव, पृष्ठ २६२
४. रामचन्द्राभरण—गोप, पृष्ठ ४
५. कुवलयानन्दः—अप्पय्य दीक्षित, पृष्ठ १५
६. ललितललाम—मतिराम, पृष्ठ १६
७. कर्णाभरण—गोविन्द, पृष्ठ ३

गोविन्द-कृत लक्षण में अप्पय्य दीक्षित-कृत व्याख्याभाग सिमिट कर बैठ गया है ।

रसरूप—विषयी ते जहां विषय को है अभेद तद्रूप ।
अधिक नून सम दुहुन मिलि षट् रूपक के रूप ।।[१]

रसरूप ने अपने लक्षण के नीचे ही कुवलयानन्द वाला लक्षण सम्पुष्टि के लिए दिया है । रसरूप-कृत अनुवाद में 'रंजन' पद को छोड़ दिया गया है, जिससे अनुवाद की शिथिलता झलकती है ।

गोकुल कवि ने वाचक शब्द के लोप से रूपक का लक्षण बनाया है, परन्तु लक्षण किसी संस्कृत-काव्य-शास्त्री से प्रभावित नहीं—

गोकुल—बिसै कहत उपमेय को है बिसई उपमान ।
बाचक बिन ए, जहां मिलत तहं रूपक सुजान ।।[२]

रूपक-भेद अवश्य ही अप्पय्य दीक्षित जैसे हैं। ग्वाल कवि का लक्षण विश्वनाथ के लक्षण से भावानूदित है—

विश्वनाथ—रूपकं रूपितारोपो विषये निरपह्नवे ।।१०।।[३]
ग्वाल— कहि आरोप्य विषै प्रथम कहै सु आरोपमान ।
अलंकार भेदन विषै रूपक ताहि बखान ।।५८।।[४]

रूपक के भेदोपभेदों के लक्षण कुवलयानन्द के आधार पर ही रीतिकाल में बहुधा लिखे गये । लक्षणों में भावानुवाद की प्रधानता रही है । शब्दशः अनुवाद लेखकों ने कदाचित् ही किया है ।

परिणाम

संस्कृत में परिणाम अलंकार का सर्वप्रथम लक्षण आचार्य रुय्यक ने लिखा, तदनन्तर जयदेव ने । जयदेव, विद्यानाथ, विश्वनाथ और अप्पय्य दीक्षित का लक्षण प्रायः समान है, केवल शब्दों का हेर-फेर है । रीतिकाल के भी प्रायः सभी आचार्यों पर इन्हीं का प्रभाव है । चिन्तामणि ने विद्यानाथ-कृत लक्षण का अनुवाद किया, परन्तु अनुवाद में अलंकार की आत्मा हत हो गयी । लक्षण अस्पष्ट हो गया, न रूपक रहा न परिणाम ही निकला । दोनों लक्षण इस प्रकार हैं—

विद्यानाथ—आरोप्यमाणमारोपविषयात्मतया स्थितम् ।
प्रकृतस्योपयोगित्वे परिणामः उदाहृतः ।।[५]
चिन्तामणि—लखि विषयी विषयात्मक के करत प्रकृत उपजोग ।
रूपक ते परिनाम जो भिन्न कहत कवि लोग ।।६३।।[६]

---

१. तुलसीभूषण—रसरूप, पृष्ठ १६
२. चेतचन्द्रिका—गोकुल, पृष्ठ २३
३. साहित्य-दर्पणः—विश्वनाथ, पृष्ठ ३०३
४. अलंकारभ्रमभंजन—ग्वाल, पृष्ठ ५८
५. प्रतापरुद्रीययशोभूषणम्—विद्यानाथ, पृष्ठ २७३
६. कविकुलकल्पतरु—चिन्तामणि, पृष्ठ ५२

कवि लोग चाहे रूपक के परिणाम भिन्न होने की बात कहें परन्तु चिन्तामणि के शिथिल लक्षण में उसकी असमर्थता व्यक्त है।

जसवन्तसिंह से लेकर कवि दास तक सभी आचार्यों ने इसका लक्षण लिखा है। गोप कवि ने अप्पय दीक्षित के लक्षण का भावानुवाद किया है। लक्षण में शिथिलता नहीं आई।

अप्पय्य दीक्षित—परिणामः क्रियार्थश्चेद् विषयी विषयात्मना।[1]

गोप—करै क्रिया उपमेय की, उपमेय मिलि उपमान।
अलंकार परिनाम सो, भाषत गोप सुजान ॥३५॥[2]

ग्वाल-कवि का लक्षण चन्द्रालोककार-कृत लक्षण का छायानुवाद है।

जयदेव—परिणामोऽनयोर्यस्मिन्नभेदः पर्यवस्यति।
कान्तेन पृष्टा रहसि मौनमेवोत्तरं ददौ ॥८८॥[3]

ग्वाल—द्वै को करै अभेद जहं सो परिनाम कहीय।
पिय रहस्य पूछ्यौ सुतिय मौननि उत्तर दीय ॥६५॥[4]

ग्वाल का लक्षण भी जयदेव-कृत लक्षण की भांति पूर्वापर व्याख्यापेक्षी बन गया है। अनुवाद में ग्वाल ने अत्यन्त सावधानी रखी है तब भी अलंकार-लक्षण सरल न बना। अनुवाद पूर्ण रूप से शुद्ध है।

याकूब खाँ ने परिणाम अलंकार का सम्बन्ध परकीया नायिका से जोड़ा है और लक्षण भी स्पष्ट लिखा है। इसके लक्षण पर प्रभाव या छायानुवाद की कल्पना करना लक्षण पर आघात होगा—

याकूब खाँ—परिनाम परकिया लछन।
करै काज परिनाम, उपमेय जो उपमान ह्वै।
सो परकीया वाम करै केलि परपुरुष सों ॥६८॥[5]

सबसे अधिक सरल सुबोध लक्षण रामसिंह ने लिखा है, जो आकार में भी लघु है और शब्दाडम्बर से भी दूर। लक्षण पठनीय है—

रामसिंह—विषई करै विषय ह्वै काम।
अलंकार सो है परिणाम ॥[6]

उल्लेख

संस्कृत-काव्यशास्त्र में उल्लेख के दो भेद माने गए हैं। जयदेव और विद्यानाथ तक दो भेदों का लक्षण एक ही पद्य में दिया जाता रहा। अप्पय्य दीक्षित से दोनों

१. कुवलयानन्दः—अप्पय्य दीक्षित, पृष्ठ २३
२. रामचन्द्राभरण—गोप, पृष्ठ ५
३. चन्द्रालोकः—जयदेव, पृष्ठ ६१
४. अलंकारभ्रमभंजन—ग्वाल, पृष्ठ २२
५. रसभूषण—याकूब खाँ, पृष्ठ ७
६. अलंकार-दर्पण—रामसिंह, पृष्ठ ६

उल्लेखों के पृथक्-पृथक् लक्षण देने की परम्परा चल पड़ी। इसी रूप में रीतिकाल में भी दो प्रकार के लक्षण लिखे गए। इन दोनों विधाओं में शब्दतः एवं भावतः अनुवाद हुए। दोनों प्रकार के लक्षण-निर्माण सम्बन्धी परम्पराओं के उदाहरणों से लक्षण-परीक्षण यहां किया जा रहा है। जयदेव का लक्षण प्रथम उल्लेख का ही बोधक है—

जयदेव—बहुभिर्बहुधोल्लेखादेकस्योल्लेखता मता ।[1]

जयदेव के इस लक्षण में द्वितीय उल्लेख का संकेत ही नहीं। जहां एक व्यक्ति अनेक विषयों का विषय-भेद के कारण बहुविध उल्लेख करे, वहां दूसरा उल्लेख होता है। इसका लक्षण कुवलयानन्द में अप्पय्य दीक्षित ने दिया है—

अप्पय्य दीक्षित—बहुभिर्बहुधोल्लिखादेकस्योल्लेख दृश्यते। (प्रथम)
एकेन बहुधोल्लेखेऽप्यसौ विषयभेदतः। (द्वितीय)[2]

रीतिकाल में दोनों लक्षणों का अनुवाद एक दोहे में भी किया गया और दो दोहों में भी। जसवन्तसिंह, मतिराम, गोप, कुमारमणि शास्त्री, रसिकसुमति, रघुनाथ, गोविन्द, दूलह, रसरूप, बैरीसाल, रत्नेश, रामसिंह, याकूब खाँ, चन्दन, रसिक-गोविन्द, उमेदराय, ब्रह्मदत्त, पद्माकर, राय शिवप्रसाद, अमीरदास, निहाल तथा कवि दास ने दो दोहों में दोनों के लक्षण लिखे हैं। उदाहरणतया दो लक्षण पर्याप्त हैं।

रत्नेश—१—बहु समुझें बहु रीति एक कों सो उल्लेख कहावै।१५।
२—भांति अनेक एक कों बरनै तासों कहिये दूजो।
इहि विधि सो उल्लेख रीति को समुझि मनोरथ दूजो।१६।[3]

चन्दन—सो उल्लेख जो एक को बहु बरनत बहु भांति ॥३०॥
एक जने को यक कहति बिषै भेद बहु भांति ॥३१॥[4]

दूसरी विधि से एक ही दोहे में दोनों लक्षणों को संपृक्त रखने वाले आचार्यों में कुलपति, देव, भूषण, सोमनाथ, भिखारीदास तथा गिरिधरदास उल्लेखनीय हैं। इनमें से कुछ उदाहरण नीचे दिए जा रहे हैं—

कुलपति—बहुत एक को कहैं जब, बहुत भांति उपमान।
एकै बहुगुण कहि कहै सो उल्लेख बखान ॥५३॥[5]

देव—एकै निश्चित भांति बहु के बहु एक विशेष।
लख्यौ कि बहुतन भांति बहु ताहि कहौं उल्लेख ॥[6]

---

१. चन्द्रालोकः—जयदेव, पृष्ठ ६१
२. कुवलयानन्दः—अप्पय्य दीक्षित, पृष्ठ २४-२५
३. अलंकार-दर्पण—रत्नेश, पृष्ठ २
४. काव्याभरण—चन्दन, पृष्ठ ५
५. रसरहस्य—कुलपति, पृष्ठ ६५
६. शब्दरसायन—देव, पृष्ठ ११३

सोमनाथ—बहुत रीति सों एक को बहुत लेत जि जानि।
कोउ बहुगुन सौ एक कौं कछु विधि कहैं बषानि ॥३६॥[१]

भिखारीदास—एकै में बहु बोध कै, बहु गुन सों उल्लेख।
परंपरित मालनि सों, लीनों भिन्न विसेख ॥[२]

आचार्य भिखारीदास ने अपने लक्षण में परंपरित रूपक से उल्लेख को भिन्न बताया है। परंपरित रूपक में उल्लेख की भांति अनेक ग्राहक नहीं होते।

इस काल में आचार्य चिन्तामणि ने विश्वनाथ का लक्षण शब्दतः एवं स्पष्टतः अनूदित किया। दोनों लक्षण इस प्रकार हैं—

विश्वनाथ—क्वचिद् भेदात् ग्रहीतृणां विषयाणां तथा क्वचित्।
एकस्य अनेकधोल्लेखो यः स उल्लेख उच्यते ॥[३]

(अर्थात् ग्राहक और विषय-भेद से एक का अनेकधावत् उल्लेख ही उल्लेख है।)

चिन्तामणि—कहुं ग्राहक के भेद कहुं विषय भेद सों होइ।
एकहि को उल्लेख बहु कहि उल्लेख जु सोइ ॥१०३॥[४]

इस प्रकार उल्लेख अलंकार का लक्षण रीतिकाल में विकृत या अशुद्ध तथा अपूर्ण भी नहीं रहा। लक्षण की शुद्धता बराबर बनी रही।

स्मृति-भ्रांति-सन्देह

स्मरण-भ्रम तथा सन्देह अलंकार के दो प्रकार के लक्षण संस्कृत-काव्य-शास्त्र की परम्परा में प्राप्त थे। एक तो नाममात्र से अलंकार-बोध, दूसरे स्पष्ट लक्षणों द्वारा अलंकार-निरूपण। इन दोनों पद्धतियों को रीतिकाल के काव्य-शास्त्र में अपनाया गया। इस तरह रीतिकाल में इन अलंकारों के लक्षण द्विविध मिलते हैं। संस्कृत-काव्य-शास्त्र के मम्मट, विद्यानाथ, विश्वनाथ, जयदेव तथा अप्पय्य दीक्षित के अलंकार-लक्षणों का आधार लिया गया है। इनके लिखित लक्षण इस प्रकार हैं—

मम्मट, (स्मरण)—यथानुभवमर्थस्य दृष्टे तत्सदृशे स्मृतिः स्मरणं।
(भ्रांतिमान्)—भ्रांतिमान्-अन्य संवित् तत्तुल्ये दर्शने ॥३२॥
(सन्देह)—ससंदेहस्तु भेदोक्तौ तदनुक्तौ च संशयः ॥९२॥[५]

अर्थात् (१) उस (पूर्वदृष्ट वस्तु) के समान देखकर पूर्वानुभव के अनुसार वस्तु की स्मृति होना स्मरणालंकार है।

(२) उस अप्राकरणिक वस्तु के समान प्राकरणिक वस्तु के देखने पर जो अन्य अप्राकरणिक वस्तु का भान होता है, वह भ्रांतिमान् अलंकार है।

---

१. रसपीयूष-निधि—सोमनाथ, पृष्ठ १५५
२. काव्य-निर्णय—भिखारीदास, पृष्ठ २६२
३. साहित्यदर्पणः—विश्वनाथ, पृष्ठ ३११
४. कविकुलकल्पतरु—चिन्तामणि, पृष्ठ ५४
५. काव्यप्रकाशः—मम्मट, पृष्ठ ५४२, ५४३, ४६८

(३) स-संदेह अलंकार तो उन दोनों (उपमेय-उपमानों) के भेद-कथन तथा अकथन से होता है—

विद्यानाथ— सदृशानुभवाद् अन्यस्मृतिः स्मरणं उच्यते ।
विषयो विषयी यत्र सादृश्यात् कविसंमतात् ॥
संदेह गोचरो स्यातां संदेहालंकृतिश्च सा ।
कविसंमतसादृश्याद् विषये पिहितात्मनि ।
आरोप्यमाणानुभवो यत्र स भ्रान्तिमान् मतः ॥
सा त्रिविधा—शुद्धा, निश्चयगर्भा, निश्चयान्ता चेति ॥[1]

विश्वनाथ —सदृशानुभवाद् वस्तुस्मृतिः स्मरणमुच्यते ॥२७॥
सन्देह प्रकृतेऽन्यस्य संशयः प्रतिभोत्थितः ॥३५॥
शुद्धो निश्चयगर्भोऽसौ, निश्चयान्त इति त्रिधा ॥
साम्याद् अतस्मिन् तद्बुद्धिर्भ्रान्तिमान् प्रतिभोत्थितः ॥३६॥[2]

जयदेव—स्यात्स्मृतिभ्रान्तिसन्देहस्तदेवालंकृतित्रयम् ॥[3]

अप्पय्य दीक्षित—स्यात् स्मृतिभ्रान्तिसन्देहस्तदालंकृतित्रयम् ॥२३॥[4]

विद्यानाथ तथा विश्वनाथकृत लक्षण मम्मट-कृत लक्षण से प्रभावित हैं। जयदेव और अप्पय्य दीक्षित ने नाममात्र दिया है। आचार्य चिन्तामणि ने विद्यानाथ-कृत लक्षण का अनुवाद किया है। कारिका तथा वृत्तिभाग तक का अनुवाद कर दिया है। कारिका का अनुवाद न शिथिल है न अस्पष्ट, अपितु वह अलंकार की आत्मा का पूरा ज्ञापक है।

चिन्तामणि (सन्देह)—जहाँ विषय विषई सुभग कवि सम्मत ताहि ।
सन्देहास्पद होत है कवि सन्देह तहाँ हि ॥६५॥
प्रथम कहत निश्चय गरभ निश्चयांत पुनि जान ।
अलंकार सन्देह यह सजन द्विविध मन आन ॥६६॥[5]

जहां तक भेदों का सम्बन्ध है, चिन्तामणि ने दो भेद ही किए हैं। शुद्ध छोड़ दिया है। इसलिए वृत्ति-भाग का अनुवाद पूर्ण नहीं किया है। सम्भव है, इन्हें दो ही भेद मान्य हों।

चिन्तामणि ने आचार्य मम्मट-कृत भ्रान्तिमान् अलंकार के लक्षण का अनुवाद किया है। वृत्तिभाग में दिए गए अप्राकरणिक तथा प्राकरणिक शब्दों की अपेक्षा प्रकृति तथा अप्रकृति का प्रयोग किया है, जो कि संगत है। अप्रकृति शब्द से अप्राकरणिक का ज्ञान सहज में ही होता है, लक्षण में क्लिष्ट कल्पना नहीं है। इसलिए अनूदित लक्षण शिथिल तथा अस्पष्ट नहीं बना है।

१. प्रतापरुद्रीययशोभूषणम्—विद्यानाथ, पृष्ठ २६२, २७४, २७५
२. साहित्यदर्पणः—विश्वनाथ, पृष्ठ ३०३, ३०६, ३११
३. चन्द्रालोकः—जयदेव, पृष्ठ ६७
४. कुवलयानन्दः—अप्पय्य दीक्षित ,पृष्ठ २६
५. कविकुलकल्पतरु—चिन्तामणि, पृष्ठ ५२

चिन्तामणि (भ्रान्तिमान)—जहाँ होतु है प्रकृति में अप्रकृतिहिं को ज्ञान ।
भ्रान्तिमान या सों कहत पंडित सुकवि सुजान ।।६६।।[1]

मम्मट एवं विश्वनाथ के लक्षणों के प्रभाव से कई आचार्यों ने लक्षण लिखे । इन्होंने प्राय: भावानुवाद किया है ।

कुलपति—जहां देखत उपमान को, सुधि आवे उपमेय ।
ताहि सों सुमरण कहत, जे कवि जानत पेय ।।५८।।
भेद जानहु भ्रम बहुत देखे रूप समान ।
जहां रसिक उपमेय को, भ्रांतिमान सो जान ।।५६।।

भेद, अभेद, उक्ति में संशय हो, उसको सन्देह कहते हैं ।[2]

रसिकगोविन्द—उपमान को देखि के उपमेय की सुधि आवे सो स्मर्ण ।
उपमेय विषै उपमान को भ्रम होइ सो भ्रम ।
उपमान को जहां निश्चय न हो, सो सन्देह ।।[3]

आचार्य कुलपति मम्मट-कृत लक्षणों के भावानुवादक हैं और रसिक गोविन्द उनके भी अनुकर्त्ता गद्य-लक्षण-लेखक हैं । आचार्य सोमनाथ ने भी इसी भाँति लक्षण लिखे हैं, परन्तु सन्देह का लक्षण उन्होंने नहीं दिया है ।[4] अन्य कुछ आचार्यों के लक्षण निम्नलिखित हैं—

भूषण—सम सोभा लखि आन की, सुधि आवत जेहि ठौर ।
स्मृति भूषन तेहि कहत हैं, भूषन कवि सिरमौर ।।७४।।
आन बात को आन में होत जहं भ्रम आय ।
तासों भ्रम सब कहत हैं, भूषण सुकवि बनाय ।।७६।।
कै यह कै वह यों जहं होत आनि सन्देह ।
भूषण सो सन्देह है, या में नांहि सन्देह ।।७८।।[5]

रसरूप—सदृशवस्तु देषत, जहाँ देषै के सुधि होइ ।
स्मृति नाम तासों कहै कवि कोविद सब कोइ ।।
जहाँ कछु वस्तु में सदृश वस्तु सन्देह ।
निश्चयान्त निश्चयगरभ ह्वै विधि सो गुण गेह ।।[6]

गोकुल—उपमा लखि उपमेय का स्मर्न स्मृति है सोय ।
बर्न्य लखे अबर्न्य की सुधि आये है होय ।।१३१।।
सो अतथ्य ज्ञान जहं रूप लखे सम जौन ।
भ्रम को बरनत भ्रान्ति सब अलंकार मति तौन ।।१३३।।

१. कविकुलकल्पतरु—चिन्तामणि, पृष्ठ ५३
२. रसरहस्य—कुलपति, पृष्ठ ६२
३. रसिकगोविन्दआनन्दघन—रसिकगोविन्द, पृष्ठ ३०
४. रसपीयूषनिधि—सोमनाथ, पृष्ठ १५५
५. शिव (राज) भूषण—भूषण, पृष्ठ ४२, ४४
६. तुलसीभूषण—रसरूप, पृष्ठ १८

बहु बिधि बरनत बर्न्य जहं नियत न तथ्य अतथ्य ।
अलंकार सन्देह तहं बरनत हैं मति पथ्य ॥१३४॥[1]

इनमें भूषण तथा रसरूप ने विश्वनाथ के लक्षणों का भावानुवाद किया है। भूषण ने अलंकार के कारण 'सोभा' शब्द का प्रयोग किया है, जो ठीक बैठा है। भ्रान्तिमान् में 'बात' शब्द का प्रयोग खटकता है। इससे लक्षण काव्य-शास्त्रीय नहीं बनता, साधारण बात ही रह जाती है। सन्देह का लक्षण ठीक है। रसरूप ने दोनों लक्षणों में भावानुवाद सावधानी से किया है, जिससे लक्षण स्पष्ट तथा अशिथिल बने हैं।

गोकुल कवि के लक्षण स्पष्टतः अपनी स्वतन्त्र मति के प्रयोग हैं। लक्षणों में असम्बद्धता तथा शिथिलता दोष नहीं है। लक्षण-निर्माण शास्त्रीय दृष्टि से किए गए हैं—

तीसरी प्रकार के लक्षण नाममात्र लेने से स्वयं-सिद्ध बताए गए हैं। इन लक्षणों का श्रीगणेश जसवन्तसिंह ने किया है। जैसे—

जसवन्तसिंह—सुमरन-भ्रम-सन्देह ये लछन नाम प्रकाश ॥[2]

ऐसे लक्षण जयदेव तथा अप्पय्य दीक्षित की पद्धति के हैं। कतिपय लक्षण निम्नलिखित हैं।

(क) मतिराम—एक वस्तु लखि आन को सुमरिन भ्रम सन्देह ।
बरनत भूषन तीन विधि, जे कबिजन मतिगेह ॥८०॥

(ख) बैरीसाल—जब सुमृति भ्रान्ति सन्देह होय, तब अलंकार त्रय कहत सोय ।
शुभ सुमृति मान अरु भ्रांतिमान, संदेहमान को करि बखान ।५७।

(ग) रत्नेश—समृति प्रथम दूजो पुनि भ्रम, भाँति तीजे गुन सन्देह ॥१७॥

(घ) कवि दास—सुमरन अलंकार, भ्रान्तालंकार, सन्देहालंकार इनके ये ही नाम है, अरु ये ही लछन हैं ॥[3]

आचार्य भिखारीदास ने स्मरणालंकार का लक्षण सबसे पृथक् दिया है। यद्यपि यह मम्मट-कृत लक्षण के वृत्तिभाग का भावानुवाद है,[4] तब भी अपने काल के

१. चेतचन्द्रिका—गोकुल, पृष्ठ ३१-३३
२. भाषाभूषण—जसवन्तसिंह, पृष्ठ २८
३. (क) ललितललाम—मतिराम, पृष्ठ १९
(ख) भाषाभरण—बैरीसाल, पृष्ठ ५
(ग) अलंकारदर्पण—रत्नेश, पृष्ठ ८
(घ) अलंकारमाला—कवि दास, पृष्ठ ९
४. यः पदार्थः केनचिदाकारेण नियतः यदाचिदनुभूतोऽभूत । स कालान्तरे स्मृति प्रतिबोधाधायिनि तत्समाने वस्तुनि दृष्टे सति यत् तथैव स्मर्यते तद् भवेत् स्मरणम् ।

काव्यप्रकाशः—मम्मट, पृष्ठ ५४३

लक्षणकारों से भिन्न है। इनके मत में किसी वस्तु के देखने, कुछ सुनने तथा किसी की सुधि करने पर जहां कुछ स्मरण हो आता हो वहाँ स्मरणालंकार होता है।

कछु लखि सुनि कुछ सुधि किये, सो सुमिरन सुख कंद।[1]

भ्रम तथा सन्देह के लिए 'लछन प्रगटे नाम' कहकर काम चलाया है।

याकूबखाँ ने स्मृति को परकीया ऊढ़ा, भ्रान्तिमान को अनूढ़ा परकीया तथा सन्देह को भूतिसुरतगुप्ता नायिका से सम्बद्ध किया है। जैसे—

'स्मृतिपरकीया ऊढ़ा—भ्रान्ति अलंकार अनूढ़ा परकीया नाइका सन्देह अलंकार भूतिसुरतगुप्ता नाइका।'[2]

इन तीनों अलंकारों के लक्षणों के भावानुवादों में भूषण के भ्रमालंकर के लक्षण को छोड़कर किसी पर आपत्ति नहीं की जा सकती, इसी प्रकार गोविन्द, रघुनाथ, पद्माकर, चन्दन, गिरधर आदि आचार्यों ने भी भावानुवाद तथा नामानुवाद मात्र किए हैं।

अपह्नुति

रीतिकाल की संयुगीन प्रकृति के अनुसार यह अलंकार अत्यन्त प्रिय रहा। नायक और नायिकाओं के क्रीड़ागारों में 'न' अक्षर अपना एकछत्र राज्य जमाए हुए था। इसी पर तो अपह्नुति अलंकार का प्रासाद अवस्थित है। इसी कारण इस अलंकार के भेदों का भी सभी आचार्यों ने लक्षण लिख दिया। संस्कृत-साहित्य के परिपाटीगत नाम भी लोक-भाषा में दब गये। अपह्नुति को 'पह्नुत' पर्यस्तापह्नुति को 'परजस्तापह्नुति' कर दिया गया। कैतवा को 'कितवा' का स्थान मिल गया। भ्रान्त तथा हेतु शब्द नहीं हिल पाए। छेकापह्नुति भी नहीं परिवर्तित हुई।

संस्कृत के मम्मट, जयदेव, विद्यानाथ तथा अप्पय्य दीक्षित के अलंकार-लक्षणों का आधार इस अलंकार के लिए विभिन्न आचार्यों ने अपनाया है। चिन्तामणि से पूर्व केशव ने दण्डी का लक्षण भावानूदित किया। किसी बात को छिपाकर अन्य बात कहने में केशव ने अपह्नुति अलंकार माना है। दण्डी के लक्षण का आशय भी यही है।

(क) दण्डी— अपह्नुतिरपह्नुत्य किंचिदन्यार्थदर्शनम् ॥२-३०४॥

(ख) केशव—मन की बात दुराय मुख और कहिये बात।
कहत अपह्नुति, सकल कवि, ताहि बुद्धि अवदात ॥११-१८॥[3]

चिन्तामणि ने विद्यानाथ के लक्षण का भावानुवाद किया है। अनुवाद में अपूर्णता नहीं है—

विद्यानाथ—निषिध्य विषयं साम्याद् अन्यारोपे ह्यपह्नुतिः।[4]

---

१. काव्यनिर्णय—भिखारीदास, पृष्ठ २३०
२. रसभूषण—याकूबखाँ, पृष्ठ ८
३. (क) काव्यादर्शः—दण्डी, पृष्ठ १३४
(ख) कविप्रिया—केशव, पृष्ठ २३६
४. प्रतापरुद्रीययशोभूषणम्—विद्यानाथ, पृष्ठ २७६

चिन्तामणि—विषयी को आरोप कै करि जो विषय निषेध।
ताहि अपन्हुत कहत हैं, धर्महिं समुझि सुमेध ॥१०१[1]

आचार्य मम्मट तथा जयदेव के लक्षण का भावानुवाद भी कुछ आचार्यों ने किया। आचार्य मम्मट की कारिका-वृत्ति का ही अनुवाद रीतिकालीन कवियों ने बहुधा किया। जयदेव ने भी मम्मट की लक्षण-वृत्ति का ही छायाग्रहण अपने लक्षण में किया है। दोनों लक्षण द्रष्टव्य हैं—

मम्मट—प्रकृतं यन्निषिध्यान्यत्साध्यते सा त्वपह्नुतिः।
उपमेयं असत्य कृत्वा उपमानं सत्यतया यत्स्थाप्यते सा त्वपह्नुतिः ॥[2]

अर्थात् उपमेय को असत्य सिद्ध करके उपमान को ही सत्य रूप से जो स्थापित किया जाता है, वह अपह्नुति होती है।

जयदेव का लक्षण इसी वृत्ति की छाया है—

जयदेव—अतथ्यमारोपयितुं तथ्यापास्तिरपह्नुतिः ॥[3]

रघुनाथ, भिखारीदास, रत्नेश तथा गोकुल कवि का लक्षण मम्मट-कृत लक्षण के वृत्ति भाग तथा जयदेवकृत लक्षण से भावानूदित है।

(क) रघुनाथ झूठो सो आरोपिये सांची वस्तु छपाहि।
अलंकार मत सुकवि, सब कहत अपन्हुति ताहि ॥६२॥

(ख) भिखारीदास—और धर्म जहं थापिये सांचो धर्म दुराय।

(ग) रत्नेश— करि असत्य उपमित जितै भाषि सत्य उपमान।
कहत अपन्हुति ताहि को कवित रीति परमान ॥४८॥

(घ) गोकुल कवि— मिथ्या कीजै सत्य को सत्य सु मिथ्या होत।
अपन्हुति षट भेद सों बरनत है कवि गोत ॥१४२॥[4]

इनमें आचार्य भिखारीदास, रत्नेश तथा गोकुल मम्मट की लक्षणवृत्ति के भावानुवादक हैं। रघुनाथ जयदेव के लक्षण को अपने शब्दों में रखने में सफल सिद्ध हुए हैं। इनके अनुवादों में अस्पष्टता तथा भ्रान्ति नहीं है।

अप्पय दीक्षित के लक्षण का आधार लेकर जसवन्तसिंह, मतिराम, कुलपति, भूषन, गोप, कुमारमणि, रसिक सुमति, गोविन्द, सोमनाथ, दूलह, रसरूप, बैरीसाल रत्नेश, रामसिंह, चन्दन, रसिकगोबिन्द, उमेदराय, ब्रह्मदत्त, पद्माकर, राय शिवप्रसाद, गिरिधरदास, प्रतापसाहि, अमीरदास, दामोदर तथा कवि दास ने लक्षण लिखे हैं। कुछ लक्षण दर्शनीय हैं।

---

१. कविकुलकल्पतरु—चिन्तामणि, पृष्ठ ५३
२. काव्यप्रकाशः—मम्मट, पृष्ठ ४७०
३. चन्द्रालोकः—जयदेव, पृष्ठ ६२
४. (क) रसिकमोहन—रघुनाथ, पृष्ठ १३
(ख) काव्यनिर्णय—भिखारीदास, पृष्ठ २१६
(ग) फतेप्रकाश—रत्नेश, (रतन), पृष्ठ ६६
(घ) चेतचन्द्रिका—गोकुल, पृष्ठ ३५

(क) जसवंतसिंह—धरम दुरै आरोप तें, शुद्धापन्हुति जानि ॥६२॥
(ख) मतिराम— औरे को आरोप करि सांच छपावन धर्म ।
शुद्धापह्नुति कहत हैं जे प्रवीन कवि कर्म ॥८७॥
(ग) दूलह— आन ठहरावे मुख्य वस्तु को छपावै ।
(घ) बैरीसाल— जहं काहु को धरम लै करत अनत आरोप ।
शुद्धापन्हुति कहत हैं तहां सुकवि करि चोप ॥६२॥
(ङ) चन्दन— सुद्धापन्हुति सेय यक, आन निषेधत धर्म ।
(च) दामोदर— अभिप्राय निज गुपुति कर औरे अर्थ दिखाव ।
कहत अपन्हुति कवि तहां सुरस रीति के चाव ॥३२॥[1]

सभी लक्षणों में कथन-विविधता है। केवल अनुवाद ही नहीं है, अपितु स्मृति-स्वतन्त्रता का प्रयोग भी है।

इन लक्षणों के अतिरिक्त रघुनाथालंकार के लेखक सेवादास का लक्षण भी सरल एवं सुन्दर बना है। यह लक्षण रीतिकाल में अपने ढंग का अकेला है, परन्तु अलंकार-लक्षण से सखी-वचनों की समन्विति उचित नहीं कही जा सकती। यह स्पष्टता की दृष्टि से तो उचित हो सकती है, परन्तु काव्यशास्त्रीय संकीर्णता का दोष भी इसमें आ जाता है—

सेवादास— पुछति येक सषी प्रकट येक बात कों ठानि ।
ता को उत्तर और है सुधा अपह्नुति जानि ॥४१॥[2]

भेदों के लक्षण भी इसी प्रकार अनूदित करने का प्रयास रीतिकाल के कवि-आचार्यों ने किया है। इन भेदों के लक्षणों पर कुवलयानन्द का प्रभाव अधिक है। शब्दशः अनुवाद नहीं हुए, भावानुवाद या छायानुवाद पर्याप्त मात्रा में हुए हैं। इनमें भी रघुनाथ तथा रामसिंह के लक्षण स्वच्छ हैं। यही दो लक्षण निदर्शनार्थ पर्याप्त हैं—

(क) रामसिंह— अनतहि के गुन अनतहि लहिये ।
पर्यस्तापह्नुति सो कहिये ॥७४॥
(ख) रघुनाथ—अरथ और को लहू के कीजै जहाँ आरोपि ।
परजस्तापह्नुति करै सांची बातें गोपि ॥७३॥[3]

---

१. (क) भाषाभूषण—जसवंतसिंह, पृष्ठ २९
(ख) ललितललाम—मतिराम, पृष्ठ २१
(ग) कविकुलकंठाभरण—दूलह, पृष्ठ २३
(घ) भाषाभरण—बैरीलाल, पृष्ठ ५
(ङ) काव्याभरण—चंदन, पृष्ठ ६
(च) अर्थालंकारमंजरी—दामोदर, पृष्ठ ११

२. रघुनाथालंकार—सेवादास, पृष्ठ ५

३. (क) अलंकार-दर्पण—रामसिंह, पृष्ठ ८
(ख) रसिकमोहन—रघुनाथ, पृष्ठ १८

उत्प्रेक्षा

रीतिकाल के आचार्यों ने उत्प्रेक्षालंकार का प्रायः सीधा अनुवाद किया है। इनमें कुवलयानन्द के लक्षणानुवादक बहुत हैं। आचार्य मम्मट-कृत लक्षण को सावधानी पूर्वक अपनाने वाले 'फतेप्रकाश' के कर्त्ता रत्नेश हैं। दोनों लक्षणों में अनुरूपता है।

(क) मम्मट—सम्भावनमथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य समेन यत् ॥१०-१२७॥

अर्थात् प्रकृत की सम (उपमान) के साथ सम्भावना उत्प्रेक्षा कही जाती है।

(ख) रत्नेश— उपमित की उपमान सों एक रूपता जानि।
जो कीजै सम्भावना सो उत्प्रेक्षा जानि ॥२४॥[1]

प्रकृत के स्थान पर उपमित तथा अप्रकृत के लिए उपमान का प्रयोग रत्नेश न करते तो लक्षण अस्पष्ट हो जाता, क्योंकि हिन्दीभाषा की प्रवृत्ति संस्कृत से भिन्न थी।

आचार्य केशव के लक्षण पर दण्डी, भोज या मम्मट का प्रभाव नहीं पड़ा। उनका लक्षण स्वतन्त्र बुद्धि का परिचायक है—

केशव—केशव और वस्तु में और कीजिये तर्क।
उत्प्रेक्षा ता सों कहैं, जिसकी बुद्धि सम्पर्क ॥६-२०॥[2]

सम्भावना और तर्क में अन्तर है। केशव का तर्क शब्द ही उनके लक्षण की नवीनता का बोधक है।

गोविन्द कवि ने भी केशव के अनुकूल ही अपना लक्षण लिखा है—

गोविन्द—ठहरावे जहां तर्क सों और वस्तु की और।
हेतु अहेतुहि फल अफल उत्प्रेक्षा तिहुं ठौर ॥५७॥[3]

आचार्य कुलपति ने अपने लक्षण में उपमेय से उपमान को अधिक रखने की चर्चा की है, जो संस्कृत के काव्यशास्त्र में भी विवेचित नहीं। इस कारण यह उनकी नवीन उद्भावना ही माननीय है—

कुलपति—सम्भव में जो सांच सों तेहि विधि को उपमान।
अधिक होय उपमेय तें, सो उत्प्रेक्षा जान ॥३४॥[4]

अधिकतर लक्षण कुवलयानन्द के लक्षण पर आधृत हैं। दो लक्षणों का निर्देश ही पर्याप्त है—

(क) कुवलयानन्द—सम्भावना स्यात् उत्प्रेक्षा वस्तुहेतुफलात्मना।

(ख) जसवन्तसिंह—उत्प्रेक्षा सम्भावना वस्तु हेतु फल लेखि।[5]

---

१. (क) काव्यप्रकाशः—मम्मट, पृष्ठ, ४६१
   (ख) फतेप्रकाश—रत्नेश (रतन), पृष्ठ ६०
२. कविप्रिया—केशव, पृष्ठ १६२
३. कर्णाभरण—गोविन्द, पृष्ठ ५
४. रसरहस्य—कुलपति, पृष्ठ ६३
५. (क) कुवलयानन्द—अप्पय्य दीक्षित, पृष्ठ ३४
   (ख) भाषाभूषण—जसवन्तसिंह, पृष्ठ ३३

गोकुल—ऊह कहत सम्भावना सो सिगरे मतिधाम ।
वस्तु हेतु फल में लखे कवि-जन बहुत ललाम ॥१३८॥[1]

कुवलयानन्द के आधार पर मतिराम, भूषण, देव, गोप, कुमारमणि, रसिक सुमति, रघुनाथ, दूलह, रसरूप, बैरीसाल, रत्नेश, रामसिंह, याकूबखां, चन्दन, रसिक गोविन्द, उमेदराय, ब्रह्मदत्त, पद्माकर, राय शिवप्रसाद, गिरिधरदास, अमीरदास, निहाल, दामोदर तथा कवि दास ने लक्षण लिखा है। सबने वस्तु, हेतु और फल भेदों की चर्चा की है। चिन्तामणि, कुमारमणि, रसरूप, भिखारीदास, रसिक गोविन्द, अमीरदास तथा निहाल ने भेदोपभेदों की विस्तृत चर्चा की है। विश्वनाथ तथा अप्पय्य दीक्षित-कृत लक्षणों के भाव एवं छायानुवाद ही हैं। शब्दशः अनुवाद कहीं नहीं। कई विद्वानों ने तो लक्षण नहीं दिए अपितु उदाहरण देकर ही काम चलाया है। बैंरीसाल का उदाहरण लीजिये—

बरीसाल—सिद्ध विषया हेतूत्प्रेक्षा—

करत कोकनद मदहिं रद, तुव पद हत सुकुमार ।
भये अरुण अति दबि मनो पाइजेब के भार ॥८२॥[2]

उत्प्रेक्षालंकार का लक्षण रीतिकाल में भ्रष्ट या विकृत नहीं हुआ, अपितु अपने मूल अर्थ में अक्षुण्ण रहा। केशव और गोविन्द के 'तर्क' शब्द के प्रयोग से लक्षण सुतर्कित हो गया।

अतिशयोक्ति

इस अलंकार में निगरण और अध्यवसान पद का प्रयोग महत्वपूर्ण है। उपमान द्वारा उपमेय का निगरण और अभेदकथन-रूप अध्यवसाय करना ही अतिशयोक्ति है। आचार्य मम्मट से लेकर कुवलयानन्दकार अप्पय्य दीक्षित तक इस लक्षण में शाब्दिक परिवर्तन के अतिरिक्त मूलार्थ वही बना रहा। निगरण की चर्चा मम्मट ने सर्वप्रथम की और अप्पय्य दीक्षित पर आकर सुदृढ़ हो गई। रीतिकाल के आचार्यों ने इस लक्षण का भाव समझ कर लक्षण-निर्माण स्वतंत्रता से किया है। प्रायः आचार्यों ने निगरण या अध्यवसान का नाम तक अपने लक्षणों में नहीं लिया। केवल रत्नेश ने निगरण को निगलि, पद से निगलने-उगलने का दम दिखाया है। मम्मट और रत्नेश के लक्षण यह हैं—

मम्मट—निगीर्याध्यवसानन्तु प्रकृतस्य परेण यत् ।
प्रस्तुतस्य यदन्यत्वं यद्यर्थोक्तौ च कल्पनं ॥१०-१००॥
कार्यकारणयोर्यश्च पौर्वापर्यविपर्ययः ।
विज्ञेयाऽतिशयोक्तिः सा ।[3]

---

१. चेतचन्द्रिका—गोकुल, पृष्ठ ४०
२. भाषाभरण—बैरीसाल, पृष्ठ ७
३. काव्यप्रकाश—मम्मट, पृष्ठ ४८२

रत्नेश—उपमाने आरोपिये जिन्हें निगलि उपमेय ।
वहै और करि मानियैं अतिसयोक्त सो गेय ।।७०।।[1]

आचार्य चिन्तामणि ने अतिशयोक्ति को ही प्रौढ़ोक्ति मान लिया है । विद्यानाथ कृत लक्षण न समझने के कारण अनुवाद में भी ऐसी भ्रांति आ गई है ।

(क) विद्यानाथ—विषयस्यानुपादानाद्विषय्युपनिबध्यते ।
यत्र सातिशयोक्तिः स्यात् कवि-प्रौढ़ोक्तिजीविता ।

(ख) चिन्तामणि—प्रौढ़ोक्ति जो कविन की अतिसयोक्ति हैं सोइ ।
भिन्न अलंकृत भेद तें भिन्न कही जो जोइ ।।१०८।।[2]

विद्यानाथ ने अतिशयोक्ति को कविप्रौढ़ोक्ति से जीवित रहने वाली कहा और चिन्तामणि ने दोनों को एक मान लिया, इसलिए अनुवाद सर्वथा अशुद्ध तथा भारी भ्रम-जनक बन गया ।

आचार्य देव तथा भिखारीदास ने लोकमर्यादा को अतिक्रांत करने वाली उक्ति को अतिशयोक्ति माना है ।

(क) देव—जगत सींव तें ये अधिक, विधि बरनैं अतिस्योक्ति ।

(ख) भिखारीदास—जहां अत्यन्त सराहिए, अतिसयोक्ति सुकहंत ।[3]

आचार्य देव दण्डी से तथा भिखारीदास भामह से ऋण ग्रहण कर अपना लक्षण बनाने में समर्थ हुए हैं । दोनों लक्षण निम्नलिखित हैं—

(क) दण्डी—विवक्षा या विशेषस्य लोकसीमातिवर्तिनी ।
असौ अतिशयोक्तिः स्यात् अलंकार-उत्तमा यथा ।।८-२१४।।

(ख) भामह— निमित्ततो वचो यत्तु लोकातिक्रान्तगोचरम् ।
मन्यन्तेऽतिशयोक्तिं तां अलंकारतया यथा ।।२-८१।।[4]

रीतिकाल के अन्य अतिशयोक्ति अलंकार-लक्षणकारों ने मम्मट, विश्वनाथ तथा अप्पय्य दीक्षित का आधार लेकर भी अपना स्वतन्त्र लक्षण बनाया है । उनमें शब्दतः भावतः या छायातः प्रभाव गृहीत है, इन्हें सीधा अनुवाद नहीं कहा जा सकता । यहां तीन लक्षण उदाहरणतः दिये जा रहे हैं—

रामसिंह—उपमान बरने बोध जहं उपमेय को पहिचानिये ।
तहं रूपकातिशयोक्ति को हिय मांहि नीके आनिये ।।९८।।[5]

---

१. फतेप्रकाश—रत्नेश (रतन), पृष्ठ ७३
२. (क) प्रतापरुद्रीययशोभूषणम्—विद्यानाथ, पृष्ठ २८७
(ख) कविकुलकल्पतरु—चिन्तामणि, पृष्ठ ५५
३. (क) शब्दरसायन—देव, पृष्ठ ११२
(ख) काव्यनिर्णय—भिखारीदास, पृष्ठ २६०
४. (क) काव्यादर्शः—दण्डी, पृष्ठ १०६
(खं) काव्यालंकारः—भामह, पृष्ठ १७
५. अलंकारदर्पण—रामसिंह, पृष्ठ १०

(क) रत्नेश— रूपकातिसयोक्ति जानिये विषई जहाँ बखानो ।
अमल कमल पे कदलि-कदलि पे मृग नाइक उरग मानो ।
मृगनाइक पे गिर, गिर ऊपर द्वै चम्पक की माला ।
ता पर चन्द्र बिम्ब मोती सुक खंजन धनुष सिवाला ॥२४॥

(ख) बैरीसाल—विषय छपाय अवर्ण्य से, होत वर्ण्य को ज्ञान ।
सो रूपकातिशयोक्ति है सुकविन करी प्रमान ॥८६॥

(ग) रसिक गोविन्द—उपमान जहं केवल ही होइ, सो रूपकातिशयोक्ति ।[1]

संस्कृत-काव्यशास्त्र के समान रीतिकाल में अतिशयोक्ति के सापह्नवातिशयोक्ति, भेदकातिशयोक्ति, सम्बन्धातिशयोक्ति, असम्बन्धातिशयोक्ति, अक्रमातिशयोक्ति, चपलातिशयोक्ति, अत्यन्तातिशयोक्ति जैसे भेदों का लक्षण-निर्माण हुआ। भाव और छाया के साथ शब्द-विन्यास में भी अनुसरण करने का प्रयत्न रहा है। उदाहरणतः—

(क) अप्पय्य दीक्षित—सम्बन्धातिशयोक्ति स्यादयोगे योगकल्पनम् ।

(ख) जसवन्तसिंह—सम्बन्धातिशयोक्ति जहं देत अजोगहि जोग ।

(ग) रामसिंह—जहं अजोग में जोग, प्रगट कल्पना कीजिए ।
बरनत हैं कवि लोग, सम्बन्धातिशयोक्ति सो ॥१८४॥[2]

दूसरे लक्षण में कल्पना की बात कह दी गई है तथा प्रगट शब्द और जोड़ दिया गया है, जिसने लक्षण में अत्यधिक स्पष्टता ला दी है। इस तरह आग्रह त्याग कर यह मानना उचित है कि रीतिकाल के अलंकार-लक्षणकारों ने अध्ययन पुरःसर स्वतन्त्र मति का प्रयोग अतिशयोक्ति अलंकार के लक्षण-लेखन में किया है।

तुल्ययोगिता

इस अलंकार का अप्पय्य दीक्षित-कृत लक्षण ही प्रधानतः रीतिकालीन आचार्यों के सामने रहा। सब ने 'वर्ण्य पद' तथा 'इतरेषां' के लिए अवर्ण्य शब्द का प्रयोग किया है। कुवलयानन्द के तुल्ययोगिता-भेदों के लक्षणों के हित-अहित तथा गुणोत्कृष्टता सम्बन्धिनी शब्दावली भी बहुधा इस काल के लक्षणों में उतर आई है।

तुल्ययोगिता के तीनों लक्षण तो अनूदित होकर काव्य-शास्त्रीय ग्रंथों में आए, परन्तु रामसिंह तथा पद्माकर ने इन्हें चार भेदों में बांट दिया है। चारों भेदों के रामसिंह-कृत लक्षण संक्षिप्त तथा स्पष्ट हैं।

---

१. (क) अलंकारदर्पण—रत्नेश, पृष्ठ ३
(ख) भाषाभरण—बैरीसाल, पृष्ठ ७
(ग) रसिकगोविन्दआनन्दघन—रसिक गोविन्द, पृष्ठ ३५

२. (क) कुवलयानन्दः—अप्पय्य दीक्षित, पृष्ठ ४९
(ख) भाषाभूषण—जसवन्तसिंह, पृष्ठ ३६
(ग) अलंकारदर्पण—रामसिंह, पृष्ठ १०

रामसिंह—प्रथम तुल्ययोगिता—

एक धर्म बर्न्यन को होइ।
तुल्ययोगिता कहिये सोइ ॥११४॥

द्वितीय तुल्ययोगिता—

धर्म अबर्न्यत को इक जहाँ।
तुल्ययोगिता दूजी तहाँ ॥११६॥

तृतीय तुल्ययोगिता—

एक वृत्ति करि वर्णन कीजे हितमें और अहित में।
तुल्ययोगिता यह तीसरी नीके धरिये चित में ॥११८॥

चौथी तुल्ययोगिता—

बड़े गुनन करि उपमा उपजे जहाँ बराबर लहिये।
यह है तुल्ययोगिता चौथी समझ भली विधि कहिये ॥१२०॥[1]

आचार्य कुलपति ने दीपक और तुल्ययोगिता में अन्तर ही नहीं माना, तुल्ययोगिता के प्रति इतनी भ्रान्ति कुलपति को रही, यह आश्चर्यकारी घटना है। दीपक में तो प्रस्तुताप्रस्तुतों का एक धर्म से सम्बन्ध होता है जब कि तुल्ययोगिता में प्रस्तुतों या अप्रस्तुतों का एक धर्म से सम्बन्ध बताया जाता है। लक्षण निम्न-लिखित हैं —

कुलपति—दीपक ही सो भेद यह, नियत एक ही होय।
उपमाने उपमेय को, तुल्ययोगिता सोय ॥९६॥[2]

नियत संबंधी कथन कुलपति ने मम्मट से लिया, परन्तु उपयोग ठीक नहीं हुआ, इसलिए कुलपति-कृत लक्षण ही तुल्ययोगिता का नहीं बना।

गिरिधरदास ने विश्वनाथ-कृत लक्षण को अपना आधार बना कर भावानुवाद किया। वृत्ति को भी अपने लक्षण में ले लिया है—

(क) विश्वनाथ—पदार्थानां प्रस्तुतानामन्येषां वा यदा भवेत्।
एक धर्माभिसम्बन्धः स्यात्तदा तुल्ययोगिता ॥४८॥
अन्येषां अप्रस्तुतानां। धर्मागुणक्रियारूपः॥

(ख) गिरिधरदास— क्रिया और गुणकरि जहां धर्म एकता होइ।
बर्ण्य को के इतर को तुल्ययोगिता सोइ ॥१०४॥[3]

रीतिकाल के जसवन्तसिंह, मतिराम, गोप, कुमारमणि, रसिक सुमति, रघुनाथ, गोविन्द, सोमनाथ, दूलह, रसरूप, भिखारीदास, बैरीसाल, याकूब खाँ, सेवादास, चन्दन, गोकुल, रसिकगोविन्द, उमेदराय, ब्रह्मदत्त, पद्माकर, राय शिव-

१. अलंकारदर्पण—रामसिंह, पृष्ठ ११
२. रसरहस्य—कुलपति, पृष्ठ, ७१
३. (क) साहित्यदर्पणः—विश्वनाथ, पृष्ठ ३२७
(ख) भारतीभूषण—गिरिधरदास, पृष्ठ ११

प्रसाद, अमीरदास, निहाल, दामोदर तथा कवि दास ने अप्पय्य दीक्षित कृत लक्षण से भावानुवाद किए हैं। लक्षणों में अस्पष्टता तथा शिथिलता नहीं है।

दीपक

दीपकालंकार में उपमान, उपमेय के धर्मैक्य का वर्णन रहता है। इस अलंकार के लक्षण के लिए रीतिकाल के आचार्य संस्कृत की लक्षण-बद्धता से मुक्त नहीं हो पाए। दीपक के लक्षण में वर्ण्य-अवर्ण्य तथा प्रकृताप्रकृत शब्दों का प्रयोग होता रहा है।

आचार्य केशव का दीपकालंकार-लक्षण दण्डीकृत लक्षण का भावानुवाद है।

(क) दण्डी—जातिक्रियागुणद्रव्यवाचिनैकत्रवर्तिना।
सर्ववाक्योपकारश्चेत् तदाहुर्दीपकं यथा ॥२-९७॥

(ख) केशव—वाच्य क्रिया गुण द्रव्य को, बरनहु करि इकठौर।
दीपक दीपति कहत हैं केशव कवि सिरमौर ॥१३-२१॥[1]

केशव से 'सर्ववाक्योपकार' की बात अलंकार में न बाँधी जा सकी, इसलिए दीपक की आत्मा का आलोक भी लक्षण में आलोकित नहीं हो पाया है।

चिन्तामणि, कुलपति तथा रत्नेश ने आचार्य मम्मट-कृत लक्षण का अनुवाद किया है।

(क) मम्मट— सकृद्वृत्तिस्तु धर्मस्य प्रकृताप्रकृतात्मनाम्।
सैव क्रियासु बह्वीषु कारकस्येति दीपकम् ॥१०-१०३॥

(ख) चिन्तामणि— प्रकृति की और अप्रकृति की वृत्ति एक ही बार।
कारक की बहुक्रियन में दीपक उक्ति उदार ॥१८१॥

(ग) कुलपति— प्रकृति अप्रकृति द्वै बहु एक क्रिया जहां ठाउं।
द्रव्य एक व्यापार बहु द्वै विधि दीपक नाउं।[2]

टीका—यहां प्रकृति उपमेय, अप्रकृति उपमान, द्रव्य-वस्तु, क्रिया करना जानियो।

रत्नेश— जित उपमित उपमान गत धर्म क्रियादिक एक।
कारक एक क्रिया बहुति दीपकहु विधि विवेक ॥८२॥[3]

चिन्तामणि-कृत लक्षणानुवाद शब्दशः पूर्ण है। कुलपति ने द्रव्यादि अपने मत में जोड़ दिये हैं। रत्नेश ने प्रकृताप्रकृत के लिए 'उपमेयोपमान' का प्रयोग कर भावानुवाद सफलता से कर दिया है। तीनों लक्षणों में स्पष्टता तथा सरलता आ गयी है।

---

१. (क) काव्यादर्शः—दंडी, पृष्ठ ७४
(ख) कविप्रिया—केशव, पृष्ठ २६४

२. (क) काव्यप्रकाशः—मम्मट, पृष्ठ ४८७
(ख) कविकुलकल्पतरु—चिन्तामणि, पृष्ठ ७०
(ग) रसरहस्य—कुलपति, पृष्ठ ७०

३. फतेप्रकाश—रत्नेश (रतन), पृष्ठ ७८

चिन्तामणि ने विद्यानाथ का लक्षण भी अनूदित किया है ।

(क) चिन्तामणि—प्रस्तुति अप्रस्तुतिन को सदृस धर्म संयोग ।
गम्य होइ औपम्य जित तित दीपक कह लोग ॥१८२॥

(ख) विद्यानाथ— प्रस्तुतानां अप्रस्तुतानांतु सामस्त्यै तुल्यधर्मतः ।
औपम्यं गम्यते यत्र दीपकं तन्निगद्यते ॥[1]

विद्यानाथ-कृत लक्षण का भी पूर्ण, सरस एवं शुद्ध अनुवाद चिन्तामणि ने किया है ।

गोप तथा सेवादास के दीपक-लक्षण में स्वतन्त्र मति का परिचय दिया गया है । गोप ने उपमेय, उपमान के 'जुदे-जुदे' धर्मों की एक क्रिया होने से दीपक की स्थिति मानी है और सेवादास ने तो 'जैसा उपमेय वैसा उपमान' कह कर दीपक को लक्षणबद्ध कर दिया है । इससे दीपक का लक्षण तो बना नहीं, उससे भ्रमात्मक अंधकार अवश्य फैल गया है । गोप ने भी अधूरा ही लक्षण बना दिया, जिससे अस्पष्टता बढ़ गई है । दोनों लक्षण द्रष्टव्य हैं—

(क) गोप— धर्म जुदे जुदे जहं पाइयो क्रिया एक ही होय ।
सोई दीपक जानिये गोप कहे कवि लोय ॥७०॥

(ख) सेवादास— जैसो ही उपमेय है तैसो ही उपमान ।
दीपकु ता सो कहत हैं ताको प्रकट बखान ॥७२॥[2]

यही दशा आचार्य भिखारीदास-कृत दीपक-लक्षण की भी है । इनका लक्षण भी अस्पष्ट ही है—

भिखारीदास—एक शब्द बहु में लगे दीपक जाने सोइ ।[3]

इसमें बहुतों में एक शब्द के लगने की बात से उपमेय-उपमानों की ओर जाने के लिए प्रबुद्ध पाठक ही चाहिये । सरल विधि से तो लक्षण का अर्थ ही नहीं लगता ।

बहुधा कुवलयानन्द में दिये लक्षण को रीतिकालीन अलंकार-लेखकों ने अनूदित किया है । तीन लक्षण निदर्शन-हेतु यहां दिये जा रहे हैं—

(क) पद्माकर— दीपक बर्न्य अबर्न्य को धर्म इके जु लखाइ ।

(ख) उमेदराय— अनिबर्न्य वर्न्य को धर्म एक ।
सो जानहु 'दीपक' जुत बिबेक ।

(ग) रसिकगोविन्द—अपने अपने गुननि सहित वर्ण्य अवर्ण्य को एक ही भाव जहां होइ, सो दीपक ॥[4]

---

१. (क) कविकुलकल्पतरु—चिन्तामणि, पृष्ठ ७०
(ख) प्रतापरुद्रीययशोभूषणम्—विद्यानाथ, पृष्ठ २०९

२. (क) रामचन्द्राभरण—गोप, पृष्ठ ८
(ख) रघुनाथालंकार—सेवादास, पृष्ठ ६

३. काव्यनिर्णय—भिखारीदास, पृष्ठ ५१८

४. (क) पद्माभरण—पद्माकर, पृष्ठ ४८
(ख) वाणी-भूषण—उमेदराय, पृष्ठ १२
(ग) रसिकगोविन्दआनन्दघन—रसिकगोविन्द, पृष्ठ ३६

आवृत्तिदीपक

दीपक का आवृत्तिदीपक-भेद भी रीतिकाल में लक्षण-बद्ध हुआ, बहुसंख्यक आचार्यों ने अप्पय्य दीक्षित-कृत-लक्षण का भावानुवाद किया है। इसलिए इन लक्षणों को पृथकत: दिखाने का संकोच किया जा रहा है। इस काल में केशव का 'मणि-दीपक' सुन्दर भेद भी सामने आया। इसका विवेचन केशव के नवीन अलंकार-प्रसंग में किया चुका है।

दीपकवृत्ति नाम जसवन्तसिंह ने कर दिया और रीतिकाल में बहुधा आवृत्ति-दीपक के स्थान पर इसी नाम से यह अलंकार कहा जाता रहा। जसवंतसिंह से लेकर कवि दास तक २६ विवेच्य आचार्यों ने इस अलंकार का लक्षण लिखा है।

प्रतिवस्तूपमा

इस अलंकार में उपमेय तथा उपमान वाक्य में एक ही समानधर्म पृथक् पृथक् रूप से निर्दिष्ट होता है। आचार्य मम्मट, विद्यानाथ, विश्वनाथ, जयदेव तथा अप्पय्य दीक्षित का लक्षण एक-सा ही (शब्दान्तर से) रहा है। गम्यौपम्य की चर्चा विद्यानाथ तथा विश्वनाथ ने की है। जयदेव और अप्पय्य दीक्षित ने गम्यौपम्य की चर्चा अपने लक्षणों में नहीं की है। लक्षण निम्नलिखित हैं—

(क) मम्मट— प्रतिवस्तूपमा तु सा
सामान्यस्य द्विरेकस्य यत्र वाक्ये द्वये स्थिति:।
(ख) विद्यानाथ—यत्र सामान्यनिर्देश: पृथग्वाक्ये द्वये यदि।
गम्यौपम्याश्रिता सा स्यात् प्रतिवस्तूपमा मता॥
(ग) विश्वनाथ—प्रतिवस्तूपमा सा स्याद् वाक्ययोर्गम्यसाम्ययो:।
एकोऽपि धर्मसामान्यो यत्र निर्दिश्यते पृथक्॥
(घ) जयदेव—वाक्ययोरर्थ-सामान्ये प्रतिवस्तूपमा मता ॥६५॥
(ङ) अप्पय्य दीक्षित—वाक्ययोरेकसामान्ये प्रतिवस्तूपमा मता ॥[1]

चिन्तामणि, कुलपति तथा रत्नेश ने मम्मट-कृत लक्षण का आधार स्वीकृत लक्षणों में लिया। चिन्तामणि ने भावानुवाद किया। कुलपति ने छाया ग्रहण की है और रत्नेश ने शब्दत: अनुवाद करने की चेष्टा की। भाव-संरक्षण तो लक्षण में हो गया, परन्तु शब्दत: अनुवाद पूर्णरूप से रत्नेश से नहीं बना। लक्षण निम्न-लिखित हैं—

---

१. (क) काव्यप्रकाश:—मम्मट, पृष्ठ ४८४
(ख) प्रतापरुद्रीययशोभूषणम्—विद्यानाथ, पृष्ठ ३१०
(ग) साहित्यदर्पण:—विश्वनाथ, पृष्ठ ३८६
(घ) चन्द्रालोक:—जयदेव, पृष्ठ ७७
(ङ) कुवलयानन्द:—अप्पय्य दीक्षित, पृष्ठ ६३

(क) चिन्तामणि—सदृस धर्म इतक जो शब्द भेद सो होइ ।
कथित एक द्वै वाक में प्रतिवस्तूपमे सोइ ।।१८६।।

(ख) कुलपति—समता सूचक पद जहां रहै एक द्वै भाँति ।
सो है प्रतिवस्तूपमा, पद समूह की कान्ति ।।२७।।

(ग) रत्नेश—जित उपमित उपमान विव वा के यक सम धर्म ।
शब्द भेद सों होत है, प्रतिवस्तूपमा कर्म ।।७६।।[1]

आचार्य मम्मट के समान चिन्तामणि तथा रत्नेश ने प्रतिवस्तूपमामाला का नाम निर्देश किया है—लक्षण नहीं दिया है ।

अन्य आलंकारिकों के बहुसंख्यक लक्षणों पर कुवलयानन्द में दिए प्रतिवस्तूपमा-लक्षण का स्पष्ट प्रभाव है । दो लक्षण उदारणतः यहां दिये जा रहे हैं—

(क) उमेदराय—उपमे उपमान सुवाक्ये दोय ।
पद जुदे एक ही धर्म होय ।
प्रतिवस्तूपमा सो अलंकार ।
उच्चारै जितै कवि मति उदार ।।६२।।

(ख) बैरीसाल—है जहां वर्ण्य अवर्ण्य की, धर्म एक पद दोइ ।
ता को प्रतिवस्तूपमा कहत सुकवि सब कोइ ।।[2]

रीतिकाल में लिखे गये प्रतिवस्तूपमा के लक्षणों में शिथिलता नहीं दिखाई पड़ती । उदाहरण के लिए गोकुल कवि का लक्षण भी प्रस्तुत किया जा सकता है—

गोकुल—वाक्य एक समान को जहाँ कहत कवि लोय ।
प्रतिवस्तूपमा तहां कहत क्रिया है दोय ।।२३६।।[3]

लक्षण कितना स्पष्ट, सरल एवं सुबोध है । इस प्रकार के परिष्कृत लक्षणों की परम्परा रीतिकाल के अन्त में प्रचलित हो गई थी ।

निदर्शन

निदर्शनालंकार संस्कृत-काव्यशास्त्र में भामह के काल से प्रचलित हुआ और दण्डी के काल में उसके सद्-असद् दो प्रमुख भेद हो गये । आचार्य मम्मट के काल में आकर इसके लक्षण में असम्भव संबंध होते हुए भी उपमा का परिकल्पन समन्वित हो गया । विद्यानाथ ने भी इस सम्बन्ध को जीवित रखा, परन्तु आचार्य विश्वनाथ ने उसे असम्भव और सम्भव की कोटि में रख दिया । जयदेव इससे सहमत न हुए और उन्होंने असम्भव सम्बन्ध की चर्चा इस लक्षण में छोड़ दी, वही बात अप्पय्य दीक्षित ने भी पकड़े रखी और निदर्शना में वाक्यार्थों में ऐक्यारोप ही प्रचलित हो गया ।

---

१. (क) कविकुलकल्पतरु—चिन्तामणि, पृष्ठ ७२
(ख) रसरहस्य—कुलपति, पृष्ठ ६२
(ग) फतेप्रकाश—रत्नेश, (रतन) पृष्ठ ७६

२. (क) वाणीभूषण—उमेदराय, पृष्ठ १२
(ख) भाषाभरण—बैरीसाल, पृष्ठ ६

३. चेतचन्द्रिका—गोकुल, पृष्ठ ५६

आचार्य केशव का निदर्शनालंकार दण्डी के लक्षण से प्रभावित है। दण्डी निदर्शना वहां मानते हैं, जहाँ किसी अन्य कार्य में प्रवृत्त होने पर उसके अनुरूप किसी अच्छे या बुरे फल की प्राप्ति दिखाई जाती है। परन्तु केशव के अनुसार निदर्शनालंकार वहाँ होता है, जहां किसी भी एक ढंग से भली और बुरी बातों का समान परिणाम प्रकट किया जाता है। दोनों लक्षण पठनीय हैं —

(क) दण्डी— अर्थान्तर प्रवृत्तेन किंचित् तत्सदृशं फलम्
सदसद्वा निदर्श्येत यदि तत्स्यान्निदर्शनम् ॥२-३४८॥

(ख) केशव— कौन हु एक प्रकार से सत अरु असत समान।
करिये प्रगट निदर्शना समुभत सकल सुजान ॥११-४६॥[1]

रीतिकाल का आचार्य-मण्डल काव्यप्रकाश की परम्परा से भी प्रभावित था और जयदेव-अप्पय दीक्षित से भी। इसलिए मम्मट तथा विद्यानाथ से लक्षण-निर्माण में प्रभाव-ग्रहण करने वालों में चिन्तामणि, कुलपति और रत्नेश का नाम प्रमुख है। दोनों वर्गों ने इस प्रकार लक्षण लिखे—

(क) मम्मट— निदर्शना—अभवन्वस्तुसम्बन्धः उपमा परिकल्पकः।

(ख) चिन्तामणि—अनहोनी जग वस्तु को कछु सम्बन्ध जो होइ।
उपमा परकल्पक इते निदर्सना कहि सोइ ॥१६८॥[1]

(ग) कुलपति—जहाँ संबंध बने न, तब उपमा में विश्राम।
हेत क्रिया करि दोय है, निदरसना सुख धाम ॥६६॥

(घ) रत्नेश—कह्यौ अर्थ अनमिल जिते उपमा में ठहराइ।
कवि कोविद सब कहत हैं निदर्शना समुभाइ ॥५६॥[2]

आचार्य चिन्तामणि ने लक्षण का शाब्दिक अनुवाद किया है और अनुवाद में अस्पष्टता तथा दुर्बोधता नहीं रही है।

आचार्य भिखारीदास-कृत निदर्शना-लक्षण अस्पष्ट है। इन्होंने निदर्शना के लक्षण में कहा है कि जहां एक क्रिया से दूसरी क्रिया दिखाई पड़े, चाहे वह सत्य पर आश्रित हो, चाहे असत्य पर, वहां निदर्शना होती है। दण्डी तथा केशव का प्रभाव इस लक्षण पर दृष्टिगत होता है।

भिखारीदास—एक क्रिया ते देत जहाँ, दूजी क्रिया लखाय।
सत असतहु से कहत हैं निदर्शना कवि राय ॥[3]

---

१. (क) काव्यादर्शः—दण्डी, पृष्ठ १४७
(ख) कविप्रिया—केशव, पृष्ठ २३७

२. (क) काव्यप्रकाशः—मम्मट, पृष्ठ ४७४
(ख) कविकुलकल्पतरु—चिन्तामणि, पृष्ठ ७३
(ग) रसरहस्य—कुलपति, पृष्ठ ६७
(घ) फतेप्रकाश—रत्नेश, (रतन) पृष्ठ ६६

३. काव्य-निर्णय—भिखारीदास, पृष्ठ १८६

निदर्शना का अर्थ आचार्य मम्मट ने दृष्टान्त बनाना माना है—
निदर्शनं दृष्टान्तकरणम् ॥[1]

आचार्य भिखारीदास के इस लक्षण में तो दृष्टान्त बनने की बात हो नहीं उठती। न ही सम्भव, असम्भव या आरोप की चर्चा है। इसीलिए यह लक्षण अधूरा तथा अस्पष्ट है। आचार्य देव-कृत लक्षण उनकी बौद्धिक अकुशलता के प्रतीक-रूप में दिया जा रहा है—

देव—भिन्न वाक्य विधि अर्थ मिलि कहै निदर्सन जानि।
उदाहरण निज वाक्य को दृष्टान्त सो जानि ॥[2]

देव के इस लक्षण में भिन्न से असम्भव-सम्भव की कल्पना की जा सकती है, परन्तु उपमा-परिकल्पना कहां से की जाएगी? दृष्टान्त शब्द से लक्षण में असम्बद्धता आ गई है।

'कुवलयानंद' के लक्षणों से बहुसंख्यक आचार्य भावानुवाद करने में सफल रहे हैं। जसवन्तसिंह, मतिराम भूषण, गोप, कुमारमणि, रसिकसुमति, रघुनाथ, गोविन्द सोमनाथ, दूलह, रसरूप, बैरीसाल, रत्नेश, रामसिंह, याकूबखाँ, चन्दन, गोकुल, रसिकगोविन्द, उमेदराय, ब्रह्मदत्त, पद्माकर, राय शिवप्रसाद, गिरिधरदास, दामोदर और कवि दास के लक्षण अप्पय्य दीक्षित-कृत लक्षणों की ही भाषाप्रतिकृति है। इनमें से रसरूप तथा रसिकगोविन्द के लक्षण दर्शनीय हैं—

(क) रसरूप—सदृश वाक्य जुग अर्थ को जहाँ ए आरोप।
या विधि प्रथम निदर्शना भाषत करत जु लोप ॥

(ख) गोकुल कवि—वाक्य जो ताके अर्थ को सदृश एक आरोप।
जहां कहत निदर्सना सुकवि कहै चित चोप ॥[3]

इसी भाँति अन्य भेदों के लक्षण भी अनूदित किए गए हैं। इनके लक्षणों में विकार नहीं आया, न ही अस्पष्टता है।

व्यतिरेक

इस अलंकार के लक्षण में मम्मट से अप्पय्य दीक्षित तक दो परिवर्तन हुए। मम्मट ने कहा कि उपमान से उपमेय का आधिक्य बताना ही व्यतिरेकालंकार का विषय है। विद्यानाथ ने उपमान-उपमेय में आधिक्य और अल्पता से भेद-कथन की

---

१. काव्यप्रकाशः—मम्मट, पृष्ठ ४७५
२. शब्दरसायन—देव, पृष्ठ ११८
३. (क) तुलसीभूषण—रसरूप, पृष्ठ २३
(ख) चेत-चन्द्रिका—गोकुल, पृष्ठ ६०

अनिवार्यता व्यतिरेक में मानी। यही विश्वनाथ को भी मान्य रहा।[1]

जयदेव और अप्पय्य दीक्षित का लक्षण इन दोनों से अधिक मनोवैज्ञानिक हो गया। दोनों ने उपमान-उपमेय में किसी एक का दूसरे से विशेष होना व्यतिरेकालंकार का क्षेत्र माना है।[2]

इस तरह बात मम्मट-विद्यानाथ वाली ही रही, क्योंकि जो विशेषतायुक्त हो गया, उससे दूसरा हीनता या अल्पत्व युक्त स्वतः हो गया।

रीतिकाल के आचार्यों में केशव ने अपना व्यतिरेक-लक्षण दण्डी से भावानूदित किया। दण्डी व्यतिरेक वहां मानते हैं, जहां दो सदृश वस्तुओं में कुछ भेद दिखलाया जाता है। केशव ने दो समान वस्तुओं में कुछ भेद लाने को व्यतिरेक का क्षेत्र माना है। युक्ति तथा सहज नाम से दो व्यतिरेक-भेद कर दिये हैं। युक्ति व्यतिरेक ही बाद में अनुभय पर्यवसायी बन गया है। यही दण्डी-कथित श्लेषव्यतिरेक था। दोनों के व्यतिरेक-लक्षण समान आधार के हैं—

(क) दण्डी—शब्दोपात्ते प्रतीते वा सादृश्ये वस्तुनोर्द्वयोः।
तत्र यद् भेदकथनं व्यतिरेकः स कथ्यते ॥२-१८०॥

(ख) केशव—तामें आने भेद कछु, होय जु वस्तु समान।
सो व्यतिरेक सुभांति द्वै, युक्ति, सहज, परमान ॥११-७८॥[3]

आचार्य चिन्तामणि, कुलपति, कुमारमणि, रसिक सुमति, सोमनाथ, रघुनाथ, गोविन्द तथा रत्नेश ने भी व्यतिरेकालंकार के लक्षण-निर्माण में मम्मट-कृत लक्षण को ही आधार बनाया है। इनके लक्षण दर्शनीय हैं—

(क) मम्मट—उपमानाद् यदन्यस्य व्यतिरेकः स एव सः।[4]

(ख) चिन्तामणि— अधिक जहां उपमेय, कवि घट बरनत उपमान।
तहां वितरेक बनाइ कै बरनत सुकवि सुजान ॥२०३॥

---

१. (क) उपमानाद् यदन्यस्य व्यतिरेकः स एव सः।
काव्यप्रकाशः—मम्मट, पृष्ठ ४६१

(ख) भेदप्रधानसाधर्म्यमुपमानोपमेययोः।
आधिक्याल्पत्व कथनाद् व्यतिरेकः स उच्यते।
प्रतापरुद्रीय-यशोभूषणम्—विद्यानाथ, पृष्ठ ३१३

(ग) आधिक्यमुपमेयस्योपमानान्न्यूनताथवा व्यतिरेकः ॥५२॥
साहित्यदर्पणः—विश्वनाथ, पृष्ठ ३१५

२. व्यतिरेको विशेषश्चेदुपमानोपमेययोः ॥५६॥
चन्द्रालोकः—जयदेव, पृष्ठ ८०

व्यतिरेको विशेषश्चेदुपमानोपमेययोः ॥८७॥
कुवलयानन्दः—अप्पय्य दीक्षित, पृष्ठ ८०

३. (क) काव्यादर्शः—दण्डी, पृष्ठ ६७
(ख) कविप्रिया—केशव, पृष्ठ २३३

४. काव्यप्रकाशः—मम्मट, पृष्ठ ४६१

उपमेय गत उतकर्ख अरु अपकर्ख जहाँ उपमान को।
जहां होत है इन दुहुन को दूत कथन सुकवि सुजान को।
कहुं कथन होइ दूहून कहूं एक ही के जानिये।
कहुं शब्द ते कहुं अर्थ ते आद्धेय ते कहुं मानिये ।।२०४।।[1]

(क) कुलपति— जहाँ अधिक उपमान तें कहियत है उपमेय।
सो व्यतिरेक बखानिये, ऊँच नीच गुन भेय ।।९८।।
गुन कहिये उपमेय को अरु औगुन उपमान।
कै गुनहिं कै औगुने, कै दोऊ नहिं आन ।।९९।।
बहु भांति चौबीस हुं होय भेद ए चारि।
समता शब्द ए अर्थ कहै भाव सलेष विचारि।।१००।।

(ख) गोप—जो उपमेय कहै अधिको उपमान ते सो व्यतिरेक ह्वै।

(ग) कुमारमणि—जहां विशेष उपमेय हैं, उपमान ते दिखाइ।
भूषण सो व्यतिरेक है उपमा में कहि जाइ ।।१०८।।

(घ) रसिक सुमति—व्यतिरेक उपमान ते कछु अधिक उपमेइ।

(ङ) रघुनाथ—उपमा ते उपमेय में जहां अधिकाई होत।
अलंकार व्यतिरेक सो बरनत हैं कवि गोत ।।१६८।।

(च) गोविन्द— उपमेयहि उपमान ते तहं बिसेस कछु होइ।
बरनत हैं व्यतिरेक तहं अलंकार सब कोइ।।

(छ) सोमनाथ— जहं होइ उपमान तहं कछु गुन बढ़ि उपमेइ।
सो वितरेक बषानिये रसिकनि को सुष देइ ।।१०१।।

(ज) रत्नेश— जित उपमित उपमान तें अधिक बषाने होइ।
अलंकार व्यतिरेक कवि कोविद भाषत सोइ ।।९०।।
कहि उपमित उतकर्षता उपमानहिं अपकर्ष।
प्रथम भेद व्यतिरेको भाषत भरत सहर्ष ।।९१।।
कै उतकरष सुभाषिये कै अपकर्ष सुजत्थ।
कै दोऊ कहिये न जित तीनों भेद अकत्थ ।।९२।।
चारों है द्वै होहिं जौ उपमा वचन समादि।
सो वाचनिकनि होंहि तो आदिप्ता उपमादि ।।९३।।
श्लेषाश्लेष विभेद तें आगे सोरह जानि।
कहें भेद व्यतिरेक के भाषे भरत बषानि ।।९४।।[2]

---

१. कविकुलकल्पतरु—चिन्तामणि, पृष्ठ ७५
२. (क) रसरहस्य—कुलपति, पृष्ठ ७२
(ख) रामचन्द्राभरण—गोप, पृष्ठ ६
(ग) रसिक-रसाल—कुमारमणि, पृष्ठ १६७
(घ) अलंकारचन्द्रोदय—रसिकसुमति, पृष्ठ ३
(ङ) रसिकमोहन—रघुनाथ, पृष्ठ २६
(च) कर्णाभरण—गोविन्द, पृष्ठ ६
(छ) रसपीयूषनिधि—सोमनाथ, पृष्ठ १६४
(ज) फतेप्रकाश—रत्नेश, पृष्ठ ८०-८१

इन लक्षणों पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट पता चलता है कि चिन्तामणि तथा रत्नेश ने भावानुवाद सफलता से किया है। मम्मट-कृत लक्षण की वृत्ति का भावानुवाद भी भेदों के रूप में किया गया है। कुलपति ने लक्षणाकारिका तो मम्मट से अनूदित की परन्तु भेद विश्वनाथ से प्रभावित होकर लिखे। उपमान-उपमेय के उत्कर्षापकर्ष के स्थान पर कुलपति ने गुण-अवगुण की चर्चा कर ली है। लक्षण में सरलता है। गोप, कुमारमणि, रसिकसुमति, रघुनाथ, गोविन्द तथा सोमनाथ ने केवल मम्मट-कृत लक्षणकारिका का अनुवाद किया है। गोप तथा रघुनाथ का लक्षण शब्दशः ठीक है। गोविन्द ने अधिकता के लिए विशेष शब्द का प्रयोग किया है, सोमनाथ ने गुण का। इस तरह स्वतन्त्रमति के योगदान से इन लक्षणकारों ने साधार लक्षण बनाए हैं।

आचार्य भिखारीदास ने स्वतन्त्रता से चिन्तन करने के अनन्तर लिखा है कि 'व्यतिरेकालंकार' वहाँ होता है, जहां उपमेय का पोषण किया जाय और उपमान का दूषण अर्थात् अपकर्ष बताया जाए परन्तु उपमेय और उपमान को समान न बताया जाय।' यद्यपि अप्पय्य दीक्षित ने कहा है कि समानता बताकर भी किसी गुण विशेष से उपमेय को अधिक बता दिया जाना चाहिए। इस तरह भिखारीदास ने अपना मत उस युग में सबसे पृथक् स्थापित किया।

भिखारीदास—पोषन करि उपमेय को, दूषन दे उपमान।
नहि समान कहिये, तहाँ, है व्यतिरेक सुजान।
कहुं पोषन कहुं दूषने, कहें कहुं नहि दोउ।
चारि भांति व्यतिरेक है, यह जानत सब कोउ।[1]

जयदेव तथा अप्पय्य दीक्षित के प्रभाव से बहु-संख्यक अलंकारकार लक्षण लिखते रहे। दो उदाहरण देना ही उचित है—

(क) बैरीसाल—है जहं वर्ण्य अवर्ण्य में, कछु विशेष को ज्ञान।
कहै त्रेधा व्यतिरेक तहं, अधिक न्यून सम जान॥

(ख) सेवादास—उपमाने उपमेय में जो विसेष कछु होइ।
ताहि कहत व्यतिरेक सो यह जाने सब कोइ॥७८॥[2]

बैरीसाल ने 'त्रेधा' भेद की बात स्वयं स्पष्ट कर दी है। यद्यपि कुवलयानन्द में भी आधिक्य, न्यूनता तथा अनुभय पर्यवसायी नामक तीन भेद कहे गये हैं।[3] तथापि बैरीसाल ने उसे हिन्दी में स्पष्ट कर दिया है। सेवादास का अनुवाद शब्दशः किया गया है, जो शुद्ध, स्पष्ट एवं सरल है। यह लक्षण कारिका का सफल अनुवाद है।

व्यतिरेक के भेदों के लक्षण संस्कृत-काव्यशास्त्र में भी नहीं दिये गये हैं। केवल दण्डी तथा रुद्रट ने दिये हैं। परन्तु उनका प्रभाव रीतिकाल पर नहीं पड़ा है। प्रभावी

१. काव्यनिर्णय—भिखारीदास, पृष्ठ २३४-२३८
२. (क) भाषाभरण—बैरीसाल, पृष्ठ १०
(ख) रघुनाथालंकार—सेवादास, पृष्ठ ६
३. कुवलयानन्दः—अप्पय्य दीक्षित, पृष्ठ २०

आचार्यों ने भेदों की गणना उत्कर्ष, अपकर्ष तथा श्लेषादि के कारण की है, वैसी ही रीतिकाल के कवि-आचार्यों ने भी की है। इसलिए उनका विवेचन अपेक्षित नहीं।

सहोक्ति-विनोक्ति

ये अलंकार सह (साथ) तथा बिना शब्द पर आश्रित हैं। इन दोनों के लक्षण में रीतिकाल के आचार्य कहीं भी भ्रान्त नहीं हुए। उनके अनुवाद भावशः ठीक रहे हैं। इसके दो उदाहरण ही पर्याप्त हैं, क्योंकि लक्षणों के अनुवाद में किसी प्रकार की भ्रांति नहीं आई है।

(क) मम्मट— सा सहोक्तिः सहार्थस्य बलादेकं द्विवाचकम् ॥११२॥
विनोक्तिः सा विनाऽन्येन यत्रान्यः सन्न नेतरः ॥[1]

(ख) विद्यानाथ— सहार्थेनान्वयो यत्र भवेदतिशयोक्तितः।
कल्पितौपम्यपर्यन्ता सा सहोक्तिरितीष्यते ॥
विना सम्बन्धियत्किंचिद् यत्रान्यस्य पराभवेत्।
अरम्यता रम्यता वा सा विनोक्तिरिति स्मृता ॥[2]

(ग) रसरूप— कारण कारज संग बिनु जहां बरनिए यक साथ।
ताहि सहोक्ति कहत हैं मम्मट विद्यानाथ ॥
जहां कछू काहू बिना शोभा न होइ।
सो विनोक्ति द्वै भांति की बरनत ग्रंथ विलोइ ॥[3]

रसरूप ने सहोक्ति का लक्षण मम्मट तथा विद्यानाथ के प्रभाव से लिखा है। विद्यानाथ का अतिशयोक्ति वाला पद ग्रहण नहीं किया। कल्पितौपम्य वाला भाग किसी प्रकार लाया गया है। इस लक्षण में मम्मट का ही ऋण अधिक है। वह भी शब्दशः नहीं लिया गया है। विनोक्ति में भी यही रीति रही है।

कुवलयानन्द का लक्षणानुवाद भी खूब हुआ। बहुसंख्यक आलंकारिकों ने भावानुवाद किया है। अल्पमात्रा में शब्दतः अनुवाद भी हुए हैं। इस अनुवाद के उदाहरणों में से एक निम्नलिखित है—

(क) अप्पय्य दीक्षित —सहोक्तिः सह भावश्चेद् भासते जनरंजनः ।५८।
विनोक्तिश्चेद् बिना किंचित् प्रस्तुतं हीनमुच्यते ॥

(ख) रामसिंह—मनरंजन सहभाव, वर्णन में प्रगटे जहाँ।
जे प्रवीन कवि राय, भाषत तहाँ सहोक्ति हैं।
कछु वस्तु बिन हीन, बरननीय जहं बरनिये।
अलंकार रसलीन, तासों कहत विनोक्ति हैं ॥[4]

---

१. काव्यप्रकाशः—मम्मट, पृष्ठ ५०६-५०७
२. प्रतापरुद्रीय-यशोभूषणम्—विद्यानाथ, पृष्ठ २८६-२६०
३. तुलसीभूषण—रसरूप, पृष्ठ १०
४. (क) कुवलयानन्दः—अप्पय्य दीक्षित, पृष्ठ ८२-८३
(ख) अलंकार-दर्पण—रामसिंह, पृष्ठ १४

पहला अनुवाद भावशः है, जिसमें जनरंजन के स्थान पर मनरंजन कर दिया है। यद्यपि जन में भी मन रहता है। दूसरा अनुवाद शब्दतः है।

समासोक्ति

इस अलंकार में श्लेषयुक्त विशेषणों से प्रस्तुत द्वारा अप्रस्तुत का समास से (संक्षेपतः) कथन रहता है। ऐसा आचार्य मम्मट ने माना है। विद्यानाथ ने क्लिष्ट पदों की अपेक्षा केवल विशेषण-समानता पर बल दिया है। विश्वनाथ ने प्रस्तुतअप्रस्तुत में समान रूप से अन्वित होने वाले कार्य-लिंग और विशेषणों से समासोक्ति में आरोप माना है। जयदेव तथा अप्पय्य दीक्षित ने प्रस्तुत में अप्रस्तुत की परिस्फूर्ति को समासोक्ति का प्राण माना है। इन धारणाओं की छाया (विश्वनाथ को छोड़कर) रीतिकाल में आचार्यों द्वारा निर्मित लक्षणों में दिखाई देती है।

आचार्य चिन्तामणि ने मम्मट तथा विद्यानाथ के लक्षणों का अधिकांश अनुवाद किया, परन्तु शब्दतः अनुवाद में लक्षण पूरे नहीं उतरे। दोनों प्रकार के लक्षणों में भाव-समानता है। जैसे—

(क) मम्मट—परोक्तिभेदकैःश्लिष्टैः समासोक्तिः ॥

(ख) विद्यानाथ—विशेषणानां तौल्येन यत्र प्रस्तुतवर्तिनाम् ।
अप्रस्तुतस्य गम्यत्वं सा समासोक्तिरिष्यते ॥

(ग) चिन्तामणि—(मम्मट-कृत लक्षण का अनुवाद)।
श्लेष विशेषण बल उकुत कछु और की होइ ।
याहि समासोक्ति कहत पंडित मम्मट जोइ ॥११६॥
(विद्यानाथ-कृत लक्षण का अनुवाद)—
प्रस्तुति वर्ग विशेषनन कहो जा थल होइ ।
अप्रस्तुतिगमिता समासोक्त कहे ए कोइ ॥११८॥

(घ) कुलपति—गुन श्लेष पद अर्थ द्वै, कहे मुख्य एक भाव ।
समासोक्ति जानि यह, नहिं प्रधान प्रस्ताव ॥६४॥

(ङ) रत्नेश—जित विशेष असलेष ते अप्रसंग को ग्यान ।
जग प्रसंगी अर्थ तें समासोक्ति सो जान ॥५४॥[1]

इन तीनों लक्षणों में कुलपति ने मम्मट से केवल छाया ग्रहण की है। चिन्तामणि का शब्दानुवाद अशुद्ध या अपूर्ण नहीं माना जा सकता। रत्नेश ने भी मम्मट के भावों का ही संरक्षण किया है।

जयदेव तथा कुन्तक के लक्षणानुवादकों में जसवन्तसिंह, मतिराम, गोप, कुमारमणि, रसिकसुमति, रघुनाथ, गोविन्द, सोमनाथ, दूलह, रसरूप, बैरीसाल,

१. (क) काव्यप्रकाशः—मम्मट, पृष्ठ ४७४
(ख) प्रतापरुद्रीययशोभूषणम्—विद्यानाथ, पृष्ठ २६१
(ग) कविकुल-कल्पतरु—चिन्तामणि, पृष्ठ ५६
(घ) रसरहस्य—कुलपति, पृष्ठ ६६
(ङ) फतेप्रकाश—रत्नेश (रतन), पृष्ठ ६८

रत्नेश, रामसिंह, याकूबखां, चन्दन, गोकुल, रसिकगोविन्द, उमेदराय, ब्रह्मदत्त, पद्माकर, गिरिधर, अमीरदास, निहाल, दामोदर तथा कवि दास आदि आचार्य प्रमुख हैं। कुछ के लक्षणानुवाद निम्नलिखित हैं—

(क) दूलह—समासोक्ति प्रस्तुत में अप्रस्तुत वस्तु फुरै ।

(ख) चन्दन—समासोक्ति प्रस्तुत विषै, स्फुरित अप्रस्तुत होय ।।

(ग) कवि दास—जहां प्रस्तुत बिषै अप्रस्तुत फुरे तहां समासोक्ति ।।[1]

भूषण, आचार्य भिखारीदास, राय शिवप्रसाद तथा दामोदर कवि ने नए शब्दों से अलंकार-लक्षण दिया । भूषण तथा राय शिवप्रसाद ने प्रस्तुत-अप्रस्तुत का लक्षण में प्रयोग नहीं किया, अपितु 'आन' (अन्य) तथा 'कहु' शब्द से काम चलाया है । भूषण का कहना है कि अन्य का वर्णन करने पर अन्य का ज्ञान हो जाए, वही समासोक्ति है, यही राय शिवप्रसाद के लक्षण का आशय है ।

(क) भूषण—बरनन कीजै आन को, ज्ञान आन को होय ।
समासोक्ति भूषण कहत, कवि कोविद सब कोय ।।१५६।।

(ख) राय शिवप्रसाद—काहू को बरनन करे अरु काहू को होइ ।
समासोक्ति तब होत है, भाखत हु कवि लोइ ।।२१५।।[2]

आचार्य भिखारीदास ने अप्पय्य दीक्षित तथा मम्मट के लक्षण को एक कर दिया है । प्रस्तुत से अप्रस्तुत का ज्ञान, वाचक तथा श्लेषपदों से माना है । पहला भाग अप्पय्य दीक्षित से तथा दूसरा भाग मम्मट से छायाच्छादित है ।

भिखारीदास—जहं प्रस्तुत में पाइये अप्रस्तुत को ज्ञान ।
कहुं वाचक कहुं श्लेष तें समासोक्ति पहचान ।।[3]

कवि दामोदर ने भाव तो प्राचीन ही रखा है, परन्तु लक्षण अपने शब्दों में दिया है । इन्होंने किसी वस्तु को उपलक्षित करके अन्य विधि से वर्णन को समासोक्ति कहा है । प्राचीन लक्षण के श्लिष्ट पदों या प्रस्तुताप्रस्तुत का प्रयोग लक्षण में नहीं है, तब भी लक्षण स्पष्ट बना है । जैसे—

दामोदर—उपलच्छित कर वस्तु कछु किंचित् ता को सर्व ।
अरु वर्णन कीवो जहां समासोक्ति गुण खर्व ।।१६।।[4]

समासोक्ति के भेदों का निर्देश भी इस काल के आलंकारिकों ने जहां किया है, वहां भी भावानुवाद की प्रधानता है । इसलिए विवेचन पेक्षित नहीं । रीतिकाल के

---

१. (क) कविकुलकण्ठाभरण—दूलह, पृष्ठ ३५
(ख) काव्याभरण—चन्दन, पृष्ठ १३
(ग) अलंकारमाला—कवि दास, पृष्ठ २६
२. (क) शिव (राज) भूषण—भूषण, पृष्ठ ६०
(ख) रसभूषण—राय शिवप्रसाद, पृष्ठ २५
३. काव्यनिर्णय—भिखारीदास, पृष्ठ ३०६
४. अर्थालंकारमंजरी—दामोदर, पृष्ठ ५

लक्षणकारों ने समासोक्ति के क्षेत्र में अनुवाद-कुशलता का परिचय दिया है। इस काल में विद्यानाथ से प्रभावित लक्षण किसी ने नहीं लिखा है।

श्लेष

श्लेष के दो भेद—शब्द-श्लेष और अर्थश्लेष हैं। इस अलंकार में मम्मट से प्रभावित चिन्तामणि, कुलपति, सोमनाथ, रत्नेश, भिखारीदास आदि ने दोनों श्लेषों का वर्णन किया है। ये लक्षण प्रायः अनुवाद ही हैं। लक्षणों में अस्पष्टता, दुर्बोधता या क्लिष्टता नहीं है।

रीतिकाल में केशव ने श्लेष के सम्बन्ध में अपनी नवीन धारणा दी और श्लेष के बल पर पांच तक अर्थ-बोधक पद लिखे। चित्र-चन्द्रिकाकार ने भी ऐसा ही किया है।[1] इस प्रसंग में केशव का भिन्न-क्रियाश्लेष नवीन उद्भावना है। जहाँ क्रियाएँ भिन्न-भिन्न हों पर उनका फल एक हो और श्लेष भी हो, उसे भिन्न क्रिया श्लेष कहते हैं। कुछ समालोचकों ने इसे दण्डी के विरुद्ध-क्रिया-श्लेष से प्रभावित माना है।[2] यह सर्वथा भ्रांति है।

परन्तु लाला भगवानदीन का मत है कि यदि यह विरुद्ध-क्रियाश्लेष मानें (जैसा कि कवि-प्रिया की कई प्रतियों में विरुद्ध क्रिया-श्लेष नाम मिलता है) तो यह अलंकार अर्वाचीन व्याघात अलंकार का दूसरा भेद हो जाता है।[3] स्पष्टतः दण्डी के विरुद्ध-क्रियाश्लेष का छायायित तो इसे नहीं माना जा सकता, क्योंकि केशव-कृत श्लेष-भेद में क्रिया-विरोध नहीं है।

श्लेष का विवेचन इतना स्पष्ट है कि अनुवादकों ने लक्षण में उसे मूलतः सुरक्षित रखा है।

अप्रस्तुतप्रशंसा-प्रस्तुतांकुर

अप्रस्तुत-प्रशंसा अलंकार में अप्रस्तुत से प्रस्तुत का ज्ञान अभीष्ट रहता है और प्रस्तुतांकुर में प्रस्तुत से प्रस्तुत का ज्ञान होता है। ये दो लक्षण संस्कृत-काव्य-शास्त्र में भी शतशः वर्षों से चले आ रहे थे। रीतिकाल में भी उसी रूप से इन्हें ग्रहण कर लिया गया है।

रीतिकाल के आलंकारिकों ने अपने लक्षणों में संस्कृत-काव्य-शास्त्रीय लक्षणों का अनुवाद किया है। शब्दतः, भावतः तथा छायातः भी, परन्तु लक्षण में अप्रस्तुत-प्रस्तुत शब्दों का ही प्राधान्य मम्मट से अप्पय्य दीक्षित की परम्परावत् रहा है। रीतिकाल के कुछ आचार्यों ने अवश्य ही इस अलंकार का लक्षण-निर्वाह शुद्ध रूप में किया है, परन्तु अधिकांश में इसके सम्बन्ध में अनेक भ्रांतियां भी हैं। कुछ ने इसको बिल्कुल उलटा ही कर दिया है, कुछ ने इसे अन्योक्ति बना डाला है। मतिराम ने

१. (क) कविप्रिया—केशव, पृष्ठ १६४-२१३
   (ख) चित्रचन्द्रिका—बलवानसिंह, पृष्ठ ५४-५५
२. केशवदासः जीवनी, कला और कृतित्व—डा० किरणचंद शर्मा, पृष्ठ ३५०
३. प्रियाप्रकाश—सम्पादक-ला० भगवानदीन, पृष्ठ २११

इसके लक्षण में विपरीतानुवाद कर दिया और उसका अर्थ हो गया कि प्रस्तुत का नाम लेकर अप्रस्तुत की प्रशंसा (या वर्णन) जहां की जाए, वहाँ अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार होता है—

मतिराम—अप्रस्तुत प्रसंसिए प्रस्तुत लीने नाम ।
तहं अप्रस्तुत प्रसंस को बरनत हैं मतिराम ॥१७३॥[1]

जहां प्रस्तुत का नाम ही ले लिया जाये वहां अप्रस्तुतप्रशंसा कैसे होगी ? नाम लिए बिना ही जब अप्रस्तुत के वर्णन से प्रस्तुत ज्ञान हो जाय, तभी तो अलंकार का चमत्कार है। इसलिए मतिराम का यह अनुवाद भ्रांत एवं सर्वथा अशुद्ध है।

दूसरी दृष्टि इस काल में अप्रस्तुतप्रशंसा को अन्योक्ति मानने वालों की है। कुलपति तथा कुमारमणि शास्त्री ने इसे स्पष्टतः अन्योक्ति भी माना है। कुलपति ने तो अप्रस्तुतप्रशंसा तथा अन्योक्ति का लक्षण ही एक दिया है—

कुलपति—अप्रस्तुतप्रशंसा लक्षण—इसको ही अन्योक्ति कहते हैं।
जहां डारि शिर और के, कहै और की बात ।
बरणत पांच प्रकार सों, सो अन्योक्ति घात ॥६६॥[2]

कुमारमणि—प्रस्तुत बात बताइये, अप्रस्तुत में ल्याइ ।
अप्रस्तुत परसंसिका, सो अन्योक्ति कहाइ ॥१२५॥[3]

आचार्य सोमनाथ ने भी कुलपति के समान लक्षण लिखकर इसे अन्योक्ति अलंकार ही माना है।

सोमनाथ—करियतु वर्णन और को जहां और पर डारि ।
अप्रस्तुत प्रशंस जो बरनत सुकवि सुधारि ॥११५॥
इहां अन्योक्ति ही जानि लीजै और आभूषनें दृष्टि न कीजै ॥[4]

आचार्य भिखारीदास भी इसे अन्योक्ति के अन्तर्गत ही मानते हैं।[5]

अप्रस्तुतप्रशंसा में 'प्रशंसा' शब्द संस्कृत-काव्यशास्त्र में, स्तुति-निन्दा, स्वरूपाख्यान तथा साधारणकीर्तनमात्र के रूप में प्रयुक्त हुआ है।[6]

मतिराम की चर्चा में कुवलयानन्द की संस्कृत-व्याख्या उद्धृत है। इसलिए रीतिकाल के आलंकारिकों ने भी प्रशंसा शब्द प्रशंसार्थक प्रयोग किया है, जो कि भ्रम भी नहीं है और अशुद्ध भी नहीं है। जैसे—

---

१. ललितललाम—मतिराम, पृष्ठ ४१
२. रसरहस्य—कुलपति, पृष्ठ ६७
३. रसिकरसाल—कुमारमणि शास्त्री, पृष्ठ ५२
४. रसपीयूषनिधि—सोमनाथ, पृष्ठ १६६-१६७
५. जानि सकल अन्योक्ति में सुनौ सुकवि सिर मौर ॥
काव्यनिर्णय—भिखारीदास, पृष्ठ २६७
६. कवलयानन्दः—अप्पय्य दीक्षित, पृष्ठ १०७

दूलह—अप्रस्तुत बरने प्रशंसा लीन्हें प्रस्तुत की ।
पंचधा अप्रस्तुत प्रशंसा होति चाहे ते ॥[1]

अप्रस्तुप्रशंसा के कार्य, कारण, सामान्य-विशेष तथा तुल्य-वर्णन के द्वारा पाँच भेद माने गये हैं। संस्कृत-काव्यशास्त्र के समान भेदवर्णन तो रीतिकाल में भी हैं, लक्षण-निर्माण नहीं है. इसलिए विवेचनापेक्षित नहीं हैं ।

प्रस्तुतांकुर का लक्षण भी बहुसंख्यक आलंकारिकों ने अप्पय्य दीक्षित-कृत लक्षण का अनुवाद किया है । वहां अशुद्धि तथा भ्रान्ति के लिए अवकाश नहीं था । मतिराम-कृत लक्षण ही उदाहरणार्थ यहां दिया जा रहा है—

मतिराम—प्रस्तुत करि प्रस्तुत जहां प्रकट होत 'मतिराम'।
प्रस्तुतांकुर कहत हैं, तहां बुद्धि के धाम ॥१७५॥[2]

काव्याभरण के लेखक चन्दन के अप्पय्य दीक्षित-कृत लक्षण का सफल अनुवाद पठनीय है ।

(क) अप्पय्य दीक्षित—अप्रस्तुतप्रशंसा स्यात् सा यत्र प्रस्तुताश्रया ॥६६॥
प्रस्तुतेन प्रस्तुतस्य द्योतने प्रस्तुतांकुरः ॥६७॥

(ख) चन्दन—अप्रस्तुत आश्रै जहां, प्रस्तुत होइ सुजान ।
प्रस्तुत में प्रस्तुत फुरै, प्रस्तुत अंकुर नाम ॥८१॥[3]

पर्यायोक्ति अथवा पर्यायोक्त

इस अलंकार में व्यंग्य अर्थ का बोध कराने वाली रीति से भिन्न (अन्य) प्रकार से व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है । आचार्य मम्मट ने इसके लक्षण में माना है कि वाच्य-वाचक भाव-सम्बन्ध बिना ही वाच्यार्थ का प्रतिपादन इसमें होता है ।

मम्मट—पर्यायोक्तं विना वाच्यवाचकत्वेन यद्वचः ॥[4]

अलंकार के मूल में पर्याय शब्द है, जिसका अर्थ प्रकार है। व्यंजना-भिन्न प्रकारान्तर से इसमें बात कही जाती है । यही इस अलंकार के सौंदर्य का मूल है ।

आचार्य केशवदास ने पर्यायोक्त अलंकार का लक्षण संस्कृत-काव्यशास्त्र में प्रदत्त लक्षण से सर्वथा भिन्न दिया है । जहां अपने इष्ट की सिद्धि किसी अदृष्ट कारण से कुछ प्रयत्न किए बिना ही हो जाती है, वहां केशव पर्यायोक्ति अलंकार मानते हैं । आचार्य भामह से लेकर विश्वनाथ की परम्परा तथा उससे आगे भी संस्कृत में पर्यायोक्त के किसी भेद का भी ऐसा लक्षण नहीं मिलता है । इस कारण इसे केशव की अपनी उद्भावना मानना ही उचित है । केशव का लक्षण निम्नलिखित है—

---

१. कविकुलकण्ठाभरण—दूलह, पृष्ठ ३८
२. ललितललाम—मतिराम, पृष्ठ ४२
३. (क) कुवलयानन्दः—अप्पय्य दीक्षित, पृष्ठ १०५-११५
(ख) काव्याभरण—चन्दन, पृष्ठ १३
४. काव्यप्रकाशः—मम्मट, पृष्ठ ५११

केशव—कौनहु एक अदृष्ट ते अनही किये जु होय।
सिद्धि आपने इष्ट की, पर्यायोक्ति सोय ॥१२-२६॥[१]

आचार्य चिन्तामणि ने प्रस्तुतांकुर को ही पर्यायोक्त माना है। प्रस्तुतांकुर वास्तव में जयदेव तक पर्यायोक्त ही था। जयदेव ने भी इसे ही पर्यायोक्त माना है। उससे पूर्व विद्यानाथ ने प्रस्तुतांकुरालंकार ही नहीं माना है। इस कारण चिन्तामणि ने भी प्रस्तुतांकुर का उल्लेख नहीं किया और विद्यानाथ के पर्यायोक्त (अप्पय्य दीक्षित के मत में वही प्रस्तुतांकुर) का ही अनुवाद किया है। विद्यानाथ ने प्रस्तुत कार्य वर्णन से जहां कारण ज्ञान प्रस्तुत से सम्बद्ध रूप में होता है, वहां पर्यायोक्तालंकार माना है। यही बात चिन्तामणि ने भी कही है—

चिन्तामणि—प्रस्तुत कारज ते जु है प्रस्तुति कारण ज्ञान।
पर्जायोक्तहि कहत यों विद्यानाथ सुजान ॥२३६॥[२]

आचार्य मम्मट तथा अप्पय्य दीक्षित के अलंकार-लक्षणों का भावानुवाद रीतिकाल के आचार्यों ने किया है। दोनों के लक्षण भिन्न-भिन्न हैं।

(क) मम्मट—पर्यायोक्तं बिना वाच्यवाचकत्वेन यद्वचः।
(ख) अप्पय्य दीक्षित—पर्यायोक्तं तु गम्यस्य वचोभंग्यन्तराश्रयम् ॥[३]

ऊपर दिये गये इन दोनों लक्षणों में आचार्य मम्मट के लक्षण को कुलपति तथा रत्नेश ने आधार बनाया है। कुलपति ने शब्दार्थ-मर्यादा से पृथक् (न्यारा) निश्चय पर्यायोक्त में माना है और उसे भाव के जोर से सिद्ध करने पर बल दिया है। आचार्य कुलपति ने मम्मट-कृत लक्षण का भावमात्र ग्रहण किया है।

कुलपति—शब्द अरथ मरजाद तें, न्यारा निहचै होय।
करे भाव के ज़ोर तें, परजायोकति सोय ॥१४५॥[४]

(टीका—जो व्यंग है, सो पद से पाया जाता है, परन्तु जो रूप है, वह ऐसे नहीं प्राप्त होत।) कुलपति ने तो शब्दतः अनुवाद नहीं किया अपितु रत्नेश का लक्षण मम्मट के लक्षण का शब्दानुवाद है, उसमें मम्मट-कृत लक्षण के भाव की रक्षा भी पूर्णतया हो गई है।

रत्नेश—बिना वाचकता वाच्यता वाच्य भाषिये जथ्थ।
अलंकार सो कहत हैं पर्यायोक्त समथ्थ ॥१४१॥[५]

अप्पय्य दीक्षित के लक्षण का शब्दतः या भावतः अनुवाद करने वाले भी रीतिकालीन आचार्य अल्पसंख्यक हैं। बहुधा तो छायाग्राही हैं, जिन्होंने पर्याय का अर्थ

१. कविप्रिया—केशव, पृष्ठ २५४
२. कविकुल-कल्पतरु—चिन्तामणि, पृष्ठ ८१
३. (क) काव्यप्रकाशः—मम्मट, पृष्ठ ५११
(ख) कुवलयानन्दः—अप्पय्य दीक्षित, पृष्ठ १२१
४. रसरहस्य—कुलपति, पृष्ठ ७९
५. फतेप्रकाश—रत्नेश (रतन), पृष्ठ ९२

'प्रकारान्तर' लेकर अपना काम चलाया है। पहले वर्ग में मतिराम, गोप, कुमारमणि, रसिकसुमति, गोविन्द, बैरीसाल, रामसिंह, सेवादास तथा चन्दन को रखा जा सकता है। इन में से तीन के लक्षणों उदाहरणार्थ द्रष्टव्य हैं—

(क) मतिराम— गम्य अरथ प्रकटे जहां और वचन रचनानि।
बरनत पर्यायोक्ति तहां कवि जन ग्रंथन जानि ॥१७७॥

(ख) कुमारमणि—व्यंग अर्थ कहिवै वहै मार्ग वचन रचि फेरि।
कहिये सों पर्याय सों, पर्यायोक्ति निबेरि ॥१३॥

(ग) बैरीसाल— जहां विषय को कहत हैं, भंग्यंतर सों मित्र।
परजायोक्ति कहै तहां, कविजन बुद्धि विचित्र ॥१५५॥[1]

इन सब लक्षणों में अप्पय्यदीक्षित-कृत लक्षण के शब्दों को देखते हुए ही अनुवाद किया गया है, जिससे लक्षण विकृत नहीं हुआ है।

दूसरा वर्ग बहुसंख्यकों का है। उनमें से भी तीन का लक्षण-निर्देश पर्याप्त है।

(क) गोविन्द— ता को कहिये फेर सों जो कहिबे कों होइ।
मिस करि इच्छित साधिये पर्यायोक्ति दोइ ॥

(ख) रामसिंह— टेढ़ी रचना बात गम्य अरथ प्रगटित करै।
जो कवि मति अवदात, भाषै पर्यायोक्ति सो ॥१७४॥

(ग) ब्रह्मदत्त— पहली पर्यायोक्ति जहं रचना संयुत बात ॥[2]

इन तीनों में रामसिंह-कृत लक्षण पूर्णतया स्पष्ट एवं सुबोध है। शेष लक्षण भी अशुद्ध नहीं हैं। 'व्याज से इष्ट साधन में' दूसरी पर्यायोक्ति मानी जाती है। इसका सहज एवं सरल अनुवाद रीतिकाल के लक्षणों में हुआ है। कहीं अशुद्धि नहीं। बहुधा भावानुवाद ही हुए हैं।

रीतिकाल के आलंकारिकों ने पर्यायोक्ति अलंकार के लक्षण को प्रस्तुतांकुर से मिश्रित नहीं किया, अपितु दोनों का स्पष्ट भेद समझा, यद्यपि जयदेव-विद्यानाथ तक की परम्परा में प्रस्तुतांकुर नहीं था। इसलिए चिन्तामणि-कुलपति के बाद किसी ने उसे छोड़ा नहीं, अपितु दोनों के लक्षणों को भिन्न दर्शाया। इससे उस काल के आलंकारिकों की अलंकार-लक्षण-पर्यवेक्षण की प्रवृत्ति का सहज बोध हो जाता है और यह भी स्पष्ट उभर आता है कि बहुसंख्यक आचार्य अलंकारों में अप्पय्य दीक्षित के और परम्परागत रूप से भाषा-भूषण के ऋणी थे।

---

१. (क) ललितललाम—मतिराम, पृष्ठ ४२
(ख) रसिक-रसाल—कुमारमणि शास्त्री, पृष्ठ ५६
(ग) भाषाभरण—बैरीसाल, पृष्ठ १२

२. (क) कर्णाभरण—गोविन्द, पृष्ठ १०
(ख) अलंकारदर्पण—रामसिंह, पृष्ठ १६
(ग) दीपप्रकाश—ब्रह्मदत्त, पृष्ठ ३१

आक्षेप

रीतिकाल के आक्षेपालंकार के लक्षणों पर दो आचार्यों का बहुधा प्रभाव है। मम्मट तथा अप्पय्य दीक्षित का, परन्तु केशव दण्डी से प्रभावित भी हुए और स्वतन्त्र भी रहे।

केशव ने दण्डीकृत आक्षेप-लक्षण से अभिन्न लक्षण दिया है, क्योंकि दण्डी ने भी प्रतिषेधोक्ति को ही आक्षेप कहा है।

(क) दण्डी—प्रतिषेधोक्तिराक्षेपः ॥२-१२०॥

और केशव ने कार्यारम्भ में प्रतिषेध करने को आक्षेप माना है।

(ख) केशव—कारज के आरम्भ ही जहां कीजत प्रतिषेध।
आक्षेपक तासों कहत बहुविधि बरनि सुमेध ॥१०-१॥[1]

दण्डी के टीकाकारों ने प्रतिषेधोक्ति का अर्थ सर्वथा (तत्त्वतः) निषेध न मान करके निषेधभाषण किया है। जैसे—

वक्तुं प्रारब्धस्यापि विशेषद्योतनार्थं निषेधभाषणं, नतु
तत्त्वतः प्रतिषेधः तात्त्विकत्वे वैचित्र्याभावात् ॥[2]

तथापि यह तो टीकाकार का मत है। दण्डी का मत तो स्पष्ट है कि प्रतिषेध वाली उक्ति ही आक्षेप है। इसलिए केशव दण्डी के भावदर्शी हैं, ऐसा मानना ही उचित है।

आचार्य दण्डी ने आक्षेप के २४ भेद माने हैं और केशव ने १२ ही। इनमें भावी, वर्तमान, संशय, आशिष, धर्म और उपायाक्षेप तो दण्डी-दत्त-नामानुसार हैं। इनमें भी कइयों का केवल नाम समान है, लक्षण एक सा नहीं है। दोनों का धर्माक्षेप भिन्न-भिन्न है। इनके अतिरिक्त केशव ने प्रेम, अधीरज, धीरज, मरण और शिक्षाक्षेप नामक भेदों का भी उल्लेख किया है, जो कि केशव के अपने हैं। जैसे—

केशव—प्रेम, अधीरज, धीरजहु, संशय मरण प्रकास।
आशिष, धरम, उपाय कहि, शिक्षा केशवदास ॥१०॥[3]

केशव का प्रभाव रीतिकाल के 'तुलसीभूषण' ग्रंथ के कर्त्ता रसरूप तथा 'अलंकार-माला' के लेखक कवि दास पर पूर्णतया पड़ा और दोनों ने आक्षेपालंकार के केशव प्रदत्त १२ भेदों का उदाहरण सहित विवेचन किया है।[4]

केशव के अनन्तर आचार्य चिन्तामणि, कुलपति तथा 'फतेप्रकाश' के कर्त्ता कवि रत्नेश ने मम्मट-कृत लक्षण का सीधा आधार ग्रहण किया है। आचार्य-मम्मट

---

१. (क) काव्यादर्शः—दण्डी, पृष्ठ ८१
(ख) कविप्रिया—केशव, पृष्ठ १६५
२. उद्धृत, केशव की काव्यकला—कृष्णशंकर शुक्ल, पृष्ठ १६३
३. कविप्रिया—केशव, पृष्ठ १६६
४. (क) तुलसीभूषण—रसरूप, पृष्ठ ४-५
(ख) अलंकारमाला—कवि दास, पृष्ठ ३०-३१

ने आक्षेप वहां माना कि जहां जो बात कहना चाहते हैं, उसमें विशेषतया उत्कर्ष प्रकट करने के लिए जो उसका निषेध कर दिया जाय। वह वक्ष्यमाण विषयक (भविष्य में कहा जाने वाला) तथा उक्त विषयक भेद से दो प्रकार का होता है। यहाँ निषेध का अर्थ निषेध-सा है न कि वास्तविक निषेध। वास्तविक निषेध से तो अलंकार का सौन्दर्य ही नष्ट हो जाता है। इसी आधार से युक्त तीनों आचार्यों ने लक्षण दिये हैं। द्विविध लक्षण निम्नलिखित हैं—

(क) मम्मट—निषेधो वक्तुमिष्टस्य यो विशेषाभिधित्सया ॥१०६॥
वक्ष्यमाणोक्तविषयः सः आक्षेपो द्विधा मतः ॥

(ख) चिन्तामणि—जहां विशेषाभिधान की इच्छा, कथन निषेध।
चिन्तामणि कवि कहत है सो आछेप निषेध ॥२१५॥

(ग) कुलपति—कह्यो चहै न कहै, बरजि, अधिकाई के हेत।
कहत, कहिबे भेद दो आच्छेप कहि देत ॥१०८॥[1]

रत्नेश— जो निषेध वक्तव्य को कहिबे कछु विशेष।
बक्षमान के, उक्त को आक्षेप द्वै लेष ॥९९॥[2]

तीसरा लक्षण-प्रभाव अप्पय्य दीक्षित का है। उनका पहला आक्षेप वहां होता है, जहां अपने आप कही बात का किसी विशेष विचार के कारण प्रतिषेध किया जाए। दूसरा आक्षेप वहाँ, जहां, निषेध का आभास हो, वास्तविकता से निषेध न हो, तीसरा वहाँ, जहाँ प्रकटतः विधि हो, परन्तु उसके भीतर अभीष्ट-सिद्धि के लिए निषेध रहे।

अप्पय्य दीक्षित—आक्षेपः स्वयमुक्तस्य प्रतिषेधो विचारणात् ॥७३॥
निषेधाभासाक्षेपं बुधाः केचन मन्यते ॥।७४।
आक्षेपोऽन्य विधौ व्यक्ते निषेधे च तिरोहिते ॥७५॥[3]

इन तीनों लक्षणों का अनुवाद जसवन्तसिंह, मतिराम, भूषण, गोप, कुमारमणि, रसिकसुमति, रघुनाथ, गोविन्द, सोमनाथ, दूलह, रसरूप, बैरीलाल, रत्नेश, रामसिंह, याकूबखाँ, चन्दन, गोकुल, रसिकगोविन्द, उमेदराय, ब्रह्मदत्त, पद्माकर, राय शिवप्रसाद, प्रतापसाहि (जयदेव के समान गूढ़ाक्षेप भी इन्होंने कहा है) अमीरदास, निहाल, दामोदर तथा कवि दास ने किया है। रसिकगोविन्द तथा कवि दास के लक्षण गद्यबद्ध हैं। इन आचार्यों में से दो के लक्षण देना ही लक्ष्यसिद्धि-हेतु पर्याप्त हैं।

रघुनाथ—आपु करे कहिकै करे आपु निषेध विचारि।
आछेपालंकार सो कहत सुकवि मतिसारि ॥२१७॥

---

१. (क) काव्यप्रकाशः—मम्मट, पृष्ठ ४९७
(ख) कविकुलकल्पतरु—चिन्तामणि, पृष्ठ ७७
(ग) रसरहस्य—कुलपति, पृष्ठ ७३
२. फतेप्रकाश—रत्नेश (रतन), पृष्ठ ८२
३. कुवलयानन्दः—अप्पय्य दीक्षित, पृष्ठ १३७-१४०

पहले करे निषेध फिरि पीछे ठहराइ ।
सो निषेधाक्षेप है बरनत हैं कविराइ ॥२१९॥
व्यक्त जहाँ विधि होइ, और छप्यो होइ आछेप ।
व्यक्ताछेप तहां सुकवि बरनत हैं बुधिलेष ॥२२१॥[1]

रामसिंह—आपुकरे कछु बात, बरजे ताहि बिचारि के ।
कविजन मन अवदात, बरनत यौं आक्षेप हैं ॥१८२॥
करिए आप जो बैन, ताकों करे निषेध कछु ।
कविजन जे मति ऐन, कहै निषेधाभास सो ॥१८३॥
जहाँ प्रकट विधि होय, करे निषेध छिपाय के ।
कवि बरने सब कोय, यों तृतीय आछेप को ॥१८६॥[2]

इन दोनों प्रकार के लक्षणानुवादों से उस काल की स्वच्छताभरी अनुवादशैली के दर्शन हो जाते हैं और अनुवादकों की शब्द-प्रयोग-क्षमता का भी सुबोध हो जाता है ।

आचार्य जसवन्तसिंह ने इन तीनों का अनुवाद तो किया है परन्तु स्वतन्त्र वृत्ति से । इन्होंने तीनों आक्षेपों को पदैक भाग में कहकर पुनः तीनों के लक्षण दिये हैं । भावानुवाद सुन्दर बना है । इनके द्वारा अनूदित लक्षण द्रष्टव्य हैं—

जसवन्तसिंह—तीन भांति आक्षेप हैं, एक निषेधाभासु ।
पहले कहिये आपु कछु, बहुरि फेरिए तासु ॥१०५॥
दुरे निषेध जु विधि—वचन, लच्छन तीनों लेखि ॥[3]

आचार्य भिखारीदास ने आक्षेप के त्रिविध लक्षण तो दिये, परन्तु प्रथमाक्षेप का लक्षण अपनी स्वतंत्र प्रतिभा से किया है । इसके बारे में आचार्य दास का मत है कि जहां 'यह कार्य अवश्य करो'—ऐसा कह कर किसी कार्य से रोका जाए, और जहाँ बात को पलट दिया जाए, वहाँ ही मुख्यतः प्रथम आक्षेप होता है । दूसरे में अपने ही कथन में दोष निकाल कर बात का निषेध करना माना है । और तीसरे में कह कर फिर और कुछ कह देना कहा है । इन तीनों भेदों में पहला भेद नवीनता लिए हुए है । जैसे—

भिखारीदास—जहां बरजिए कहि इहै, अवसि करो ये काज ।
मुकर परत जिहिं बात कों, मुख्य वही जहं राज ॥
दूषि अपने कथन को फेरि कहै कछु और ।
आच्छेपालंकार के, जानो तीनों ठौर ॥[4]

आक्षेपालंकार के सम्बन्ध में यह कहना और आवश्यक है कि नायक-नायिकाओं के उस युग में 'रसभूषण' के लेखक याकूबखाँ ने इन तीनों आक्षेप-भेदों का

१. रसिकमोहन—रघुनाथ, पृष्ठ ३६
२. अलंकारदर्पण—रामसिंह, पृष्ठ १७
३. भाषा-भूषण—जसवन्तसिंह, पृष्ठ ५४
४. काव्य-निर्णय—भिखारीदास, पृष्ठ ३१७

सम्बन्ध क्रमशः (१) प्रौढ़ाभिसारिका, (२) परकीयाभिसारिका तथा (३) गणिकाभिसारिका से जोड़ा है। याकबखाँ ने निषेधाभास को पहला भेद माना है।

याकूब खाँ—पहिला भेद आछेप को प्रौढ़ा अभिसारिका लछन सोरठा—

पहिल निषेधाभास करि, निषेध जहं बात निज।
मन में राखि हुलास, जाय प्रौढ़ अभिसारिका ।।१६४।।

दूसरो आछेप परकिया अभिसारिका लछन सोरठा—

आछिप दूजो होय, पहिल बात कहि फेरिए।
छिप कर जावे सोय, परकिया सो अभिसारिका ।।१६६।।

तीजो आछेप गनिका अभिसारिका-लछन सोरठा—

कहिए तीजो सोय, कहै जाउ बरजे छिपे।
अभिसारिका जु होय, धन कारन गनिका चलै ।।१६८।।[1]

राय शिवप्रसाद ने प्रथमाक्षेप का मध्या स्वाधीनपतिका नायिका, दूसरे का प्रौढ़ा स्वाधीनपतिका तथा तीसरे का परकीया स्वाधीनपतिका नायिका से संबंध जोड़ा है।[2]

इस प्रकार रीतिकाल के आचार्यों ने आक्षेप के संस्कृत काव्यशास्त्रप्रदत्त लक्षणों का शब्दतः, भावतः अनुवाद करते हुए भी नवीन भेदों तथा नवीन उद्भावनाओं से आक्षेपालंकार के क्षेत्र को विस्तृत किया।

विरोध, विरोधाभास

इस अलंकार के दोनों नाम एक ही तथा भिन्न अलंकारों के लिए भी मिलते हैं। भामह, दण्डी, वामन, रुद्रट, रुय्यक आदि ने इसे विरोध कहा है।[3]

यद्यपि दण्डी का विरोधकथन विरोधालंकार रहा और वामन-रुय्यक-कृत लक्षण में विरोध का आभास बन कर चमत्कार-हेतु विरोधाभास बन गया। आचार्य मम्मट, विद्यानाथ तथा विश्वनाथ ने भी विरोध ही नाम रखा, यद्यपि लक्षण विरोधाभास का ही लिखा। इन्होंने विरोध के आभास में विरोधाभास अलंकार न कह कर विरोध कहा। जयदेव ने विरोध और विरोधाभास दो पृथक् अलंकार माने यद्यपि रुद्रट ने

---

१. रसभूषण—याकूबखाँ, पृष्ठ २०

२. अथ मध्या स्वाधीनपतिका पहला आछेप अलंकार।
अथ प्रौढ़ा स्वाधीनपतिका नाइका दूसरो आछेप अलंकार।
अथ परकीया स्वाधीनपतिका नाइका तीसरो आछेप अलंकार।
रसभूषण—राय शिवप्रसाद, पृष्ठ २६

३. (क) विरुद्धानां पदार्थानां यत्र संसर्गदर्शनम्।
विशेष दर्शनायैव स विरोधो स्मृतो यथा ।।२-३३३।।
काव्यादर्शः—दण्डी, पृष्ठ १४२

(ख) विरुद्धाभासत्वं विरोधः।
काव्यालंकारसूत्राणि—वामन, पृष्ठ ६८
अलंकारसर्वस्वम्—रुय्यक, पृष्ठ १५७

अपने 'काव्यालंकार' ग्रंथ में विरोधाभासालंकार बहुत पहले माना है।[1] इसने विरोधालंकार वहां माना, जहां गुण-क्रिया-जाति की सम्बन्धानुपपत्ति हो। इसके दस भेद भी गुण-द्रव्य-क्रियादि से जयदेव ने माने हैं और विरोधाभास वहां माना है जहां श्लेष से विरोध का परिहार हो सके और बाहरी रूप से विरोध का आभास हो।[2] अप्पय्य दीक्षित ने विरोधालंकार की चर्चा छोड़ दी और विरोधाभास नाम ही स्वीकार किया। यद्यपि संस्कृत के केशव मिश्र, वत्सलांछन, कर्णपूर तथा नरेन्द्रप्रभ सूरि जैसे आलंकारिकों ने विरोधाभास का नाम ही विरोध रखा है, परन्तु रीतिकाल के आचार्यों पर दण्डी, मम्मट तथा जयदेव का प्रभाव है। इसलिए इसी सीमा में रहकर यहां विचार करना अपेक्षित है।

आचार्य केशव ने विचार करके की हुई विरोधमयी वचन-रचना को विरोधालंकार माना है। यही भाव संस्कृत-काव्यशास्त्र के भामह, दण्डी, रुद्रट, उद्भट जैसे आलंकारिकों का है। केशव के मतानुसार जहां विरोध की प्रतीति हो, परन्तु वास्तव में विरोध न हो, वहां विरोधाभास अलंकार होता है।[3] विरोध के दोनों रूपों का लक्षण दिया गया है, चाहे दो अलंकार पृथक् रूप से केशव ने नहीं माने हैं, परन्तु जयदेव अथवा आचार्य रुद्रट का प्रभाव छाया रूप से इन दो अलंकार-लक्षणों पर आभासित होता है।

आचार्य मम्मट ने वास्तव में विरोध न रहते हुए भी विरुद्ध रूप से वर्णन करने को विरोधालंकार माना है और इसके जाति-गुण-द्रव्य क्रिया के भेद से दशविध भेद कहे हैं। इनके इन लक्षण का शब्दतः एवं भावतः अनुवाद चिन्तामणि, तथा कुलपति ने किया है, जिससे लक्षण की सुबोधता तथा सरलता अधिक आकर्षक बन गई है। इनके अनूदित लक्षण निम्नलिखित हैं—

(क) चिन्तामणि—सो विरोध अविरुद्ध में जहां विरोध अभिधान।
सु तो जाति गुन क्रिया अरु द्रव्य माँह संज्ञान ॥१३७॥
जाति जात्यादिकन सों गुन गुनादि सों जानि।
क्रिया क्रिया अरु द्रव्य सों द्रव्य द्रव्य सों मानि ॥१३८॥

---

१. स इति विरोधाभासो यस्मिन् अर्थद्वयं पृथगभूतम्।
अन्यद् वाक्ये गम्येद् अविरुद्धं यद् विरुद्धम्, इव ॥१०-२२॥
काव्यालंकारः—रुद्रट, पृष्ठ १३७

२. विरोधोऽनुपपत्तिश्चेद् गुणद्रव्यक्रियादिषु ।७४।
श्लेषादिभूर्विरोधश्चेद् विरोधाभासता मता ।७५।
चन्द्रालोकः—जयदेव, पृष्ठ ६०

३. केशवदास विरोध मय, रचियत वचन विचारि।
तासों कहत विरोध सब, कवि कुल सुबुधि सुधारि ॥६-१६॥
बरनत जहां विरोध सो अर्थ सबै अविरोध।
प्रगट विरोधाभास यह समुचित सर्व सुबोध ॥६-२२॥
कविप्रिया—केशव, पृष्ठ १५४-१५७

यों विरोध दश भांति सों मम्मट गए बखानि ।
तिन के देत उदाहरन सुकवि लेहु मन मानि ॥१३६॥

(ख) कुलपति—है न विरोध विरोध सों, बातन मांझ लखाय ।
जाति क्रिया गुण नाम करि, सो विरोध दस भाय ॥१२४॥
जाति चारि सों तीनि गुण द्वै सों क्रिया विरुद्ध ।
नाम नाम ही सों बहुरि, यों हैं दश विधि शुद्ध ॥१२५॥[1]

इन दोनों लक्षणों में पहला शब्दानुवाद है। दूसरा (कुलपति-कृत) भावानुवाद है। दोनों लक्षणों में शुद्धता एवं स्पष्टता विद्यमान है।

कवि भूषण ने जयदेव-कृत दोनों लक्षणों का अनुवाद भावतः किया है। अनूदित लक्षण अशुद्ध नहीं, सरल हैं, यद्यपि भूषण विरोधाभास में श्लेष शब्द का न भावार्थ दे सके, न छाया ही। लक्षण निम्नलिखित है—

भूषण—द्रव्य क्रिया गुण में जहां, उपजत काज विरोध ।
ता को कहत विरोध हैं, भूषन सुकवि सुबोध ॥१८२॥
जहां विरोध सो जानिए, सांच विरोध न होय ।
तहां विरोधाभास कहि, बरनत हैं सब कोय ॥१८४॥[2]

गोकुल कवि ने विरोधाभास का लक्षण नवीन उद्भावनायुक्त किया है। इसने विरोधाभास के मूल में यमक माना है। यमक का मूल भी तो शब्दविशेष के द्वयर्थक होने से श्लेष ही है। इस तरह यह लक्षण जयदेव से छाया-ग्रहीत है, परन्तु जमक (यमक) प्रयोग से स्वतन्त्र मति का उद्घोषक भी है—

गोकुल— अर्थ मुख्य सों अर्थ जहं, भासित होय विरोध ।
तहां विरोधाभास है, जमक शब्द में बोध ॥३१५॥[3]

अन्य अनेक लेखकों ने केवल अप्पय्य दीक्षित के लक्षणाधार पर विरोधाभास का लक्षण भावानूदित किया है। इनमें मतिराम, गोप, कुमारमणि, रसिकसुमति, रामसिंह, याकूबखाँ, गोबिन्द, सोमनाथ, दूलह, रसरूप, रत्नेश, बैरीसाल, चन्दन, गोकुल, रसिकगोविन्द, उमेदराय, ब्रह्मदत्त, पद्माकर, राय शिवप्रसाद, गिरिधर दास, तथा दामोदर का नाम उल्लेखनीय है। तीन अनूदित लक्षण उदाहरणतः यहाँ दिये जाते हैं।

(क) सोमनाथ—भासे जहाँ विरोध सो अविरोधी सब अर्थ ।
सु है विरोधाभास कवि जानत बुद्धि समर्थ ॥१३५॥

(ख) रसिकगोविन्द—पद में विरोध अरु अर्थ जाकों अविरोध, सो विरोधाभास।[4]

---

१. (क) कविकुल-कल्पतरु—चिन्तामणि, पृष्ठ ६०
(ख) रसरहस्य—कुलपति, पृष्ठ ७६
२. शिव (राज) भूषण—भूषण, पृष्ठ १०९-१११
३. चेतचन्द्रिका—गोकुल, पृष्ठ ८०
४. (क) रसपीयूषनिधि—सोमनाथ, पृष्ठ १६९
(ख) रसिकगोविन्दआनन्दघन—रसिकगोविन्द, पृष्ठ ५१

उमेदराय—जा में विरोध भासे, न होय ।
तिह कहत 'विरोधाभास' लोय ॥६०॥[1]

आचार्य भिखारीदास ने विरोधाभास को शब्दालंकारों में माना है ।[2]

विरोध या विरोधाभासालंकार के इस लक्षण-परीक्षण से यह निष्कर्ष निकलता है कि विरोधाभास को ही रीतिकाल के बहुसंख्यक आचार्यों ने अलंकार माना और लक्षणानुवाद में पूर्ण दत्तावधान रहे ।

विभावना

संस्कृत-साहित्य में विभावनालंकार सभी आचार्यों ने प्रथमतः वहां माना है, जहाँ हेतु बिना कार्य होता हुआ दिखाई दे । यद्यपि लोक में कारण बिना कार्य होता नहीं देखा जाता और न ही विभावना में बिना हेतु कार्य होता है । प्रकटतः हेतु बिना कार्य-वर्णन रहते हुए भी अप्रकटित हेतु या कल्पितहेत्वन्तर से कार्य होता है । हेतु तो किसी न किसी रूप में रहता है, तब भी चमत्कार इसी कथन में रहा कि हेतु बिना कार्य हो । इस विभावना के कालान्तर में छः भेद हो गए । अलंकार की विकसित अवस्था में अन्य पाँच भेदों में हेतु की असमग्रता में भी कार्योत्पत्ति, प्रतिबंधक होने पर भी कार्योत्पत्ति, प्रसिद्ध कारण बिना कार्य-जन्म, विरोधी कारण से कार्योत्पत्ति तथा कार्य से कारण के जन्म को अन्वित किया गया है ।

रीतिकाल के आचार्यों पर दण्डी, मम्मट तथा अप्पय्य दीक्षित का अमिट प्रभाव रहा है । आचार्य केशव ने दण्डी-कृत विभावना-लक्षण को भावानूदित करके अपना लक्षण बनाया है । दण्डी ने प्रसिद्ध हेतु की व्यावृत्ति तथा कारणान्तर से कार्य-सिद्धि में द्विविध विभावना मानी है । वही केशव ने भी । दोनों के लक्षण निम्नलिखित हैं[3]।

(क) दण्डी—प्रसिद्धहेतुव्यावृत्या यत्किंचित् कारणान्तरं ।
यत्र स्वाभाविकत्वं वा विभाव्यं सा विभावना ॥२-१९९॥

(ख) केशव—कारज को बिनु कारणहि, उदो होत जेहि ठौर ।
तासों कहत विभावना, केशव कवि सिरमौर ॥
कारण कौनहु आन ते, कारज होय जु सिद्ध ।
जान्यो अन्य विभावना, कारण छांडि प्रसिद्ध ॥६,११,१३॥[3]

केशव ने दण्डी के 'कारणान्तर' शब्द की परिभाषा विस्तृत करते हुए लिख दिया है कि प्रसिद्ध एवं प्रकट कारण को छोड़कर अन्य कारण ही कारणान्तर माना जा सकता है ।

---

१. वाणीभूषण—उमेदराय, पृष्ठ १८

२. श्लेष विरोधाभास है, सब्द अलंकृत दास ।
मुद्रा औ वक्रोक्ति पुनि पुनरुक्तवद भास ॥
काव्य-निर्णय—भिखारीदास, पृष्ठ ५५८

३. (क) काव्यादर्शः—दण्डी, पृष्ठ १०२
(ख) कविप्रिया—केशव, पृष्ठ १५०-१५१

आचार्य मम्मट के लक्षण में क्रिया के (कारण के) प्रतिषेध पर भी फलोत्पत्ति को विभावना माना गया है। आचार्य चिन्तामणि तथा रत्नेश ने इसी लक्षण का भावानुवाद किया है। अनुवाद सरल तथा स्पष्ट है। लक्षण में विकार उत्पन्न नहीं हुआ। कठिनाई तो यह है कि विभावना-लक्षण का अनुवाद यदि विपरीत भी हो जाता, तब भी विभावना ही हो जाती। दोनों प्रकार के लक्षण नीचे दिये गये हैं। तुलना से दोनों के भाव में कोई अन्तर नहीं है।

(क) मम्मट—क्रियायाः प्रतिषेधेऽपि फलोत्पत्तिर्विभावना ॥१०७॥
(ख) चिन्तामणि—कारज उत्पत्ति की जहां कारण की प्रतिषेध।
सो सब कहत विभावना पंडित सुकवि सुमेध ॥१५६॥
(ग) रत्नेश— कारन के प्रतिषेध हु कारज प्रकट बषानि।
सो विभावना अर्थ को अलंकार पहिचानि ॥१०२॥[1]

आचार्य अप्पय्य दीक्षित के विभावना-गत छः भेदों के लक्षणों का आधार रीतिकाल के बहुसंख्यक आचार्यों ने लिया है, जिनमें जसवन्तसिंह, मतिराम, भूषण, गोप, कुमारमणि, रसिक सुमति, रघुनाथ गोविन्द, सोमनाथ, दूलह, रसरूप, भिखारी दास, बैरीसाल, रत्नेश, रामसिंह, याकूबखाँ, चन्दन, गोकुल, रसिक गोविन्द, उमेदराय, ब्रह्मदत्त, पद्माकर, राय शिवप्रसाद, गिरिधरदास, अमीरदास, निहाल, तथा कवि दास ने छः भेदों का वर्णन किया है। इन सभी ने प्रायः भावानुवाद किया है। बैरीसाल ने अप्पय्य दीक्षित के शब्दों का प्रयोग करने का सशक्त प्रयास किया है। उसके लक्षणों को नीचे उद्धृत किया जा रहा है—

बैरीसाल—जहाँ न कारन है तहां, जो कारज दरसाय।
ताको प्रथम विभावना, कहत सुकवि समुदाय ॥१७७॥
अप्पय्य दीक्षित—विभावना विनापि स्यात् कारणं कार्यजन्म चेत् ॥७७॥
बैरीसाल—जहाँ न हेतु समग्र जो, होत तहां ऊ काज।
दूजी ताहि विभावना, भाषत सुकवि समाज ॥१८०॥
अप्पय्य दीक्षित—हेतूनामसमग्रत्वे कार्योत्पत्तिश्च सा मता ॥७८॥
बैरीसाल—होय जहाँ प्रतिबन्ध को, तऊ काज जो होत।
यह विभावना तीसरी, कहत कविन के गोत ॥१८२॥
अप्पय्य दीक्षित—कार्योत्पत्तिस्तृतीया स्यात् सत्यपि प्रतिबन्धके ॥७९॥
बैरीसाल—जहां अकारण ते प्रगट, कारज जन्म लखात।
चौथी कहत विभावना, तहां ज्ञान अवदात, ॥१८४॥
अप्पय्य दीक्षित—अकारणात् कार्यजन्म चतुर्थी स्याद् विभावना ॥८०॥
बैरीसाल—निज विरुद्ध कारनहि तें, होत काज जेहि ठौर।
पंचई ताहि विभावना, कहत सुकवि सिरमौर ॥१८६॥
अप्पय्य दीक्षित—विरुद्धात् कार्यसम्पत्ति दृष्टा काचिद् विभावना ॥८२॥

१. (क) काव्य-प्रकाशः—मम्मट, पृष्ठ ४९८
(ख) कविकुल-कल्पतरु—चिन्तामणि, पृष्ठ ६५
(ग) फतेप्रकाश—रत्नेश (रतन), पृष्ठ ८३

बैरीसाल—जहां काज से हेतु की उतपति परत लखाय।
छठई कहत विभावना, तहां सुकवि समुदाय ॥१८८॥

अप्पय्य दीक्षित—कार्यात् कारणजन्मापि दृष्टा काचिद् विभावना ॥८३॥[1]

ऊपर दिये लक्षणों में जितने शुद्ध, स्पष्ट अनुवाद की झलक है, वह रीतिकालीन आचार्यों की अवदात मति का एक उदाहरण है।

आचार्य भिखारीदास ने प्रथम विभावना के लक्षण में 'लघुकारण' की नई उद्भावना कर दी है। यद्यपि लक्षण की यह उद्भावना उसे विभावनालंकार के पद से हटा देती है। कारण लघु हो या महान्, कारण से कार्य की उत्पत्ति तो स्वाभाविक है। तब अलंकार में चमत्कार कैसा? चाहे कारणान्तर की कल्पना तो किसी न किसी रूप में आ जाती है। तब भी भिखारीदास का नया मार्ग-निर्माण विभावनालंकार के प्रसिद्ध लक्षण में लंगड़ापन लाता है। लक्षण निम्नलिखित है—

भिखारीदास—बिनु, कं लघु, कारनन्ह तें, कारज परगट होइ।
रोकतहू करि कारनी, वस्तुन्ह तें विधि सोइ ॥[2]

रीतिकाल के आचार्यों ने विभावना के छः भेदों के लक्षण भावानूदित किए। उसमें अस्पष्टता कदापि नहीं आने पाई। 'हेतु असमग्रत्व' के लिए' 'अपूरण कारण' (अपूर्ण कारण) या प्रतिबन्धकत्व के लिए प्रतिबन्ध शब्द का प्रयोग भी किया है, परन्तु लक्षणों की स्वाभाविकता नष्ट नहीं हुई है।

विशेषोक्ति

यह अलंकार संस्कृत-काव्य-शास्त्र में विभावना के विरोध में जन्मा और पनपा है। इसमें कारण रहने पर भी कार्य की अनुत्पत्ति दिखाने का चमत्कार रहता है। रीतिकाल के आचार्यों ने भी इसी रूप में इसे स्वीकार किया है। आचार्य मम्मट, जयदेव, विश्वनाथ तथा अप्पय्य दीक्षित ही इनके लक्षणों के आधार-स्तम्भ रहे हैं।

आचार्य केशव ने विशेषोक्ति का दण्डी से भिन्न लक्षण माना है। दण्डी ने तो किसी विशिष्ट प्रदर्शन के हेतु गुण-जाति-क्रियादि की विफलता दिखाने में विशेषोक्ति को माना है। परन्तु केशव ने सकल कारणों की विद्यमानता में भी कार्य न होने को विशेषोक्ति कहा है। दोनों लक्षण दो छोरों पर विपरीत खड़े किए गये हैं। केशव का

---

१. (क) भाषाभरण—बैरीसाल, पृष्ठ १४-१५
(ख) कुवलयानन्दः—अप्पय्य दीक्षित, पृष्ठ १४२-१४६
२. काव्य-निर्णय—भिखारीदास, पृष्ठ ३३२

लक्षण आचार्य मम्मट, रुय्यक तथा विश्वनाथ से मिलता है।[1]

आचार्य चिन्तामणि तथा आचार्य अमीरदास ने मम्मट-कृत लक्षण का शब्दानुवाद तथा कुलपति ने भावानुवाद प्रस्तुत किया है। तीनों लक्षण दर्शनीय हैं—

(क) मम्मट—विशेषोक्तिरखण्डेषु कारणेषु फलावचः।

(ख) चिन्तामणि—जो अखण्ड कारण मिले, कारज कछु न होय।
ता सों विसेषोक्ति कहत पंडित सत कवि कोय ॥१६१॥

(ग) कुलपति—सब कारण कारज नसें उक्ति विशेष सुजान।
सो तीन प्रकार की है (१) अनुक्तिनिमित्ता
(२) उक्ति निमित्ता (३) अचिन्त्य निमित्ता ॥

(घ) अमीरदास— जहां अखण्ड कारन प्रगट, कारज जहां न होय।
ताहि विशेषोक्ति कहें, अलंकार कवि लोय ।५-१२१।[2]
सो उक्त निमित्ता, अनुक्त निमित्ता, अचिन्त्य निमित्ता ॥

आचार्य कुलपति ने मम्मट-कृत कारिका-वृत्ति को अपने शब्दों में भेदोंसमेत बांधा है।[3] दोनों की तुलना से यह स्पष्ट हो जाता है कि कुलपति बहुधा मम्मट के लक्षणों की कारिका-वृत्ति से अपने लक्षण बनाते रहे हैं।

अप्पय्य दीक्षित ने पुष्कल कारणों के होने पर भी कार्य न होने को विशेषोक्ति कहा है। उनके लिखे लक्षण का रीतिकाल के बहुसंख्यक आचार्य अनुवाद करते रहे।

---

१. (क) गुण जाति क्रियादीनां यत्तु वैकल्य दर्शनम्।
विशेषदर्शनाय एव सा विशेषोक्तिः इष्यते ॥२-३२३॥
काव्यादर्शः—दण्डी, पृष्ठ १३६

(ख) विशेषोक्तिरखण्डेषु कारणेषु फलावचः।
काव्यप्रकाशः—मम्मट, पृष्ठ ४६८

(ग) कारण सामग्र्ये कार्यानुत्पत्तिः विशेषोक्तिः।
अलंकारसर्वस्वम्—रुय्यक, पृष्ठ १६

(घ) सति हेतौ फलाभावे विशेषोक्तिस्तथा द्विधा ॥६७॥
साहित्यदर्पणः—विश्वनाथ, पृष्ठ ३२५

(ङ) विद्यमान कारण सकल, कारज होत न सिद्ध।
सोई उक्ति विशेषमय, केशव परम प्रसिद्ध ।१२-१४।।
कविप्रिया—केशव, पृष्ठ २४५

२. (क) काव्यप्रकाशः—मम्मट, पृष्ठ ४६८
(ख) कविकुल-कल्पतरु—चिन्तामणि, पृष्ठ ६६
(ग) रसरहस्य—कुलपति, पृष्ठ ७४
(घ) श्री कृष्ण-साहित्य-सिन्धु—अमीरदास, पृष्ठ १८६

३. मिलितेष्वपि कारणेषु कार्यस्याकथनं विशेषोक्तिः।
अनुक्त निमित्ता, उक्त निमित्ता, अचिन्त्य निमित्ता च ॥
काव्यप्रकाशः—मम्मट, पृष्ठ ४६८

आचार्य मम्मट का अनुसरण अप्पय्य दीक्षित की परम्परा वालों में किसी ने नहीं किया। इनमें से दो के उदाहरण देना ही पर्याप्त है—

(क) अप्पय्य दीक्षित—कार्याजनिर्विशेषोक्ति सति पुष्कलकारणे ॥८३॥

(ख) रघुनाथ—आछत कारण बहुत के जहां न कारज होइ।
विशेषोक्ति बरनत तहां अलंकार सुख भोइ ॥२४१॥[1]

(ग) गिरिधरदास—पुष्कल कारण ते जहां कारज उपजे नाहि।
विशेषोक्ति तेहि कहत हैं कविजन जग के मांहि ॥१७६॥[2]

इन दोनों में गिरिधरदास का लक्षण अप्पय्य दीक्षित के लक्षण के शब्दानुवाद का सफल प्रयास है। रघुनाथकृत लक्षण भावानुवाद है।

विशेषोक्ति के तीन भेदों को बाद के आचार्यों ने प्रायः नहीं लिखा। आचार्य अमीरदास तथा निहाल ने मम्मट-प्रभाव के कारण भेदों का नाम-निर्देश किया है। इतना कहने में कोई हिचक नहीं कि इस अलंकार के लक्षण में आचार्य रुय्यक तथा विश्वनाथ का भी मम्मट, जयदेव तथा अप्पय्य दीक्षित के साथ प्रभाव-ग्रहण हुआ है। वैसे अप्पय्य दीक्षित का स्थान ही इस दृष्टि से प्रधान रहा है।

असम्भव

जयदेव, अप्पय्य दीक्षित तथा विश्वेश्वर पंडित ने इस अलंकार का लक्षण संस्कृत-काव्य-शास्त्र में एक समान दिया है। इनके मत से असम्भवालंकार वहां होता है, जहाँ किसी कार्य विशेष की उत्पत्ति के सम्बन्ध में असम्भवता का वर्णन किया जाए और असम्भवता होते हुए भी उसके हो जाने का वर्णन हो।[3]

रीतिकाल के आचार्यों में केशव, चिन्तामणि, तथा कुलपति ने असम्भवालंकार का लक्षण नहीं दिया है, क्योंकि इन पर जयदेव-पूर्व के आलंकारिकों के लक्षणों का ही अधिक प्रभाव था।

इस असम्भवालंकार का लक्षण जसवन्तसिंह, मतिराम, भूषण, देव, गोप, कुमारमणि, रसिकसुमति, रघुनाथ, गोविन्द, सोमनाथ, दूलह, रसरूप, भिखारीदास, बैरीसाल, रत्नेश, रामसिंह, याकूबखाँ, सेवादास, चन्दन, गोकुल, रसिकगोविन्द, उमेदराय, ब्रह्मदत्त, पद्माकर, राय शिवप्रसाद, गिरिधरदास तथा कवि दास ने लिखा है। लक्षण में अप्पय्य दीक्षितकृत लक्षण का भावानुवाद किया गया है। दो लक्षण उदाहरणार्थ यहां दिये जा रहे हैं—

(क) रसिक गोविन्द—सम्भवे नहीं, ऐसे कारज बनिये, सो असम्भव॥[4]

१. (क) कुवलयानन्दः—अप्पय्य दीक्षित, पृष्ठ १४७
(ख) रसिकमोहन—रघुनाथ, पृष्ठ २९
२. भारतीभूषण—गिरिधरदास, पृष्ठ १७
३. असम्भवोऽर्थ निष्पत्तेरसम्भावाव्यत्ववर्णनम् ॥८३॥
कुवलयानन्दः—अप्पय्य दीक्षित, पृष्ठ १४८
४. रसिकगोविन्दआनन्दघन—रसिकगोविन्द, पृष्ठ ५३

उमेदराय—अनबनत असम्भव काज होय ।
तिहं कहत 'असम्भव' सुकवि लोय ।।९२।।[1]

इन दोनों लक्षणों में भावानुवाद सरल रूप से हुआ है ।

आचार्य भिखारीदास ने असम्भवालंकार का लक्षण अस्पष्ट बना दिया है । उनके मतानुसार असम्भवालंकार वहां होता है, जहां किसी बात के बिना जाने हो जाने के आशय का वर्णन किया जाए, परन्तु जयदेव तथा अप्पय्य दीक्षित के मतानुसार यह लक्षण असम्भवालंकार में नहीं घटता, इसलिए यह अस्पष्ट तथा असंगत है ।[2]

असंगति

इस अलंकार के मूल में अप्पय्य दीक्षित के मतानुसार हेतु तथा कार्य का दो भिन्न स्थानों में विरुद्ध अस्तित्व रहता है । दूसरे प्रकार की असंगति वहां होती है, जहां किसी विशेष स्थान पर करणीय कार्य को वहां न कर के, किसी अन्य स्थान पर किया जाए । तीसरी असंगति वहाँ होती है, जहां किसी विशेष कार्य को करने में प्रवृत्त व्यक्ति उस विशेष कार्य को न करके, उससे विरुद्ध कार्य को कर दे ।[3] आचार्य मम्मट ने कार्यकारणभूत दो धर्मों की भिन्नदेशतया और युगपत् प्रतीति को असंगति का क्षेत्र माना था । स्वीकार करना होगा कि अप्पय्य दीक्षित के लक्षणों पर भी आचार्य मम्मट की छाया है ।

असंगति अलंकार के चमत्कारहेतु एक अन्य तथ्य पर भी दृष्टिपात अनिवार्य है कि कारण-कार्य की विभिन्न क्षेत्रों में विरुद्ध स्थिति किसी न किसी अन्य अलंकार के आधार पर होती है, फिर चाहे वह श्लेष हो या रूपक ।

आचार्य मम्मट-कृत लक्षण का अनुवाद रीतिकाल में नहीं हुआ । आचार्य चिन्तामणि तथा कुलपति के लक्षण क्रमशः छायाग्रहीत तथा स्वतन्त्र मतावलम्बी हैं । आचार्य कुलपति ने विरोधाभास तथा असंगति पर अपने विचार भी प्रकट किए हैं, जिनमें असंगति की संगति कारण-कार्य के अलग-अलग कहने ही से विरोध-दर्शन

---

१. वाणीभूषण—उमेदराय, पृष्ठ २०

२. बिन जाने ऐसो भयो, असंभवे पहिचान ।
काव्यनिर्णय—भिखारीदास, पृष्ठ ४०७

३. विरुद्धं भिन्नदेशत्वं कार्यहेत्वोरसंगतिः ।८५।
अन्यत्र करणीयस्य ततोऽन्यत्र कृतिस्तथा ।
अन्यत्कर्तुं प्रवृत्तस्य तद्विरुद्धकृतिस्तथा ।८६।
कुवलयानन्दः—अप्पय्य दीक्षित, पृष्ठ १२१

में होती है। कुलपति का मत सर्वथा स्पष्ट है।[1]

अप्पय्य दीक्षित-कृत लक्षण के अनुवादकों की संख्या अधिक है, परन्तु प्रथम असंगति के लक्षण का शब्दानुवाद तो किसी ने नहीं किया, अपितु भावानुवाद ही अधिक ने किया है। तब भी बैरीसाल का प्रयत्न इस दिशा में सराहनीय है क्योंकि उन्होंने लक्षण की आत्मा को केवल हेतु-कार्य के अलग-अलग स्थलों में बता कर निर्बल नहीं किया, अपितु विरुद्धरूप से भिन्नदेशत्व में स्थापना की चर्चा करके उसे सबल रखा है। उनका लक्षणानुवाद पठनीय है—

बैरीसाल—हेतु काज के ठौर को, भेद, विरुद्ध जो होत।
ताहि असंगति कहत हैं, जिनके ज्ञान उदोत।१६८।[2]

यहां बैरीसाल द्वारा प्रयुक्त 'भिन्न' पद से भिन्नदेशता की कल्पना स्वतः करनी पड़ती है। शेष लक्षण अत्यन्त स्पष्ट है।

अन्य आलंकारिकों द्वारा किये गये भावानुवादों में एक ही परिपाटी का अनुसरण किया गया है। इसलिए उनमें कहीं लक्षण अशुद्ध नहीं बना है। कवि भूषण के जयदेव तथा अप्पय्य दीक्षित-कृत लक्षणों के तीन अनुवाद उनकी सजग प्रतिभा के उदाहरण हैं—

भूषण—हेतु अनत ही होय जहं, काज अनत ही होय।
ताहि असंगति कहत हैं, भूषण सुमति सोय।२००।
आन ठौर करनीय सो, करे और ही ठौर।
ताहि असंगति और कवि, भूषण कहत सगौर।२०२।
करन लगे औरे कछु, करे औरई काज।
तहां असंगति होत है, कहि भूषण कविराज।२०४।[3]

असंगति अलंकार के तीनों भेदों के लक्षणों का अनुवाद रीतिकाल में किया गया है। लक्षण क्रमशः सरल बने हैं, परन्तु संस्कृत-लक्षण में दिए गये 'विरुद्ध भिन्न-देशत्व' कथन की न्यूनता इस काल के लक्षणों में खलती है।

---

१. (क) हेतु और थल में कहूं काज और थल होय।
अलंकार ज्ञाता कहत होति असंगति सोय।१६३।
कविकुलकल्पतरु—चिन्तामणि, पृष्ठ ६७

(ख) कारण-कारज बरनिये, न्यारे-न्यारे ठौर।
समझावे जु विरोध सों, सु असंगति सिरमौर।१८३।

टीका—जहां कारण कारज से अलग-अलग कहने ही से विरोध प्रकट होता है। और विरोधाभास में तो कारज, कारण, भाव, कल्पना नहीं है, यह जात्यादिकों के विरोध से ही होता है। यह भेद है।
रसरहस्य—कुलपति, पृष्ठ ८४-८५

२. भाषाभरण—बैरीसाल, पृष्ठ १६

३. शिवराजभूषण—भूषण, पृष्ठ ११६-१२२

विषम

आचार्य मम्मट ने इस अलंकार का लक्षण लिखा है कि कहीं अत्यन्त विधर्मता के कारण जिन दो पदार्थों का सम्बन्ध बनता प्रतीत न हो, उसे प्रथम प्रकार का विषम कहते हैं। इसी के, क्रिया के अभीष्ट फल की प्राप्ति कर्त्ता को न होने और विपरीततः अनर्थ हो जाने से दूसरा विषम तथा कार्य के गुण-क्रिया से, कारण के गुण तथा क्रिया के क्रम से विपरीतता जहां होती है, वहां तीसरा तथा चौथा विषम होता है।[1]

मम्मट के अनन्तर इन के तीन भेद प्रसिद्ध होने लगे। आचार्य अप्पय्य दीक्षित तक तीन ही भेद प्रचलित थे। प्रधानतया उन्हीं का विषमालंकार का लक्षण रीतिकाल के आचार्यों के सम्मुख रहा। अप्पय्य दीक्षित ने दो भिन्न दो अननुरूप पदार्थों के वर्णन को प्रथम विषम, कारण से, अपने से भिन्न गुण वाले काले कार्य की उत्पत्ति में दूसरा विषम तथा किसी इष्टार्थ की प्राप्ति के लिए किया गया प्रयत्न अनिष्ट-लाभ ही करा दे तो तीसरा विषम माना है।[2]

आचार्य मम्मट के लक्षण का अनुवाद चिन्तामणि, कुलपति तथा रत्नेश ने स्पष्ट रूप से किया है। चिन्तामणि ने शब्दानुवाद का अथक प्रयास किया है, परन्तु उसमें पूर्ण स्वच्छतया सफलता नहीं आ पाई। यह अपूर्णता लक्षण की प्रथम पंक्ति में है। शेष तीनों पंक्तियों का अनुवाद सर्वथा शुद्ध हुआ है। अनूदित लक्षण निम्न लिखित हैं —

चिन्तामणि —जो संजोग द्वै बात को जथा जोग नहिं होइ।
विषम अलंकृत कहत यह कवि पंडित सब कोइ ॥१६९॥
कर्त्ता को न क्रिया फले पुनि अनर्थ कछु होइ।
जो कारज गुण क्रिया तें कीजे और विधि सोइ ॥१७०॥
यों विरुद्धता देखि के विषम कहत कवि नाह।
अलंकार करतान के देख्यो ग्रंथन मांह ॥१७१॥[3]

आचार्य कुलपति तथा रत्नेश ने भावानुवाद किया है और लक्षण स्पष्टतया सरल बन गया है। दोनों लक्षणों में भेदादि का निरूपण भी सरलता से हो गया है।

---

१. क्वचिदतिवैधर्म्यान्न श्लेषो घटनाभियात्।
कर्तुः क्रियाफलावाप्तिर्नैवानर्थश्च यद्भवेत् ॥
गुणक्रियाभ्यां कार्यस्य कारणस्य गुणक्रिये।
क्रमेण च विरुद्धे यद् स एष विषमो मतः ।१०-१२७।
काव्य-प्रकाशः—मम्मट, पृष्ठ ५३५-५३६

२. विषमं वर्ण्यते यत्र घटनाननुरूपयोः।
विरूपकार्यस्योत्पत्तिरपरं विषमं मतम्।
अनिष्टस्याप्यवाप्तिश्च तदिष्टार्थसमुद्यमात् ।६१।
कुवलयानन्दः—अप्पय्य दीक्षित, पृष्ठ १५५

३. कविकुल-कल्पतरु—चिन्तामणि, पृष्ठ ६८

(क) कुलपति—अति विरुद्ध गुन जोग तें, मिलि न बनें नहिं आनि।
काम किये को फल नहीं, उलटि अनरथहि जानि।।
कारन कारज भावहु-गुण अरु क्रिया विरुद्ध।
जोइ जहां सो विषम है, चारि भांति सुप्रसिद्ध।।

(ख) रत्नेश— बने न धर्म विरोध तें जहां जुगल को जोग।
लहे न करता क्रिया फल उलटे लहै जो सोग।।१८७।।
कारन कारज गुन-क्रिया क्रम तें बरनि विरुद्ध।
भेद बखाने विषम के चारु चारिये श्रद्ध।।१८८।।[1]

रत्नेश की अपेक्ष कुलपति-कृत लक्षण अधिक स्वच्छ एवं परिष्कृत है। इन दोनों आलंकारिकों ने मम्मट-कृत लक्षण-वृत्ति का भावानुवाद अपने लक्षण में किया है।[2]

अप्पय्य दीक्षित-कृत विषम-लक्षण का भावानुवाद तो अनेक आचार्यों ने किया। दीक्षित ने केवलानिष्टप्रतिलम्भ तथा केवलानिष्टावाप्ति नाम से दो भेद प्रसिद्ध विषमत्रय भेद के अतिरिक्त भी माने हैं। इनमें लक्षणानुवाद के दो उदाहरण निम्नलिखित हैं—

(क) रामसिंह—बरने अनमिल दोइ।
विषम अलंकृति होइ।।२१३।।
हेतु काज रंग औरे और।
द्वितीय विषम कहिये तिहिं ठौर।।२१४।।
हित को जतन अहित ह्वै जाइ।
तीजो विषम कहे कवि राइ।।२१६।।

(ख) रसिकगोविन्द—अनमिलते को संग होइ सो प्रथम।
कारण को रंग और अरु कारज कौ रंग और होइ सो दुतीय।
भलो उद्दम किये ते बुरे फल की प्राप्ति होइ सो तृतीय।।[3]

सेवादास-कृत लक्षण अत्यन्त अस्पष्ट है अथवा यह कहा जाय तो असंगत नहीं कि उससे विषम का लक्षण बना ही नहीं। लक्षण बनाने में सेवादास की असमर्थता चरमसीमा का स्पर्श कर गई है—

सेवादास— देन कहै जा को कछु सो पहिले ही देइ।
विषम ता सौ कहै बरनत ता को सेइ।।१०२।।[4]

---

१. (क) रसरहस्य—कुलपति, पृष्ठ ८५
(ख) फतेप्रकाश—रत्नेश (रतन), पृष्ठ ८५

२. चतूरूपो विषमः।
काव्यप्रकाशः—मम्मट, पृष्ठ ५३६

३. (क) अलंकार-दर्पण—रामसिंह, पृष्ठ २०
(ख) रसिकगोविन्दआनन्दघन—रसिक गोविन्द, पृष्ठ ५४

४. रघुनाथालंकार—सेवादास, पृष्ठ २२२

रीतिकाल में रघुनाथ तथा उनके पुत्र गोकुल कवि ने विषम के सात तथा छः भेदों का वर्णन किया है, तीन भेद तो यथावत् रखे हैं। चौथा, तथा पांचवां अप्पय्य दीक्षित से प्रभावित होकर रखा है। छठा भेद नया है। चौथा विषम वहां होता है, जहां यह समझ कर इष्ट व्यापार किया जाए कि अनिष्ट नहीं होगा परन्तु ऐसा करने पर अनिष्ट की प्राप्ति हो जाती है। पांचवां विषम वहां माना गया है, जहां पहले तो इष्ट-प्राप्ति के हेतु उद्यम किया गया, उस पर पहले तो इष्ट की प्राप्ति हो गई परन्तु उसके उपरान्त अनिष्ट हो गया। विषम का छठा भेद वह है, जहाँ दूसरों का बुरा करने पर अपनी ही बुराई हो जाए।[1]

रघुनाथ तथा गोकुल ने सबसे पृथक् रहकर अपनी मौलिकता दर्शित की। रघुनाथ कवि ने छठा विषम वहां माना है, जहां इष्ट के लिए उद्यम करने पर न इष्ट सिद्ध हो, न अनिष्ट ही हो।[2] परन्तु गोकुल ने इस भेद को नहीं लिया, इसलिए रघुनाथ-कृत सातवां भेद गोकुल-कृत छठा विषम है। संस्कृत-काव्यशास्त्र में भी मम्मट-कृत चार भेदों से अधिक कोई नहीं गया। इस कारण रीतिकाल में रघुनाथ तथा गोकुल कवि का देय अवश्य ही अलंकार-क्षेत्र में विषम-भेद-निरूपण में नवीन आधार का है। सामाजिक जीवन की सफलता पर आधृत भावाभिव्यक्ति वाला यह अलंकार रीतिकालीन सामाजिक स्थिति में भेदों में वृद्धि पाकर अधिक चमत्कृत हुआ।

सम

यह अलंकार विषम का विरोधी है। इसमें दो अनुरूप पदार्थों का वर्णन एक साथ हो तो प्रथम, कारण तथा कार्य में अनुरूपता हो तो द्वितीय तथा कार्य के लिए उद्यत होने पर बिना अनिष्ट के वस्तुप्राप्ति में तीसरा सम (भेद) अलंकार होता है। आचार्य मम्मट ने इसके सद्, असद् रूप से दो भेद माने थे[3] परन्तु अप्पय्य दीक्षित के काल में आकर तीन हो गए।[4]

चिन्तामणि ने मम्मट-कृत लक्षण-कारिका का प्रथम पंक्ति और वृत्तिवर्ती भेदों का दूसरी पंक्ति में अनुवाद किया है। अनुवाद अस्पष्ट नहीं हुआ है।

चिन्तामणि—होत समालंकार सो जो कछु जोग संजोग।
द्विविध सुबरन ते सद् असत् जोग कहत कवि लोग ॥१७६॥[3]

---

१. चेतचन्द्रिका—गोकुल कवि, पृष्ठ ९२

२. उद्दिम कर तें इष्ट को होइ न इष्ट, अनिष्ट।
विषम अलंकृत में कहत कवि करि भेद उद्दिष्ट ॥२६६॥
रसिकमोहन—रघुनाथ, पृष्ठ ४२

१ समं योग्यतया योगो यदि संभावितः क्वचित्—तत्सद्योगेऽसद्योगे च।
काव्यप्रकाशः—मम्मट, पृष्ठ ५३५

२. समं स्याद् वर्णनं यत्र द्वयोरप्यनुरूपयोः ॥९१॥
सारूप्यमपि कार्यस्य कारणेन समं विदुः ॥९२
बिनानिष्टं च तत्सिद्धिर्यमर्थं कर्तुमुद्यतः ॥९३॥
कुवलयानन्दः—अप्पय्य दीक्षित, पृष्ठ १६०-१६२

३. कविकुल-कल्पतरु—चिन्तामणि, पृष्ठ ६६

आचार्य कुलपति ने समालंकार का लक्षण मम्मटानुसार अनूदित नहीं किया है अपितु स्वतन्त्र मति का परिचय दिया है—

कुलपति—सम-सम जहाँ सम्भव हो, वह सम अनुमान ।।[1]

रत्नेश ने भी मम्मट-कृत लक्षण के वृत्ति-भाग का छायानुवाद भर किया है ।

रत्नेश—गुननि ए गुननि सम फबैं जुगल कौनहूं जोग ।
अलंकार वर सम कहत, सो कवि कोविद लोग ।।१८४।।[2]

रत्नेश के लक्षण में 'कौनहूं' पद खटकता है, इसलिए लक्षण अस्पष्ट हो गया है । सम में तो 'योग' अनुरूपता से फबता है, किसी भी प्रकार से किए गए योग से नहीं ।

अप्पय्य दीक्षित-कृत लक्षण के परिष्कृत अनुवादकों के कुछ उदाहरण (पद्य-गद्य में) ही पर्याप्त हैं, क्योंकि पर्याय शब्दों के प्रयोग के अतिरिक्त सबने भावानुवाद किया है । संक्षिप्त अलंकार-लक्षण-लेखकों में रसिकसुमति तथा रार्मासिह की प्रतिभा अपूर्व थी । दोनों के लक्षण यहां निर्दिष्ट हैं—

(क) रसिकसुमति—अलंकार सम प्रथम जहं यथा जोग को संग ।
दूजो सम जहं काज में पैये कारन भाइ ।
पुनि सम उद्दिम और तें होइ जु इच्छित काम ।।

(ख) रार्मसिह—दो अनुरूप बरनिए जहां ।
अलंकार सम कहिए तहां ।।२१६।।
कारन गुन कारज में लहिए ।
अलंकार सम दूजो कहिए ।।२२०।।
कारज सिद्धि बिना श्रम होइ ।
अलंकार सम तीजो सोइ ।।२२२।।

(ग) कवि दास—जहां जथा जोग को संग होय
जहां कारज में कारन को संग पाइए तहाँ दूजो भेद ।
श्रम बिन कारज सिद्धि होय यह तीजो सम-भेद ।।[3]

समालंकार के भावानुवाद में मतिराम तथा रघुनाथ-कृत लक्षण अधिक परिष्कृत तथा अप्पय्य दीक्षित की शब्दावली के निकट हैं । दोनों लक्षणों में स्पष्टता एवं सरलता की विशेषता है—

मतिराम—जहां दुहूं अनुरूप को, कविजन करत बखान ।
तहां समुझै सब कहत हैं, जो सुरंग रस ज्ञान ।।२२६।।
जहां हेतु से काज को, बरनत उचित सरूप ।
बरनत तहं सम औरऊ जे कवि कोविद भूप ।।२३०।।

---

१. रसरहस्य—कुलपति, पृष्ठ ८५
२. फतेप्रकाश—रत्नेश (रतन), पृष्ठ १०१
३. (क) अलंकारचन्द्रोदय—रसिक सुमति, पृष्ठ ७
(ख) अलंकारदर्पण—रार्मसिह, पृष्ठ २०-२१
(ग) अलंकारमाला—कवि दास, पृष्ठ ४०

ताकी सिद्धि अनिष्ट बिन उद्यम जाके अर्थ ।
तासों सम औरें कहत, जो कविराज समर्थ ॥२३२॥[1]

रघुनाथ—जहां रचना सम रूप की कविजन करत बिचारि ।
अलंकार सम कवित में कहियतु तहाँ निहारि २७३ ॥ २७३॥
कारन के सारूप्य में कारज बरनन होइ ।
जहां तहाँ सम दूसरो अलंकार में जोइ ॥२७५॥
क्रिया करी जो अर्थ की सोइ इष्ट बिनु सिद्धि ।
बरनत हैं सम तीसरो अलंकार मति वृद्धि ॥२७८॥[2]

याकूबखाँ ने समालंकार के तीनों भेदों का सम्बन्ध क्रमशः धृष्ट नायक, शठ नायक तथा उपपति से जोड़ा है। राय शिवप्रसाद ने सम-भेदों को क्रमशः मुग्धा, प्रवत्स्यत प्रेयसी, मध्या प्रवत्स्यत प्रेयसी तथा प्रौढ़ा प्रवत्स्यत प्रेयसी से सम्बद्ध किया है।[3]

इस प्रकार समालंकार के तीनों भेदों के लक्षणों में निर्बलता कहीं नहीं है, परन्तु शब्दानुवाद भी रीतिकाल के आचार्यों ने नहीं किया, वे समालंकार के क्षेत्र में भावानुवाद में अधिक सफल रहे।

विचित्र

इस अलंकार में प्रयत्न का ऐसा रूप रहता है, जो इच्छा-प्राप्ति के विपरीत होता है। कारण-कार्य का विचित्र संयोग भी विचित्रालंकार है। आचार्य रुय्यक संस्कृत-काव्यशास्त्र में इसके प्रारम्भकर्त्ता हैं। अप्पय्य दीक्षित तक इसका लक्षण इसी प्रकार रहा है।[4]

रीतिकाल के चिन्तामणि, कुलपति, रत्नेश, अमीरदास तथा निहाल कवि ने इसका लक्षण नहीं दिया, इसका कारण उनका मम्मट-कृत लक्षणों का अनुयायी होना है। शेष सबने अप्पय्य दीक्षित का अनुकरण किया है। भावानुवादों में प्रायः आचार्य सफल रहे हैं। गोकुल तथा उमेदराय कवि का लक्षण उदाहरणार्थ लिखित है—

(क) गोकुल—उद्दिम फल विपरीत को, करि विचारि के जौन ।
अलंकार सुविचित्र सो है विचित्र अति तौ न ॥३७८॥

---

१. ललितललाम—मतिराम, पृष्ठ ५३
२. रसिकमोहन—रघुनाथ, पृष्ठ ४३, ४४
३. (क) रसभूषण—याकूब खाँ, पृष्ठ २२
(ख) रसभूषण—राय शिवप्रसाद, पृष्ठ ३४
४. (क) स्वविपरीतफलनिष्पत्तये प्रयत्नो विचित्रम् ।
अलंकारसर्वस्वम्—रुय्यक, पृष्ठ १६४
(ख) विचित्रं तत्प्रयत्नश्चेद् विपरीतः फलेच्छया ॥६४॥
कुवलयानन्दः—अप्पय्य दीक्षित, पृष्ठ १६४

(ख) उमेदराय—करि इच्छा फल विपरीति मित्र।
कीजिये जतन भूषन 'विचित्र' ॥[1]

आचार्य कुमारमणि ने विचित्रालंकार का लक्षण अनूदित किया है परन्तु उन्होंने लक्षण में विचित्रता ला दी है, जिससे पूर्ववर्ती लक्षणों से भिन्नता आ गई है। लक्षण द्रष्टव्य है—

कुमारमणि —हित उद्दिम विपरीत फल तहं विचित्र निरधारि ॥१६१॥[2]

अलंकार-लक्षण में 'हित' शब्द से किसी कार्य के लिए किया गया प्रयत्न लें तो लक्षण पूर्ववर्तियों के अनुसार है और यदि 'हित' शब्द का अर्थ विशिष्ट भलाई लें तो लक्षण परिवर्तित हो जाता है। बहुत सम्भव है कि मूल प्रति में 'कृत' शब्द रहा हो और प्रतिलिपिकारों ने 'हित' कर दिया हो। 'कृत' शब्द रखने से लक्षण पूर्ववर्तियों के समान हो जाता है।

आचार्य भिखारीदास ने विचित्रालंकार वहां माना है, जहां दोष की चाह या इच्छा की जाय और वहीं गुण के दर्शन हों।[3] लक्षण स्वतन्त्र मति का है परन्तु प्रसिद्ध लक्षण से भिन्न है।

अधिक

आधार और आधेय की अधिकता को लेकर यह अलंकार बना है। आचार्य मम्मट, जयदेव तथा अप्पय्य दीक्षित का प्रभाव रीतिकाल के आचार्यों के लक्षण-निर्माण पर है। आधार की अपेक्षा आधेय अधिक हो तो पहला और विशाल आधेय से आधार की अधिक पृथुलता (विशालता) जहाँ वर्णन की जाए, वहां दूसरा अधिक माना जाता है, ऐसा मत जयदेव, विश्वनाथ तथा अप्पय्य दीक्षित आदि अनेक संस्कृत काव्य-शास्त्रकारों का है। आचार्य मम्मट की परिभाषा इनसे पूर्ववर्तिनी होते हुए भी पृथक् है। मम्मट के मतानुसार महान् आधेय और आधार के क्रम से आधार और आधेय छोटे होने पर भी जब महान् दिखलाये जाएं तो वहां अधिकालंकार होता है। इसके दो ही भेद मम्मट-स्वीकृत हैं।[4]

---

१ (क) चेतचन्द्रिका—गोकुल, पृष्ठ ६५
(ख) वाणीभूषण—उमेदराय, पृष्ठ २१

२. रसिकरसाल—कुमारमणि शास्त्री, पृष्ठ ७०

३. करत दोष को चाह जहं, ताही में गुन देखि।
तेहि विचित्र भूषन कहौं, हिये चित्र अवरेखि।
काव्य-निर्णय—भिखारीदास, पृष्ठ ३६७

४. (क) अधिकं पृथुलाधारादाधेयाधिक्यवर्णनम् ॥६५॥
(ख) पृथुलधेयाद् यदाधाराधिक्यं तदपि तन्मतम् ॥६६॥
कुवलयानन्दः—अप्पय्य दीक्षित, पृष्ठ १३५-१३६
(ख) महतोर्यन्महीयांसावाश्रिताश्रययोः क्रमात्।
आश्रयाश्रयिणौ स्यातां तनुत्वेऽप्यधिकं तु तत् ॥
काव्यप्रकाशः—मम्मट, पृष्ठ ५३८

आचार्य चिन्तामणि ने विद्यानाथ के लक्षण का शब्दानुवाद अपने लक्षण में दिया है। विद्यानाथ ने आधार और आधेय में अनुरूपता का अभाव माना है। लक्षण शब्दों के हेर फेर के कारण क्लिष्टता से बोधगम्य है। अनुवाद सरल नहीं है, तब भी अशुद्ध नहीं हुआ। दोनों लक्षण इस प्रकार हैं—

(क) विद्यानाथ—आधाराधेययोरानुरूप्याभावोऽधिको मतः।

(ख) चिन्तामणि—जो आधार आधेय की अनुरूपता न होइ।
दोऊ को आधिक्य, कम अधिक अलंकार सोइ ॥१५५॥[1]

मम्मट-कृत लक्षण का भावानुवाद कुलपति तथा रत्नेश ने किया है। भावानुवाद सरल एवं स्पष्ट है।

(क) कुलपति—छोटि बड़े हूँ में बड़े, वस्तु ठौर जहिं ठौर।
छोटे हू क्रम सों कहें, अधिक सु द्वै विधि ठौर ॥१६३॥

टीका—कहीं ठौर से वस्तु अधिक, कहीं वस्तु से ठौर अधिक कीजिए। छोटी हो तो भी। इस प्रकार दो विधि का यह अलंकार ॥

(ख) रत्नेश—बड़े अधीन अधार के तनु आधार अधीन।
क्रम तें बड़े बखान सो भाषत अधिक प्रवीन ॥१६३॥[2]

अप्पय्य दीक्षित के लक्षण का अनुकरणकर्त्ताओं ने भावानुवाद किया है। दोनों प्रकार के अधिक का एक ही दोहे में भावानुवाद रीतिकाल के तीन आचार्यों—जसवन्तसिंह, कुमारमणि तथा गिरिधरदास ने किया है। तीनों लक्षण निम्न-लिखित हैं—

(क) जसवन्तसिंह—अधिकाई आधेय की, जब आधार ते होय।
जो अधार आधेय तें अधिक, अधिक ये दोय ॥११७॥

(ख) कुमारमणि—अधिक चित्र जु आधार तें अधिको जहं आधेय।
और भेद आधेय ही अधिक आधार आधेय ॥५६४॥

(ग) गिरिधरदास—जहाँ पृथुल आधार तें अधिक अधेय सुहोय।
पृथुल आधार अधेय तें अधिक अधिक ए दोय ॥[3]

दो दोहों में लक्षण-अनुवाद करने वाले अनेक आलंकारिक हैं। लक्षण में विकार नहीं हुआ, न ही अस्पष्टता आई है। यह लक्षण इसका उदाहरण है—

बैरीसाल—जहाँ अधिक आधार ते, जु आधेय अधिकात।
ता कौ बरनन कीजिये, तहां अधिक ह्वै जात ॥२२२॥

---

१. (क) प्रतापरुद्रीययशोभूषणम्—विद्यानाथ, पृष्ठ ३०४
(ख) कविकुल-कल्पतरु—चिन्तामणि, पृष्ठ ६४

२. (क) रसरहस्य—कुलपति, पृष्ठ ५६
(ख) फतेप्रकाश—रत्नेश (रतन), पृष्ठ १०३

३. (क) भाषाभूषण—जसवन्तसिंह, पृष्ठ ६६
(ख) रसिकरसाल—कुमारमणि शास्त्री, पृष्ठ ७१
(ग) भारतीभूषण—गिरिधरदास, पृष्ठ १६८

जहां अधिक आधेय ते, बरनत अधिक आधार।
तहां कहत हैं दूसरो, अधिकै अधिक विचार ॥२२४॥[1]

अल्प

अल्पालंकार में आधेय के सूक्ष्म होने पर आधार उससे भी सूक्ष्म बताया जाता है। संस्कृत में अप्पय्य दीक्षित ने ही केवल इस अलंकार का लक्षण किया है।[2] रीतिकाल के आचार्यों ने इस लक्षण का भी भावानुवाद किया है।

रीतिकाल में इस अलंकार का अनुवाद अशुद्ध एवं क्लिष्ट नहीं हुआ। वैशिष्ट्य बैरीसाल तथा पद्माकर ने प्रस्तुत किया कि अलंकार के दो भेद बना दिए। द्वितीय अल्पालंकार की उद्भावना सुन्दर है। दोनों लक्षण इस प्रकार हैं।

बैरीसाल—जहं सूछम आधेय ते बरनत अधिक अधार।
कहत सयाने जन सकल, तहं अल्पालंकार ॥२२६॥
जहं छोटे आधार ते लघु आधेय लखात।
तहं अल्प दूजो कहें, जे कविता सरसात ॥२२८॥[3]

पद्माकर—अलप अलप आधेय तें जु लघु आधार लखाइ ॥१५८॥
अल्प अल्प आधार तें जहं आधेय बखान ॥१५६॥[4]

बैरीसाल तथा पद्माकर ने अधिकालंकार के कारण ही अल्प के भी दो भेद कर दिए और लक्षण भी बना दिए। ऐसा निश्चित है कि बैरीसाल का प्रभाव पद्माकर पर है। उन्हीं की रीति को पद्माकर ने भी अपनाया है। अन्य लक्षणकारों के दो लक्षण ही पर्याप्त हैं—

(क) दूलह – अलप आधार ते आधेय की अलपताई।
ऐसी रीति अलप अलंकृत के नाम की।

(ख) चन्दन— अल्प अल्प आधेय ते, अलप आधार जु होइ ॥११८॥[5]

अन्योन्य

उपकार की भावना इस अलंकार का आधार है, जहां दो वर्ण्यों का परस्पर उपकार-वर्णन हो, वहाँ अन्योन्य अलंकार होता है।[6] आचार्य रुद्रट ने इस अलंकार का सूत्रपात किया था और १६वीं शती तक इसका लक्षण एकरूपता से चलता रहा। आचार्य मम्मट के मत में क्रिया के दो पदार्थों के परस्पर उत्पादन में अन्योन्य अलंकार

१. भाषाभरण—बैरीसाल, पृष्ठ १७
२. अल्पं तु सूक्ष्मादाधेयाद् यदाधारस्य सूक्ष्मता ॥६७॥
कुवलयानन्दः—अप्पय्य दीक्षित, पृष्ठ १६७
३. भाषाभरण—बैरीसाल, पृष्ठ १८
४. पद्माभरण—पद्माकर, पृष्ठ ५५-५६
५. (क) कविकुलकण्ठाभरण—दूलह, पृष्ठ ७८
(ख) काव्याभरण—चन्दन, पृष्ठ १६
६. अन्योन्यं नाम यत्र स्यादुपकारः परस्परम् ॥६८॥
कुवलयानन्दः—अप्पय्य दीक्षित, पृष्ठ १६८

होता है।[1]

रीतिकाल के आचार्य चिन्तामणि, कुलपति, रत्नेश तथा अमीरदास मम्मट के लक्षणों के अनुवादक हैं। चिन्तामणि ने लक्षण का भावानुवाद किया है, कुलपति ने शब्दानुवाद करते हुए लक्षण-कारिका वृत्ति का भी अनुवाद कर दिया है।[2] रत्नेश ने केवल लक्षणवृत्ति को ही अपने शब्दों में बांधा है। तीनों लक्षण इस प्रकार हैं—

(क) चिन्तामणि—जहाँ वस्तु द्वै बात कछु करत परस्पर काज।
अलंकार अन्योन्य यह बरनत सब कविराज ॥१६७॥

(ख) कुलपति— जनक परस्पर बात के दोउ अर्थ जब होय।
एक क्रिया के योग तें, सो अन्योन्य गोय ॥१७३॥

(ग) रत्नेश— उपज परस्पर वस्तु को एक क्रिया मुख होइ।
अलंकार अन्योन्य कवि कोविद भाषत सोइ ॥१७०॥[3]

अनूदित लक्षणों में स्पष्टता है, अशुद्धि नहीं है। तीनों में से कुलपति-कृत लक्षण अधिक परिष्कृत तथा सरल बना है।

जयदेव तथा अप्पय्य दीक्षित का लक्षण एक समान है। रीतिकाल के आचार्यों में बहुसंख्यक ने तो अप्पय्य दीक्षित-कृत लक्षण का शब्दानुवाद किया है, जो अशुद्ध तथा अपूर्ण नहीं है। बैरीसाल तथा पद्माकर ने इस अलंकार के तीन भेद माने हैं। पद्माकर, बैरीसाल के अनुयायी और अनुकर्ता हैं। पहला लक्षण-भेद तो परस्पर उपकार से सम्बद्ध है, दूसरा परस्पर अपकार से और तीसरा अन्योन्य वहां माना गया है, जहां दोनों पदार्थ दोनों में रहे। पद्माकर ने तीसरे अन्योन्य-भेद का लक्षण बैरीसाल से अधिक स्पष्ट बना दिया है। दोनों के लक्षण इस प्रकार हैं—

(क) बैरीसाल— जेहि थल दोऊ दुहुन को, करत भले उपकार।
सुकवि सराहि कहै तहाँ, अन्योन्यालंकार ॥२३०॥
दोऊ जहं अपकार को करत परस्पर जोइ।
दूजो तहं अन्योन्य कहि, भाखत बुद्धि समोइ ॥२३२॥
जो जामें सो ताहि में, यों लखियत जेहि ठौर।
तथा तीसरो कहत हैं, तहाँ सुकवि सिरमौर ॥२३५॥

(ख) पद्माकर— सो अन्योन्य जु परसपर करै जु भल उपकार ॥१६०॥
अन्योन्यहु अपकार जहं सो अन्योन्य अवलोक ॥१६१॥

---

१ क्रियया तु परस्परं वस्तुनोर्जननेऽन्योन्यम्।
काव्यप्रकाशः—मम्मट, पृष्ठ ५८६

२. अर्थयोरेकक्रियामुखेन परस्परकारणत्वे सति अन्योन्य नाम अलंकारः।
काव्य-प्रकाशः—मम्मट, पृष्ठ ५२६

३. (क) कविकुलकल्पतरु—चिन्तामणि, पृष्ठ ६७
(ख) रसरहस्य—कुलपति, पृष्ठ ८३
(ग) फतेप्रकाश—रत्नेश (रतन), पृष्ठ ६६

रहे जु दुहुं दुहुं में तहाँ, सो अन्योन्य विलास ।।१६२।।[1]

अन्योन्य अलंकार का एक ही लक्षण लिखने वालों ने 'परस्पर' शब्द का सीधा प्रयोग किया है, जिससे शब्दानुवाद उभर आया है। जैसे—

(क) मतिराम—जहां परसपर उपकरत, तहां परसपर नाम ।
बरनत सब ग्रंथनि को कवि कोविद मतिराम ।।२५२।।

(ख) रसरूप— सहाय जहाँ परसपर अन्योन्या है सोइ ।।

(ग) रसिक गोविन्द—परस्पर उपकार होइ सो अन्योन्य ।।[2]

अन्योन्य के लिए परम्परालंकार का प्रयोग मतिराम ने किया है, जो केवल बौद्धिकतोषहेतु किया गया लगता है।

विशेष

विशेष अलंकार में प्रसिद्ध आधार के बिना भी आधेय का वर्णन होता है, यद्यपि अन्य आधार की कल्पना बिना काम नहीं चलता, चाहे वह कवि-कल्पित ही क्यों न हो। एक दूसरे प्रकार का विशेष वहां होता है, जहां एक वस्तु का अनेकत्र (उल्लेख की भाँति अनेक प्रकार से नहीं) वर्णन रहता है। तीसरा विशेष किसी वस्तु के आरम्भ से अन्य अशक्य वस्तु की रचना का वर्णन करने में माना जाता है।[3] आचार्य मम्मट के लक्षण में ऊपर दिए गए दो भेदों का उल्लेख किया गया है। तीसरा विशेष मम्मट वहां मानते हैं, जहां किसी कार्य का आरम्भकर्ता उसी प्रयत्न से अशक्य दूसरे कार्य को उत्पन्न कर देता है।[4]

आचार्य केशव ने भी विशेषालंकार का लक्षण दिया है। केशव का कथन है कि जहां कार्य को सिद्ध करने वाला कारण लंगड़ा हो, परन्तु साध्य की सिद्धि हो जाए, उसे विशेष कहते हैं। केशव के लक्षण पर किसी का सीधा प्रभाव नहीं, परन्तु तीसरे विशेष का मम्मट-कृत लक्षण उनके लक्षण से मिलता है। जब किसी अन्य कार्य की सिद्धि उसी कारण से होगी जो कि किसी अन्य कार्य के लिए होगा तो निश्चित ही जिस दूसरे कार्य के लिए वही कारण आता है तो वह विकल तो हो ही जाएगा, क्योंकि जिस कार्य की सिद्धि हो रही है, उसके लिए तो उसका प्रयोग ही नहीं, रहा था, अपितु वह तो अशक्यतः हो गया है। केशव के इस विशेषालंकार भेद

---

१. (क) भाषाभरण—बैरीसाल, पृष्ठ १८
(ख) पद्माभरण—पद्माकर, पृष्ठ ५६

२. (क) ललितललाम—मतिराम, पृष्ठ ५६
(ख) तुलसीभूषण—रसरूप, पृष्ठ ६०
(ग) रसिकगोविन्दआनन्दघन—रसिक गोविन्द, पृष्ठ ५७

३. कुवलयानन्दः—अप्पय्य दीक्षित, पृष्ठ १६६, १७१

४. अन्यतः प्रकुर्वतः कार्यं अशक्यस्यान्यवस्तुनः ।
तथैव कारणं चेति विशेषस्त्रिविधः स्मृतः ।।१३६।।
काव्यप्रकाशः—मम्मट, पृष्ठ ५४८

पर रुद्रट या रुय्यक की छाया भी स्पष्ट है ।[1]

आचार्य मम्मट के लक्षण का शब्दानुवाद किसी ने नहीं किया (दो तीन शब्द चाहे मम्मट-कृत लक्षण के रख के लिए हैं) परन्तु भावानुवाद में अलंकार-लक्षण अस्पष्ट नहीं होने दिया । चिन्तामणि, कुलपति तथा रत्नेश के भावानूदित लक्षण इस प्रकार हैं—

(क) चिन्तामणि —बिना प्रसिद्ध आधार को करत आधेय बखानि ।
एकहि की इकबार जो थित अनेक थल आनि ॥१४६॥
एक वस्तु के करत जो होय असक्यौ और ।
त्रिविध विसेष बिचार कै कहत कवि सिरमौर ॥१५०॥

(ख) कुलपति—प्रकट ठौर को छोड़ करि, बरनै स्थिति कछु और ।
एक वस्तु इक रूप ही, इक बार बहु ठौर ॥
कछुक उतावल सों करत, और कठिन है होय ।
सो विशेष है तीन विधि, बरनत हैं कवि लोय ॥१६६॥

टीका—और कठिन कार्य भी सिद्ध होवे ।[2]

रत्नेश—थिर आधेय बषानिये बिन प्रसिद्ध आधार ।
एक अनेकत एक विधि, बरनी एकहिं बार ।२११॥
एक करत औरें कसकि करै जु त्यों करतार ॥
सो विशेष कविकुल कहत या विधि तीन प्रकार ॥२१२॥[3]

इन तीनों में चिन्तामणि-कृत भावानुवाद अधिक स्पष्ट एवं सरल है, चाहे अन्य आलंकारिकों के लक्षण अशुद्ध नहीं है ।

आचार्य अप्पय्य दीक्षित ने प्रथम विशेषालंकार तो जयदेव जैसा रखा है । दो भेद अधिक दिए हैं । जयदेव के लक्षणका भावानुवाद भूषण ने किया है परंतु विशेष के दो और भेदों की चर्चा नहीं की । दोनों लक्षण इस प्रकार हैं—

(क) जयदेव—विशेषः ख्यातमाधारं विनाप्याधेयवर्णनम् ।५-६५॥

(ख) भूषण—बरनत है आधेय को जहं बिनही आधार ।
ताहि विशेष बखानहीं, भूषण कवि सरदार ॥२२५॥[4]

---

१. (क) साधक करण विकल जहं होय साध्य की सिद्धि ।
केशवदास बखानिए सो विशेष परसिद्धि ॥६-२४॥
कविप्रिया—केशव, १५८

(ख) अनाधारमाधेयमेकमनेकगोचरमशक्यवस्त्वन्तरकरणं च विशेषः ।
अलंकार-सर्वस्वम्—रुय्यक, पृष्ठ १७१

२. (क) कविकुल-कल्पतरु—चिन्तामणि, पृष्ठ ६३
(ख) रसरहस्य—कुलपति, पृष्ठ ८७

३. फतेप्रकाश—रत्नेश (रतन), पृष्ठ १०७

४. (क) चन्द्रालोक—जयदेव, पृष्ठ ६५
(ख) शिव (राज) भूषण—भूषण, पृष्ठ १३३

अन्य आचार्यों में जसवंतसिंह, मतिराम, गोप, कुमारमणि, रसिकसुमति, गोविन्द, सोमनाथ, दूलह, रसरूप, बैरीसाल, रत्नेस, रामसिंह, याकूबखाँ, चन्दन, गोकुल, रसिक गोविन्द, उमेदराय, ब्रह्मदत्त, पद्माकर, राय शिवप्रसाद, गिरिधर तथा कवि दास ने अप्पय्य दीक्षित-कृत अलंकार-लक्षणों और भेदों का भावानुवाद किया। 'अशक्य' शब्द को किसी ने परिवर्तित किया है, किसी ने नहीं। दोनों भांति के लक्षण यहां उल्लिखित हैं—

(क) दूलह—आधार बिना ही जहां आधेय को बरनन।
कहै कवि दूलह विशेष छवि बंद में।
एकै काल उदित अनेक ठौर बरनै सो।
दूसरों विशेष प्रायो या विधि पसन्द है।
तीसरों विशेष शक्य साधत अशक्य फुरै॥

(ख) उमेदराय—ह्वै तीन प्रकार विशेष सोय।
इक अनाधार आधेय होय ॥११३॥
आरम्भ करै थोरो प्रमान।
ह्वै अधिक, सिद्ध को द्वितीय जान।
एक ही वस्तु अन्नेक ठाम
बर्नियै तीसरों भेद नाम ॥११४॥[1]

रीतिकाल के कुछ आचार्यों ने अप्पय्य दीक्षित-कृत दूसरे तथा तीसरे भेदों का क्रम परिवर्तित किया है। ऐसे आचार्यों में जसवन्तसिंह, सोमनाथ, चन्दन, गोकुल, तथा उमेदराय का नाम उल्लेखनीय है।

याकूबखाँ ने विशेष के तीनों भेदों का सम्बन्ध क्रमशः चतुर नायक, मानी नायक तथा प्रोषित नायक से माना है।[2]

राय शिवप्रसाद ने इन का क्रम बदल कर प्रथम विशेष को परकीया आगत-पतिका से, दूसरा (अन्यों द्वारा कथित तीसरा) गणिका आगतपतिका, तथा तीसरा उत्तमा नायिका से सम्बद्ध किया है। तीनों लक्षण इस प्रकार हैं—

राय शिवप्रसाद—अथ परकिया आगतपतिका अलंकार विशेष त्रिविधता में पहिलो—

है विशेष पहिलो इहां रसिक चतुर सुन लेय।
जहं बरनन ऐसो करे अनाधार आधेय ॥२६६॥

अथ गनिका आगतपतिका अलंकार दुतिय विशेष ताको लछन—

भेद होय वह दूसरो कही कवि जु विशेष।
थोरो कछु आरम्भ ते अधिक सिद्ध को लेख ॥३०१॥

अलंकार विशेष तीसरो उत्तमा नाइका, ता को लछन—दोहा—

१. (क) कविकुलकण्ठाभरण—दूलह, पृष्ठ ४६
(ख) वाणीभूषण—उमेदराय, पृष्ठ २३
२. रसभूषण—याकूबखाँ, पृष्ठ २६

तीजो कही विशेष है सो या कवित विचार।
एक वस्तु बहु ठाम है सो या कवित्त विचार ॥३०५॥[1]

रत्नेश कवि ने अपने 'कान्ताभूषण' ग्रन्थ में विशेष अलंकार का वर्णन करते हुए कहा है कि भवन के सुन्दर दर्शनों से ही इस अलंकार का सम्बन्ध है। लक्षण उदाहरण समेत इस प्रकार है—

रत्नेश—सुन्दर दरसन भवन को तहां विशेष विलास।
खबर सुनत रवि गति भयो उडगन लगे अकास ॥[2]

व्याघात

कारण-कार्य की परम्परा से ही यह अलंकार भी सम्बद्ध है। आचार्य मम्मट ने इस का एक भेद माना और कहा कि जो वस्तु किसी एक ने एक तरह (साधन) से सिद्ध की हो और दूसरा यदि उस साधन से उस वस्तु को पहले से उलट दे तो व्याघात अलंकार होता है। जयदेव तक व्याघात के भेद नहीं हुए। आचार्य विश्वनाथ ने इसके दो भेद कर दिये जो अप्पय्य दीक्षित तक सर्वथा ख्यात हो गए। दूसरा व्याघात वहां माना जाता है कि जहां कोई किसी कार्य को सुगमता से उलट दे।[3]

आचार्य मम्मट-कृत लक्षण का भावानुवाद चिन्तामणि, कुलपति तथा रत्नेश कवि ने किया है। चिन्तामणि का लक्षण सरल नहीं बना, कष्ट-बोधक है। कुलपति ने वृत्तिभागमात्र का अनुवाद किया है। रत्नेश ने लक्षण-कारिका का भावानुवाद किया है। तीनों में कुलपति का ही लक्षण सरल, पूर्ण तथा स्पष्ट है।

(क) चिन्तामणि—जो उपाय काहु करी कछु जु अन्यथा बात।
ता उपाय जीते सिधै करै क्रिया व्याघात ॥२८५॥

(ख) कुलपति—एक करै जेहि विधि कछु वाही विधि कछु और।
वाहि जीतवे को करै है व्याघात सुठौर ॥२०५॥

---

१. रसभूषण—राय शिवप्रसाद, पृष्ठ ३६
२. कान्ताभूषण—रत्नेश, पृष्ठ ९
३. (क) यद् यथा साधितं केनाप्यपरेण तदन्यथा ॥१३८॥
तथैव यद् विधीयेत स व्याघात इति स्मृतः ॥
काव्यप्रकाशः—मम्मट, पृष्ठ ५५२

(ख) व्याघातः—स तु केनापि वस्तु येन यथाकृतम्।
तेनैव चेदुपायेन कुरुतेऽन्यस्तदन्यथा।
सौकर्येण च कार्यस्य विरुद्धं क्रियते यदि। व्याघात इत्येव—
साहित्यदर्पणः—विश्वनाथ, पृष्ठ ३५५

(ख) स्याद् व्याघातोऽन्यथाऽकारि तथाकारि क्रियते चेत् ॥१०२॥
सौकर्येण निबद्धापि क्रिया कार्यविरोधिनी ॥१०२॥
कुवलयानन्दः—अप्पय्य दीक्षित, पृष्ठ १७३

(ग) रत्नेश—ज्यों ज्यों ही काहू करचो, त्यों ही ताहि जु आनि।
कोऊ अन्यथा कहत है सो व्याघात सुजानि ॥२२॥[1]

विश्वनाथ तथा अप्पय्य दीक्षित-कृत लक्षण के भावप्रधान अनुवादकर्त्ताओं में रीतिकाल में बहु-संख्यक आचार्य हैं। उदाहरण के लिए दो लक्षण पर्याप्त हैं—

(क) सोमनाथ—जहां और ही तें करत कारण औरें मित्र।
प्रथम भेद व्याघात को भाषत रसिक विचित्र ॥१८२॥
जहां बिरोधी तें कहु काज संवारे कोइ।
द्वितीय भेद व्याघात को सब कवित्त में होइ ॥१८४॥

(ख) पद्माकर—सुव्याघात करता जु जस सुविरुद्धकारी होय ॥१६६॥
हेतु कौनहु तें जु कछु, कोऊ थपै जु बात।
और जु तातें जहं विरुद्ध, साधै तहं व्याघात ॥१६८।[2]

कारणमाला

कारणमाला में पूर्व-पूर्व पद उत्तर-उत्तर पद के लिए कारण बन जाता है। अप्पय्य दीक्षित की परिभाषा से प्रेरणा लेकर इस अलंकार को हेतु-गुंफन के कारण रीतिकाल में गुंफ भी कहा गया। मतिराम ने हेतुमाला नामकरण कर दिया। यद्यपि प्रकटतः कार्य दिखाई देते हैं, इसलिए कार्यमाला नाम होना चाहिये, परन्तु मूल में कवि की दृष्टि कारणों पर होने के कारण इसे कारणमाला ही कहा जाता है।

इस अलंकार का लक्षण संस्कृत-काव्य-शास्त्र में भी अपरिवर्तित रहा। भाषाकाव्य-शास्त्र में भी यही स्थिति अनुवादकों ने बनाए रखी, विकार या अपूर्णता की सम्भावना ही इसमें नहीं। इसलिए विशेष परीक्षण आवश्यक नहीं। केवल दो उदाहरण पर्याप्त हैं—

(क) मम्मट—यथोत्तरं चेत् पूर्वस्य पूर्वस्यार्थस्य हेतुता।
तदा कारणमाला स्यात्।

(ख) चिन्तामणि—पूरब पूरब अर्थ जहं उत्तर उत्तर हेतु।
कारन माला होतु सो सुन बैठे चित चेतु ॥२८३॥

(ग) अप्पय्य दीक्षित—गुम्फः कारणमाला स्यात् यथा प्राक्प्रान्तकारणैः ।१०४॥

(घ) रघुनाथ—प्राक्प्रान्त कारनन की गुंफित माला होय।
तासों सब कवि कहत हैं कारनमाला सोइ।३०६।[3]

---

१. (क) कवि-कल-कल्पतरु—चिन्तामणि, पृष्ठ ९२
(ख) रसरहस्य—कुलपति, पृष्ठ ८८
(ग) फतेप्रकाश—रत्नेश (रतन) पृष्ठ १०८

२. (क) रसपीयूषनिधि—सोमनाथ, पृष्ठ १७६
(ख) पद्माभरण—पद्माकर, पृष्ठ ५६

३. (क) काव्यप्रकाशः—मम्मट, पृष्ठ ५२८
(ख) कविकुलकल्पतरु—चिन्तामणि, पृष्ठ ९४
(ग) कुवलयानन्दः—अप्पय्य दीक्षित, पृष्ठ १७४
(घ) रसिक-मोहन—रघुनाथ, पृष्ठ ४८

चिन्तामणि ने मम्मट-कृत लक्षण का तथा रघुनाथ कवि ने अप्पय्य दीक्षित के लक्षण का शब्दानुवाद किया है।

आचार्य मतिराम, गोविन्द, बैरीसाल तथा पद्माकर ने कारणमाला के दो भेद लक्षण-सहित दिये हैं।[1] मतिराम कृत लक्षण-भेद इस प्रकार है—

मतिराम—पूरब पूरब हेतु जहं उत्तर उत्तर काज।
तहं हेतु माला कहत, कवि कोविद सिरताज ॥२२५॥
उत्तर उत्तर हेतु जहां पूरब पूरब काज ॥२५७॥[2]

एकावली

इस अलंकार का मूलाधार ग्रहण-त्याग की प्रवृत्ति है। इसमें अनेकों पदार्थों की श्रेणी इस प्रकार निबद्ध की जाती है कि पूर्व पूर्व पद का उत्तरोत्तर पद से विशेषण या विशेष्य के रूप में ग्रहण या त्याग किया जाता है।[3] इस विशेषण-विशेष्य भाव में पदों की पूर्वापरता रहती है। इसी कारण मम्मट ने इसके दो भेद माने हैं।[4]

आचार्य मम्मट-कृत लक्षण के अनुवादकों में चिन्तामणि तथा रत्नेश का नाम प्रमुख है। इन दोनों ने भावानुवाद किया है। इनके लक्षण इस प्रकार हैं—

(क) चिन्तामणि—कै थपियै कै दूषियै किये विसेषन भाउ।
यथा प्रथम पर फेरि कहि एकावली गनाउ ॥२६५॥

(ख) रत्नेश— पूरब पूरब प्रति थप्यो कै उथप्यौ पर अर्थ।
कहत विशेषन भाव सो एकावली समर्थ ॥१६६॥[5]

जयदेव तथा अप्पय्य दीक्षित आचार्यद्वय का लक्षण एक समान है। रीतिकाल में इनके लक्षण का भावानुवाद हुआ। पूर्व और अपर शब्द का प्रयोग तो है, परन्तु शब्दानुवाद नहीं किया गया। दो उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

(क) रामसिंह—गहे पदनि को तजि तजि दीजै औरें औरें दीजे।
यह है एकावली अलंकृत नीके बरनन कीजै ॥

(ख) चन्दन—गहत तजत पद रीति सों, एकावलि तहं जान।[6]

१. कर्णाभरण—गोविन्द, पृष्ठ १५
भाषाभरण—बैरीसाल, पृष्ठ २०
पद्माभरण—पद्माकर, पृष्ठ ५६-५७
२. ललितललाम—मतिराम, पृष्ठ ५६
३. गृहीतमुक्तरीत्यर्थश्रेणिरेकावलिर्मता ॥१०५॥
कुवलयानन्दः—अप्पय्य दीक्षित, पृष्ठ १७५
४. स्थाप्यतेऽपोह्यते वापि यथापूर्वं परं परम्।
विशेषणतया यत्र वस्तु सैकावली द्विधा ॥१३१॥
काव्यप्रकाशः—मम्मट, पृष्ठ ५४
५. (क) कविकुलकल्पतरु—चिन्तामणि, पृष्ठ ६४
(ख) फतेप्रकाश—रत्नेश (रतन), पृष्ठ १०४
६. (क) अलंकारदर्पण—रामसिंह, पृष्ठ २२
(ख) काव्याभरण—चन्दन, पृष्ठ २०

गोकुल—गहि गहि छोड़न अर्थ को जहं सेनी की रीति।
जयमाला कै सी बड़ी एकावली सुरीति ॥४१२॥[1]

कवि रामसिंह तथा गोकुल ने स्वतन्त्र मति का प्रयोग किया है। पद्माकर ने एकावली के भी दो भेद प्रस्तुत किए हैं। दोनों लक्षण इस प्रकार हैं—

पद्माकर— गहत तजत अर्थालि को जहं, एकावली सोय ॥१७५॥
पूर्व गहहि जु उत्तरहिं उत्तर जति पूरब्ब।
गहे पदारथ और सों, एकावली कहि सब्ब ॥१७६॥[2]

'रघुनाथालंकार' के कर्त्ता सेवादास का लक्षण अत्यन्त शिथिल है। उसमें एकावली के कारण लक्षण की ग्रहीत-मुक्त रीति का नाम तक नहीं। लक्षण सर्वथा अस्पष्ट तथा असंगत है—

सेवादास—एक एक ऊपर कहै क्रम सो बरननु जान।
ताहि कहत एकावली ताको करत बखान ॥१२३॥[3]

रीतिकाल के काव्य-शास्त्र में एकावली के लक्षण में अशुद्धि नहीं आ पायी। सेवादास अकेला ही प्रायशः शुद्ध लक्षण लिखने में असमर्थ व्यक्ति रहा है।

मालादीपक

आचार्य मम्मट ने मालादीपक में पूर्व-पूर्व पदार्थ को उत्तरोत्तर का उपकारक माना है।[4] जयदेव तथा अप्पय्य दीक्षित ने दीपक और एकावली के योग को मालादीपक कहा है।[5]

आचार्य मम्मट-कृत लक्षण का प्रभाव चिन्तामणि, कुलपति तथा रत्नेश के लक्षणों में स्पष्ट है। चिन्तामणि ने मम्मट-लक्षण-कारिका की वृत्ति का शब्दानुवाद किया है। कुलपति तथा रत्नेश ने कारिका का भावानुवाद किया है। तीनों में चिन्तामणि का लक्षण सर्वथा स्पष्ट एवं सरल है। लक्षण इस प्रकार है—

(क) चिन्तामणि—पूरब पूरब करै जो उत्तर को उपकार।
माला दीपक होत यह समझौ बुद्धि उदार ॥१८६॥

(ख) कुलपति—अगले अगले जोग जहां, प्रथम अधिक गुन होय।
मालादीपक कहत हैं, ताहि सभी कवि लोय ॥१६४॥

---

१. चेतचन्द्रिका—गोकुल, पृष्ठ १०४
२. पद्माभरण—पद्माकर, पृष्ठ ५७
३. रघुनाथालंकार—सेवादास, पृष्ठ २४
४. मालादीपकमाद्यं चेद् यथोत्तरगुणावहम्।
काव्यप्रकाशः—मम्मट, पृष्ठ ४८६
५. दीपकैकावलीयोगान्मालादीपकमिष्यते ॥१०७॥
कुवलयानन्दः—अप्पय्य दीक्षित, पृष्ठ १७६

(ग) रत्नेश—उत्तर उत्तर सों जितै प्रथम प्रथम जुत होत।
माला दीपक को तितै हितै होत उद्योत ॥८३॥[1]

जयदेव तथा अप्पय्य दीक्षित-कृत लक्षणों के अनुवाद अनेक हैं। सब ने सीधा स्पष्ट अनुवाद किया है। किसी ने नवीन उद्भावना नहीं की। लक्षण शुद्ध बने हैं।

सार

इस अलंकार में उत्तरोत्तर पदार्थ को पूर्व-पूर्व से उत्कृष्ट माना जाता है।[2] रीतिकालीन काव्य-शास्त्र में भी यही भाव लक्षण में जीवित रहा है।

आचार्य मम्मट-कृत लक्षण का अनुवाद चिन्तामणि, कुलपति तथा रत्नेश ने किया है। केवल रत्नेश कवि ने शब्दानुवाद किया है। शेष दोनों ने भावानुवाद करके लक्षण-निर्माण किया है। लक्षण निम्नलिखित हैं—

(क) चिन्तामणि—जहां कौन हूं बात में कछु बर्नियै सार।
औ उत्तर उत्कर्ष यों सुनियै सार विचार ॥३०५॥

(ख) कुलपति—अधिक बढ़ाई अन्त तक, आगे आगे होय।
पिछले ते जहं सार करि सार कहावे सोय ॥१८१॥

(ग) रत्नेश—उत्तर उत्तर उतकरष कवित अन्त लौं होइ।
अलंकार कवि कंठ को हार सार सो होइ ॥१७८॥[3]

जयदेव तथा अप्पय्य दीक्षित के लक्षण में कोई अन्तर नहीं, इसलिए प्रधानतः रीतिकालीन आचार्यों ने इसी लक्षण का भावानुवाद किया।

उदाहरणतः—

(क) गोविन्द—आगे आगे उत्करष जेहि बरनन में होइ।
सार नाम तहं कहत हैं अलंकार सब कोइ ॥२१३॥

(ख) रघुनाथ—उत्तर उत्तर बरनिये जहां अर्थ उत्कर्ष।
अलंकार सो सार है उठिये सुनतन हर्ष ॥३१४॥[4]

पद्माकर तथा गिरिधर ने सार के तीन भेदों का लक्षण किया है, जो अप्पय्य दीक्षित का प्रभाव तो है परन्तु 'कुवलयानन्द' में इन भेदों के लक्षण नहीं दिये गये। केवल श्लाघ्य गुणोत्कर्ष, अश्लाघ्यगुणोत्कर्ष तथा उभयरूप भेद निर्दिष्ट हैं।

---

१. (क) कविकुलकल्पतरु—चिन्तामणि, पृष्ठ ७१
(ख) रसरहस्य—कुलपति, पृष्ठ ७१
(ग) फतेप्रकाश—रत्नेश (रतन), पृष्ठ ७६

२. (क) उत्तरोत्तरमुत्कर्षो भवेत्सारः परावधिः।
काव्यप्रकाशः—मम्मट, पृष्ठ ५३३
(ख) उत्तरोत्तरमुत्कर्षः सार इत्यभिधीयते।
कुवलयानन्दः—अप्पय्य दीक्षित, पृष्ठ १७८
(ख) उत्तरोत्तरमुत्कर्षः सार इत्यभिधीयते ॥१०८॥

३. (क) कविकुलकल्पतरु—चिन्तामणि, पृष्ठ ९६
(ख) रसरहस्य—कुलपति, पृष्ठ ८४
(ग) फतेप्रकाश—रत्नेश, पृष्ठ १००

४. (क) कर्णाभरण—गोविन्द, पृष्ठ १६०
(ख) रसिकमोहन—रघुनाथ, पृष्ठ ४७

रीतिकाल के इन दोनों कवियों ने दो और भेदों के लक्षण भी बना दिये हैं, जो उनके बौद्धिक कौशल का परिणाम है। दोनों के लक्षण इस प्रकार हैं—

(क) पद्माकर—गुन ही सों कै दोष सों कै दुहुं सो जिहि थान ।
एक एक तें अधिक भनि, त्रिविध सार यों जान ॥१७८॥

(ख) गिरिधरदास—सरस एक तें एक जहं अलंकार तहं सार ।
कहुं स्तुतिमय कहुं निंदमय कहूं उभय व्यवहार ॥२२१॥[1]

सार अलंकार के लक्षणक्षेत्र में और कोई परिवर्तन न होकर परम्परा का निर्वाहमात्र होता रहा ।

यथासंख्य

इस अलंकार के क्रम तथा यथासंख्य दो नाम काव्य-शास्त्र में प्रसिद्ध हैं। रीतिकाल में रघुनाथ कवि ने इसे क्रमिका नाम दे दिया है।[2]

आचार्य मम्मट ने क्रमपूर्वक कहे हुए पदार्थों का उसी क्रम से समन्वय करना या होना ही यथासंख्य अलंकार माना है। जयदेव तथा अप्पय्य दीक्षित-कृत लक्षण भी मम्मटवत् हैं।[3] रीतिकाल के आचार्यों ने उसका अनुवाद स्वेच्छया किया है।

अनुवाद में अलंकार-लक्षण के भाव को तो क्षति नहीं पहुंची परन्तु सरल, संक्षिप्त लक्षण तथा दीर्घ, क्लिष्ट भावानुवाद अवश्य हो गए हैं। दोनों प्रकार के लक्षणों के उदाहरण इस प्रकार हैं—

(क) सरल लक्षण—
कुलपति—क्रम अरथन को जो गहै, क्रम ही सों पुनि होय ।
संख्या क्रम चूके नहीं, यथासंख्य है सोय ॥११५॥

(ख) रसिक सुमति— जथासंख जो कथन के अनुक्रम कहिये आन,

(ग) दीर्घ क्लिष्ट लक्षण—
रामसिंह—क्रमी पदनि कौ क्रम सों नीकै अरथै जहाँ ल्यैये ।
यथासंख्य को बरनन करिकै या विधि ते समुझैये ॥[4]

---

१. (क) पद्माभरण—पद्माकर, पृष्ठ ५७
(ख) भारतीभूषण—गिरिधरदास, पृष्ठ २२

२. रसिकमोहन—रघुनाथ, पृष्ठ ४६

३. (क) यथासंख्यं क्रमेणैव क्रमिकाणां समन्वयः ।
काव्यप्रकाशः—मम्मट, पृष्ठ ४६६

(ख) यथासंख्यं द्विधार्थाश्चेत् क्रमादेकैकमन्विताः ॥६३॥
चन्द्रालोकः—जयदेव, पृष्ठ ८७

(ग) यथासंख्यं क्रमेणैव क्रमिकाणां समन्वयः ।
कुवलयानन्द—अप्पय्य दीक्षित, पृष्ठ १७

४. (क) रसरहस्य—कुलपति, पृष्ठ ७४
(ख) अलंकारचन्द्रोदय—रसिक सुमति, पृष्ठ ३
(ग) अलंकारदर्पण—रामसिंह, पृष्ठ २३

पर्याय

इस अलंकार में एक पदार्थ का क्रम से अनेक पदार्थों के साथ सम्बन्ध का वर्णन किया जाता है। दूसरा पर्याय वहां माना जाता है, जहां एक ही आधार में अनेक पदार्थों का क्रम से वर्णन होता है। आचार्य मम्मट तथा अप्पय्य दीक्षित-कृत लक्षण एक प्रकार का है।[1]

रीतिकाल के आचार्यों ने इस लक्षण का भावानुवाद किया है। अनूदित लक्षण अपूर्ण या अशुद्ध नहीं बने। कुलपति तथा रत्नेश के अनूदित लक्षण इस प्रकार हैं—

(क) कुलपति—एक अनेकन में रहे क्रम परजाय सु और।
सो दूजो रु अनेक जहां, रहत एक ही ठौर ॥१५७॥

(ख) रत्नेश— क्रम सों एक अनेक पै, कै करिए कै होइ।
अलंकार पर्याय कवि कोविद भाषत सोइ ॥१५८॥
क्रमहि एक में बरनिये जो अनेक को जोग।
यही कह्यो पर्याय को भेद भरत भव योग ॥१५५॥[2]

अप्पय्य दीक्षित-कृत लक्षण का भावानुवाद उमेदराय के लक्षण में द्रष्टव्य है—

उमेदराय—द्वै भांति होय पर्जाय नाम।
क्रम होय अनेक को एक ठाम ॥१२३॥
क्रम से अनेक आश्रयन मद्धि॥
इक बसै भेद दूजो प्रसिद्ध ॥१२४॥[3]

याकूबखां ने पर्यायालंकार के छः भेद माने हैं। प्रथम का सम्बन्ध चित्रदर्शन से, दूसरे का स्वप्न-दर्शन से, तीसरे का साक्षात-दर्शन से चौथे का उत्तम दूती से, पांचवें का मध्यम और छठे का अधम दूती से जोड़ा है।

नायिका के अन्तःकरण में प्रिय के चित्र-दर्शन तथा उसके स्वप्न में आने और साक्षात् दर्शन देने पर जो दशा होती है, उससे पर्याय का सम्बन्ध मनोवैज्ञानिक रीति से किया है। दूती कर्म भी पर्यायालंकार का विषय बन गया है।

अप्पय्य दीक्षित ने प्रथम पर्याय के शुद्ध, संकोच तथा विकास भेद किए हैं, परन्तु लक्षण नहीं दिए। याकूबखां कृत भेदों से इनका कोई मेल नहीं बैठता। यह याकूब खां की निजी बौद्धिक क्रीड़ा है। जैसा कि इन लक्षणों से स्पष्ट है—

याकूबखां—पर्जाइ पहिलो, चित्र दरसन लछन, सोरठा—
ठहरे सो पर्जाइ, तनक वस्तु बहु क्रमन तैं
दरसन चित्र कहाय, लखि मूरत उपजै जु हित ॥२८५॥

---

१. पर्यायो यदि पर्यायेणैकस्यानेकसंश्रयः ॥११०॥
एकस्मिन् यद्यनेकं वा पर्यायः सोऽपि संमतः ॥१११॥
कुवलयानन्दः—अप्पय्य दीक्षित, पृष्ठ १८०

२. (क) रसरहस्य—कुलपति, पृष्ठ ८०
(ख) फतेप्रकाश—रत्नेश, पृष्ठ ६५

३. वाणीभूषण—उमेदराय, पृष्ठ २५

पर्जाइ दूजो सुपन दरसन लछन, सोरठा—
क्रम ते दूजो होय, बहु थापै जो एक में।
सुपन दरस है सोय, स्वपनै बिच पीतम मिलै ॥२८७॥
पर्जाइ तीसरो साक्षात दरसन लछन, सोरठा—
बिन गुन तीजो होय तजै एक थापै जु अरु ॥
साछात है सोय, दरसन कीजै परस्पर ॥२८६॥
पर्जाइ चौथो उत्तम दूती लछन, सोरठा—
चौथो कहिये सोय, होय सकुच जिहि ठौर ही।
उत्तम दूती सोय, रस सों देह मिलाय तिय ॥१६६॥
पर्जाइ पांचयौ मध्यम दूती लछन, सोरठा—
पंचम है अवकाश जहं अधेय आधार बस।
मध्यम दूती बस, कछु रूखी मीठी कहै ॥२६५॥
छठा पर्जाइ अधम दूती लछन, सोरठा—
बहु रंग छटो जो होय बस आधार अधेय के।
कहै अधम है सोय दूतपनै रूखी पड़े ॥२६७॥[1]

परिवृत्ति

इस अलंकार का मूलाधार आदान-प्रदान है। इसमें न्यून या अधिक पदार्थ परस्पर एक दूसरे का विनिमय करते हुए वर्णित होते हैं। आचार्य मम्मट-कृत लक्षण भी अप्पय्य दीक्षित जैसा ही है।[2] इस अलंकार का दूसरा नाम विनिमय भी है।

आचार्य केशव ने भी परिवृत्ति अलंकार लिखा है, परन्तु उसकी परिभाषा दण्डी से प्रभावित नहीं है। केशव परिवृत्ति अलंकार वहां मानते हैं जहां किया कुछ और जाय और उसमें उपजे कुछ और अर्थात् फल और हो जाए। आचार्य जयदेव तथा अप्पय्य दीक्षित कृत विषादन अलंकार से केशव के परिवृत्ति अलंकार का लक्षण मिलता है,[3]

१. रसभूषण—याकूबखां, पृष्ठ २८-२६
२. (क) परिवृत्तिर्विनिमयो न्यूनाभ्याधिकयोर्मिथः ॥११२॥
कुवलयानन्दः—अप्पय्य दीक्षित, पृष्ठ १८४
(ख) परिवृत्तिर्विनिमयो योऽर्थानां स्यात् समासमैः ॥११३॥
काव्यप्रकाशः—मम्मट, पृष्ठ ५०८
३. (क) जहां करत कछु और ही उपजि परति कछु और।
ता सों परिवृत्त जानियौ, केशव कवि सिरमौर ॥१३-३६॥
कविप्रिया—केशव, पृष्ठ २७२
(ख) इष्यमाणविरुद्धार्थसम्प्राप्तिस्तु विषादनम्।
चन्द्रालोकः—जयदेव, पृष्ठ ७५
कुवलयानन्दः—अप्पय्य दीक्षित, पृष्ठ २२२

ऐसा कुछ आलोचकों ने माना है। विषादन में इष्ट के विरुद्ध सम्प्राप्ति होती है परन्तु परिवृत्ति के केशव-कृत लक्षण में यह बात स्पष्ट है कि कारण (क्रिया) कुछ होता है और उससे फल और होता है, विषादन में किसी कारण, उपायादि का वर्णन नहीं होता, इसलिए दोनों एक नहीं। अतः केशव के लक्षण को उनकी निजी उद्भावना मानना चाहिए अथवा परम्परागत परिवृत्ति से भिन्न होने के कारण असंगत एवं अशुद्ध।

आचार्य मम्मट-कृत लक्षण का भावानुवाद पूर्ण रीति से चिन्तामणि, कुलपति तथा रत्नेश ने किया है। अनूदित लक्षण स्पष्ट एवं पूर्ण हैं—

(क) चिन्तामणि—जहं समासम अर्थ को बदलो बरन्यो होइ।
चिन्तामनि परिवृत्ति, बरनत हैं कवि लोइ ॥२६८॥

(ख) कुलपति—अर्थन होइ जहं बदलिबो, विनिमय कहिये सोय।
सम अरु असम के भेद करि, सो पुनि द्वैविधि होय ॥१३७॥

(ग) रत्नेश—वस्तुन को विनमै सम असमन को होय।
अलंकार परिवृत्ति सुकवि कोविद भाषत सोइ ॥१३२॥[1]

इन तीनों में रत्नेश का लक्षण अधिक स्पष्ट एवं संक्षिप्त है।

अप्पय्य दीक्षित-कृत लक्षण का अनुबाद रीतिकाल के आचार्यों ने तीन रूपों में किया है। एक वर्ग ऐसे आचार्यों का है, जिन्होंने अप्पय्य दीक्षित-कृत लक्षण का पूर्णतया भावानुवाद किया है। दूसरे ऐसे हैं, जिन्होंने थोड़े के बदले में अधिक लेने की बात कही है। तीसरे वे, जिन्होंने दोनों भेदों के लक्षण दिए हैं। सम की चर्चा किसी ने नहीं की। उसका कारण अप्पय्य दीक्षित-कृत अलंकार में ही 'सम' शब्द का अभाव है। तीनों वर्गों में से प्रथम में मतिराम, कुमारमणि, गोविन्द, बैरीसाल तथा चन्दन जैसे आलंकारिक हैं। उन्होने अप्पय्य दीक्षित-कृत लक्षण का पूर्णतया अनुवाद किया। दो अनूदित लक्षण इस प्रकार हैं—

(क) गोविन्द—जहं अधिक अरु न्यून को लीनों दीनों होइ।
ताही सों परिवृत्ति कहि बरनत हैं सब कोइ॥

(ख) बैरीसाल—न्यून अधिक सों परस्पर, बदलो जहां दरसाइ।
तहाँ कहत परिवृत्त हैं, सुकविन के समुदाय ॥२७१॥[2]

दूसरे वर्ग में जसवन्तसिंह, रघुनाथ, रामसिंह, गोकुल तथा गिरिधर जैसे आचार्य हैं। इनके भी दो लक्षण यहां दिये जाते हैं—

---

१. (क) कविकुलकल्पतरु—चिन्तामणि, पृष्ठ ६४
(ख) रसरहस्य—कुलपति, पृष्ठ ७८
(ग) फतेप्रकाश—रत्नेश (रतन), पृष्ठ ६०

२. (क) कर्णाभरण—गोविन्द, पृष्ठ १६
(ख) भाषाभरण—बैरीसाल, पृष्ठ २१

(क) रामसिंह—थोरो दैकै बहुतो लेह ।
अलंकार परिवृत्ति कहि देह ।।२५८।।

(ख) गोकुल—थोरो दै के लीजिये अधिक सो परिवृत्ति होत ।।४२६।।[1]

तीसरे वर्ग में पद्माकर का स्थान आता है । उसने दोनों भेदों के पृथक्-पृथक् लक्षण दिये हैं—

पद्माकर—दै थोरो, लिय अधिक जहां, तहं परिवृत्ति उचारि ।।१८६।।
दै बड़, थोरो लेत जहं, परिवृत्ति कहिये ताहि ।।१८७।।[2]

भूषण कवि के लक्षण में स्पष्टता नहीं है । उसने केवल लेन-देन के भाव को रखा है । थोड़ा-अधिक की चर्चा भी नहीं की, इससे लक्षण सर्वथा अस्पष्ट रह गया है । लक्षण इस प्रकार है—

भूषण—एक बात को दै जहां, आन बात को लेत ।
ताहि कहत परिवृत्ति हैं, भूषन सुकवि सचेत ।।२४५।।[3]

परिवृत्ति के इस लक्षण-भेद में चाहे किसी ने किसी भेद को लिखा हो, परन्तु भूषण को छोड़कर बहुधा लक्षण में शिथिलता नहीं आई ।

परिसंख्या

यह अलंकार वहां माना जाता है, जहां किसी पदार्थ का एक स्थान पर निषेध किया जाए और दूसरे स्थान पर उसकी विद्यमानता कही जाए । यह अप्पय्य दीक्षित का मत है । इसमें 'न' पद बड़ा महत्त्वशाली है ।[4] आचार्य मम्मट-कृत लक्षण में कहा गया है कि पूछी या अनपूछी बात, जो उसी भांति किसी अन्य वस्तु के निषेध में पर्यवसित होती है, उसे परिसंख्या कहते हैं ।[5] कभी-कभी परिसंख्या में श्लेष भी चमत्कार लाता है ।

आचार्य चिन्तामणि ने मम्मट तथा विद्यानाथ-कृत परिसंख्या-लक्षण का अनुवाद प्रस्तुत किया है । विद्यानाथ का कहना है कि एक वस्तु युगपद् अनेक स्थानों पर सम्भावित हो तो उसे किसी एक ही स्थान पर नियमित कर देने को परिसंख्या कहते हैं । चिन्तामणि तथा विद्यानाथ के लक्षण इस प्रकार हैं—

---

१. (क) अलंकारदर्पण - रामसिंह, पृष्ठ ३३
(ख) चेत-चन्द्रिका—गोकुल, पृष्ठ १०८

२. पद्माभरण—पद्माकर, पृष्ठ ५६

३. शिव (राज) भूषण—भूषण, पृष्ठ १४५

४. परिसंख्या निषिध्यैकमेकस्मिन् वस्तुयन्त्रणम् ।
कुवलयानन्दः—अप्पय्य दीक्षित, पृष्ठ १८४

५. किंचित् पृष्ठापृष्ठं वा कथितं यत्प्रकल्पते ।
तादृगन्यव्यपोहाय, परिसंख्या तु सा स्मृता ।।१२६।।
काव्यप्रकाशः—मम्मट, पृष्ठ ५२६

(क) विद्यानाथ—एकस्य वस्तुनः प्राप्तावनेकत्रैकदा यदि ।
एकत्र नियमः सा हि परिसंख्या निगद्यते ।।

(ख) चिन्तामणि—एक वस्तु जो अनेक थल प्रापत एक ही बार ।
नियमित कीजै एक थल परसंख्यालंकार ।।२५६।।[1]

चिन्तामणि ने स्वयं भी स्वतन्त्रता से एक लक्षण दे दिया है। वह इस प्रकार है—

चिन्तामणि— एक वस्तु जो एक ही ठौर नेम जो होइ ।
परिसंख्या तासों कहत कवि पंडित मन मोइ ।।२५७।।[2]

आचार्य मम्मट-कृत लक्षण का अनुवाद चिन्तामणि ने बाद में दिया है—

चिन्तामणि— पूछचौ अनुपूछचौ कथन कछु वस्तु को होइ ।
ऐसो और न हेत यह परिसंख्या कहि सोय ।।२६०।।
परिसंख्या अलंकार में कहत शब्द गत होइ ।
कहुं अर्थ बल पाइयै जो सम नाहीं कोइ ।।२६१।।
मम्मट आचारज इहां ऐसौ कियो विवेक ।
परिसंख्या अलंकार को समुझै पंडित एक ।।२६२।।[3]

चिन्तामणि ने मम्मट-कृत लक्षण-कारिका का अनुवाद लक्षण में कर दिया है, और परिसंख्या के भेदों के लक्षण में विद्यानाथ-कृत लक्षण-वृत्ति का अनुवाद किया गया है—

चिन्तामणि—प्रश्न-पूर्व जो एक पुनि होत भिन्न जु और ।
परिसंख्या द्वैविध पृथक् कहत सुमति सिरमौर ।।२५८।।[4]

आचार्य चिन्तामणि के लक्षणानुवाद सर्वथा स्पष्ट तथा सरल हैं ।

कुलपति तथा रत्नेश ने मम्मट-कृत लक्षणों का ही भावानुवाद किया है। रत्नेश ने वृत्ति-भाग का अनुवाद भेदों के लिए किया है।[5] परन्तु कुलपति ने नहीं किया, उसने भेदों के उदाहरण मात्र दे दिये हैं। दोनों के लक्षण इस प्रकार हैं—

१. (क) प्रतापरुद्रीय-यशोभूषणम्—विद्यानाथ, पृष्ठ ३२६
(ख) कविकुलकल्पतरु—चिन्तामणि, पृष्ठ ८५
२. कविकुलकल्पतरु—चिन्तामणि, पृष्ठ ८६
३. कविकुलकल्पतरु—चिन्तामणि, पृष्ठ ८६
४. (क) सा प्रथमं द्विविधा प्रश्नपूर्विका तदन्यथा चेति । तयोर्द्वयोर्वर्जनीयस्य शाब्दत्वार्थत्वाभ्यां द्वैविध्ये चातुर्विध्यम् । (वृत्तिभाग)
प्रतापरुद्रीय-यशोभूषणम्—विद्यानाथ, पृष्ठ ३२६
(ख) कविकुलकल्पतरु—चिन्तामणि, पृष्ठ ८६
५. तत्रोभयत्र व्यपोह्यमानस्य प्रतीयमानता वाच्यत्वं चेति चत्वारो भेदाः ।
काव्यप्रकाशः—मम्मट, पृष्ठ ५२६

(क) कुलपति—पूछचौ अनपूछचौ कछुक कह्यौ मानि जहं लेइ।
वा सम और 'न' करन को, परिसंख्या कहि देइ ॥१६६॥

(ख) रत्नेश—पूछचौ अनपूछचौ अथवा जो कछु कहो बिचारि।
सरिस अरथ बारे बहै परिसंख्या निरधारि॥
वाच्य व्यंग्य के भेद तें अर्थ चारियै दोइ।
पूछचौ अनपूछचौ कह्यौ वेद भेद यों होइ ॥१६३॥[1]

भावानुवाद में कुलपति का लक्षण अधिक स्पष्ट है। रत्नेश ने शब्दानुवाद करने की चेष्टा की है। जिसमें वारे' (रोके) शब्द का अर्थ यदि किसी अध्येता को पता न हो तो सरिस अर्थ की संगति नहीं बैठती। यहां 'सरिस' पद का अर्थ समान है। अर्थात् समान अर्थ को रोके, इस प्रकार अर्थ करने पर ही अलंकार-लक्षण अवगत होता है। इसलिए शुद्ध होते हुए भी दुर्बोध्य हो गया है।

आचार्य रसरूप ने अनुवाद तो पूर्णतया अप्पय्य दीक्षित-कृत लक्षण का किया है, परन्तु भेदोपभेद मम्मट के मतानुसार लिखे हैं।[2] कुमारमणि ने 'रसिकरसाल' में दो भेद प्रस्तुत किये हैं।[3] उन्होंने एक स्थल पर निषेध करने तथा बिना निषेध ही दूसरे स्थल पर नियन्त्रित करने से परिसख्या के दो भेद माने हैं।

जयदेव तथा अप्पय्य दीक्षित-कृत परिसंख्यालंकार के लक्षण एक समान हैं। इनके लक्षण का भावानुवाद रीतिकाल के बहुसंख्यक आचार्यों ने किया है। इनमें से तीन के अनूदित लक्षण निम्नलिखित हैं। ये तीन लक्षण तीन प्रकार के भावानुवाद हैं, जिनमें 'बरजन' और 'उथापन' का प्रयोग है।

(क) सोमनाथ—एक ठौर को बरजि कै ठहरे दूजे ठौर।
परिसंख्या ता सों कहैं कवि कोविद सिरमौर ॥६६॥

(ख) रत्नेश— बरजि एक में परसंख्या जब दूजो थल आरोपै ॥६३॥

(ग) उमेदराय—एक थल उथपि, थापै दुतीय।
सो परसंख्या, जानहु सुधीय ॥१८६॥[4]

याकूबखाँ तथा राय शिवप्रसाद ने इस अलंकार का सम्बन्ध 'लग्न प्रकटता'

---

१. (क) रसरहस्य - कुलपति, पृष्ठ ८२
(ख) फतेप्रकाश—रत्नेश (रतन), पृष्ठ ९६-९७

२. शब्द सु अर्थ निषेध ते प्रश्नाप्रश्न बषानि।
परिसंख्या है चारि विधि मम्मट मत ते जानि॥
तुलसीभूषण—रसरूप, पृष्ठ २६

३. बरजि वहै कहि अनत थल तहां कहि परिसंख्या 'सु'
बिन ही बरजै अन्य थल में कहिबो॥
रसिकरसाल—कुमारमणि शास्त्री, पृष्ठ ८०

४. (क) रसपीयूषनिधि, पृष्ठ १७८
(ख) अलंकारदर्पण—रत्नेश, पृष्ठ ८
(ग) वाणीभूषण—उमेदराय, पृष्ठ २५

तथा 'मध्यम वैश्यक नायक' से जोड़ा है। याकूबखाँ का लक्षण परम्परागत है, परन्तु राय शिवप्रसाद ने एक मकान को छोड़कर दूसरा घर ढूंढ़ कर प्रिया को ठहराने वाले वैश्यक नायक के समान इसे माना है।[1]

सेवादास का लक्षण परम्परा से भिन्न है। इसने उपमान से उपमेय में अधिक प्रकाश झलकने को परिसंख्या माना है। निषेध का अर्थ अधिक प्रकाश के रूप में ले लिया गया है। लक्षण स्पष्ट नहीं बना है। जैसे—

सेवादास—उपमा ते उपमेय में झलकै अधिक प्रकास।
परसंख्या सो जानियै ता को कहत उजास ॥१३३॥[2]

इस अलंकार के भेदों का वर्णन कुछ ही आचार्यों ने किया है। उनमें से भी बहुधा उदाहरणदाता हैं। याकूबखाँ तथा राय शिवप्रसाद की उद्भावना अवश्य उस लोकजीवन को स्पर्श करती है, जो रीतिकाल में बीत रहा था।

बिकल्प

इस अलंकार में दो समान बलशाली विरोधी पदार्थों का साथ-साथ वर्णन होता है।[3] आचार्य मम्मट ने इस अलंकार का लक्षण नहीं दिया, इसलिए अप्पय्य दीक्षित-कृत लक्षण का भावानुवाद ही रीतिकाल के काव्य-शास्त्र में निरन्तर होता रहा। जसवन्त सिंह, मतिराम, भूषण, देव, गोप, कुमारमणि, रसिकसुमति, रघुनाथ, सोमनाथ, दूलह, भिखारीदास, रसरूप, बैरीसाल, रत्नेश, रामसिंह, याकूबखाँ, सेवादास, चन्दन, गोकुल, रसिक गोविन्द, उमेदराय, ब्रह्मदत्त, पद्माकर, राय शिवप्रसाद, गिरिधरदास, तथा कवि दास ने लक्षण का अनुवाद प्रस्तुत किया है। इनमें से एक पद्यगत तथा दूसरा गद्यगत लक्षण यहां उदाहरणार्थ दिया जा रहा है, जिससे उस युग की प्रवृत्ति का बोध होता है।

रामसिंह—दोइ तुल्य में होय विरुद्ध।
ताहि बिकल्प कहैं कवि शुद्ध ॥

रसिक गोविन्द—'उह' अथवा 'यह' या रीति सों कहिये विकल्प।[4]

रीतिकाल के अनूदित लक्षणों में 'यह या वह' और 'उह' या 'यह' पदों का प्रयोग बहुत हुआ है।

---

१. (क) परसंख्या—लगनि प्रकटवो, लछन सोरठा।
परसंख्या है सोय, बरजि ठौर टहरै अपर ॥
लगनि प्रकटवो होय, कहै जु पिय की लगन निज ॥३०४॥
रसभूषण—याकूबखाँ, पृष्ठ ३०

(ख) रसभूषण—राय शिवप्रसाद, पृष्ठ ४१

२. रघुनाथालंकार—सेवादास, पृष्ठ १६०

३. (क) चन्द्रालोकः—जयदेव, पृष्ठ १०१
(ख) कुवलयानन्दः—अप्पय्य दीक्षित, पृष्ठ १८६

४. (क) अलंकारदर्पण—रामसिंह, पृष्ठ ३४
(ख) रसिकगोविन्दआनन्दघन—रसिकगोविन्द, पृष्ठ ६२

याकूबखां ने विकल्पालंकार का सम्बन्ध 'विरहनिवेदन' से और राय शिवप्रसाद ने अधम वैश्यक नायक से जोड़ा है।[1]

विकल्पालंकार के लक्षण-क्षेत्र में कोई नई उद्भावना नहीं हुई। लक्षण साधारण रूप से ही अनूदित हुआ है। रघुनाथ, रामसिंह, चन्दन तथा गोकुल-कृत लक्षण अधिकतर संक्षिप्त तथा सरल हैं।

समुच्चय

आचार्य मम्मट ने इस अलंकार का यह लक्षण माना है कि किसी कार्य की सिद्धि का हेतु विद्यमान होते हुए भी, जहां अन्य हेतु भी उस का साधन करने वाला बन जाए, वहां समुच्चयालंकार होता है। यह सद्, असद् तथा सदासद योग से तीन प्रकार का होता है।[2] गुण-क्रिया-योग वाला दूसरा समुच्चय है। विद्यानाथ ने गुण-क्रिया-यौगपद्य को समुच्चयालंकार माना है।[3] अप्पय दीक्षित ने मम्मट-कृत प्रथम लक्षण को समुच्चय का दूसरा भेद मान कर लक्षण बना दिया है। इस का मत है कि जहां एक ही वस्तु से सम्बद्ध अनेक पदार्थों का एक साथ गुंफन किया जाए, वहां समुच्चयालंकार होता है और इसी का अन्य भेद वहां माना जाता है, जहां अनेक हेतुओं से किसी एक कार्य की उत्पत्ति हो सकती हो परन्तु कवि-वर्णन ऐसा हो कि हर हेतु अपने आप को प्राथमिकता देता हुआ सन्निविष्ट हो जाए।[4]

चिन्तामणि ने मम्मट-कृत लक्षण के आधार पर लक्षण बनाया है। भावानुवाद स्पष्टतः किया है, परन्तु भेद मम्मट तथा विद्यानाथ के आधार पर गिन दिये हैं। भेदों के लक्षण नहीं दिये। कुलपति तथा रत्नेश ने मम्मट-कृत लक्षण को ही भावानूदित किया है। लक्षण इस प्रकार हैं—

---

१. (क) विकल्प विरह-निवेदन, लछन सोरठा—
विकल्प मानो सोय, दोइ वस्तु सम विरुद्ध जहं।
विरह निवेदन होय, कहै हाल तिय विरह को ॥२०६॥
रसभूषण—याकूबखां, पृष्ठ ३०

(ख) अथ अधम वैस्यक नायक विकल्प अलंकार लछन—
यह है, वह, या भाँति को बरनत है जब कोइ।
सो विकल्प या कवित्त में निश्चय करि कै होइ ॥३४५॥
रसभूषण—राय शिवप्रसाद, पृष्ठ ४६

२. तत्सिद्धिहेतावेकस्मिन् यत्रान्यत् तत्करं भवेत्। समुच्चयोऽसौ।
एष एव समुच्चयः सद्योगे, असद्योगे, सदसद्योगे च पर्यवस्यतीति न पृथक् लक्ष्यते। स त्वन्यो युगपत् या गुणक्रिया।
काव्यप्रकाशः—मम्मट, पृष्ठ ५१५, ५१६, ५१७

३. गुणक्रिया यौगपद्यं समुच्चय उदाहृतः।
प्रतापरुद्रीययशोभूषणम्—विद्यानाथ, पृष्ठ ३२६

४. बहूनां युगपद्भावभाजां गुम्फः समुच्चयः ।११५।
अहं प्राथमिकाभाजामेककार्यान्वयेऽपि सः।
कुवलयानन्दः—अप्पय्य दीक्षित, पृष्ठ १८७-१८८

(क) चिन्तामणि—एक सिद्धि कर संग मिलि औरों साधक होइ।
होइ अनेक समुच्चया अलंकार यह कोइ ॥२८५॥

सद् वस्तु, असद् वस्तु, गुन-गुन-जोग, क्रिया-क्रिया जोग समुच्चय।

(ख) कुलपति—मूल अर्थ की सिद्धि जहां एक अर्थ तें होय।
औरों पोषक होय बहु, बरनि समुच्चय सोय ॥१५०॥

(ग) रत्नेश—एक हेतु होतो जहां कारज सिद्धि समथ्थ।
ता साधक अविरोध है, होत समुच्चय तथ्थ ॥१४६॥
तुल्य काल गुन भाषिये, क्रिया भाषिये तेहि।
तौ ही कहिए-गुण-क्रिया, वियो समुच्चय एहि ॥१४९॥[1]

तीनों लक्षणों में से रत्नेश का लक्षण अधिक स्पष्ट एवं पूर्ण है। चिन्तामणि तथा कुलपति ने द्वितीय भेद का लक्षण नहीं दिया, केवल उदाहरण दे दिये हैं। कवि दास ने इस लक्षण का अनुवाद पद्य में किया है, जो स्पष्ट, संगत, एवं सुबोध बना है।

'जहां मूल की सिद्धि एक ही अर्थ तैं होय अरु वाको पोषक और ही होय तहाँ समुच्चय। याके तीन भेद हैं—भले के जोग करके, बुरे के जोग करके अथवा दोउन के जोग करके।'[2]

रीतिकाल के अधिकांश आचार्यों ने अप्पय्य दीक्षित के लक्षण का भावानुवाद किया है। इनमें दूसरे समुच्चयालंकार का भावानुवाद ठीक नहीं बना। अहमहमिका से हेतुओं के आने की बात को इन कवियों ने 'बहु हेतुन' में परिवर्तित कर दिया है। किसी ने प्रयास किया भी तो उससे पूर्णतया अनूदित नहीं हुआ। लक्षण छायानूदित हो गए हैं। पद्य तथा गद्य में अनूदित लक्षण उदाहरणतः यहां दिये जाते हैं—

(क) बैरीसाल—येक संग भावन भजत, बरने जहां अनेक।
तहां समुच्चय कहत हैं, जे कविता में येक ॥२७२।
जहां यक कारज कारण को उद्दित प्रबल अनेक।
तहां समुच्चय कहत हैं, दूजो सदन विवेक ॥२८०॥

(ख) गोकुल—बहुत भाव के गुम्फ जहां एक समैं में होत।
कहै समुच्चय ताहि सब, जे हैं कवि के गोत ॥४३८।।
अहं शब्द को कीजिये जहां प्रथमहि रूप।
यहौ समुच्चय कहत हैं, जे जग में कविभूप ॥४४१॥

(ग) रसिकगोविन्द—एक साथ ही बहुत भाव उपजै सो प्रथम।
एक के लिए बहुतनि को अन्वय सो दुतिय।[3]

१. (क) कविकुलकल्पतरु—चिन्तामणि, पृष्ठ ९०
(ख) रसरहस्य—कुलपति, पृष्ठ ७९
(ग) फतेप्रकाश—रत्नेश, (रतन) पृष्ठ ९३

२. अलंकारामाला—कवि दास, पृष्ठ ४६

३. (क) भाषाभरण—बैरीसाल, पृष्ठ २७
(ख) चेतचन्द्रिका—गोकुल, पृष्ठ १११-११२
(ग) रसिकगोविन्दआनन्दघन—रसिकगोविन्द, पृष्ठ ३१

कवि भूषण-कृत लक्षण शिथिल है। उन्होंने बहुत कार्यों का एक स्थान पर निबन्धन तथा अनेक वस्तुओं के एक जगह वर्णन को क्रमशः प्रथम तथा दूसरा समुच्चय माना है। क्रम-भेद तो सह्य है, परन्तु लक्षण में हेतुओं का नाम तक न आना और उनके आगमन के क्रम (अहमहमिकया) का भी उल्लेख न करना लक्षण की अस्पष्टता के लिए पर्याप्त है। उदाहरण चाहे उपयुक्त है, परन्तु लक्षण काव्य-शास्त्रीय दृष्टि से सर्वथा शिथिल है।[1]

सेवादास ने काव्य-शास्त्रीय अलंकार-पद्धति न अपना कर भक्ति-पद्धति से ही इस अलंकार के लक्षण को लिख दिया है। लक्षण का स्वरूप ही उसमें बोधित नहीं होता। एक की कृपा चाह कर या बना कर, औरों की कृपा से दूर रहने की चर्चा इस लक्षण में है, जो भाववर्णन मात्र है, शास्त्रीय लक्षण नहीं। दिया गया लक्षण इस प्रकार है—

सेवादास—एकहि की किरपा बने करैं कृपा सो गैर।
त्यहि समुच्चय कहत हैं, होइ मति को रंग ॥१३७॥

रीतिकाल के आचार्यों ने बहुशः अप्पय्य दीक्षित का अनुकरण किया है, इसलिए लक्षणों में किसी नयी उद्‌भावना के लिए अवकाश नहीं रहा है।

प्रत्यनीक

इस अलंकार में आचार्य मम्मट के अनुसार शत्रुपक्ष का अपकार कर सकने में असमर्थ होने पर उसके किसी सम्बन्धी का ऐसा तिरस्कार किया जाता है, जो शत्रु की स्तुति में पर्यवसित हो। यही भाव विद्यानाथ, जयदेव, विश्वनाथ तथा अप्पय्य दीक्षित-कृत लक्षण में भी है।[3]

आचार्य चिन्तामणि, रत्नेश तथा निहाल ने मम्मट-कृत लक्षण का भावानुवाद किया है। चिन्तामणि-कृत अनुवाद पूर्ण नहीं है, रत्नेश तथा निहाल का लक्षण पूर्णतः भावानूदित है। दोनों प्रकार के लक्षण इस प्रकार हैं—

---

१. एक बार ही जहं भयो, बहुकाजन को बंध।
ताहि समुच्चय कहत हैं, भूषण जे मतिबन्ध ॥२४५॥
वस्तु अनेकन को जहां बरनत एकहि ठौर।
दुतिय समुच्चय ताहि को, कहि भूषन कवि मौर ॥२५६॥
शिव (राज) भूषण—भूषण, पृष्ठ १५०-१५१

२. रघुनाथालंकार—सेवादास, पृष्ठ १६

३. (क) प्रतिपक्षमशक्तेन प्रतिकर्तुम् तिरस्क्रिया।
या तदीयस्य तत्स्तुत्यै प्रत्यनीकं तदुच्यते।
काव्यप्रकाशः—मम्मट, पृष्ठ ५३९

(ख) प्रत्यनीकं बलवतः शत्रोः पक्षे पराक्रमः ॥११८॥
कुवलयानन्दः—अप्पय्य दीक्षित, पृष्ठ १९१

(क) चिन्तामणि—जाइ लियो नहि बैर जहं पर सौं प्रबल विचारि।
एकै को अपकार जो सो प्रत्यनीक निरधारि॥३०१।

(ख) रत्नेश—सकै न असकत सकत सों ताको और जु कोइ।
ताहि विरोधहुं दुरि जिते प्रत्यनीक सो होइ।।१६६।

(ग) निहाल—जीत सकै नहिं शत्रु को, शत्रु पक्ष पुनि देख।
ताको दुःख दीजे जहां प्रत्यनीक सो लेख।।[1]

कुलपति ने स्वतन्त्र मति से लक्षण लिखा है। मम्मट-कृत लक्षण की क्षीण छाया उसमें देखी जा सकती है—

कुलपति—कछु न करि सकै शत्रु को, वा के को दुःख देइ।
होइ बड़ाई बरन को, प्रत्यनीक पद लेइ॥१६५॥

परन्तु कुलपति-कृत लक्षण अधिक स्पष्ट नहीं बना है।[2]

अप्पय्य दीक्षित-कृत लक्षण का अनुवाद तो बहुधा हुआ, परन्तु आचार्य भिखारीदास ने इसके दो पक्ष प्रस्तुत किए, जो उन्हीं की नवीन उद्भावना मानी जा सकती है। आचार्य दास ने इसके 'शत्रुपक्षीय तथा मित्रपक्षीय'—दो भेद माने हैं, जो पूर्ववर्ती किसी आचार्य ने नहीं किए। यह भेद लक्षण-सहित इस प्रकार हैं—

आचार्य भिखारीदास—सत्रु मित्र के पच्छ तैं किए बुरै और हेत।
प्रत्यनीक भूषण कहैं, जे हैं सुमति सचेत॥[3]

इससे लक्षण अस्पष्ट एवं असंगत तो क्या बनता, लक्षण ही नहीं बना। न प्रतिकार लेने में असमर्थ की चर्चा है न शत्रु-पक्ष के किसी सम्बन्धी के तिरस्कार का ही संकेत, इसलिए आचार्य दास का यह लक्षण अशुद्ध है।

काव्यलिंग

आचार्य मम्मट ने हेतु का वाक्यार्थ या पदार्थ रूप में वर्णन काव्यलिंग अलंकार माना है। आचार्य अप्पय्य दीक्षित ने समर्थनीय अर्थ के किसी पदार्थ या वाक्य से समर्थन को काव्यलिंग माना है। विश्वनाथ एवं विद्यानाथ ने वहां काव्यलिंग अलंकार कहा है कि जहां वाक्यार्थ अथवा पदार्थ किसी का हेतु हो।[4] इसलिए न्यायशास्त्र के लिंग (हेतु) से पृथक् दर्शाने के लिए काव्यलिंग कहा जाता है, क्योंकि काव्यार्थापत्ति की भांति इसका प्रयोग भी काव्य में होता है।

१. (क) कविकुलकल्पतरु—चिन्तामणि, पृष्ठ ९५
(ख) फतेप्रकाश—रत्नेश (रतन), पृष्ठ १०३
(ग) साहित्यशिरोमणि—निहाल, पृष्ठ ३८५

२. रसरहस्य—कुलपति, पृष्ठ ८७

३. काव्यनिर्णय—भिखारीदास, पृष्ठ ४८४

४. (क) काव्यलिंगं हेतोर्वाक्यपदार्थता ॥११४॥
काव्यप्रकाश:—मम्मट, पृष्ठ ५१०
(ख) हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिंगमुदाहृतम्।
प्रतापरुद्रीयशोभूषणम्—विद्यानाथ, पृष्ठ ३२३

आचार्य चिन्तामणि ने विद्यानाथ-कृत लक्षण का भावानुवाद किया है, जो शिथिल बना है। उससे अलंकार का लक्षण स्पष्ट नहीं होता। रत्नेश का लक्षण भी स्वतन्त्र मति का है, परन्तु स्पष्ट नहीं। आचार्य कुलपति ने अपनी मति से जो लक्षण लिखा है, वह अपूर्ण है। तीनों लक्षण इस प्रकार हैं—

(क) चिन्तामणि—हेतु वाक्य को अरथ के अर्थ पदन को होइ।
काव्यलिंग तासों कहत हेतु बखानत कोइ ॥२०४॥

(ख) रत्नेश—हेतु कह्यो पद एक सों, कै अनेक सों होइ।
अलंकार कोविद कहत, काव्यलिंग है सोइ ॥१३२॥

(ग) कलपति—पद समूह को अर्थ ए, हेतुनि द्वैविधि होय।
तहां सु काव्यलिंग है, है पुनि द्वैविधि सोय ॥१४२॥[1]

चिन्तामणि ने काव्यलिंग को हेतु नाम दिया है। कुलपति ने भेद तो गिन दिये, परन्तु लक्षण की स्पष्टता की ओर ध्यान नहीं दिया है।

रीतिकाल में इस अलंकार के लक्षण अप्पय्य दीक्षित के प्रभाव से अधिक लिखे गये हैं। आचार्य विद्यानाथ तथा विश्वनाथ-कृत लक्षण का अनुवाद बाद के आचार्यों में बैरीसाल ने किया। यद्यपि कुवलयानन्द-दत्त लक्षण को ही उसने अनूदित रखा है।

बैरीसाल—हेतु पाय वाक्यार्थ कहुं, कहुं पदारथ पाय।
समर्थनीय जु समर्थिये, काव्यलिंग सो आय ॥२६५॥[2]

इस लक्षण में बैरीसाल ने विद्यानाथ (विश्वनाथ का भी यही लक्षण है) के लक्षण का पहले पाद में और अप्पय्य दीक्षित-कृत लक्षण का दूसरे पाद में अनुवाद कर दिया है। अन्य कुछ लक्षण उदाहरणतः नीचे और दिया जा रहे हैं, जो कि पूर्णतया अप्पय्य दीक्षित से ही अनूदित हैं—

(क) जसवंतसिंह—काव्य लिंग जब युक्ति सों अर्थ समर्थन होय।

(ख) उमेदराय—जुक्ति सों समर्थन अर्थ होय।
कवि काव्यलिंग समझहु सोय ॥१३४॥[3]

मतिराम ने इसे हेतु अलंकार का तृतीय भेद माना है। लक्षण काव्यलिंग का ही है।

मतिराम—जहं समर्थिवो अर्थ को प्रगट समर्थन होय।
तहां हेतु औरों कहत कवि कोविद सब कोय ॥३६६॥[4]

काव्यलिंगालंकार का लक्षण रीतिकाल में सर्वथा शुद्ध रहा है। उसमें अपूर्णता या अशुद्धि के लिए स्थान इस काल में नहीं बना है।

---

१. (क) कवि-कुल-कल्पतरु—चिन्तामणि, पृष्ठ ८३
(ख) फतेप्रकाश—रत्नेश (रतन), पृष्ठ ६१
(ग) रसरहस्य—कुलपति, पृष्ठ ७८

२. भाषाभरण—बैरीसाल, पृष्ठ २२

३. (क) भाषाभूषण—जसवन्तसिंह, पृष्ठ ७६
(ख) वाणी-भूषण—उमेदराय, पृष्ठ २७

४. ललित-ललाम—मतिराम, पृष्ठ ४१

अर्थान्तरन्यास

आचार्य मम्मट ने सामान्य का विशेष से अथवा विशेष का सामान्य से साधर्म्य या वैधर्म्य से समर्थन-वर्णन ही अर्थान्तरन्यासालंकार का क्षेत्र माना है। आचार्य विद्यानाथ, विश्वनाथ तथा अप्पय्य दीक्षित-कृत लक्षण भी इसी प्रकार हैं।[1] रीतिकाल के आचार्यों ने भी इसी लक्षण-परम्परा को अपनाया है।

आचार्य केशवकृत अर्थान्तरन्यास-लक्षण संस्कृत-काव्य-शास्त्र के किसी आचार्य के लक्षण से नहीं मिलता। उन्होंने अर्थान्तरन्यास वहां माना है, जहां और कुछ कहकर और ही अर्थ लिया जाता है। केशव ने इसके युक्त, अयुक्त, अयुक्त-युक्त और युक्त-अयुक्त चार भेद माने हैं।[2] अयुक्त-युक्त भेद तो दण्डी ने भी माना है। केशव के लक्षण को उनकी अपनी सूझ मानना चाहिए। उसे अर्वाचीनों के द्वारा काव्यलिंग मानना उचित नहीं, क्योंकि काव्यलिंग में समर्थनीय अर्थ का समर्थन अपेक्षित है, हेतु वहां रहता है, इस लक्षण में ऐसा कोई संकेत नहीं है। भेदों के लक्षण में वैशिष्ट्य नहीं है। परन्तु भेद-लक्षणों में युक्त वहां माना है, जहां जैसा समझा जाए, वहाँ वैसा न हो, अयुक्त भेद वहां स्वीकार किया है, जहां जैसा नहीं समझा जाए, वहां वैसा हो अर्थात् युक्त से विपरीत। अशुभ जहां शुभ हो जाए, वहां अयुक्त-युक्त और जहां इष्ट, अनिष्ट हो जाए, वहां युक्त-अयुक्त माना गया है। जैसे—

केशव—जैसो जहां जु बूझिये, तैसो तहां सुआन।
रूप शील गुन युक्ति बल, ऐसे युक्त बखान ॥११-६८॥
जैसो जहां न बूझिये तैसो तहां जु होय।
केशवदास अयुक्त कहि बरनत हैं सब कोय ॥११-७०॥
अशुभ शुभ ह्वै जात जहं, क्यों हूँ केशव दास।
इहै अयुक्तै युक्त कवि बरनत बुद्धि विलास ॥११-७२॥
इष्टै वै बात अनिष्ट जहं कैसेहू ह्वै जाय।
सोइ युक्त अयुक्त कहि बरनत कवि सुखदाय ॥११-७५॥[3]

आचार्य मम्मट के लक्षण के अनुवादकों में चिन्तामणि, कुलपति, रत्नेश, अमीरदास तथा निहाल ही प्रमुख हैं। इनमें मम्मट-कृत लक्षण का भावानुवाद है। ये लक्षण इस प्रकार हैं—

---

१. (क) सामान्यं वा विशेषं वा तदन्येन समर्थ्यते।
यत्तु सोऽर्थान्तरन्यासः साधर्म्येणेतरेण वा ॥१०६॥
काव्यप्रकाशः—मम्मट, पृष्ठ ५००

(ख) उक्तिरर्थान्तरन्यासः स्यात् सामान्यविशेषयोः।
कुवलयानन्दः—अप्पय्य दीक्षित, पृष्ठ २०१

२. कविप्रिया—केशव, पृष्ठ २२७

३. कविप्रिया—केशव, पृष्ठ २२८-२३२

(क) चिन्तामणि—करत परस्पर समर्थन जो सामान्य विशेष ।
सो अर्थान्तिरन्यास कहि जानि पंडित गुण लेष ।।२४६।।

(ख) कुलपति—जहां अर्थ सामान्य को पोषण करै विशेष ।
पुनि सामान्य विशेष कों, जेहि ठां पोष न लेष ।।११८।।
सो अर्थान्तिरन्यास है और अर्थ जहां होय ।
स्वधर्म विधर्म भेद करि, चार भांति है सोय ।।११९।।

(ग) रत्नेश—कै सामान्य विशेष कै एक एक सों रास ।
साधर्म्य हुं वैधर्म्य सों हैं अर्थान्तिरन्यास ।।१०८।।

(घ) अमीरदास—जाहि सामान्य विशेष को दृढ़ कीजै कविराज ।
औ सामान्य विशेष कह सो अर्थान्तिरन्यास ।।

(ङ) निहाल—कहुं सामान विशेष को कहुं विशेष सामान ।
अर्थान्तिर सो न्यास है अलंकार रसखान ।[1]

इनमें कुलपति, अमीरदास तथा निहाल का लक्षण अत्यन्त परिष्कृत एवं सरल है। रत्नेश ने सुबोध भावानुवाद नहीं किया, चिन्तामणि ने भेदों का निर्देश नहीं किया है।

अप्पय्य दीक्षित-कृत लक्षण का अनुवाद बहुसंख्यक आचार्यों ने किया है। इन लक्षणों में प्रायः अशुद्धि नहीं है। यहां उदाहरणार्थ दो लक्षण दिये जाते हैं—

(क) कुमारमणि—जहं सामान्य समर्थिबे, करि विशेष को न्यास ।
कै विशेष सामान्य सों, सो अर्थान्तिरन्यास ।२४१।

(ख) रामसिंह—कहि विशेष सामान्य बखाने ।
यों अर्थान्तिरन्यासहि जाने ।।२७९।।
संग बड़े को पाइ बड़ाई अल्प लहै ।
सो अर्थान्तिरन्यास समुझि कै कवि कहै ।२८०।[2]

अर्थान्तिरन्यास का सम्बन्ध याकूबखाँ ने सामान्य 'लीला हाव' तथा विशेष 'बिलास हाव' से तथा राय शिवप्रसाद ने पीठमर्द नायक से प्रस्तुत किया है। दोनों के लक्षण पठनीय हैं—

(क) याकूबखाँ—अर्थान्तिरन्यास सामान्य लीला हाव लच्छन, सोरठा—
पहिले जानो सोइ, उक्ति जहां सामान्य की ।
लीला हाव जु होइ, त्रिया नर को करै ।३२५।

अर्थान्तिरन्यास विशेष बिलास हाव लक्षण, सोरठा—

---

१. (क) कविकुलकल्पतरु—चिन्तामणि, पृष्ठ ७५
(ख) रसरहस्य—कुलपति, पृष्ठ ७५
(ग) फतेप्रकाश—रत्नेश (रतन), पृष्ठ ८५
(घ) श्री कृष्णसाहित्यसिन्धु—अमीरदास, पृष्ठ ३३२
(ङ) साहित्यशिरोमणि—निहाल, पृष्ठ ४३२

२. (क) रसिकरसाल—कुमारमणि शास्त्री, पृष्ठ ८५
(ख) अलंकारदर्पण—रामसिंह, पृष्ठ २५

होइ जु उक्ति विशेष, ताही को दूजी कहै ।
हाव विलास सुलेख, लेखन बोलन हसन रस ।३२७।

(ख) राय शिवप्रसाद—अर्थान्तिरन्यास अलंकार पीठ मर्द नायक लछन, दोहा—
अर्थान्तिरन्यास है अलंकार यह लेख ।
होत जबै समान से द्रिढ़ता कहूं विशेष ।।३७१।।[1]

वेष-परिवर्तन तथा खेलने, बोलने, हंसने से नायिका का बातें बनाकर मान तोड़ने वाले पीठमर्द नायक से अर्थान्तिरन्यास अलंकार का सम्बन्ध जोड़ना विचित्र है ।

आचार्य देवकृत लक्षण सामान्य या विशेष के समर्थन के लिए एक दूसरे की (सामान्य-विशेष की) ध्वनि से मंडित है । लक्षण नवीन नहीं, परन्तु शब्द-विन्यास अवश्य नवीनतापूर्ण है ।[2]

अर्थान्तिरन्यासालंकार के भेदों की नवीन उद्भावना आचार्य केशव ने की । इस परम्परा में आगे चलकर युक्त-अयुक्त तथा अयुक्त-युक्त पृथक् अलंकार बन गए । रसरूप तथा रसिक गोविन्द ने पृथक् अलंकारों के रूप में इन्हें लिखा है ।[3] इस प्रकार इस अलंकार का नवीन लक्षण आचार्य केशव ने दिया है । उसको भावी कवि-आचार्यों ने मान्यता तो नहीं दी परन्तु तद्भेदों को अलंकारों में उक्त आचार्यों ने अवश्य गिन लिया है । तब भी इतना तो स्पष्ट मान्य है कि इस अलंकार के लक्षण तथा भेदों में इस युग ने नवीनता प्रदान की है ।

उल्लास

इस अलंकार में किसी अन्य वस्तु के गुण-दोष से किसी अन्य (दूसरी) वस्तु के गुण-दोष का वर्णन होता है ।[4] गुण से गुण, दोष से दोष, गुण से दोष, दोष से गुण वर्णन से यह चार प्रकार का हो सकता है ।

रीति-काव्य-शास्त्र में इस अलंकार का लक्षण शब्दानूदित तथा भावानूदित होते हुए भी सर्वथा शुद्ध रहा है । लक्षण में कवि-आचार्यों ने चाहे संक्षेप या विस्तार से काम लिया हो, परन्तु लक्षण पूर्ण रहा है । जसवन्तसिंह तथा गोकुल कवि-(दोनों एक एक छोर के) के लक्षण द्रष्टव्य हैं—

---

१. (क) रसभूषण—याकूबखाँ, पृष्ठ ३२
(ख) रसभूषण—राय शिवप्रसाद, पृष्ठ ४४

२. कर्यौ अर्थ दृढ़ करन को और अर्थ प्रस्ताव ।
करिए वाही धुनि लिए, अर्थान्तर सुचिताव ।।
शब्दरसायन—देव, पृष्ठ १०८

३. (क) तुलसीभूषण—रसरूप, पृष्ठ ६
(ख) रसिकगोविन्दआनन्दघन—रसिक गोविन्द, पृष्ठ ८८

४. एकस्य गुण-दोषाभ्यामुल्लासोऽन्यस्य तौ यदि ।।१३३।।
कवलयानंदः—अप्पय्य दीक्षित, पृष्ठ २२५

(क) जसवंतसिंह—गुन औगुन जब एक तें और धरे उल्लास।
न्हाइ संत पावन करे—गंग धरै इहि आस॥
(ख) गोकुल कवि—गुन ते गुन अरु दोष ते दोष होत उल्लास।
दूषन ते गुण होत जहं गुन ते दूषन पास॥१९६॥[1]

भेदों के लक्षण किसी आचार्य ने नहीं दिये, हाँ सब भेदों के उदाहरण अवश्य दिए गए हैं। उल्लास अलंकार का लाक्षणिक उल्लास रीतिकाल के श्रृंगार में उल्लसित रहा, उदास नहीं हुआ। याकूबखाँ ने चारों भेदों को क्रमशः विक्षेप हाव, हेला हाव, कुतूहल हाव तथा विभ्रम हाव से सम्बद्ध किया है।[2] लक्षण अन्य आलंकारिकों के समान ही लिखे हैं। इस तरह रीतिकाल में उल्लासालंकार उल्लसित रहा।

लेश

लेशालंकार वहां माना जाता है जहां दोष तथा गुण को क्रमशः गुण तथा दोष के रूप में कल्पित किया जाय।[3] गुण-दोष के कारण यह दो प्रकार का माना जाता है। दण्डी आदि प्राचीन आचार्यों ने लेशालंकार के लक्षण में किसी प्रकट होती हुई बात को छिपाने की चर्चा की है।[4]

केशव आचार्य दण्डी से प्रभावित हैं, परन्तु उनका लेश-लक्षण दण्डी से भिन्न है। केशव मानते हैं कि जहां चतुराई के लेश से चतुर व्यक्ति भी तनिक न समझे, ऐसा कवि-कृत वर्णन ही लेश है।[5] केशव की परिभाषा अधिक गरिष्ठ है, वास्तव में भावार्थ यही है कि कवि अपने वर्णन से बात को ऐसे छिपा दे कि चतुर व्यक्ति भी उसे न जान पाए, परन्तु शब्दावली में दोनों लक्षण भिन्न अवश्य हैं। आधुनिक आलोचकों ने केशव[6] के इस लेश-लक्षण को उक्ति तथा व्याजोक्ति कहा है।[7] व्याजोक्ति कहने वालों का मत है कि व्याजोक्ति में भी उद्भिन्न बात छिपायी जाती है,[8] परन्तु दोनों अलंकारों में महान् अन्तर है। क्योंकि लेश में तो छद्म का होना निगूहन क्रिया के लिए आवश्यक नहीं है, परन्तु व्याजोक्ति में तो छद्म का आश्रय अनिवार्य है।

१. (क) भाषाभूषण—जसवंतसिंह, पृष्ठ ८५
(ख) चेतचन्द्रिका—गोकुल, पृष्ठ १२४
२. रसभूषण—याकूबखाँ, पृष्ठ ३४-३५
३. लेशः स्याद्दोषगुणयोर्गुणदोषत्वकल्पनम्॥१३८॥
कुवलयानन्दः—अप्पय्य दीक्षित, पृष्ठ २२९
४. लेशोलेशेन निर्भिन्नवस्तुरूपनिगूहनम्॥२-२६५॥
काव्यादर्शः—दण्डी, पृष्ठ १२१
५. चतुराई के लेश से चतुर न समझे लेश।
बरनत कवि कोविद, तबै, ताको केशव लेश॥११-४४॥
कविप्रिया—केशव, पृष्ठ २१५
६. कविप्रिया (प्रिया-प्रकाश)—केशव (लाला भगवान् दीन), पृष्ठ २१५
७. केशवदास, जीवनी, कला और कृतित्व—डा० किरणचन्द्र, पृष्ठ ३५३
८. उद्भिन्नवस्तुनिगूहनं व्याजोक्तिः। अलंकारसर्वस्वम्—रुय्यक, पृष्ठ २१८

लेश अलंकार का अनूदित लक्षण रीतिकाल के काव्य-शास्त्र में अपूर्ण नहीं रहा। उसकी पूर्णता में लेश-मात्र अन्तर नहीं आया। अप्पय्य दीक्षित-कृत लक्षण का ही बहुधा अनुवाद हुआ, केशव के अनन्तर दण्डी का किसी ने अनुसरण नहीं किया—उदाहरणार्थ एक लक्षण पठनीय है—

पद्माकर—लेस अलंकृति दोइ विधि है जहं गुण में दोष।
दोषहिं में गुन होत यो, कहत सुकबि ताहि तोष ॥[1]

तद्गुण

अपना गुण त्याग कर दूसरे का गुण ग्रहण करना ही तद्गुण अलंकार का क्षेत्र है।[2] आचार्य मम्मट-कृत लक्षण भी यही है, परन्तु उसमें परगुण अत्युज्वलता के कारण ग्रहण करने का निर्देश है।[3]

आचार्य मम्मट-कृत लक्षण का भावानुवाद कुलपति, रत्नेश तथा निहाल कवि ने किया है। चिन्तामणि ने विद्यानाथ का आधार लिया है। विद्यानाथ ने अन्य के उत्कृष्ट गुण लेने के लिए स्वगुण का त्याग करने पर तद्गुण माना है।[4]

(क) चिन्तामणि—निज गुन तजि उत्कृष्ट गुण गहै आनि कै कोइ।
अलंकार तद्गुण सुनौ कवि जन सम्मत होइ ॥१३३॥

(ख) कुलपति—अधिक और गुण जोग ते निज तजि औरहिं लेह।
सोई तद्गुण जानिये, ताको गुण कहि देह ॥२०१॥

(ग) रत्नेश—जहां एक गुन जोग ते निज गुन परिहरि लीन।
जो ताही को गुन गहे तद्गुन कहत प्रवीन ॥२१०॥

(घ) निहाल—अपने गुण को छांडि कै संगति को गुण लेय।
तद्गुण अलंकृति ताहि को, कह निहाल रस गोय ॥[5]

कुलपति और रत्नेश दोनों का भावानूदित लक्षण परिष्कृत एवं स्पष्ट है। निहाल के लक्षण में 'संगति' शब्द लोक-जीवन की छाया ले आया है।

आचार्य अप्पय्य दीक्षित के लक्षण का अनुवाद बहुसंख्यक आलंकारिकों ने

---

१. पद्माभरण—पद्माकर, पृष्ठ ६२

२. तद्गुणः स्वगुणत्यागादन्यदीयगुणग्रहः ॥१४१॥
कुवलयानन्दः—अप्पय्य दीक्षित, पृष्ठ २३५

३. स्वमुत्सृज्य गुणं योगादत्युज्ज्वलगुणस्य यत्।
वस्तु तद् गुणतामेति भण्यते स तु तद्गुणः ॥१३७॥
काव्यप्रकाशः—मम्मट, पृष्ठ ५५०

४. तद्गुणः स्वगुणत्यागादन्योत्कृष्टगुणाहृतिः।
प्रतापरुद्रीययशोभूषणम्—विद्यानाथ, पृष्ठ २९९

५. (क) कविकुलकल्पतरु—चिन्तामणि, पृष्ठ ६०
(ख) रसरहस्य—कुलपति, पृष्ठ ८७
(ग) फतेप्रकाश—रत्नेश, (रतन) पृष्ठ १०८
(घ) साहित्यशिरोमणि—निहाल, पृष्ठ ४३३

किया है, सबके अनूदित लक्षण समान से हैं, कहीं-कहीं शब्दों में साधारण परिवर्तन है। दो लक्षण द्रष्टव्य हैं—

(क) दूलह—छोड़ि निज गुन आन गुन गहै तद्गुन।

(ख) चन्दन—तद्गुन निज गुन छांडि औरे को गुन लेइ ॥१६०॥[1]

अतद्गुण

जब कोई पदार्थ अपने से सम्बन्धित किसी दूसरे पदार्थ के गुण को ग्रहण न करे, तब वहां अतद्गुणालंकार होता है। अप्पय्य दीक्षित का मत भी आचार्य मम्मट के लक्षण के समान ही है।[2] मम्मट-कृत लक्षण का आधार चिन्तामणि, कुलपति तथा रत्नेश ने लिया है। तीनों लक्षण इस प्रकार हैं—

(क) चिन्तामणि—और वस्तु गुन को ग्रहन जहं न करै कछु बात।
ताहि अतद्गुन कहत हैं जो कवि मति अधिकात ॥१३५॥

(ख) कुलपति—संभवहू में नहिं लहै मिलत जानि गुण हीन।
ताहि अतद्गुण कहत हैं, जे कवि जन परवीन ॥२०३॥

(ग) रत्नेश—अप्रकृत चाहे न प्रकृत जो सुन गहिरे अवगाहि।
अलंकार कोविद सबै कहत अतद्गुण ताहि ॥२१६॥[3]

चिन्तामणि ने छायानुवाद प्रस्तुत किया है और आचार्य कुलपति ने मम्मट-कृत लक्षण-वृत्ति का भावानुवाद किया है।[4] रत्नेश ने भी छाया ग्रहण कर स्वमति से लक्षण लिखा है, उनका लक्षण पूर्ण स्पष्ट नहीं हो पाया है।

अप्पय्य दीक्षित-कृत लक्षण का भावानुवाद अनेक आचार्यों ने किया है। कुछ के लक्षण इस प्रकार हैं—

(क) गोविन्द—जहां आन के संगहू गुन न आन होइ।
ताहि अतद्गुन कहत हैं, जे सहृदय सब कोइ ॥२८३॥

(ख) गिरिधरदास—संगी को रूपादि गुन करत न अंगीकार।
ताहि अतद्गुन आभरन बरनत बुद्धि अगार ॥२६४॥[5]

---

१. (क) कविकुलकंठाभरण—दूलह, पृष्ठ ६१
(ख) काव्याभरण—चंदन, पृष्ठ २६

२. (क) तद्रूपाननुहारश्चेदस्य तत्स्यादतद्गुणः।
काव्यप्रकाशः—मम्मट, पृष्ठ ५५१
(ख) संगतान्यगुणानंगीकारमाहुरतद्गुणम् ॥
कुवलयानन्दः—अप्पय्य दीक्षित, पृष्ठ २३७

३. (क) कविकुलकल्पतरु—चिन्तामणि, पृष्ठ ६०
(ख) रसरहस्य—कुलपति, पृष्ठ ८२
(ग) फतेप्रकाश—रत्नेश (रतन), पृष्ठ १०६

४. यदि तु तदीयं वर्णं सम्भवन्त्यामपि योग्यतायां न्यूनगुणं न गृह्णीयात्तदा भवेद् अतद्गुणो नाम। काव्यप्रकाशः—मम्मट, पृष्ठ ५५१

५. (क) कर्णाभरण—गोविन्द, पृष्ठ २१
(ख) भारतीभूषण—गिरिधरदास, पृष्ठ २८

इस अलंकार का लक्षण भी सुरक्षित ही रहा, उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन भी नहीं हुआ। सर्वांग-निरूपक आचार्य मम्मट के अनुयायी रहे और केवल अलंकार-लेखक अप्पय्य दीक्षित की पद्धति पर चलते रहे।

मीलित

आचार्य दीक्षित के मत में तब मीलितालंकार होता है, जब दो वस्तुओं में इतना सादृश्य हो कि उनके परस्पर मिलने पर सादृश्य के कारण भेद ही दिखाई न पड़े आचार्य मम्मट ने भी अपने लक्षण में कहा है कि समान चिह्न से वस्तु का वस्तु को निगूहित कर लेना मीलित है, पुनः वह सहज तथा आगन्तुक भेद से दो प्रकार का हो जाता है।[1]

आचार्य कुलपति तथा रत्नेश का लक्षणाधार मम्मट-कृत लक्षण है। लक्षण इस प्रकार से है—

(क) कुलपति—आये कर के सहज के कहि मिलितें अति ठौर।
(ख) रत्नेश—वस्तु-वस्तु सो गोइए सम लक्षन करि जोइ।
अलंकार मीलित कहैं, सो कवि कोविद लोइ ॥१६७॥[2]

इन लक्षणों में रत्नेश का लक्षण स्पष्ट तथा पूर्णतया शुद्ध है। मम्मट-कृत लक्षण का पूर्ण आशय उसमें अभिव्यक्त है।

आचार्य अप्पय्य दीक्षित-कृत लक्षण का भावानुवाद अनेक अलंकार-निरूपकों ने किया है। सभी के लक्षण अनूदित रूप में शुद्ध एवं पूर्ण हैं। इस अलंकार के सम्बन्ध में आचार्य भिखारीदास की धारणा अत्यन्त स्पष्ट है कि नीर-क्षीर के मिलने के समान जहां दो पदार्थ मिल जाएं, वहां मीलितालंकार होता है।[3] आचार्य सेवादास ने लक्षण उपमेय और उपमान का नाम लेकर दिया है, उसमें सादृश्य शब्द से निर्वाह नहीं किया गया, तब भी लक्षण स्पष्ट एवं संगत बना है। लक्षण इस प्रकार है—

सेवादास—जा की उपमा दीजिए ताहि में मिलि भानु।
ता कौ बरनत हैं सरस यों मीलित को मानु ॥१७६॥[4]

याकूबखाँ ने मीलित को प्रलय भाव से तथा राय शिवप्रसाद ने उत्तम दूती-नायिका पक्ष से सम्बद्ध किया है।[5] याकूबखाँ ने प्रलय भाव का वर्णन करने की

---

१. (क) मीलितं यदि सादृश्याद् भेद एव न लक्ष्यते ॥१४६॥
कुवलयानन्दः—अप्पय्य दीक्षित, पृष्ठ २३९

(ख) समेन लक्ष्मणा वस्तु वस्तुना यन्निगूह्यते।
निजेनागन्तुना वापि तन्मीलितमिति स्मृतम् ॥१३०॥
काव्यप्रकाशः—मम्मट, पृष्ठ ५४०

२. (क) रसरहस्य—कुलपति, पृष्ठ ८७
(ख) फतेप्रकाश—रत्नेश (रतन), पृष्ठ १०४

३. मीलित जानिए जहां मिलि, छीर-नीर के न्याइ ॥
काव्यनिर्णय—भिखारीदास, पृष्ठ ३७७

४. रघुनाथालंकार—सेवादास, पृष्ठ २२

५. (क) रसभूषण—याकूबखाँ, पृष्ठ ३८
(ख) रसभूषण—राय शिवप्रसाद, पृष्ठ ४०

अनिच्छा व्यक्त की है। रीतिकाल के अन्त में परिष्कृत लक्षण लिखने की ओर आलंकारिकों का ध्यान अधिक था। गोकुल कवि का लक्षण इसका प्रतीक है, जैसे—

गोकुल— वस्तु होइ सम रूप की अवयव सो मिलि जाय।
सो मीलित ज्यों दूध में पानी परि न लखाय ॥५१८॥[1]

इस लक्षण में संस्कृत-लक्षण से इतना अन्तर आ गया कि अवयव से मिल जाने पर या सर्वांग मिल जाने पर, वस्तु (समरूप) समान रूप वाली हो जातीहै। पहले लक्षणों में समान चिह्न से मिलने के अनन्तर सादृश्य से भेद न दिखाई देने की चर्चा रहती थी। अब लक्षण अधिक परिष्कृत हो गया।

विशेषक (विशेष)

यह अलंकार आधार-आधेय के मूल पर टिकने वाले विशेष से पृथक् है। इसमें सामान्य का विपरीत भाव है। जहां सामान्य में सादृश्य-भेद या विशेषता लक्षित नहीं होती, वहां विशेषक में सादृश्य होते हुए भी किसी कारण से वैशिष्ट्य का ज्ञान हो जाता है।[2]

रीतिकाल में इस अलंकार का लक्षण अलंकारनिरूपकाचार्यों ने बहुधा दिया है। नाम-भेद अवश्य पाया जाता है। किसी ने विशेषक और किसी ने विशेष नाम ही रख दिया है। शुद्ध नाम विशेषक ही है। दोनों प्रकार के नाम प्रयुक्त करने वाले आचार्यों के कुछ लक्षण उदाहरणार्थ दिये जाते हैं—

(क) जसवंतसिंह—यह विसेसक विसेष पुनि, फुरै जु समता मांझ ॥१७७॥
(ख) भूषण—भिन्न रूप सादृश्य में लहिये कछू विसेख।
ताहि विसेषक कहत हैं, भूषन सुमति उलेख ॥३०७॥
(ग) रघुनाथ—जहं विशेष अस्फूर्त है, सो वैसेष बषानि ॥४१८॥
(घ) उमेदराय—जहं परै भेद सामान्य मद्धि।
सो नाम 'विसेष' प्रसिद्धि ॥१६२॥
(ङ) गिरिधर—समता संजुत वस्तु मैं कछु विशेष दरसाय।
जाते जान्यौ जाय वह तिहि विशेष ठहराय ॥३०४॥[3]

अप्पय्य दीक्षित की भांति ही किसी-किसी रीतिकालीन आचार्य ने उन्मीलित तथा विशेषक के लक्षणों को एक पद में बांधने का प्रयास किया है। जैसे—

१. चेतचन्द्रिका—गोकुल, पृष्ठ १३०
२. भेद वैशिष्ट्ययोः स्फूर्ताविन्मीलितविशेषकौ ॥
कुवलयानन्दः—अप्पय्य दीक्षित. पृष्ठ २४३
३. (क) भाषाभूषण—जसवंतसिंह, पृष्ठ ९२
(ख) शिव (राज) भूषण—भूषण पृष्ठ १८०
(ग) रसिकमोहन—रघुनाथ, पृष्ठ ६४
(घ) वाणीभूषण—उमेदराय, पृष्ठ ३२
(ङ) भारतीभूषण—गिरिधरदास, पृष्ठ

(क) रघुनाथ—जहं भेद अस्फुर्त है, सो उनमीलित जानि।
जहं विशेष अस्फुर्त है, सो वैसेष बखानि ॥४१८॥

रीतिकाल के अन्त में गोकुल कवि ने विशेषक का लक्षण अत्यन्त परिष्कृत एवं पूर्ण स्पष्ट लिखा है। लक्षण पठनीय है—

(ख) गोकुल—मीलित में जहां एक की बढ़ि गुन धर्म लखाय।
सो वैसेख्य मिले सलिल ज्यों मिश्री मधुराय ॥[1]

गोकुल ने सामान्य से विशेष की विपरीतता नहीं दर्शायी अपितु मीलिता-लंकार से विशेष को पृथक् माना है। यह पूर्ववर्तियों से उनका मतभेद है तथा अपना नया मत संस्थापन भी है। मीलित में दूध-पानी तथा विशेषक में पानी-मिश्री की बात कह कर गोकुल कवि ने लक्षण की स्पष्टता कर दी है। इस तरह स्वतन्त्र मति का निदर्शन भी उस काल में हो रहा था।

उत्तर (गूढोत्तर)

किसी विशेष अभिप्राय से युक्त जहां गूढ़ उत्तर दिया जाता है, उसे आचार्य दीक्षित के मत में उत्तरालंकार कहा जाता है।[2] आचार्य मम्मट ने उत्तरालंकार की परिभाषा अप्पय्य दीक्षित से भिन्न दी है। उन्होंने उत्तरालंकार वहां माना है, जहां उत्तर के सुनने मात्र से प्रश्न की कल्पना की जाए अथवा प्रश्न के होने पर अनेक बार जो असम्भाव्य उत्तर दिया जाए, वह उत्तरालंकार है। अप्पय्य दीक्षित ने उत्तर का एक भेद चित्र माना है। जहां प्रश्न तथा अन्य उत्तर से मिश्रित उत्तर दिया जाए, वहां चित्रोत्तर अलंकार होता है।

चिन्तामणि, कुलपति तथा रत्नेश ने मम्मट-कृत लक्षण का आधार लिया है। तीनों के लक्षणों में से चिन्तामणि ने सुन्दर, स्पष्ट एवं पूर्ण अनुवाद नहीं किया अपितु शिथिल सा लक्षण बना दिया है आचार्य कुलपति का लक्षण भावानूदित होते हुए भी अपूर्ण है। मम्मट-कृत लक्षण के असम्भाव्य उत्तर की चर्चा इस लक्षण में नहीं आ पायी। रत्नेश ने संक्षेपतः उत्कृष्ट लक्षणानुवाद किया है। सारा लक्षण दोहे में पूर्ण रूप से नरकुंडली की भांति समा गया है। तीनों लक्षण निम्नलिखित हैं—

(क) चिन्तामणि—उत्तर सुनि जहां प्रश्न को अटक रही ते ज्ञान।
कहुं पिष्टा उत्तर कथन प्रश्नोत्तर सज्ञान ॥२७१॥

(ख) कुलपति—उत्तर में ते प्रश्न पुनि, प्रश्नहि पहिले होय।
उत्तर प्रश्न बहुत जहाँ, उत्तर कहिये सोय ॥

१. (क) रसिकमोहन—रघुनाथ, पृष्ठ ६४
(ख) चेतचन्द्रिका—गोकुल, पृष्ठ १३०

२. किंचिदाकूतसहितं स्याद् गूढोत्तरमुत्तरम् ॥१४९॥
प्रश्नोत्तरान्तराभिन्नमुत्तरं चित्रमुच्यते ॥१५०॥
कुवलयानन्दः—अप्पय्य दीक्षित, पृष्ठ २४५-२४७

(ग) रत्नेश—उत्तर ही तें लीजिये, जिते प्रश्न अनुमानि।
और असंभवि उत्तरो, उत्तर भूषण जानि ॥१७२॥[1]

अप्पय्य दीक्षित का उत्तरालंकार दो भागों या भेदों में विभक्त है, इसलिए रीतिकाल के आलंकारिकों ने इसके दो अलंकार पृथक् पृथक् लिखे। पहला उत्तर की अपेक्षा गूढ़ोत्तर तथा दूसरा 'चित्रोत्तर' अथवा 'प्रश्नोत्तर' नाम से प्रसिद्ध हुआ। दोनों के लक्षण भी पृथक्-पृथक् दिये गए हैं। लक्षणों में अपूर्णता तथा अस्पष्टता नहीं है।

दोनों के दो-दो लक्षण यहां दिये जा रहे हैं, जिनसे उस काल के आलंकारिकों की परिष्कृत प्रवृत्ति का स्पष्ट बोध हो जाता है—

सोमनाथ—उत्तर दीजतु है तहाँ हिये लिये कछु भाइ।
गूढोत्तर ता सों कहै, रसिक सुकवि समुझाइ ॥२६४॥
एक वचन में होइ जहाँ, प्रश्न सु उत्तर चित्र।[2]

रसिकगोविन्द— हिय में कछु भाव सों धरि के अरु उत्तर दीजे, सो गूढोत्तर।
प्रश्न अरु उत्तर दोऊ एक ही वचन में होइ सो चित्र।[3]

गूढोत्तरालंकार में अप्पय्य दीक्षित-प्रदत्त 'आकूतसहित' पद का प्रयोग रीतिकाल में नहीं हुआ है। उसके स्थान पर साभिप्राय शब्द चलता रहा, जो सार्थक था। इस दृष्टि से पद्माकर का लक्षण तथा भेद द्रष्टव्य है—

पद्माकर (क) गूढोत्तर उत्तर जहं, साभिप्राय उचार ॥१४६॥
(ख) चित्र वचन को प्रश्न को, उत्तर वहै प्रकास ॥२४७॥
उत्तर इक बहु प्रश्न को, चित्र, कहौ को स्याम।
कौन जु रिपु छत्रियन को, मूसलधर को, राम ॥२४८॥[4]

आचार्य भिखारीदास-कृत लक्षण स्पष्ट नहीं है। उनका कहना है कि जहां उत्तर देने में प्रश्न दिखाई पड़े, वहां प्रश्नोत्तर अलंकार होता है। आचार्य दास का लक्षण एकांगी होने ने अस्पष्ट है। यदि प्रश्नोत्तर के दोनों पक्षों को लक्षण में ले लिया जाता तो प्रश्नोत्तरालंकार का लक्षण पूर्ण बन जाता।[5]

सेवादास ने चित्र (प्रश्नोत्तर) का लक्षण विचित्र दिया है। इनका कहना है कि चित्रालंकार वहां होता है, जहां किसी के रूप का वर्णन उससे अति प्रीति कर के

---

१. (क) कविकुल-कल्पतरु—चिन्तामणि, पृष्ठ ८६
(ख) रसरहस्य—कुलपति, पृष्ठ ८३
(ग) फतेप्रकाश—रत्नेश (रतन), पृष्ठ ६६
२. रसपीयूषनिधि—सोमनाथ, पृष्ठ १८४-१८७
३. रसिकगोविन्दआनन्दघन—रसिकगोविन्द, पृष्ठ ७५-७६
४. (क) पद्माभरण—पद्माकर, पृष्ठ ६३
(ख) पद्माभरण—पद्माकर, पृष्ठ ६३
५. छोड़ि वा कह्यो वा कह्यो, प्रश्नोत्तर कहि जाइ।
प्रश्नोत्तर तासों कहै, जे प्रवीन कवि राइ ॥
काव्यनिर्णय—भिखारीदास, पृष्ठ ४६२

वर्णन किया जाए। इस तरह लक्षण अलंकार का नहीं बना, अपितु रूपचित्रण मात्र हो गया है। लक्षण है—

सेवादास—जो को रूप बखानिये जासों करि अति प्रीति।
अलंकार चित्र कहीं बरनत ताकी रीति।१८०।[1]

रीतिकाल में गूढोत्तर तथा प्रश्नोत्तर अलंकार के अनेक लक्षण दृष्टिगत होने पर निष्कर्षतः यह मानना उचित है कि इन अलंकारद्वय के लक्षण अपवादों को छोड़ कर बहुधा अपने स्वरूप में अपरिवर्तित ही रहे।

सूक्ष्म

आचार्य मम्मट ने इस अलंकार का लक्षण लिखा है कि 'सूक्ष्म (तीक्ष्णबुद्धि वालों के द्वारा ही समझने योग्य) भी अर्थ किसी तरह से ज्ञात हो गया है'—यह बात जहां किसी आकार इंगितादि से दूसरे को प्रकट की जाती है, तब सूक्ष्मालंकार होता है। आचार्य अप्पय्य दीक्षित ने मम्मट से अधिक सरल लक्षण बनाकर कहा कि जहां किसी दूसरे व्यक्ति के आशय को जानने वाला व्यक्ति उसके प्रति (पूर्व के प्रति) साभिप्राय चेष्टा (आकारेंगितादि से) करे, वहां सूक्ष्मालंकार माना जाता है।[2]

आचार्य केशव ने दण्डी-कृत लक्षण का अनुवाद अपने सूक्ष्म-लक्षण से किया है। विशेष कुछ नहीं।[3]

चिन्तामणि, कुलपति, रत्नेश, अमीरदास तथा निहाल कवि ने मम्मट-कृत लक्षण का भावानुवाद किया है। चिन्तामणि का अनूदित लक्षण छायानुवाद है। कुलपति तथा रत्नेश ने मम्मट-कृत कारिका-वृत्ति को लक्षण में बाँधा है।[4] कारिका भाग से भी भाव ग्रहण किया है और लक्षण का पूर्वार्ध कारिका की उत्तरार्ध वृत्ति से निर्मित किया है।

---

१. रघुनाथालंकार—सेवादास, पृष्ठ २२

२. (क) कुतोऽपि लक्षितः सूक्ष्मोऽप्यर्थोऽन्यस्मै प्रकाश्यते ॥१२२॥
धर्मेण केनचिद् यत्र तत्सूक्ष्मं परिचक्षते।

काव्यप्रकाशः—मम्मट, पृष्ठ ५३२

(ख) सूक्ष्मं पराशयाभिज्ञेतरसाकूतचेष्टितम् ॥१५१॥

कुवलयानन्दः—अप्पय्य दीक्षित, पृष्ठ २४८

३. कुतोऽपि लक्षितऽप्यर्थोऽन्यस्मै प्रकाश्यते।
इंगिताकारलक्ष्योऽर्थः सौक्ष्म्यात् सूक्ष्म इति स्मृतः ॥२-२६०॥

काव्यादर्शः—दण्डी, पृष्ठ ११६

(ख) कौन हुं भाव प्रभाव ते जाने जिय की बात।
इंगित ते आकार ते कहि सूक्ष्म अवदात ॥११-४५॥

कविप्रिया—पृष्ठ २१४

४. कुतोऽपि आकारादिंगिताद्वा—

काव्यप्रकाशः—मम्मट, पृष्ठ ५३२

(क) चिन्तामणि—होइ जु कौनों अर्थ तें सूक्ष्म अर्थ प्रकास ।
सूक्ष्म नाम प्रसिद्ध यह, अलंकार सुखबास ।।३०३।।
(ख) कुलपति—बात दुरायी होय जो, ताको करै प्रकास ।
इंगित ते आकार तें, सो सूक्ष्म सुख बास ।।१७८।।
(ग) रत्नेश—इंगित ते आकार ते दुरचो भाव कछु पाइ ।
परहित प्रकाशे भेद सों सो सूक्ष्म समुझाइ ।।१७५।।[1]

अप्पय्य दीक्षित-कृत लक्षण नवीन नहीं था। इसलिए रीतिकाल के आलंकारिकों पर केवल इन्हीं का प्रभाव मानना उचित नहीं। लक्षणों की पूर्णता तथा परिष्कार पर ध्यान देना उचित है। इसी हेतु यहां तीन लक्षण दिये जा रहे हैं—

(क) जसवन्तसिंह—सूछम पर आसय लखै सैननि में कछु भाय ।।१८०।।
(ख) गोप—दुरी बात परगट करे इंगित कहै आकार ।
सु सूक्ष्म द्वै भाँति है, कहत सुकवि सिरदार ।।१६१।।
(ग) गोकुल—चित्तवृत्ति लखि और की चेष्टा व्यंग्य समेत ।
कहै जहां सूछम तहां, कहत सुकवि जुत चेत ।।५२८।।[2]

इन तीनों लक्षणों में उत्तरोत्तर सूक्ष्मता, परिष्कार एवं स्पष्टता आती गयी है। गोप कवि ने इंगित और आकार के बल से दो भेद कर लिए हैं, जो वैशिष्ट्य नहीं है।

रीतिकाल में सूक्ष्मालंकार की लक्षणसूक्ष्मता को आघात नहीं पहुंचा, ऐसा सहज रूप से अनेक लक्षणों के अध्ययन के अनन्तर कहा जा सकता है।

व्याजोक्ति

आचार्य मम्मट ने व्याजोक्ति अलंकार वहां माना है, जहां किसी वस्तु के प्रकट हुए स्वरूप को किसी छद्म (बहाना या कपट) से छिपाया जाए। आचार्य अप्पय्य दीक्षित ने इसका लक्षण कहा है, कि जहां किसी अन्य हेतु को कह कर आकार-गोपन किया जाए वहां व्याजोक्ति अलंकार होता है।[3]

आचार्य मम्मट-कृत लक्षण का भावानुवाद चिन्तामणि ने किया है, जो कि लक्षण का आशय तो पूरा करता है, परन्तु स्पष्ट नहीं बना। चिन्तामणि ने कारण

१. (क) कविकुलकल्पतरु—चिन्तामणि, पृष्ठ ६५
(ख) रसरहस्य—कुलपति पृष्ठ ८४
(ग) फतेप्रकाश—रत्नेश (रतन), पृष्ठ १००

२. (क) भाषाभूषण—जसवन्तसिंह, पृष्ठ ६३
(ख) रामचन्द्राभरण—गोप, पृष्ठ २०
(ग) चेतचन्द्रिका—गोकुल, पृष्ठ १३२

३. (क) व्याजोक्तिश्छद्मनोद्भिन्नवस्तुरूपनिगूहनम् ।।११२।।
काव्यप्रकाशः—मम्मट, पृष्ठ ५२४
(ख) व्याजोक्तिरन्यहेतूक्त्या यदाकारस्यगोपनम् ।।१५३।।
कुवलयानन्दः—अप्पय्य दीक्षित, पृष्ठ २४६

की अपेक्षा 'काज' बनाने की बात कही है, जो परम्परा से भिन्न है। कुलपति ने मम्मट-कृत वृत्ति[1] को अपने लक्षण में बांधा है, जिससे लक्षणभाव पूर्ण हो गया है और रत्नेश ने कारिका भाग का सुन्दर अनुवाद किया है। यह लक्षणानुवाद सर्वांग-पूर्ण है। लक्षण इस प्रकार हैं—

(क) चिन्तामणि—प्रगटित वस्तु छपाइये जो बनाइ कछु काज।
व्याजोक्ति तासों कहत पंडित सुकवि समाज ॥१२४॥

(ख) कुलपति—कियो काम दुरिके कछु, कछुक परगट होय।
ताहि दुरावै छलवचन, व्याजोक्ति है सोय ॥१६३॥

(ग) रत्नेश—प्रकट भयो कछु कपट के गोयौ वस्तु सरूप।
अलंकार व्याजोक्ति सो भाषत हैं कविभूप ॥१६०॥[2]

रीतिकालीन-अलंकार-निरूपक आचार्यों ने अप्पय्य दीक्षित-कृत लक्षण को ही प्रमुखतः आधार बनाया है। प्रायः उन्हीं के लक्षण का भावानुवाद किया है। लक्षण अक्षुण्ण रहा है। दो लक्षणों का निर्देश ही पर्याप्त है—

(क) मतिराम—औरे हेतु वचननि जहां आकृति गोय न होय।
व्याज उक्ति तहं कहत कवि ग्रन्थ समुद्र विलोय ॥३५८॥

(ख) रत्नेस—व्याजोक्ति सो जान व्याज करि निज आधार दुरावै।[3]

रघुनाथ कवि ने व्याजोक्ति के लक्षण में छाया या अन्य हेतु की अपेक्षा भय को ही प्रधान हेतु मान लिया है। लक्षण इस प्रकार है—

रघुनाथ—अलंकार व्याजोक्ति तहाँ, बरनत कवि एहि रीति।
गोपन करे अकार को, जहां और के भीति ॥४३१॥[4]

लोकोक्ति

आचार्य अप्पय्य दीक्षित का मत है लोक-प्रवाद (लोकोक्ति या मुहावरों) का वर्णन में जब अनुकरण किया जाए तो लोकोक्ति अलंकार होता है।[5] आचार्य मम्मट ने इसे अलंकार ही नहीं माना।

---

१. निगूढमपि वस्तुनो रूपं कथमपि प्रभिन्न केनापि व्यपदेशेन यदपह्नूयते सा व्याजोक्तिः।

काव्यप्रकाशः—मम्मट, पृष्ठ ५२४

२. (क) कविकुलकल्पतरु—चिन्तामणि, पृष्ठ ५८
(ख) रसरहस्य—कुलपति, पृष्ठ ८२
(ग) फतेप्रकाश—रत्नेश (रतन), पृष्ठ ९६

३. (क) ललितललाम—मतिराम, पृष्ठ ८०
(ख) अलंकारदर्पण—रत्नेस, पृष्ठ १२

४. रसिकमोहन—रघुनाथ, पृष्ठ ६५

५. लोकप्रवादानुकृतिर्लोकोक्तिररिति भण्यते ॥१५७॥

कुवलयानन्दः—अप्पय्य दीक्षित पृष्ठ २४६

रीतिकाल में जसवन्तसिंह ने 'लोक-प्रवाद', मतिराम ने 'कहनावति अनुकरण,' भूषण ने 'लोक कहनावति', गोप ने 'लोक-प्रवाद', कुमारमणि ने 'लोक विदित उक्ति', रघुनाथ ने 'लोक कहनावति', गोविन्द ने 'लोक कहनावति', दूलह ने 'लोकाचार', भिखारीदास ने 'लोक के अनुकूलकथन,'लोक गति', बैरीसाल ने लोक की उक्ति (उक्ति जहं कछु लोक की), रामसिंह ने 'दुनिया को कहनावती', याकूबखाँ ने 'जगत की कहावत' (वियोग शृंगार), गोकुल ने 'लोक कहनाउति', ब्रह्मदत्त ने 'लोक की कहनावती', पद्माकर ने 'लोक की कहनावती' तथा गिरिधरदास ने 'लोक प्रवाद' को लोकोक्ति माना है। स्पष्ट है कि अप्पय्य दीक्षित के 'लोक-प्रवाद' शब्द को जसवन्त सिंह, गोप तथा गिरिधरदास ने अपने लक्षण में रखा है, शेष ने भावानुवाद किया है। रामसिंह ने छायानुवाद कर दिया है। इस अलंकार के विविध लक्षणों को उदाहरण-स्वरूप प्रस्तुत करना आवश्यक नहीं है।

वक्रोक्ति

संस्कृत-काव्य-शास्त्र में वक्रोक्ति के बिना अलंकारों का महत्व ही नहीं माना गया, इसी वक्रोक्ति पर सम्प्रदाय चला। यह अतिशयोक्ति भी कहलाती है। श्लेष और काकु में से एक के बल से अन्यार्थ-कल्पना में इसकी सार्थकता है।[1] लक्षण भामह से पर्वतीय विश्वेश्वर पंडित तक सभी ने लिखे हैं। संस्कृत में यह अलंकार शब्दालंकार और अर्थालंकार के रूप में पृथक्-पृथक् स्वीकार हुआ इसका नाम वाकोवाक्यं भी है।[2]

रीतिकालीन काव्य-शास्त्र में भी वही परिपाटी रही। चिन्तामणि, कुलपति, सोमनाथ, रसरूप, रसिक सुमति, भिखारीदास, रत्नेस, रसिकगोविन्द, अमीरदास तथा निहाल ने इसे शब्दालंकार माना है। केवल अर्थालंकार-निरूपकों ने अन्त में या ग्रन्थ के आदि भाग में कहीं शब्दालंकार दिये हैं तो वक्रोक्ति को उसमें पृथक् रखा है, बहुधा उसे अर्थालंकार ही माना है। रसिक सुमति तथा रसरूप इसके अपवाद हैं। इस अलंकार-लक्षण के अशुद्ध या अपूर्ण अनूदित होने का अवकाश नहीं, साथ ही इसका परीक्षण-विवेचन इतना हो चुका है कि अब और कुछ कहना समीचीन नहीं। गोविन्द कवि का एक लक्षण ही निदर्शनहेतु पर्याप्त है—

गोविन्द—कियो श्लेष सों काकु सों, कल्पित औरे अर्थ।
ताहि कहत वक्रोक्ति हैं, सिगरे सुकवि समर्थ॥[3]

स्वभावोक्ति

स्वभावोक्ति भी भामह के काल से प्रचलित अलंकार है। इसे जाति तथा स्वभाव नाम से भी अभिहित किया जाता है। इसमें स्वभाव-वर्णन जाति-गुण, क्रिया

१. वक्रोक्तिः श्लेषकाकुभ्यामपरार्थकल्पनम्।
कुवलयानन्दः—अप्पय्य दीक्षित, पृष्ठ २५१

२. अन्याभिप्रायेणोक्तं वाक्यमन्येनान्यर्थकतया यद्योज्यते सा वक्रोक्तिः, एतदेव वाकोवाक्यं उच्यते।
अलंकारशेखरः—केशव मिश्र, पृष्ठ २७

३. कर्णाभरणः—गोविन्द, पृष्ठ २३

के अनुरूप रहता है।[1] आचार्य मम्मट ने बालक आदि की स्वाभाविक क्रिया तथा रूप के वर्णन को स्वभावोक्ति कहा है।[2] विद्यानाथ ने इसे यथावत् चारु वस्तु-वर्णन माना है।[3] विश्वनाथ ने (इसे) कवि मात्र से ज्ञातव्य मान कर बच्चों आदि की चेष्टाओं अथवा रूप-वर्णन में अलंकार माना है।[4]

मानव-स्वभाव-चित्रण अपने आप में बड़ा विस्तृत विषय है, उसमें से जाति, गुण, क्रिया या यथावत् वर्णन अत्यन्त सूक्ष्म प्रतिभा का विषय है। संस्कृत-काव्य-शास्त्र में इसे अलंकार माना गया है, चाहे आधुनिक आलोचकों के मार्गदर्शक आचार्य शुक्ल ने इसे अलंकार नहीं माना।[5] तब भी स्वभावोक्ति का अलंकार रूप में महत्व है। 'स्व' भाविकता भी तो अलंकार है। बनाकर बात करना अलग अभिव्यक्ति-विधि है और स्वाभाविक ढंग से अपना आशय प्रकट करना भी आकर्षक है। इसलिए स्वभावोक्ति अलंकार-क्षेत्र से बाहर नहीं निकल सकती, चेतन स्वभाव के साथ-साथ स्वभावोक्ति भी जीवित रहेगी।

इस अलंकार के लक्षण में भी अपूर्णता, अशुद्धि तथा असंगति की सम्भावना नहीं, इसलिए परीक्षण-विवेचन अपेक्षित नहीं है। केवल एक लक्षण देना ही पर्याप्त है—

रामसिंह—जाति, सुभाव बखानै।
स्वभावोक्ति पहचानै ॥३६३॥[6]

ऊपर लिखा लक्षण रीतिकाल की संक्षेप में लक्षणकारिका की निर्माण-प्रतिभा का प्रतीक है।

भाविक

'भूत अथवा भविष्यत् काल की वस्तु का वर्णन वर्तमान की रीति से करना भाविक अलंकार है।' अप्पय्य दीक्षित के इस लक्षण से पूर्व भामह द्वारा इस अलंकार लक्षण का आरम्भ हुआ। आचार्य मम्मट ने कहा कि भूत, भविष्यत् के भाव जब प्रत्यक्ष की भाँति वर्णन किए जाते हैं, तब भाविक अलंकार होता है।[7]

१. स्वभावोक्तिः स्वभावस्य जात्यादिस्थस्य वर्णनम्। १६०॥
कुवलयानन्दः—अप्पय्य दीक्षित, पृष्ठ २५१

२. स्वभावोक्तिस्तु डिम्भादेः स्वक्रियारूपवर्णनम् ॥१॥
काव्य-प्रकाशः—मम्मट, पृष्ठ ५०५

३. स्वभावोक्तिरसौ चारु यथावद्वस्तुवर्णनम्।
प्रतापरुद्रीययशोभूषणम्—विद्यानाथ, पृष्ठ २६७

४. स्वभावोक्तिर्दुरूहार्थस्वक्रियारूपवर्णनम्।
साहित्यदर्पणः—विश्वनाथ, पृष्ठ ३६५

५. चिन्तामणि—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ १८३-१८४

६. अलंकारदर्पण—रामसिंह, पृष्ठ ३२

७. (क) भाविकं भूतभाव्यर्थसाक्षात्कारस्यवर्णनम्।
कुवलयानन्दः—अप्पय्य दीक्षित, पृष्ठ २६१

(ख) प्रत्यक्षा इव यद्भावाः क्रियन्ते भूतभाविनः तद्भाविकम्।
काव्य-प्रकाशः—मम्मट, पृष्ठ ५०८

आचार्य मम्मट-रचित लक्षणाधार पर चिन्तामणि, कुलपति तथा रत्नेश के लक्षण आधृत हैं। चिन्तामणि ने छायानुवाद किया है। कुलपति ने लक्षण की कारिका तथा वृत्ति का भावानुवाद किया है।[1] रत्नेश का लक्षण भावानूदित है। ये तीनों लक्षण इस प्रकार हैं—

(क) चिन्तामणि—सम भावी भूत जु बात, अलंकारकरता कहत।
जहं करिये परतक्ष सु भाविक कहि जात ॥२८२॥

(ख) कुलपति—बीती होनी होत जहं, कहत प्रगट सी होय।
भाव जहां कवि हृदय को, भाविक कहिये सोय ॥१४०॥

(ग) रत्नेश—भावी भूत भविष्य जित कहिये करि प्रत्यक्ष।
भनत भरत भाविक कहैं अलंकार विधि दक्ष ॥१६३॥[2]

रत्नेश के लक्षण में भावी और भविष्यत् दो पद हैं, जिनमें से एक निरर्थक है। इस लिए लक्षण में आवृत्ति होने से शिथिलता आ गई है।

अप्पय्य दीक्षित-कृत लक्षण का अनुवाद बहुसंख्यक आलंकारिकों ने किया है। इनमें से दो के लक्षण ही यहाँ दिये जा रहे हैं—

(क) बैरीसाल—वस्तु भूत भावी जहाँ, बरनी करि परितच्छ।
तहां कहत भाविक सबै, जे कविता के दच्छ ॥३६०॥

(ख) पद्माकर—भाविक भूत भविष्य जहँ, करि परतच्छ बखान।[3]

दोनों लक्षण शुद्ध एवं परिष्कृत हैं तथा इस काल के अलंकारों के अलंकार-लक्षण के निर्माण में सावधान मस्तिष्क का परिचय देते हैं।

भूषण कवि ने जयदेव के भाविकच्छवि अलंकार का भावानुवाद किया है। भाविकच्छवि में दूरस्थित वस्तु का भी आश्रयगत उत्कर्ष के द्वारा प्रत्यक्षवत् वर्णन रहता है। लक्षण में अपूर्णता अथवा शिथिलता का सन्देह नहीं किया जा सकता। दोनों लक्षण इस प्रकार हैं—

(क) जयदेव—देशात्मविप्रकृष्टस्य दर्शनं भाविकच्छविः ॥११४॥

(ख) भूषण—जहं दूरस्थित वस्तु को देखत बरनन होय।
भूषण-भूषन-राज मनि, भाविकच्छवि सो होय ॥३३५॥[4]

---

१. भूताश्च भाविनश्चेति द्वन्द्वः। भावः कवेरभिप्रायोऽत्रास्तीति भाविकम्।
काव्य-प्रकाशः—मम्मट, पृष्ठ ५०६

२. (क) कविकुल-कल्पतरु—चिन्तामणि, पृष्ठ ६२
(ख) रसरहस्य—कुलपति, पृष्ठ ७८
(ग) फतेप्रकाश—रत्नेश, (रतन) पृष्ठ ६१

३. (क) भाषाभरण—बैरीसाल, पृष्ठ २६
(ख) पद्माभरण—पद्माकर, पृष्ठ ६५

४. (क) चन्द्रालोकः—जयदेव, पृष्ठ १०७
(ख) शिव (राज) भूषण—भूषण, पृष्ठ १९६

अन्योक्ति

संस्कृत-काव्य-शास्त्र में अन्योक्ति अलंकार का लक्षण सर्वप्रथम रुद्रट ने लिखा। उन्होंने कहा है कि जहां वाच्य उपमान से असमान विशेषण होने पर भी समान रूप वाला उपमेय द्योतित होता है, वहां अन्योक्ति अलंकार है।[1] हेमचन्द्र ने कहा कि सामान्य-विशेष कार्य-कारण के प्रस्तुत होने पर विशेष और सामान्य अप्रस्तुत की तथा तुल्य प्रस्तुत होने पर तुल्य अप्रस्तुत की—शब्द द्वारा उपमेय की अभिधेयता अन्योक्ति है।[2] वाग्भट द्वितीय ने भी अन्योक्ति के लक्षण में कहा है कि उपमेय के के कथन से जब अन्य (उपमेय) का पता चल जावे, तब अन्योक्ति होती है।[3] अथवा इस कारिका के दूसरे अर्थानुसार उपमेय के कथन से उपमान का बोध होने पर अन्योक्ति होती है।

हिन्दी में आचार्य केशव ने सर्वप्रथम अन्योक्ति का लक्षण लिखा है। केशव के मतानुसार अन्योक्ति अलंकार वहां होता है, जहां अन्य की बात अन्य के प्रति कह कर प्रकट की जाती है।[4]

कुलपति तथा सोमनाथ ने अन्योक्ति को अप्रस्तुतप्रशंसा कहा है। यह बात पहले अप्रस्तुतप्रशंसा-प्रसंग में कही जा चुकी है।[5] रसरूप ने अन्योक्ति का स्पष्टतापूर्ण निम्नलिखित लक्षण दिया है—

रसरूप—औरहिं सो जो भाषिये कछु औरहिं बात।
अन्योक्ति सब ताहि सों, बरनत मति अवदात ॥[6]

इस लक्षण पर पूर्ववर्ती आचार्य केशव का प्रभाव है। आचार्य रसिक गोविन्द ने भी अन्योक्ति का लक्षण लिखा है, जो रसरूप के लक्षण के समान होते हुए भी स्वतन्त्र है—

रसिक गोविन्द—और पै डारिकै और की समुझाइये, सो अन्योक्ति[7]

---

१. असमानविशेषणमपि यत्र समान इतिवृत्तमुपमेयम्।
उक्तेन गम्यते परममुपमानेनेति सोऽन्योक्तिः ॥८-७४॥
काव्यालंकार:—रुद्रट, पृष्ठ १४४

२. सामान्य विशेषे कार्ये करण प्रस्तुते तदन्यस्य तुल्ये तुल्यस्य चोक्तिरन्योक्तिः।
काव्यानुशासनम्—हेमचन्द्र, पृष्ठ ३५८

३. उपमेयस्यैवोक्तावन्यप्रतीतिरन्योक्तिः ८-७४।
काव्यानुशासनम्—वाग्भट, पृष्ठ ३५

४. औरहि प्रति जु बखानिये कछु और की बात।
अन्य उक्ति तेहिं कहत हैं, बरनत कवि न अघात ॥१२-६॥
कविप्रिया—केशव, पृष्ठ २४२

५. (क) रसरहस्य—कुलपति, पृष्ठ ६७
(ख) रस-पीयूषनिधि—सोमनाथ, पृष्ठ १६७

६. तुलसीभूषण—रसरूप, पृष्ठ १०

७. रसिकगोविन्दआनन्दघन—रसिकगोविन्द, पृष्ठ ४८

आचार्य अमीरदास ने अप्रस्तुत-प्रशंसा अलंकार के प्रसंग में अन्य आचार्यों का पक्ष लेते हुए उसे अन्योक्ति ही माना है और उसके शुद्ध और श्लेषमूल नाम से दो भेद भी माने हैं।[१]

इस प्रकार रीतिकाल में अन्योक्ति अलंकार का लक्षण आलंकारिकों ने स्वतन्त्र मति से उद्भावित किया। छाया चाहे संस्कृत काव्य-शास्त्र की ही है।

डॉ० संसारचंद्र ने "हिन्दी-काव्य में अन्योक्ति" नामक अपने शोध-प्रबंध में अप्रस्तुतप्रशंसा एवं अन्योक्ति के एक होने की विवेचना की है, जो संस्कृत तथा रीतिकालीन अलंकार-विवेचन परम्परा का निपुण-निरीक्षण है।[२]

प्रमाण तथा रसवदादि अलंकार

प्रमाण तथा रसवदादि अलंकारों की चर्चा भी जयदेव, अप्पय्य दीक्षित के अनुकरण से रीतिकाल के दूलह, भिखारीदास, रसरूप, बैरीसाल, पद्माकर तथा कवि दास ने की है, परन्तु इनके लक्षणों की अपेक्षा संस्कृत-काव्य-शास्त्रवत् उदाहरण-दान से विषय-निर्वाह किया गया है। इसलिए लक्षण-परीक्षण का अवकाश नहीं। केशव तथा भिखारीदास ने रसवत् अलंकार का विवेचन सविस्तार किया है। संकर और संसृष्टि अलंकारों की भी यही दशा है। भूषण की संकर-संसृष्टि सम्बन्धिनी भ्रान्ति का उल्लेख एवं विवेचन पहले किया जा चुका है।

रीतिकाल के नवीन अलंकार

रीतिकाल में आचार्यों ने नवीन अलंकार भी लिखे हैं। सामयिक परिस्थितियों के अनुकूल भावाभिव्यक्तियों के लिए इनका जन्म हुआ है। इन अलंकारों का विवेचन रीतिकालीन अलंकार-परम्परा के ऐतिहासिक वर्णन में किया जा चुका है। यहां आचार्य-क्रम से उनका नाम-निर्देश ही पुनः किया जा रहा है।

केशव—गणना, आशिष (नया लक्षण) व्यधिकरणोक्ति (उक्ति-भेद) प्रेम, अमित, युक्त, सुसिद्ध, प्रसिद्ध और विपरीत।

मतिराम—(अलंकारपंचाशिकाकार) गुणवन्त (गुणवत्)।

देव—गुणवत्, लेख, संकीर्ण, प्रत्युक्ति, सिंहावलोकन (शब्दालंकार, केवल नाम ही दिया है)।

रघुनाथ—प्रेमात्युक्ति।

भिखारीदास—स्वगुण, रसनोपमा (नवीन लक्षण) देहरीदीपक, सिंहावलोकन (शब्दालंकार लक्षण-सहित)।

रसरूप—धन्यता, निर्णय, उन्मत्तोक्ति (लक्षण मात्र दिया है)।

जगतसिंह—संग्रामोद्दाम हुंकरा।

इस प्रकार रीतिकाल में आलंकारिकों ने २२ नये अलंकार लिखे हैं। नये भेदोपभेदों की चर्चा केशव, देव, भिखारीदास तथा पद्माकर ने की है। दो सौ वर्ष

१. अप्रस्तुतप्रशंसा—टीका—या को नाम अन्योक्ति भी कहत हैं,
सो द्विधा। शुद्धान्योक्ति, श्लेष मूलान्योक्ति ॥
श्रीकृष्ण-साहित्य-सिन्धु—अमीरदास, पृष्ठ १८३

२. हिन्दी-काव्य में अन्योक्ति—डॉ० संसारचंद्र, पृष्ठ ३१

की इस अल्पावधि में इतने नवीन अलंकारों का काव्य-शास्त्र में स्थान ग्रहण करना किसी भी दशा में कम महत्त्वपूर्ण नहीं।

अन्य अलंकार

प्रहेलिका, उपमेयोपमा, कारक दीपक, समाधि, अर्थापत्ति, विकस्वर प्रौढ़ोक्ति, सम्भावना, मिथ्याध्यवसित, ललित, प्रहर्षण, विषादन, अवज्ञा, मुद्रा, रत्नावली, पूर्वरूप, अनुगुण, सामान्य, उन्मीलित, पिहित, गूढ़ोक्ति, विवृतोक्ति, युक्ति, उदात्त, अत्युक्ति, निरुक्ति प्रतिषेध, विधि तथा हेतु अलंकार के लक्षणों का अनुवाद रीतिकाल के आचार्यों ने किया है। इन अलंकारों के लक्षणानुवाद में अशुद्धियां नहीं हुई हैं। भ्रांतियां भी नहीं हैं। इन अलंकारों में से कतिपय के सम्बन्ध में जो यत्किंचित् नये विचार रीतिकाल में प्रस्तुत किये गये हैं, उनका विवेचन अपेक्षित है।

उपमेयोपमा

इस अलंकार के पर्यायोपमा तथा उपमानोपमेय नाम ग्वाल ने कहे हैं। तीसरा नाम परस्परोपमा भी रीतिकाल में प्रसिद्ध रहा। परस्परोपमा नाम लिखने वालों में रामसिंह, सेवादास, रसिक गोविन्द तथा पद्माकर आचार्य प्रसिद्ध हैं। अलंकार के लक्षण में अशुद्धि या अस्पष्टता नहीं। नामकरण ही नए हुए हैं।

अर्थापत्ति

इस अलंकार के लक्षण में 'दण्डापूपिकान्याय' पद का प्रयोग किसी आचार्य ने नहीं किया। रघुनाथ कवि तथा उनके पुत्र गोकुल ने केवल कैमुत (कैमुत्यन्याय) पद का प्रयोग किया है।[1] प्रायः आचार्यों ने लक्षण की पहली पंक्ति में इन 'न्याय' वाची पदों का अनुवाद करके दूसरी पंक्ति में लक्षण पूरा कर दिया है। उदाहरणार्थ चिन्तामणि का लक्षण द्रष्टव्य है—

चिन्तामणि—एक वस्तु के भए तें और भई जो होइ।
ता को कहिए यह कहा—अर्थापत्ति सुभोइ॥[2]

गूढ़ोक्ति-विवृतोक्ति

इन दोनों अलंकारों के लक्षणानुवाद में अस्पष्टता नहीं। परन्तु गिरिधरदास ने गूढ़ोक्ति के श्लेष-युक्त तथा श्लेष-मुक्त तथा विवृतोक्ति के शब्दशक्ति-युक्त एवं अर्थ-शक्ति-युक्त ये दो भेद किए हैं।[3] इन चारों भेदों के लक्षण नहीं दिये, केवल उदाहरण दिये हैं।

---

१. (क) रसिक मोहन—रघुनाथ, पृष्ठ ५४
(ख) चेतचन्द्रिका—गोकुल, पृष्ठ ११४

२. कविकुलकल्पतरु—चिन्तामणि, पृष्ठ ८५

३. (क) गूढोक्ति के भेद दोय भाँति दरसाहिं।
कहूं श्लेष जुत देखिये, कहूँ श्लेष जुत नाहिं॥३१८॥
(ख) लच्छ माँहि विवृतोक्ति के गुप्त अर्थ विधि दोय।
शब्द शक्ति सों होय कहूं अर्थ शक्ति सों होय ३२२॥
भारतीभूषण—गिरिधरदास, पृष्ठ ३०-३१

इस विवेचन से स्पष्ट है कि रीतिकाल के आलंकारिकों ने जहां शब्दानुवाद तथा भावानुवाद किये, वहां स्वतन्त्र चिन्तन से लक्षणों में परिवर्तन-परिष्कार भी किया। निजी दृष्टि से लक्षण लिखे और नवीन अलंकारों की उद्भावनाएं भी कीं, जिससे काव्य-शास्त्र में रीतिकाल का प्रभूत मात्रा में देय प्रमाणित हो जाता है।

अलंकार के उदाहरणों का औचित्य-पक्ष

रीतिकाल के आलंकारिकों ने तीन प्रकार से अलंकारों के उदाहरण दिये। प्रथम वर्ग में वे उदाहरण, जिन्हें संस्कृत-काव्यशास्त्र से हिन्दी में अनूदित किया गया तथा यदा-कदा स्वतन्त्र रूप से स्वरचित पद्य भी प्रस्तुत किये गये। दूसरे वर्ग में आचार्यों ने उदाहरणों में अपना काव्य प्रस्तुत किया और उनमें अलंकारों का समन्वय किया तीसरे वर्ग के आचार्यों ने अन्य कवियों के उदाहरण देकर अलंकारों का विवेचन किया है।

इन सभी ने उदाहरण की परम्परा लक्षणानुकूल रखने की चेष्टा की है परन्तु रुचिवैचित्र्य तथा विवेचन-परीक्षण के आधार पर उदाहरणों के औचित्य-अनौचित्य का प्रश्न उत्पन्न होता है संस्कृत-काव्यशास्त्र में एक भी स्थान पर एक आचार्य द्वारा स्वीकृत अलंकार दूसरों द्वारा अस्वीकृत या अशुद्ध सिद्ध किया जाता रहा। इस सम्बन्ध में गम्भीर-विवेचन स्वस्वतर्क-तुला के आधार पर हुआ।

रीतिकाल के दो सौ वर्षों के अल्प काल में दूसरे आचार्यों द्वारा दिये अलंकार-उदाहरणों का विवेचन-परीक्षण नहीं हुआ। आचार्य अमीरदास ने 'श्रीकृष्णसाहित्य-सिन्धु' में संस्कृत-काव्य-शास्त्रीय पद्धति अपनायी, परन्तु तब रीतिकाल की अवधि परिसमाप्ति का छोर छू चुकी थी। इसलिये यह पद्धति आगे न बढ़ी।

दो सौ वर्षों में आचार्य ग्रन्थ-निर्माण में लगे रहे और वह भी विभिन्न प्रदेशों एवं विभिन्न राजाश्रयों में या स्वतन्त्र। राजाश्रित आलंकारिकों ने अपने आश्रयदाताओं के चरित्र की प्रशंसा, जीवन, दान तथा मान की चर्चा की पदावलियों में विभिन्न अलंकारों का समन्वय किया, इस कारण उदाहरण एक परिधि में बंध गये। उनमें दृष्टि की एकांगिता के कारण उदाहरण-विविधता नहीं आई। एक ही अलंकार के लिये विभिन्न जीवन-क्षेत्रों के उदाहरण वहां अधिक संख्या में बने ही नहीं। विभिन्न जीवन-पक्षों के उदाहरण उन आलंकारिकों ने दिये, जिन्होंने अन्य कवियों के काव्य का आश्रय लिया, या जिन्होंने स्वतन्त्रता से तद्हेतु स्वयं उदाहरण बनाये हैं।

इन उदाहरणों में अनूदित संस्कृत-पद्यों के भी दो रूप सामने आते हैं। किसी ने स्वेच्छा से शब्द, भाव या छायानूदित पद्य दिये और किसी ने अविकल रूप से लक्षणोदाहरण अनूदित किये हैं।

आचार्य केशवदास के विभावना, हेतु, विरोध, सूक्ष्म, लेश, निदर्शना, समाहित तथा दीपक (मणिदीपक का उदाहरण दण्डीकृत पादगत जाति दीपक के उदाहरण से छायागृहीत है)[१] जैसे अलंकारों के उदाहरण आचार्य दण्डी के उदाहरणों के भावों से समन्वित हैं, उन्हें अनूदित नहीं कहा जा सकता। एक उदाहरण-निदर्शन ही पर्याप्त है—

१. कविप्रिया—केशव, पृष्ठ १५०,१५४, १५५, २१४, २२६, २१७, २५६, २६५

दण्डी (विभावना)—अनंजिताऽसिता दृष्टिर्भ्रूरनावर्जितानता ।
अरंजितोऽरुणश्चायमधरस्तव सुन्दरि ॥२-२०॥[1]

अर्थात् हे सुन्दरि ! तेरी आंखें अंजन से अंजित न रहने पर भी श्याम हैं । भौहें न सिकोड़ने पर भी टेढ़ी हैं और अधर न रंगने पर भी लाल हैं ।

केशव (विभावना)—भृकुटी कुटिल जैसी तैसी न करे हू होंहि ।
आंजी ऐसी आंखें केसोराय हेरि हारे हैं ।
काहे के सिंगार कै बिगारती है मेरी आली ।
तेरे अंग बिना ही सिंगार के सिंगारे हैं ॥६-१२॥[2]

आचार्य केशवदास ने कहीं-कहीं भूल भी की है । क्रम (यथासंख्या) अलंकार के लिए वह उदाहरण दिया है, जिस में अन्य आचार्यों के मत से एकावली अलंकार होता है । उदाहरण इस प्रकार है—

केशव—सोभित सो न सभा जहं वृद्ध न, वृद्ध न ते जु पढ़े कछु नाहीं ।
ते न पढ़े जिन साधु न साधित दीह दया दिपै जिय माँहीं ॥
सो न दया जु न धर्म धरै धर, धर्म न सो जहं दान वृथाहीं ।
दान न सो जहं सांच न केशव, सांच न सो जु बसै छल छांहीं।११-३।[3]

स्पष्टत: केशव को एकावली और क्रम में अन्तर ज्ञात नहीं रहा, इसलिए उदाहरण भी एकावली का दे दिया है, जोकि क्रमालंकार के लिये अशुद्ध है। विपरीतालंकार केशव ने नया माना है । उसका दूसरा उदाहरण विचारणीय है—

केशव—साथ न सहाय कोऊ, हाथ न हथ्यार, रघु—
नाथ जू के यज्ञ को तुरंग गहि राख्यो ई ।
काछन कछोटी सिर छोटे छोटे काक पक्ष ।
पांच ही बरस के सु युद्ध अभिलाख्यो ई ।
नील नल अंगद सहित जामवंत हनु—
मंत से अनंत जिन नीरनिधि नाख्यो ई ।
केशोदास दीप दीप भूपति ज्यों रघुकुल,
कुश लव जीति कै विजय रस चाख्यो ई ॥१३-११॥[4]

इस उदाहरण में कहा गया है कि कुश-लव को, पुत्र होने के कारण, राम के कार्य का साधक होना चाहिए था, परन्तु वे बाधक हुए । विचारणीय तथ्य यह है कि जिस स्थिति का वर्णन केशवदास ने किया है, तब क्या कुश-लव को पता था कि श्री रामचन्द्र उनके पिता हैं । जब पता नहीं, तब तो वे किसी राजा को पराजित करने की धुन में डट गए और घोड़ा बांध लिया, विजय-रस चख लिया । विपरीतालंकार तो वहां सिद्ध होता हैं, जहां साधक होने वाले पदार्थों या व्यक्तियों का ठीक-

१. काव्यादर्शः—दण्डी, पृष्ठ १०२
२. कविप्रिया—केशव, पृष्ठ १५१
३. कविप्रिया—केशव, पृष्ठ १८३
४. कविप्रिया—केशव, पृष्ठ २६०

ठीक स्थिति का पता हो और तब वे बाधक हो जाएं। इसलिये यह उदाहरण असंगत है। इसी प्रकार भूषणोपमा, श्लेषोपमा के उदाहरण भी संगत नहीं हैं। विपरीतोपमा के उदाहरण में उपमालंकार का अस्तित्व ही नहीं बनता है।[1]

आचार्य चिन्तामणि ने भी मम्मट प्रदत्त कई उदाहरण छायागृहीत रूप में अनूदित किए हैं। असंगति, विषम, अधिक, विशेष, सामान्य तथा अतद्गुण के उदाहरण दर्शनीय हैं। इनमें से एक अनूदित उदाहरण यहां प्रस्तुत है—

(क) मम्मट-अतद्गुण—गांगमम्बु सितमम्बु यामुनं कज्जलाभमुभयत्रमज्जतः।
राजहंस ! तव सैव शुभ्रता चीयते न च न चापचीयते ॥१०-५६५॥

(ख) चिन्तामणि—अतद्गुण—गंगाजल उज्जल जमुनजल छवि अंत समेत।
दूहूं मध्य मज्जन करत हंस सेत को सेत ॥१३५॥[2]

हिन्दी-साहित्य के समालोचकों में 'भाषाभूषण' नामक ग्रंथ की चर्चा इस कारण अधिक है कि उसके लक्षणोदाहरण 'कुवलयानंद' के क्रम से अनूदित हैं, चाहे उनमें कहीं-कहीं स्वतन्त्र उदाहरण भी दिये हैं तथा कई उदाहरण 'काव्यप्रकाश', 'साहित्य-दर्पण' जैसे ग्रन्थों से भी अनूदित हैं। उदाहरणतः पूर्णोपमा का उदाहरण 'साहित्य-दर्पण' में दिये इस पद से छायागृहीत है—

(क) विश्वनाथ—मधुरः सुधावदधरः पल्लवतुल्योऽतिपेलवः पाणिः।
चकितमृगलोचनाभ्यां सदृशी चपले च लोचने तस्याः॥

(ख) जसवन्तसिंह—ससि सो उज्जल तिय वदन, पल्लव से मृदुपानि ॥[3]

लुप्तोपमा के उदाहरण में भाषानुवाद में 'भाषाभूषण' का यह पद्यांश 'कुवलयानंद' से अनूदित है।

(क) जसवंतसिंह—बिजुरी सी पंकजमुखी, कनकलता तिय लेखि।

(ख) अप्पय्य दीक्षित—तडिद्गौरी।[4]

इनके अतिरिक्त भाषाभूषण के अनन्वय, उपमानोपमेय, स्मरण, शुद्ध अपह्नुति, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, व्यतिरेक, विनोक्ति (प्रथम भेद) परिकरांकुर, प्रथम पर्यायोक्ति, व्याजनिन्दा, विरोधाभास, विभावना (तीसरी, चौथी, छठी), विषम (दूसरा), विशेष (दूसरा) विकस्वर, मिथ्याध्यवसित, विषाद, अनुगुण, गूढ़ोक्ति, विवृतोक्ति, युक्ति, छेकोक्ति, वक्रोक्ति, स्वभावोक्ति, भाविक, उदात्त, निरुक्ति और प्रतिषेध अलंकारों के उदाहरण कुवलयानंद से अनूदित नहीं हैं। परन्तु

१. कविप्रिया—केशव, पृष्ठ २८०, २८७
२. (क) काव्यप्रकाशः—मम्मट, पृष्ठ ५५२
(ख) कविकुलकल्पतरु—चिन्तामणि, पृष्ठ ६०
३. (क) साहित्यदर्पणः—विश्वनाथ, पृष्ठ २६४
(ख) भाषाभूषण—जसवंतसिंह, पृष्ठ १७
४. (क) भाषाभूषण—जसवंतसिंह, पृष्ठ १८
(ख) कुवलयानंदः—अप्पय्य दीक्षित, पृष्ठ ५

चंदनकृत 'काव्याभरण' में श्लेष, परिवृत्ति (दूसरी) तथा काव्यार्थापत्ति का दूसरा उदाहरण छोड़कर शेष सभी 'कुवलयानंद' के उदाहरणों के अनुवाद हैं। कवि चन्दन ने सहोक्ति अलंकार का उदाहरण अशुद्ध अनूदित किया है। कुवलयानन्द के उदाहरण के 'प्रतिथिभिः', पद का अनुवाद 'शत्रु' न कर के 'याचक' कर दिया है। अलंकार के समन्वय में चमत्कार नहीं रहा। अनूदित तथा मूल उदाहरण इस प्रकार हैं—

(क) चंदन—जनरंजन सह भाव जहं, तहं सहोक्ति यह जान।
कीरति जाचक साथ ही, गई दिगन्त प्रमान ॥७२॥

(ख) कुवलयानंद—सहोक्तिः सह भावश्चेद्भासते जनरंजनः।
दिगन्तमगमत्तस्य कीर्तिः प्रत्यर्थिभिः सह ॥५८॥[1]

इस प्रकार अनूदित उदाहरण-परम्परा में रसिक सुमति, गोविन्द, भिखारी-दास, फतेप्रकाश के लेखक रत्नेश, वाणीभूषणकार उमेदराय तथा पद्माकर के नाम भी उल्लेखनीय हैं। उमेदराय-कृत परिणामालंकार का तथा पद्माकर द्वारा दिया गया अपह्नुति का उदाहरण द्रष्टव्य है।

(क) अप्पय्य दीक्षित—प्रसन्नेन दृगब्जेन वदीक्षते मदिरेक्षणा ॥२१॥
(ख) उमेदराय—दृक् कमल विसालन तैं सुचारु।
देखहु देखत कामनि उदारु ॥
(ग) अप्पय्य दीक्षित—नायं सुधांशुः। किं तर्हि। व्योमगंगासरोरुहम्
(घ) पद्माकर—यह न ससि। तो है कहा? नभगंगा जलजात ॥[2]

उदाहरणों में दूसरा वर्ग स्वनिर्मित पद्यों को देने वालों का है। इस क्षेत्र में असंख्य उदाहरण आये, और लगता यह है कि अलंकार विशेष को दृष्टि में रखकर ही उदाहरण लिखे गए हैं। इससे काव्य में उक्तियों की विविधता आयी। लक्षणों में रीति-युग की विभिन्न सामाजिक, धार्मिक,विलासात्मक, पारिवारिक, राजनैतिक, सामरिक, तथा प्रशासनिक परिस्थितियों का चित्रण हुआ है। इन उदाहरणों में रीतिकाल के जीवन के विविध चित्र अंकित हुए हैं, तद्विषयक विवेचन इस शास्त्रीय विषय की परिधि से बाहर है। शास्त्रीय दृष्टि से इन उदाहरणों की संगति-असंगति का विवेचन करना यहां अपेक्षित है। जैसा कि केशव के दो उदाहरणों में दिखाया गया है।

भूषण कवि के उदाहरणों में अनेक असंगतियां मिलती हैं भ्रमालंकार के उदाहरण में शत्रु पत्नियां अपने बहादुर पतियों से युद्ध में न जाने के लिए कहती हैं, क्योंकि उन्हें उनकी सुरक्षा में भ्रम हो रहा है। परन्तु भ्रमालंकार वहां ही होता है, जहां वर्णन चमत्कार-युक्त हो तथा भ्रान्ति का स्वरूप स्पष्ट दृश्यमान हो। कल्पना

१. (क) काव्याभरण—चंदन, पृष्ठ १२
(ख) कुवलयानंदः—अप्पय्य दीक्षित, पृष्ठ ८८
२. (क) कुवलयानंदः—अप्पय्य दीक्षित, पृष्ठ २२
(ख) वाणीभूषण—उमेदराय, पृष्ठ ६८
(ग) कुवलयानन्दः—अप्पय्य दीक्षित, पृष्ठ २८
(घ) पद्माभरण—पद्माकर, पृष्ठ ४५

के लिए भ्रमालंकार में स्थान नहीं होता, इसलिये भूषण का भ्रमालंकार का उदाहरण संगत नहीं है उदाहरण निम्नलिखित है—

पीय पहारन पास न जाहु, यों तीय बहादुर सों कहै सोषै ।
कौन बचै हैं नवाब तुम्हें भनि भूषन भौंसिला भूप के रोषै ।।
बन्दि सइस्तखंहू को कियो जसवंत से भाउ करन्न से दोषै ।
सिंह सिवा के सुबीरन सों गो अमीर न बाचि गुनीजन घोषै ।।७७।।[1]

इसी प्रकार प्रत्यनीक का दूसरा उदाहरण भी असंगत है ।[2] इसमें शिवाजी ने दिल्ली पर चढ़ाई करने की अपेक्षा दिल्ली-पक्षपाती राजाओं पर चढ़ाई कर दी है, परन्तु इससे शिवाजी की प्रशंसा नहीं व्यक्त होती । इसलिए प्रत्यनीक नहीं बनता ।

कवि दूलह ने एक कवित्त में लक्षण और उदाहरण कहने की चेष्टा में कई उदाहरण अस्पष्ट कर दिये हैं । कहीं-कहीं उदाहरणों की व्यर्थ की भरती भी देखी जा सकती है । अनुक्त विषया हेतूत्प्रेक्षा के उदाहरण में दो बार सुधाधर शब्द किसी अन्य अलंकार की भ्रांति का जनक भी हो सकता है—

सुधाधर मुखी जो सुधाधर उदित भयो ।
मेरे जान करत है बसुधा सुधामई ।।१८।।[3]

इसी प्रकार हेतूत्प्रेक्षा (सिद्धविषया) छेकापह्नुति, पर्यस्तापह्नुति, प्रतीप, (प्रथम तथा पंचम) अक्रमातिशयोक्ति, अत्यन्तातिशयोक्ति तथा गूढोक्ति के उदाहरणों में विविध दोष हैं, जिनके कारण उन्हें संगत उदाहरण नहीं माना जा सकता है ।

ऐसा संस्कृत-काव्य-शास्त्र में माना जाता है कि तीसरे व्यतिरेक में उपमान और उपमेय में समानता दिखाकर किसी गुणादिक के कारण भेद बताया जाता है, रीति काल के आचार्यों ने इसे सम व्यतिरेक कहा, बहुतों ने उदाहरण ठीक दिए हैं, परन्तु पद्माकर ने अपने उदाहरण में कहीं भी भेद नहीं दिखाया है ।

पद्माकर—(व्यतिरेक) रस-अनुराग-भरे दुहूं, दुहूं प्रफुल्लित दरसात ।
सब ही को नीके लगत, लोचन अरु जलजात ।।९५।।[4]

इस उदाहरण में व्यतिरेक (तृतीय भेद) अलंकार नहीं संगत होता, तृतीय क्या ? व्यतिरेकालंकार ही इस पद में नहीं बनता । क्योंकि व्यतिरेक में किसी न किसी भांति भेद दर्शाया ही जाता है । पद्माकर के इस उदाहरण पर दण्डी के इस उदाहरण की छाया है ।

दण्डी—त्वन्मुखं पुण्डरीकं च फुल्ले सुरभि-गन्धिनी ।
भ्रमद् भ्रमरमम्भोजं लोलनेत्रं मुखं तु ते ।।२-१९२।।[5]

---

१. शिव (राज) भूषण—भूषण, पृष्ठ ४४
२. शिव (राज) भूषण—भूषण, पृष्ठ १५२
३. कविकुलकण्ठाभरण—दूलह, पृष्ठ २५
४. पद्माभरण—पद्माकर, पृष्ठ ५०
५. काव्यादर्शः—दण्डी, पृष्ठ १००

अर्थात् तेरा मुख और कमल दोनों प्रफुल्लित तथा सुरभि-युक्त हैं। कमल पर तो भौंरे मण्डरा रहे हैं और तेरा मुख चंचल नेत्रों वाला है, परन्तु अपने उदाहरण में पद्माकर ने लोचन और जलजात की समानता बांध ली है। दण्डी के समान भेद की बात नहीं बतलाई। दण्डी ने भ्रमरों तथा चंचल नेत्रों से कमल और मुख का भेद व्यक्त कर दिया है। सादृश्य प्रयोग का एक उदाहरण दण्डी ने और दिया हुआ है, जिस में भी भेद की प्रतीत होती है।[1]

पद्माकर का अनेक अवर्ण्य श्लेष का उदाहरण भी असंगत है। इसमें कामिनी और कविता दोनों वर्ण्य बन गयी हैं—

पद्माकर (अनेक-अवर्ण्य-श्लेष)—सगुन सभूषन सुभ सरस सुबरन सुपद सराग।
इमि कविता अरु कामिनी लहै जु सो बडभाग[2]॥

अप्रस्तुत-प्रशंसा के सामान्य-निबन्धना के भेद का उदाहरण स्पष्टतः निदर्शना का ही माना जाना चाहिये।

पद्माकर (सामान्य निबन्धना)—बड़े प्रबल सों बैर करि, करत न सोच विचार।
ते सोवत बारूद पर, पट में बांधि अंगार ॥११५॥[3]

इस प्रकार आलंकारिकों के कई उदाहरणों में असमर्थता, असंगति आदि दोष दिखाये जा सकते हैं, परन्तु विस्तारभिया इतना ही उपयुक्त है।

अलंकार चमत्कार-हेतु हैं, इसी कारण उदाहरणों में उनकी संगति होती है और काव्य-रसिक उन्हें पढ़ कर चमत्कार पाता है। उदाहरणों में लालित्य तथा संगति होना अनिवार्य है। पहला तत्त्व काव्य की रीढ़ से सम्बद्ध है, दूसरा अलंकार की सत्ता से। इसी कारण उदाहरणों का सौन्दर्य ग्राह्य होता है। सुन्दर उदाहरणों के रूप में नीचे कुछ पद दिए जाते हैं।

केशव (सुसिद्धालंकार)—सरघा संचि संचि मरै, शहरी मधुपान करत मुख।
खनि खनि मरत गंवार कूप, जल पथिक पियत सुख॥
बागवान बहि मरत फूल बांधत उदार नर।
पचि पचि मरत सुआर भूप भोजननि करत वर॥
भूषण सुनार गढ़ि गढ़ि मरै भामिनि भूषित करत तन।
कहि केशव लेखक लिखि, मरहिं पंडित पढ़ै पुरान गन॥[4]

---

१. चन्द्रोऽयमम्बरोत्तंसो हंसोऽयं तोयभूषणम्।
नभो नक्षत्रमालीदमुत्फुल्लकुमुदं पयः ॥२-१६४॥
काव्यादर्शः—दण्डी, पृष्ठ १००

(यह चन्द्र आकाश का भूषण है और यह हंस जल का भूषण है। यह आकाश तारकों की माला वाला और यह जल खिले कुमुदों वाला है—इस उदाहरण में शुद्धता तथा पदार्थता से भिन्नता प्रदर्शित है)

२. पद्माभरण—पद्माकर, पृष्ठ ५१
३. पद्माभरण—पद्माकर, पृष्ठ ५८
४. कविप्रिया—केशव, पृष्ठ २५८

युग-जीवन के यथार्थ वर्णन से युक्त यह उदाहरण कितना सुन्दर है।

'भाषा-भूषण' में जसवंतसिंह ने जो स्वतन्त्र मति से स्वरचित उदाहरण दिये हैं, उनमें से दो पठनीय हैं—

(क) जसवंतसिंह (विषादालंकार)—सो विषाद चित-चाह तें, उलटी कछु ह्वै जाय।
नींवी परसत सुन परी, चरनाऽध धुनि आय ॥१६२

(ख) चित्रालंकार—चित्र, प्रश्न उत्तर दुहुं, एक वचन में सोय।
मुग्धा तिय की केलि-रुचि, गेह कोन में होय ॥१७६॥[1]

दोनों उदाहरण सुरत।स्थिति के परिबोधक हैं।

गोप का चपलातिशयोक्ति का उदाहरण भी अत्यन्त रमणीक है, जैसे—

गोप (चपलातिशयोक्ति)—एक समै बैठी हुति सीता सहित वियोग।
राम मिलन सुनि के भये, कंकन अंगुरिन जोग ॥६४॥[2]

सीता के कंकन का राम से मिलने की बात सुनते ही अंगुली में आने योग्य बन जाना कितनी प्रसन्नता एवं उत्सुकता से भरा है और चपलातिशयोक्त की चपलता तो चरमोत्कर्ष दर्शिनी है ही।

गोविन्द कवि ने विरोधाभासालंकार का उदाहरण अपने युग में ली जाने वाली बेगार प्रथा का चित्रण करते हुए कितना हृदयस्पर्शी दिया है—

गोविन्द (विरोधाभास)—बेगारी कै ल्यावने गारी देत जरूर।
तबै अभागै फिरत ये भागे भागे कूर ॥१४४॥[3]

बैरीसाल का उक्तविषयां-वस्तूत्प्रेक्षा का उदाहरण कितना चमत्कृत करता है।

बैरीसाल (उक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा) लसति रोमावली कुचन विच, नीले पट की छांह।
जनु सरिता जुग चक्र विच, निस अंधियारी मांह।[4]

अर्थात् नीले पट की छांह में कुचमध्यवर्तिनी रोमावली मानो उस नदी की भांति है, जो अंधियारी रात में दो चक्रों से होकर जा रही हो। विशेषोक्ति अलंकार का उदाहरण भी कितना अनूठा है—

बैरीसाल (विशेषोक्ति)—बरषत रहत अछेह वै, नैन वारि की धार।
नेकहु मिटत नहै तऊ, तुव विछोह की झार ॥१६४॥[5]

नयनों से वर्षा की धार (आंसुओं की धार) बरसने पर भी हृदय में लगी वियोगाग्नि नहीं बुझती, कितनी मार्मिक विरहयोजना करने वाला विशेषोक्ति

१. (क) भाषाभूषण—जसवंतसिंह, पृष्ठ ८५
(ख) भाषाभूषण जसवन्तसिंह, पृष्ठ ९३
२. रामचन्द्राभरण—गोप, पृष्ठ ८
३. कर्णाभरण—गोविन्द, पृष्ठ ११
४. भाषाभरण—बैरीसाल, पृष्ठ ७
५. भाषाभरण—बैरीसाल, पृष्ठ १५

अलंकार है।

कवि रामसिंह का 'अलंकारदर्पण' में दिया गया काव्यलिंग अलंकार का उदाहरण अत्यधिक चमत्कार-जनक है। नयन अनियारे हैं, उनमें काजल लग जाने से नायक का वश में हो जाना कितना समर्थित है—यह पठनीय है।

रामसिंह (काव्यलिंग)—अनियारे ही हैं बहुरि, काजर लागी दैंन।
नायक मन बस करन को, लायक तेरे नैंन ॥७१॥[1]

गोकुल कवि ने 'चेतचन्द्रिका' में क्रमालंकार का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए पूर्ववर्तियों के उदाहरणों को मात दे दी है।

गोकुल (क्रम)—कच कुच चख चित बोल, चतुर कहे तरुनीन के।
कुटिल कठिन अति लोल नीति निठुर गरबन भरे ॥४२॥[2]

इस प्रकार के संगत उदाहरणों की संख्या भी कम नहीं है। संगति-असंगति का प्रश्न रुचि-वैचित्र्य तथा तर्क निकष से सम्बद्ध है। इसलिए यहां कतिपय सर्वथा असंगत तथा कतिपय तर्क-संगत उदाहरणों को देकर सन्तोष कर लिया गया है।

रीतिकालीन आलंकारिकों के अलंकार-लक्षणों एवं उदाहरणों के अध्ययन से यह निष्कर्ष सहज ही निकल आता है कि जिन आलंकारिकों ने पूर्ववर्ती काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों का जितना गहरा अध्ययन एवं मनन किया, उन्हें अलंकार-लक्षण निर्माण, नवीन अलंकारोद्भावन तथा उदाहरण समन्वय में उतनी ही संगत सफलता प्राप्त हुई। इस तरह रीतिकाल केवल अनुवादकों का युग नहीं, अपितु भाषा-काव्यशास्त्र की आवश्यकतापूर्त्ति का महान् काल रहा है।

१. अलंकारदर्पण—रामसिंह, पृष्ठ २५
२ चेतचन्द्रिका—गोकुल, पृष्ठ १०७

: ७ :

अलंकार-वर्गीकरण

रीतिकालीन अलंकार-वर्गीकरण का अध्ययन संस्कृत-काव्यशास्त्र के अलंकार-वर्गीकरण को पृष्ठभूमि में रखने के उपरान्त ही सम्भव है। यह सत्य है कि इस क्षेत्र में हिन्दी के आलंकारिकों का भी अपना बहुत कुछ मौलिक योगदान है, परन्तु वह संस्कृत के विकासक्रम का उत्तर भाग ही है।

अलंकार-वर्गीकरण का आरम्भ

मनुष्य का मस्तिष्क विवेचनशील है। विवेचन ने विज्ञान को जन्म दिया है। वैज्ञानिकता अनेक वस्तुओं के समाधार को ढूंढकर उनके स्वरूप का सही रूप प्रस्तुत करने में सहायता करती है। अलंकारशास्त्रियों ने भी अलंकारों का वैज्ञानिक विवेचन करने के लिए अपने समक्ष प्रस्तुत अनेक अलंकारों का मूलाधार ढूंढना चाहा। मूलाधार ढूंढने का यत्न ही अलंकार-वर्गीकरण का जन्मदाता है।

आचार्य भरत ने अलंकार-वर्गीकरण के सम्बन्ध में कोई मत नहीं दिया है। 'शब्दाभ्यासस्तु यमकम्'[1] से यमक के शब्दालंकार होने की धारणा का केवल अनुमान मात्र ही किया जा सकता है। वस्तुतः भामह ही प्रथम आचार्य हैं, जिन्होंने अलंकारों के वर्गीकरण की दिशा में प्रथम प्रयत्न किया।

आचार्य भामह ने अपना आरम्भिक वर्गीकरण शब्दालंकार और अर्थालंकार के रूप में दिया है। अलंकारों की संसृष्टि की बात भी उन्होंने कही, परन्तु उभयालंकार-वर्ग का निर्देश उन्होंने स्पष्टतया नहीं किया। वस्तुतः शब्दालंकार और अर्थालंकार ही अलंकार-वर्गीकरण का प्राथमिक आधारभूत रूप है। यह एक महत्त्वपूर्ण वर्गीकरण है, परन्तु सीधा और सरल होने पर भी विद्वानों की परम्परा में यह बहुत ही विवादग्रस्त रहा है। अनेक अलंकार ऐसे हैं, जिनके शब्दालंकार या अर्थालंकार होने के सम्बन्ध में विवाद बना रहा है। उभयालंकार या शब्दार्थालंकार की मान्यता भी विद्वानों की अपने अपने प्रकार की रही है। आवश्यक है कि सर्वप्रथम इसी आधारभूत वर्गीकरण के नाम, स्वरूप और परम्परा का विवेचन किया जाए।

शब्दालंकार एवं अर्थालंकार का व्युत्पत्त्यर्थ

शब्दालंकार और अर्थालंकार के व्युत्पत्त्यर्थ के सम्बन्ध में आचार्य भोज ने लिखा है कि जो अलंकार शब्द का अलंकरण करता है, वह शब्दालंकार है, जैसे जाति

१. नाट्यशास्त्रम्—भरत, पृष्ठ २६२

आदि। जो अर्थ का अलंकरण करता है वह विद्वानों द्वारा अर्थालंकार कहा जाता है, जैसे जाति (स्वभावोक्ति) आदि।[1]

आचार्य मम्मट ने अन्वय-व्यतिरेक का सिद्धान्त ही इनका नियामक माना है। शब्दालंकार में शब्द-विशेष से अन्वय-व्यतिरेक सम्बन्ध रहता है और अर्थालंकार में शब्द परिवर्तित हो जाने पर भी अर्थ-विशेष से अन्वय-व्यतिरेक सम्बन्ध बना रहता है। जो अलंकार शब्दार्थ में जिसके आश्रित रहता है, वह उसी का अलंकार होता है।[2]

उभयालंकार

शब्दालंकार एवं अर्थालंकार अपने व्युत्पत्त्यर्थ और अन्वय-व्यतिरेक की प्रणाली से प्रायः स्पष्ट ही हैं, परन्तु उभयालंकार के इस नाम और स्वरूप के सम्बन्ध में मतभेद अधिक है। अतः उभयालंकार का स्वरूप-विवेचन अपेक्षित है।

उभयालंकार का व्युत्पत्त्यर्थ आचार्य भोज ने ही स्पष्ट रूप से लिखा है। वे कहते हैं—शब्दों एवं अर्थों से प्रतीत होने वाले उपमादि अलंकार ही कवियों के विशिष्टार्थवाची उभयालंकार हैं।[3] इस में शब्द और अर्थ दोनों के अन्वय-व्यतिरेक सम्बन्ध का अनुकरण भी पूर्णतया होता है।

'उभय' शब्द द्विसंख्यावाची है। इससे यह सिद्धान्त माना जा सकता है कि जहां दो अलंकार मिलें, वहां उभयालंकार होता है, चाहे वे दोनों शब्दालंकार हों या दोनों अर्थालंकार या एक अर्थालंकार और दूसरा शब्दालंकार। दो से अधिक भी किसी पद में आ सकते हैं। दो तो न्यूनतम सीमा का स्पर्शक है। आचार्य विश्वनाथ-प्रसाद मिश्र ने भी इसी व्युत्पत्ति को उचित माना है।[4]

संकर तथा संसृष्टि भी उभयालंकार ही हैं। उनमें यह शर्त नहीं लगाई जा सकती कि उभयालंकार केवल वहां ही होता है जहां शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनों रहें। संकर में अलंकार नीर-क्षीरवत् और संसृष्टि में तिलतण्डुल की भांति मिश्रित रहते हैं। इसीलिए इनका दूसरा नाम मिश्रालंकार है। इन्हें शब्दार्थालंकार भी कहा गया है, जो एक यौगिक शब्द है।[5] उभयालंकारों का विस्तृत विवेचन आचार्य भोज ने किया है। अग्निपुराण में भी इनकी चर्चा है। भोज के वर्गीकरण-प्रसंग में उनका मत द्रष्टव्य है। आचार्य अप्पय्य दीक्षित ने संसृष्टि तथा संकर को 'नरसिंह न्याय' का रूप दिया है।[6]

---

१. सरस्वतीकण्ठाभरणम्—भोज, पृष्ठ १४०, ४३८
२. काव्यप्रकाशः—मम्मट, पृष्ठ ५६५
३. शब्देभ्यो यः पदार्थेभ्य उपमादि प्रतीयते।
विशिष्टोऽर्थः कवीनां सा उभयालंक्रिया मता ॥४-१॥
सरस्वतीकण्ठाभरणम्—भोज, पृष्ठ ३६७
४. वाङ्मय-विमर्श—आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृष्ठ ६०
५. साहित्य-दर्पणः—विश्वनाथ, पृष्ठ ३६८-३७०
६. अथैतेषामलंकाराणाम् यथासम्भवं क्वचिन्मेलने लौकिकालंकाराणां मेलन इव चारुत्वातिशयोपलम्भान्नरसिंहन्यायेन पृथगलंकारावस्थितौ तन्निर्णयः क्रियते।
कुवलयानन्दः—अप्पय्य दीक्षित, पृष्ठ २८५

रीतिकाल के आचार्यों की सामान्य धारणा शब्द और अर्थालंकारों के मिश्रित रूप को ही उभयालंकार मानने की रही है। बैरीसाल और पद्माकर जैसे आचार्यों ने उभयालंकार का लक्षण संक्षिप्त और सरल रूप से दिया है, जिससे उक्त मत की ही पुष्टि होती है।[1]

वर्तमान युग के समालोचकों ने उभयालंकार के सम्बन्ध में भी यत्र तत्र विवेचन किया है। डॉ० रामशंकर शुक्ल 'रसाल' ने इस सम्बन्ध में अपेक्षाकृत विस्तार से लिखा है। उनका मत अनेक दृष्टियों से समालोच्य है।

डॉ० 'रसाल' का उभयालंकार सम्बन्धी विवेचन

डॉ० 'रसाल' ने सर्वप्रथम उभयालंकार और मिश्रालंकार दोनों को पृथक्-पृथक् माना है और दोनों के अलग-अलग स्वरूप निर्धारित किये हैं।

उभयालंकार

१. उभयालंकार अंशतः शब्दालंकार और अंशतः अर्थालंकार है।

२. दो पृथक् कक्षाओं के अलंकारों का संयोग है।

३. एक अंश प्रधान, दूसरा इसमें गौण रहता है।[2]

मिश्रालंकार

१. मिश्रालंकार सर्वथा अर्थालंकार ही है, शब्दालंकार से सम्बन्ध नहीं रखता।

२. दो समकक्षा के अलंकारों की संयुक्त एकरूपता का नया रूप है।

३. दोनों अंश समान रूप से प्रधान रहते हैं।[3]

इस कथन की पुष्टि के लिए उन्होंने भामह का उपमारूपक, दण्डी तथा केशव-प्रदत्त रूपक-रूपक, संशयोपमा, हेतूपमादि अलंकार उदाहरण स्वरूप दिये हैं।

डॉ० 'रसाल' ने 'संकर' को इन दोनों श्रेणियों से पृथक् रखा है। उन्होंने एक अन्य स्थल पर संकर का मिश्रालंकार तथा उभयालंकार से भेद इस प्रकार प्रस्तुत किया है—संकर और मिश्रालंकार दोनों में यह भेद है कि—

१. संकर में किसी विशेष अलंकार का प्राधान्य रहता है किन्तु मिश्रालंकार में ऐसा नहीं होता, उसमें किसी भी अलंकार का प्राधान्य नहीं रह जाता।

२. संकर में अन्य अलंकार (जो गौण रूप में रहते हैं) प्रधान अलंकार के साथ एकरूपता लेकर उसी के रूप में रूपान्तरित हो जाते हैं। अतः यह एकरूपता तथा रूप-परिवर्तन (रूपान्तरण) पर आधारित है, किन्तु मिश्रालंकार में दोनों अर्थालंकार मिल कर अपना रूप परिवर्तित कर एक नये ही रूप, रंग तथा ढंग के साथ उदीयमान हो जाते हैं—अतः यह रसायन-शास्त्र के मिश्रण-सिद्धान्त पर आधारित है।

---

१. (क) भाषाभरण—बैरीसाल पृष्ठ १
   (ख) पद्माभरण—पद्माकर, पृष्ठ १

२. अलंकारपीयूष—डॉ० रामशंकर शुक्ल 'रसाल', पृष्ठ १६२-१६३

३. अलंकारपीयूष—डॉ० रामशंकर शुक्ल 'रसाल', पृष्ठ १६५

३. संकर में शब्दालंकारों को भी स्थान मिलता है किन्तु मिश्रालंकार में नहीं ।[1] संकर और उभयालंकार, दोनों में अन्तर यों है—

१. संकर में तो (जैसे संसृष्टि में) कई अलंकार होते हैं किन्तु उभयालंकार में एक ही अलंकार होता है जो एक ओर तो शब्दालंकार का और दूसरी ओर अर्थालंकार का भाव (गुण क्रम, स्वभावादि) प्रगट करता है।

२. संकर में अनेक अलंकारों की एकरूपता होती है, किन्तु उभयालंकार में दो प्रकार के (शब्दगत और अर्थगत) अलंकारों की एक ही अलंकार में रूप-रचना रहती है, अर्थात् इसमें एक ही अलंकार की द्विरूपता प्रतिभात होती है[2]

डॉ० 'रसाल' द्वारा प्रस्तुत उभयालंकार और मिश्रालंकार के स्वरूप ही स्पष्ट नहीं हैं। वे उभयालंकार को दो पृथक् कक्षाओं का संयोग मानते हैं, परन्तु वास्तव में यह भिन्न-भिन्न अलंकारों का योग ही है। इसमें अलंकार-संयुक्त होते हैं, परन्तु यह केवल एक अलंकार नहीं होता। मिश्रालंकार उन्होंने केवल अर्थालंकारों के योग को ही माना है, परन्तु यह भी केवल उन्हीं की सूझ है परम्परा में तो मिश्रालंकार उभयालंकार ही है। इन्हें ही संकर, संसृष्टि या शब्दार्थालंकार भी कहा जाता है। संस्कृत के आचार्यों में उद्भट, रुद्रट, मम्मट एवं विश्वनाथ आदि के मत डॉ० 'रसाल' के विरोधी ही सिद्ध होते हैं। यदि डॉ० 'रसाल' के मत को उनका अपना 'थीसिस' ही मान लिया जाय तब भी उनका मत स्वयं उनकी दृष्टि में भी प्रतिवाद-रहित नहीं है, जैसा कि उन्होंने स्वयं ही निम्न स्थलों पर निर्देश किया है—

'उभयालंकार के समान मिश्रालंकार, शब्द और अर्थ दोनों से सम्बन्ध न रखता हुआ केवल अर्थालंकारों से ही घनिष्ठ और पूर्ण सम्बन्ध रखता है। इसमें शब्दालंकार का कोई भी अंश नहीं रहता, केवल कुछ ही प्रतिवाद इस व्यापक नियम के हैं, जैसे श्लेषोपमादि।'[3]

स्पष्ट है कि उक्त नियम की 'व्यापकता' भी केवल डॉ० 'रसाल' की अपनी दृष्टि में ही सिद्ध है। इसी प्रकार उनका संकर और संसृष्टि को भी पहले मिश्रालंकार से भिन्न मानकर पुनः उन्हें 'परिमार्जन एवं परिवर्तन' के साथ मिश्रालंकार मान लेना भी उनका अन्तर्विरोध है। वास्तव में उनका मत किसी प्रकार भी मान्य नहीं है। डॉ० रसाल का मत माना जाये तो मम्मटोक्त परम्परितरूपक और शब्दहेतुक अर्थान्तरन्यास (उभयालंकार) मिश्रालंकार ही बन जायेंगे। संस्कृत आचार्यों की पुष्ट परम्परा के अनुसार यही मत उचित प्रतीत होता है कि दो या दो से अधिक अलंकार जिस पद्य में मिलें, वहां उभयालंकार मानना चाहिये। संसृष्टि-संकर तथा इन दोनों के भेदोपभेद इसी उभयालंकार के क्षेत्र में आते हैं।

अलंकारों का पूर्वापर क्रम-विवेचन

अर्थालंकारों की अपेक्षा शब्दालंकार ही प्रथमतः क्यों विवेचित हों, इस विषय

१. अलंकार-पीयूष—डॉ० रामशंकर शुक्ल 'रसाल', पृष्ठ १८०-१८१
२. अलंकार-पीयूष—डॉ० रामशंकर शुक्ल 'रसाल', पृष्ठ १६२, १६५
३. अलंकार-पीयूष—डॉ० रामशंकर शुक्ल 'रसाल', पृष्ठ १६२, १६५

पर भी संस्कृत काव्य-शास्त्र में आचार्य विद्यानाथ तथा विश्वनाथ ने विचार किया है और कहा है कि शब्द और अर्थ—इन दोनों में से प्रथमतः शब्द ही बुद्धि में उपस्थित होता है, अतः शब्दालंकारों का पहले विवेचन होना चाहिये।[1]

अलंकार-कौस्तुभकार आचार्य कर्णपूर ने शब्दालंकारों को प्रथमतः रखने का कारण उनका गौण होना माना है। उपमादि मुख (मुख्य) होने से—श्रेष्ठता के कारण गौणों (शब्दालंकारों) के पश्चात् विवेचित होंगे।[2] नरसिंह कवि (१८-१६ शती) ने विद्यानाथ-विश्वनाथ के कथन का समर्थन किया है: परन्तु 'काव्यानुशासन' ग्रन्थ के लेखक वाग्भट ने अर्थालंकारों को प्रथमतः रखने का प्रस्ताव किया है। उन्होंने कहा है कि शब्द अर्थ को अधिकृत करके प्रयुक्त होता है। अतः अर्थालंकार प्रथम विवेचित किए जाने चाहिए।[3]

उपर्युक्त दोनों ही सिद्धान्त अलंकार-परम्परा में मान्य रहे हैं और संस्कृत एवं हिन्दी के रीतिकालीन आचार्यों ने दोनों पद्धतियों का अनुसरन किया है।

संस्कृत-काव्यशास्त्र तथा रीतिकाल में भी शब्दालंकारों के अतिरिक्त उन के और सूक्ष्म वर्गीकरण की आवश्यकता नहीं समझी गई। एक तो शब्दालंकार संख्या में कम थे, दूसरे अर्थालंकारों की अपेक्षा वे प्रायः गौण स्थिति के माने गये, तीसरे उनका प्रधान धर्म शब्द-शरीर को ही अलंकृत करना था,जिसमें अधिक वैभिन्न्य की गुंजाइश नहीं थी। हां, अर्थालंकारों की अधिक संख्या और चित्तवृत्तियों की विभिन्न भाव-भूमिकाओं के कारण अनेक विधियों से वर्गीकृत करने का यत्न चलता रहा।

शब्द, अर्थ तथा उभयालंकार वर्गीकरण के समर्थक आचार्य

वर्गीकरण के शब्दालंकार, अर्थालंकार और उभयालंकार शीर्षक देकर उनके अन्तर्गत अलंकारों का विवेचन करने की परिपाटी सर्वसामान्य रही है। इन आचार्यों ने अर्थालंकारों के भेदोपभेदों की चर्चा की ओर ध्यान नहीं दिया। आचार्य भरत, भामह, दण्डी, वामन, आनन्दवर्धन, राजशेखर, कुन्तक, भोज, मम्मट, रुय्यक, शोभाकर, हेमचन्द्र, नरेन्द्रप्रभसूरि, भावदेव सूरि, वाग्भट (प्रथम, द्वितीय), जयदेव,

१. (क) अर्थालंकारस्वरूपविभागानन्तरं शब्दार्थयोर्मध्ये शब्दस्यार्थप्रतीत्यन्तरंगत्वात् प्रथमं शब्दालंकाराः निरूप्यन्ते।
प्रतापरुद्रीय-यशोभूषणम्—विद्यानाथ, पृष्ठ २४७

(ख) शब्दार्थयोः प्रथमं शब्दस्य बुद्धिविषयत्वाच्छब्दालंकारेषु वक्तव्येषु शब्दार्था-लंकारस्यापि पुनरुक्तवदाभासस्य चिरन्तनैः शब्दालंकारमध्ये लक्षितत्वात् प्रथमं तमेवाह। साहित्य-दर्पणः—विश्वनाथ, पृष्ठ २७४

२. अथ उपमितिमुखोऽलंकृतिगण इति (प्रथमकारिकायां) यदुक्तं तत्र मुखशब्दस्य मुख्यार्थत्वादमुख्यस्य प्राप्तौ प्रथमतोऽमुख्यं शब्दालंकारमेवाह।
अलंकार-कौस्तुभः—कर्णपूर, पृष्ठ २४६

३. तत्र तावदर्थमधिकृत्य शब्दः प्रवर्ततेऽतः प्रथममर्थालंकारा एवोदाह्रियन्ते।
काव्यानुशासनम्—वाग्भट, पृष्ठ ३२

श्रीवत्सलांछन, विश्वनाथ, अग्निपुराणकार, केशवमिश्र, कर्णपूर, कविचंद, नरसिंह कवि तथा पं० विश्वेश्वर पर्वतीय आदि न शब्दार्थ नामकरण से दिये गए अलंकार-वर्गीकरण को अपनाया है। इनमें से भोज तथा अग्निपुराण का वर्गीकरण विचारणीय है।

'सरस्वतीकण्ठाभरणम्' के कर्त्ता भोजराज ने शब्दालंकार, अर्थालंकार और उभयालंकार के नाम से अलंकारों को विभक्त किया। इन्हें ही उसने बाह्यालंकार, आभ्यन्तरालंकार और बाह्याभ्यन्तरालंकार नाम से तीन वर्गों में विभक्त किया है।[1]

प्रथम वर्ग (शब्दालंकार, बाह्यालंकार)

जाति, गति, रीति, वृत्ति, छाया, मुद्रा, उक्ति, युक्ति, भणिति, गुम्फना, शय्या, पठिति, यमक, श्लेष, अनुप्रास, चित्र, वाको-वाक्यं, प्रहेलिका, गूढ़, प्रश्नोत्तर, अध्येय, श्रव्य, प्रेक्ष्य तथा अभिनीत (अभिनय)।

द्वितीय वर्ग (अर्थालंकार, आभ्यन्तरालंकार)

जाति, विभावना, हेतु, अहेतु, सूक्ष्म, उत्तर, विरोध, सम्भव, अन्योन्य, परिवृत्ति, निदर्शना, भेद (व्यतिरेक) समाहित, भ्रान्ति, वितर्क, मीलित, स्मृति, भाव तथा प्रत्यक्षादि प्रमाण।

तृतीय वर्ग (उभयालंकार, बाह्याभ्यन्तरालंकार)

उपमा, रूपक, साम्य, संशयोक्ति अपह्नुति, समाधि, उक्ति, समासोक्ति, उत्प्रेक्षा, अप्रस्तुतस्तुति, तुल्ययोगिता, उल्लेख, सहोक्ति, समुच्चय, आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, विशेष, परिष्कृति (परिकर), दीपक, क्रम, पर्याय, अतिशय, श्लेष, भाविक तथा संसृष्टि।

भोज ने उभयालंकारों में उपमा, रूपक, साम्य, संशयोक्ति आदि २४ अलंकारों को रखा है। अन्य आचार्यों के मत से स्पष्ट है कि उक्त २४ अलंकार अर्थालंकार हैं। उन्होंने भ्रान्ति, वितर्क, स्मृति तथा प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमा, शब्द आदि को अर्थालंकारों में गिना है। भोज का दृष्टिकोण निराला है, इसे अलंकार-वर्गीकरण-क्षेत्र में एक नया प्रयोग कहना उचित है। भोज-पूर्ववर्ती काल के आचार्यों ने जिन उपमादि अलंकारों को अर्थालंकारों में गिना, उन्हें इन्होंने उभयालंकारों में रख दिया है। अर्थालंकारवत्ता तो उनमें है, परन्तु शब्दालंकार वे किस प्रकार हैं, इसका स्पष्टीकरण भोज ने नहीं किया। शब्दालंकार तो परिवृत्त्यसह होते है, परन्तु उक्त अलंकारों में शब्दपरिवर्तन पर भी अलंकारता रहती है। भोज द्वारा संसृष्टि को उभयालंकार मानना तो उचित प्रतीत होता है, परन्तु शेष के सम्बन्ध में कोई समाधानकारक उत्तर प्राप्त नहीं होता। अग्निपुराण में उभयालंकार (शब्दार्थालंकार) का विवेचन है। हार जैसे नारी से स्तनों एवं ग्रीवा को सुशोभित करता है, इसी प्रकार शब्दार्थालंकार शब्द

---

१. शब्दार्थोभयसंज्ञाभिरलंकाराः कवीश्वराः।
बाह्यानाभ्यन्तरान् बाह्याभ्यन्तरांश्चानुशासति ॥२-१॥
सरस्वती-कण्ठाभरणम्—भोज, पृष्ठ १४०, ४३७, ३९७

एवं अर्थ को अलंकृत करते हैं।[1] अग्निपुराण में प्रशस्ति, कान्ति, औचित्य, संक्षेप, यावदर्थता तथा अभिव्यक्ति को उभयालंकार माना गया है। इनमें से अधिकतर तो गुण हैं, अलंकार नहीं। कालान्तर में यही अलंकार के क्षेत्र में आ गये हैं।

संस्कृत-साहित्य में पुनरुक्तवदाभास अलंकार को लेकर चर्चा हुई है कि उसे शब्दालंकार माना जाए अथवा अर्थालंकार या उभयालंकर? आचार्य मम्मट तथा विश्वनाथ ने इसे उभयालंकार माना है, क्योंकि यह सभंग रूप से केवल शब्दनिष्ठ होता है तथा पद-परिवर्तन पर भी निर्भर रहता है, इसलिए अर्थनिष्ठ भी है। तब भी परम्परा से इस शब्दालंकारों में ही रखा गया है। आचार्य मम्मट ने परम्परितरूपक तथा शब्द-हेतुक अर्थान्तरन्यास को भी उभयालंकार कहा है परन्तु अर्थ प्रधानता के कारण उसे अर्थालंकार माने जाने के मत का समर्थन किया है।[2] जयदेव ने इसे शब्दालंकार ही माना है। चन्द्रालोक की 'राकागम' व्याख्या में कहा गया है कि यह एक प्रकार का शब्द-श्लेष ही कहा जा सकता है।[3]

इसी भाँति वक्रोक्ति और श्लेष का भी विवाद है, परन्तु उसे आलंकारिकों ने स्पष्टतः शब्दालंकारों अथवा शब्द और अर्थ दोनों में ही रखा है। वक्रोक्ति को कई आचार्यों ने शब्दालंकार या अर्थालंकार माना है तथा श्लेष को शब्द और अर्थ दोनों में परिगणित किया है। इस सम्बन्ध में इन दोनों अलंकारों के लक्षण-विकास तथा अन्य प्रसंगों में पर्याप्त चर्चा की जा चुकी है।

उभयालंकार को मानने की आवश्यकता ही क्या है? इस प्रश्न का सहज उत्तर है कि दो प्रकार के अलंकार पहनने पर वनिता भी अतिरिक्त चारुता प्राप्त करती है। मणिकाँचन योग का भी तो मूल्य है। इसलिए उभयालंकार का रूप धारण कर अलंकार एक पृथक् ही चारुत्व प्रकट करते हैं। अथवा यों कहा जा सकता है कि 'एक और एक ग्यारह' का सिद्धान्त यहां भी लागू हो जाता है और दो अलंकारों के योग से चमत्कार-सामर्थ्य सहज में ही बढ़ जाता है।

---

१. अग्निपुराण, अध्याय १४५, पृष्ठ ७०४

२. (क) शब्दस्य तथा शब्दार्थयोरयम् ॥९-८६॥

काव्यप्रकाश:—मम्मट, पृष्ठ ४३६

(ख) शब्दार्थालंकारस्यापि पुनरुक्तवदाभासस्य चिरन्तनैः शब्दालंकारमध्ये लक्षितत्वात् प्रथमं तमेवाह।

साहित्य-दर्पण:—विश्वनाथ, पृष्ठ २७४

(ग) एवं च यथा पुनरुक्तवदाभासः परम्परितरूपकं चोभयोर्भावानुविधायितया उभयालंकारौ तथा शब्दहेतुकार्थान्तरन्यासप्रभृतयोऽपि द्रष्टव्याः। अर्थस्य तु तत्र वैचित्र्यम् उत्कटतया प्रतिभासते इति बाह्यालंकारमध्ये वस्तुस्थितिमनपेक्ष्यैव लक्षिता:।

काव्यप्रकाश:—मम्मट, पृष्ठ ५६५

३. अयं चालंकारो वाक्यनिष्ठत्वाच्छाब्दः। अयं च शब्दश्लेष एवेति युक्तं।

चन्द्रालोकः—(गागा भट्ट-कृत राकागम टीका) पृष्ठ ४५

अर्थालंकारों का वर्गीकरण

आचार्य उद्भट, रुद्रट, रुय्यक, विद्याधर, विद्यानाथ तथा विद्याधर की 'एकावली' कृति के तरला-टीकाकार मल्लिनाथ ने शब्द और अर्थ भेद से अलंकारों के वर्गीकरण को मानते हुए भी अर्थालंकारों के वर्गीकरण की समस्या पर विशेषतः विचार किया है। इनमें कई आचार्यों ने कुछ अलंकारों को दो-दो वर्गों में रखा है। कई अलंकार वर्गमुक्त भी रखे हैं।

उद्भट-कृत वर्गीकरण

संस्कृत-साहित्य में अर्थालंकारों के वर्गीकरण का प्रथम श्रेय आचार्य उद्भट को प्राप्त है। उद्भट भामह का व्याख्याता है। सामान्यतया आचार्यत्व की मौलिकता उसमें भी है, परन्तु अलंकारों के वर्गीकरण के क्षेत्र में उसका महत्त्व निर्विवाद है। उसके द्वारा प्रस्तुत किया गया वर्गीकरण निम्नलिखित है—

प्रथम वर्ग

पुनरुक्तवदाभास, छेकानुप्रास, वृत्त्यनुप्रास, लाटानुप्रास, रूपक, उपमा, दीपक, प्रतिवस्तूपमा।

द्वितीय वर्ग

आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, विभावना, समासोक्त, तथा अतिशयोक्ति।

तृतीय वर्ग

यथासंख्य, उत्प्रेक्षा तथा स्वभावोक्ति।

चतुर्थवर्ग

प्रेयस्, रसवत्, ऊर्जस्वि, पर्यायोक्त, समाहित, उदात्त तथा श्लेष।

पंचम वर्ग

अपह्नुति, विशेषोक्ति, विरोध, तुल्ययोगिता, अप्रस्तुतप्रशंसा, व्याजस्तुति, विदर्शना (निदर्शना), उपमेयोपमा, सहोक्ति, संकर तथा परिवृत्ति।

षष्ठ वर्ग

अनन्वय. संसन्देह, संसृष्टि, भाविक, काव्यदृष्टांत तथा हेतु।

प्रतीहारेन्दुराज की लघुवृत्ति में भट्टोद्भट के वर्गीकरण के प्रथम वर्ग के सम्बन्ध में उल्लेख प्राप्त होता है। इन्होंने इस वर्ग के प्रथम चार अलंकारों को शब्दालंकार और अन्तिम चार को अर्थालंकार बताया है। वृत्तिकार बाद का विद्वान् होने के कारण उद्भट के मत का संस्थापक तो नहीं हो सकता, परन्तु वर्गीकरण-सम्बन्धी विचारों का उद्बोधक और उद्घोषक माना जा सकता है। वर्गीकरण के शेष पांच वर्गों में केवल अर्थालंकारों तथा शब्दालंकारों का ही निरूपण है, तब ऐसा मानना सम्भव है कि 'अपरे' और 'परे' विशेषण के प्रयोग से पांच वर्गों को प्रस्तुत कर के उद्भट ने अर्थालंकार-विवेचकों का परिचय दिया तथा पहले वर्ग में 'कैश्चिद्' शब्द का प्रयोग करके उन विद्वानों द्वारा स्वीकृत अलंकारों को भी पहले ही कहा। 'इत्येत एवं अलंकारा वाचां' की उक्ति से तो प्रथम वर्ग के अलंकार ही उस काल में मान्य थे, ऐसी ध्वनि उद्भट के कथन से निकलती है। अन्य पांच वर्ग तो अपरे, परे विशेषण

से सम्बद्ध हैं। प्रथम वर्ग में शब्दार्थ-भेद से अलंकारों का कथन है. जो कि वृत्तिकार ने स्पष्ट कर दिया है तथा परम्परागत रूप से भी ऐसा ही स्वीकार किया जा रहा था। ऐसा भी माना जा सकता है कि उद्भट ने विभिन्न विद्वानों द्वारा मान्य अलंकारों के वर्गों को सम्भवतः एक साथ रख दिया है।

अलंकारों के इस वर्गीकरण में एक तथ्य और दिखाई देता है कि पहले वर्ग में शब्दालंकारों के अनन्तर उन्हीं अर्थालंकारों को लिया गया है,जो उपमामूलक हैं। दूसरे वर्ग में उपमामूलक, आक्षेपमूलक तथा विरोधमूलक अलंकार भी हैं। तीसरे वर्ग में कोई समानाधार नहीं रखा गया। चौथे वर्ग में रस-भाव-सम्बन्धी अलंकारों के साथ पर्यायोक्त, उदात्त आदि का कथन है। पांचवें में विरोधमूलक तथा उपमामूलक के साथ ही उभयालंकार भी हैं और छठे वर्ग में सादृश्यमूलक, वस्तुपरक एवं उदाहरणमूलक अलंकारों का सन्निवेश है। उपर्युक्त वर्गीकरण को समानाधार प्राप्त न होने के कारण वैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता, परन्तु यह तो स्पष्ट दिखाई देता है कि उद्भट ऐसे किसी समानाधार को ढूंढ़ने की चेष्टा में अवश्य थे। शब्दालंकारों का एक जगह रहना और उपमामूलक अलंकारों का किसी प्रकार कहीं-कहीं एकत्र आ जाना उनके इस प्रयास की ओर इंगित करता है। उसमें वैज्ञानिक वर्गीकरण की प्रवृत्ति की उन्मुखता तो मानी ही जा सकती है। यहाँ यह कहना अभीष्ट है कि अब तक केवल शब्द और अर्थ की प्रवृत्ति से ही अलंकार-विभाजन होता रहा था परन्तु अब उसमें अर्थालंकारों के लिए वर्गगत प्रवृत्तियों का उदय भी हो गया था।

रुद्रट-कृत वर्गीकरण

रुद्रट ने 'काव्यालंकार' के प्रारम्भ में शब्दालंकार और अर्थालंकार सम्बन्धी भेद कहा है, तदनन्तर उसने अर्थालंकारों का वर्गीकरण किया है। उन्होंने अलंकारों के मूल तत्त्वों पर विचार करते हुए स्वनिरूपित अर्थालंकारों को चार वर्गों में विभक्त किया है। ये हैं—वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष।[1]

वस्तु का स्वरूप-कथन वास्तव माना गया है।[2] वास्तव के अन्तर्गत सहोक्ति समुच्चय, जाति, यथासंख्य, भाव, पर्याय, विषम, अनुमान, दीपक, परिकर, परिवृत्ति, परिसंख्या, हेतु, कारणमाला, व्यतिरेक, अन्योन्य, उत्तर, सार, सूक्ष्म, लेश, अवसर, मीलित तथा एकावली अलंकार हैं। सर्वाधिक भेद-प्रधान होने के कारण ही सम्भवतः इस वर्ग को पहले रखा गया है।

औपम्य में अप्रस्तुत-योजना होती है। किसी वस्तु के स्वरूप का अधिक स्पष्टता से वर्णन करने के लिए अप्रस्तुत-योजना काम आती है। एक प्रस्तुत वस्तु

१. अर्थस्यालंकार वास्तवौपम्यमतिशयः श्लेषः।
एषामेव विशेषा अन्ये तु भवन्ति निःशेषा ः॥७-६॥
काव्यालंकारः—रुद्रट, पृष्ठ ७६

२. वास्तवमिति तज्ज्ञेयं वस्तुस्वरूपकथनं यत्।
पुष्टार्थमविपरीतं निरुपममनतिशायमश्लेषम् ॥७-१०
काव्यालंकारः—रुद्रट, पृष्ठ ७६

के स्वरूप विशेष से दूसरी अप्रस्तुत वस्तु के साथ समानता की अभिव्यक्ति ही औपम्य है।[1] औपम्य के अन्तर्गत इन अलंकारों को लिया गया है—उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, अपह्नुति, संशय, समासोक्ति, मत, उत्तर, अन्योक्ति,प्रतीप, अर्थान्तरन्यास, उभयन्यास भ्रान्तिमान्,आक्षेप, प्रत्यनीक, दृष्टान्त, पूर्व, सहोक्ति, समुच्चय, साम्य और स्मरण।

अतिशय तीसरा वर्ग है। अतिशय से तात्पर्य अर्थ और धर्म के नियमों के विपर्यय से है, जिसमें लोकातिक्रान्तता विद्यमान रहे।[2]

इस वर्ग के अन्तर्गत १२ अलंकारों का निरूपण है—पूर्व, विशेष, उत्प्रेक्षा विभावना, तदगुण, अधिक, विरोध, विषम, असंगति, पिहित, व्याघात, तथा अहेतु।

अनेकार्थ पदों से रचित एक ही वाक्य का अनेक अर्थों का बोध कराना श्लेष अलंकार है। इस वर्ग में १० अलंकार हैं—अविशेष, विरोध, अधिक, वक्र, व्याज, उक्ति, असम्भव, अवयव, तत्त्व और विरोधाभास।

रुद्रट का वर्गीकरण वैज्ञानिकता की दिशा में एक महत्त्वपूर्ण प्रयास है। यह सत्य है कि उसके वास्तव और श्लेषवर्ग आगे अधिक नहीं चल सके। फिर भी विकास-क्रम में देखने पर इससे वर्गीकरण का महत्त्व कम नहीं होता। वास्तव वस्तुरूप का कथन है—अलंकारों में वस्तु-वर्णन की सर्वसामान्य भूमिका से उन्होंने इस सिद्धान्त का चयन किया, परन्तु वस्तुकथन तो औपम्यादि अन्य वर्गों में भी रहता है। यही कारण है कि प्रथम वर्ग की व्याख्या करते हुए उसने वास्तव को केवल अपने विशेष अर्थ की पुष्टि करने वाला ही कहा है। साथ ही जिसमें विपरीतता न हो, जिसमें उपमात्व न हो, जिसमें अतिशयत्व न हो और जिसमें श्लेषत्व न हो, यह भी उसे कहना पड़ा। उसका 'वास्तव वर्ग' उसकी विवेचन-दृष्टि का परिचायक होते हुए भी निर्भ्रान्त नहीं है। 'श्लेष वर्ग' में भी श्लेष को व्यापक आधार पर ही ग्रहण करने से उसकी बात युक्तियुक्त हो सकती है, अन्यथा नहीं। उसके औपम्य और अतिशय वर्ग अवश्य ही वज्ञानिक दृष्टि के परिणाम हैं, क्योंकि इन दोनों में अलंकारों की मूल प्रक्रिया को ग्रहण किया गया है। जहां-जहां अप्रस्तुत-योजना द्वारा उपमान भाव से वस्तुवर्णन किया जाता है, वहां औपम्य मानना उचित ही है और इसी प्रकार अतिशय में भी 'अतिलोकता' सिद्ध है। उन्होंने इसे 'अर्थ-धर्म-नियम की प्रसिद्ध बाधा द्वारा विपर्यय' 'कहकर भी इसकी लोकातिक्रान्तता का ही समर्थन किया है। यहाँ तक तो वर्गीकरण के नामौचित्य की बात हुई, परन्तु

१. सम्यक् प्रतिपादयितुं स्वरूपतो वस्तु तत्समानमिति।
वस्त्वन्तरमभिदध्याद् वक्ता यस्मिंस्तदौपम्यम् ॥८-१॥
काव्यालंकारः—रुद्रट, पृष्ठ ९८

२. यत्रार्थधर्मनियमः प्रसिद्धिबाधाद्विपर्ययं याति।
कश्चित्क्वचिदतिलोकं स स्यादित्यतिशयस्तस्य ।९-१॥
काव्यालंकारः—रुद्रट, पृष्ठ १२२

३. यत्रैकमनेकार्थैर्वाक्यं रचितं पदैरनेकस्मिन्।
अर्थे कुरुते निश्चयमर्थश्लेषः स विज्ञेयः ।१०-१।
काव्यालंकारः—रुद्रट, पृष्ठ १३२

जहां तक विभिन्न वर्गों में अलंकारों को रखने का प्रश्न है, वहाँ रुद्रट उलझ गया है। उसने उत्तर, समुच्चय, विरोध, अधिक, उत्प्रेक्षा और विषम अलंकारों को दो-दो वर्गों में स्थान दिया है। अवश्य ही रुद्रट की बौद्धिक ईमानदारी का दर्शन तो होता है, परन्तु वह एक असंदिग्ध वर्गीकरण नहीं दे पाया, यह भी स्पष्ट ही है।

रुय्यक कृत वर्गीकरण

आचार्य रुय्यक ने अपने ग्रंथ 'अलंकारसर्वस्वम्' में अर्थालंकारों का वर्गीकरण नवीन आधार पर प्रस्तुत किया है। इस वर्गीकरण में रचना-शैली के आधार का भी ध्यान रखा गया है। उसने पहले पांच वर्ग बनाये हैं और फिर उनके भी अवान्तर-भेद किये हैं। ये भेद निम्नलिखित हैं—

१. सादृश्यगर्भ।
२. विरोधगर्भ।
३. शृंखला बन्धोपचित्ता।
४. न्यायमूल (तर्कन्यायमूल, काव्यन्यायमूल अथवा वाक्यन्यायमूल और लोकन्यायमूल)
५. गूढार्थप्रतीतिमूल।

१. सादृश्यगर्भ

इस वर्ग में ८८ अलंकार हैं। इनका मूलाधार साधर्म्य है। यह साधर्म्य भी तीन प्रकार का है: (अ) भेदाभेदतुल्य प्रधान, (आ) अभेदप्रधान, (इ) गम्यमानौपम्य। यह साधर्म्य भी कहीं वाच्य रहता है, कहीं प्रतीयमान। साधर्म्य के अनुकूल ही अवान्तर वर्गीकरण में इन अलंकारों को रखा गया है। इन अवान्तर भेदों में वर्गीकृत अलंकारों का निरूपण इस प्रकार है—

(अ) भेदाभेदतुल्य प्रधान

इस वर्ग में उपमा, उपमेयोपमा, अनन्वय और स्मरण चार अलंकार हैं। इन अलंकारों में उपमेय और उपमान के साधर्म्य में भेद नहीं होता, तुल्य साधर्म्य की स्थिति विद्यमान रहती है।

(आ) अभेद प्रधान

इस वर्ग में आठ अलंकार हैं। इनमें छः आरोपमूलक हैं और दो अध्यवसाय मूलक। रूपक, परिणाम, सन्देह, भ्रान्ति, उल्लेख और अपह्नुति आरोपमूलक हैं। उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्ति अध्यवसायमूलक अलंकार हैं। इन अलंकारों में उपमेय-उपमान के साधर्म्य में अभेद-कथन रहता है। इसलिए अभेद-प्रधान साधर्म्य ही इनका मूलाधार है। रूपकादि छः अलंकारों में उपमेय में उपमान का आक्षेप किया जाता है। अतः आरोप की प्रधानता रहती है। उत्प्रेक्षा में अनिश्चित रूप से तथा अतिशयोक्ति में निश्चित रूप से उपमेय में उपमान का अध्यवसाय रहता है। इसलिए ये दोनों अलंकार अध्यवसायमूलक हैं।

(इ) गम्यमानौपम्य

इस वर्ग के अन्तर्गत तुल्ययोगिता, दीपक, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त, निदर्शना, व्यतिरेक, सहोक्ति, विनोक्ति, समासोक्ति, परिकर, श्लेष, अप्रस्तुतप्रशंसा, पर्यायोक्ति,

अर्थान्तरन्यास, व्याजस्तुति और आक्षेप १६ अलंकार हैं। इन अलंकारों में औपम्य प्रतीयमान अथवा व्यंग्य रूप से रहता है। वाच्य कदापि नहीं रहता। इसलिए इनका आधार गम्यमान औपम्य है, परन्तु इन अलंकारों में गम्यमान औपम्य की स्थिति भिन्न भिन्न रूपों में रहती है। दीपक और तुल्ययोगिता में उपमेय या उपमानों का अथवा दोनों के एक धर्म का कथन एक ही पद में रहता है। इसलिए इन दोनों का गम्यमान औपम्य पदार्थगत ही है। दृष्टान्त, प्रतिवस्तूपमा तथा निदर्शना में वाक्यार्थगत गम्यमान औपम्य रहता है। व्यतिरेक और सहोक्ति में उपमेय और उपमान के पारस्परिक भेद विद्यमानत्व में भी गम्यमान औपम्य रहता है। समासोक्ति और परिकर में विशेषण वैचित्र्य-गत गम्यमान औपम्य रहता है। श्लेष में विशेषण-विशेष्य वैचित्र्य-गत गम्यमान औपम्य की विद्यमानता है। विनोक्ति, सहोक्ति का तथा अप्रस्तुत-प्रशंसा समासोक्ति का विरोधी अलंकार है। अर्थान्तरन्यास अप्रस्तुतप्रशंसा का सजातीय अलंकार है। पर्यायोक्ति, व्याजस्तुति और आक्षेप में भी गम्यमानता है। परन्तु इन अलंकारों को सम्भवतः विरोधी और सजातीय भाव की सरल बोधगम्यता के कारण इस वर्ग में रखा गया है। पर्यायोक्ति, व्याजस्तुति और आक्षेप को गम्यमान के प्रस्तावप्रसंग के हेतु इस वर्ग के अन्तर्गत मान लिया गया है।

२. विरोधगर्भ अलंकार

इस वर्ग में १२ अलंकार रखे गये हैं—ये हैं—विरोध, विभावना, विशेषोक्ति, सम, विचित्र, अधिक, अन्योन्य, विशेष, व्याघात, अतिशयोक्ति (कार्यकारणपौर्वापर्य), असंगति और विषम। विरोधगर्भ अलंकारों का मूलाधार पारस्परिक विरोधात्मकता है। परन्तु विरोधमूलक होते हुए भी सम अलंकार को इस वर्ग में स्थान दिया गया है। रुय्यक का इस बारे में स्पष्ट कथन है कि विषमालंकार का वैधर्म्य सम में रहता है, इसलिए उसे इसी वर्गीकरण में रखना उचित है।[1]

इसके अतिरिक्त रुय्यक ने अतिशयोक्ति को सादृश्यगर्भ तथा विरोधगर्भ अलंकारों के वर्ग में दो स्थानों पर रखा है। पहले वर्ग में परिगणित अतिशयोक्ति को अध्यवसानमूलक माना है।[2] आगे चल कर दूसरा लक्षण विरोधगर्भवर्ती वर्ग में दिया है।

पहले लक्षण की व्याख्या में कार्यकारणपौर्वापर्यविध्वंस नामक पाँचवें भेद की बात भी रुय्यक ने कही है और दूसरे लक्षण की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि काल-साम्य-निबंधन तथा काल-विपर्यास-निबन्धन से कार्य-कारण का रूपापगम अतिशयोक्ति में होता है।

इससे स्पष्ट है कि रुय्यक से भी अतिशयोक्ति की वर्गीकरण-समस्या का समाधान न हो पाया और उन्होंने इसे दो वर्गों में रखा। उचित यही होता कि सादृश्यगर्भ वर्ग में ही इस अलंकार को रखा जाता, क्योंकि अध्यवसान की मूल स्थिति इसमें रहती है। विरोध की स्थिति वहां रहते हुए भी परिहृत हो जाती है।

१. अलंकार-सर्वस्वम्—रुय्यक, पृष्ठ १६७
२. अलंकार-सर्वस्वम्—रुय्यक, पृष्ठ ८३, १६३

३. शृंखला बंधोपचिता अलंकार

इस वर्ग में कारणमाला, एकावली, मालादीपक और सार नामक चार अलंकार रखे गए हैं। इन अलंकारों में एक पद या वाक्य दूसरे पद या वाक्य से शृंखला की भाँति सम्बद्ध रहता है। कारण और विशेषण भाव भी शृंखला में रहते हैं। पूर्वापर की शृंखला बनने से ही इन अलंकारों में चमत्कार आता है।

४. न्यायमूलक अलंकार

इस वर्ग में १७ अलंकारों को रखा गया है। सभी अलंकार लोक तथा शास्त्र में प्रचलित न्याय के विभिन्न रूपों पर आधृत हैं।

(क) **तर्कन्यायमूलक**—काव्यलिंग और अनुमान दो अलंकार इस अवान्तर भेद में रखे गये हैं।

(ख) **वाक्यन्यायमूलक या काव्यन्यायमूलक**—यथासंख्य, पर्याय, परिवृत्ति, अर्थापत्ति, विकल्प, परिसंख्या, समुच्चय और समाधि—ये आठ अलंकार इस भेद में रखे गए हैं।

(ग) **लोकन्यायमूलक**—प्रत्यनीक, प्रतीप, मीलित, सामान्य, तद्गुण, अतद्गुण और उत्तर—ये सात अलंकार इस वर्ग में लोकानुभव से प्रचलित न्यायों के आधार पर रखे गये हैं।

५. गूढ़ार्थप्रतीतिमूलक अलंकार

तीन अलंकार—सूक्ष्म,व्याजोक्ति और वक्रोक्ति गूढार्थप्रतीतिमूलक माने गये हैं। इनका सम्बन्ध गूढार्थ से है। बिना गूढार्थ के इन अलंकारों में चमत्कार नहीं आता है।

रुय्यक ने अलंकार-वर्गीकरण को और अधिक वैज्ञानिक बनाने का यत्न किया। परन्तु उसमें पूर्णता न आने के कारण उन्होंने भी कुछ अलंकारों को छोड़ दिया। स्वभावोक्ति, भाविक, उदात्त, संसृष्टि, संकर, रसवत्, प्रेयस्, ऊर्जस्वि तथा समाहित जैसे रससंबन्धी अलंकार और भावों से संबद्ध भावोदय, भावसंधि तथा भावशबलता को भी रुय्यक किसी वर्ग में न ला पाए। क्यों? इसका उत्तर स्पष्ट है कि उस काल में इन अलंकारों की स्थिति इस वर्गीकरण के अन्तर्गत इसलिए न आ पाई कि रस की विशद चर्चा काव्य में हो चुकी थी और रसवत्, प्रेयस् आदि अलंकार उसी से संबद्ध थे। संसृष्टि और संकर तो भिन्न अलंकारों का परस्पर मिश्रित तथा भिन्न प्रतीति पर मिश्रित रूप है। इसलिए वे नए अलंकार नहीं। कोई भी दो अलंकार संसृष्टि या संकर का रूप धारण कर सकते हैं।

आचार्य रुय्यक को कुछ नवीन और संगत मूलाधारों को ढूंढने का श्रेय अवश्य ही देना पड़ेगा। एक ओर उन्होंने रुद्रट के वास्तव को छोड़ा है, दूसरी ओर उन्होंने सादृश्यगर्भ को भी अधिक सूक्ष्म दृष्टि से देखकर उसके भी तीन भेद कर दिये हैं। प्रथम तो औपम्य की मूलवृत्ति 'सादृश्य' को उसने नाम में ग्रहण किया। पुनः सादृश्य को भेदाभेद तुल्यप्रधान, अभेद प्रधान और केवल गम्यमान औपम्य के अवान्तर भेदों में विभक्त किया है। विरोधगर्भ, शृंखलामूलक, न्यायमूलक तथा गूढ़ार्थ प्रतीतिमूलक नये वर्ग दिये हैं। निस्संदेह विरोधगर्भ अलंकारों का आधार भी औपम्य के समान ही महत्त्वपूर्ण है। शृंखलामूलकता में उन्होंने पद-रचना के अनुक्रम को पकड़ा है। न्यायमूलक अलंकारों के माध्यम से उनकी दृष्टि तर्कन्याय,

वाक्य-न्याय और लोक-न्याय के औचित्य का स्पर्श करती है और गूढ़ार्थ में उन्होंने व्यंग्य या गोपन के तत्वों को ग्रहण करने की ओर पग बढ़ाया है। वर्गीकरण को स्पष्ट और पूर्ण बनाने की समस्या आचार्य रुय्यक के सामने रही थी, फिर भी उनका प्रयास निश्चित रूप से इस दिशा में संगत विकास है।

विद्याधर-कृत वर्गीकरण

विद्याधर ने शब्दार्थ-गत अलंकार मान कर पुनः अर्थालंकारों का वर्गीकरण अपने 'एकावली ग्रन्थ' में भेदप्रधान, अभेदप्रधान, अध्यवसानाश्रयी, गम्यौपम्याश्रयी, विरोधगर्भ, शृंखलाकार अलंकार (तर्कवाक्यन्यायमूलक, लोकन्यायाश्रयी, बलाद् गूढ़ार्थ-प्रतीति-मूलक तथा अन्योन्याश्लेषपेशला भेद से रुय्यक के आधार से किया है।

शब्दालंकार

इस अलंकारवर्ग के अन्तर्गत विद्याधर ने पुनरुक्तवदाभास, अनुप्रास, यमक, चित्र, छेकानुप्रास, वृत्त्यनुप्रास और लाटानुप्रास को रखा है।

अर्थालंकार

भेदप्रधान—इस वर्ग में उपमा, उपमेयोपमा, अनन्वय और स्मरण को रखा गया है।

अभेदप्रधान—इस वर्ग में रूपक (आरोपार्पित), परिणाम, सन्देह, भ्रांतिमान्, उल्लेख और अपह्नुति आरोपित अलंकार हैं। अध्यवसागाश्रयी अलंकार भी इस वर्ग का आवांतर भेद है। अध्यवसायप्रधान अलंकारों में उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्ति दोनों अलंकार रखे गए हैं।

गम्यौपम्याश्रयी—इन अलंकारों में तुल्ययोगिता, दीपक, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टांत (बिम्बप्रतिबिम्बप्रधान), निदर्शना, व्यतिरेक, सहोक्ति, विनोक्ति, समासोक्ति, परिकर (प्रतीयमानार्थगर्भता), परिकरांकुर, श्लेष, अप्रस्तुतप्रशंसा, अर्थान्तरन्यास, पर्यायोक्त तथा आक्षेप अलंकार हैं।

विरोधगर्भ—इस वर्ग में विरोध, विभावना, विशेषोक्ति, अतिशयोक्ति, असंगति, विषम, सम, विचित्र, अधिक, अन्योन्य, विशेष और व्याघात अलंकार हैं।

शृंखलाकार—इन अलंकारों में कारणमाला, एकावली, मालादीपक, सार, काव्यलिंग, अनुमान, यथासंख्य, पर्याय, परिवृत्ति, परिसंख्या, अर्थापत्ति, समुच्चय तथा समाधि अलंकार तर्कवाक्यनयमूलक अलंकार हैं।

लोकन्यायाश्रयी—इन अलंकारों में प्रत्यनीक, प्रतीप, मीलित, सामान्य, तद्गुण, अतद्गुण, उत्तर तथा प्रश्नोत्तर रखे गये हैं।

बलाद्गूढार्थप्रतीतिमूलक—इस वर्ग में सूक्ष्म, व्याजोक्ति, वक्रोक्ति, स्वभावोक्ति, भाविक तथा उदात्त अलंकार हैं।

अन्योन्याश्लेषपेशल—इस वर्ग में विद्याधर ने संसृष्टि और संकर अलंकारों को रखा है।

विद्याधर ने वर्गीकरण में कोई मौलिक सहयोग तो नहीं दिया, परन्तु रुय्यक के वर्गीकरण को ही अपनी दृष्टि से अधिक सार्थक बनाने और विस्तृत रूप से समझाने का प्रयास किया है।

विद्यानाथ-कृत वर्गीकरण

विद्यानाथ ने 'प्रतापरुद्रीययशोभूषणम्' में अलंकारों का वर्गीकरण, रुद्रट, रुय्यक और विद्याधर से प्रभावित होकर प्रस्तुत किया। शब्दार्थ और उभयालंकार के नाम से वर्गीकरण मानने के बाद अर्थालंकार का विभाजन किया है। इनके प्रतीयमान वस्तुगत, प्रतीयमान औपम्यगत, प्रतीयमान रसवदादि तथा स्फुट प्रतीयमान चार भेद माने हैं।

प्रतीयमानवस्तव:—इस वर्ग में समासोक्ति, पर्यायोक्ति, आक्षेप, व्याजस्तुति, उपमेयोपमा, अनन्वय, अतिशयोक्ति, परिकर, अप्रस्तुतप्रशंसा तथा अनुक्तनिमित्ता-विशेषोक्ति अलंकार हैं।

प्रतीयमानौपम्या:—रूपक, परिणाम, सन्देह, भ्रान्तिमान्, उल्लेख, अपह्नुति, उत्प्रेक्षा, स्मरण, तुल्ययोगिता, दीपक, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त, सहोक्ति, व्यतिरेक, निदर्शना और श्लेष इस वर्ग के अलंकार माने गये हैं।

प्रतीयमान रसभावादय:—इस वर्ग में रसवद्, प्रेयस्, ऊर्जस्वि, समाहित, भावोदय, भावसन्धि और भावशबलतादि को रखा गया है।

स्फुटप्रतीयमाना:—उपमा, विनोक्ति, अर्थान्तरन्यास, विरोध, विभावना, उक्तनिमित्ता विशेषोक्ति, विषम, सम, चित्र, अधिक, अन्योन्य, कारणमाला, एकावली, व्याघात, मालादीपक, काव्यलिंग, अनुमान, सार, यथासंख्य, अर्थापत्ति, पर्याय, परिवृत्ति, परिसंख्या, विकल्प, समुच्चय, समाधि, प्रत्यनीक, प्रतीप, विशेष, निमीलन, सामान्य, असंगति, तद्गुण, अतद्गुण, व्याजोक्ति, वक्रोक्ति, स्वभावोक्ति और अधिक अलंकार इस वर्ग में रखे गये हैं।

विद्यानाथ ने अलंकारों का एक अन्य वर्गीकरण भी प्रस्तुत किया है। इसे इन्होंने अलंकारकक्ष्याविभाग माना है।[1]

सर्वप्रथम तीन प्रकार का साधर्म्य कहा गया है। यह अभेदप्रधान, भेदप्रधान तथा भेदोपभेद प्रधान नाम से प्रसिद्ध है। इनका यह वर्गीकरण इस प्रकार है—

अभेदप्रधान, साधर्म्यनिबंधन—रूपक, परिणाम, सन्देह, भ्रान्तिमद्, उल्लेख तथा अपह्नुति।

भेदप्रधान साधर्म्यनिबंधन—दीपक, तुल्ययोगिता, निदर्शना, दृष्टान्त, प्रतिवस्तूपमा, सहोक्ति, प्रतीप और व्यतिरेक।

भेदाभेदसाधारणसाधर्म्यमूलक—उपमा, अनन्वय, उपमेयोपमा और स्मरण।

अध्यवसायमूलक—उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति।

विरोधमूलक—विभावना, विशेषोक्ति, विषम, चित्र, असंगति, अन्योन्य, व्याघात, अतद्गुण, भाविक और विशेष।

---

१. (क) अर्थालंकाराणां चातुर्विध्यम्। केचित् प्रतीयमानवस्तव:, केचित् प्रतीयमानौपम्या: केचित् प्रतीयमानरसभावादय:, केचित् स्फुटप्रतीयमाना इति।

(ख) अत्रेत्थमलंकारकक्ष्याविभाग:।

प्रतापरुद्रीययशोभूषणम्—विद्यानाथ, पृष्ठ २४५-२४६

वाक्यन्यायमूलक—यथासंख्य, परिसंख्या, अर्थापत्ति, विकल्प और समुच्चय।

लोकव्यवहारमूलक—परिवृत्ति, प्रत्यनीक, तद्गुण, समाधि, सम, स्वभावोक्ति, उदात्त तथा विनोक्ति।

तर्कन्यायमूलक—काव्यलिंग, अनुमान और अर्थान्तरन्यास।

शृङ्खलावैचित्र्यमूलक—कारणमाला, एकावली, मालादीपक और सार अलंकार।

अपह्नवमूलक—व्याजोक्ति, वक्रोक्ति और मीलन।

विशेषणवैचित्र्यमूलक—समासोक्ति और परिकर अलंकार इस वर्ग में हैं।

विद्यानाथ का प्रथम वर्गीकरण तो पूर्ववर्तियों के वर्गीकरण-भेदों का उद्धरण मात्र है, जो उनके 'केचित्' आदि संकेतों से स्पष्ट हैं। उनका द्वितीय वर्गीकरण रुय्यक और विद्याधर पर आधारित है। हां, अपह्नवमूलक अलंकारों की एक कक्षा ढूंढ लेने में अवश्य उनका कौशल माना जा सकता है।

मल्लिनाथ-कृत वर्गीकरण

विद्याधर के ग्रंथ 'एकावली' की 'तरला' नामक टीका के टीकाकार मल्लिनाथ ने रुय्यक और विद्याधर के वर्गीकरण को स्पष्ट किया और उन दोनों को एक सुबोध रूप प्रदान किया। मल्लिनाथ के अनुसार दोनों आचार्यों द्वारा प्रतिपादित वर्गीकरण इस प्रकार रखा जा सकता है—

१. सादृश्यमूलक अलंकार-वर्ग

(क) भेदाभेदप्रधान—उपमा, उपमेयोपमा, अनन्वय और स्मरण।

(ख) अभेदप्रधान—

(१) आरोपमूलक—रूपक, परिणाम, सन्देह, भ्रान्तिमान्, उल्लेख तथा अपह्नुति।

(२) अध्यवसायमूलक—उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्ति।

२. औपम्यगर्भ अलंकार-वर्ग

(क) पदार्थगत—तुल्ययोगिता तथा दीपक।

(ख) वाक्यार्थगत—प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त और निदर्शना।

(ग) भेदप्रधान—व्यतिरेक, सहोक्ति और विनोक्ति।

(घ) विशेषण-विच्छित्ति—समासोक्ति, परिकर।

(ङ) विशेष्य-विच्छित्ति—परिकरांकुर।

(च) विशेषण-विशेष्य-विच्छित्ति—श्लेष।

(छ) समासोक्ति से विपरीत होने के कारण अप्रस्तुतप्रशंसा को अर्थान्तरन्यास में, अप्रस्तुतप्रशंसा के समान सामान्य-विशेष की चर्चा होने के कारण अर्थान्तरन्यास को, और गम्यवास्तव के कारण पर्यायोक्ति, व्याजस्तुति और आक्षेप को भी इस वर्ग के अन्तर्गत स्थान दिया गया है।

३. विरोधगर्भ-अलंकार-वर्ग

विरोध, विभावना, विशेषोक्ति, विषम, चित्र, असंगति आदि।

४. श्रृंखलाकार अलंकार-वर्ग

कारणमाला, एकावली, मालादीपक तथा सार।

५. न्यायमूलक अलंकार-वर्ग

(अ) तर्कन्यायमूलक—काव्यलिंग, अनुमान।

(आ) वाक्यन्यायमूलक—यथासंख्य, पर्याय, विकल्प, अर्थापत्ति, समुच्चय आदि।

(इ) लोकन्यायमूलक—प्रत्यनीक, प्रतीप, तद्गुण, समाधि, सम, उदात्त, विनोक्ति आदि।

६. गूढ़ार्थप्रतीतिमूलक अलंकार-वर्ग

सूक्ष्म, व्याजोक्ति, वक्रोक्ति, भाविक आदि अलंकार।

स्पष्ट है कि मल्लिनाथ ने भी अपनी ओर से कोई नवीन बात नहीं कही है।

वर्गीकरण-निरपेक्ष आचार्य

संस्कृत-काव्यशास्त्र में ऐसे आलंकारिक भी हैं, जिन्होंने वर्गीकरण के सम्बन्ध में किसी प्रकार की चर्चा नहीं की, अपितु एकपक्षीय अलंकार लिखे। इनमें अप्पय्य दीक्षित, पंडितराज जगन्नाथ तथा भट्ट देवशंकर पुरोहित का नाम उल्लेखनीय है। अर्थालंकारों का विवेचन करने के कारण चाहें इन्हें अर्थालंकारलेखकों में वर्गीकृत कर दिया जाए, परन्तु इन्हें वर्गीकरणनिरपेक्ष आचार्य मानना अधिक उपयुक्त है। उभयालंकार का नाम सम्भवतः उन्होंने केवल इसलिए लिया कि उनके मस्तिष्क में उभयालंकार की धारणा विद्यमान थी।

रीतिकाल में वर्गीकरण-परम्परा

संस्कृत-काव्यशास्त्र के अनुकरण पर रीतिकाल में शब्द और अर्थ के अलंकार कहे गये। शब्दार्थालंकारों के पूर्वापर विवेचन को लेकर परम्परा का निर्वाह हुआ, परन्तु कसी नए मत की स्थापना नहीं हुई है। विश्वनाथ, वाग्भट अथवा कर्णपूर का मत-संकेत भी नहीं दिया गया, अपितु 'भाषाभूषण' में अर्थालंकारों के अनन्तर शब्दालंकारों को रखने की परिपाटी का अनुसरण बहुधा हुआ, कुछ आचार्यों ने अवश्य शब्दालंकार पहले और तदनन्तर अर्थालंकार मम्मटवत् रखे हैं। अप्पय्य दीक्षित की परम्परा के पालक आचार्यों की संख्या भी कम नहीं। अतः इस काल के आलंकारिकों को इन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—

१. शब्द तथा अर्थालंकार के वर्गीकरण के समर्थक

(क) प्रथमतः शब्दालंकार के लेखक

(ख) प्रथमतः अर्थालंकार के लेखक

२. केवल अर्थालंकार-निरूपक

३. केवल शब्दालंकार-निरूपक

प्रथम वर्ग (क भाग)—इन आलंकारिकों में चिन्तामणि, कुलपति, पदुमनदास, देव, कुमारमणि, सोमनाथ, रसरूप (अर्थालंकार अकारादि क्रम से कहे हैं), जनराज, रसिक गोविन्द, ब्रह्मदत्त, जगतसिंह, अमीरदास, निहाल, प्रतापसाहि, तथा ग्वाल हैं।

प्रथम वर्ग (ख भाग)—इनमें जसवंतसिंह, भूषण, श्रीधर ओझा, गोप, रसिक-सुमति, वंशीधर, दूलह, (कतिपय आलोचकों के मत में केवल अर्थालंकारनिरूपक है), भिखारीदास, बैरीसाल, ऋषिनाथ, उमेदराय, पद्माकर, राय शिवप्रसाद, गिरिधरदास तथा कवि दास हैं।

केवल अर्थालंकार-निरूपक—मतिराम, रघुनाथ, गोविन्द, रत्नेस, (अलंकार-दर्पण तथा कान्ताभूषण का लेखक), रत्नेश (फतेप्रकाश का लेखक, मम्मट-कृत लक्षणानुयायी होते हुए भी केवल अर्थालंकारनिरूपक), रामसिंह, सेवादास, चंदन, गोकुल तथा दामोदर हैं।

केवल शब्दालंकार-निरूपक—इस वर्ग में चित्रचन्द्रिकाकार बलवानसिंह, तथा चित्रचमत्कृतकौमुदी के लेखक ईश्वर कवि का नाम उल्लेखनीय है। दोनों ने शब्दा-लंकारों में भी केवल चित्रालंकार का ही निरूपण किया है।

रीतिकाल में वर्गीकरण के नवीन प्रयास

केशव-कृत वर्गीकरण

रीतिकाल के पथप्रदर्शक आचार्य केशवदास तथा भिखारीदास ने वर्गीकरण के सम्बन्ध में विशेषतः प्रयास किया है। इन दोनों वर्गीकरणों का विवेचन अनिवार्य है।

अलंकार-साहित्य के लेखकों में आचार्य केशवदास (भक्तिकालीन होते हुए भी) सर्वप्रथम आते हैं। इन्होंने शब्द और अर्थ-भेद की पद्धति को त्याग कर अलंकारों का वर्गीकरण नवीन रीति से किया। इस दिशा में केशव का प्रयोग मौलिक है। अलंकारों को सर्वप्रथम दो वर्गों—साधारण और विशिष्ट में बांटा गया।[1] तदनन्तर साधारण के भी चार भाग किए गए—वर्णालंकार, वर्ण्यालंकार, भूमिश्री-वर्णन तथा राज्यश्री-वर्णन।[2] आचार्य केशव के भूमिश्री वर्णन नामक अलंकारों का मूल आधार भोज का 'शृंगारप्रकाश' ग्रंथ है, जिसमें प्रबन्धालंकारों के अन्तर्गत 'सन्निवेश-प्राशस्त्यम्' नामक अलंकार की चर्चा है। 'सन्निवेशप्राशस्त्यम्' नगर-अर्णवादि के वर्णन में होता है। भोज ने भी यह अलंकार यशोवर्मा के 'रामाभ्युदय' नामक नाटक की निम्नलिखित पंक्ति के आधार पर प्रस्तुत किया है—

तेष्वेव नगरार्णववर्णनादीनां सन्निवेशप्राशस्त्यम् अलंकार इति[3]

इसी उक्ति का प्रभाव अमर की 'काव्यकल्पलतावृत्ति' तथा केशव मिश्र के 'अलंकारशेखर' पर है और आचार्य केशव उन दोनों के ऋणी हैं।

वर्णालंकार

वर्णालंकारों के प्रसंग में केशव ने सात रंगों—श्वेत, पीत, काला, अरुण, धूमर, नीला और मिश्रित के वर्णन की शिक्षा दी है।[4] अमर की 'काव्य-कल्पलतावृत्ति

१. कविप्रिया—केशव, पृष्ठ ४७
२. कविप्रिया—केशव, पृष्ठ ४८
३. शृंगारप्रकाशः—भोज (सम्पादक, डॉ० राघवन), पृष्ठ ४११
४. कविप्रिया—केशव, पृष्ठ ४८

में केवल छः रंगों का उल्लेख है—श्वेत, पीत, काला, नीला, अरुण और धूमर।[1] केशव मिश्र के 'अलंकारशेखर' में केवल पाँच ही रंग गिनाए गए हैं—श्वेत, पीत, अरुण, नीला और धूसर।[2] काले रंग को केशव मिश्र ने नीले के ही अन्तर्गत रखा है। केशवदास ने वर्णों का स्वरूपवर्णन केशव मिश्र की अपेक्षा अमर से अधिक प्रभावित होकर किया है। अमर का अनुसरण करने के कारण केशवदास ने हरे रंग का उल्लेख नहीं किया, अपितु उसे नीले रंग के अन्तर्गत माना है।

संस्कृतकाव्यशास्त्र के दो ग्रंथों से प्रभावित होते हुए भी केशव ने इन वर्णों का अलंकारों के वर्गीकरण में प्रयोग कर रीतिकाल के काव्यशास्त्र के पंडितों के लिए नवीन मार्ग खोला।

वर्ण्यालंकार

कविप्रिया के छठे प्रभाव में वर्ण्यालंकार का वर्णन किया गया है। जिन वस्तुओं की आकृति या गुण लेकर कोई उक्ति कही जाय, उन्हें केशव ने वर्ण्यालंकार माना है। इस प्रकरण में केशव ने २८ प्रकार की वस्तुओं का उल्लेख किया है।[3]

इनमें सम्पूर्ण, कुटिल, त्रिकोण, सुवृत्त तथा मण्डलाकार वस्तुओं का, तथा तीक्ष्ण, कोमल, कठोर, निश्चल, चपल, सुखद, मंदगति, शीतल, तप्त, सुरूप, कुरूप, सुस्वर, मधुर, अबल, बलिष्ठ तथा दानी का आधार ग्रन्थ भी 'काव्यककल्पलतावृत्ति' है। केशवदास ने कुछ ऐसी वस्तुओं का उल्लेख भी वर्ण्यालंकार के अन्तर्गत किया है, जिनका अमर ने उल्लेख नहीं किया। जैसे आवर्त, गुरु, सत्य, झूठ, अगति और सदागति का नामकरण केशवदास का अपना है। कोमल वस्तुओं के सम्बन्ध में केशव ने अमर से अपना भिन्न मत प्रस्तुत किया है—अमर ने तो कोमल वस्तुओं में स्त्री के अंग, शिरीष के नवपल्लव, हंस की रोमराजि, कदलीस्तम्भ और पट्टांशुक को माना है परन्तु केशव ने इनसे भिन्न वस्तुओं का नाम-निर्देश किया है।

केशव और अमर का कोमल-वस्तु-वर्णन इन पदों में अपनी विभिन्नता स्पष्ट करता है—

अमर—कोमलान्यंगनांगानि शिरीष-नव-पल्लवः।
हंस रोमराजि कदलीस्तम्भः पट्टांशुकान्यपि॥

केशव—पल्लव, कुसुम, दयालुमत माखन, मैन, मुरार।
पाट, पाटरी, जीभ पद, प्रेम, सुपन्थ विचार॥११॥[4]

केशव ने 'कविप्रिया' के सातवें प्रभाव में भूमि-भूषणों का वर्णन किया है। भूमिभूषण से तात्पर्य भूतल के प्राकृतिक वर्णन से है। राज्यश्री का वर्णन आठवें

१. काव्य-कल्पलतावृत्तिः—अमर, पृष्ठ ११७-१२२
२. अलंकारशेखरः—केशव मिश्र, पृष्ठ ६१
३. कविप्रिया—केशव, पृष्ठ ६५
४. (क) काव्यकल्पलतावृत्तिः—अमर, पृष्ठ १४२
(ख) कविप्रिया—केशव, पृष्ठ ७२

प्रभाव में किया गया है। इन दोनों श्री-सम्बन्धी वस्तुओं का वर्णन अमर तथा आचार्य केशवमिश्र ने भी किया है, परन्तु उन दोनों आचार्यों ने इस प्रकार का कोई विभाजन नहीं किया है। सब वस्तुओं (भूमि तथा राज-सम्बन्धी) का वर्णन एक ही प्रकरण के अन्तर्गत रखा है। स्पष्टतः आचार्य केशवदास ने अमर की 'काव्यकल्पलतावृत्ति' तथा 'अलंकारशेखर' से प्रभावित रहकर ही अपना कार्य किया, परन्तु सामयिक परिस्थिति तथा सामाजिक वातावरण के अनुसार राजा, रानी, मन्त्री तथा इत्यादि के वर्णन में नये क्षेत्र का विस्तार भी किया।

वर्ण-(रंग) योजना से अलंकार का स्वरूप-ग्रहण केशव ने कर लिया। यह नवीन योजना ही माननी चाहिए कि केशव ने चमत्कार का सम्बन्ध वर्णों (रंगों) से माना है। अलंकारों के वर्णन में भूमि तथा राज्य से सम्बद्ध वस्तुओं और व्यक्तियों का ग्रहण भी किया और इस प्रकार से अलंकारों को यथार्थ जीवन के वर्णन के निकट ला दिया, परन्तु ये सब क्या वर्ण्य विषय होने के कारण अलंकार नहीं हो सकते ?

साधारण के अनन्तर केशव ने दूसरा वर्ग-भेद विशेष अलंकारों का माना है। यद्यपि इन विशिष्ट अलंकारों में शब्दालंकार भी आ गए हैं, परन्तु केशव ने शब्दार्थगत विभाजन नहीं किया।

वास्तव में अलंकारवादी केशव की दृष्टि सम्पूर्ण चराचर को अलंकार-क्षेत्र में लाने को उत्सुक थी। 'काव्यकल्पलतावृत्ति' जैसे संस्कृत ग्रन्थों का आधार भी जब उन्हें प्राप्त हो गया तो उन्होंने इन सब को लेकर एक लम्बा चौड़ा ठाठ खड़ा कर दिया। वस्तु के स्वरूप में वर्ण या रंग पहले आता है अतः केशव ने सर्वप्रथम तो उन्हें अलंकार माना। इसके पश्चात् वस्तुओं की आकृति, गुण आदि आते हैं। उन्हें केशव ने वर्ण्यालंकार कहा। गुणों के भेदोपभेद तो अनन्त हो सकते हैं, केशव ने गुणों के कोमल आदि भेदों से इन्हें कहा। परन्तु यह सब तो साधारण जीवन की बात हुई। केशव का वातावरण राजकीय था। यही कारण है कि केशव ने भूमिश्री और राज श्री अलंकारों में इन सब को वर्ण्य बनाया। परन्तु प्रश्न है कि क्या ये सब अलंकार हो सके ? हां, उनका एक नवीन प्रयास तो यह है ही। वस्तुतः प्रचलित अलंकारों का कोई नया वर्गीकरण उन्होंने नहीं किया।

भिखारीदास-कृत वर्गीकरण

भिखारीदास रीतिकाल के एक प्रमुख आचार्य हैं। इनके 'काव्य-निर्णय' ग्रन्थ में अलंकारों का वर्गीकरण दिया गया है, जिसमें अर्थालंकार, वाक्यगत अलंकार और शब्दालंकार नाम से तीन भेद किये हैं।[1] अलंकारों के वर्गीकरण में उद्भट तथा रुय्यक का किंचित् प्रभाव अवश्य लक्षित होता है। उद्भट ने अपने समय के

१. भूषण छयासी अर्थ के, आठ वाक्य के जोर।
त्रिगुण चारि पुनि कीजिये, अनुप्रास इक ठौर।
सब्दालंकार पांच गनि, चित्र काव्य इक पाठ।
इकरस बातादिक सहित, ठीक सतोपरि आठ ॥
काव्य-निर्णय—भिखारीदास, पृष्ठ ६१७

अलंकारों को वर्गों में विभक्त किया और रुय्यक ने औपम्य, विरोधमूलकता आदि तत्त्वों को दृष्टि में रखकर अलंकर-वर्गीकरण किया। विद्याधर और विद्यानाथ भी उसी पद्धति के अनुकर्त्ता रहे। आचार्य दास ने भी अपने काल के प्रचलित तथा स्वबुद्धि से उपार्जित अलंकारों को तीन भेदों में बाँट कर पुनः नवीन वर्गीकरण भी प्रस्तुत किया है। वह वर्गीकरण इस प्रकार है—

अर्थालंकार

१. उपमादि	(पूर्णोपमा और लुप्तोपमा) अनन्वय, उपमेयोपमा, प्रतीप, दृष्टान्त, अर्थान्तरन्यास, विकस्वर, निदर्शना, तुल्ययोगिता, तथा प्रतिवस्तूपमा।
२. उत्प्रेक्षादि	उत्प्रेक्षा, अपह्नुति, स्मरण, भ्रम और सन्देह।
३. व्यतिरेक-रूपकादि	व्यतिरेक, रूपक (दास के अनुसार रूपक के दस भेद हैं। १. अधिक, हीन और सम, तद्रूप रूपक २. निरंग, परम्परित, परिणाम तथा समस्तविषयक और ३. उपमानवाचक, उत्प्रेक्षा-वाचक, अपह्नुति-वाचक, रूपक-वाचक, परिणाम-वाचक और उल्लेख रूपक के अन्तर्गत वर्णित है)
४. अतिशयोक्ति आदि	अतिशयोक्ति, उदात्त, अधिक, अल्प और विशेष।
५. अन्योक्ति आदि	अप्रस्तुतप्रशंसा, प्रस्तुतांकुर, समासोक्ति, व्याजस्तुति, आक्षेप तथा पर्यायोक्ति।
६. विरुद्धादि	विरुद्ध, विभावना, व्याघात, विशेषोक्ति, असंगति तथा विषम।
७. उल्लासादि	उल्लास, अवज्ञा, लेश, विचित्र, तद्गुण, अतद्गुण स्वगुण, पूर्वरूप, अनुगुण, मीलित, उन्मीलित, सामान्य और विशेष।
८. समालंकारादि	सम, समाधि, परिवृत्ति, भाविक, प्रहर्षण, विभावना, असम्भव, सम्भावना, समुच्चय, अन्योन्य, विकल्प, सहोक्ति, विनोक्ति, प्रतिषेध, विधि और काव्यार्थापत्ति।
९. सूक्ष्मादि	सूक्ष्म, पिहित, युक्ति, गूढ़ोत्तर, गूढ़ोक्ति, मिथ्याध्यवसित, ललित विवृतोक्ति, व्याजोक्ति, परिकर, परिकरांकुर।
१०. स्वभावोक्ति आदि	स्वभावोक्ति, हेतु, प्रमाण, काव्यलिंग, निरुक्ति, लोकोक्ति, छेकोक्ति, प्रत्यनीक, परिसंख्या तथा प्रश्नोत्तर।

वाक्यालंकार

यथासंख्य तथा दीपकादि	यथासंख्य, एकावली, कारणमाला, उत्तरोत्तर, रसनोपमा, रत्नावली, पर्याय तथा दीपक।

काव्यगुणों के अन्तर्गत वर्णित अलंकार वर्ग

	वीप्सा, यमक, सिंहावलोकन।
अनुप्रास (एक स्थान पर)	अनुप्रास, छेकानुप्रास, वृत्यनुप्रास, लाटानुप्रास।

शब्दालंकार

शब्दालंकार-वर्ग	श्लेष, विरोधाभास, मुद्रा, वक्रोक्ति, पुनरुक्तवदाभास।

चित्रकाव्य	चित्रालंकार
रसवदादि अलंकार	रसवदादि के अन्तर्गत रसवत्, प्रेयस्, ऊर्जस्वि, समाहित. भावोदयवत्, भावसन्धिवत् तथा भावशबलवत् आते हैं।

आचार्य भिखारीदास के इस विशाल वर्गीकरण के विषय में हिन्दी-साहित्य के समालोचकों ने अपने परस्पर-विरोधी विचार प्रस्तुत किये हैं। यह तो सच है कि रीतिकालीन भाषाभूषण की परम्परानुसार दास ने पहले अर्थालंकार रखे हैं, तदनन्तर शब्दालंकार दिये हैं, परन्तु उन्होंने वाक्यालंकार का नाम दे दिया है। दास ने तो शब्दालंकारों को भी अर्थालंकारों में रखने की बात सोची होगी, परन्तु सामयिक तथा परम्परागत प्रवृत्ति का उल्लंघन बे न कर पाए, इस तथ्य का प्रमाण यह दोहा है—

स्लेष विरोधाभास हैं, शब्दालंकृत दास।
मुद्रा अरु वक्रोक्ति पुनि पुनरुक्तवदभास॥
उन पांचहु को अर्थ सों, भूषण कहै न कोइ।
जदपि अर्थ भूषण सकल, शब्द-सकित में होइ॥[1]

श्री कन्हैयालाल पोद्दार ने आचार्य दास के अलंकारसम्बन्धी वर्गीकरण पर अपना मत प्रकट करते हुए 'अलंकारमंजरी' की भूमिका में लिखा है—

'दास जी ने अलंकारों का क्रम न तो काव्यनिर्णय के आधारभूत काव्य-प्रकाश या कुवलयानन्द के अनुसार ही रखा है और न अलंकारों के मूलतत्त्वों के आधार पर ही। यह क्रम-परिवर्तन एक मात्र दास जी की इच्छा पर निर्भर है।'[2]

'अलंकारपीयूष' के प्रथम भाग पृष्ठ १३६ पर डा० रसाल ने अपना मत भिखारीदास के कथन की पुष्टि में दिया है—

'भिखारीदास ने अपने 'काव्यनिर्णय' में उद्भट के समान एक विचित्र प्रकार का वर्गीकरण किया है। एक प्रधान अलंकार के नाम से एक वर्ग बनाकर उसमें उस प्रधान अलंकार से सम्बन्ध रखने वाले अलंकारों की विवेचना की है। ऐसा करते हुए भी यह स्पष्ट है कि उन्होंने शब्द, अर्थ, भाव, रस, ध्वनि, व्यंग्य, न्याय (प्रमाण) पर आधारित होने वाले सभी अलंकारों का पूर्ण स्पष्टीकरण किया है और विषय को सर्वांगपूर्ण बनाया है—भिखारीदास ने अपनी मौलिकता विशेषतया अपने वर्गीकरण में दिखाई है।'

डा० भगीरथ मिश्र ने अपने शोधप्रबन्ध 'हिन्दी-काव्यशास्त्र का इतिहास' के पृष्ठ १४२ पर लिखा है—'अनेक अलंकारों का सामान्य आधार ढूंढ कर उनका वर्ग बांधना दास की विशेषता है, जैसा कि न किसी ने पहले और न किसी ने उनके पीछे किया।'

आचार्य भिखारीदास के वर्गीकरण को देखने पर लगता है कि ११ वर्गों में से ९ वर्गों के आधार के सम्बन्ध में उन्होंने स्वतः भी कुछ कहा है। यह तथ्य दास के वर्गीकरण की पंक्तियों में निहित है—

१. काव्य-निर्णय—भिखारीदास, पृष्ठ ४५९
२. अलंकारमंजरी—कन्हैयालाल पोद्दार, पृष्ठ ५

१. ....अलंकार बारह विदित ।
उपमान और उपमेय को, है विकार समुझौ सुचित ॥
—उपमादि उल्लास

२. (क) जदपि भिन्न हू, है तदपि, उत्प्रेक्षाहि को गेह ।
उत्प्रेक्षादिक में नहीं, तदपि मिलै अभिराम ॥
(पाठ भेद—उत्प्रेक्षादि उल्लास)

(ख) सुमरन, भ्रम, सन्देह के, लंछन प्रघटै नाम ।
(उत्प्रेच्छादिक में नहीं, तदपि मिले अभिराम) ॥

३. परजाजोक्ति समेत किय, षट भूषन इकठौर ।
जानि सकल अन्योक्ति में, सुनो सुकवि सिरमौर ॥
—अन्योक्ति आदि उल्लास

४. विविध, विरुद्ध, विभावना, व्याघाते अरु आन ।
विसेसोक्ति यौ असंगति, विषम सहित छै—जान ॥
—विरुद्ध आदि उल्लास

५. ए होत चतुरदस भांति के, अलंकार सुनिएं सुमति ।
सब गुन-दोष-प्रकार गुंनि, किएं एक ही ठौर थिति ।
—उल्लासादि उल्लास

६. उचित अनुचिती बात में चमत्कार लखि दास ॥
औ कछु मुक्तक रीति लखि, कहत यहै उल्लास ॥
—समादि उल्लास

७. सूच्छम, पिहित, और जुक्ति गंनि, गूढ़ोत्तर, गूढ़ोक्ति ।
मिथ्यांध्यवसायौ, ललित, विवृतोक्ति व्याजोक्ति ॥
परिकर, परिकर अंकुरौ ए ग्यारह अवरेखि ।
धुंनि के भेदन में इन्हैं, वस्तु व्यंग करि लेखि ॥
—सूक्ष्मादि उल्लास[1]

८. सुभावोक्ति, हेतु सहित, जो बहु भांति प्रमान ।
काव्यलिंग, निंद उक्ति गंनि और लोकोक्ति सुजान ॥
पुंनि छेकोक्ति बिचारिकै, प्रत्यनीक सम तूल ।
परिसंख्या प्रश्नोत्तरौ दस वाचक पद मूल ॥
सत्य सत्य बरनन जहां, सुभावोक्ति सो जान ।
तो संगी पैहिचानिएं बहु-विधि हेतु, प्रमान ॥
—स्वभावोक्ति आदि उल्लास

९. दीपक-क्रम द्वै भांति को, अलंकार मतिचारु ।
अति सुखदायक वाक्य के, जदपि अरथ सौ प्यारु ॥
—दीपकादि उल्लास[2]

---

१. काव्य-निर्णय, भिखारीदास, पृष्ठ १५६,२२५,२६७,३२५,३५७,३८५,४३१
२. काव्य-निर्णय, भिखारीदास, पृष्ठ ४५८,४६५

दास ने प्रथम वर्ग के मूलाधार को 'उपमान और उपमेय को है विकार, कहकर स्पष्ट किया है। प्रथमवर्ग का आधार उपमान और उपमेय है। उनके द्वारा परिगणित इस वर्ग के अलंकारों में सादृश्य कहीं उक्ति-भेद से और कहीं व्यंग्य से माना जाता है। वह औपम्यमूल सादृश्य वाच्य और गम्यमान भेद से द्विविध स्वीकृत है। सादृश्य वाच्य के अन्तर्गत उपमा, उपमेयोपमा, अनन्वय, प्रतीप आदि अलंकार आते हैं और सादृश्य गम्यमान के अन्तर्गत दृष्टान्त, अर्थान्तरन्यास, विकस्वर, निदर्शना, तुल्ययोगिता, प्रतिवस्तूपमादि अलंकार हैं। इसलिए दास ने पहले वर्ग में जिन अलंकारों को रखा है, उनमें यही सादृश्य आधारभूत है।

दूसरा वर्ग उत्प्रेक्षादि का है। इसमें भी उपमेय-उपमान की स्थिति रहती है। उत्प्रेक्षा का सीधा अर्थ है—'शंका विशेष के साथ देखना, वर्णन करना'—अतएव उपमेय में उपमान का भेद-ज्ञान पूर्वक उक्ति-वैचित्र्य से सम्भावना करना ही उत्प्रेक्षा अलंकार का विषय होता है। यह सम्भावना कल्पित होती है, अकल्पित नहीं। निश्चय, भ्रम, सन्देह या विकल्प तथा सम्भावना वस्तु-ज्ञान के भेद हैं। वस्तु को उसी रूप में ठीक समझना 'निश्चय' है। निश्चयपूर्वक एक वस्तु को दूसरी समझ लेना भ्रम है। जब किसी वस्तु में ऐसी शंका हो कि यह वही वस्तु है या दूसरी, तब सन्देह या विकल्प होता है। परन्तु जब उस वस्तु में उसके दूसरी होने की विशेष शंका होती है, तब 'सम्भावना' मानी जाती है। भ्रम, सन्देह तथा सम्भावनादि कोटियां है। वस्तुगत भेद हैं। भ्रम में असत्य को निश्चयात्मक रूप से सत्य, सन्देह में सत्यासत्य का समान रूप से विकल्प तथा सम्भावना में एक वस्तु का विशेषतया असत्य वस्तु को अधिक प्रबलता से माना जाता है।

उत्प्रेक्षा-वर्ग में वस्तुगत भेद-साम्य है अर्थात् भिन्नता में भी समता है, जो दास के 'जदपि भिन्न हूं—है तदपि' से स्पष्ट है। इसलिए तर्क-वितर्क का विशेष आग्रह न रखते हुए यह मानना होगा कि दास ने इस वर्ग के अलंकारों को वस्तुगतसाम्य के आधार पर एक स्थान पर रखा है।

अन्योक्ति-वर्ग में उन्होंने अप्रस्तुतप्रशंसा, प्रस्तुतांकुर, समासोक्ति, व्याजस्तुति, आक्षेप तथा पर्यायोक्ति को माना है। इन सब का आधार प्रस्तुत की अपेक्षा अप्रस्तुत की प्रधानता को मान्यता देना है। अन्योक्ति से अप्रस्तुतोक्ति ही मान्य समझी जानी चाहिए, इसलिए इन सब अलंकारों में एक प्रकार का साम्य है। अप्रस्तुतप्रशंसा के अनन्तर प्रस्तुतांकुर और उसी से पुनः विकसित समासोक्ति तथा व्याजस्तुति की उत्पत्ति दास ने कही है। व्याजस्तुति की उत्पत्ति में स्थूलता अवश्य है। तब भी दास की वर्गीकरण की नई सूझ को उन्मुक्त हृदय से स्वीकार करना चाहिये। उन्होंने 'जानि सकल अन्योक्ति' कहकर इन अलंकारों की अन्योक्तिमूलकता का स्पष्ट निर्देश किया है।

विरुद्धादि वर्ग के छः अलंकारों में विरोध की स्थिति की प्रधानता है। 'विषम सहित छः जान' पद में दास ने एक ओर तो विषम अलंकार को गिना दिया है, दूसरी ओर यह भी स्पष्ट कर दिया है कि इन छःओं को 'विषमसहित' अर्थात् वैषम्य-

मूलक समझना चाहिए। यह वर्ग स्पष्टतः इसी आधार पर बनाया गया है।

उल्लास आदि चौदह अलंकारों को गुण-दोष के आधार से एक स्थान पर रखा गया है। गुण-दोषों की प्रधानता, परिवर्तन, आदान, त्यागादि की स्थिति इन अलंकारों में रहती है। यह सूझ भी नितान्त मौलिक है। 'गुन-दोष प्रकार गुनि' अर्थात् गुण-दोष प्रकार को गुन कर (हृदयंगम कर) ही दास ने ऐसा किया है।

समादि सोलह अलंकारों के एक स्थान पर वर्गगत करने का आधार भी दास ने दिया है। वह आधार है कि इन अलंकारों में उचित-अनुचित बात के कहने में चमत्कार देखा जाता है। उचित-अनुचित कथन में भी चमत्कार की जनकता अलंकार की सृष्टि का सौष्ठव है। यह सूझ इससे पहले किसी ने प्रस्तुत नहीं की। अतः यहाँ भी आचार्य भिखारीदास की मौलिकता मान्य है।

सूक्ष्मादि वर्ग को दास ने 'ध्वनिप्रधान' माना और इनमें वस्तुव्यंग्य का कथन किया है। स्वभावोक्ति आदि का वर्ग आचार्य भिखारीदास ने वाचक पद की प्रबलता और मुख्यता के कारण बांधा है। संस्कृत तथा हिन्दी-अलंकार-आचार्यों के विभिन्न मतों को देखते हुए भी दास ने एक नई बात कही है। 'वाचक पद मूल' अर्थात् वाचकपद का वैशिष्ट्य ही इस वर्ग का प्रधान आधार है।

दीपकादि वर्ग में भी आचार्य दास ने उसके वाक्यगत और अर्थगत वैशिष्ट्य को समान रूप से ग्रहण किया है और 'अतिसुखदायक वाक्य के जदपि अर्थ सौं प्यारु'— कह कर इसे स्पष्ट किया है।

व्यतिरेकादि वर्ग तथा अतिशयोक्ति आदि दो वर्ग और भी हैं, जिनमें आधार की संगति बैठाना कठिन है। परन्तु सूक्ष्मता से विचार करने पर यह तथ्य उभरता है कि व्यतिरेक वर्ग के चारों अलंकार व्यतिरेक, रूपक, परिणाम और उल्लेख— औपम्यमूल वर्ग की शोभा हैं। रूपक, परिणाम और उल्लेख में सादृश्य वाच्य है और व्यतिरेक में सादृश्य गम्यमान है। इसलिए इस वर्ग में चारों रखे जा सकते हैं।

अतिशयोक्ति वर्ग में उदात्त, अधिक, अल्प और विशेष सहित पांच अलंकार माने गये हैं। अतिशयोक्ति वर्ग में वर्णन अथवा वस्तुओं की सापेक्षिक अतिशयता का आधार ही इस वर्ग के निर्माण का कारण प्रतीत होता है।

काव्यगुण-प्रसंग के अन्तर्गत वीप्सा, यमक, सिंहावलोकन, अनुप्रास, छेकानुप्रास, वृत्त्यनुप्रास तथा लाटानुप्रास अलंकारों की चर्चा दास ने की है। ये शब्दालंकार हैं। शब्दालंकारों को पृथक् भी उन्होंने दर्शाया है। श्लेष, विरोधाभास, मुद्रा, वक्रोक्ति तथा पुनरुक्तवदाभास शब्दालंकार माने हैं। चित्र उल्लास में चित्रालंकार की चर्चा ही है।

रसवदादि में रसवत्, प्रेयस्, ऊर्जस्वि, समाहित भावोदयवत्, भावसंधिवत् तथा भावशबलवत् रखे हैं। विरोधाभास या विरोध दोनों को दास ने विरुद्धादि वर्ग में भी रखा है और शब्दालंकारों में भी। ऐसा दोहरा कथन असमंजसपूर्ण है। विरोधाभास स्पष्टतः अर्थालंकार है। इसके अतिरिक्त दास ने इन अलंकारों को (शब्दालंकारों के अतिरिक्त) वर्ग में क्यों नहीं बांधा ? रुय्यक के वर्गीकरण-प्रसंग में

यह कहा जा चुका है कि उसने वर्गीकरण का एक प्रयास किया, परन्तु प्रयत्न करने पर भी सभी अलंकार उससे भी नहीं बँध पाए। वही दशा आचार्य दास की भी है। तथापि रीतिकाल में दास ने अपनी सूझ-बूझ से संस्कृत-काव्यशास्त्र के अलंकार-वर्गीकरण की परिपाटी में थोड़ा हेर-फेर किया जो लीक मोड़ने या तोड़ने का प्रयोग ही सही, परन्तु इस वर्गीकरण में नवीनता और सूझ है।

संस्कृत-काव्य-शास्त्र की लगभग दो सहस्र वर्ष की परम्परा में जितने आलंकारिकों ने अलंकार-वर्गीकरण पर ध्यान दिया, उस अनुपात से केशवदास और भिखारीदास का वर्गीकरण-सम्बन्धी प्रयत्न सराहनीय माना जा सकता है।

आधुनिक काल में भी पूर्ण संगत अलंकार-वर्गीकरण अभी तक सामने नहीं आ सका है। श्री सुब्रह्मण्यम् शर्मा तथा बाबू ब्रजरत्नदास ने भी अलंकार-वर्गीकरण दिया है, जो कि निम्नलिखित है।

१. श्री सुब्रह्मण्यम् शर्मा-कृत वर्गीकरण

१. औपम्यमूल—३४ अलंकार
२. विरोधमूल—१० अलंकार
३. कार्य-कारण सिद्धान्तमूल—(न्यायदर्शनमूल) ११ अलंकार
४. न्यायमूल—(क) वाक्यन्याय ५ अलंकार, (ख) तर्कन्याय ६ अलंकार,
(ग) लोकव्यवहारमूल—२१ अलंकार।
५. अपह्नवमूल—११ अलंकार
६. शृंखलावैचित्र्यमूल—४ अलंकार
७. विशेषणवैचित्र्यमूल—२ अलंकार
८. कविसमयमूल—१ अलंकार

२. बाबू ब्रजरत्नदास-कृत वर्गीकरण

इस वर्गीकरण में अर्थालंकारों को ही लिया गया है। उनके प्रारम्भ में पाँच भेद किए गए हैं—

१. औपम्य (सादृश्य, साम्य, साधर्म्य)
२. विरोध (कार्य-कारण-विरोध)
३. शृंखलामूलक
४. न्यायमूलक
५. वस्तुमूलक

इनमें से औपम्यमूलक और न्यायमूलक के पुनः छः तथा तीन भेद किए हैं—

औपम्यमूलक—अभेदप्रधान, भेदप्रधान, भेदाभेदप्रधान, प्रतीतिप्रधान, गम्यप्रधान (व्यंग्यमूलक) तथा अर्थवैचित्र्य प्रधान।

न्यायमूलक—वाक्यन्याय, तर्कन्याय, लोकन्यायप्रधान।

श्री सुब्रह्मण्यम् शर्मा का वर्गीकरण मल्लिनाथ (रुय्यक, विद्याधर, विद्यानाथ-सहित) से प्रभावित है और ब्रजरत्नदास जी ने बहुत कुछ सुब्रह्मण्यम् शर्मा का ही

अनुकरण किया है। इसलिए दोनों वर्गीकरण थोड़े परिवर्तन से परम्परा का निर्वाह मात्र हैं। पं० रामदहिन मिश्र भी अलंकार-वर्गीकरण में आचार्य रुय्यक और विद्याधर से प्रभावित हैं। डॉ० रामशंकर शुक्ल 'रसाल' ने शब्दालंकारों का वर्गीकरण भी प्रस्तुत किया है। इसमें उन्होंने रीतिकाल के वीप्सा, सिंहावलोकन, तुक आदि अलंकारों को भी मिला लिया है। वास्तव में शब्दालंकारों के वर्गीकरण की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती, क्योंकि संख्या १० तक नहीं पहुंचती। अनुप्रास के भेदों की चर्चा से चाहे वह लम्बायित कर लिया जाए। मूलतः शब्दालंकार बिना वर्ग-भेद के ही स्वतन्त्र रह सकते हैं।

संस्कृत तथा रीतिकाल के वर्गीकरण को देख कर निष्कर्षतः यह माना जा सकता है कि इस काल तक निम्नलिखित प्रकार के अलंकार लिखे गए हैं—

१. सामान्यालंकार (वर्ण, भूमिश्री, राजश्री-वर्णन आदि)
२. शब्दालंकार (विशिष्टालंकारान्तर्गत)
३. अर्थालंकार
४. उभयालंकार
५. रस-भाव-सम्बन्धी अलंकार
६. व्यंग्य तथा ध्वनि-सम्बन्धी अलंकार
७. तर्कन्यायमूलक (प्रमाणालंकार सहित) अलंकार
८. कार्य-कारण सम्बन्धी अलंकार, और
९. संकर-संसृष्टि अलंकार

डॉ० रसाल ने भी रीतिकालीन साहित्य की समीक्षा करते हुए अलंकार-प्रकारों को अपने ग्रन्थ में दिया है।[1] उन्होंने रस-भाव को दो प्रकार का तथा संकर-संसृष्टि के भी दो पृथक् भेद माने हैं। परन्तु इनके दो प्रकार ही रखे जा सकते हैं मूलतः भाव का सम्बन्ध रस से है तथा संकर-संसृष्टि में मिश्रणक्रिया प्रधान है। इनके अतिरिक्त डॉ० रसाल ने आचार्य केशव के सामान्यालंकार को किसी भेद में नहीं रखा, जब कि केशव ने स्पष्टतः सामान्यालंकारों को पृथक् लिखा है। केशव का वर्गीकरण चाहे जैसा हो, परन्तु रीतिकाल के साहित्य में उसका स्थान तो है ही। इसलिए रीतिकाल के साहित्य में लिखित अलंकार-प्रकारों में उन्हें परिगणित करना आवश्यक है।

व्यंग्य-अव्यंग्य आधार पर संभावित वर्गीकरण

संस्कृत तथा रीतिकालीन विद्वानों के अलंकार-वर्गीकरण का अध्ययन करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि इनमें से अनेक समर्थ विद्वान् अलंकार-वर्गीकरण को 'व्यंग्य-अव्यंग्य' आधार पर रखने का प्रयत्न करते रहे। परन्तु वे केवल कुछ वर्ग ही इस आधार पर प्रस्तुत कर सके, पूर्ण वर्गीकरण नहीं। आनन्दवर्धन, मम्मट आदि के ध्वनि और अलंकार सम्बन्धी मत, रुय्यक, विद्याधर, विद्यानाथ आदि के

१. अलंकार-पीयूष—डॉ० रामशंकर शुक्ल 'रसाल', पृष्ठ १३७

गम्यौपम्य, गूढ़ार्थप्रतीतिमूल आदि के वर्ग, साथ ही आचार्य भिखारीदास के 'धुनि के भेद' आदि वर्गों से ऐसा ही प्रयास परिलक्षित है।

अलंकार रस के उपकारक तत्त्व हैं और अभिव्यक्ति के प्रकार भी। रस भी अभिव्यक्त होता है। उस अभिव्यक्ति में अलंकारों का योग भी रहता है। इसी रस में ध्वनि का संयोग कर आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वनिवादियों का एक सशक्त वर्ग खड़ा कर लिया और तब से अब तक रस काव्यात्मा के रूप में सर्वस्वीकृत है। इसी दृष्टि को आधार मान कर उसकी सीमा के अन्तर्गत तथा बाह्य क्षेत्र पर दृष्टिपात करते हुए अलंकारों को वर्गीकृत किया जा सकता है।

इन अलंकारों में वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ का चमत्कार साधारण है अथवा नहीं, यह प्रश्न पृथक् है, परन्तु व्यंग्य-विहीन और व्यंग्ययुक्त—इस श्रेणी-विभाग को सर्वथा अस्वीकार नहीं किया जा सकता। समासोक्ति, अप्रस्तुतप्रशंसा, पर्यायोक्त, सन्देह, भ्रान्तिमान् तथा उत्तर जैसे अलंकारों में यदि व्यंग्य न हो,तो उनकी अलंकारता का आधार ही जाता रहेगा। इस सम्बन्ध में ध्वन्यालोककार आचार्य आनन्दवर्धन का कथन द्रष्टव्य है कि जहां वाच्यार्थ का अनुसरण करने के कारण व्यंग्य की प्रधानता नहीं होती, वहां पर स्पष्ट ही समासोक्ति, अप्रस्तुतप्रशंसादि वाच्यालंकार होते हैं।[1] कुछ अलंकार अवश्य ऐसे हैं,जिनको हम स्पष्ट ही व्यंग्य-विहीन कह सकते हैं, जैसे कि उपमा, रूपक, विषम, प्रत्यनीक, विरोधाभास आदि। रीतिकाल में बलवानसिंह ने शब्द-चित्र और अर्थ-चित्र की चर्चा की है। अर्थ-चित्रों में समासोक्ति, अप्रस्तुतप्रशंसा आदि का विवेचन किया गया है।

अतः 'व्यंग्य और अव्यंग्य' के आधार पर अब तक के समस्त काव्यशास्त्रीय वर्गीकरण का एक सम्भावित रूप आगे प्रस्तुत किया जाता है। यहां यह भी कह देना आवश्यक है कि लेखक की दृष्टि में अलंकारों के 'मनोवैज्ञानिक वर्गीकरण' का महत्त्व आज के युग की दृष्टि से विशिष्ट है और उसका स्वरूप-निर्धारण अगले अध्याय में किया गया है, परन्तु शास्त्रीय दृष्टि से इसका ऊहापोह निम्नलिखित रूप में किया जा रहा है, जो विद्वज्जन-ग्राह्य हो सकता है।

सव्यंग्य अथवा व्यंग्य चित्र

१. रस-व्यंग्य

(क) रसव्यंग्य—रसवत्
(ख) आभास व्यंग्य—ऊर्जस्वित्
(ग) भाव-व्यंग्य

अ—भाव-व्यंग्य—प्रेयस्
आ—भाव-स्थिति—भावोदय, भावशान्ति, समाहित
इ—भाव-मिश्र—भावसन्धि, भाव-शबलता

---

१. ध्वन्यालोकः—आनन्दवर्धन (संग्रहश्लोकः) पृष्ठ ४१८-४१९

२. वस्तु व्यंग्य

(क) सादृश्यमूलक

अ—भेद-परक

१. साधर्म्याश्रित—उपमा, अनन्वय, उपमेयोपमा, निदर्शना, दृष्टान्त, स्मृति, भ्रान्ति, असम, प्रतिवस्तूपमा, दीपक, तुल्ययोगिता।

२. वैधर्म्याश्रित—व्यतिरेक, प्रतीप।

आ—अभेद-परक

१. गुणाभेद—मीलित

२. रूपाभेद—सामान्य, उन्मीलित, विशेषक

३. धर्माभेद—अतिशयोक्ति, उत्प्रेक्षा, अपह्नुति, परिणाम, रूपक, उल्लेख।

(ख) सादृश्येतर सम्बन्ध-मूलक अलंकार

अ—विरोध-प्रधान

१—वस्तु-विरोध—विरोधाभास, परिसंख्या

२—कार्य-कारण-हेतुक विरोध—असंगति, विभावना, विशेषोक्ति, विषम, विचित्र, अवज्ञा, असम्भव, द्वितीय व्याघात, अनुकूल।

३—गुण-हेतुक विरोध—उल्लास।

४—क्रिया-हेतुक विरोध—प्रथम व्याघात।

आ—विनिमय-प्रधान—परिवृत्ति, अन्योन्य।

इ—उत्कर्ष-सूचक—सार, संभावना, तद्गुण, उदात्त, अनुगुण, अतद्गुण, पूर्वरूप।

ई—अभिप्राय-सूचक

१—शब्द-सूचन—परिकर, परिकरांकुर, मुद्रा, उत्तर, विवृतोक्ति, पर्यायोक्ति, व्याजस्तुति, व्याजनिन्दा, विधि, प्रतिषेध।

२—चेष्टा-सूचन—सूक्ष्म, पिहित।

उ—भाव-गोपन-परक—व्याजोक्ति, गूढ़ोक्ति, युक्ति।

३. अलंकार-व्यंग्य

(क) औपम्य-व्यंग्य—अप्रस्तुतप्रशंसा, प्रस्तुतांकुर, समासोक्ति, अर्थश्लेष, ललित, लोकोक्ति, छेकोक्ति।

(ख) अतिशय-व्यंग्य—सहोक्ति, सम, अल्प। (५३ अलंकार)

अव्यंग्य चित्र

१. शब्द-चित्र

(क) पद-गत—लाटानुप्रास, यमक (पदावृत्ति)।

(ख) पदांश-गत—छेक, वृत्ति, श्रुति, अन्त्यानुप्रास।

(ग) वाक्य-गत—लाटानुप्रास (वाक्यावृत्ति), यमक, भाषा-सम, चित्र-बन्धादि।

२. शब्दार्थ-चित्र—पुनरुक्तवदाभास, श्लेष (सभंग, अभंग) वक्रोक्ति, प्रहेलिका।

३. अर्थ-चित्र

(क) उक्ति-चित्र

अ—अनुभूति-प्रधान—उल्लास, अनुज्ञा, भाविक।

आ—कल्पना-प्रधान—निरुक्ति, अत्युक्ति, अनुपलब्धि, मिथ्याध्यवसिति।

इ—समन्वय-प्रधान—लेश, विकल्प, संसृष्टि, संकर।

ई—शृंखला-प्रधान

१—कार्य-कारण-भाव-मूलक—कारण-माला

२—विशेषण-विशेष्य-भाव-मूलक—एकावली, माला-दीपक।

उ—सम्बन्ध-प्रधान

१—सामान्य-विशेष-भाव-मूलक—अर्थान्तरन्यास, उदाहरण, विकस्वर

२—कार्यकारण-भाव-मूलक—काव्यलिंग, हेतु, द्वितीय विशेष

३—आधाराधेयभाव-मूलक—अधिक, प्रथम विशेष।

ऊ—क्रम-प्रधान—यथा-संख्य, पर्याय, रत्नावली

(ख) न्याय-चित्र

अ—दण्डापूपिका-न्याय-मूलक—अर्थापत्ति

आ—कैमुत्य-न्याय-मूलक—प्रत्यनीक (अप्पय्य दीक्षित के मत से)

इ—खलेकपोतिका न्याय-मूलक—समुच्चय, कारक-दीपक।

ई—काकतालीय न्याय-मूलक—समाधि, प्रहर्षण, विषादन।

(ग) आक्षेप-चित्र—विध्याभास, आक्षेप, अनुमान।

(घ) वर्णन-प्रधान—स्वभावोक्ति।

(ङ) प्रमाण-प्रधान—श्रुति, ऐतिह्य, स्मृति, उपमान, शब्द-प्रमाण, सम्भव।

(५६ अलंकार)।

अलंकारों की संख्या

अलंकार-वर्गीकरण से सम्बन्धित विषय है अलंकारों की संख्या, क्योंकि इन्हीं के आधार पर कोई वर्गीकरण प्रस्तुत किया जाता है। रुचि-भिन्नता के कारण अलंकारों की संख्या के सम्बन्ध में ऐकमत्य सम्भव नहीं। अलंकार-निरूपक आचार्यों ने चार अलंकारों (अथवा ३६ भूषणों) से अपना क्रम चलाया और उनकी संख्या १२५-१५० तक आ गई। यह एक पक्ष है, जो लक्षणों के रूप में ग्रन्थों में प्राप्त है। दूसरा पक्ष इनको गणनामुक्त मानता चला आ रहा है। भामह के काल में ही यह पक्ष भी प्रचलित हो गया कि वाणी की अलंकार-विधि विस्तृत है।[1] एक अन्य स्थान पर

१. गिरामलंकारविधिः सविस्तरः स्वयं विनिश्चित्य धिया मयोदितः।
अनेन वागर्थविदामलंकृता विभाति नारीव विदग्धमंडना ॥३-५८॥
काव्यालंकारः—भामह, पृष्ठ २५

'शतषष्ठी अलंकृतिः' की चर्चा भामह ने की है।[1]

आचार्य दण्डी ने तो सभी अलंकारों की चर्चा करना किसी कवि के बलबूते के बाहर समझा और अलंकारों को अपने काल में भी विकल्पित, परिवर्तित एवं विकसित होते माना है।[2] आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक में अन्य विद्वानों की सम्मति प्रकट करते हुए एक स्थान पर लिखा है कि (अन्य विद्वानों ने) सहस्र प्रकार के अलंकार प्रकाशित किए तथा प्रकाशित कर रहे हैं।[3]

वक्रोक्ति की वैचित्र्यसिद्धि के प्रसंग में आचार्य कुन्तक ने भी अलंकारों की संख्या सैकड़ों में होने की चर्चा की है।[4] (कई विद्वान् इस पंक्ति के 'काव्यालंकार' पद का सम्बन्ध अलंकार-ग्रन्थों से मानते हैं।)

रीतिकाल में किसी आचार्य ने इस प्रकार का मत व्यक्त नहीं किया। मम्मट, विद्यानाथ, विश्वनाथ, जयदेव तथा अप्पय्य दीक्षित के अलंकार-ग्रन्थों को अधिकतर उपयोग में लाया गया। भामह, दण्डी, उद्भट के मतों का प्रयोग केशव, और देव ने ही अधिकांशतः किया। केशव का अनुकरण देव ने किया और रसरूप, रसिक गोविन्द तथा कवि दास ने संस्कृतकाव्यशास्त्रीय तथा केशव की परम्परा को पकड़ा परन्तु संख्या-सम्बन्धिनी इस परिपाटी पर किसी को कुछ कहने की आवश्यकता नहीं हुई। इस काल में अलंकारों के भेदोपभेद भी बढ़े हैं।

रीतिकाल में केशव (८), मतिराम (१), देव (५), रघुनाथ (१), भिखारीदास (३), रसरूप (३) तथा जगतसिंह के (१) अलंकारों को मिलाकर नवीन अलंकारों की संख्या २२ बन जाती है। इन नए अलंकारों सहित अलंकारों की कुल संख्या प्रधानतः १५० तक जा पहुंचती है।

अलंकारों का अन्तर्भाव

अलंकारों के अन्तर्भाव का प्रश्न भी अलंकार-संख्या से सम्बन्धित है। इनके अन्तर्भाव के सम्बन्ध में वामन के काल में ही प्रयत्न होने लगे थे। वामन ने उपमा-सम्बद्ध अलंकारों का निरूपण कर शेष को इन्हीं के अन्तर्भूत स्वीकार किया। हेमचन्द्राचार्य ने भी ऐसा प्रयास किया, जिसका उल्लेख अलंकार-विकास प्रकरण में

१. षष्ठ्या शरीरं निर्णीतं शतषष्ठ्या त्वलंकृतिः।

काव्यालंकारः—भामह, पृष्ठ ४८

२. ते चाद्यापि विकल्प्यन्ते कस्तान् कार्त्स्न्येन वक्ष्यति ॥२-१॥

काव्यादर्शः—दण्डी, पृष्ठ ४४

३. सहस्रशो हि महात्मभिरन्यैरलंकारप्रकाराः प्रकाशिताः प्रकाश्यन्ते च।
एवं-अलंकाराणामनन्तत्वात्।

ध्वन्यालोकः—आनन्दवर्धन, पृष्ठ १०-११, १५०

४. यद्यपि सन्ति शतशः काव्यालंकारास्तथापि न कुतश्चिदप्येवंविधवैचित्र्यसिद्धिः।

वक्रोक्ति-जीवितम्—कुन्तक, पृष्ठ ७

किया गया है। आचार्य मम्मट ने भी ६ शब्दालंकार और ६१ अर्थालंकार माने तथा शेष के सम्बन्ध में चुप्पी साध ली।

अन्तर्भाव की समस्या के सम्बन्ध में एक बात विचारणीय है कि कई बार प्रयास करने पर भी इनकी संख्या बढ़ती गई और सूक्ष्म भेदान्तरों से इनका विकास होता गया। अप्पय्य दीक्षित तक दोनों परम्पराएं सशक्त रूप से चलती रहीं। नरसिंह कवि तक भी यही स्थिति रही। तब किन्हीं अलंकारों का अन्तर्भाव किन्हीं दूसरों में दिखा देने पर भी विवाद की परिसमाप्ति नहीं होती। अभिव्यक्ति के चारुत्व-हेतु ये अलंकार जितने विकसित हों, उतने ही उपयुक्त हैं।

: ८ :

अलङ्कार और मनोविज्ञान

साहित्य और मनोविज्ञान

मानव-जीवन के अध्ययन के लिए मनोविज्ञान जिन क्षेत्रों को अपना विषय बनाता है, उनमें साहित्य का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। मनोविज्ञान सामान्यतया जीवन में परस्पर विरोधी दिखाई देने वाले कार्यों का मूल अवचेतन को मानता है। उसके लिए मनुष्य की कोई भी क्रिया असंगत नहीं है। मानव सभ्य होने के नाते अपनी दमित कुण्ठाओं को समाज में खुले रूप में प्रकट नहीं करता अतः अनेक पाश्चात्य विद्वानों ने ऐसे रहस्यों को जानने के लिए सम्मोहन, स्वप्न आदि की प्रक्रिया का प्रयोग किया। उन्होंने साहित्य एवं अन्य कलाओं का मूल उत्स भी इन्हीं दमित इच्छाओं को माना है। इसलिये स्पष्ट है कि मनोविज्ञान के अध्ययन के लिए साहित्य और साहित्य के मूल को जानने के लिए मनोविज्ञान के अध्ययन की कितनी आवश्यकता है? न केवल फ्रायडवादी विचार के अनुसार परन्तु हमारे यहां की सर्वसामान्य परम्परा भी मन को ही साहित्य का मूल कारण मानती है, इसलिए साहित्य का मनोवैज्ञानिक अध्ययन प्रत्येक दृष्टि से अपेक्षित है।

साहित्य : मानसी-सृष्टि

भारतवर्ष में कवि को ब्रह्मा के समान ही समर्थ रचनाकार माना गया है—

अपारे काव्यसंसारे कविरेकः प्रजापतिः।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते ॥[1]

आचार्य मम्मट ने अपने ग्रंथ के मंगलाचरण में भी कविभारती को ब्रह्मा की सृष्टि की अपेक्षा उत्कर्षशालिनी सिद्ध किया है।[2] स्पष्ट है कि यह कवि-वाणी मनोनिर्मित है। कवि की रचना उसके मन का प्रतिबिम्ब है। क्रोचे के सिद्धान्त की पूर्ण संगति भी इसमें होती है। कवि बाह्य वस्तुओं का वर्णन ठीक उसी रूप में नहीं करता, जैसी वे हैं। वह तो सदैव उन वस्तुओं के अपने मन पर पड़े प्रभावों को अंकित करता है। सौन्दर्यशास्त्र की व्याख्या करते हुए प्रसिद्ध लेखक बर्नार्ड बोसांके

---

१. ध्वन्यालोकः—आनन्दवर्धन, पृष्ठ ४२२

२. नियतिकृतनियमरहितां, ह्लादैकमयीमनन्यपरतंत्राम्।
नवरसरुचिरां निर्मितिमादधती भारती कवेर्जयति ॥
काव्यप्रकाशः—मम्मट, पृष्ठ ५

ने लिखा है—'सौन्दर्यात्मक दृष्टि वह है, जिसमें हम कल्पना द्वारा किसी वस्तु का विचार करते हैं और इस प्रकार वस्तु के साथ तादात्म्य स्थापित करने में समर्थ होतेहैं, जैसे कि वह हमारी भावनाओं का ही मूर्त्त रूप है'।[१] अरस्तू का अनुकरण का सिद्धांत भी इसी प्रक्रिया का उदाहरण है। अकेले राम की कथा विभिन्न कवियों के काव्यों में विभिन्न रूप ग्रहण कर लेती है, क्यों? कारण स्पष्ट है कि जिस कवि का जैसा मनोभाव होता है, वह कथा को भी उसी के अनुसार रंग दे देता है। प्रत्येक चरित्र प्रत्येक कवि का अपना मनोभाव है। प्रत्येक साध्य प्रत्येक व्यक्ति का अपना मनोराज्य है। कवि जिस वातावरण में रचना करता है, वह उसका अपना मनोवातावरण है, अन्य सबसे निराला। कवि का मन ही वस्तु को अपने अनुरूप ढालता है। उसका मन हंसता है, सभी प्रकृति हंसती है, उसका मन रोता है, सारी प्रकृति रोती है। रचना कवि का अन्तः सुख है, स्वान्तःसुखाय है। कवि की अनुभूति ही उसमें सर्वत्र व्याप्त रहती है। उसी के दुःख, सुख, उल्लास, हर्ष, वेदना, चिन्ता आदि काव्य में बिखरे रहते हैं। ये सभी मानसिक दशाएं हैं। कवि के मन की वृत्तियां या स्थायी भाव ही परिपुष्ट होकर रसदशा को पहुंचती है। रसदशा मन की एक ऐसी मधुमती दशा है, जहां सत्व का प्रवाह उसे अपने आप में निमज्जित कर लेता है। मन वहां भी क्रियाशील रहता है। उसी की काव्यात्मक अभिव्यक्ति ग्राहिका प्रतिभा द्वारा पाठक को भी कविहृदय का अनुभव कराती है। भावन की यह प्रक्रिया भी मानसिक है।

अलंकार और मनोविज्ञान

काव्य में अलंकारों की स्थिति कितनी महत्त्वपूर्ण है, यह विचार अन्यत्र किया जा चुका है। यहां निष्कर्षतः इतना ही कहा जा सकता है कि अलंकार भी काव्य की उत्कृष्टता के महत्वपूर्ण माध्यम हैं। विद्वानों द्वारा यह स्वीकृत किया गया है कि रसाभिव्यक्ति में सहायक होने पर उनका बहिरंगत्व नहीं रहता।[२] कविवर पंत के आलंकारिक शब्दों में अलंकार की परिभाषा देखिये—'अलंकार केवल वाणी की सजावट के लिए नहीं, वे भाव की अभिव्यक्ति के विशेष द्वार हैं। भाषा की पुष्टि के लिए, राग की परिपूर्णता के लिए उपादान हैं। वे वाणी के आचार, व्यवहार, रीति-नीति हैं, पृथक् स्थितियों के पृथक् स्वरूप, भिन्न अवस्थाओं के भिन्न चित्र हैं। वे वाणी के हास, अश्रु, स्वप्न, पुलक, हाव-भाव हैं।[३] वास्तव में भाव सहजात अलंकार काव्य के लिए अनिवार्य हैं। सिद्धान्त के लिए कोई कुछ भी माने, परन्तु कोई भी श्रेष्ठ काव्य ऐसा न होगा जो अलंकार-रहित हो। भावावेश की अवस्था में

---

१. The Aesthetic attitude is an attitude in which we imaginatively contemplate an object, being able in that way to live in it as an embodiment of our feeling.
Three lectures on aesthetics—Bernard Bosanquet, pp. 29, 30.

२. न तेषां बहिरंगत्वं रसाभिव्यक्तौ—अभिनवगुप्त (ध्वन्यालोक), पृष्ठ १४७

३. पल्लव—पंत, (भूमिका) पृष्ठ ३२

अलंकार स्वयं उद्‌भूत होते हैं।[१] कल्पना या भावावेश से भाषा अलंकृत हो ही जाती है।[२] यदि अलंकार उक्ति के प्रकार हैं तो उनसे रहित काव्य की कल्पना ही कैसे की जा सकती है। वास्तव में अलंकार काव्य के बाह्य धर्ममात्र न होकर आन्तरिक उक्ति के साथ मन से आये हुए भाषा के रत्न हैं, जिनमें कल्पना का नित्य विहार है।

भाव के साथ ही उसे अभिव्यक्ति देने के लिये भाषा का जन्म होता है। वही भाव अलंकार को भी जन्म देता है, यही कारण है कि अलंकार भी पूर्णतः मनोविज्ञान पर आधारित भाव-प्रक्रिया है। अनुभूति की तीव्रता के बिना काव्य-रचना नहीं होती, अनुभूति की तीव्रता का अर्थ है—किसी प्रमथनशील भाव का वेग, आवेग का उफान, ऐसा प्रबल चेतोविकार, जो चेतना को छा ले। परन्तु साहित्यकार और इतर जन में यह अन्तर है कि वहां उन्माथी भाव और आवेग जो दूसरों को झकझोर देते हैं, साहित्यकार की भावना के विषय बन जाते हैं।[३] वास्तव में काव्य-रचना की स्थिति कवि का उन्मादन-काल होती है। यह आवेग या उन्मादन ही जब सीधी सरल भाषा द्वारा अभिव्यक्त नहीं हो पाता तो वह भाषा को अतिशयत्व या वक्रता देता है। भाव का विस्तार भाषा को विस्तार देता है, यही काव्य का जनक है, इसी से विभिन्न अलंकारों की सृष्टि होती है।

अलंकार का सम्बन्ध किसी विशिष्ट भाव से न होकर भावसामान्य से है। सभी भावों में उद्दीपन होता है और उद्दीपन ही अलंकार का जनक है। यही कारण है कि सभी अलंकार मन के किसी भी भाव को अभिव्यक्त करने का साधन बन सकते हैं। रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षा आदि का भावोद्दीपन के लिए प्रयोग सुख, दुःख की किसी भी अभिव्यक्ति के लिये किया जा सकता है। अथवा यों कहा जाय कि श्रृंगार वीर, हास्य, करुण किसी भी भाव या रस का सम्बन्ध किसी विशिष्ट अलंकार से नहीं है। होना भी नहीं चाहिये। क्योंकि अलंकार एक प्रक्रिया-विशेष का प्रतिफलन है, जिसकी विशिष्ट सीमाएं नहीं हैं, अपितु सभी प्रकार के भावों में जिनका मुक्त संचरण है। रीतिकाल के कुछ कवियों ने विशिष्ट भावों के साथ विभिन्न अलंकारों को जोड़ने का यत्न किया है।[४] परन्तु ऐसा करने में उनकी अनुभूति की कोमलता और एकांगिता ही निर्दशित है, वैज्ञानिकता नहीं। प्रहर्षण और विषादन जैसे अलंकार सीमित हैं और मूल रूप में अलंकार की सामान्य परिभाषा से सहज ही बहिष्कृत किये जा सकते हैं। जयदेव की परम्परा के आचार्यों ने ही उन्हें अलंकार माना है, सामान्य स्वीकृति उन्हें नहीं मिल सकी है। व्याजस्तुति जैसे अलंकारों में भी भाव की कुछ सीमाएं हैं परन्तु उनमें भी इनका अलंकारत्व स्तुति-निन्दा जैसे भावों में नहीं, उनकी प्रक्रिया-विशेष में है। निष्कर्ष यह है कि अलंकार एक विशुद्ध

१. Figures consist in passional element—Home.

२. Language suggested by imagination of passion—Blair
भूमिका काव्य-दर्पण—रामदहिन मिश्र, पृष्ठ ६९

३. साहित्य का स्वरूप—डा० ब्रजलाल गोस्वामी, पृष्ठ १५

४. रसभूषण—राय शिवप्रसाद, पृष्ठ ६४-६६

मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है, जिसका सम्बन्ध भावसामान्य की उद्दीपन अवस्था से है, इसी रूप में इसका अध्ययन किया जाना चाहिए।

अलंकारों की आधारभूत मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाएं

मन की प्रक्रियाएं सर्वथा जटिल हैं, इनसे इनकार नहीं किया जा सकता। एक साधारण सी प्रक्रिया के पीछे भी मन की कितनी सूक्ष्म दशाएं झंकृत होकर उनमें कितना परिवर्तन प्रस्तुत कर देती हैं, इसका अनुमान किया जा सकता है, परन्तु उन सबका विस्तृत विवरण देना सम्भव नहीं है। भाव के उद्दीपन या मन के आवेग से उत्पन्न होने वाले अलंकारों की इस प्रक्रिया में भी अनन्त परिवर्तन उपस्थित होते हैं, परन्तु प्रकट रूप में समझ में आने वाली कुछ साधनभूत प्रक्रियाओं का मनोवैज्ञानिक अध्ययन किये बिना यह विषय पुरस्सर नहीं हो सकता।

अलंकारों के मूल में कल्पना रहती है। मन का आवेग जब अपनी पूर्ण अभिव्यक्ति चाहता है, तब उसकी इस सहज सेवा का कार्य कल्पना को ही करना पड़ता है। वही उसके लिए उपमान-योजना करती है, कभी उसका 'अतिशय (सीधा विस्तार) करती है, कभी उसे विरोध, वक्रता द्वारा प्रस्तुत करती है। यह समस्त विलास कल्पना का ही है। अतः कल्पना तथा उससे सम्बन्धित स्मृति आदि प्रक्रियाओं का संक्षिप्त परिचय यहां प्रस्तुत किया जा रहा है।

स्मृति

कल्पना के मूल में स्मृति होती है। स्मृत वस्तुओं में रचनात्मक शक्ति से कुछ नया जोड़कर ही कल्पना का स्वरूप प्रतिष्ठित होता है। सर्वप्रथम स्मृति का परिचय जानना आवश्यक है।

मनोविज्ञान के अनुसार स्मृति कोई शक्ति न होकर एक मानसिक प्रक्रिया है। इस मानसिक क्रिया द्वारा भूतकाल की अनुभूतियों और घटनाओं को अपनी वर्तमान चेतना (Present conciousness) में लाया जाता है। इस क्रिया में भूतकालिकता (pastness) बराबर बनी रहती है। स्मरण के लिए पूर्वानुभव नितान्त आवश्यक है।[1]

स्मृति की परिभाषा के सम्बन्ध में भिन्नता मिलती है। स्टौट की दृष्टि में स्मृति विचारात्मक पुनर्जागरण (Ideal revival) है। उसके अनुसार यह गत अनुभवों का पुनरावर्तन (Reproduction) है। बैट्रिस एजिल स्मृति को धारणा (Retention) मानते हैं। यह धारणा ही पुनरावर्तन का मूल आधार है। कुछ इसमें पुनरावर्तन के साथ प्रत्यक्ष ज्ञान को भी मिला देते हैं। वुडवर्थ स्मृति में चार प्रक्रियाएं मानता है। ये हैं सीखना (Learning), धारणा (Retention), स्मरण या पुनरावर्तन (Reproduction) और पहिचान (Recognition)।[2]

---

१. But there can be no doubt that memory forms on indispensible part of our knowledge of the past.
The Analysis of Mind—Bertrand Russell F. R. S. 1922, p. 165

२. सामान्य मनोविज्ञान—हंसराज भाटिया, पृष्ठ २२६

स्मरण में सर्वप्रथम प्रत्यक्ष का ग्रहण (Reception of impressions) या अनुभव की उपस्थिति होती है। दूसरी प्रक्रिया धारणा है, जो गत अनुभवों और ज्ञान को मन में रोके रखती है। यदि पूर्व अनुभव या घटनाएं मन में जमा न हों तो हम उन्हें स्मरण में कैसे बुला सकते हैं ? स्मरण में बुलाना तीसरी प्रक्रिया है, जो वस्तु को उसी रूप में उभार लाती है और अन्तिम प्रक्रिया इन स्मरण की हुई वस्तुओं की पहचान है कि वे अनुव हमारे ही हैं।

कल्पना

कल्पना की परिभाषा करते हुए कहा गया है—'पूर्व अनुभूतियों तथा उनसे सम्बन्धित घटनाओं को बिम्बों के रूप में सजाने की मानसिक क्रिया को कल्पना कहते हैं।'[1] बिम्ब अथवा प्रतिमाएं (Images) जो हमारी कल्पना में आती हैं, वे वही होती हैं, जो हमने कभी पहले देखी या अनुभव की होती हैं।

कल्पना को ठीक प्रकार से समझने के लिए उसका स्मृति से अन्तर करना अनिवार्य है। स्मरणक्रिया पूर्वानुभूतियों की पुनरावृत्ति मात्र (Reproduction) है परन्तु कल्पना में पूर्वानुभूतियों की पुनरावृत्ति के बदले उनका नवीन सम्भावित रूप पाया जाता है। उदाहरण के लिये किसी व्यक्ति ने सोना भी देखा है, पर्वत भी। अब वह सोने के पर्वत की कल्पना कर सकता है। सोने का पर्वत है कल्पना मात्र ही इसीलिये कल्पना का स्वभाव रचनात्मक (Creative Nature) है। वस्तुतः पूर्वानुभव, धारणा और प्रत्याह्वान तो कल्पना के भी आधार होते हैं, परन्तु जहां स्मृति में उन्हें गत अनुभवों के रूप में देखा जाता है, वहां कल्पना में उनका सर्वथा नवीन रूप, या नया क्रम देखने में आता है, यही नवता कल्पना का रूप है।

रचनात्मक कल्पना के प्रयत्न और अप्रयत्न के आधार पर दो भेद किये जाते हैं, नियन्त्रित कल्पना (Controlled imagination) और अनियन्त्रित कल्पना (Uncontrolled imagination)।

नियन्त्रित कल्पना किसी लक्ष्य या उद्देश्य विशेष को लेकर कल्पना करना होता है। कल्पना को निश्चित दिशा में मोड़ने का यत्न इसमें बराबर बना रहता है। इस कल्पना में सक्रियता होती है, इसी से इसे सक्रिय कल्पना (Active imagination) भी कहा जाता है। यह प्रायः तर्कसंगत और अभिप्राययुक्त होती है। वैज्ञानिक आविष्कार तथा भवन-निर्माण आदि में इसी कल्पना का उपयोग होता है।

अनियन्त्रित कल्पना व्यक्ति के चेतन-नियन्त्रण से स्वतन्त्र होती है। इसे निष्क्रिय कल्पना (Inactive Imagination) भी कहते हैं। यह प्रायः विकृत मस्तिष्क, दिवास्वप्न आदि से सम्बन्धित है।

स्पष्ट है कि काव्य में विशेष रूप से अलंकारों में नियन्त्रित कल्पना ही उपयोगी होती है। काव्य के प्रस्तुत में भले ही कल्पना को कभी-कभी कोई अनियन्त्रित होने की छूट दे सके परन्तु अलंकारों में तो एक जाग्रत कौशल होता है, जिसका सम्बन्ध कल्पना के नियन्त्रित रूप से ही है।

---

१. सामान्य मनोविज्ञान—रामप्रसाद पाण्डेय, पृष्ठ २२३

बिम्ब या प्रतिमाएं

कल्पना की परिभाषा में बिम्ब की बात कही गई है। इन बिम्ब या प्रतिमाओं के मनोवैज्ञानिक रूप की धारणा होना भी आवश्यक है।

जब वस्तुएं हमारी ज्ञानेन्द्रियों के सामने होती हैं तब हम संवेदन (Sensation) या प्रत्यक्षज्ञान (Perception) प्राप्त करते हैं। उनकी अनुपस्थिति में जब हम उनके विषय में सोचते हैं, तब भी उनके चित्र हमारे मानस में अंकित हो जाते हैं। पदार्थों की अनुपस्थिति में कल्पित किये गये ये चित्र ही बिम्ब या प्रतिमाएं कहलाते हैं। इन्हें ही स्मृति-प्रतिमा (Memory Image) या मानसिक प्रतिमा (Mental Image) कहा जाता है।[1] न केवल रूप की, बल्कि प्रकाश, रंग, स्वाद, ध्वनि, गंध आदि सभी की प्रतिमाएं मानस में बन सकती हैं। ज्ञानेन्द्रियों को दृष्टि में रखते हुए ये प्रतिमाएं पांच प्रकार की होती हैं—

१. दृष्टिप्रतिमा २. श्रवणप्रतिमा
३. घ्राणप्रतिमा ४. स्पर्शप्रतिमा
५. स्वादप्रतिमा

इनके अतिरिक्त मनुष्य को गतिप्रतिमा की भी अनुभूति होती है।[2]

प्रतीकीकरण

प्रतीकीकरण भी कल्पना का एक महत्वपूर्ण अंग है, जिसका काव्य और अलंकार के विधान से निकट का सम्बन्ध है। मनोवैज्ञानिकों ने प्रतीक के सिद्धान्त का विवेचन स्वप्न की क्रिया के अन्तर्गत किया है।

प्रतीकीकरण का सर्वसामान्य अर्थ है, कोई ऐसी वस्तु जो संक्षेप में अन्य सम्बन्धित वस्तु का प्रतिनिधित्व कर सके। स्पष्ट है कि किसी वस्तु के गुण इस प्रकार सिमटकर इस नवीन वस्तु में आ जाते हैं कि हम उसे देखकर अन्य वस्तु का पूरा-पूरा अनुमान लगा लेते हैं। फ्रायड के अनुसार प्रतीकीकरण का अर्थ है—अनेक घटनाओं के मिलते जुलते अंशों का एक ही बिम्ब में सिमट जाना। यह एक बिम्ब या प्रतिमा अनेक प्रकार के विचारों का एकीकरण होता है। इसी सिद्धान्त के द्वारा स्वप्न का अव्यक्त विषय (Latent content) विकृत रूप में अभिव्यक्त होता है। अचेतन इच्छाएं प्रतीकों के माध्यम से स्वप्नों में अभिव्यक्त होती हैं। प्रत्यक्ष या स्वप्न में हमारी बहुत सी इच्छाएं समाज के किन्हीं प्रतिबन्धों के कारण सीधे ही प्रकट नहीं होतीं, परन्तु वे ही प्रतीकों के रूप में स्वप्नादि में प्रकट की जा सकती हैं।[3] स्वप्न के ये प्रतीकात्मक रूप फ्रायड ने बताये भी हैं। उदाहरण के लिये यात्रा मृत्यु का प्रतीक है, पानी जन्म का प्रतीक है, राजा-रानी मां-बाप के प्रतीक हैं, पहाड़ की चोटी अथवा सीढ़ी पर चढ़ना मैथुन का प्रतीक है और कपड़ा नग्नावस्था का

१. सामान्य मनोविज्ञान—हंसराज भाटिया, पृष्ठ ३२३
२. सामान्य मनोविज्ञान—रामप्रसाद पाण्डेय, पृष्ठ २०२
३. मनोविज्ञान:—प्रकृत और अप्रकृत—मधुकर, पृष्ठ २७०

प्रतीक है ।[1] स्वप्न के प्रतीकीकरण में हमारी प्रत्यक्ष चेतना का कोई योग नहीं होता, परन्तु काव्यादि में हमारी प्रत्यक्ष चेतना ही ऐसे प्रतीकों का निर्माण करती है। उनका निर्माण न केवल व्यक्तिगत आधार पर होता है, अपितु वे सार्वजनिक अनुभूति के आधार पर निर्मित होते हैं और यही कारण है कि किसी एक प्रतीक के द्वारा उसके पीछे छिपा समस्त तत्त्व प्रकट हो जाता है । डा० नगेन्द्र के शब्दों में 'अचेतन दशा में जो स्वप्नावस्था है, वही चेतन दशा में कल्पनावस्था समझनी चाहिए।' परन्तु इसमें चेतन और अचेतन का जो अन्तर ऊपर स्पष्ट किया गया गया है, वह भी ध्यान में रखना चाहिये ।

प्रतीकों के आधार पर अलंकारों में अनेक नवीन उपमानों का जन्म होता है। यह बहुत कुछ उपमेय और उपमान में काम आता है । इसके अतिरिक्त जब कल्पना सिमटकर चलती है, तब भी प्रतीक का प्रयोग आवश्यक हो जाता है ।

साहचर्य का नियम

अलंकारों के लिए अत्यन्त उपयोगी और कल्पना का एक आधारभूत नियम साहचर्य का सिद्धान्त भी है। मानव के विचार एक दूसरे से जुड़े रहते हैं । एक वस्तु को देखकर या स्मरण कर उससे सम्बन्धित किसी दूसरी वस्तु की याद भी हमें तत्काल आ जाती है । दिन कहते ही रात याद आती है, रात कहते ही अंधेरा याद आता है, यह इसलिए होता हैं कि इन वस्तुओं में साहचर्य है। हमारे अनुभव में ये वस्तुएं एक साथ आई होती हैं या इनमें किन्हीं गुणों की समानता है, जिसके कारण इनका साथ-साथ स्मरण हो आता है ।

साहचर्य के नियमों का आरम्भिक प्रतिपादन सर्वप्रथम अरस्तू द्वारा हुआ था, जिसका प्रभाव अठारहवीं-उन्नीसवीं शताब्दी तक बना रहा । अरस्तू द्वारा बताये गये साहचर्य के तीन नियम थे—

१. समीपता का नियम २. समानता का नियम ३. विरोध का नियम ।

१. समीपता का नियम

एक ही स्थान, और एक ही समय के अनुभव में कई प्रकार की अनुभूतियां होती हैं, उनमें से किसी एक के प्रस्तुत होने पर अन्य का स्मरण भी सहसा हो आता है । 'क' के याद आते ही 'ख' का याद आना समीपता के ही कारण है । स्थान तथा समय की समीपता ही साहचर्य का कारण बन जाती है ।

२. समानता का नियम

समान अनुभूतियों में साहचर्य स्थापित हो जाता है । एक पुष्प को देखकर उसी के आकार या रंग के अन्य पुष्प की याद आ जाती है । यह स्मरण रूप, गुण, क्रिया आदि की समानता के आधार पर होता है । दांतों की स्वच्छ पंक्ति को देखकर अनार या मोती के दोनों की याद आ जाना स्वाभाविक है । उपमेय और उपमान की समानता विशेष रूप से इसी नियम पर आधारित है ।

---

१. सामान्य मनोविज्ञान—रामप्रसाद पाण्डेय, पृष्ठ २३६

३. विरोध का नियम

विरोधी अनुभूतियों में भी एक साहचर्य स्थापित हो जाता है। एक के उपस्थित होने से उसके अनुभव से उसका विरोधी रूप स्मरण हो आता है। सुख-दुःख, आशा-निराशा, अन्धकार-प्रकाश, फूल-कांटे आदि ऐसे ही विरोधी युग्म हैं। वास्तव में इस विरोध के मूल में भी एक साहचर्य ही है।

स्पष्टता (Law of Vividness), प्राथमिकता (Law of Primacy), आसन्नता (Law of Recency) और बारम्बारता (Law of Frequency) आदि के नियमों का सम्बन्ध भी सीखने और स्मरण से है, ये भी साहचर्य के ही विभिन्न प्रतिरूप हैं।[1]

भारतीय मत में कल्पना का विचार

ऊपर कल्पना तथा उससे सम्बंधित कुछ नियमों का मनोवैज्ञानिक परिचय प्रस्तुत किया गया है। यहां यह देखना है कि कल्पना का भारतीय काव्यशास्त्र में किस रूप में विवेचन हुआ है और इस रूप का अलंकारों से क्या सम्बन्ध है।

कल्पना शब्द 'क्लृप्' धातु से बनता है, जिसका अर्थ सृजन करना होता है। भारतीय काव्यशास्त्र में कल्पना के स्थान पर प्रायः प्रतिभा शब्द का प्रयोग होता है। जिन आचार्यों ने परिभाषा में मानसिक प्रक्रिया पर ध्यान रखा है, उनकी प्रतिभा की परिभाषा कल्पना की आधुनिक परिभाषा से पूरी तरह मेल खाती है।

रुद्र ने प्रतिभा की व्याख्या निम्नलिखित शब्दों में की है—

'प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता'।[2]

अर्थात् नव नव अर्थों की उद्भावना करने वाली प्रज्ञा ही प्रतिभा है। इस परिभाषा को भट्टतौत के शिष्य आचार्य अभिनवगुप्त ने और स्पष्ट किया है। वे कहते हैं—

अपूर्व वस्तुनिर्माणक्षमा प्रज्ञा प्रतिभा।

अर्थात् अपूर्व वस्तु के निर्माण में समर्थ प्रज्ञा ही प्रतिभा है। आचार्य शोभाकर ने तो 'प्रतिभा' को अलङ्कारों में निरूपित किया है।[3] आधुनिक मनोवैज्ञानिकों के अनुसार भी कल्पना का ठीक यही स्वरूप है। कल्पना की रचनात्मकता का इस परिभाषा में भी स्पष्ट उल्लेख हुआ है। जो जैसा है, उसको उसी रूप में प्रस्तुत करना स्मृति का कार्य हो सकता है, परन्तु कल्पना तो नवीन रचना ही करती है।

'वाचस्पत्यम्' नामक कोषग्रन्थ में तो प्रतिभा की व्याख्या बिल्कुल ही आधुनिक रूप में की गई है। वहां कहा गया है—

'आरोपस्य अविद्यमानं पदार्थस्य अन्यत्रस्थितस्य अन्यत्रप्रतिभासरूपः मानसव्यापारः'[4]। अर्थ हुआ—आरोप के अविद्यमान अर्थात् अनुपस्थित पदार्थ को, जो अन्यत्र

---

१. सामान्य मनोविज्ञान—रामप्रसाद पाण्डेय, पृष्ठ २०५, २०७
२. शब्दकल्पद्रुम—तृतीय काण्ड, पृष्ठ २५८
३. अलंकार-रत्नाकरः—शोभाकर मित्र, पृष्ठ ५५
४. वाचस्पत्यम्—पृष्ठ १८२०

स्थित है, उसको अन्यत्र प्रतिभासित करा सके, वही मानसिक व्यापार—कल्पना है। अतः भारतीय और पाश्चात्य दोनों ही मतों में कल्पना की परिभाषा में कोई विशेष भेद नहीं है।

संस्कृत-काव्यशास्त्र में इस शक्ति को कवित्व का बीज-रूप माना गया है। आचार्य मम्मट ने काव्य के कारणों में प्रथम स्थान जिस शक्ति को दिया, वह प्रतिभा या कवि-कल्पना ही है और उसके सम्बन्ध में कवि निश्चित शब्दों में कहता है कि कल्पना कवित्व बीज-रूपी वह संस्कार-विशेष है, जिसके बिना काव्य की रचना ही नहीं हो सकती और यदि हो भी जाय तो केवल उपहसनीय ही सिद्ध होती है।[1]

इसी परम्परा का निर्वाह करते हुए रीतिकाल का आचार्य कुमारमणि भी स्पष्ट रूप में घोषणा करता है—

शक्ति शास्त्र लौकिक सकल, परवीनता समेत।
कविशिक्षा अभ्यास भनि कवित्त उपज को हेत ॥१-७॥
उपजत अद्भुत वाक्य जो शब्द अर्थ रमनीय।
सोई कहियतु कवित्त है, सुकवि कर्म कमनीय ॥१-८॥

कुमारमणि ने यहां वाच्य के चमत्कार का भी स्पष्ट उल्लेख कर दिया है। अलंकार भी वाच्य के ही चमत्कार हैं अतः समस्त काव्य के साथ ही अलंकार भी किसी विशिष्ट मानसिक प्रक्रिया पर आधारित हैं तो वह है—कल्पना। आचार्य शुक्ल ने भी कल्पना का समर्थन करते हुए कहा है कि 'साहित्य वाले इसी को भावना कहते हैं और आजकल के लोग कल्पना'।[3] इस प्रकार इस समस्त कल्पना-जाल का विवेचन हमारे आगे प्रस्तुत किये जाने वाले वैज्ञानिक प्रक्रिया-वर्णन का आधार है।

मनोवैज्ञानिक आधार पर अलंकारों का वर्गीकरण

अलंकारों के शास्त्रीय वर्गीकरण की चर्चा पीछे विस्तार से की जा चुकी है। यहां यह देखना अपेक्षित है कि उन वर्गीकरणों में क्या कोई मनोवैज्ञानिक आधार है अथवा इस दृष्टि से कोई नया वर्गीकरण प्रस्तुत करने की आवश्यकता है।

संस्कृत-काव्यशास्त्र में अलंकारों का विवेचन काव्यों के अन्य अंगों के विवेचन के बहुत पूर्व से होता आया है। अलंकारों के स्वरूप को समझने के लिये संस्कृत के काव्य-शास्त्रियों ने अलंकार-मात्र के मूल पर भी विचार किया है।

सर्वप्रथम भामह ने वक्रोक्ति को अलंकारों का मूल आधार स्वीकार किया। आगे चलकर दण्डी ने अतिशयोक्ति को समस्त अलंकारों का मूल माना। दण्डी ने श्लेष को भी प्रायः सभी अलंकारों का पोषण करने वाला कहा। वामन ने औपम्य को अलंकारों का मूलाधार माना—इसके उपरान्त अलंकारों के मूल आधार एक से अधिक हो गये और उनका वर्गीकरण आरम्भ हुआ।

---

१. काव्यप्रकाशः—मम्मट, पृष्ठ १७
२. रसिक-रसाल—कुमारमणि, पृष्ठ २
३. चिन्तामणि (भाग १)—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ १६१

भामहकथित वक्रोक्ति मनोवैज्ञानिक दृष्टि से क्या है ? भामह के अनुसार अलंकृति—शब्द और अर्थ की वक्रता का नाम है।' वक्रता अर्थात् वैचित्र्य। कहा जा चुका है कि अलङ्कार भाव के उद्दीप्त रूप को स्पष्ट करता है। यह उद्दीप्तता ही वस्तुतः विचित्रता है। इस अर्थ में भामह का कथन मनोवैज्ञानिक ही कहा जायगा। दण्डी की अतिशयोक्ति भी भामह की वक्रोक्ति का ही पर्याय है, जैसा कि आगे चल कर अभिनवगुप्त ने स्पष्ट किया है। उक्ति की यह अतिशयता भी भाव की अतिशयता ही है, अतः यह एक अधिक उचित शब्द का प्रयोग हुआ है, ऐसा कहा जा सकता है। वक्रोक्ति शब्द की अपेक्षा इसमें भ्रान्ति की गुंजाइश कम है। दण्डी ने वक्रोक्ति के मूल में श्लेष को कारण माना है, परन्तु ऐसा करके उन्होंने श्लेष की व्यापक परिभाषा ही स्वीकृत की है। संकुचित अर्थ में इसे लेने से उनकी वक्रोक्ति की कल्पना भी संकुचित हो जायगी। वामन ने औपम्य को मूल मानकर अलंकारों को मूलतः सादृश्यमूलक मान लिया है। यही कारण है कि उन्होंने अपने सभी अलंकारों को उपमा के अन्तर्गत कर दिया है। औपम्य अर्थात् उपमा का भाव निश्चित ही अधिकांश अलंकारों का मूल आधार है फिर भी अलंकारों को केवल इस आधार पर सीमित नहीं किया जा सकता। वामन ने यद्यपि इसी को आधार मानकर अलंकारों को संकुचित किया है, परन्तु इसमें भी संदेह नहीं कि उन्होंने सहज ही एक विशिष्ट मनोवैज्ञानिक आधार अलंकारों के एक विशेष वर्ग का खोज निकाला। इसलिए आगे के आचार्यों ने इसे एक वर्ग का महत्त्वपूर्ण आधार स्वीकार करते हुए अन्य वृत्तियों की भी खोज की।

सर्वप्रथम रुद्रट ने अलंकारों में एक से अधिक आधार ढूंढ़े। उन्होंने वास्तव, औपम्य, अतिशय, और श्लेष ये चार वर्ग माने। वास्तव, वस्तु रूप का कथन, औपम्य में सादृश्य की प्रधानता, अतिशय में अतिलोक्यता तथा श्लेष में अनेकार्थता इन वर्गीकरणों के आधार हैं। रुद्रट की प्रथम श्रेणी 'वास्तव' ही विशिष्टता पर आधारित नहीं है, इसलिए आगे के आचार्यों ने वास्तव को न मानकर उसके मूल में अन्य आधारों को ढूंढा। रुय्यक ने औपम्य, विरोध, शृंखला, न्याय, गूढार्थप्रतिपत्ति और संकर—ये छः आधार माने। और उसके पश्चात् तो थोड़े-थोड़े उलटफेर से अनेक वर्गीकरण हुए। मनोवैज्ञानिकता की मूल दृष्टि इन वर्गीकरणों में न रही। कहीं शास्त्रीय दृष्टि प्रधान हो गई, कहीं लोक-दृष्टि, कहीं बाहरी रूपों पर ही दृष्टि टंगी रह गई और कहीं विभिन्न मिश्रणों को ही आधार बनाकर प्रस्तुत किया गया। इन वर्गीकरणों में अलंकारों को बिठाने की परम्परा भी विचित्र ही रही। परस्पर विरोधी अलंकार भी एक वर्ग में केवल इसलिये बिठा दिये गये कि एक अलंकार दूसरे का विपरीत है, इसलिए उसे भी प्रथम के साथ ही रख दिया जाय। प्राचीनों के कोई भी वर्गीकरण विशुद्ध रूप से मनोवैज्ञानिक दृष्टि से पूरे नहीं उतरते और उनकी वैसी व्याख्या भी कहीं नहीं हुई है।

आधुनिक शोधकर्ताओं में अलंकारों का मनोवैज्ञानिक आधार खोजने की चेष्टा रही है। डा० नगेन्द्र ने अलंकारों के वर्गीकरण के मनोवैज्ञानिक आधारों को बड़े

लाघव से सुविचारित रूप में अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'रीतिकाव्य की भूमिका' में प्रस्तुत किया है। उन्होंने भी प्रचलित समस्त वर्गीकरणों में कोई निश्चित समवर्गीय मनोवैज्ञानिक आधार न पाकर अलंकारों के सामान्य, तदनन्तर विशिष्ट आधारों की खोज निकाला है।[1]

डा० नगेन्द्र की दृष्टि में सभी अलंकारों का मूल आधार अतिशय तत्व है। यह अतिशय है, भाव का अतिशय, जिसमें मन का ओज मूल में रहता है। इसी से अलंकार की सृष्टि होती है। वास्तव में अतिशयता को मूलाधार मान कर डा० नगेन्द्र ने एक ऐसी आधार-भूमि दे दी है, जो सभी अलंकारों के लिये समान रूप से आधार ही नहीं, उनकी मूलप्रेरणा और उत्स को भी प्रकट कर देती है।

यदि एक से अनेक आधारों की ओर बढ़ा जाय तो डा० नगेन्द्र समस्त अलंकारों का आधार अतिशय, वक्रता और चमत्कार—इन तीन तत्वों को मानते हैं। इनका भी विस्तार करने पर उन्होंने अलंकारों के छः आधार प्रस्तुत किये हैं, वे हैं—स्पष्टता, विस्तार, आश्चर्य, अन्विति, जिज्ञासा और कौतूहल। इन छः आधारों पर वर्गीकरण के रूप बनते हैं,साधर्म्य, अतिशय, वैषम्य, औचित्य, वक्रता और चमत्कार।[2] इस वर्गीकरण का सरल भाषा में समर्थन उन्होंने इस प्रकार किया है।—'ऐसा करने के लिए (उक्ति को प्रभावोत्पादक बनाने के लिए) हम सदृश लोकमान्य वस्तुओं से तुलना के द्वारा अपने कथन को स्पष्ट बना कर उसे श्रोता के मन में अच्छी तरह बिठाते हैं, बात को बढ़ा-चढ़ा कर उसके मन का विस्तार करते हैं, बाह्य वैषम्य आदि का नियोजन करके उसमें आश्चर्य की उद्भावना करते हैं, अनुक्रम या औचित्य की प्रतिष्ठा करके उसकी वृत्तियों को अन्वित करते हैं, बात को घुमा फिरा कर वक्रता के साथ कह कर उसकी जिज्ञासा का उद्दीपन करते हैं अथवा बुद्धि की करामात दिखाकर उसके मन में कौतूहल उत्पन्न करते हैं।[3]

डा० नगेन्द्र का यह विवेचन संक्षिप्त और सारभूत है। अलंकारों का मनोवैज्ञानिक आधार उनके लिए एक प्रासंगिक बात थी फिर भी एक आचार्य के समान उन्होंने संक्षेप में सब कुछ कह दिया है। हमारा अपना वर्गीकरण मूलतः डा० नगेन्द्र के अनुकूल होते हुए भी कुछ भिन्न है और वर्गीकरण के अनुक्रम में भी कुछ परिवर्तन प्रस्तुत किया गया है, जिसका कारण है वर्गीकरण को समवर्गीय बनाने का यत्न। डा० नगेन्द्र कृत वर्गीकरण के प्रकाश में देखने से भी इसका औचित्य समझा जा सकता है।

जहां तक अलंकारों की मूल प्रक्रिया का प्रश्न है, वह निश्चय ही अतिशयत्व है। स्पष्टता, अतिशयोक्ति, चमत्कार, वक्रोक्ति आदि अनेक शब्द इसी अतिशयत्व को प्रकट करते हैं, परन्तु हम 'विस्तार' शब्द को विशेष रूप से स्वीकार करना चाहते हैं। एक उदाहरण लीजिये। हम किसी प्रसंग में एक घट का वर्णन करते हैं। जिस

१. रीतिकाव्य की भूमिका—डा० नगेन्द्र, पृष्ठ ८५-८६
२. रीतिकाव्य की भूमिका—डा० नगेन्द्र, पृष्ठ ८६-८७
३. रीतिकाव्य की भूमिका—डा० नगेन्द्र, पृष्ठ ८६-८७

वातावरण के अनुसार हम घट का वर्णन करना चाहते हैं, वह समृद्धि का सूचक है। समृद्धि की भावना से हमारा मन आवेगमय हो रहा है। उसी आवेग में हम घट का वर्णन करते हैं। परन्तु घट कहने मात्र से हमारे अनुभव में संचित एक सामान्य मृत्तिकाघट ही आता है, इससे मन की सामान्य स्थिति ही सन्तुष्ट हो सकती है, विशिष्ट नहीं। कल्पना ने घट को स्वर्णघट बना दिया, उसमें भी नीलम और पुखराज की कारीगरी की छवि अंकित कर दी। अब मन कुछ सन्तुष्ट हुआ। मन क्यों संतुष्ट हुआ? कारण स्पष्ट है कि कल्पना ने मन के आवेग के अनुसार उसे योग्य आधार प्रदान किया। मन के ओज ने ही कल्पना को विशिष्ट दिशा में योजित किया और एक साधारण घट को रत्नजटित स्वर्णघट में परिवर्तित कर दिया। सामान्य घट से विशिष्ट घट तक की रूप-कल्पना ही वर्णन की अतिशयता है, वही स्पष्टता है, वही चमत्कार है, वही सामान्य का असामान्य-कथन है। शास्त्रीय दृष्टि से अलंकार की मूल प्रक्रिया सामान्य का असामान्य कथन ही है। इसी प्रकार असामान्य का सामान्य कथन है। लोकानुभव की विचित्रता ही इसका प्राण है। यही चमत्कार है। परन्तु मन की दृष्टि से विचार किया जाय तो वास्तव में इस प्रक्रिया में जो कुछ हुआ वह मन का विस्तार हुआ। सामान्य घट से विशिष्ट घट सम्बन्धी यात्रा तो अतिशयत्व या चमत्कार है, परन्तु मन ने इस दूरी को अपने विस्तार से ही पूर्ण किया है। अतः मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इस मन के विस्तार को ही अलंकारमात्र की मूल प्रक्रिया माना जाना चाहिए। अत्युक्ति इसी विस्तार की सीमाहीन सीमा है। संगति में यही विस्तार अपने आप को एक विशिष्ट सापेक्षिकतामें समन्वित करता है। विरोध और गोपन में यही विस्तार एक अवरोधमूलक प्रक्रिया ग्रहण करता है। इसीलिए मन के विस्तार को ही अलंकारमात्र की मूल प्रक्रिया मानना उचित है।

प्रश्न किया जा सकता है कि जब अलंकार मात्र का मूल मन की एक विशिष्ट प्रकार की स्थिति है तो विभिन्न प्रकार के अलंकारों का उद्भव कैसे होता है? यह तो ठीक है कि अलंकार का जन्म मन की आवेगमय स्थिति में होता है, परन्तु उस आवेग में भी मस्तिष्क कल्पना, विचार आदि के अनेक स्तरगत संयोजनों से बंधा होता है। ये ही समस्त स्थितियाँ अलंकार के विशिष्ट रूप को बनाने का कार्य करती हैं। यदि प्रस्तुत के असाधारणत्व के लिये कल्पना दौड़ कर साहचर्य के सिद्धान्त के आधार पर एक उपमान ले आई तो वहाँ अलंकारों का एक विशेष साधर्म्यमूलक वर्ग ही उपस्थित होगा। यहाँ भी यदि आरम्भ से ही सामंजस्यमय चित्तवृत्ति रही, तब तो उपमान साधर्म्यमूलक वर्ग के योग्य प्रस्तुत होगा और यदि चित्तवृत्तियाँ विरोधमय रहीं तो विरोधमूलक वर्ग का अस्तित्व जन्म ले सकता है। इन सब में ही अनेक सूक्ष्म विचार-तन्तु कार्य करते हैं और उस समय कौन किस आवेग के साथ कौन-सा रूप ग्रहण कर लेता है, यह निश्चित नहीं किया जा सकता। कल्पना में आने वाली वस्तु कितनी मुखर या शान्त है, हमारी दृष्टि उस पर किस मात्रा में रुकती है, रुकी रहती है या रुक कर लौट आती है, उसके सम्बन्ध में हमारी निर्णयात्मक रुचि को जाग्रत करती है या केवल संशयात्मक स्थिति ही बनी रहने देती है, इस प्रकार के

अनन्त सूक्ष्म विधान भी इसी जटिल मानसिक प्रक्रिया के अंग हैं। सादृश्य के क्षेत्र में ही यदि कल्पना ने एक अच्छा उपमान ला नियोजित किया और भावना समता की रही तो अलंकार उपमा बन गया और कल्पना उपमेय को छोड़कर जा ही न सकी, यही मान बैठी कि इसकी सुन्दरता कहीं है ही नहीं, यही स्वयं एक इसके योग्य है, ऐसा निश्चय होने से वही अनन्वय हो गया। अतः मन का ओज मूल है, शेष उसकी अपनी गतिविधि है। उसी से शासित वाणी की यह अतिशयता अपने विभिन्न रूप-रंग ग्रहण करती है।

अलंकार की मानसिक प्रक्रिया के रूप में मन के विस्तार को ही उसका वास्तविक आधार स्वीकृत किया गया है। मन की इस विस्तार पाने की गति को मूल रूप में दो प्रकार की माना जा सकता है। प्रथम मन का ऋजु विस्तार है अर्थात् मन अपने विकास की दिशा में सीधा बिछ जाता है और सरलता से अपने मूल आवेग से संगति प्राप्त कर लेता है। मन का द्वितीय विस्तार रूप अवरोधमूलक है—अर्थात् मन विस्तृत तो होता है परन्तु इसमें पहले अवरोध उपस्थित होता है और तब उस अवरोध के शमन में मन के मूल आवेग से संगति होती है।

मन के ऋजु विस्तार या प्रथम वर्ग में भी तीन प्रक्रियाओं (Methods) का अवलम्बन होता है। विस्तार की प्रथम प्रक्रिया है, उपमानों का आयोजन कर उनकी तुलना द्वारा वस्तु की विशिष्ट स्थिति को द्योतित करना, जिससे मन की मूल संगति सिद्ध होती है। दो वस्तुओं के सादृश्य की यह प्रक्रिया साधर्म्य पर आधारित है, इसलिए इसे साधर्म्यमूलक ऋजु विस्तार कहा जा सकता है। ऋजु विस्तार का दूसरा रूप है, मन के उग्र आवेग की संगति के लिये वस्तु को बिना किसी अन्य आधार के सीधे ही बहुत बढ़े-चढ़े रूप में प्रस्तुत कर देना, जैसे अत्युक्ति में। इस वर्ग को इसकी विशिष्ट अतिशयता के कारण अतिशयमूलक वर्ग कहा जा सकता है। यदि यह सीधा बढ़ा-चढ़ा रूप कभी-कभी साधर्म्य, अनुक्रम आदि का आश्रय ले, तब भी अपनी अतिशयता के कारण ही उन अलंकारों का इस वर्ग में अन्तर्भाव किया जा सकता है। यों तो सभी अलंकारों की मानसिक सिद्धि मन की संगति में ही विद्यमान है परन्तु कुछ अलंकार संगति को ही अपनी प्रक्रिया भी बनाते हैं। संगति सदैव सापेक्षिक होती है। अर्थात् यह कम से कम दो के बीच की स्थिति है। संगति पर आधारित ऐसे अलंकारों को संगतिमूलक वर्ग में लिया जा सकता है और यह ऋजु विस्तार वर्ग का तीसरा भेद माना जायगा। यह संगति मूलतः दो प्रकार की हो सकती है। प्रथम, अर्थ पर आधारित संगति और द्वितीय, नाद पर आधारित संगति। अर्थ पर आधारित संगति भी दो प्रकार की हो सकती है, किसी विशिष्ट अनुक्रम की संगति पर आधारित या लोक-जीवन, लोक-सिद्धान्तों की सापेक्षिक संगति पर आधारित। ये दोनों ही संगति की एक ही मूल प्रक्रिया पर आधारित हैं, इसलिए इन्हें एक ही क्रम में रखा जा सकता है, परन्तु नाद पर आधारित संगति का अपना मनोवैज्ञानिक रूप सर्वथा भिन्न होने के कारण उन्हें ऋजु विस्तार का चतुर्थ भेद मानना चाहिए।

अवरोधमूलक विस्तार के भी दो भेद किये जा सकते हैं, प्रथम विरोधमूलक तथा द्वितीय गोपनमूलक। विरोधमूलक विस्तार में भी विस्तार पाने वाला मन कुछ

क्षण के लिए पहले विरोध पर टिकता है या उलझता है और तब उसके मूल में स्थित जो वास्तविकता है, उसके आधार पर अपनी संगति प्राप्त करता है। बीच में विरोधमूलक अवरोध आता है और तब खुलकर अपनी संगति सिद्ध करता है। इसी प्रकार दूसरी प्रक्रिया का आधार है गोपन। गोपन अर्थात् कुछ छिपाना। इस वर्ग के अलंकारों में कुछ छिपा रहता है, कुछ वक्रता रहती है, यानी कहना कुछ होता है और कहा किसी अन्य प्रकार से जाता है। पुनः जब गोपन का उद्घाटन होता है तब जाकर मन को मूल सामंजस्य की प्राप्ति होती है। अतः इस वर्ग में ये दो प्रक्रियाएं प्रधान मानी जा सकती हैं। इस वर्गीकरण को यों समझा जा सकता है—

१. मन का विस्तार—
 (क) ऋजु विस्तार।
 (ख) अवरोधमूलक विस्तार।

ऋजु विस्तार के अंतर्गत साधर्म्यमूलक, अतिशयतामूलक, संगतिमूलक तथा नादसंगतिमूलक अलंकारों के चार वर्ग रखे जा सकते हैं तथा अवरोधमूलक विस्तार के अन्तर्गत विरोधमूलक और गोपनमूलक अलंकार वर्ग को स्थान दिया जा सकता है। उक्त छः वर्गों के अन्तर्गत अलंकारों का निम्नलिखित क्रम संयोजित किया जा सकता है—

१. साधर्म्यमूलक वर्ग

१. उपमा, २. उपमेयोपमा, ३. अनन्वय, ४. प्रतीप, ५. रूपक, ६. परिणाम, ७. स्मरण, ८. भ्रान्तिमान्, ९. सन्देह, १०. उल्लेख, ११. अपह्नुति, १२. उत्प्रेक्षा, १३. तुल्ययोगिता, १४. दीपक, १५. प्रतिवस्तूपमा, १६. दृष्टांत, १७. निदर्शना, १८. व्यतिरेक, १९. सहोक्ति, २०. विनोक्ति, २१. अर्थान्तरन्यास।

२. अतिशयमूलक वर्ग

१. अत्युक्ति, २. उदात्त, ३. प्रौढ़ोक्ति, ४. अतिशयोक्ति, ५. सार।

३. संगतिमूलक वर्ग

१. कारणमाला, २. एकावली, ३. यथासंख्या, ४. पर्याय, ५. परिवृत्ति, ६. परिसंख्या, ७. अर्थापत्ति, ८. काव्यलिंग, ९. अनुमान, १० हेतु, ११. प्रत्यनीक, १२. मीलित, १३. उन्मीलित, १४. तद्गुण, १५. अतद्गुण, १६. सामान्य, १७. विशेषक, १८. अन्योन्य, १९. सम, २०. समुच्चय, २१. समाधि, २२. विकस्वर, २३. स्वभावोक्ति।

४. नादसंगतिमूलक वर्ग

१. छेकानुप्रास, २. श्रुत्यनुप्रास, ३. वृत्त्यनुप्रास, ४. अंत्यानुप्रास, ५. लाटानुप्रास, ६. यमकानुप्रास, ७. वीप्सानुप्रास, ८. चित्रानुप्रास।

५. विरोधमूलक वर्ग

१. विरोध, २. विभावना, ३. विशेषोक्ति, ४. असंगति, ५. विषम, ६. विचित्र

७. अधिक, ८. अल्प, ९. विशेष, १०. व्याघात, ११. आक्षेप, १२. विकल्प, १३. असम्भव, १४. विषादन।

६. गोपनमूलक वर्ग

१. पर्यायोक्ति, २. व्याजस्तुति, ३. समासोक्ति, ४. अप्रस्तुतप्रशंसा, ५. प्रस्तुतांकुर, ६. सूक्ष्म, ७. पिहित, ८. प्रश्न, ९. उत्तर, १०. व्याजोक्ति, ११. वक्रोक्ति, १२. भाविक, १३. परिकर, १४. परिकरांकुर, १५. मिथ्याध्यवसित, १६. ललित, १७. अनुज्ञा, १८. लेश, १९. विवृतोक्ति, २०. गूढ़ोक्ति, २१. युक्ति, २२. छेकोक्ति, २३. निरुक्ति, २४. श्लेष, ।

प्राचीनों के शास्त्रीय वर्गीकरण से इस वर्गीकरण में मौलिक अन्तर है। यहां यह ध्यान रखा गया है कि जिन अलंकारों में जिस वृत्ति की प्रधानता है, उसे उसी वर्ग में स्थान दिया जाय। यों तो किसी प्रकार भी साधर्म्यमूलक और अतिशयोक्ति-मूलक अलंकारों को अलग-अलग करना कठिन है, फिर भी अत्युक्ति आदि अलंकार ऐसे हैं, जिनके लिये इस वर्ग की अलग से सृष्टि करना आवश्यक ही है। अतिशयोक्ति में साधर्म्य स्पष्ट है, फिर भी उसमें प्रमुखता अतिशयता को मिल गई है, इसलिए उसे अलग वर्ग में रखा गया है। इसी प्रकार सार में एक अनुक्रम का औचित्य है और उसे संगतिमूलक अलंकारों में जाना चाहिये, परन्तु उसमें उस क्रम का प्रभाव उत्तरोत्तर अतिशय में ही परिणत होता जाता है, इसलिये अनुक्रम की प्रक्रिया विशेष रूप से अतिशय की प्रक्रिया बन जाती है, यही कारण है कि डा० नगेन्द्र ने भी इस अलंकार को अतिशयमूलक ही माना है।

साधर्म्यमूलक अलंकारों का वर्ग प्रायः मूल रूप में स्पष्ट ही है, परन्तु उसके गम्यौपम्य क्रम के अनेक अलंकारों में अन्य वर्गों की विशेषताएं अधिक पाई जाती हैं, यही कारण है कि उन्हें उन-उन वर्ग विशेषों में ही स्थान दिया गया है। उदाहरण के लिए रुय्यक ने समासोक्ति को इस वर्ग में ही स्थान दिया है, परन्तु उसमें गोपन की क्रिया प्रधान है। परिकर, परिकरांकुर, अप्रस्तुतप्रशंसा, व्याजस्तुति, पर्यायोक्ति आदि में भी गोपन की प्रक्रिया का ही अवलम्बन होता है, इसलिए उन्हें भी उसी वर्ग में स्थान दिया गया है। आक्षेप में विरोध की प्रधानता है, इसलिए उसे उस वर्ग में ले जाया गया है। जहां तक अपह्नुति का प्रश्न है, वह स्पष्ट रूप से गोपन की क्रिया पर आधारित है, परन्तु इतना होने पर भी उसका मूल आधार साधर्म्य ही बना रहता है, इसलिए उसका स्थान साधर्म्यमूलक अलंकारों में ही रखा गया है। रुय्यक ने भी इसे आरोपमूल अभेदप्रधान अलंकारों में ही स्थान दिया है। प्रतीप को लोकन्यायमूल अलंकारों में स्थान दिया जाता रहा है, परन्तु उसकी प्रक्रिया में साधर्म्य की प्रधानता होने के कारण उसे सुविचारित रूप से इसी वर्ग में रखा गया है।

शृंखलामूलक अलंकारों में एक परस्पर की संगति है, इसलिए उन्हें संगतिमूलक अलंकारों में ही स्थान दिया गया है। वाक्यन्यायमूल और लोकन्यायमूल अलंकारों में एक लोक-सिद्ध संगति रहती है, अतः उन्हें भी इसी वर्ग में रखना उचित समझा गया है। गूढ़ार्थप्रतीति में गूढ़ता है, जो गोपन पर आधारित है, इसलिए वे सीधे ही

गोपनमूलक अलंकारों में चले जाते हैं, स्वभावोक्ति के सम्बन्ध में पहले ही कहा जा चुका है कि वह इस वर्ग का अलंकार नहीं है और उसका स्थान सीधे ही संगतिमूलक अलंकारों में होना चाहिये।

विरोधमूलक अलंकारों का आधार बहुत कुछ स्पष्ट है। सम और अन्योन्य को इस वर्ग से निकाला गया है, क्योंकि इनमें औचित्य की प्रधानता है, केवल विषम के कारण ही सम को इस वर्ग में रख लिया गया था।

नादसंगतिमूलक अलंकारों में अनुप्रास की ही प्रधानता है। यमक की रचना नाद और अर्थ दोनों पर आधारित है, इसलिए उसका नादमूलक अंश अनुप्रास का ही एक अंग होना चाहिए और उसका नाम यमकानुप्रास किया जा सकता है। यह नामकरण इससे पूर्व नरेन्द्रप्रभसूरि, जसवंतसिंह और भिखारीदास ने भी सम्भवतः इसी दृष्टि से किया था। वीप्सा की भी यही स्थिति है।

सौन्दर्यशास्त्र के क्षेत्र में अन्वेषकों ने वस्तु-रूप अथवा आकार-सौन्दर्य के तत्त्वों में सम्मात्रा (सिमेट्री), सुव्यवस्था (आर्डर), विविधता (वैराइटी), एकरूपता (यूनीफार्मिटी), औचित्य (प्रोप्राइटी), जटिलता (इण्ट्रीकेसी), संगति (हारमोनी), प्रमाणबद्धता (प्रोपोरशन), संयम (माडरेशन), व्यंजना (सजेशन), स्पष्टता (सिम्प्लीसिटी) मसृणता (स्मूथनेस), कोमलता (टेण्डरनेस) तथा वर्ण-प्रदीप्ति (कलरिंग) आदि को प्रमुख स्थान दिया है।[1] उक्त तत्त्वों का बहुत कुछ उपयोग अलंकार-योजना के अन्तर्गत भी होता है। डा० आनन्दप्रकाश दीक्षित भी इस बात से सहमत हैं। वे कहते हैं—'उपमादि का आधार सम्मात्रा ही है। उन्हीं के अनुसार वैचित्र्य की स्वीकृति हमारे यहां भेदकातिशयोक्ति अलंकार में होती है'।[2] 'विविधता और वैचित्र्य के विशिष्ट आधारों को भी वे काव्य में विरोधमूलक अलंकारों के उपयोग से सम्बन्धित मानते हैं'।[3]

वास्तव में सम्मात्रा सादृश्यमूलक अलंकारों का आधार है तो प्रमाणबद्धता, सुव्यवस्था आदि के कुछ उठते हुए रूपों पर अतिशयोक्तिमूलक वर्ग टिका हुआ है। संगति का क्षेत्र विस्तृत है, जिसमें एकरूपता, औचित्य, संगति, संयम आदि तत्त्व आते हैं। विविधता और सम्मात्रा के विशेष विरोधी-रूपों की अवस्थिति विरोधमूलक अलंकार-वर्ग का आधार है और जटिलता, व्यंजना आदि का सम्बन्ध गोपनमूलक वर्ग से है। इन सबके विशेष क्रम के अनुसार इन तत्त्वों की परस्पर अन्विति भी होती रहती है और तदनुसार इनके मूल्य भी बदलते हैं। सौन्दर्यशास्त्र की पृष्ठभूमि में अलंकारों का अध्ययन भी एक नवीन और महत्वपूर्ण प्रयोग हो सकता है।

ऊपर जो मनोवैज्ञानिक वर्गीकरण प्रस्तुत किया गया है, उसी के आधार पर आगे कुछ प्रमुख अलंकारों का विशिष्ट अध्ययन भी अपेक्षित है इनमें प्रथम वर्ग

१. सौन्दर्य तत्त्व, अनुवादक—डा० आनन्दप्रकाश दीक्षित, भूमिका, पृष्ठ ६
२. सौन्दर्य तत्त्व, पृष्ठ ६
३. सौन्दर्य तत्त्व, पृष्ठ ७

साधर्म्यमूलक अलंकारों का है। इस वर्ग के आरम्भ में प्रस्तुत और अप्रस्तुत की मूलभूत प्रक्रिया का विवेचन किया जा रहा है।

साधर्म्यमूलक अलंकार

साधर्म्यमूलक, सादृश्यगर्भ अथवा औपम्यमूलक अलंकार काव्य-क्षेत्र में सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं। इसका कारण है इनका मनोवैज्ञानिक दृष्टि से प्रक्रिया में सरलतम होना। वर्ण्य को स्पष्ट करने के लिए स्वाभाविक रीति से कवि की कल्पना वर्ण्य के धर्म से ही सम्बन्धित उपमान खोज लाती है और तब दोनों की तुलना द्वारा कवि का मन सामान्य में असामान्य का अनुभव कर सामंजस्य प्राप्त कर लेता है। अनुभवों का क्षेत्र बहुत विस्तृत होता है। चित्त के चमत्कृत होते ही जैसा अनुभव प्रस्तुत समय में किया जा रहा है, वैसा ही अनुभव-क्षण सहज ही स्मृति से उठ आता है। स्मृति के साथ जुड़ा हुआ साहचर्य का यह सिद्धांत इस क्रिया को अनजाने ही कर डालता है और उस आगन्तुक अप्रस्तुत रूप को कवि अपनी योजना द्वारा मनचाहे सम्बंध से उपस्थित कर देता है।

रीति में सरल होने के साथ ही इस वर्ग की सबसे बड़ी विशेषता यह भी है कि यह अलंकार-वर्ग हमें हमारे वर्ण्य के साथ ही अप्रस्तुतों की एक नवीन दुनिया भी हमें सहसा प्रदान करता चलता है। अलंकारों के वैज्ञानिक अध्ययन में अप्रस्तुत-योजना का विचार अलग से भी किया जाता है। कारण यही है कि इस प्रणाली में अप्रस्तुतों की योजना आवश्यक होती है और वे सब प्रस्तुत से विशेष होते हैं, इसलिए स्वाभाविक रूप से एक नवीन, कल्पित और मनोरम क्षेत्र भी पाठकों के समक्ष आता रहता है। कल्पना की जैसी मनोरम उड़ान इस वर्ग के अलंकार-क्षेत्र में देखी जा सकती है, वैसी अन्यत्र देखने में नहीं आती। अन्यत्र अच्छी से अच्छी युक्तियां, उक्तियां और संगतियां हो सकती हैं, परन्तु सर्वथा एक नवीन जगत् की रचना केवल इसी वर्ग में सम्भव है। एक बार उपमा की झड़ी लग जाय, या उत्प्रेक्षा की माला बनने लगे अथवा रूपक का जाल फैलने लगे तो प्रस्तुत के साथ ही बनी बनाई एक और भी शृंगार-शोभा मिलती रहती है। सर्वांग रूपक में ही देखें तो एक नवीन प्रस्तुत वर्णन रहता ही है परन्तु उसी के अभेदत्व रूप में वर्णित जो अप्रस्तुत वर्णन रहता है, वह रूपक की एक पूरी समानान्तर योजना होती है। उपमेय भले ही कितना भी सीमित हो, परन्तु उपमान की असीमता तो प्रसिद्ध ही है। सूर का प्रस्तुत तो अत्यन्त सीमित है परन्तु उसकी कमी को उनके अप्रस्तुत-विधान ने पूर्ण कर दिया है, यह सर्वविदित है।

अप्रस्तुत-योजना से कवि का अन्तर्जगत् सहज ही प्रकाशित हो जाता है, क्योंकि अप्रस्तुत के रूप में वह अपने हृदय के ही संचित संसार को पाठक के समक्ष खोलकर रखने की चेष्टा करता है। कवि-हृदय के वस्तु-रूप, एवं प्रतीकों का सर्वाधिक सुन्दर और समर्थ प्रदर्शन इसी वर्ग में होता है।

साधर्म्य, सादृश्य या औपम्य सभी शब्द कम से कम दो वस्तुओं की स्पष्ट अपेक्षा रखते हैं। किन्हीं दो वस्तुओं में ही सदृशता, सधर्मता या तुलना का

कार्य हो सकता है। अलंकार-क्षेत्र में ये दो वस्तुएं या पक्ष प्रस्तुत और अप्रस्तुत कहे जाते हैं। उक्त दोनों पक्षों पर विचार करना इन अलंकारों की भूमिका के लिये आवश्यक है।

प्रस्तुत

प्रस्तुत की अलंकार-शास्त्र में प्रसिद्ध अभिधा है उपमेय। इसे ही वर्णनीय, वर्ण्य, प्रासंगिक, प्राकरणिक, प्रकृत अथवा प्रधान भी कहा जाता है। कवि का वर्ण्य ही प्रस्तुत है। इस विश्व में जो कुछ दृश्य, श्रव्य अथवा कल्पनीय है, वह सभी कवि का वर्ण्य हो सकता है। कवि का वर्ण्य भी कल्पना पर ही आधारित होता है। क्योंकि काव्य-रचना करते समय कवि किसी वास्तविक दुनियां में न रह कर अपनी कल्पना द्वारा ही निर्मित दुनियां में विचरण करता है। सामाजिक और ऐतिहासिक यथार्थ से सम्बन्धित पात्र और घटनाएं सभी कल्पित होती हैं। प्रतिमाओं पर विचार करते समय कहा जा चुका है कि कवि का वर्ण्य विषय भी मानसिक प्रतिमाओं के रूप में ही प्रकट होता है। संवेदन और प्रत्यक्षीकरण का प्रश्न ही यहां नहीं है। यदि किसी उद्यान में बैठा कवि किसी सामने खिले हुए पुष्प को वर्ण्य बनाता है, फिर भी कवि का जो वर्ण्य है वह सामने वाला पुष्प सीधा नहीं हो सकता, उसकी भी मानसिक प्रतिमा ही पहले कवि के मन पर बनती है, तभी वह वर्णनीय होता है। भरी-पूरी दुनियां के बीच भी कवि का आँखें बन्द कर बैठना सिद्ध करता है कि वह जो कुछ अपना काव्य-विषय बनाता है, वह निश्चित रूप से मानसिक ही होता है। यह भी कहा जा चुका है कि जीवन की समस्त उत्तेजनाएं जिन क्षणों में अनुभव की जाती हैं, उन्हें उसी समय कविता का विषय नहीं बनाया जा सकता, परन्तु वे ही किन्हीं एकान्त क्षणों में पुनः जब अपनी मानसिक अनुभूति की उद्दीप्त अवस्था प्रस्तुत करती हैं, तभी काव्य-रचना होती है। स्वयं क्रोध में खोया हुआ व्यक्ति काव्य-रचना कैसे कर सकता है, हाँ, क्रोध के उतरने पर अपने क्रोधाभिभूत क्षणों का उपयोग कर कोई रौद्र रस की कविता लिखे तो दूसरी बात है।

कवि का वर्ण्य कवि का मनोजगत् होता है। उसके विचार और भावनाएं सभी बिम्बों द्वारा उपस्थित होती हैं। विचार भी प्रतिमाओं द्वारा ही प्रकट होते हैं, यह कहा जा चुका है। सारा वर्ण्य, न केवल रूप ही प्रत्युत अन्य सभी प्रकार की संवेदनाओं की प्रतिमाओं से निर्मित होता है। बिम्बों का निर्माण स्मृति और कल्पना द्वारा होता है। कल्पना द्वारा ही वह अपने अनुभूत विषय की पुनर्रचना करता है और नवीन सृष्टि करने का गौरव-लाभ पाता है।

अप्रस्तुत

कवि प्रस्तुत का वर्णन एकान्त रूप में कर सकता है और यह सम्भव है कि वह किसी प्रकार के अप्रस्तुत का आश्रय न ले, परन्तु यह मान लेना सिद्धान्तरूप में जितना सरल है, व्यवहार में उतना ही कठिन है। कारण यह है कि रचना के समय कवि के मन की उद्दीप्तावस्था होती है, वह साधारण को असाधारण और असाधारण को साधारण रूप में अनुभव करती है। दोनों ही दृष्टियों से यह भावना का

विकास है और ऐसी अवस्था में मन का सन्तोष वस्तु की साधारणता से नहीं हो पाता। उसी की पूर्ति अप्रस्तुत-योजना द्वारा की जाती है। एक उदाहरण से यह बात स्पष्ट की जा सकती है कि किस प्रकार अप्रस्तुत-योजना कवि की एकान्त अनिवार्यता को पूर्ण करने वाला माध्यम है।

कवि वन की शोभा का वर्णन करते हुए हरी घास का वर्णन करता है। उसका ध्यान घास का वर्णन करते हुए भी उस विशेष आनन्द को प्रकट करना होगा जो उसे उस प्रसंग विशेष में प्रकृति के माध्यम से अनुभव हो रहा है। साधारणतया घास जड़ है, परन्तु भावना के विकास के कारण कवि उसे 'सप्राण' रूप में देखने लगता है। कल्पना अनुभव की उत्तेजना के लिए ऐसे अनेक नये रूप खोज लाती है, जिनका घास से किसी न किसी रूप में सम्बन्ध जुड़ता हो। यह सम्बन्ध घास का न होकर हमारी भावना का ही होता है। कहीं हरी घास का मुलायमपन गलीचों की याद दिलाने लगता है, कहीं वह धरती के ऊपर बिछे हुए किसी नारी के परिधान की समानता करने लगती है, कहीं वह पृथ्वी के रोमांच के रूप में अनुभूत होती है। तात्पर्य यह है कि उसकी समानता या एकरूपता संसार की अनन्त वस्तुओं से की जा सकती है। ये इस प्रकार कल्पित या आरोपित वस्तुएं ही अप्रस्तुत कहलाती हैं। घास अपना वही रूप ग्रहण करती है, जिससे कवि की अनुभूति अपनी उद्दीप्तावस्था की मात्रा को पूर्ण कर ले। हरी घास का कालीन के रूप तक का विकास वास्तव में घास का विकास नहीं अपितु घास के माध्यम से कवि की भावना का विकास है। अप्रस्तुत, कवि की अनुभूति की अतिशयता का प्रतीक है और उसकी कल्पना की कसौटी है। क्योंकि यदि कवि का कल्पित अप्रस्तुत उसकी भावना को पूर्णतया सन्तुष्ट नहीं करता तो वह अपनी अभिव्यक्ति के साथ न्याय नहीं करता इसलिये अनेक बार कवि अप्रस्तुतों को बदलता भी है, तब तक जब तक कि वह स्वयं सन्तुष्ट नहीं हो पाता। अतः कवि के भाव-कौशल को जानने के लिये अप्रस्तुत-योजना का अतीव महत्त्व है।

प्रस्तुत और अप्रस्तुत सामान्य स्थिति की दृष्टि से कभी समान नहीं होते। उपमान उपमेय से सदैव उत्कृष्ट होता है।[१] कारण स्पष्ट है कि पाठक के हृदय तक कवि की अनुभूति इन्हीं के माध्यम से पहुंचती है। उसके समक्ष प्रस्तुत और अप्रस्तुत की विशेषताएं आकर खड़ी होती है तो वह भी प्रस्तुत के साधारण धर्ममें अप्रस्तुत के असाधारण धर्म की झलक पाता है और इस प्रकार उसका चित्त चमत्कृत होता है।

अप्रस्तुत—साधारणीकरण का समर्थ माध्यम

अप्रस्तुत साधारणीकरण का एक समर्थ माध्यम है। उसका विशेष रूप से उपयोग उसके इसी गुण पर आधारित है। कवि नायिका के अत्यन्त सुन्दर मुख की कल्पना करता है, उस मुख की सुन्दरता से वह प्रभावित होता है। अर्थात् उसकी अनुभूति मुख को देखकर विशेष रूप से उत्तेजित हुई। अपनी अनुभूति को वह पाठक के हृदय तक पहुंचाना चाहता है। एक मार्ग तो यह है कि वह उसके मुख की

१. रस-रहस्य—कुलपति मिश्र, पृष्ठ ५६

विशेषताओं का विस्तार से वर्णन करे कि उसकी नासिका इतनी लम्बी चौड़ी है. उसकी आँखें इतनी बड़ी हैं आदि। परन्तु वास्तव में कोई भी व्यक्ति जब किसी की सुन्दरता से प्रभावित होता है, तो इस प्रकार की नापतोल से प्रभावित नहीं होता और न उसकी अनुभूति में उसका वैसा रूप आता है। वह जिस प्रकार का तेज, सुडौलता अथवा अन्य जिस गुण का अनुभव करता है, उसी भाव को प्रकाशित करने वाली किसी अन्य वस्तु को बीच में ले आता है, जैसे चन्द्रमा, कमल आदि। चन्द्रमा, कमल आदि के सम्बन्ध में यह बात निश्चित है कि ये सभी अन्य जनों के लिये भी सुपरचित हैं और उनके दर्शन से वैसी ही अनुभूति अन्य व्यक्ति भी प्राप्त कर चुके होते हैं। उसी के बीच में आने से कवि की अनुभूति पाठक तक पहुंचती है। कवि पहले मुख के सौन्दर्य की अनुभूति करता है, उसकी समानता के लिए चन्द्रमा को लाता है, पाठक पहले चन्द्रमा के सौन्दर्य का स्मरण करता है और तब उसके माध्यम से मुख के सौन्दर्य का अनुभव करता है। दोनों का यह क्रम एक दूसरे से उलटा है। प्रेषणीयता उपमान का एक आवश्यक गुण होता है।

उपमेय और उपमान का सादृश्य-क्षेत्र

उपमेय के उत्कर्ष के लिए उपमान का प्रयोग किसी निश्चित सीमा में ही नहीं होता है अपितु अलंकार हमारे समस्त अनुभवों के व्यापक प्रतिनिधि हैं। शुक्ल जी ने अलंकार की परिभाषा करते हुए लिखा है कि भावों का उत्कर्ष दिखाने और वस्तुओं के रूप, गुण और क्रिया का अधिक तीव्र अनुभव कराने में कभी-कभी सहायक होने वाली उक्ति अलंकार है।[1] यहां वस्तुओं की स्पष्टता को उन्होंने तीन क्षेत्रों में बांटा है—रूप, गुण और क्रिया में। पदार्थों के ये तीनों ही पक्ष हमारी ज्ञानेन्द्रियों के विषय हैं। रूप हम नेत्रों से देखते हैं, क्रिया भी नेत्रों से देखी जाती है, या सुनी जाती है अथवा कभी-कभी स्पर्श से भी अनुभव की जाती है। गुण भी इसी प्रकार हमारी समस्त ज्ञानेन्द्रियों से गम्य हैं। दुग्ध का शुक्लत्व आँख से देखा जाता है, आकाश का गुण शब्द, कान से सुना जाता है, किसी वस्तु का गरम या ठंडा होना स्पर्श से ज्ञात होता है, फूल की सुगन्ध नासिका से जिघ्रणीय है, तथा मिष्टतिक्तादि गुण जिह्वा द्वारा ज्ञातव्य हैं। पदार्थों का समस्त व्यक्तित्व इन्हीं तीन में समाया रहता है और ये ही सब हमारे प्रत्यक्ष जीवन के अनुभवों के रूप में हमारे मन में संचित रहते हैं। जो गुण अमूर्त हैं, वे भी हमारे अनुभव के विषय बनते हैं। किसी व्यक्ति का भला या बुरा होना भी उस व्यक्ति की अनेक बार की क्रियाओं, उसके विचारों आदि को देख-सुन कर ही जाना जाता है। ये सब भी क्रमशः हमारे अनुभवों के ही समूह हैं। उपर्युक्त सभी क्षेत्रों में उपमेय और उपमान का सादृश्य सम्भव है। न केवल वस्तुओं के ही अपितु विचारों, भावों, सभी के परस्पर उपमेयोपमान-सम्बन्ध हो सकते हैं। मूर्त का अमूर्त और अमूर्त का मूर्त से भी उपमेयोपमान-सम्बन्ध हो सकता है। अनेक अलंकार ऐसे भी हैं, जहां यह सम्बन्ध स्पष्ट नहीं दिखाई देता परन्तु उनमें भी यही सम्बन्ध छिपा रहता है। औपम्यगर्भ अलंकारों का एक बहुत

१. चिन्तामणि—रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ १८१

बड़ा वर्ग ऐसा ही है, जिनमें दीपक, तुल्योगिता, अर्थान्तरन्यास आदि आते हैं, इनमें कहीं-कहीं वाक्य के वाक्य उपमेयोपमान सम्बन्ध से बंधे रहते हैं। इसी प्रकार विरोधमूलक अलंकारों के मूल में भी अनेकधा यही सम्बन्ध विरोधी रूप में प्रस्तुत किया जाता है । अन्य वर्गों के अलंकारों में भी उपमेय उपमान भाव कार्य करता है, जैसे अपह्नुति आदि में । इस प्रकार हम देखते हैं कि यह प्रक्रिया महत्त्वपूर्ण भी है और व्यापक भी ।

अप्रस्तुत के क्षेत्र

जिस प्रकार प्रस्तुत के सम्बन्ध में यह सत्य है कि कवि अपने चारों ओर के जगत् से ही उसका चयन करता है उसी प्रकार अप्रस्तुत भी उसके इसी अनुभूत विश्व के पदार्थ होते हैं । यह बात कही जा चुकी है कि जो अप्रस्तुत हमें इस संसार में कहीं भी देखने में नहीं आते, वे भी वस्तुतः हमारे अनुभव के ही अंशों से जुड़े हुए कल्पना द्वारा रचित रूप हैं । उनके भी अन्दर हमारे अनुभूत तत्त्व ही हैं, इसमें सन्देह नहीं । साधारणतया प्रस्तुत के सम्बन्ध में कवि पर बहुत बड़ा प्रतिबन्ध यह होता है कि धरती पर ही खड़ा रहे, सर्वसाधारण की समझ में आने वाली बात कहे, परन्तु अप्रस्तुत के सम्बन्ध में कवि स्वयं बहुत ही छूट प्राप्त कर लेता है । प्रस्तुत में पात्रों के चरित्र, घटनाओं के क्रम आदि में लेखक की कल्पना बहुत कुछ नियन्त्रित रहती है, परन्तु अप्रस्तुत के क्षेत्र में सर्वथा अनियन्त्रित न होते हुए भी अधिक स्वच्छंदता का आश्रय लिया जाता है । उसमें ऊंची उड़ान की अधिक गुंजाइश रहती है । यही कारण है कि कवि के कल्पनाजगत् का सच्चा वैभव अप्रस्तुत विधान में ही देखने को प्राप्त होता है । थोड़ी ही देर में वह पत्ती पर पड़ी हुई ओस की बूंद में आकाश के चमकते सितारे को ला बिठाता है, आँसुओं के स्थान पर मोती बरसाता है, गेहूं की बालियों में हीरे और मोती के दर्शन करता है और इस प्रकार अपने सौन्दर्य को अनन्त गुना बढ़ाकर एक नवीन विश्व का निर्माण करता है ।

उपमानों को किन्हीं वर्गों में बांटा जा सकता है या नहीं यह एक विचार का विषय है । वैज्ञानिक अध्ययन के लिए ऐसा किया जाना अपेक्षित है । प्रत्येक देश की संस्कृति के अनुसार उसके सौन्दर्य के मापदण्ड किन्हीं विशिष्ट उपमानों में सीमित हो जाते हैं, नये उपमान भी यथासमय प्रत्येक साहित्य में अपना स्थान बनाते हैं । हम देखते हैं कि ऐसा किसी विशिष्ट दृष्टिकोण का परिणाम होता है । नवीन सभ्यता के विकास के साथ हमारा काव्य क्षेत्र प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों ही रूपों में विकसित होता है । उपमानों के चयन पर कवि का अपना वातावरण या उसकी निजी रुचि का भी बड़ा प्रभाव देखा जाता है । इन सभी दृष्टियों को ध्यान में रखते हुए उपमानों को निम्नलिखित क्षेत्रों में बांट कर उनका अध्ययन किया जा सकता है—

१. प्राकृतिक उपमान २. सांस्कृतिक उपमान ३. वैयक्तिक उपमान ४. साहित्यिक उपमान, और ५. सामयिक उपमान ।

प्राकृतिक उपमान

प्रत्येक भाषा के साहित्य में प्राकृतिक उपमानों की प्रचुरता स्वाभाविक रूप

में होती है। हमारे ऊपर आकाश हमेशा रहता है, पृथ्वी नीचे रहती है, पेड़ पौधे, नदी, पहाड़, इन सबसे हम घिरे रहते हैं। सूर्य चन्द्रमा और तारागण हमारे नित्य के साथी है। प्रकृति के साथ मानव का चिर साहचर्य है। नागरिक जीवन में व्यस्त रहने वाले व्यक्तियों की भी प्रकृति के सुखोपभोग की इच्छा निरन्तर बनी रहती है। हम एक कारखाने के वातावरण के प्रति उतने अनुरक्त क्यों नहीं होते, जितने नदी-किनारे की एकान्त निकुंजों में बैठने के लिए लालायित रहते हैं, इसका मनोवैज्ञानिक कारण क्या हो सकता है? स्पष्ट है कि कारखाने के स्मरण के साथ ही उसमें हमारे परिश्रम की अनुभूति भी साथ ही हो जाती है। कारखाने का शोरशराबा भी हमें कष्टदायक होता है। दैहिक दृष्टि से परिश्रम और शोरशराबा हमारे स्नायुओं में तनाव उत्पन्न करता है। उसकी अनुभूति शरीर की थकान में होती है। अतः कष्ट की कल्पना करना मनुष्य पसन्द नहीं करता। दूसरी बात यह है कि मशीन के सम्बन्ध में उसकी सम्पूर्ण कार्य-सीमाओं को जानते हैं, इसलिए जिज्ञासा जैसी कोई वस्तु हमारे लिए उसमें नहीं रह जाती। मशीन के साथ हमारा आत्मिक सम्बन्ध भी स्थापित नहीं हो पाता, क्योंकि वह जड़ है। दृष्टिकोण का महत्त्व भी है। एक भारतीय मजदूर मिल में काम करते हुए भी यह सोचता है कि यह मेरे उदर-पोषण का साधन-मात्र है और उसकी संस्कृति ने उसे सिखाया है कि उदरपोषणमात्र जीवन का लक्ष्य नहीं है, इसलिए भी वह उसके प्रति अधिक श्रद्धा नहीं कर पाता। यदि उसका दृष्टिकोण अपने कारखाने के प्रति ऐसा हो कि वह उसके राष्ट्र की संपत्ति को बढ़ाने का महत्त्वपूर्ण साधन है, तब उसका ऐसा विचार कारखाने के प्रति उसके परमार्थ भाव या आत्मिक रस को उत्पन्न करने में सहायक होगा और सामान्य से अधिक आकर्षण और प्रभाव का वह अनुभव कर सकेगा।

प्रकृति के बीच मनुष्य प्रायः सुख का अनुभव करता है। वहां उसके किसी कर्त्तव्य की भागदौड़ नहीं होती। संसार की समस्त हलचल मन से निकाल कर जब मानव प्रकृति के सौन्दर्य के बीच अपने शरीर को शिथिल कर देता है, तब धीरे-धीरे बहने वाला पवन, चन्द्रमा की सुहावनी किरणें और सुन्दर दृश्यावलियां सब उसकी शारीरिक और मानसिक अनुभूतियों में सुख ही सुख भर जाती हैं। अतः उनका निरन्तर सुखमय ध्यान बना रहना मानव के लिए स्वाभाविक है।

प्रकृति की शक्ति अनन्त है। चन्द्रमा के प्रकाश और दूरी के सम्बन्ध में हमारी अनेक जिज्ञासाएं रहती हैं। विज्ञान की इतनी प्रगति के पश्चात् भी मानव एकान्त में तारों का संगीत सुनता है। हवाएं कहां से आती हैं, कहां जाती हैं, उनमें प्रियतम का कैसा सुहावना सन्देश भरा है, यह सब जानकर भी अनजान बनकर सुख का अनुभव करता है। हमें आश्चर्य होता है कि कैसे इन पुष्पो में ये चित्र जैसी स्वाभाविक आकृतियां अपने आप बन जाती हैं। इनके पीछे कोई अज्ञात सत्ता है, जिसका परिचय प्रकृति के इन विराट् चित्रों द्वारा हमें सर्वदा होता रहता है। यही कारण है कि प्रकृति के प्रति हमारी अनन्त जिज्ञासा सर्वदा बनी रहना स्वाभाविक है।

प्रकृति का सौन्दर्य हमारे मन पर प्रभाव डालने वाली बड़ी आक्रामक वस्तु है। मनुष्य सुन्दरता का उपासक है। सुन्दर वस्तु के सामंजस्यपूर्ण रूप को देख कर

उसका मन भी एक आंतरिक सामंजस्य का अनुभव करता है, यही आनन्द है। यह बात स्पष्ट है कि सुन्दर उपमानों का ही अधिक प्रयोग काव्य में होता है, असुन्दर का नहीं। अनगढ़ और भदेस को भी उपमान बनाया जा सकता है, परन्तु उनका आकर्षण उनकी नवीनता में ही है, चिरतृप्ति के साधन वे नहीं बन सकते।

प्रकृति के उपमानों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे सार्वत्रिक हैं और इसलिए साधारणीकरण की सबसे अधिक योग्यता उन्हीं में है। चन्द्रमा और सूर्य किस देश में नहीं हैं, पवन कहां नहीं बहता, बादल कहां नहीं बरसते। इनके अनुभव में मात्राओं का अन्तर हो सकता है, परन्तु इनकी बहुत कुछ एकरूपता सार्वदेशिक है। प्रकृति में भी जो पदार्थ विभिन्न देशों तक ही सीमित हैं, वे उतने व्यापक भी नहीं हो पाते।

काव्य के अप्रस्तुत-क्षेत्र को इसीलिए प्राकृतिक उपमानों ने सर्वाधिक आच्छादित कर रखा है। अनेक बार अप्रस्तुत-योजना प्रकृतिवर्णन का ही एक अच्छा खासा अंग बन जाता है। इससे भी इस वर्ग की व्यापकता का अनुमान किया जा सकता है।

सांस्कृतिक उपमान

किसी भी राष्ट्र या विशिष्ट समाज की विशेषताएं ही उसकी विशिष्ट संस्कृति कहलाती हैं। उस संस्कृति के विभिन्न मानदण्ड उस समाज के जीवन के नियामक और श्रद्धास्पद होते हैं, जिनकी रक्षा के लिए उस राष्ट्र के लोग अपना जीवन होम देना अपना गौरव मानते हैं। वस्तुतः कुछ विचार या वस्तुएं अनेक भावनाओं और संस्कृति के प्रतीक बन जाते हैं। उदाहरण के लिए भारत में गौ, गंगा या गणेश को लिया जा सकता है। गौ किसी बाह्य व्यक्ति के लिए एक पशु मात्र है, परन्तु भारतीयों के लिए उसका महत्त्व सर्वोपरि है। गंगा भी केवल नदी न होकर ब्रह्मा, विष्णु, शिव द्वारा पूजिता मोक्षदायिनी देवी है। गणेश मंगलमय देव हैं। वे बुद्धि के पुरस्कर्ता हैं। हिमालय श्रद्धा और विश्वास का दृढ़ प्रतीक है। कमल तो मानो भारत की संस्कृति-सभ्यता, साहित्य सभी का एकमात्र प्रतीक है। ये सभी भारतीय साहित्य में बहुवर्णित हैं और अनेक बार इनका उपयोग गम्भीर सांस्कृतिक क्षणों में उपमानों के लिए भी किया जाता है। प्रत्येक देश की संस्कृति से उत्पन्न ऐसे उपमान उस संस्कृति का सर्वांशतः प्रतिनिधित्व करने वाले होते हैं और वहां के जनमानस को उद्वेलित करने की महती क्षमता उनमें होती है।

वैयक्तिक उपमान

कवि समाज और परम्पराओं के अतिरिक्त व्यक्ति भी है। वह अपनी आस्थाओं और आदर्शों की व्यक्तिगत परिधि में बंधकर भी जीवित रहता है और अनेक विश्वासों को निजी रूप में स्वीकृत करता है। जाने और अनजाने वह अनेक ऐसे उपमानों का प्रयोग अधिक करता है, जिनका सम्बन्ध उसके व्यक्तिगत वातावरण से है। एक इंजीनियर कवि के काव्य में उदाहरण के लिए अनेक मशीन के पुर्जों के उपमान हो सकते हैं और एक व्यापारी कवि के उपमानों में तुला, माप, लेन-देन जैसे

उपमानों का प्रयोग स्वभावतः अधिक हो जाता है। व्यक्ति का सबसे प्रथम ध्यान अपने ही विशिष्ट परिवेश पर जाता है और वहाँ से उसे उपमान उठाने में सुविधा रहती है, परन्तु यहाँ भी उपमान की सफलता उसकी व्यापक परिचिति पर आधारित है। सर्वथा वैयक्तिकता साधारणीकरण में बाधक सिद्ध होती है। इसी प्रकार अनेक अमूर्त विश्वास आदि के उपमानों के सम्बन्ध में भी कहा जा सकता है। किसी दार्शनिक कवि के काव्य में दार्शनिक उपमानों की अधिकता होना स्वाभाविक है और किसी समाजवादी क्रान्तिकारी कवि के काव्य में सामाजिक नवीन प्रक्रियाओं के उपमानों की अधिकता। ये सभी व्यक्तिगत विशेषताओं के कारण ही होते हैं।

साहित्यिक उपमान

साहित्यिक उपमान साहित्यिक परम्परा में ढलते हैं और प्रायः कवि-समयों के रूप में बहुप्रयुक्त होते हैं। भारतीय साहित्य में चक्रवाक-मिथुन के उदाहरण, चकोर द्वारा अंगार-भोजन की चर्चा, अशोक वृक्ष का कुमारिका-पादताड़न से प्रफुल्लित हो जाना, हंसों का नीर-क्षीर-विवेक आदि अनेक कवि-समय ही हैं। ऐसे उपमानों की संख्या भी पर्याप्त मात्रा में है और वे जीवन के बाहरी अनुभव से प्राप्त न होकर प्रायः साहित्य द्वारा ही अग्रसर होते रहते हैं।

सामयिक उपमान

सार्वकालिक वस्तुओं के अतिरिक्त साहित्य सर्वदा नवीन को भी अपने परिवेश में ग्रहण करता आया है। परन्तु नवीन भी उन अर्थों में नवीन नहीं होता, जिन अर्थों में वह वैज्ञानिक आविष्कारों के लिए माना जाता है। साधारणतया नवीन उपमान भी लगभग दो-तीन शताब्दियों तक पुराने होते हैं। बसन्त को राजा मानने की परम्परा है, विरहिणी को योगिन का उपमान दिया जाता है परन्तु राजा और योगिन कम से कम आज के समाज से बहुत दूर के हो गये हैं, फिर भी हमारा जनमानस अपने प्राचीन संस्कारों से बहुत कुछ ग्रहण करता चलता है। समाज के विकास में जब इन्हीं के समकक्ष नवीन उपमान आ जाते हैं, तो अनेक बार प्राचीन उपमान छोड़ भी दिये जाते हैं। आज का समाज तेजी से विकसित हो रहा है, यही कारण है कि आज हमारे उपमान बहुत शीघ्र ही आधुनिक वस्तुओं को ग्रहण कर लेते हैं। रेल और इंजन तथा अन्य वैज्ञानिक उपमान आज बहुप्रचलित हैं परन्तु इनमें से अनेक १०० वर्ष से भी अधिक प्राचीन हो गये हैं। समय का वैसा प्रतिबन्ध तो उपमान-ग्रहण में नहीं होता, परन्तु इतनी शर्त अवश्य है कि उपमान लोकानुभूत होना चाहिए। यदि वह लोकानुभूत नहीं हो सका है तो न तो उसमें साधारणीकरण की शक्ति होगी, न वह परिचय के अभाव में भावनाओं को उत्तेजित ही कर सकता है। आज के अनेक वैज्ञानिक उपमान हमारे ग्रामीण जीवन को कितना प्रभावित करते हैं? हाँ, उनका प्रयोग वहीं तक सार्थक है, जहाँ तक वे जाने और समझे जाते हैं।

प्राचीन और नवीन उपमानों के ग्रहण और त्याग की एक व्यापक प्रक्रिया साहित्य में सामाजिक जीवन के साथ ही निरन्तर चलती रहती है। किसी युग में राजा और सामन्तों को अच्छी दृष्टि से देखा जाता था, उस समय वे श्रेष्ठता के उपमान थे, परन्तु जिस समाज में इनका स्वरूप केवल आततायी के समान ही शेष रह

गया है, वहाँ ये उपमान यदि जीवित भी रहेंगे तो केवल बुराई की भावना के उपमान बन कर ही। धीरे-धीरे परम्पराओं की अपरिचिति हो जाने पर ये उपमान समाप्त भी हो जाते हैं। इसी प्रकार लोकानुभूति का आश्रय पाकर नवीन उपमान आगे आते हैं। उनका आना भी एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया ही है। आज सोमरस हम से दूर चला गया है, उपमान के रूप में भी उसका प्रयोग अब नहीं होता, परन्तु आज जीवन में चाय का जो स्थान बन गया है और उसके सम्बन्ध की जो भी अनुभूतियाँ हैं, वे जब साहित्य में प्रकट होने के लिए आकुल हो उठी हैं तो हमारा साहित्य चाय, उसकी प्यालियों, उसके आस्वाद आदि के अनुभव से भरने लगा है, यह स्पष्ट है ? नवीन उपमानों को ग्रहण किये बिना नव जीवन अभिव्यक्त नहीं हो सकता, इसीलिए नवीन उपमान भी साहित्य में स्वागतार्ह होते हैं। आरम्भ में इनका विरोध होता है, उनकी ओर से जो नवीन समाज-रचना के विरोधी होते हैं और स्वागत होता है उनकी ओर से, जो नवीन समाज के अभ्यस्त होने लगते हैं। सामाजिक परिवर्तन की यह प्रक्रिया अपनी गति के साथ ही नवीन को स्वीकृत करती जाती है और जब यह पूरी तरह स्वीकृत हो जाती है, तब पुरानी कहलाने लगती है और तब और कुछ नया अपना स्थान प्राप्त करने के लिये आगे आता दिखाई देता है। इस वर्ग के उपमान सामाजिक विकास के मापदण्ड कहे जा सकते हैं।

उपमानों के और भी प्रकार के वर्गीकरण किये जा सकते हैं, जैसे पौराणिक, ऐतिहासिक, वैज्ञानिक आदि परन्तु उतने विस्तार से विचार यहाँ अपेक्षित नहीं है।

उपर्युक्त विवेचन के अनन्तर साधर्म्यमूलक अलंकारों का क्रमशः मनोवैज्ञानिक निरूपण प्रस्तुत किया जाता है।

उपमा

उपमा सादृश्यमूलक अलंकारों में सहज मानस की सर्वसाधारण प्रक्रिया है। अलंकारों में सादृश्यमूलकता सबसे सरल मानसिक क्रिया है और उसमें भी उपमा सरलतम है। जो सरल है, उसका व्यवहार व्यापक भी होगा और प्रधानता भी उसी की होगी। उसी को केन्द्र मानकर मन की गतिविधियों का अध्ययन समीचीन होता है, इसलिए उपमा को अलंकार-शास्त्र का केन्द्र भी कहा जा सकता है।

जब भी कोई व्यक्ति बातचीत में या साहित्य में किसी वस्तु को प्रस्तुत करता है और उसकी इच्छा उसके अतिशय रूप में उसे प्रकट करने की होती है, तो सहज ही उसकी स्मृति में समान धर्म के कारण अन्य अप्रस्तुत उठ आते हैं और वह सरलता से उस आए हुए उपमान को भी अपने कथन में समान, भांति, तरह आदि शब्द जोड़कर रख देता है। उपमान को उपमेय के साथ रखने का प्रयोजन उनकी सदृशता या समानधर्मता प्रदर्शित करना ही होता है।

भाव की उद्दीप्तता उपमान के रूप में प्रायः किसी ऐसी विशेष वस्तु को लाती है, जिसमें उपमेय से अधिक श्रेष्ठता होती है परन्तु सादृश्य-कथन द्वारा वह दोनों को समान बना देता है। इस असादृश्य को सादृश्य में ढालने का कार्य उपमा का होता है। अतः उपमा की एक परिभाषा यह भी की गई है कि जहां उपमेय और उपमान में

नितान्त भिन्नता होते हुए भी समान धर्म बतलाया जाय, वहां उपमालंकार होता है।

पूर्णोपमा

उपमेय और उपमान के सादृश्यकथन को उक्ति में पूर्णतया स्पष्ट करने के लिए चार अंगों के कथन पर ध्यान दिया जाता है। 'जहां उपमेय, उपमान, धर्म और वाचक चारों ही शब्द द्वारा उक्त हों, वहां पूर्णोपमा होती है।[1]

पूर्णोपमा का कवि गोप-कृत एक उदाहरण प्रस्तुत है—

पल्लव से पाणि मृदु कंज से विलास नैन,
काम सो रूप आठौ याम सरसतु है।
धनुष सी भौहें बंक बिम्ब से अधर लाल,
वचन सुधा से मीठे बिहंसतु है।
दाड़िम के बीज से विराजत दसन गोप,
घन सो सुतनु घनो रस बरसतु है।
निरखत संतन के सीतल करत नैन,
रामचन्द्र जू को मुख चन्द्र सो लसतु है।[2]

पूर्णोपमा कवि-मानस की पूर्ण ऋजुता का प्रतीक है क्योंकि वह अपनी बात को यहां पूर्णता से कह देता है। प्रस्तुत उदाहरण में कवि के समक्ष वर्णनीय रामचन्द्र जी का मुख है। मुख शोभामय है, वैसी शोभा उसे चन्द्रमा में दिखाई देती है, स्मरण से चन्द्रमा उपस्थित हो जाता है। 'सो' वाचक शब्द है जो 'दोनों के समान धर्म 'लसना' 'शोभादेना' की समानता को सूचित करता है। शेष अंगों में भी इसी प्रकार की पूर्णोपमा है। पूर्णोपमाओं की इस प्रकार की आवृत्ति से पूर्णोपमा-माला अलंकार बन जाता है।

साधारणतया अनुभूतियां सौन्दर्य की एक वेगवती धारा के समान गतिशील होती हैं, इसलिए उपमेय के लिए उपमान के आते ही उसके अर्थ का उपभोग हो जाता है और कवि का मन भाव का बोध कर आगे बढ़ जाता है। परिणाम यह होता है कि वह संक्षेप में भी बिना चारों अंगों की पूर्णता के भी अपना कथन करता है। पाठक भी अपने अभ्यासानुसार कवि के कथन को ग्रहण कर लेता है। अपूर्ण कथन की ऐसी स्थिति में उपमा के भेदोपभेद होने आरम्भ हो जाते हैं। लुप्तोपमा कवि की इसी प्रकार किसी न किसी अंग को कथन में से छोड़ जाने की प्रवृत्ति का परिणाम है। कवि के मानस में उपमेय-उपमान का सादृश्य पूर्णरूपेण होता है, परन्तु कथन में कुछ न कुछ रह जाता है। कभी उपमेय रह जाता है तो उपमा उपमेयलुप्ता हो जाती है, कभी उपमान लुप्त हो जाता है तो उपमा उपमानलुप्ता हो जाती है।

---

१. काव्य-दर्पण—रामदहिन मिश्र, पृष्ठ ३५२
(इस अध्याय में अलंकारों की परिभाषा सामान्यतया इसी ग्रंथ के आधार पर प्रस्तुत की गई है।

२. रामचन्द्राभरण—गोप, पृष्ठ २

वाचक के अभाव में उपमा वाचक-लुप्ता और धर्म के अभाव में वह धर्मलुप्ता कहलाती है। कभी-कभी इनमें से दो-दो तीन-तीन का भी लोप एक साथ हो जाता है और इस प्रकार उपमा के अन्य अनेक भेद हो जाते हैं। उपमा के इन विभिन्न भेदों के उदाहरण पढ़ने से ज्ञात होता है कि जो अंग कवि द्वारा छोड़ दिये जाते हैं, वे सहज ही समझ में आ जाते है, कवि के मानस में तो उपमा पूरी ही होती है, पाठक के सामने भी वे खाली अंश सहज ही पूरे हो जाते हैं, अन्यथा काव्य में व्यर्थ ही क्लिष्टत्व आ जाये। एक उदाहरण देखिए—

करुनानिधान सुखधाम रामचन्द्र जू के,
मीन से चपल, जुग कंज से विशाल हैं।[1]

मीन से चपल और कंज से विशाल क्या हैं? उपमेय लुप्त है, परन्तु मीन की चपलता और कंज की विशालता नेत्रों के लिए ही प्रसिद्ध है अतः यहां नेत्रों का आधान सहज ही हो जाता है। उपमेय जैसे प्रमुख अंग को छोड़ जाने का कारण शीघ्रता या उल्लास की अधिकता ही हो सकती है, जैसे कहीं निमन्त्रण में जाने की शीघ्रता में हम निमन्त्रण-पत्र ही भूल जाते हैं, अधिक उल्लास या किसी अन्य आवेग में भी ऐसा हो जाता है।

मालोपमा

कहा जा चुका है कि उपमेय की अनुभूति की तीव्रता ही उपमान का आह्वान करती है, यदि अनुभूति की यह तीव्रता और अधिक हो जाय, तो एक उपमान से भी वृत्ति संतुष्ट नहीं हो पाती। एक ही उपमेय के लिए अनेक उपमानों की योजना जहां हो जाती है, वहां मालोपमा अलंकार होता है। यदि यह तीव्रता उपमेय के एक ही गुण को लेकर अनेक समानधर्मी उपमानों का चयन करती है, तब तो अभिन्नधर्मा मालोपमा कहलाती है और यदि यह और भी अधिक फैल कर गुणों में अनेकता कर अलग-अलग गुणों के उपमान संयोजित करती है, तब यही भिन्नधर्मा-मालोपमा कहलाती है।

रशनोपमा

भाव की तीव्रता उपमेय को आधार बना कर उत्पन्न होती है, परन्तु कभी-कभी उपमान पर मनोवृत्ति ठहर कर पुनः उसके लिए और उपमान ढूंढ़ लाती है और इस प्रकार हर उपमान उपमेय बनता हुआ एक शृंखला जैसी बनाता है, तो वह उपमा रशनोपमा कहलाती है। रशना का अर्थ है रस्सी या शृंखला। यहां इस अलंकार में एक अनुक्रम होता है, परन्तु प्रधानता इसमें साधर्म्य की ही है।

समुच्चयोपमा

कभी-कभी उपमेय के किसी विशेष गुण के अनुसार आया हुआ उपमान जब कवि की दृष्टि का केन्द्र बन जाता है और कवि उपमान के अन्य गुणों के साथ भी उपमेय से समता करने लगता है, तब अनेक धर्मों से उपमित होने के कारण ऐसे स्थान पर समुच्चयोपमा नामक अलंकार प्रसिद्ध होता है। स्पष्ट है कि समुच्चयोपमा

१. रामचन्द्राभरण—गोप, पृष्ठ २

अलंकार के कवि को उक्त काल में पर्याप्त अवकाश होना चाहिए, जो उपमेय और उपमान के विभिन्न गुणों का विचार कर उनकी अलग-अलग समता प्रस्तुत कर सके।

उपमा में मानस की तीव्रता की ओर उसके विभिन्न अंगों पर दृष्टि रुकने की मात्रा पर ही अनेक भेद अवस्थित हैं।

उपमेयोपमा

जब कवि उपमेय और उपमान में इतनी अधिक समता मान बैठता है कि उपमेय को देखता है तो उसके मन की दीप्ति की पूर्ति उपमान से हो जाती है और जब उपमान की दीप्ति का अनुभव करता है तो किसी और उपमान के लाने के स्थान पर उसकी कल्पना लौट कर पुनः उपमेय को ही उपमान बना डालती है, तब उपमेयोपमा अलंकार होता है। स्पष्ट है कि कवि के भाव का आधार कुछ समय के लिए उपमेय और उपमान में ही आबद्ध हो जाता है, वह विस्तृत होकर आगे नहीं बढ़ता। उसे, एक दूसरे की स्पष्टता के लिए उन्हीं उपमेय और उपमानों के रूपों में ही पर्याप्त गम्भीरता मिल जाती है।

उपमेयोपमा की वृत्ति, वास्तव में, बनती तब है, जब कवि उपमान को अपना वर्ण्य बना ले। साधारणतया उपमान का धर्म उपमेय को उद्दीप्त करना है, परन्तु जब वह स्वयं उद्दीप्त होने लगता है और नये उपमान के स्थान पर उपमेय में ही अपनी उद्दीप्ति प्राप्त कर लेता है, तभी इस अलंकार की सृष्टि होती है। इसमें प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों ही एक दूसरे के प्रकाशक होते हैं। एक संक्षिप्त उदाहरण देखिए—

'सूरति' निहारि देखी नीके ए री प्यारी जू कै,
कमल से नैन अरु नैन से कमल हैं।[1]

यहां कमल से नैन की उपमा तो सीधी ही है, परन्तु सम्भवतः कवि यह समझता है कि ऐसा कहने से प्रधानता कमल की ही रही, क्योंकि सामान्यतया उपमान उपमेय से गुण आदि में अधिक होता है, अतः वह पुनः कमल को वर्ण्य बना कर कहता है कि नैन से कमल हैं। ऐसा कह कर कवि-मानस को सन्तोष हो जाता है कि हां, अब कमल पर भी नैन की सत्ता स्थापित हो गई। इस अन्योन्याश्रय (Reciprocal) से उपमेय और उपमान के गुणधर्मों को अधिक स्पष्टता मिल गयी। कवि के हृदय को ऐसा आभास हुआ था कि इस प्रकार उपमा देने से वर्ण्य के प्रति हीनता का भाव (Inferiority Complex) प्रकट हो रहा है, उसका भी उसने निराकरण कर लिया।

अनन्वय

अनन्वय में कवि की मानसिक दशा वर्ण्य की महत्ता से इतनी अधिक प्रभावित होती है कि वह उसके लिए उपमान लाना तो चाहता है, परन्तु उसकी प्रभावित चेतना उसकी समानता का उपमान देख नहीं पाती और कवि उसीको उसका उपमान घोषित कर देता है। यह अनुभूति की प्रगाढ़ता का ही परिणाम है कि कल्पना को दौड़ने

१. रसिकगोविन्दआनन्दघन—रसिक गोविन्द, पृष्ठ १२

का अवसर ही नहीं मिलता, क्योंकि वर्ण्य भाव को दृढ़ता से केवल अपने में ही समेटे रखता है।

प्रतीप

प्रतीप का अर्थ है विपरीत उलटा। इस अलंकार में उपमान में उपमेय की कल्पना करना आदि अनेक प्रकार की विपरीतता दिखाई जाती है।

साधारणतया प्रतीप को उपमा का उलटा माना जाता है। परन्तु यदि यह उपमा का उलटा मात्र हो, तब भी यह उपमा अलंकार ही बनेगा, क्योंकि उपमान को उपमेय बना देना और उपमेय को उपमान बना देना सीधी उपमा की ही बात है। उसका सीधा अर्थ यही होता है कि उपमान का उत्कर्ष दिखाने का प्रयत्न किया जाता है, जबकि वास्तविकता यह नहीं है। प्रतीप में ध्यान देने की बात यह है कि जब उपमान को उपमेय बनाया जाता है, तब इतना तो पहले ही स्वीकृत है कि वह उपमान-स्थानीय वस्तु है, जो आरम्भ से ही उपमेय से उत्कृष्ट है। इसका अर्थ यह है कि उपमेय-उपमान के सम्बन्ध की प्रथम क्रिया तो इस अलंकार की भूमिका में ही सिद्ध है। यह अलंकार तो उपमा की सामान्य क्रिया के आगे पुनः उपमेय के और अधिक उत्कर्ष का विधान करता है। उपमान को उपमेय बनाकर और उसका अतिशयत्व प्रकट करते हुए भी इस अलंकार का मूल कार्य उपमेयका ही उत्कर्ष करना होता है, उपमान बने हुए उपमेय का नहीं। वर्ण्य को असाधारण रूप में प्रस्तुत करना यही प्रत्येक अलंकार का कार्य है, प्रतीप में भी इसका विरोध नहीं है। प्रक्रिया का अन्तर इसमें अवश्य है और वास्तव में इसका प्रतीप नाम इसकी प्रक्रिया के आधार पर ही संगत है, मूल आधार का विरोध इसमें भी नहीं है।

उपमा में कहा जाता है कि मुख चन्द्रमा के समान है, परन्तु प्रतीप में कहा जाता है कि चन्द्रमा मुख के समान है। यदि बात इतनी ही है तो यह सीधा उपमा अलंकार है, जिसमें उपमेय चन्द्रमा है और मुख उपमान। परन्तु यहाँ भी वर्ण्य मुख ही है, यह बात दूसरी है कि उसे उपमान के रूप में प्रस्तुत किया गया है। ऐसा करने से मुख के साधारण रूप को चन्द्रमा की कान्ति तो अलंकार की भूमिका में ही मिल जाती है, जो कि उपमा का सामान्य कार्य है। प्रतीप में मुख उपमान है अर्थात् वह चन्द्रमा से भी अधिक सुन्दर होना चाहिये। अतः मुख को चन्द्रमा से भी अधिक सौन्दर्यपूर्ण रूप में सिद्ध करने की सामान्य प्रक्रिदा ही प्रतीप में गृहीत है।

प्रतीप के अनेक भेदों में उपमान को उपमेय बनाकर, उपमेय को उपमान बनाकर, प्रसिद्ध उपमान का निरादर-कथन कर, वर्णनीय उपमेय का निरादर कर, उपमान को उपमेय की उपमा के अयोग्य बताकर अथवा यह कहकर कि उपमेय ही उपमान का कार्य करने के लिए पर्याप्त है फिर उपमान की आवश्यकता क्या है, इत्यादि सभी स्थितियों में वर्ण्य के गौरव को ही अधिक उत्कृष्टता प्रदान की जाती है।

इसलिए प्रतीप अलंकार कार्य-सिद्धि की दृष्टि से उपमा से द्विगुणित बलशाली है।

रूपक

रूपक अभेद-प्रधान अलंकार है। अभेदप्रधान अलंकारों में उपमेय और उप-

मान में भेद का कथन नहीं किया जाता बल्कि उन दोनों के गुण-धर्मों को इस प्रकार जोड़ दिया जाता है कि उनमें अन्तर ही प्रतीत न हो। यदि इस अभेद में प्रस्तुत पर अप्रस्तुत का आरोप कर दिया जाय, तो आरोपमूल अभेद रहता है और यदि अप्रस्तुत प्रस्तुत का निगरण कर ले तो अध्यवसाय रहता है। इन दोनों में निश्चय की मात्रा का ही अन्तर है।

उपमेय और उपमान में जब तक उसके गुणों के आधार पर भिन्नता का भाव रहता है, तो उसका क्षेत्र उपमा-वर्ग का होता है परन्तु जैसे ही दोनों के गुणों की एकता अपने पूर्ण वेग से कवि मानस को बांध लेती है, तभी रूपक अलंकार की सृष्टि होती है। उपमेय में अभेद रूप से उपमान के आरोप को ही रूपक अलंकार कहते हैं। यह अभेद उपमेय के साथ ही उपमान में समान रूप में उदित होने से बनता है। मुख की प्रतिमा के आते ही चन्द्रमा की प्रतिमा भी साथ ही उदित हो आती है। दोनों कवि के मानस-चक्षुओं के सामने उपस्थित होकर उसकी चेतना में अपने गुण या गुणों की एकता को इस प्रकार प्रस्थापित करते हैं कि दोनों के गुण एक ही प्रतीत होते हैं और कवि उनकी भिन्नता और फिर समानता का अवसर नहीं पाता। दोनों एक हैं—मुख चन्द्र है, तत्काल यही निर्णय कर लिया जाता है। दोनों की पूर्ण समता ही सम अभेद रूपक है। यदि कवि अपने निर्णय पर अडिग रहता हुआ भी उपमेय में कुछ अधिक विशेषता का विचार करता है और उसका कथन करता है, तो वहाँ अधिक अभेद-रूपक की सृष्टि हो जाती है और इसी प्रकार अभेद मान लेने के पश्चात् उसमें कुछ न्यूनता का अनुभव होने लगे तो वहां न्यून अभेदरूपक होता है। अधिक और न्यून अभेद रूपकों में मानसिक क्रिया दो बार कार्यशील होती है। प्रथम बार तो वह अभेद को स्वीकृत करती है और तदुपरांत यदि उसे कुछ अधिक या कम लगता है, तो उसका निर्णय कर उल्लेख करती है।

रूपक के क्षेत्र में मन उपमेय और उपमान में एकता का आरोप कर लेने के उपरान्त भी दोनों के विभिन्न गुणों का विचार करता है। यदि दोनों में कुछ विभिन्नता दृष्टिगोचर होती है, तब तो पूर्वकथित अधिक एवं न्यून अभेद-रूपक बनते हैं और यदि दोनों में विचार करने के उपरान्त उपमेय और उपमान के समस्त अंगों में पूर्ण अभेद स्थापित होता जाता है तो वहाँ रूपक का क्षेत्र विस्तृत होकर वह सर्वांग रूपक बन जाता है। अतः सर्वावयव रूपक की परिभाषा की गई है, 'उपमेय के समस्त अवयवों सहित उपमान के अवयवों के आरोप किये जाने को सावयव रूपकालंकार कहते हैं।' कल्पना उनमें वर्ण्य के पूरे चित्र को उभार कर अवर्ण्य की भी उन्हीं समस्त विशेषताओं को सामने रख कर यह सिद्ध कर देना चाहती है कि ये दोनों सब प्रकार से एक हैं सावयव रूपक में भी उपमेय और उपमान का सर्वप्रथम किसी एक गुण या सामान्य आधार पर अभेद प्रस्थापित होता है और फिर उनके अन्य अंगों में अभेद की स्थापना यह द्वित्ववर्ती प्रक्रिया है। यहां उपमेय और उपमान का खंडित चित्र न होकर सम्पूर्ण चित्र होता है, जिसका प्रत्येक अवयव कवि की कल्पना में झलकता है और अपना पूर्ण समाधान देता है। यदि

विभिन्न अवयवों से रहित उपमेय में उपमान का आरोप किया जाता है अर्थात् वह एकदेशीय होता है तो उसे निरवयव या निरंग रूपक अलंकार कहा जाता है। यह क्रिया अधिक सरल और सामान्य है, जब कि सावयव अलंकार में यही क्रिया जटिल होकर पूर्णता ग्रहण करती है।

परम्परित रूपक में यह अभेदमूलक आरोप परम्परा पर आधारित होता है। सावयव में जिस प्रकार कल्पना केवल एक ही उपमान में अपनी संतुष्टि करती है वैसे ही परंपरित में वह एक के कारण से अन्य का ग्रहण करती जाती है। ये नये आने वाले उपमान एक दूसरे की पूर्ति करते जाते हैं और उनमें एक संगति भी होती है। यदि हरि के चरणों को कमल कहा गया है तो भक्त का उस पर लुब्ध होने वाला मन भ्रमर ही कहलायेगा कमल और भ्रमर का सम्बन्ध प्रसिद्ध है अतः चरण और मन की परम्परा में कमल के साथ भ्रमर का उल्लेख ही उसकी संगति करता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से परम्परित रूपक और सर्वांगरूपक में पृष्ठभूमि की एकता है। सर्वांगरूपक के समान ही परम्परित रूपक भी कुल मिलाकर एक ही चित्र बनाता है। यह चित्र लोकसिद्ध होता है अतः इसका थोड़ा सा भाग सामने आते ही शेष का रूप निर्धारित हो जाता है। सर्वांग रूपक में जैसे मुख को चन्द्र कहा गया तो हंसी को चाँदनी कहा जायगा, यह एक ही उपमान के अन्तर्गत है। इसी प्रकार चरणों को कमल कहने पर मन को भ्रमर कहा जायगा, क्योंकि मुख और हँसी की पूर्ति चन्द्रमा और चांदनी में होती है तो कमल का चिर साहचर्य भ्रमर में पूर्ण होता है। वहां चन्द्रमा में ही सब कुछ एक साथ खोज लेना है तो यहां व्यापक चित्र, जिसमें कमल, भ्रमर तथा अन्य सहचारी वस्तुएं हों, उनमें परम्परित रूपक की सिद्धि करनी होती है। मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि में दोनों एक हैं, भेद है तो एक ही वस्तु की सर्वांगता अथवा अनेक वस्तुओं के एक पूर्ण चित्र के विभिन्न अंगों को उपमान-रूप में प्रयुक्त करने का।

परिणाम

परिणाम अलंकार में उपमेय और उपमान का अभेद तो स्वीकृत कर लिया जाता है परन्तु उपमान से जो कार्य लिया जाना है, उसमें वह स्वयं समर्थ नहीं होता। असमर्थ उपमान पुनः उपमेय में अभिन्नता प्राप्त करके ही इच्छित कार्यपूर्ति कर सकता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इस अलंकार की रचना के समय कवि का ध्यान मूल रूप में उपमेय और उसकी क्रिया पर ही टिका होता है। सौंदर्यबोध के लिये वह जो उपमान लाता भी है, वह उस दृष्टि से उसकी सम्पूर्ण योग्यता पर विचार नहीं कर पाता। वास्तव में कवि का ध्यान उस दृष्टि को लेकर उपमान ढूंढने नहीं गया, उसके एक सहज अभ्यास ने ही उपमान को प्रस्तुत कर दिया और जब उसमें उसे असमर्थता प्रतीत हुई तो उसने उसे पुनःउपमेय की क्रिया पर टिका कर अपना मन्तव्य पूर्ण किया। उदाहरण के लिए निम्नलिखित दो पंक्तियाँ देखिए—

पद पंकज ते चलत वा कर पंकज लै कंजु।
मुख पंकज ते कहत हरि, वचन रचन मुद मंजु।[1]

---

१. काव्य-दर्पण—रामदहिन मिश्र, पृष्ठ ३६५ पर उद्धृत

उद्धरण से स्पष्ट है कि पद, कर और मुख के लिए पंकज का आरोप स्वाभाविक है। कवि ने इनका आधान सहज ही कर लिया है, परन्तु उसके प्रयोग में आपत्ति यह आती है कि पद चलता हैं, पंकज नही चलता, कर ग्रहण कर सकता है, कमल नहीं, मुख बोल सकता है, कमल नहीं बोल सकता अर्थात् उपमान की सिद्ध एकरूपता यहां क्रिया के क्षेत्र में आकर उसे असमर्थ सिद्ध कर रही है। फिर भी इस उपमान को यदि उपमान की दृष्टि से न देखकर उपमेय में ही उसकी योग्यता को देखें तभी उसकी अनुकूलता स्थापित होती है। तात्पर्य यह है कि ऐसे उपमान केवल निष्क्रिय रूप में तो अभेदयुक्त होते हैं, शेष में उनका विचार नहीं किया जा सकता। सर्वावयव रूपक में कल्पना की व्यापकता है तो परिणाम में कल्पना की एकांगिता। इसमें लोक-सिद्धता अर्थात् उपमेय-उपमान की सर्वसामान्य समता पर रूपक बन जाता है,परन्तु कार्यसिद्धि तभी होती है, जब उपमान क्रिया के लिये उपमेय में ही परिणमित रहे। इसीलिये इस अलंकार का नाम परिणाम रखा भी गया है।

स्मरण

स्मरण विशुद्ध रूप में एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है, पीछे इसका अर्थात् स्मृति का परिचय दिया जा जा चुका है। उपमेय के लिए उपमान का आयोजन करना यह स्मृति और कल्पना इक दो प्रक्रियाओं पर ही आधारित है।

सामान्यता उपमेय को देख कर किसी सम्बन्धित भाव के कारण उपमान का स्मरण हो आता है, परन्तु कभी-कभी उपमान को देखकर उसी के गुणों के अनुसार उपमेय का स्मरण हो आता है। यह उपमान पूर्वस्मृतियों को जगाकर अर्थात् वैसे ही वातावरण, स्थान आदि की पृष्ठभूमि में उपमेय को प्रस्तुत कर देता है।

बिहारी का एक प्रसिद्ध स्मरणालंकार का दोहा देखिये—

सघन कुंज छाया सुखद, सीतल सुरभि समीर।
मनु ह्वै जात अजौं वहै, वा जमुना के तीर।[1]

सघन कुंज का दर्शन, शीतल समीर का स्पर्श आदि बीते दिनों के यमुना किनारे के रास रंग की याद दिला देते हैं। मन वैसा ही हो जाता है। आज के वातावरण से पूर्वानुभूत वातावरण और घटनाओं का स्थान आदि के परिवेश में यह स्मरण पूर्णतया मनोवैज्ञानिक आधार पर स्थित है।

भ्रम या भ्रान्तिमान्

भ्रम भी एक विशिष्ट मानसिक प्रक्रिया है। यह किसी वास्तविक विषय के अशुद्ध या मिथ्या प्रत्यक्ष का नाम है। भ्रम की इस प्रक्रिया को निम्नलिखित रूपों में देखा जा सकता है।

१. हमारे अनुभवों से सिद्ध किन्हीं वस्तु अथवा विषयों के प्रति कुछ स्थायी विचार हमारे मस्तिष्क में रहते हैं।

२. किसी अन्य वस्तु या विषय में भी वैसी ही समानता हमें दिखाई देती है।

---

१. बिहारी-रत्नाकर—जगन्नाथदास रत्नाकर, पृष्ठ २८०

३. यह समानता ही सादृश्य के कारण हमारे पूर्वसंचित समान अनुभव और विचारों को जाग्रत कर देती है और हमें इतर वस्तु में पूर्वस्मृत वस्तु का होना निश्चय हो जाता है, यही भ्रम है।

अलंकार के रूप में देखें तो उपमेय में उपमान की भ्रान्ति सादृश्य के कारण होती है। 'जहां भ्रम से किसी अन्य वस्तु को अन्य वस्तु मान लिया जाय, वहां भ्रान्ति या भ्रम अलंकार होता है।'

यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि भ्रम अलंकार में वर्णित भ्रम कवि का भ्रम नहीं होता, वह कवि-कल्पित भ्रम होता है। उदाहरणार्थ—

जनकसुता कर जान के, पल्लव परसत राम।[1]

उक्त पद्यांश में श्री राम के भ्रम की कल्पना कवि ने की है क्योंकि सीता के हाथ अत्यन्त कोमल और पत्तों को छूते समय श्री रामचन्द्र को उनमें सीता के हाथों-जैसी कोमलता अनुभव होती है, इसलिए श्रीराम उन पल्लवों को भ्रम से सीता के हाथ समझ कर बार-बार स्पर्श कर रहे हैं।

भ्रम अलंकार की रचना के समय कवि तो भ्रम में हो ही नहीं सकता, क्योंकि भ्रम में किया गया काव्य निर्भ्रम व्यक्तियों के लिए उपयोगी कैसे हो सकेगा और उसमें औचित्य की प्रतिष्ठा ही कैसे हो सकेगी? यदि कवि स्वयं के भ्रम का भी वर्णन करेगा तो वह उसके विगत भ्रम का ही हो सकता है, जो उसके एक अलग व्यक्तित्व का अनुभव है। स्मरण के समान ही भ्रम भी विगत का ही अनुभव हो सकता है, वर्तमान या भविष्य का नहीं।

तब भ्रमालंकार की प्रेरणा कवि को किस वृत्ति से प्राप्त होती है? स्पष्ट है कि उपमेय और उपमान का अत्यधिक सादृश्य ही उसके भाव को स्फूर्त करता है। सादृश्य की अधिकता में जो भ्रांति हो सकती है, कवि उससे परिचित है। उसे यह भी ज्ञात है कि अपने मिथ्या ज्ञान का अपवारण होने पर जब व्यक्ति को सत्य का ज्ञान होता है तो कितना आनन्द मिलता है। इसमें निहित विचित्र कौतूहल ही सादृश्य की भूमिका में कवि को भ्रमालंकार की सृष्टि करने की प्रेरणा देता है। वह अपनी और प्रकारान्तर से पाठक की कल्पित वृत्तियों का आनन्द प्राप्त करता है। पाठक को भ्रमालंकार में दो वस्तुओं की एकता में विरोध और विरोध में एकता देखने का अवसर प्राप्त होता है।

सन्देह

सन्देह भी मानसिक प्रक्रिया है। वस्तुओं के निरन्तर सम्पर्क में पाने के कारण जो अनुभव बन जाते हैं, वे ही जब किसी अन्य वस्तु में सादृश्य के कारण जाग उठते हैं, तब हमें पूर्वानूभूत वस्तु का ध्यान आ जाता है और हम सोचने लग जाते हैं कि कहीं यह वही पूर्वानुभूत वस्तु तो नहीं है। इसी में यदि मिथ्या निश्चय हो जाय तो, भ्रम कहलाता है और यदि निर्णय न हो पाये या अनिश्चय बना रहे तो वहां सन्देह होता है।

---

१. रामचन्द्राभरण—गोप, पृष्ठ ५

भ्रम में अप्रस्तुत प्रधान हो जाता है परन्तु सन्देह में प्रस्तुत इतना गौण नहीं हो पाता। एक ओर वह अपनी सत्ता बनाये रखता है दूसरी ओर अप्रस्तुत भी उसके ऊपर अपने अस्तित्व की सत्ता डालने की निरन्तर चेष्टा करता रहता है। सन्देह में मन प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों में समान रूप से बँटा रहता है। यह एक स्थिर दशा न होकर गतिमय दशा में रहता है क्योंकि किन्हीं विशिष्ट समानताओं के आधार पर मन प्रस्तुत को अप्रस्तुत मानने को प्रस्तुत होता ही है कि पुनः कुछ असमानताएं सामने आकर उन दोनों को अलग अलग मानने पर बाध्य कर देती हैं। सन्देह की स्थिति तभी तक है, जब तक मन की यह द्वैध क्रिया चलती रहती है। इनमें से किसी एक ओर का भी अवसान हो जाने पर या तो वास्तविक ज्ञान हो जायेगा या मिथ्या ज्ञान अर्थात् भ्रम हो जायेगा। इसलिए सन्देह सदैव ही एक गतिशील स्थिति है।

उपमेय और उपमान के सम्बन्ध में ऐसा ही संशय होने पर सन्देह अलंकार होता है। साधारणतया कि, क्या, धौं, किधौं, आदि शब्दों द्वारा सन्देह प्रकट किया जाता है, कहीं-कहीं ये सन्देहवाचक शब्द प्रयुक्त नहीं भी होते।

भ्रम के समान ही सन्देह भी कवि-कल्पित ही होता है। प्रस्तुत और अप्रस्तुत के सादृश्य के कारण दोनों में समानता-असमानता का संघर्ष प्रस्तुत किया जाता है। साहित्य में जिसे संघर्ष या द्वन्द्व (Conflict) कहा जाता है, वैसा ही सूक्ष्म रूप में वृत्तियों का एक द्वन्द्व संदेह अलंकार में रहता है। इसमें भी एक विचित्र प्रकार की सूक्ष्म उत्तेजना होती है, जो कौतूहल बनाये रखकर अन्त में आनन्ददायिनी सिद्ध होती है।

यह भी ध्यान रखना आवश्यक है कि भ्रम में निश्चयात्मक स्थिति होने से उसमें उपमान केवल एक ही हो सकता है परन्तु सन्देह में अनिश्चय होने के कारण अनेक उपमानों में प्रस्तुत का सन्देह किया जा सकता है।

उल्लेख

जहां एक ही वर्णनीय विषय का निमित्त-भेद से अनेक प्रकार का वर्णन हो, वहां उल्लेख अलंकार होता है।

उल्लेख अलंकार दो प्रकार का होता है।

१. ज्ञाताओं के भेद से एक ही पदार्थ का जहां भिन्न-भिन्न विधि से उल्लेख हो, वहाँ प्रथम उल्लेख होता है।

२. जहां एक ही व्यक्ति विषय-भेद के कारण किसी पदार्थ को अनेक रूपों में देखता है, वहां दूसरा उल्लेख अलंकार होता है।

प्रथम उल्लेख एक प्रकार से समष्टिगत आधार का अलंकार है। एक ही वस्तु के सम्बन्ध में विभिन्न प्रकार के व्यक्तियों की क्या प्रतिक्रिया हो सकती है, इसका विचार व्यक्तियों के दृष्टि-भेद के आधार पर किया जाता है। वस्तु के व्यापक प्रभाव की विशद प्रतिक्रिया को चयन करने का कारण कवि का भावातिरेक ही हो सकता है। यह व्यापक प्रभाव प्रस्तुत को अनेक अप्रस्तुतों के साम्य में रखकर प्रस्तुत किया जाता है।

द्वितीय उल्लेख वस्तु के गुणों की एक ही व्यक्ति में विविध दृष्टिकोण अथवा विषय-भेद से होने वाली प्रतिक्रिया है। इसमें भी वस्तु-सौन्दर्य को व्यापकता मिलती है। यहां एक ही व्यक्ति स्वयं विभिन्न दृष्टियों को प्रस्तुत कर देता है। इसलिए मूल रूप में दोनों उल्लेखों की प्रक्रिया एक ही है। वस्तु-सौन्दर्य की अनेकरूपता या व्यापकता की भावना दोनों में ही स्पष्ट है। अपनी अनुभूति को व्यापक आधार बनाने की सर्वसामान्य इच्छा की संतुष्टि इस अलंकार की मूल प्रेरणा है। यह आत्मस्थापन (Self Assertion) का ही संक्षिप्त रूप है, जब व्यक्ति समाज की ओर अभिमुख होता है या आत्म इदम् की ओर झुकता है।

उल्लेख के मूल रूप में सादृश्य तो है ही परन्तु वह अपने सादृश्य के लिए उपमा, रूपक आदि अनेक अलंकारों की प्रक्रियाओं को सहज ही अपना लेता है। उपमेय के लिए अनेक उपमानों का आना ही इस अलंकार का आधार रूप बनाता है। वे किस प्रकार और किस विशिष्ट सम्बन्ध को लेकर आते हैं, इससे कोई अन्तर इस में नहीं पड़ता।

अपह्नुति

अपह्नुति शब्द का अर्थ है गोपन, छिपाना, वारण, निषध आदि। जहाँ प्रकृत का, उपमेय का निषेध करके अप्रकृत—उपमान का स्थापन, आरोप किया जाय, वहाँ यह अलंकार होता है। इसमें सच्ची बात को छिपाकर दूसरी बात कही जाती है।

अपह्नुति अलंकार का प्रत्यक्ष रूप और इसकी व्याख्या यही सिद्ध करती है कि यह गोपनमूलक अलंकार है और इसे उसी श्रेणी में जाना चाहिये! गोपन का स्पष्टतया अवलम्बन इस अलंकार में होता भी है परन्तु वास्तव में इस अलंकार का अलंकारत्व विशेष रूप से साधर्म्य पर टिका है। न केवल इतना ही कि इसमें उपमेय उपमान क्रिया का आधार ग्रहण किया जाता है बल्कि इसका मूल उद्देश्य भी गोपन का आश्रय ग्रहण कर सादृश्य को ही पुष्ट करना है। यही कारण है कि साधारणतया गोपन की प्रक्रिया का विशेष रूप सामने रहते हुए भी इसमें सादृश्य की प्रक्रिया ही अधिक बलवती हो जाती है। इसीलिए इस अलंकार को सादृश्यमूलक अलंकारों में ही स्थान दिया गया है।

पहले इसमें निहित इसकी गोपन की क्रिया को समझना आवश्यक है। यह गोपन एक छल है। हम किसी से कोई बात छिपाते क्यों हैं? इसके दो ही मूल कारण हैं, भय और कौतूहल। भय एक सामाजिक वृत्ति भी है। हम बड़ों से अनेक बातें छिपाते हैं क्योंकि छिपाने वाला समझता है कि यदि ये बातें बड़ों के या समाज के समक्ष आईं तो उसे लज्जित होना पड़ेगा। इसीलिए हम अपनी बहुत सी बातों को बदले हुए स्वीकरणीय रूप में प्रस्तुत करते हैं। कौतूहल के लिए भी सत्य को छिपाकर उसका दूसरा रूप सामने रखते हैं क्योंकि इस प्रकार सत्य बात के सामने आने पर चित्तवृत्तियों में एक विशेष प्रकार का सामंजस्य उत्पन्न होता है। अपह्नुति के मूल में यह दूसरे प्रकार की धारणा विशेष रूप में देखने से आती है।

अपह्नुति के अलंकार-रूप में उपमेय का गोपन किया जाता है और उसके स्थान पर उपमान का उल्लेख, दोनों का आधार सादृश्य होता है। इस रूप में हमारी कल्पना को पहले प्रस्तुत से हटाया जाता है और तब उसे अप्रस्तुत पर जमाया जाता है। 'यह मुख नहीं है, चन्द्रमा है', इस कथन में मुख को छिपाया जाता है। वास्तव में उपमान की इस प्रक्रिया का यही अर्थ है कि यह सामान्य मुख नहीं है। इस गोपन या वारण का उद्देश्य स्पष्ट है कि कवि मुख को चन्द्रमा बताना चाहता है, उतना सौन्दर्य मुख में आरोपित करना चाहता है। इसीलिए पहले तो उसे मुख कहने से जो मुख का साधारण बिम्ब बनता है, उसका अपवारण करता है और तब मन समस्त वृत्तियों को उपमान—चन्द्रमा पर ले जा कर टिकाता है। अब मुख में चन्द्रमा की स्थिति पूर्णतया निश्चयात्मक रूप में हो जाने से साधर्म्यमूलक आधार पर उपमेय को उपमान का समस्त उत्कृष्ट गौरव प्राप्त हो जाता है, यही अपह्नुति का लक्ष्य है।

कथन के विभिन्न आधारों पर अपह्नुति अलंकार सात प्रकार का हो जाता है। प्रस्तुत को निषेधात्मक शब्द द्वारा छिपाकर जब उपमान का आरोप किया जाय तब शुद्धापह्नुति होती है—इसे शाब्दी अपह्नुति भी कहते हैं। यही कार्य यदि स्पष्ट शब्दों में न कह कर किसी कैतव (छल) से प्रस्तुत किया जाय तो उसे कैतवापह्नुति या आर्थी अपह्नुति कहा जाता है। उपमेय का निषेध करने के साथ यदि कारण का भी निषेध किया जाय तो वहां हेत्वपह्नुति होती है।

भ्रान्तापह्नुति में प्रस्तुत के गोपन के साथ ही अप्रस्तुत को न केवल सामने लाया जाता है अपितु उसके वही होने पर इतना बल दिया जाता है कि अन्य व्यक्ति उसके प्रस्तुत रूप की शंका का ही निवारण कर ले अर्थात् यहाँ अपह्नुति के साथ ही अन्य रूप की केवल कल्पना ही नहीं, उसी रूप की इतनी अधिक स्थापना की जाती है कि वह भ्रान्त रूप में सामने आती है और इसीलिए उसे भ्रान्तापह्नुति कहते हैं।

अपह्नुति की यह भ्रान्त धारणा पुष्ट होने पर निश्चय का रूप ले लेती है। निश्चय के बिना भ्रमालंकार बनता भी नहीं। वस्तुतः यह अपह्नुति की प्रक्रिया से बनने वाला भ्रमालंकार ही है, इसीलिए भ्रान्तापह्नुति कहलाता भी है। निश्चय की प्रधानता होने से कुछ आलंकारिकों ने इसे निश्चय अलंकार भी कहा है।

पर्यस्तापह्नुति में किसी सर्वसामान्य वस्तु में से उसके धर्म का निषेध कर वही धर्म कहीं अन्य प्रस्तुत किया जाता है। एक वस्तु का धर्म दूसरे में फेंकना ही पर्यस्त करना कहा जाता है। छेकापह्नुति में किसी गुप्त बात के प्रकट होने की स्थिति में मिथ्या समाधान द्वारा उसे छिपाया जाता है। जो छल है, वह खुलता ही है, व्यक्ति बुद्धिमत्ता द्वारा उसे फिर छिपाता है। इस अपह्नुति के मूल में पहले कही हुई सामाजिक भय की भावना का रूप स्पष्टतया देखा जा सकता है।

विशेषापह्नुति में एक प्रकार विशेष होता है, जो न तो शब्द के आधार पर होता है, न 'व्याज' आदि अर्थों के आधार पर अर्थ आक्षिप्त होता है।

उत्प्रेक्षा

उत्प्रेक्षा साधर्म्यमूलक अभेदप्रधान अलंकार है अर्थात् इसमें उपमेय और उपमान की समानता और दोनों में अभेद की ओर मन की गति होती है। विशेष रूप से यह अध्यवसायमूलक अलंकार है। अध्यवसाय का अर्थ है विषयी का विषय द्वारा निगरण। उपमेय और उपमान की समता का आधार लेते हुए भी उत्प्रेक्षा में उपमान अधिक प्रधान प्रतीत होता है। सामान्यतया उत्प्रेक्षा में उपमान कल्पना पर अधिक आधारित दिखाई देता है। कल्पना के अतिरेक के कारण ही मन की वृत्ति दो वस्तुओं की निश्चयात्मक सत्ता पर न टिक कर संभावना के रूप में रह जाती है। सम्भावना एक अनिश्चयात्मक स्थिति है परन्तु मन उस सम्भावना को सम्भावित निश्चय की ओर ही झुकाये रहता है। उत्प्रेक्षा और सन्देह दोनों ही संशयमूलक अलंकार हैं परन्तु मानसिक दृष्टि से दोनों में यही अन्तर है कि संशय में दोनों पक्षों की ओर मन का झुकाव समान रहता है। अमुक वस्तु यह है या वह,इसमें वृत्ति दोनों का समान रूप से आस्वादन करती रहती है, टिकती कहीं पर भी नहीं, परन्तु उत्प्रेक्षा में उपमान की ओर कवि अपनी बाध्यता जैसी प्रदर्शित करता है। स्पष्ट रूप में उसे वह स्वीकार नहीं करता अन्यथा रूपक अलंकार की सृष्टि हो जाती। शब्दों द्वारा ही स्पष्ट करना हो तो कवि संस्कृत में इव, मन्ये, ध्रुवं तथा हिन्दी में समान, मानों, जानों आदि शब्दों का प्रयोग करता है। 'ध्रुवं' शब्द को देखें तो उत्प्रेक्षा की मूल प्रवृत्ति का ज्ञान सहज ही हो जाएगा। ध्रुवं निश्चयवाची शब्द है, परन्तु यहां यह अनिश्चयगर्भ निश्चय का ही द्योतन करता है। वाचक शब्दों का प्रयोग होने पर उत्प्रेक्षा वाच्या कहलाती है और वाचक शब्द के अभाव में प्रतीयमाना।

क्योंकि उपमेय के स्वरूप, हेतु या फल को अन्य रूप में सम्भावित किया जाता है, इसलिये इन तीनों के ही आधार पर उत्प्रेक्षा भी त्रिधा हो जाती है। उत्प्रेक्षा के ये तीन भेद हैं, वस्तूत्प्रेक्षा, हेतूत्प्रेक्षा और फलोत्प्रेक्षा।

साधर्म्यमूलक अलंकारों का शास्त्रीय दृष्टि से एक भेद है **गम्यौपम्याश्रयमूलक।** अब तक के वर्णित अलंकारों में उपमेय उपमान प्रायः स्पष्ट रूप से ज्ञात रहते हैं परन्तु इनमें उपमेय-उपमान भाव छिपा रहता है। वह गम्य रहता है। मनोवैज्ञानिक रूप से यह स्पष्ट है कि इन अलंकारों में दो वस्तुओं की समानता की ओर मन की वृत्ति रहती है। जहाँ शास्त्रीय दृष्टि से इन अलंकारों का वर्गीकरण पदार्थगत, वाक्यगत, भेदप्रधान, विशेषण-वैचित्र्य आदि आधारों पर किया गया है, वहाँ मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इनमें समानता के ही कुछ व्यापक आधार प्राप्त होते हैं।

तुल्ययोगिता

पदार्थगत गम्यौपम्याश्रय भेद में दो अलंकार आते हैं। तुल्ययोगिता और दीपक। जहाँ गुण या क्रिया के द्वारा अनेक प्रस्तुतों—उपमेयों या अप्रस्तुतों—उपमानों का एक ही धर्म कहा जाय, वहां तुल्ययोगिता अलंकार होता है। वस्तुतः तुल्ययोगिता में समानता के गुण या क्रिया आदि पर मन का बल नहीं रहता कि वह उन्हीं में कुछ नवीन चमत्कार की सृष्टि करे बल्कि वह अपनी समता की भावना को यहाँ

केवल व्यापकता देता है। उदाहरण के लिये वह सीता और रम्भा के सौन्दर्य की समानता के विविध रूपों को खोजने के स्थान पर उसकी समता या असमता के लिये अनेक समान गुण वाले उपमानों का कथन करता है। रति, रम्भा, भारती, भवानी आदि कोई भी सीता के तुल्य नहीं है, स्पष्ट है कि यहाँ समता की भावना की तीव्रता व्यापकता में परिणत हुई है।

दीपक

दीपक अलंकार में प्रस्तुत और अप्रस्तुत के एक धर्म का कथन किया जाता है। यहाँ भी दो पदार्थों की समता पर विशेष ध्यान न देकर एक धर्म के लिये दो या दो से अधिक पदार्थ जुटाये जाते हैं। कवि की दृष्टि धर्म-विशेष पर रहती है, जिसकी पूर्ति के लिये वह पदार्थों का चयन करता है। यह भी व्यापकता का ही एक रूप है। मनोवैज्ञानिक रूप से इसमें और तुल्ययोगिता में कोई अन्तर नहीं है। कारक दीपक में व्यापकता के लिये विभिन्न पदार्थों का चयन किसी कारक पर निर्भर करता है। देहरी दीपक में व्यापकता का यह केन्द्र एक क्रिया होती है, जो दो वाक्यों को समान रूप से प्रभावित करती है।

प्रतिवस्तूपमा

वाक्यगत गम्यौपम्याश्रय अलंकारों में प्रतिवस्तूपमा, दृष्टांत और निदर्शना अलंकार परिगणित होते हैं।

प्रतिवस्तूपमा में उपमान और उपमेय वाक्यों का विभिन्न शब्दों द्वारा एक ही धर्म कहा जाता है। किसी गुण या धर्म को केन्द्र बनाकर इस अलंकार में पदार्थों के स्थान पर वाक्य-योजना होती है। यहाँ प्रायः कवि का मन वस्तुओं की सुन्दरता पर न टिक कर उनसे सम्बन्धित सिद्धान्तों पर टिकता है, जिनका कथन प्राय: वाक्यों द्वारा ही सम्भव होता है। प्रतिवस्तूपमा का मूल आधार भी व्यापकता ही है क्योंकि यहाँ पदार्थ की वाक्यगत या सिद्धान्तगत व्यापकता और फिर उसी के समान एक जैसे अनेक वाक्यों की योजना होती है।

दृष्टान्त

दृष्टान्त की भी यही स्थिति है। यहाँ भी दो वाक्यों में बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव दिखाया जाता है। बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव यहाँ इसलिये कहा जाता है कि प्रतिवस्तूपमा में तो दो वस्तुओं के समान धर्म को शब्द-भेद द्वारा कह दिया जाता है इसलिए वहाँ एक धर्म के आधार पर सहज रूप से आये हुए दो उपमेय उपमान वाक्य होते हैं परन्तु दृष्टान्त में कल्पना द्वारा जो दृष्टान्त-वाक्य लाया जाता है, उसके सम्बन्ध में स्पष्ट समानता का कथन नहीं किया जा सकता। दृष्टान्त के रूप, क्रिया आदि में वैधर्म्य होने पर भी जिस भाव-समानता के लिए उसको ग्रहण किया गया है, उसका प्रकारान्तर से वह पूरा प्रभाव देता है। यह प्रभाव ही बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव कहा जाता है। यही दोनों को जोड़ने वाला सम्बन्ध है। असामान्य वस्तु या वाक्य में भी बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव की यह समानता प्रस्तुत करना व्यापकता का ही एक और अग्रिम पग है, जिसका आधार चित्त-वृत्ति का विस्तार है। सामाजिकता का

सम्बन्ध इस चित्तवृत्ति से है कि व्यक्ति अपने कथन की पुष्टि करने के लिये ऐसा करता है।

निदर्शना

व्यापकता की इसी भावभूमि पर अवस्थित है निदर्शना अलंकार। यहाँ भी दो वस्तुओं के बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव की योजना होती है परन्तु दृष्टान्त से इसमें यह अन्तर होता है कि दृष्टान्त में प्रयुक्त वाक्य परस्पर निरपेक्ष होते हैं, जब कि निदर्शना में वे सापेक्ष होते हैं। इसी प्रकार दृष्टान्त में प्रस्तुत और अप्रस्तुत के धर्म भिन्न होते हैं और निदर्शना में धर्म अभिन्न होते हैं और इसीलिए उनके निर्देश की भी आवश्यकता नहीं होती। हां, निदर्शना में बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव का आक्षेप आवश्यक होता है, दृष्टान्त में यह प्रक्रिया स्वयं हो जाती है।

व्यतिरेक

व्यतिरेक अलंकार की मनोभूमिका द्वित्ववती है, जिसमें प्रथम सहज कल्पना और तदुपरान्त विचार और प्रमाण की आवश्यकता होती है। कवि उपमेय और उपमान की प्रथम स्थिति में उनकी स्वयं ही संयोजना करता है या प्रसिद्धि से ग्रहण करता है परन्तु दूसरे ही क्षण वह अपने द्वारा प्रस्तुत उपमान को उपमेय के योग्य नहीं समझता और उस अनौचित्य का विचार कर कुछ कारण प्रस्तुत करता है। अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिये वह या तो उपमेय का उत्कर्ष और उपमान का अपकर्ष बताता है अथवा कारण सहित उत्कर्षापकर्ष न बताकर सीधे ही एक को दूसरे से अधिक या न्यून कह देता है अथवा केवल उपमेय का उत्कर्ष वर्णन कर देता है या केवल उपमान का अपकर्ष ही कह देता है। इन सभी प्रकारों से एक ही लक्ष्य-सिद्धि होती है और वह है उपमेय के सौन्दर्य को अधिकता से अनुभूत कराना।

सहोक्ति

सहोक्ति व्यतिरेक के समान ही गम्यौपम्याश्रयी अलंकार है। इसमें अनेक पदार्थों के साथ एक ही धर्म का सम्बन्ध रहता है। सामान्यतया प्रधानधर्मी का प्रयोग कर्ताकारक में होता है और गौण धर्मियों का प्रयोग करण कारक में होता है। सह, संग आदि शब्दों का प्रयोग होता है। कहीं इनके अभाव में भी वैसा अर्थ निकलने पर सहोक्ति अलंकार हो सकता है। सहोक्ति के मूल में बीज रूप से अतिशयोक्ति अलंकार का होना माना गया है।[1]

विनोक्ति

विनोक्ति अलंकार सहोक्ति का पूरक है। सहोक्ति में जिन साधक शब्दों से 'सह' अर्थ का बोधक होता है, वहाँ विनोक्ति 'बिना' आदि शब्दों के आधार पर एक के बिना दूसरे को शोभित या अशोभित बताने पर होता है। कुछ आचार्य विनोक्ति को गम्यौपम्याश्रयमूलक अलंकार मानते हैं परन्तु कुछ की दृष्टि में वह लोकन्यायमूलक अलंकार है। वास्तव में यह अलंकार लोकप्रसिद्धि पर ही

१. साहित्य-दर्पण—विश्वनाथ, पृष्ठ ३३५

अधिक आधारित है और इसके लिये मन की अन्य वस्तु से हटने की प्रवृत्ति प्रधान रहती है।

उक्त दोनों ही अलंकारों में साधर्म्य की प्रधानता है।

अर्थान्तरन्यास

साधर्म्यादि के लिए विशेष से सामान्य या सामान्य से विशेष का समर्थन किये जाने में अर्थान्तरन्यास अलंकार होता है।

जीवन के विशिष्ट पक्षों का निरन्तर अध्ययन सामान्य सिद्धान्त प्रदान करता है। इन सामान्य सिद्धान्तों के आधार पर जीवन के विभिन्न पक्षों की व्यवस्था की जाती है। सभी नवीन अनुभव इन्हीं सामान्य सिद्धान्तों के आधार पर पुष्ट होते हुए अपना मूल्य निर्धारण करते हैं। काव्य में भी किसी भी कथन का उसके पूर्ण पोषण के लिए किसी सिद्धान्त द्वारा समर्थन किया जाता है अथवा सामान्य सिद्धान्त जब वर्ण्य होता है तब उसका विशेष द्वारा समर्थन किया जाता है। इस अलंकार में जीवन के सिद्धान्तों की संगति प्रधान है परन्तु इस संगति की विशिष्ट क्रिया—इन सामान्य विशेष सिद्धान्तों में उपमेय-उपमान भाव होता है। यही कारण है कि मूलतः इनका स्थान सादृश्यमूलक अलंकारों में ही है।

अतिशयमूलक अलंकार-वर्ग

यों तो अतिशयता समस्त अलंकारों का मूल धर्म है, फिर भी जिन अलंकारों में अतिशयता को भी अतिशय रूप में ही ग्रहण किया जाय और जिनकी प्रक्रिया में सीधा अतिशय तत्त्व ही गृहीत हुआ हो, ऐसे अलंकारों के लिए एक अलग वर्ग की आवश्यकता अनुभव होती है। यह सत्य है कि केवल अतिशयता को ही प्रक्रिया के रूप में ग्रहण करने वाले अलंकारों की संख्या अत्यल्प है फिर भी स्वयं इस क्रिया पर आधारित तथा जिनमें अन्य क्रियाओं का प्रयोग गौण होकर उनका निष्कर्ष आतिशय्य के रूप में प्रस्फुटित होता हो, ऐसे अलंकार इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं।

डॉ० नगेन्द्र के अनुसार यहाँ अतिशयता का अर्थ बात को बढ़ा-चढ़ा कर कहना है। बात को कहीं-कहीं तो सीधा ही अत्युक्ति के रूप में प्रस्तुत किया जाता है और कहीं अतिशयोक्ति आदि में भी साधर्म्य के आधार-ग्रहण द्वारा बात को बढ़ाया जाता है। सार जैसे अलंकारों का मूल प्रक्रिया-रूप अनुक्रम पर आधारित है अर्थात् उसे संगतिमूलक अलंकारों की कोटि में जाना चाहिए फिर भी उसके उस क्रम का पूरा निर्वाह उसकी अतिशयता में होता है, इसी कारण उदात्त को भी इसी वर्ग में स्थान दिया गया है।

इस वर्ग में केवल पांच अलंकार ही माने गये हैं। ये हैं—

१. अत्युक्ति २. उदात्त ३. प्रौढ़ोक्ति ४. अतिशयोक्ति, और ५. सार

अत्युक्ति

अत्युक्ति अलंकार में सम्पत्ति, सौन्दर्य, शौर्य आदि गुणों का बढ़ा-चढ़ाकर यानी मिथ्यावर्णन किया जाता है। वस्तुतः यह मिथ्यात्त्व वस्तु का इतना अतिशयत्त्व

है कि लोक की साधारण अनुभूतियों के लिए यह मिथ्या बन जाता है। स्पष्ट है कि इस लोकातीत सीमा को प्रस्तुत करने के लिए कवि साधर्म्य को भी अंगीकृत नहीं कर सकता क्योंकि उपमानों की फिर भी अपनी सीमाएँ हैं और अत्युक्ति अपने भाव विस्तार के लिए असीम होकर दौड़ लगाना चाहती है। इस अलंकार की भूमिका में मन का विस्तार बहुत तेजी से होता है और बहुत दूर तक चला जाता है। मन की यह तीव्र या बढ़ी-चढ़ी स्थिति ही अपने प्रकार से आनन्द का सर्जन करती है। वास्तव में विशुद्ध रूप से प्रक्रिया में भी यही ऐसा अलंकार है, जो अतिशयता को ग्रहण करता है।

उदात्त

वस्तु की समृद्धि का वर्णन उदात्त अलंकार की आधारशिला है। समृद्धि का वर्णन मिथ्या न होते हुए भी सामान्य जीवन के लिए अत्युक्ति ही है। भवनों या ऐश्वर्य का उत्कृष्ट वर्णन लोक-सामान्य लिए अनोखा अनुभव होता है। सम्पूर्ण वर्ण्य पाठक के सम्मुख अलौकिक होकर झलकता है। सामान्य के लिए यह अलौकिकता ही अतिशयता है, जिसमें प्रक्रिया-रूप में मन का विस्तार अवस्थित है।

प्रौढ़ोक्ति

किसी कार्य के अयोग्य पदार्थ को उस कार्य के योग्य वर्णित करना प्रौढ़ोक्ति है। वास्तव में कार्य का अर्थ कार्यातिशय ही है। जैसा कि अप्पय्य दीक्षित ने भी लिखा है—'जहां किसी कार्यातिशय के अहेतुभूत पदार्थ में उसकी हेतुता कल्पित की जाय, वहां प्रौढ़ोक्ति अलंकार माना जाता है। यहां अतिशयता वस्तु की योग्यता में निहित कर प्रस्तुत की जाती है। जो वस्तु जिस कार्य को करने योग्य न हो, उसमें उसकी पात्रता की सिद्धि मान लेना अतिशयता ही है। गुणों की यह अतिशयता भी विशिष्ट भावातिरेक का कारण है, जिसमें मन का सीधा विस्तार होता है।

अतिशयोक्ति

उत्प्रेक्षा के ही समान अतिशयोक्ति भी अभेदप्रधान अध्यवसायमूलक अलंकार है परन्तु यहाँ अध्यवसाय की प्रक्रिया अपनी पूर्णता पर पहुंच जाती है। उपमान इसमें उपमेय का पूर्णतः निगरण कर लेता है अर्थात् वर्णन में केवल उपमान ही उपमान रह जाता है, उपमेय छूट जाता है। उपमान से ही उपमेय का ज्ञान करना होता है। अतिशयोक्ति का प्रमुख और प्रथम भेद यही है।

अतिशयोक्ति समानता पर आधारित अलंकारों की अन्तिम सीमा है। दो वस्तुओं में समानता दिखाते-दिखाते एक स्थिति ऐसी भी आती है कि जब चित्तवृत्तियां अतिरेक के कारण केवल उपमान पर ही टिक जाती हैं। कहा गया है कि अलंकारों का मूल ही अतिशयता का प्रदर्शन है, परन्तु अतिशयता का पूर्णफलन अतिशयोक्ति अलंकार में ही सम्भव है। चित्तवृत्तियों के उपमान पर इस प्रकार के जमाव से और उसमें अतिशयता के चरम रूप के प्रदर्शित होने से वर्णन में लोकातिशयता का आ जाना स्वाभाविक है। इसीलिए अतिशयोक्ति में साधर्म्य गौण

और अतिशयता प्रधान हो जाती है। अतिशयोक्ति की परिभाषा करते हुए कहा गया है कि लोकमर्यादा के विरुद्ध वर्णन करने को—प्रस्तुत को बढ़ा-चढ़ा कर कहने को अतिशयोक्ति अलंकार कहा जाता है।

अतिशयोक्ति का प्रथम भेद रूपकातिशयोक्ति है। जैसा कहा जा चुका है कि कवि की वस्तु के सौन्दर्य के सम्बन्ध में अनुभूति की तीव्रता इतनी अधिक होती है कि वह प्रस्तुत के कथन को छोड़ जाता है और अपने मन में जमी प्रस्तुत की सिद्ध भूमि पर केवल अप्रस्तुतों का ही भवन खड़ा करता जाता है। पाठक के सम्मुख केवल उपमान ही रहते हैं ऐसी स्थिति में उसे उपमेय की कल्पना करनी पड़ती है और कभी-कभी जब कवि अपना पाण्डित्य भी प्रदर्शित करने की धुन में पड़ जाता है, तब तो यह रूपकातिशयोक्ति पाठक के लिए एक पहेली ही हो जाती है। विभिन्न परम्पराओं से उसे मूल विषय को ग्रहण करने की चेष्टा करनी होती है। कबीर की उलटबांसियों और सूर के दृष्टिकूटों में ऐसे चमत्कार-वर्णन प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। विद्यापति और सूर के 'अद्भुत एक अनूपम बाग'...से आरम्भ होने वाले पदों में रूपकातिशयोक्ति का वैभव देखा जा सकता है। भावना के सम्पूर्ण स्फुरण, कल्पना की अतिशयता और बौद्धिकता की क्रीड़ाभूमि होने के कारण रूपकातिशयोक्ति काव्यक्षेत्र का एक विशिष्ट अलंकार कहा जा सकता है।

अतिशयोक्ति का दूसरा रूप वहां होता है, जहां किन्हीं दो वस्तुओं में प्रसिद्ध अभिन्नता होते हुए भी कवि कोई न कोई भेदक कारण प्रस्तुत कर देता है और इस प्रकार अभिन्न का भी भिन्न रूप दिखायी देता है। इसके उदाहरण-रूप में बिहारी का निम्नलिखित दोहा प्रसिद्ध है—

अनियारे दीरघ दृगनि किती न तरुनि समान।
वह चितवनि औरै कछू जिहि बस होत सुजान।[1]

यह ठीक है कि दीर्घ दृग वाली तरुणियों के वश में सज्जन हो ही जाते हैं परन्तु कवि की अनुभूति इस सामान्यता में तृप्त नहीं होना चाहती, उसका अनुभव असामान्य है, इसीलिये वह एक लोकसिद्ध बात को काटने का भी साहस करता है और कहता है कि उस चितवन की बात ही और है। इस प्रकार की भेदक अतिशयता को प्रस्तुत करने वाला यह रूप भेदकातिशयोक्ति अलंकार कहलाता है।

संसार में जिन वस्तुओं में सहज सम्बन्ध नहीं माना जाता है, उनमें सम्बन्ध की कल्पना और जहां सम्बन्ध माना जाता है, उनमें असम्बन्ध की कल्पना भी उपर्युक्त भावातिशयता के ही कारण की जाती है। इन्हें ही क्रमशः सम्बन्धातिशयोक्ति और असम्बन्धातिशयोक्ति कहा जाता है।

कारणातिशयोक्ति में सामान्यतया लोक में जो कार्य और कारण होते हैं उनमें पौर्वापर्य दिखाया जाता है। सदैव ही कारण पहले होता है, कार्य बाद में। परन्तु यहां कार्य का पहले वर्णन किया जाता है, कारण का बाद में। इधर बाण मारा, उधर सिर कट गया, ऐसा कहना, दो कारण-कार्यों की क्रियाओं को समकालिक

१. बिहारी-रत्नाकर—दोहा ५८८, पृष्ठ २४४

बना देना है, इसे कारण-अतिशयोक्ति कहा जाता है। इसी का दूसरा भेद कि कारण को जानने मात्र से यह निश्चय कर लेना कि कार्य हो ही गया, चपलातिशयोक्ति होता है और अत्यन्तातिशयोक्ति में कार्य पहले आ जाता है, जैसे उसके बाण छूटने से पहले ही उसका सिर कट गया। इन तीनों ही स्थलों में अनुभूति की तीव्रता ही इस प्रकार के वर्णनों का कारण बनती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि अतिशयोक्ति के मूल में छिपी भाव की तीव्रता सर्वत्र ही विषय का तीव्रतम रूप सामने रखती है जब कि वस्तु की दृष्टि से वह असम्भव ही दिखाई पड़ता है यदि इस आधार पर उत्प्रेक्षा का अतिशयोक्ति से अन्तर देखना हो तो कहा जा सकता है कि उत्प्रेक्षा की सम्भावना ही क्रमशः यहां असम्भावना तक पहुंच जाती है। लोकविरुद्ध या लोकातीत वर्णन होने के कारण अतिशयोक्ति अलंकार में कौतूहल या चमत्कार की मात्रा बहुत अधिक होती है। डा० नगेन्द्र इस प्रकार बात को बढ़ा-चढ़ा कर कहने में मन का विस्तार मानते हैं।

सार

सार के मूल में अनुक्रम या शृंखला है। इसमें पूर्व कथित वस्तु की अपेक्षा उत्तरोत्तर कथित वस्तु का उत्कर्ष दिखाया जाता है। अतः यह विचारों की सीधी दौड़ होते हुए भी किन्हीं निष्कर्षों में बंधी रहती है और निष्कर्षों के तत्व को आधार बना कर आगे चलती है। तात्पर्य यह है कि इसमें विषय भी सूक्ष्म रूप से आगे चलता जाता है। विषय के इस प्रकार के क्रमिक उत्थान में उसकी गति के साथ ही अतिशयता भी बढ़ती जाती है। यही कारण है कि शृंखलामूलक होने के पश्चात् भी इसे अतिशयोक्तिमूलक अलंकार माना गया है।

संगतिमूलक अलंकार-वर्ग

संगति की प्रक्रिया वस्तुओं के परस्पर अथवा लोक-जीवन के सिद्धान्तों की सापेक्ष्यता में निहित है। यह एक प्रकार की तुलना है, जिसका आधार औचित्य होता है। वस्तुओं के अनुक्रम आदि शास्त्रीय वर्गों के सन्दर्भ में औचित्य का दिग्दर्शन किया जा सकता है।

शृंखलामूलक अलंकारों में एक अनुक्रम होता है और उनमें भी एक संगति निहित होती है। यह संगति सम्बन्ध के औचित्य पर टिकी होती है। डा० नगेन्द्र ने औचित्यमूलक अलंकारों की मानसिक प्रक्रिया के सम्बन्ध में लिखा है कि औचित्यमूलक अलंकारों में तो मूलतः ही एक संगति वर्तमान रहती है, जो हमारी वृत्तियों को सीधे रूप में ही समन्वित होने में सहायता देती है। यह सीधा रूप एक ही विषय की क्रमिक उठान है, जिसमें हमारा मन क्रमशः ऊंचाई की ओर चढ़ते जाने का आनन्द प्राप्त करता है। यह क्रम जितना लम्बा होगा, वृत्तियों की अन्विति का आनन्द भी उतना ही अधिक होगा।

शृंखलामूलक अलंकारों में कवि की धारणा, जो एक ही विषय को एक विशेष दिशा में पल्लवित करने की शक्ति रखती है, अपना महत्व रखती है। कल्पना भी इसमें इधर-उधर भटकने के स्थान पर एक ही दिशा में दूर तक जाने का प्रयास

करती है। उसका मार्ग सीधा और तीव्र होता है। उसकी गति में चमत्कार होता है। कवि कितनी दूर तक अपनी शृंखला को ले चल सकता है, इस पर इन अलंकारों का चमत्कार-कौशल निर्भर करता है।

कारणमाला

कारणमाला इस कोटि का प्रथम अलंकार है। इसमें कारण-कार्य का अनुक्रम होता है अर्थात् प्रथम स्थान में जो कार्य है अगले स्थान में वही कारण बन कर नवीन कार्य की सिद्धि करता है और इसी प्रकार एक शृंखला का निर्माण होता है। यह कारणों की शृंखला होने के कारण ही कारणमाला कहलाता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से किसी भी कार्य के कारण का कथन करना मानव की तर्कवृत्ति का परिणाम है, परन्तु केवल एक कारण के कथन में कोई विशेष चमत्कार नहीं होता या कहिये, कारण पर हमारी दृष्टि अधिक रुक नहीं पाती, परन्तु जब कारणों की एक परम्परा बनती है, तब हमारा ध्यान उन कारणों पर जमता भी है और कार्य का आगे चल कर कारण या कारण का कार्य बनते जाना भी पाठक को उसकी संगति ढूंढ़ने की ओर प्रवृत्त करता है। जहां तक यह संगति लगती जाती है, वृत्तियां अन्वित होती रहती हैं। शृंखला जितनी ही बड़ी बनेगी, उतनी ही चमत्कारक होगी। इस अलंकार के सौन्दर्य के लिए यह ध्यान रखना आवश्यक है कि कवि उत्तरोत्तर पूर्व शब्दों का प्रयोग उन्हीं रूपों में करे, उनके पर्यायों का प्रयोग न करे, क्योंकि पर्यायों के प्रयोग से उनकी संगति बिठाने में समय लगता है, वह मन को सह्य नहीं होता। कारणमाला में भी गति का ही महत्त्व है, इसलिये बिना रुके जितनी जल्दी वह माला हृदयंगम होती जायगी, उतनी ही यह चमत्कारी हो सकेगी।

एकावली

एकावली का आधार अनुक्रम है, परन्तु इसमें उत्तरोत्तर कार्य-कारण न होकर वस्तुओं के त्याग और ग्रहण की परम्परा होती है। यह त्याग और ग्रहण विशेषण-भाव या निषेधभाव दोनों से हो सकता है। हर नवीन आने वाला शब्द पिछले शब्द से किसी आधार पर जुड़ा होता है और फिर उससे नवीन शब्द जुड़ता है। शब्दों के इस जोड़ में ही औचित्य है, अनुचित शब्द के जुड़ते ही अलंकार व्यर्थ हो जाता है। अतः औचित्य पर आधारित गति ही इस का भी प्राण है।

वाक्य-न्यायमूलक अलंकार-वर्ग

वाक्य-न्यायमूलक अलंकारों के मूल में वर्गीकरण की प्रवृत्ति है, जिसका आधार वस्तुओं के वाक्यगत स्थान पर आधारित चमत्कार है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इस प्रकार का चमत्कार अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है, क्योंकि उसका सम्बन्ध रचना के बाह्य से ही अधिक है। परन्तु अपने इस प्रकार के वर्गीकरण के क्रम के अतिरिक्त कुछ अन्य भावगत या व्यवहारगत कौशल का भी आयोजन इनमें दिखाई देता है, और उन प्रक्रियाओं का प्रभाव अपेक्षाकृत अधिक होता है।

यथासंख्य या क्रम

इस अलंकार में कहे हुए पदार्थों का अन्वय आगे कहे जाने वाले पदार्थों के साथ क्रमिक रूप में किया जाता है। इस प्रकार के क्रमिक अन्वय में हमारी बुद्धि कथित क्रम के साथ जोड़ने से अनुकूलता का तोष पाती है, जिसका मूल आधार औचित्य है। शास्त्रीय वर्गीकरण का आधार केवल इस अलंकार के क्रम पर ही विचार करता है, जबकि मनोवैज्ञानिक आधार पर उस क्रम के मूल में छिपी या उससे प्राप्त होने वाली मन की विशदता, जो उसकी विशिष्ट संगति पर निर्भर है, विवेचित किया जाता है।

पर्याय

पर्याय अलंकार में एक ही वस्तु अर्थात् आधेय का अनेक आधारों में होना वर्णित होता है। शास्त्रीय दृष्टि से एक ही वस्तु के अनेक प्रकार के आधारों में प्राप्त उल्लेखों के विवरण से उस वाक्य को चमत्कृत करना पर्याय है, परन्तु मनोवैज्ञानिक दृष्टि से एक ही वस्तु को अनेक आधारों में देखना मन को एक ऐसी संगति से जोड़ना है, जो उसका विस्तार कर सीधे ही उसे आनन्दित करती है। अतः यह भी औचित्य पर आधारित अलंकार है।

परिवृत्ति या विनिमय

परिवृत्ति अलंकार में स्पष्ट रूप से एक लेन-देन की भावना है। क्रिया-प्रतिक्रिया का यह एक सामाजिक विवरण-जैसा है। लेन-देन के बिना समाज का काम नहीं चलता। यही काव्य में जब एक चमत्कार के साथ प्रस्तुत होता है, तो काव्य का शोभा-दायक अंग बन जाता है और मन एक क्षण के लिए इस वृत्ति पर रुककर इसके चमत्कार का आश्रय ग्रहण कर आगे बढ़ता है।

इस अलंकार के मूल में औचित्य की भावना प्रमुख रूप से है, क्योंकि इसमें सम परिवृत्ति के प्रथम दो प्रकारों में उत्तम वस्तु देकर उत्तम वस्तु लेना तथा न्यून वस्तु देकर न्यून वस्तु लेना व्यंजित होता है, अतः यह स्पष्ट ही औचित्य है। परन्तु इस विनिमय के दो रूप और हो सकते हैं और वे हैं उत्तम के साथ न्यून का विनिमय और न्यून के साथ उत्तम का बिनिमय। यह अनौचित्य या वैषम्य है। अतः मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इसके औचित्यमूलक और वैषम्यमूलक दो भेद हो जाते हैं। वैषम्यमूलक परिवृत्ति अपने प्रकार से विरोध में छिपे औचित्य से समन्वित होती है।

परिसंख्या

परिसंख्या में एक वस्तु का एक स्थान से निषेध कर दूसरे में उसकी स्थापना सिद्ध की जाती है। वाक्य-न्यायमूलक अलंकारों में इसे इसलिये स्थान दिया जाता है, क्योंकि एक स्थान पर निषेध या अन्य स्थान पर स्थापन की इस क्रिया में एक वाक्यगत संगति होती है, परन्तु मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विशेष रूप से एक साधारणतः सिद्ध वस्तु का कथन कर उस का निषेध करते हुए भी अन्य स्थान में उसकी संगति का प्रतिपादन करना होता है।

उदाहरण के लिये केशव के इस पद्य को ही लें—

मूलन की ही जहां अधोगति केशव पाइय।[1]

अपने जीवन में हम अधोगति जैसी स्थिति को अनेक वस्तुओं में देखते, विचारते हैं। पापियों, दुष्टों, क्रूर, तथा कपटियों की अधोगति होती है। यह सामान्य भाव है। परन्तु केशव कहते हैं कि उस राज्य में अधोगति केवल 'मूलों' की ही है—अर्थात् केवल जड़ें ही नीचे की ओर जाती हैं। यहाँ एक तो अधोगति शब्द का विशिष्ट प्रयोग हुआ, दूसरे इससे यह सिद्ध हुआ कि औरों की अधोगति यहां नहीं है, क्योंकि राम के राज्य में कोई क्रूर, कपटी, कुचाली है ही नहीं। इस प्रकार के कथन से कवि पाठकों के हृदय को सामान्य से विशेष की ओर ले गया। 'अधोगति' जैसी व्यापक स्थिति को उसने एक ही स्थान पर सीमित करके ही यह किया। व्यापक स्थानों में किसी वस्तु या क्रिया के निषेध का वह कहीं कथन भी कर देता है, कहीं नहीं भी करता। जहां वह कथन नहीं करता, वहां, निषेध व्यंग्य होकर अलंकार के चमत्कार को और बढ़ा देता है। क्योंकि इसमें कुछ वक्रता या गोपन का पुट भी आ जाता है। संगतिमूलक यह इसलिए है, क्योंकि कवि द्वारा किसी व्यापक क्रिया को एक स्थान में सीमित किये जाने के मूल कारण पर पाठक सहज ही विचार करने लगता है, यानी उसकी संगति ढूंढ़ता है। यदि ऐसा आधार प्राप्त हो जाता है तो उसकी उत्सुक वृत्तियों को परितोष मिलता है और वह आनन्द प्राप्त करता है।

अर्थापत्ति

जिसके द्वारा दुष्कर कार्य की सिद्धि हो,उससे सुगम कार्य की सिद्धि क्या कठिन है, इस भाव को प्रकट करने वाला अलंकार तर्क के आधार पर औचित्य का ही प्रतिपादन करता है। अतः काव्यार्थापत्ति भी एक संगतिमूलक अलंकार है। इसमें वक्रता की गंध भी रहती है। यदि यह कहा जाय कि 'उसके सौन्दर्य के प्रभाव इससे ऋषि-मुनि तक का धैर्य छूट जाता है भोगी देवताओं की तो बात ही क्या है' तो स्पष्ट है कि तर्क में औचित्य है परन्तु प्रस्तुत विषय है कि देवताओं के धैर्य छूटने की बात को कहने के लिये ऋषि-मुनियों की बात भी कही जाय, इसी में वक्रता छिपी हुई है।

वास्तव में इस अलंकार के प्रथम भाग में प्रस्तावना होती है, जहां सिद्धान्त रूप में यह कह दिया जाता है कि यह कार्य किसी बड़े रूप में भी हो सकता है। सदैव ही यह अंश श्रेष्ठतर या कठिनतर के साथ सिद्धान्त-स्थापन करता है, इससे हमारी बुद्धि एक बड़ी बात मानने के लिए प्रस्तुत हो जाती है। अलंकार के दूसरे अंश में उसी सिद्धान्त को सामान्य स्थिति में पूर्ण होता हुआ दिखाया जाता है। इस बात को हमारी बुद्धि सहज भाव से स्वीकार कर ही लेती है क्योंकि वह पहले ही अधिक श्रेष्ठ स्थिति तक उस सिद्धान्त को मान चुकी है। पृष्ठभूमि देकर उसके साथ सामान्य सिद्धान्त की सगति पर ही यह अलंकार निर्भर है।

---

१. केशव-ग्रंथावली, भाग २—विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृष्ठ २३४

तर्कन्यायमूलक अलंकार-वर्ग

इस अलंकार-वर्ग के मूल में तर्क या युक्ति की प्रधानता है। इस वर्ग का यह नामकरण इस आधार पर हुआ ज्ञात होता है कि ये अलंकार तर्कशास्त्र से लिये गये हैं या तर्क के आधार पर इनका निर्माण हुआ है। काव्य-क्षेत्र में आकर इनका रूप मृदु हो गया है, अर्थात् केवल बौद्धिक प्रखरता न रहकर इनमें मृदुता का समावेश भी है, परन्तु मूल में इनकी तर्क की बौद्धिक भावना असंदिग्ध रूप में वर्तमान है। इन्हें संगतिमूलक अलंकारों के वर्ग में ही स्थान दिया जा सकता है।

काव्यलिंग

लिंग का अर्थ है हेतु या चिह्न। किसी पक्ष को सिद्ध करने के लिये जो कारण दिया जाता है, वही सिद्धि का हेतु है। अतः इस अलंकार में किसी बात को सिद्ध करने के लिये उसका कारण कहा जाता है। अपनी बात को उचित तर्क से समर्थन करना ही इसकी मूल प्रवृत्ति है। अतः यह संगतिमूलक अलंकार है।

अनुमान

अनुमान अलंकार का भी प्रायः यही आधार है। दोनों में अन्तर इतना है कि काव्यलिंग का हेतु अनुमान अलंकार के हेतु की भांति व्याप्ति या पक्षधर्मतादि से युक्त नहीं होता,साथ ही इसका प्रयोग तृतीया या पंचमी विभक्ति में कभी नहीं होता। प्रक्रिया में समान होने पर भी अनुमान का आधार काव्यलिंग की अपेक्षा अधिक व्यापक है। उसमें हेतु द्वारा साध्य का चमत्कारपूर्ण वर्णन कराया जाता है परन्तु उसमें काव्य-लिंग के समान अधिक प्रतिबन्ध नहीं है।

हेतु

हेतु भी संगतिमूलक अलंकार है। इसमें कार्य के साथ-साथ कारण का भी वर्णन किया जाता है। कार्य के साथ ही कारण का उल्लेख अपनी बात को पूरी तरह कहने अथवा उसके समर्थन की वृत्ति का ही परिणाम है।

प्रत्यनीक

प्रत्यनीक अलंकार भी संगतिमूलक है, क्योंकि जब कोई व्यक्ति अपने प्रबल शत्रु को जीतने में असमर्थ हो जाता है तो उसके पक्षवालों से ही वैर निकाल कर अपने मन को शान्त कर लेता है। बदला लेने वाला समझता है कि प्रकारान्तर से उसने शत्रु से ही बदला लिया है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखा जाय तो इस अलंकार में एक हीन मनोवृत्ति का निदर्शन है। यदि व्यक्ति समर्थ होता है तो शत्रु-पक्ष के हीन व्यक्तियों की उपेक्षा में ही अपना गौरव समझता है परन्तु हीनों से उलझकर, उनसे बदला लेकर सन्तुष्ट हो जाने में उसकी हीनभावना से इसका मेल हो जाता है। ऐसी स्थिति में यह उसके और तदनुकूल पाठक के हृदय की संगति का कारण होता है।

मीलित

मीलित अलंकार में इस बात की संगति है कि यहाँ दो पदार्थों में सादृश्य के कारण एकरूपता आ जाती है और उनमें वह सादृश्य लक्षित रहता है। यह आवश्यक नहीं है कि ये दो वस्तुएं परस्पर विरोधी हों। यदि ऐसा होता तो यह अलंकार विरोधमूलक बन जाता, परन्तु इसकी दृष्टि में दो वस्तुओं के साम्य को ही इस प्रकार मिला देना है कि उनमें भेद न दिखाई पड़े। सम वस्तुओं का एक जैसा दिखाई देना वस्तुगत संगति ही है।

उन्मीलित

उन्मीलित मीलित का अगला पग है। मीलित अलंकार इसकी भूमिका में रहता है। दो वस्तुओं के सादृश्य के कारण जब वे अलग-अलग लक्षित नहीं होतीं तब तक तो मीलित ही रहा, परन्तु इसके बाद और भी कुछ कारण उत्पन्न हो जाता है और उस कारण से दोनों का भेद ज्ञात होने लगता है, तब उन्मीलित अलंकार बनता है। ऐसा लगता है कि यह कार्य मीलित का विरोधी है, परन्तु वास्तव में एक समर्थ कारण के उत्पन्न होने पर ही उसके भेद का दर्शन होता है, इसलिये इस अलंकार में संगति की पूर्ण विद्यमानता स्वीकृत करनी चाहिए।

तद्‌गुण

तद्‌गुण में वस्तु अपना गुण छोड़कर दूसरे संगी का गुण ग्रहण कर लेती है, यह लोकन्याय है, परन्तु यह तभी होता है, जब कि ग्रहण करने वाली वस्तु में हीन भाव हो। प्रबल वस्तु दूसरे का गुण ग्रहण न कर अपना गुण उसे दे देती हैं। उपर्युक्त व्यवहार लोक-संगत है। अतः यह भी एक संगतिमूलक अलंकार है।

अतद्‌गुण

अतद्‌गुण तद्‌गुण का दूसरा पक्ष प्रस्तुत करता है। यहां एक वस्तु साथ रहते हुए भी दूसरे का गुण ग्रहण नहीं करती। इसमें एक प्रकृत अथवा वरिष्ठ भाव है। कारण को लेकर इस की भी व्यवहार-संगति द्रष्टव्य होती है।

सामान्य

सामान्य अलंकार भी मीलित के समान ही दो वस्तुओं की एकता पर आधारित है। परन्तु यहाँ दो वस्तुओं में भेद होते हुए भी सामान्य गुणों के आधार पर एकता होती है। वास्तव में इस परिभाषा के कारण इस अलंकार को कोई विरोध-मूलक कह सकता है, परन्तु इसमें वास्तविक दृष्टि विरोध पर न टिक कर दो वस्तुओं की समता पर टिकती है। इसीलिए सामान्य को संगतिमूलक अलंकार मानना चाहिए। यदि दो वस्तुओं की समानता का कथन किया जाता तो इसमें साधर्म्य-मूलकता आ जाती और दो वस्तुओं में उपमेय-उपमान भाव भी आ जाता, परन्तु सामान्य में वैसा साधर्म्य नहीं होता, उसके अभाव में ही दो वस्तुओं की सामान्यता में एकता की संगति है।

विशेषक

प्रस्तुत-अप्रस्तुत में गुण सामान्य होने पर भी किसी प्रकार भेद लक्षित हो जाने को विशेषक का आधार माना जाता है। इस अलंकार में भी उपमेय-उपमान भाव नहीं होता। इसकी मूलप्रवृत्ति उन्मीलित के समान ही है।

अन्योऽन्य

अन्योऽन्य का आधार पारस्परिक व्यवहार का औचित्य है। संसार में हम किसी के लिये कुछ करते हैं तो वह हमारे लिए भी कुछ न कुछ करता है। संसार का व्यवहार इसी पर टिका है। मूल रूप में इसी भावना के प्रदर्शन के लिए यह अलंकार है। इसमें पारस्परिक कारणता, पारस्परिक उपकार अथवा सामान्य व्यवहार का वर्णन होता है। यह सामाजिक प्रवृत्ति का अलंकार है।

सम

यह विषम का उलटा अलंकार है। विषम की असंगति में वैचित्र्य है, इसमें संगति का चमत्कार है। इस अलंकार की संगति-मूलकता इसके तीनों भेदों की परिभाषाओं से ही स्पष्ट है—

(१) यथायोग्य सम्बन्ध का वर्णन ही प्रथम सम है।

(२) कारण के अनुकूल कार्य का वर्णन द्वितीय सम है। और—

(३) बिना विघ्न के कार्यसिद्धि हो जाने का वर्णन तृतीय सम है।

यथायोग्य, अनुकूल और निर्विघ्न रूप से कार्य-सम्पादन स्पष्टतया संगति का ही व्यंजितार्थ है। इस अलंकार का वैशिष्ट्य ही संगति पर अधिक बल देने में है।

'अपने लायक जान अजुध्या बसत सियावर।'[1]

इस पद्यांश में राम, अयोध्या को अपने योग्य समझते हैं, इसलिये निवास करते हैं। तात्पर्य यह हुआ कि राम के लिए जैसा निवास-स्थान होना चाहिए, अयोध्या वैसी ही है। 'जैसी होनी चाहिए' की संगति, 'वैसी है' में स्पष्ट रूप से परिलक्षित है।

समुच्चय

समुच्चय अलंकार में समुदाय का वर्णन होता है। इसके मूल में औचित्य और वैषम्य दोनों प्रकार की भावनाओं को व्यंजित करने वाले कार्यों की अधिकता का एक साथ वर्णन होता है। अलंकार की दृष्टि अधिकता या भीड़ पर है और इस प्रकार इसके मूल में एक सामाजिक भावना विद्यमान है। कारण या कार्य को प्रस्तुत करने की तीव्र भावना ही कवि को अनेक समवर्गीय रूप सामने रखने को प्रेरित करती है। इससे परिणाम में अधिक बल आ जाता है और कार्यसिद्धि में संगति की स्वाभाविकता प्रस्तुत हो जाती है।

समाधि

समाधि अलंकार में किसी कार्य को किये जाने का प्रयत्न होता है और उसी बीच

---

१. रामचन्द्राभरण—गोप, पृष्ठ १५

सहसा ऐसा कोई कारण प्रस्तुत हो जाता है कि वह कार्य स्वयं सम्पन्न हो जाये तो समाधि अलंकार बन जाता है। स्पष्ट है कि इसमें कार्य अपने मूल कारण का प्रतिफलन नहीं है, बल्कि अचानक उपस्थित हो जाने वाले किसी अन्य कारण पर आश्रित होता है। इस अलंकार में भी दो अंश हैं—प्रथम अंश में किसी कार्य को करने के प्रस्ताव में यह बात भी छिपी रहती है कि इच्छित कार्य हो नहीं पा रहा है। इतने अंश से पाठक के मन में उस कार्य के होने की इच्छा और किस प्रकार से कार्य हो, इसकी जिज्ञासा जाग उठती है। तभी अलंकार का दूसरा अंश प्रस्तुत होता है। यह दूसरा अंश वास्तव में अभीष्ट कार्य कर देने का प्रबल कारण होता है और उससे कार्य हो भी जाता है। सहसा ही इच्छित कार्य के हो जाने से सामान्य जीवन में हमें जो आनन्द मिलता है, वही तोष इस अलंकार का भी जन्य है। रीतिकाल के सुकवि गोप का ही एक उदाहरण देखिए—

और हेत में काजु जब कहत समाधिक जान।
राममिलन तुलसी चहत तुरत मिले हनुमान ॥[1]

यहाँ, तुलसीदास राम से मिलना चाहते हैं, जो बड़ा कठिन कार्य है, परन्तु इसी बीच हनुमान जी मिल गये और उनके हेतु से राम का मिलना सरल हो गया। अन्य कारण से कार्य का सुचारु रूप से हो जाना कार्य की पूर्तिरूप-संगति और साथ ही वृत्तियों की भी संगति प्रस्तुत करता है।

विकस्वर

विशेष का सामान्य से समर्थन करके फिर सामान्य से विशेष का समर्थन करना विकस्वर अलंकार है। यह या तो उपमा-शैली में होता है या अर्थान्तरन्यास-शैली में। यही कारण है कि अनेक आचार्य इसका अलग अस्तित्व मानने को प्रस्तुत नहीं हैं। वैसे यह एक औचित्यमूलक अलंकार है, क्योंकि इसमें किसी वस्तु का औचित्य ही दो प्रकारों से पूर्णता के साथ दिखाने की चेष्टा की जाती है।

स्वभावोक्ति

'स्वभावोक्ति' के अलंकारत्व के सम्बन्ध में आरम्भ से ही विवाद रहा है। स्वभावोक्ति वस्तु या व्यक्ति की यथार्थ चेष्टाओं का वर्णन मात्र है। यथार्थ वर्णन में अतिशयत्व कहां ? और अतिशयत्व के अभाव का निरूपण (?) मनोवैज्ञानिक आधार पर किया जाना अपेक्षित है।

जीवन की विभिन्न क्रियाओं और चेष्टाओं को हम रोज देखते सुनते हैं। दैनिक वार्तालाप में हम उन क्रियाओं का वर्णन भी करते हैं—परन्तु निरन्तर प्रयोग करने के कारण हमारे मन को क्रियाओं के सामान्य रूप की ही प्रतीति होती है। उदाहरणतः राम आता है, मोहन आता है, श्याम आता है—आदि वाक्यों में 'आता है' क्रिया तीनों के लिए समान अर्थ में प्रयुक्त है, समान अर्थ में गृहीत है। परन्तु 'आता है' क्रिया का यह सामान्य अर्थ है, विशेष नहीं, राम, मोहन और श्याम का आना—आने

१. रामचन्द्राभरण—गोप, पृष्ठ २०

की क्रिया, सर्वांशतः एक नहीं हो सकती। एक की चाल में सैनिक जैसी कसावट हो सकती है, दूसरा किसी प्रकार लंगड़ाता हुआ चलता है और तीसरा बहुत सुस्ती से धीरे-धीरे कदम उठता हुआ जा रहा है। ये तीनों ही 'आता है' क्रिया के व्यक्तिगत या विशेष रूप हैं। अतः क्रियाओं को सामान्य रूप में प्रस्तुत करने और वैयक्तिक रूप में प्रस्तुत करने में बड़ा अन्तर हो जाता है। स्वभावोक्ति वस्तु के यथार्थ का सामान्य वर्णन न होकर विशेष वर्णन ही है। इस 'विशेषता' के अतिशयत्व में ही स्वभावोक्ति का अलंकारत्व है। इसी अतिशयत्व को और अधिक स्पष्ट करने के लिए एक चित्र या फोटो का उदाहरण उपयुक्त होगा। किसी व्यक्ति के मुख के सामान्य चित्र या फोटो में और किसी कलाकार या सिद्धहस्त 'फोटोग्राफर' के चित्र या फोटो में क्या अन्तर होता है? चतुर कलाकार का चित्र व्यक्ति के मुख के एक-एक भाव को, एक-एक रेखा को उभार कर रख देता है कि हम सहसा कह उठते हैं कि चित्र कितने सूक्ष्म भावों से युक्त है? कितना यथार्थ है? एक अच्छे फोटो की भी यही विशेषता होगी कि उसका एक-एक रोम बिल्कुल स्पष्ट होकर अपनी अभिव्यक्ति दे। इसे हम चाहें तो जीवन की सच्ची अभिव्यक्ति या (Clarity) भी कह सकते हैं। सामान्य चित्रों की अपेक्षा निश्चय ही यह वैयक्तिक रूप विशिष्ट है, ऐसे चित्र के 'अतिशयत्व' या श्रेष्ठता में किसे आपत्ति हो सकती है—इसी में यथार्थ है और यही स्वभावोक्ति है।

'बालक खेल रहा है'—यह सामान्य कथन है। इसी को अधिक स्पष्ट करने के लिये 'बालक एकान्त में बैठा हुआ मुस्करा रहा है, अपने दोनों हाथों को ऊपर उठाकर नीचे पटक रहा है, सामने पड़े खिलौने को उठाकर चूमता है और सिर पर बिठाता है और फिर एक पैर को टेढ़ा कर ताल लगाता हुआ, नृत्य जैसा कर रहा है'—इत्यादि रूप-वर्णन निस्सन्देह बालक के सामान्य चित्र को विशिष्ट बनाता है, पाठक को उस चित्रण में सजीवता का आनन्द मिलता है। उसके चित्त की वृत्तियाँ यथार्थगत आनन्द प्राप्त कर, जीवन की संगति में सन्तोष-लाभ करती हैं। यही स्वभावोक्ति का मनोवैज्ञानिक रूप है।

शास्त्रीय दृष्टि से—जाति, क्रिया, गुण तथा द्रव्य के विशिष्ट वर्णनों में स्वभावोक्ति के चार भेद हो जाते हैं।[1] द्रव्य स्वभावोक्ति का रीतिकालीन उदाहरण प्रस्तुत है—

हाथी हय राज साथ सुभट समाज साज
रथ पथ पैदर अपार दरसत हैं।
बाजत निसान धुनि दसई दिसान बैठे,
देवता विमान तें कुसुम बरसत हैं।

---

१. जाति क्रिया गुन द्रव्य करि चारों उक्ति सुभाउ।
न्यारे-न्यारे भेद करि, बरनत हैं कवि राउ।

रामचन्द्राभरण—गोप, पृष्ठ २५

टूटत सघन बन फूटत पहार छार,
भुंडन के भुंड ब्रह्मांड परसत हैं।
हने दस माथ ले धनुष बान हाथ लिये,
लछिमन साथ रघुनाथ दरसत हैं।[1]

नाद-संगति-मूलक अलंकार-वर्ग

शब्दालंकारों को शब्द पर आश्रित माना जाता है। शब्द का यहाँ अर्थ है, शब्द का नाद पक्ष, (अर्थ-पक्ष नहीं)। जिन्हें शब्दालंकार कहा जाता है, उनमें से अनेक शब्द के साथ अर्थ की भी अपेक्षा रखते हैं। श्लेष, यमक आदि शब्द के नाद-पक्ष के साथ ही अर्थ का भी विचार करते हैं। आधार यह रखा गया है कि शब्द और अर्थ में जिसकी प्रधानता हो, अलंकार को उसी वर्ग में स्थान दिया जाय।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से शब्द अर्थात् नाद-पक्ष तथा उनके अर्थ-पक्ष को अलग-अलग रख कर देखना अधिक समीचीन प्रतीत होता है, क्योंकि दोनों की प्रक्रिया भिन्न है। यमक, श्लेष आदि के अर्थगत रूपों को देखने के लिए उन्हें अर्थालंकारों के साथ रख कर देखा जा सकता है।

शब्द नाद हैं। उनकी परस्पर की संगति संगीत होती है। संगीत की श्रुति-सुखदता उसके नाद-सौंदर्य पर आधारित होती है। समान वर्ण अथवा शब्द से एक विशेष प्रकार की ध्वनि उत्पन्न होती है, जिसका अनुभव अर्थ को न जानने वाला व्यक्ति भी सहज रूप से कर सकता है। अतः प्रक्रिया और परिणाम दोनों में ही नाद प्रधान अलंकार संगतिमूलक ठहरते हैं। इसी कारण इन्हें नादसंगतिमूलक अलंकार कहना अधिक युक्ति-संगत प्रतीत होता है।

शब्दालंकारों की संख्या वैसे भी कम है फिर उनमें से बहुत से अर्थ-सापेक्ष्य ही हैं। नाद की कसौटी पर संगति प्रदान करने वाला अलंकार केवल एक ही है और वह है अनुप्रास। उसमें भी लाटानुप्रास अर्थ-सापेक्ष्य है। अतः अनुप्रास के प्रथम चार भेदों को विशुद्ध और लाटानुप्रास के केवल नाद-पक्ष को इस कोटि में स्थान दिया जाना चाहिए। यमक का पक्ष भी इस कोटि में लिया जा सकता है, परन्तु तब वह भी अनुप्रास ही होगा। अच्छा हो, नाद की दृष्टि से उसे यमकानुप्रास ही कहा जाय, पहले भी कुछ आचार्यों ने ऐसा माना है। श्लेष चाहे शब्द प्रधान हो या अर्थ-प्रधान, दोनों ही अर्थ-सापेक्ष्य हैं। नाद की दृष्टि से उसका कोई महत्व नहीं है। वीप्सा आदि भी अपने नाद-पक्ष के कारण इस कोटि में लिये जा सकते हैं और उनका भेद बनाये रखने के कारण उन्हें भी वीप्सानुप्रास नाम दिया जा सकता है।

नाद की संगति का व्यापक विचार संगीत के क्षेत्र में किया जाता है। कवि भी भाव के अनुकूल ही शब्द-योजना करता है और आनन्दमय क्षणों में वह शब्दों में समता बरतता हुआ अपने काव्य को सदा से सुखद बनाता आया है। काव्य की आत्मा को जब कवि भाषा के भौतिक शरीर में उतारता है, तब अपनी आत्मिक आनन्द की लहरों को उसी प्रकार के कोमल, कठोर या विशिष्ट प्रकार की ध्वनि में

१. रामचन्द्राभरण—गोप, पृष्ठ २६

निबद्ध कर देना चाहता है। सम्भवतः यही वृत्ति अनुप्रास अलंकार की भी जन्म-दात्री है।

विरोधमूलक अलंकार-वर्ग

विरोधगर्भ अलंकारों के मनोवैज्ञानिक पक्ष के संबंध में डा० नगेन्द्र का कथन है कि इनमें बाह्य वैषम्य आदि का नियोजन करके आश्चर्य की उद्भावना की जाती है। साधारणतया देखने में किन्हीं दो वस्तुओं में दिखाई देने वाला विरोध वास्तविक प्रतीत तो होता है परन्तु विषय के अनुसार वह वास्तविक होता नहीं। यही कारण है कि इस वर्ग के आरम्भिक अलंकार का नाम विरोध के स्थान पर विरोधाभास ही विशेष रूप से स्वीकार किया गया है। 'वियोगिनी को शूल भी फूल जैसे लगते हैं और फूल शूल जैसे'। साधारण स्थिति में फूल शूल जैसा नहीं हो सकता और शूल फूल जैसा नहीं लग सकता। इन दोनों का इस प्रकार का वर्णन पाठक को अपने स्वाभाविक संचित अनुभव-कोष के आधार पर जो तात्कालिक अनुभूति प्रदान करता है, वह विरोध ही प्रतीत होता है। परन्तु वियोगिनी की अपनी स्थिति सामान्य नहीं है, वास्तव में वह सुख में भी दुख का अनुभव करती है। फूल का सेवन करते ही उसे अपने प्रिय की केलि-क्रीड़ाओं का, उससे सम्बन्धित क्रिया-कलापों आदि का अनेक रूपों में स्मरण हो आता है, क्योंकि पुष्प का रूप-दर्शन या उसकी गन्ध आदि की अनुभूति जागृत संवेदनाओं की स्थिति में समान विगत अनुभवों को साकार कर देती है और तब पुनः तत्काल अपनी वर्तमान स्थिति का विचार आते ही उसके हृदय में वह सुखानुभूति दुःख में बदल जाती है, वह दुःख वैसा ही होता है, जैसा शूल के चुभने में अनुभूत होता है। सामान्यतया शूल और फूल की अनुभूति दुःख-सुखात्मक रूप से पूर्णतया दो विभिन्न श्रेणियों की है, परन्तु विशिष्ट परिस्थितियों में, विशिष्ट मानसिक क्रियाओं के कारण वे दोनों एक हो जाती हैं। उस स्थिति में फूल का अनुभव ठीक वैसा होता है, जैसा सामान्य स्थिति में किसी को शूल का हुआ करता है और इसी प्रकार शूल का विपरीत अनुभव परिस्थितियों के कारण ही होता है। इस उदाहरण में भी उपमेय और उपमान हैं। उपमेय है फूल की विशिष्ट स्थिति की अनुभूति और उपमान है सामान्य स्थिति में शूल की अनुभूति और यहां ये दोनों समान ही हैं। पाठक आरम्भ में दो वस्तुओं को सामान्य भावभूमि पर देखता है तो उसे स्पष्ट विरोध लगता है, परन्तु जैसे ही वह प्रसंग के अनुसार विशिष्ट अनुभूति ग्रहण करता है, वैसे ही उसकी जिज्ञासा समन्वित होने लगती है। आरम्भ में विरोध अर्थात् बुद्धि का दो विरोधी पदार्थों पर टिकाव, दो प्रकार के अनुभव और कवि द्वारा कहा हुआ उनका सामंजस्य वृत्तियों में संघर्ष उत्पन्न करता है, परन्तु दूसरे ही क्षण उनमें समन्वय होकर आश्चर्य की उद्भावना हो जाती है और इस प्रकार का समन्वयजनित कौतूहल स्वयं में आनन्दमय हो जाता है। समस्त विरोधमूलक अलंकारों में विभिन्न रूप में यही विरोध और सामंजस्य की प्रक्रिया छिपी रहती है।

विरोधाभास

विरोधाभास अलंकार में दो विरोधी वस्तुओं का वर्णन एक ही आश्रय में किया जाता है। अलंकार की विशिष्ट परिस्थिति में यह विरोध वास्तविक नहीं होता इसलिये उसका परिहार हो जाता है। विरोध का आरम्भिक अनुभव केवल इसलिये होता है कि हम प्रसंगतः अनुभवों से आक्रान्त हो जाते हैं परन्तु जैसे ही प्रसंगगत अर्थ सामने आते हैं, वैसे ही विरोध समाप्त हो जाता है। विरोधाभास सदैव ही किसी विशिष्ट भावात्मक आदि परिस्थितियों में प्रयुक्त होता है, सामान्य परिस्थितियों में इसकी सत्ता सम्भव नहीं है क्योंकि इसमें आपाततः दो प्रकार की परिस्थितियों, अनुभूतियों का समान साहचर्य रहता है। रीतिकाल में घनानन्द ने इस अलंकार का व्यापक रूप में प्रयोग किया है क्योंकि उसके भावात्मक वियोग-वर्णन में वियोगिनी नायिका या नायक की स्थिति लोक-सामान्य नहीं हो सकती। घनानन्द की साधना वियोग की साधना थी, इसलिये उनमें इस अलंकार का कौतुक विशेष रूप में द्रष्टव्य है।

विरोधाभास अलंकार में जाति गुण, क्रिया और द्रव्य के आधार से विरोधाभास के भेदों की संख्या १० बनती है।

विभावना

विभावना भी एक प्रकार का विरोधाभास ही है। इस अलंकार में किसी विशेष कारण के अभाव में भी कार्योत्पत्ति का वर्णन किया जाता है। प्रकृति का नियम है कि बिना कारण के कार्य की उत्पत्ति हो ही नहीं सकती। इसलिये इस अलंकार का मूल सिद्धान्त ही प्रकृति का विरोध है परन्तु यहाँ भी वास्तव में वैसा विरोध होता नहीं। वह केवल वर्णन करने के कारण ही दिखाई देता है। जिस कार्योत्पत्ति का वर्णन कवि करता है, उसका कारण अन्य होता है। कवि कभी उसका वर्णन करता है, कभी नहीं भी करता। कभी-कभी कवि विभावना में कार्य-कारण या कारण के कार्य के रूप में भी कथन करता है, यह उसकी वर्णनशैली पर आधारित है, मूल रूप में बात एक ही है।

इस अलंकार को स्पष्ट करने के लिये भी उदाहरण लिया जा सकता है। गो० तुलसीदास जी का रसरूप के 'तुलसी-भूषण' में दिया गया विभावना का प्रसिद्ध उदाहरण है—

बिनु पग चलै सुनै बिनु काना, कर बिनु कर्म करै विधि नाना।
आनन रहित सकल रस भोगी, बिनु बानी बकता बड़ योगी।[1]

यहां बिना चरणों के चलना, बिना कानों के सुनना, बिना हाथों के नाना प्रकार के कर्म करना, बिना मुख के सकल रसों को भोगना और बिना वाणी के वक्ता होने का वर्णन है। सामान्य अनुभूति में ऐसा नहीं देखा जाता, इसलिए यह लोक की दृष्टि से असम्भव बात हुई। फिर भी कवि कह रहा है, इसलिये सहज ही आश्चर्य होता है क्योंकि कारण-कार्य में सामंजस्य नहीं है। परन्तु हम शीघ्र ही देखते हैं कि इस प्रकार का कार्य, जो बिना कारणों के यहां हो रहा है, उसका सम्बन्ध

१. तुलसीभूषण—रसरूप, पृष्ठ २६

सामान्य स्थिति के व्यक्ति से नहीं है, वह योगी या परमेश्वर हो सकता है, उसमें प्राकृत शक्तियों से भी करोड़ों गुनी अधिक शक्तियां हैं। उसमें दिव्यता है, इसलिए उसकी दिव्य शक्ति ही इन कार्यों का कारण है, अतः वहाँ प्राकृत हाथ पैरों के बिना कार्य सम्पन्न हो जाता है। कभी-कभी कार्य की व्याख्या बदलने की भी आवश्यकता पड़ जाती है कि योगी का चलना वास्तव में मनुष्य के चलने के समान नहीं है, उसका दिव्य गमन दिव्य शक्तियों से सहज सम्भव है, इसलिये आरम्भ में जो कार्य-कारण का विरोध दिखाई पड़ता है, वह सामान्य परिस्थितियों की दृष्टि से है। मूलतः उसमें कोई विरोध नहीं होता।

विशेषोक्ति

विशेषोक्ति अलंकार विभावना का उलटा होता है। वहां प्रसिद्ध कारण के अभाव में कार्य का वर्णन किया जाता है और विशेषोक्ति में प्रबल कारण के होते हुए भी कार्य का न होना वर्णित किया जाता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से दोनों अलंकारों में कोई अन्तर नहीं है, क्योंकि सामान्य जीवन में प्रबल कारण के होने पर कार्य अवश्य होता है, यदि कोई अन्य प्रतिबन्धक न हो। विशेषोक्ति में भी ऐसा प्रतिबन्धक अवश्य होता है, जो कभी कथित होता है, कभी नहीं भी। प्रतिबन्धक के ज्ञात होने पर आरम्भ में उत्थित विरोधजनित आश्चर्य का शमन हो जाता है। एक उदाहरण देखिये—

आली इन लोयनन को उपजी बड़ी बलाय।
नीर भरे नित प्रति रहैं तऊ न प्यास बुझाय।[1]

नेत्रों में जल सदैव भरा रहता है, पर उनकी प्यास नहीं बुझती। कारण है, पर कार्य नहीं होता, परन्तु क्या नेत्रों की प्यास पानी पीने की है? वह जिस वस्तु की प्यास है, वह तो सामने नहीं है। अतः लोकसामान्य स्थिति की प्यास यहां नहीं है, जो पानी से बुझ जाये। इसी से समाधान होता है।

असंगति

असंगति अलंकार प्रक्रिया में संगति का विरोधी है। यह असंगत विरोध है। इसकी परिभाषा में भी कहा गया है—'विरोध के आभास सहित कारण कार्य की स्वाभाविक संगति के त्याग को असंगति अलंकार कहते हैं।'

प्रथम असंगति में एक ही काल में कारण और कार्य पृथक्-पृथक् होते हैं अर्थात् कारण कहीं होता है और कार्य कहीं। बिहारी का निम्नलिखित दोहा असंगति का प्रसिद्ध उदाहरण है—

दृग उरझत, टूटत कुटुम, जुरत चतुर चित प्रीति।
परति गांठ दुरजनि हिये, दई नई यह रीति।[2]

किसी के दृग उलझते हैं, तो परिवार में विच्छेद जाग उठता है, परन्तु चतुरों के हृदय में प्रेम जुड़ता है—और उधर प्रेम जुड़ता है तो दुष्टों के हृदय में गांठ

१. बिहारीसतसई—सम्पादक, रामवृक्ष बेनीपुरी, पृष्ठ ८३
२. बिहारी-रत्नाकर—जगन्नाथदास 'रत्नाकर', पृष्ठ १५०

भी पड़ जाती है। दो का स्वाभाविक प्रेम रूपी कारण एक ही काल में कितने विभिन्न कार्यों के रूप में प्रतिफलित हो रहा है। बिहारी के शब्दों में यह 'नई रीति'—अर्थात् जीवन की असंगति है। यही जीवन का विरोध है। इन्हीं विरोधों के संघर्ष की कहानी मानव जाति के सुख दुःखों का इतिहास है।

कारण-कार्य की यह पृथक्ता ही वृत्तियों को पहले बांट कर विरोध में ऊर्जस्वित करती है और तब उनके अन्दर व्याप्त सूक्ष्म कारण-तंतुओं से समन्विति का ज्ञान होने पर तोष की प्राप्ति कराती है।

अन्यत्र कर्त्तव्य कार्य का अन्यत्र किये जाने में द्वितीय और प्रवृत्ति के विरुद्ध कार्य किये जाने में तृतीय असंगति होती है।

विषम

विषम के मूल में विरोध स्पष्ट है। दो विरोधी अथवा बेमेल वस्तुओं, जिनका सम्बन्ध न घटता हो, घटाने पर विषम अलंकार होता है। फूल और कांटों का साथ होना ही विषमता है परन्तु यह विषमता प्रकृतिगत है या विभिन्न कारणों से ऐसे विषम संग घटित हो जाते हैं। ऊपर से देखने में यह विरोध है, परन्तु इन विरोधों की सत्ता संसार के किसी नियम के अन्तर्गत है। उस अज्ञात कारण के ज्ञान में ही इस विरोध का परिहार सम्भव है। इस अलंकार में दो विरोधी वस्तुओं का साथ होना ही चमत्कार उत्पन्न करता है।

विचित्र

विचित्र अलंकार में प्रकृति के वैचित्र्य का अध्ययन है। संसार में महान् बनने के लिये विनम्र बनना पड़ता है, अमर बनने के लिये मृत्यु का वरण करना पड़ता है। जल को जितना ऊंचा ले जाना है, उसे पहले उतना ही नीचा ले जाना पड़ता है। क्रिया से ही प्रतिक्रिया का जन्म होता है। वस्तुतः क्रिया और प्रतिक्रिया एक ही क्रिया के दो विरोधी दिखाई देने वाले रूप हैं। फल-प्राप्ति के लिए जो प्रयत्न किया जाता है, वह दिखाई देने में विरोधी होता है, इसी में विचित्रता है, और इसी आधार पर इस अलंकार का नामकरण भी हुआ है।

अधिक

अधिक अलंकार में आधार-आधेय का न्यूनाधिक्य सम्बन्ध होता है। सामान्य आधार में आधेय की अधिकता का वर्णन हो अथवा सामान्य आधेय के लिए जहां आधार अधिक श्रेष्ठ हो जाय, वहां यह अलंकार होता है।

आधार और आधेय की समानता में संगति है। दोनों के वैभिन्न्य में विरोध दिखाई देता है। 'ब्रज की रज में तीनों लोक लोटते प्रतीत होते हैं' इस उदाहरण-वाक्य में सामान्य अनुभव की दृष्टि से कहां तो ब्रज की धूल और कहाँ उसमें लोटते हुए तीनों लोक? यह एक असामंजस्य उत्पन्न करता है, परन्तु भक्तिभावना के बल से ही जब हम ब्रज की धूल की भी महत्ता को उतनी ही महिमामयी मान लेते हैं, तब जाकर संगति स्थापित होती है।

अल्प

इसमें आधेय तो सूक्ष्म होता ही है, आधार उससे भी सूक्ष्म वर्णित होता है। इस स्थिति में भी यह एक प्रकार की असंगति ही है। मन को पहले ही आधेय के रूप में सूक्ष्म होना पड़ता है और जब उसका आधार उससे भी अधिक सूक्ष्म कह दिया जाता है तब वह और सूक्ष्म होता है। यहां उसे एक प्रकार के विरोध या मानसिक गतिरोध का सामना करना होता है परन्तु जब दोनों की संगति का ज्ञान उसे होता है, तभी वह भी समन्वित होता है। 'वियोग में (सीता की) कनगुरिया की अंगूठी भी कंकण बन गई है'[1] में एक तो अंगूठी सूक्ष्म फिर उसका भी कंकण बन जाना, यानी भुजा का अत्यधिक दुर्बल होना सामान्यतः सह्य नहीं होता। वियोगावस्था की अत्यधिक कृशता का ध्यान आने पर ही आधार आधेय की संगति हो पाती है।

विशेष

प्रसिद्ध आधार के बिना भी आधेय का वर्णन करना विशेषालंकार ही है। यह वर्णन सामान्यतः असम्भव अर्थात् प्रकृति-विरोधी प्रतीत होता है, परन्तु क्रमशः उसका विचार ही उसकी वास्तविक स्थिति का ज्ञान कराकर मन के विरोध को शान्त करता है—

गंगा अरु अरविन्द उड़इ इन्द गगन में देखु।[2]

यहां गगन में गंगा और कमल का होना निराधार और प्रकृति-विरोधी वर्णन है। इसके अन्य दो भेदों में भी विरोध की स्पष्टता है।

व्याघात

व्याघात के मूल में किसी एक कार्य के दो विरोधी साधनों का वर्णन होता है। दो विरोधी वस्तुओं से एक ही प्रकार की कार्यसिद्धि अथवा किसी एक कार्य के लिए ढूंढी गई क्रिया को दूसरे के द्वारा उक्त कार्य की विरोधी सिद्ध कर देने में युक्ति की प्रधानता है, जिसके आधार दो प्रकार के व्यक्ति होते हैं। उन व्यक्तियों के दृष्टिकोण में निश्चित रूप से विरोध होता है। उस विरोध का ही यह परिणाम होता है कि दो विरोधी साधनों से एक ही प्रकार का कार्य घटित होता है अथवा एक ही क्रिया की दो विरोधी दृष्टियों द्वारा दो प्रकार की व्याख्या प्रस्तुत की जाती है। व्याघात अलंकार भी एक वस्तु के मूल में दो प्रकार की प्रतिक्रियाओं के अध्ययन का परिणाम है, इसलिए यह भी सामाजिक प्रक्रिया का अलंकार है। उल्लेख में जिस प्रकार एक से अधिक व्यक्तियों की प्रतिक्रियाओं का अध्ययन होता है, उसी प्रकार व्याघात में भी। व्याघात किसी क्रिया या भाव की व्यापकता के अध्ययन का ही एक सीमित रूप है। उल्लेख में दृष्टि परिणाम पर होती है, यहां कारण पर। वैसे

१. अब जीवन कै है कपि आस न कोइ।
कनगुरिया कै मुंदरी, कंकन होइ ॥२८॥
बरवै रामायण, तुलसीग्रंथावली, भाग २, नागरी प्रचारिणी सभा, पृष्ठ २२

२. रामचन्द्राभरण—गोप, पृष्ठ १६

कार्य-कारण दोनों के विचार के बिना तो पूर्णता सम्भव ही नहीं है, फिर भी अलंकार के स्वरूप में जिस पर अधिक बल दिया जाता है, उसी पर यह अलंकार निर्भर करता है।

आक्षेप

आक्षेप का अर्थ है किसी वस्तु को बीच में फेंकना या डालना। इसकी परिभाषा करते हुए कहा गया है 'जहां विवक्षित वस्तु की विशेषता-प्रतिपादन करने के लिए निषेध या विधि का आभास हो, वहां आक्षेप अलंकार होता है।'

इसमें जब कोई वक्ता अपनी बात कहने लगता है या कह चुकता है, तभी वह अपने वक्तव्य का निषेध करता है। यह निषेध वास्तविक भी हो सकता है और निषेधाभास भी हो सकता है, परन्तु इन दोनों ही स्थितियों में वह कथन चमत्कारी होना चाहिए।

आक्षेप की मूल प्रवृत्ति शंका प्रतीत होती है। क्योंकि वक्ता द्वारा जो कुछ कहा गया है या कहा जा रहा है, उसके सम्बन्ध में निषेध का कारण तब ही उपस्थित होता है, जबकि उसे अपने कथन या उससे सम्बन्धित विषय के प्रति कुछ शंका हो। हो सकता है कि इस शंका का आधार वह व्यक्ति ही हो, जिससे कुछ कहा जा रहा हो और वह यह सोचने लग जाय कि इस व्यक्ति से यह बात कहना व्यर्थ ही है। वह बात उस व्यक्ति पर अधिक प्रभाव डालने के लिए भी कही जा सकती है, जैसे कि इस काव्यात्मक कथन में कि 'यह अबला तेरे विरह में कैसे रात काटे, परन्तु तुझ निर्दय से तो यह बात कहना भी व्यर्थ है।' अपनी बात को कहकर उसका निषेध कर दिया गया है, निश्चित् ही उससे श्रोता को एक उत्तेजना मिलती है और कथन में विशेषता आ जाती है। यहां वक्ता की श्रोता के प्रति शंका स्पष्ट है।

निषेध-विध्यात्मक आक्षेप के रूप में भी यह शंका देखी जा सकती है, जहां यह कहा जाता है कि 'मैं तेरा यह वर्णन कर रहा हूँ यद्यपि, है यह अकथनीय ही'। यहां भी अपने वर्णन के प्रति वर्णनीय की अनुकूलता के, अनुसार शंका तो है ही, अतः शंकाजनित युक्तियों पर ही आक्षेप टिका है।

विकल्प

विकल्प नाम से ही स्पष्ट है कि यह अनिश्चयमूलक अलंकार है। 'दो समान बल वाली बातों का एक ही काल या स्थान में कथन' विरोध है, अतः इसे विरोधमूलक अलंकार माना जायेगा और विरोधमूलक अलंकारों के अनुसार ही इसका भी आस्वादन सम्भव होगा।

असम्भव

अनदेखी, अनसुनी और असम्भावित किसी घटना का वर्णन किये जाने पर यह अलंकार होता है। असंभावित घटना का घटना ही प्रकृत का विरोध और उसकी समन्विति में ही आनन्द है। 'कौन जानता था कि मनवांछित फल यों सहज ही मिल जायगा और धनुष को तोड़कर रामचन्द्र जी जनक का सब प्रकार परितोष करेंगे।'[1]

१. रामचन्द्राभरण—गोप, पृष्ठ १६

उक्त उदाहरण में जनक की प्रतिज्ञा का पूर्ण होना असम्भव ही था। शिव-चाप को कौन तोड़ सकता था ? अनदेखी, अनसुनी और अविश्वसनीय बात थी। परन्तु राम ने उसे सहज कर दिया। बात की असम्भावना के द्वारा चित्तवृत्तियों का विरोध और परिणाम में सन्तोष, यही इस अलंकार की पद्धति है।

विषादन

इच्छित अर्थ के विपरीत लाभ होने को 'विषादन' अलंकार कहते हैं। प्रहर्षण का यह ठीक विरोधी अलंकार है। जो अभीष्ट है, वह प्राप्त नहीं होता, जो नहीं चाहते, वह आ टपकता है। इससे चित्तवृत्तियों में विरोध उत्पन्न होकर दुःख या विषाद उत्पन्न हो जाता है। 'विषादन' का भाव ही यहां युक्ति रूप में अलंकार है।

गोपनमूलक अलंकार-वर्ग

इस वर्ग के अलंकार भी काव्य में अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। अलंकारों का मूल वक्रोक्ति को स्वीकार करने वालों के लिए इस वर्ग का महत्व सर्वाधिक है।

इस वर्ग के अलंकारों में वक्रोक्ति की प्रधानता रहती है। बात को सीधे ढंग से न कहकर घुमा-फिराकर कहा जाता है। इसका तात्पर्य है कि बात के वास्तविक रूप को पहले छिपाया जाता है और तब उसे प्रकारान्तर से प्रकट किया जाता है। इस वर्ग के अलंकारों के रूप में छिपाने या गोपन की क्रिया प्रमुख रूप में निहित है। मूल में जिज्ञासा उत्पन्न कर उसे सन्तुष्ट करना इन अलंकारों का कार्य होता है परन्तु जिज्ञासा भी गोपन के कारण ही उत्पन्न होती है। डा० नगेन्द्र ने इन अलंकारों को जिज्ञासामूलक माना है, परन्तु हमारी दृष्टि में इन्हें प्रक्रिया के आधार पर गोपनमूलक कहना अधिक संगत है।

यह बात कही जा चुकी है कि गोपन का एक कारण तो होता है—भय। भय प्रायः असामाजिक कार्यों के कारण होता है। हम अपने आप से तो कुछ छिपा नहीं सकते, छिपाना दूसरे से ही चाहते हैं। उसका कारण यही हो सकता है कि हम समझते हैं कि दूसरे हमारी बात के कारण उसे उचित न समझेंगे और किसी प्रकार से हमारी हानि होगी या हमें नीचा देखना पड़ेगा। यही कारण है कि हमें अपनी बात छिपाकर किसी दूसरे रूप में प्रस्तुत करनी पड़ती है। मिथ्याध्यवसित आदि अलंकारों के मूल में यह बात कितनी साफ है।

गोपन का दूसरा कारण कौतूहल हो सकता है। हम जानबूझ कर किसी से कोई वस्तु छिपाते हैं और इस प्रकार उसकी भावनाओं को छिपी वस्तु को जानने के लिए उत्तेजित करते हैं। अन्त में वह वस्तु उसके सामने दिखाकर उसे आनन्दित करते हैं। इसमें भी तीव्रता उत्पन्न करने के लिए पहले मिथ्या कथन किया जाता है और तब सत्य का कथन किया जाता है। उदाहरण के लिए कोई सज्जन कपड़े में मिठाई छिपाकर अपने बच्चों के सामने घर ले जाते हैं। बच्चे जानना चाहते हैं कि क्या है ? गोपन से उनका कौतूहल बढ़ता है और अन्त में वे उन्हें मिठाई निकाल कर देते हैं, बच्चे आनन्दित हो जाते हैं। इसी को और तीव्र रूप में प्रस्तुत करने के लिए पहले बच्चों को यह बताया जाय कि उसमें बच्चों के काम की कोई वस्तु न होकर ऐसे ही कोई

साधारण चीज़ है और ऐसा विश्वास कर लेने पर अचानक उन्हें यदि मिठाई निकाल कर दिखाई जाय तो उन्हें अधिक आनन्द होगा। इस क्रिया में वस्तु की उपलब्धि के आनन्द की बात तो अलग है, क्योंकि अन्त में जैसी वस्तु बच्चे पायेंगे, वैसी प्रसन्नता या कभी-कभी अभीष्ट वस्तु की अप्राप्तिमें तटस्थता या अप्रसन्नता भी वे प्राप्त करेंगे, परन्तु गोपन में जो जिज्ञासा है, वही महत्वपूर्ण है। इस वर्ग के अलंकारों में इन दोनों की ही अर्थात् गोपन की जिज्ञासा और उसकी समन्विति दोनों का ही आनन्द रहता है, क्योंकि काव्य में कवि द्वारा प्रदत्त वस्तु सदैव वही होती है, जिसे पाठक चाहता है।

पर्यायोक्त

पर्यायोक्त में अभीष्ट अर्थ को विशेष भंगी से प्रस्तुत किया जाता है। इसमें वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ दोनों प्रस्तुत होते हैं। इन दोनों में कार्य-कारण सम्बन्ध भी माना जाता है। इसका मूल आधार एक बहाना है। बहाने का आधार भय, उलाहना, संवेदना और कौतूहल आदि कुछ भी हो सकता है और बहाना गोपन का ही एक अंग है। सामान्य शब्द के आधार पर पर्याय ग्रहण कर जब पाठक को विशिष्ट अर्थ की प्राप्ति होती है तो सहज ही उससे चित्त चमत्कृत हो जाता है। रीतिकाल का एक उदाहरण है—

जाकी माया सब जगत भूल्यो आठों याम।
संतनि के मन में सदा रहतु निरन्तर राम॥[1]

जिसकी माया से सारा संसार सर्वदा भूला रहता है, वही राम (स्वयं को भूलकर) संतों के मन में सर्वदा निवास करते हैं। कवि यहां अपनी मूल इच्छा को, कि हे राम, आप मेरे हृदय में निवास करें, छिपा रहा है और उसी बात को प्रकारान्तर से कह रहा है कि आप तो संतों के हृदय में निरन्तर रमते हैं। इसमें चतुराई का कौतूहल है और भगवान् के प्रति एक संवेदनात्मक भाव है।

व्याजस्तुति

पर्यायोक्त में वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ दोनों की संश्लिष्ट प्रतीति होती है और इन दोनों में कार्य-कारण सम्बन्ध होता है। 'तकनीकी' दृष्टि से व्याजस्तुति भी पर्यायोक्त का ही एक अंग है, परन्तु इसे इस अर्थ में सीमित कर दिया गया है कि इसमें प्रस्तुत निन्दा से अप्रस्तुत स्तुति और प्रस्तुत स्तुति से अप्रस्तुत निन्दा व्यंग्य रहती है। दोनों का कार्य-कारण सम्बन्ध निन्दा-स्तुति पर आधारित है।

अन्य प्रसंग में कहा गया है कि व्याजस्तुति का जन्म एक ऐसे सामाजिक वातावरण में हुआ होगा, जहां कवि अपने मनमाने ढंग से किसी अन्य की सच्ची निन्दा या स्तुति न कर सकता होगा। कालान्तर में यह एक शैली ही बन गया।

व्याजस्तुति का आधार भी व्याज या बहाना ही है। इसमें भी गोपन की वृत्ति प्रधान है। जो कहना है, उसे छिपाकर कहना होता है। केवल छिपाना ही नहीं

१. रामचन्द्राभरण—गोप, पृष्ठ ११

उसे ऐसे रूप में प्रस्तुत करना होता है कि सुनने वाले को किसी प्रकार वह अखर न जाए और कवि सच्ची बात कहने का सन्तोष भी प्राप्त कर ले।

व्याजस्तुति में जहाँ प्रकट में स्तुति हो और लक्ष्य निन्दा का हो, स्पष्ट है कि वहाँ भय की अथवा किसी दूसरे को मूर्ख बनाने की भावना ही विद्यमान रहती है। सुनने वाले की क्षमता भी मूर्ख बनने योग्य मानी जानी चाहिए क्योंकि समझदार व्यक्ति के सम्मुख इस प्रकार के कथन का परिणाम विपरीत हो सकता है। इस अलंकार में कवि के बुद्धिकौशल के साथ ही पात्रगत मूर्खता के अनुमान में भी एक छिपा हुआ आनन्द रहता है। दूसरे को बुद्धू बनाकर मज़ा लेने की बात केवल बच्चों में ही नहीं, बड़ों में भी रहती है।

जहाँ तक निन्दा में स्तुति का प्रश्न है, उसमें अत्यन्त निकटता और अपनेपन की स्थिति वक्ता और श्रोता के मध्य होनी चाहिये। अन्यथा निन्दा द्वारा कौन आपत्ति मोल लेना चाहेगा और वह भी उस समय जब कि वर्णन करने वाले का उद्देश्य वास्तव में निन्दा न होकर प्रशंसा करना होता है ऐसा कथन जिसके प्रति किया जाता है, उसका स्वाभाविक रूप से बुद्धिमान् होना आवश्यक है अन्यथा कहीं प्रस्तुत को सुनकर ही कुछ झगड़ा-टंटा खड़े होने की नौबत आ जाये तो अलंकार आपत्कर ही हो जाय। हां, व्यंग्यार्थ के ज्ञात होने पर तो यह अलंकार सुनने वाले के मन में सहज ही मिश्री घोल देने की क्षमता रखता है और एक क्षण के लिये किसी को बर-गद जैसी ऊंचाई के सिंहासन पर बिठा देने की क्षमता इस अलंकार में है। ये सभी उदाहरण व्यावहारिक जीवन के समान ही सूक्ष्म रूप में काव्य-क्षेत्रोपयोगी भी हैं।

व्याजस्तुति के अन्य प्रकारों में किसी अन्य की प्रशंसा से किसी अन्य की प्रशंसा या किसी की निन्दा से किसी अन्य की निन्दा भी आती है। किसी की निन्दा से जब अन्य की निन्दा की जाती है तो इसे अलग से व्याजनिन्दा अलंकार की भी संज्ञा दी जाती है। व्याजस्तुति एक शुद्ध मनोवैज्ञानिक आधार का अलंकार है।

समासोक्ति

समासोक्ति गम्यौपम्याश्रय पर आधारित विशेषण-वैचित्र्यमूलक अलंकार है। इसमें प्रस्तुत का वर्णन ऐसे श्लिष्ट या साधारण विशेषणों के माध्यम से किया जाता है कि अप्रस्तुत का स्फुरण होने लगता है। तात्पर्य यह है कि लिंग अथवा विशेषण-साम्य के आधार पर प्रकृत के वाच्य से अप्रकृत की व्यंजना इसमें होती है। मानसिक दृष्टि से इस अलंकार का आधार भी गोपन की क्रिया है। कवि विशेषणों के प्रयोग से एक अन्य अर्थ या व्यापार की झलक तो देता है परन्तु स्पष्ट रूप में उसका कथन नहीं करता। अप्रस्तुत को इस प्रकार छिपाये रख कर पाठक के सम्मुख उसे केवल थोड़ा-थोड़ा खोला जाता है। यदि पाठक विशेषणों के द्वारा अप्रकृत अर्थ को प्राप्त कर लेता है तो उसे सहज ही अपनी बुद्धि के चमत्कार का विश्वास होता है और साथ ही एकमात्र इंगित वस्तु को खोजने का आनन्द मिलता है।

अप्रस्तुतप्रशंसा

अप्रस्तुतप्रशंसा में भी सदा ही दो अर्थों की प्रतीति होती है, एक वाच्यार्थ और दूसरा व्यंग्यार्थ। समासोक्ति में वाच्यार्थ प्रस्तुत-विषयक होता है और व्यंग्यार्थ अप्रस्तुत-परक, परन्तु अप्रस्तुतप्रशंसा में इसका उलटा होता है। यहां वाच्यार्थ अप्रस्तुतपरक होता है और व्यंग्यार्थ प्रस्तुतपरक। अप्रस्तुत का वर्णन प्रधान होने पर भी प्रधानता प्रस्तुत की ही सिद्ध होती है। प्रस्तुत को इस प्रकार गौणता या गोपनता देकर प्रस्तुत करने में भी समासोक्ति के समान ही आनन्दानुभूति होती है। कार्य, करण, सामान्य, विशेष और सारूप्य में इस प्रकार के वर्णन होने से अप्रस्तुतप्रशंसा पांच प्रकार की होती है।

प्रस्तुतांकुर

जिस प्रकार अप्रस्तुतप्रशंसा में अप्रस्तुत का कथन होता है, उसी प्रकार प्रस्तुतांकुर में प्रस्तुत का कथन होता है। प्रस्तुत से प्रस्तुत के कथन का मूल कारण भी प्रायः वक्ता के हृदय की व्यंग-भावना होती है। उलाहना, चातुर्य आदि अनेक भावों में जब वक्रता आती है, तभी प्रस्तुतांकुर का जन्म होता है। मूलवृत्ति में यह अप्रस्तुतप्रशंसा से भिन्न नहीं है। मम्मटादि इस अलंकार को मानते भी नहीं, अप्रस्तुत-प्रशंसा में ही इसका अन्तर्भाव स्वीकार करते हैं।

सूक्ष्म

जहां किसी संकेत, चेष्टा और आकार से लक्षित रहस्य को किसी युक्ति से सूचित किया जाय, वहां सूक्ष्म अलंकार होता है। बात स्पष्ट नहीं कह दी जाती, बल्कि अभिप्राय को चेष्टाओं से ही अभिव्यक्त किया जाता है। गोपन स्पष्ट है। इस अलंकार की अपनी विशेषता है कि इसमें गोपन होते हुए भी केवल संकेत आदि भाव-भंगियों से निर्देश और इस प्रकार कुछ न कह कर भी सब कुछ कह देने का विधान इस अलंकार में होता है। हृदय की सूक्ष्म भावनाओं के प्रकाशन और उनके ज्ञान के कारण ही इस अलंकार का नाम सूक्ष्म है, जो बहुत ही उचित है।

पिहित

सूक्ष्म और पिहित अलंकारों का आधार एक है, अन्तर यह है कि सूक्ष्म में किसी रहस्य को जानकर चेष्टादि से उत्तर दे दिया जाता है, परन्तु पिहित में उत्तर न देकर केवल रहस्य को जान लेने भर की सूचना संकेत से दी जाती है। यह अप्पय्य दीक्षित-कृत सूक्ष्म का ही विस्तार है, जिसे उसने पिहित नाम दे दिया है।

प्रश्न

अज्ञात जिज्ञासा की शान्ति के लिये जहां केवल प्रश्न किया जाय, वहां प्रश्न अलंकार होता है। अलंकार के मूल में जिज्ञासा प्रधान मनोवृत्ति है परन्तु इसमें वस्तु को प्रकाशित करने की वक्रता का ही आभास होता है।

उत्तर

उत्तर के चमत्कारक होने पर उत्तरालंकार होता है इसमें या तो श्रवणमात्र से उत्तर का अनुमान कर लिया जाता है या संदिग्ध या असम्भाव्य उत्तर दिया जाता है अथवा प्रश्न के साथ ही उत्तर अथवा अनेक प्रश्नों का एक ही उत्तर प्रस्तुत किया जाता है। इसकी मूलवृत्ति है जिज्ञासा का समाधान, परन्तु इसकी शैली में वक्रता के प्रमुख होने के कारण यह अलंकार गोपनमूलक कोटि में आयेगा।

व्याजोक्ति

व्याजोक्ति अलंकार वहां होता है, जहां किसी गुप्त भेद या खुलते रहस्य को छिपाने के लिए कोई बहाना किया जाय। गोपन की क्रिया द्वारा मूल वस्तु को दूसरा रूप देने के लिये युक्ति की आवश्यकता होती है, जो प्रकारान्तर से अर्थसिद्धि करती है। इसलिये इस अलंकार की वक्रता स्पष्ट है।

वक्रोक्ति

उक्त बात का अन्य अभिप्राय से अन्य व्यक्ति द्वारा अर्थश्लेष से अन्यार्थ लगाने को वक्रोक्ति कहा जाता है। नाम से अलंकार का मूल स्पष्ट है। शब्द के प्रथम अर्थ से वस्तु का गोपन और द्वितीय अर्थ से सामंजस्य उत्पन्न होता है। फिराव से इसमें चमत्कार उत्पन्न होता है, जो प्रवृत्तियों को एक उलझन में डाल कर उन्हें क्रमश: संगत अर्थ में खोलकर सामंजस्य की ओर ले जाता है।

भाविक

भाविक अलंकार में अप्रत्यक्ष पदार्थों का प्रत्यक्षवत् वर्णन होता है अर्थात् भूत और भविष्य के भावों का वर्तमान की भांति वर्णन होता है। श्री रामदहिन मिश्र ने इस के मूल में 'विज़न' जिसे दिवास्वप्न कहा जाता है, माना है, इस भाव की अतिरेकता में इसके अनुभवकर्ता की स्थिति होती है और वह काल से परे विगत और आगत को एक में सजा लेता है। उसके स्मृत और कल्पित सभी चित्र उसके समक्ष वर्तमान होते हैं। इस अलंकार में वर्ण्य के अपने काल के गोपन को वर्तमान में प्रस्तुत किया जाता है। स्थित्यंतर से प्रत्यक्ष जैसी अनुभूति इसकी विशेषता है।

परिकर-परिकरांकुर

परिकर अलंकार में प्रकृत अर्थ के अनुसार विशेषण का साभिप्राय कथन होता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से परिकर अलंकार में तर्क की वृत्ति प्रधान है। अवश्य ही वह बहुत ही सूक्ष्म है क्योंकि अलग से कवि अपने कथन का तर्क-सम्मत समाधान नहीं करता बल्कि वह विशेषण की ही योजना इस तर्क के आधार पर कर देता है। अपनी दीनता पर तरस खाने के लिये ईश्वर से प्रार्थना करनी हो तो उसे 'दीनबन्धु' नाम से सम्बोधित करना ही उचित होगा क्योंकि फिर उसे अपने स्वभाव तथा दीनता आदि की अलग से व्याख्या और उसके लिए तर्क देने की आवश्यकता नहीं होगी। परिकरांकुर में विशेष्य का कथन उसी प्रकार साभिप्राय होता है, जिस प्रकार परिकर में विशेषण का। अभिप्राय मनोवैज्ञानिक क्षेत्र में मानसिक संग्रन्थि का एक रूप है, जिसमें स्वार्थ निहित रहता है। प्रकृति में दोनों अलंकार समान ही हैं।

मिथ्याध्यवसित

किसी झूठ को सत्य सिद्ध करने के लिए यदि किसी दूसरे झूठ की कल्पना की जाय, तो यह अलंकार होता है। स्पष्ट है कि यह झूठों का ही नहीं, महाझूठों का अलंकार है, परन्तु काव्य-क्षेत्र में आकर असत्य भी किस प्रकार सत्य का प्रतिपादन करने वाला चमत्कारी बन जाता है, इससे काव्यप्रेमी भली भांति परिचित हैं। इ-लिए गोपनमूलक यह अलंकार कवि की विचित्र कल्पनाओं के कारण चमत्कारी होता है।

ललित

वर्णनीय वृत्तान्त को स्पष्ट न कह कर उसके प्रतिबिम्ब या छाया के वर्णन को ललित अलंकार कहते हैं। कथन का यह प्रकारान्तर, जिसका मूल उद्देश्य अप्रस्तुत का वर्णन करना होता है, गोपनमूलक ही माना जायगा। सम्भवतः उद्दिष्ट वस्तु के कथन की केवल झलक मात्र मिलती रहने के कारण उसकी अनुभूति की मधुरता को ही ललित नाम से अभिव्यंजित करने का यत्न किया गया है।

अनुज्ञा

अनुज्ञा अलंकार वहां होता है, जहाँ किसी दोष की इच्छा इसलिए की जाय कि उसमें किसी गुण विशेष की स्थिति है। मूलतः यह उदाराशयों का अलंकार है। भाव की दृष्टि से ऊंचा होते हुए भी साधन के रूप में दोष-ग्रहण करने की इच्छा में वक्रोक्ति है।

लेश

लेश का अर्थ है विपरीत। जहाँ दोष-गुण को क्रमशः गुण-दोष के रूप में कल्पित किया जाय, वहां यह अलंकार होता है। यह अलंकार गोपनमूलक है।

गूढ़ोक्ति-विवृतोक्ति

किसी एक को लक्ष्य करते हुए अगर दूसरे से बात कही जाय तो गूढ़ोक्ति अलंकार होता है। अलंकार के मूल में स्पष्टतया वक्रता है। गूढोक्ति के समान ही विवृतोक्ति अलंकार भी है, परन्तु इसमें अन्य के प्रति अपने कथन को किन्हीं श्लिष्ट शब्दों से सूचित किया जाता है। यह भी वक्रतामूलक है।

युक्ति

जहां अपने मर्म का गोपन करनेके लिए किसी चेष्टा से दूसरों की वंचना की जाय, वहां युक्ति अलंकार होता है। व्याजोक्ति अलंकार का रूप यहां भी है, परन्तु यह अलंकार केवल चेष्टाओं से ही सम्बन्धित है।

छेकोक्ति-निरुक्ति

जहां लोकोक्ति के प्रयोग में कोई दूसरा अर्थ छिपा हो, वहां छेकोक्ति अलंकार होता है। यहां किसी अन्य अर्थ को मन में रखते हुए अन्य शब्द से कहने की वक्रता है। यौगिक अर्थ के आधार पर जहां किसी अन्यार्थ की कल्पना की जाय, वहां निरुक्ति अलंकार होता है। यह अलंकार भी गोपनमूलक है।

श्लेष

श्लेषालंकार में शब्दों के दो अर्थ गृहीत होते हैं। ये दो अर्थ शब्द में स्वयं नहीं होते, अपितु प्रसंग के अनुसार उसके एक अर्थ से ही दूसरा अर्थ निकल आता है। यदि शब्द के आधार पर दो अर्थ निकलते हों, तो वह शब्द-श्लेष होगा, अर्थ-श्लेष नहीं। अर्थश्लेष में भी दोनों अर्थ वाच्य होते हैं अर्थात् खुले हुए होते हैं फिर भी प्रसंग विशेष के ध्यान में आये बिना दूसरे अर्थ की ओर सहसा ही ध्यान नहीं जाता। अतः प्रसंग-प्रधान होने के कारण एक विशेष स्थिति के आधार पर इस अन्य अर्थ की व्याख्या सहज ही की जा सकती है।

: ६ :

रीतिकालीन अलङ्कार-साहित्य का परवर्ती भाग

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने रीतिकाल का समय सं० १७०० से १६०० तक निर्धारित किया है, परन्तु कोई भी प्रवृत्ति काल की इतनी निश्चित सीमा में नहीं बंध पाती। प्रवृत्तियां क्रमशः जन्म लेती हैं और क्रमशः ही उनका ह्रास होता है। रीति-काव्य का जन्म भक्तिकाल में हो चुका था और केशव जैसे काव्यशास्त्र के आचार्य भक्तिकाल में विद्यमान थे। उनके बिना भाषा-काव्य-शास्त्र का अध्ययन पूर्ण नहीं हो सकता। ठीक इसी प्रकार सं० १६०० के पश्चात् भी भाषा-काव्य-शास्त्र की परम्परा एक लम्बे समय तक अपने उन्हीं आदर्शों और सिद्धान्तों को ग्रहण करके चलती रही। परवर्ती युग के साहित्य की प्रमुख प्रवृत्तियां अवश्य ही नये रूप में ढलती गईं, बदलती गईं, परन्तु क्रमशः क्षीण होते-होते भी रीतिकालीन प्रवृत्तियों की समाप्ति में पर्याप्त समय लगा। इस काल में विद्यमान रीतिकाव्य अथवा इस प्रबन्ध के प्रसंग में विशेषतः अलंकार-विवेचन का परिचय दिये बिना भी यह अध्ययन पूर्ण नहीं हो सकता। अलंकार-विवेचन की यही धारा रीतिकालीन अलंकार-साहित्य का परवर्ती भाग माना जा सकता है।

वास्तव में अलंकारों का अध्ययन तो आज के युग में भी हो रहा है और आगे भी बराबर होता रहेगा, परन्तु उसका दृष्टिकोण बहुत कुछ बदल चुका है। आज का समालोचक पाश्चात्य काव्यशास्त्र, मनोविज्ञान एवं अन्य अनेक शास्त्रों की पृष्ठभूमि में अपनी नई आवश्यकताओं के अनुसार अलंकार-विवेचन प्रस्तुत करता है परन्तु रीतिकालीन अलंकार-साहित्य के परवर्ती भाग में केवल वही अलंकार-ग्रंथ लिये जा सकते हैं, जिनकी प्रेरणाएं एवं आदर्श प्रायः वही हैं, जो रीतिकालीन आचार्यों के थे। यहां गोकुलप्रसाद से लेकर कन्हैयालाल पोद्दार तक ऐसे ही आचार्यों की परम्परा प्रस्तुत की जा रही है।

गोकुलप्रसाद : दिग्विजय-भूषण (१६२० वि० सं०)

दिग्विजय-भूषण एक विविधांगनिरूपक ग्रन्थ है। इसमें अलंकार-विवेचन के अतिरिक्त नख-शिख-वर्णन, षड्-ऋतु वर्णन तथा नायिका-वर्णनादि भी है।

इस ग्रन्थ में अलंकारों के लक्षण लेखक ने स्वयं ही प्रस्तुत किये हैं, परन्तु

उसने उदाहरण अपने पूर्ववर्ती १८९ कवियों के दिये हैं। ये कवि वीरगाथाकाल के प्रमुख कवि चंद से लेकर लेखक के समकालीन कवियों तक हैं। ८ कवियों का नाम-निर्देश नहीं है। अनेक स्थलों पर लेखक ने स्व-रचित उदाहरण भी दिये हैं।

गोकुलप्रसाद ने १०८ अलंकारों का विवेचन किया है। साधारणतया पहले इनके लक्षण देकर पुनः उन्हें उदाहरणों में दिखाया गया है, परन्तु कहीं-कहीं लक्षण न देकर केवल उदाहरण ही प्रस्तुत कर दिये गये हैं।[1] मतिराम के 'ललित-ललाम' के अनुसार ही लेखक ने अपने उदाहरणों की अन्तिम पंक्ति में अलंकारों को संगत किया है। गोकुलप्रसाद के अनुसार एक चरण में अलंकारों का ऐसा समन्वय 'एक अलंकृत'[2] नाम से संकेतित है और इसी को उसने उत्तम रचना माना है। कहीं-कहीं एक से अधिक चरणों में भी अलंकार दिखाये गये हैं, परन्तु उस प्रणाली का कोई भी नामकरण लेखक ने नहीं किया है।

जहां तक अलंकारों के लक्षणों की मौलिकता का प्रश्न है, उसकी आशा इस लेखक से नहीं की जा सकती, परन्तु इस ग्रन्थ की यह विशेषता तो निर्विवाद ही है कि इसमें अपने से पूर्ववर्ती हिन्दी-साहित्य के अनेक ज्ञात और अज्ञात कवियों की रचनाएं उदाहरणों के रूप में संचित हैं। वस्तुतः 'दिग्विजयभूषण' हिन्दी के अलंकार-साहित्य का एक आकर ग्रन्थ बन गया है।

लेखराज : गंगाभरण (१९३४ वि० सं०)

लेखराज भक्त-कवि था। गंगा की पावन स्तुति के गान में ही उसने अलंकारों का विवेचन प्रस्तुत किया है। इस कृति का 'गंगाभरण' नाम भक्ति-भावना और अलंकार-साधना दोनों ही दृष्टियों से सार्थक है।[3] इस ग्रंथ में अलंकारों का निरूपण क्रमशः अर्थालंकार-शब्दालंकार और चित्रकाव्य (चित्रालंकार)—त्रिविधरूप से हुआ है। अलंकार-क्रम में 'कुवलयानन्द' अथवा 'भाषा-भूषण' की अनुकृति है, इसे अर्थालंकारों की स्थिर परम्परा मानना अधिक उचित है। शब्दालंकारों में केवल अनुप्रास का ही वर्णन है। परम्परा-निर्वाह के अतिरिक्त गंगा की भक्ति-भावना में अलंकारों को सजाना ही इस कृति के निर्माण का महत्त्व है।

इनका एक ग्रंथ 'लघुभूषण' भी है, जो बरवै छन्द में लिखा गया है। इस ग्रन्थ की सूचना गंगाभरण की भूमिका में श्री कृष्णबिहारी मिश्र ने दी है।[4]

---

१. 'दिग्विजय-भूषण—गोकुलप्रसाद, पृष्ठ ५९, ३१३

२. अथ एक अलंकृत

तीनों पद में होय नहिं, एक चरण में होइ।
एक अलंकृत त्यहि कहै, उत्तम रचना सोइ ॥२५॥

दिग्विजयभूषण—गोकुलप्रसाद, पृष्ठ ३८

३. कहै लेखराज लिखो लख कवि-पंथ या तैं।
अलंकार मिस कीन्हों गंगागुन-गान मैं ॥४॥

गंगाभरण—लेखराज, पृष्ठ २

४. गंगाभरण—सम्पादक, कृष्णबिहारी मिश्र, भूमिका, पृष्ठ १२

लच्छिराम : रामचन्द्राभूषण, रावणेश्वर कल्पतरु (१६४७ वि० सं०)

सीतावर रामचन्द्र जी के भक्त, कवि लच्छिराम ने 'रामचन्द्राभूषण' ग्रन्थ परम्परा-निर्वाह के लिए लिखा है। विशेषता केवल भक्तिमय उदाहरणों की है। आचार्य भिखारीदास ने राधा-कन्हैया के स्मरण का बहाना करके 'काव्य-निर्णय' लिखा था; लच्छिराम ने सियावर के नाम रटने में ही अपना गौरव उस अवस्था में माना, जबकि काव्य-रसिकों को यह ग्रन्थ पसन्द न आए।[1] ग्रंथ का महत्त्व स्वीकार होने पर भक्ति की आड़ लेना विडम्बना है। अपने इष्टदेव की कृपा तो लच्छिराम ने विनीत भाव से व्यक्त की है, परन्तु उन्हें अपने ग्रन्थ के विद्वन्मान्य होने में विश्वास क्यों नहीं है[2], यह समझ में नहीं आया। लच्छिराम ने लिखा है कि उन्होंने परम्परागत भाषा-काव्य-शास्त्रीय पथ को परख कर ही इस कृति को बनाया है।[3]

इस ग्रंथ में ६८ अर्थालंकार तथा १ शब्दालंकार (वह भी अनुप्रास, छेक-वृत्ति भेद-सहित) का निरूपण है। अर्थालंकारों का क्रम 'भाषा-भूषण, का है। लक्षण दोहों तथा उदाहरण कवित्त, सवैया, छप्पय और कुंडलिया छन्दों में कहे गये हैं। काव्य-निर्णय से तिलक की परम्परा चल पड़ी थी, जो कि अलंकारों की समन्वय-बोधिका गद्य-व्याख्या का रूप था, यही लच्छिराम ने भी अपना ली।

रामचन्द्राभूषण के उदाहरणों में श्रीराम के प्रति भक्ति-भावना की प्रबलता है। कहीं-कहीं उदाहरण शिथिल भी हैं। इसका कारण भक्ति-भावना ही है।

लच्छिराम का दूसरा ग्रंथ 'रावणेश्वरकल्पतरु' है, जिसमें कवि ने अपने आश्रयदाता महाराज रावणेश्वरप्रसाद सिंह की प्रशंसा के पद उदाहरण-रूप से दिये हैं। कहीं-कहीं भगवान् राम की स्तुति भी की है। सामाजिक स्थिति के पद भी कई हैं। अलंकार रामचन्द्राभूषण-क्रम के ही हैं और निरूपण-शैली भी वही है।

नवीन अलंकार

लच्छिराम ने दो-दो अलंकारों को मिला कर दो नए अलंकार माने हैं—'अपह्नव' और 'मुक्तप्रकेसी'। अपह्नव नाम का अलंकार 'चेत-चन्द्रिका' में भी प्रस्तुत किया गया है, परन्तु दोनों के लक्षणों में अन्तर है। केवल नाम का ही साम्य है। लच्छिराम ने उसी को सापह्नवातिशयोक्ति लक्षण कहा है। लक्षण यह है—

मिलत अपह्नव होय जहाँ उत्प्रेक्षा में धीर।
सापह्नवातिशयोक्ति तहं बरनै कवि गम्भीर ॥१७०॥[4]

दूसरा नवीन अलंकार 'मुक्तप्रकेसी' है जो कि एकावली के बीच में प्रश्नोत्तर के आ जाने पर बन जाता है। जैसे—

---

१. रामचन्द्राभूषण—लच्छिराम, पृष्ठ ११२
२. रामचन्द्राभूषण—लच्छिराम, पृष्ठ १११
३. श्री सीतावर चरितमय अलंकार शुभ रीत।
बरनै पंडित कविपक्ष वा पथ परखि पुनीत ॥८॥
रामचन्द्राभूषण—लच्छिराम, पृष्ठ २
४. रामचन्द्राभूषण—लच्छिराम, पृष्ठ ३३

लक्षण—एकावली के बीच जब प्रश्न उत्तर सुन रंग।
मुक्त प्रकेसी तहं कहै अलंकार नव रंग ॥६२८॥
उदाहरण—
सोभा सरवर के विलास है मृणाल कैसे जैसे सुंड कलभ संवारे विधि धीर के।
कैसे सुंड कलभ संवारे विधि धीरवर, जैसे ये भुजंग भाये मंडन सरीर के।
लछिराम कैसे है भुजंग सुखमा सों भरे जैसे थरकत खम्भ खलक सुधीर के।
मरकत खम्भ जैसे परम प्रचंड जैसे, भुजदण्ड जुगल जसीले रघुवीर के ॥६२९॥[1]

इन दोनों अलंकारों में केवल मिश्रण की ही मौलिकता है।

गुलाबसिंह : वनिता-भूषण (१९४९ वि० सं०)

कविराज गुलाबसिंह के इस ग्रंथ में 'कान्ताभूषण' के कर्ता रत्नेस तथा 'रस-भूषण' द्वय के कर्ता याकूबखाँ-राय शिवप्रसाद की पद्धति का अनुकरण है। नायिका-भेद तथा अलंकारों का एकत्र विवेचन इस कृति में भी देखने को मिलता है।[2] इस कृति में दो अज्ञात ग्रन्थों—'नीति-मंजरी' और 'भूषण-चन्द्रिका' से उदाहरण दिये गये हैं। परिष्कृत गद्य में विषयबोधार्थ टीका की गई है।

संस्कृत-काव्य शास्त्र के 'चन्द्रालोक' तथा 'कुवलयानन्द' जैसे ग्रन्थों का प्रभाव अलंकारों के लक्षणों पर है। भाषा-काव्य-शास्त्र में रत्नेस की पद्धति के अतिरिक्त केशव का प्रभाव भी दीखता है।

गंगाधर : महेश्वरभूषण (१९५० वि० सं०)

महाराज महेश्वरबक्स के आश्रित कवि गंगाधर (उपनाम द्विज गंग) ने इस की रचना राज-प्रसादार्थ की। संस्कृत-काव्यशास्त्र के मम्मट, कैयट, जयदेव तथा अप्पय्य दीक्षित और रीतिकालीन भाषा-काव्य-शास्त्र के आचार्य भिखारीदास का प्रभाव इस ग्रंथ पर स्पष्ट दिखाई देता है। इन आचार्यों का उल्लेख भी इस ग्रंथ में है। आचार्य दास की भांति इस ग्रंथ में स्थान-स्थान पर 'तिलक' दिया गया है। गंगाधर ने अपने ग्रंथ में परम्परा का निर्वाह मात्र किया है।

मुरारिदान : जसवन्त-जसोभूषण (१९५० वि० सं०)

कविराजा मुरारिदान ने यह ग्रंथ महाराज जसवन्तसिंह के आदेशानुसार लिखा। यह ग्रंथ संस्कृत-काव्य-शास्त्र के 'प्रतापरुद्रीययशोभूषण' तथा 'नंजराजयशो-भूषण' और रीतिकाल के 'शिवराज-भूषण' की परम्परा का है।

इस में लेखक ने प्राचीन परिपाटी को त्याग कर लक्षणों में नवीन पद्धति अपनाने की प्रतिज्ञा की है।[3] अलंकारों के नाम के व्याख्यापुरस्सर लक्षण बनाने का यत्न नवीनता का प्रयास है। इस से कुछ अलंकारों के व्युत्पत्त्यर्थ अवश्य सामने

---

१. रामचन्द्राभूषण—लच्छिराम, पृष्ठ ६७
२. क्रम से नायिका अलंकारन के एकत्र लक्षण।
वनिता-भूषण—गुलाबसिंह, पृष्ठ २
३. जसवन्त-जसोभूषण—मुरारिदान, प्रस्तावना भाग, पृष्ठ २

आते हैं, कहीं-कहीं लेखक ने व्युत्पत्तियों में खींचतान भी की है।

इस ग्रन्थ में ८१ अलंकार हैं—१ शब्दालंकार और ८० अर्थालंकार।[1]

शब्दालंकारों के सम्बन्ध में आचार्य की धारणा शब्द ब्रह्म से प्रभावित है। अर्थात् शब्द ब्रह्म-रूप है। इसलिए उसके अलंकार साहित्य में वर्णित किये जाते हैं।' इस उक्ति से अलंकारों का 'शब्द (काव्य) के साथ नित्य सम्बन्ध सिद्ध कर दिया गया है। यह परम्परा से भिन्न चलने का सीधा संकेत है।[2] शब्दालंकारों में एक अनुप्रास का ही विवेचन है। इसी प्रकार उपमा के अनन्तर अर्थालंकारों का अकारादि क्रम से विन्यास रसरूप के 'तुलसी-भूषण' की परम्परा का पुनः पालन है।

नवीन अलंकार

अर्थालंकारों में अतुल्ययोगिता, अवसर, अपूर्वरूप, अप्रत्यनीक, अभेद, अनवसर, आभास, नियम, प्रतिभा, मिष, विकास, संकोच तथा संस्कार नए अलंकार हैं। इनमें तुल्ययोगिता का अतुल्ययोगिता, पूर्वरूप का अपूर्वरूप, प्रत्यनीक का अप्रत्यनीक, अवसर का अनवसर तथा विकास का संकोच विरोधी अलंकार है।

तुल्ययोगिता में प्रस्तुतों अथवा अप्रस्तुतों के एक ही सामान्य धर्म का एक बार कथन होता है और दीपक में प्रस्तुत-अप्रस्तुत का एक साथ, तब अतुल्ययोगिता का लक्षण प्रस्तुतों या अप्रस्तुतों का पृथक्-पृथक् धर्मों का कथन ही बनता है। आचार्य ने लक्षण नहीं दिया। अपितु विपरीतता-कथन से अतुल्ययोगिता का लक्षण मान लिया है। उदाहरण में लक्षण की संगति भी की है। जैसे—

मेघमाल जल अल्प है, बिरल जु फल तरु पंत।
कविप्रभाव कम दान में, भयो न नृप जसवंत ॥

व्याख्या— राजराजेश्वर दान में कम न हुआ, इस कथन से अन्य राजाओं का दान में कम होना अर्थ सिद्ध है। कलि के प्रभाव से मेघमाला भी जल अल्प देती है। तरु भी फल बिरल देते हैं। अन्य राजा भी दान कम देते हैं। यहां कलियुग-निमित्त से मेघमालादि के साथ राजराजेश्वर में भी समयानुसार दान की कमी के तुल्ययोग सम्भव रहते भी तुल्ययोग न होना अतुल्ययोगिता अलंकार है।[3] इस व्याख्या के अनन्तर यदि मुरारिदान इसे व्यतिरेक का उदाहरण कह देते और अतुल्ययोगिता के मोह में न पड़ते तो काव्य-शास्त्र में इस नवीन अलंकार-सम्बन्धिनी भ्रांति को स्थान न मिलता।

अवसर अलंकार का लक्षण आचार्य रुद्रट ने लिखा है। इस अलंकार के लक्षण

---

१. जसवंत-जसोभूषण—मुरारिदान, पृष्ठ १७३

२. कहत शब्द को ब्रह्म सब, वैयाकरण बिख्यात।
अलंकार उस शब्द के, जसवंत बरने जात ॥३-१॥
जसवंत-जसोभूषण—मुरारिदान, पृष्ठ ३६

३. तुल्ययोगिता जहां न होई, जान अतुल्ययोगिता सोई।
प्राचीन दिग्दर्शन भूपति, अलंकार यह हू है मम मति ॥
जसवंतजसोभूषण—मुरारिदान, पृष्ठ ४६-४७

में आचार्य रुद्रट ने न्यून अर्थ को उत्कृष्ट या सरस बनाने की चर्चा की है, परन्तु मुरारिदान-कृत लक्षण साधारण है। इन्होंने चिन्तामणि 'कोषकार' का नाम देकर लिखा है कि 'मौका' का नाम अवसर है। पर्यायवाची उर्दू भाषा के शब्द से लक्षण-बना देना घोर शिथिलता है। इसलिए अवसर में रुद्रट सरीखा सम्बद्ध लक्षण नहीं। न ही अनवसर में भी किसी प्रकार की लक्षण-सम्बन्धिनी प्रतिभा का परिचय है।[1]

पूर्वरूप से अपूर्वरूप अलंकार भी नहीं बना।[2] अभेद अलंकार शोभाकर मित्र के अभेद अलंकार के लक्षण से प्रभावित होकर लिखा गया है, परन्तु लक्षण स्पष्ट नहीं बना। शोभाकर ने आरोप्यमाण के अतिसाम्य को अभेद माना है, परन्तु मुरारिदान-कृत लक्षण अभेदरूपक का ही लक्षण बनकर रह गया है।[3]

प्रत्यनीक का विरोधी अप्रत्यनीक अलंकार का लक्षण भी चमत्कार-हीन है।[4] प्रतिमालंकार भी शोभाकरमित्र के लक्षण से प्रभावित है। यद्यपि लेखक ने यहां भी कोषकार चिन्तामणि का नाम ही मुख्य रूप से लिया है। किसी का प्रतिनिधित्व करने के लिए वास्तव की अपेक्षा उस की प्रतिमा-स्थापना की भांति यह अलंकार

---

१. (क) अर्थान्तरमुत्कृष्टं सरसं यदि वोपलक्षणं क्रियते।
अर्थस्य तदभिधानप्रसंगतो यत्र सोऽवसरः ॥७-१०३॥
काव्यालंकारः—रुद्रट, पृष्ठ ६६

(ख) होय जहां अवसर वहै, अवसर भूषन जानि।
अवसर के दानी जसा, सुनियै यह कवि बानि॥

(ग) अवसर का पर्याय है मौका, वक्ष्यमाण अवसर के विपरीत भाव में अनवसर अलंकार हम से लिखा गया है।
है जु अनवसर तित कहत सुकवि अनवसर नाम।
यह तुम को अप्रिय तदपि, सुन जसवंत जस धाम॥
जसवंतजसोभूषण—मुरारिदान, पृष्ठ ४७, ५८,

२. पूर्वरूप की प्राप्ति नहिं, वहै अपूरब रूप।
अलंकार यह नहिं भयौ सुनिये जसवंत भूप॥
जसवंतजसोभूषण—मुरारिदान, पृष्ठ ५०

३. (क) बरनत जहां अभेद कर, ता को कहत अभेद।
है अवनी के इन्दु यह, अलंकार बिन खेद॥
जसवंतजसोभूषण—मुरारिदान, पृष्ठ ५६

(ख) नियतधर्मंहानावारोप्यमाणस्यातिसाम्यमभेदः ॥२७॥
अलंकाररत्नाकरः—शोभाकर मित्र, पृष्ठ ३८

४. नहिं अनीक प्रति है वहै, अप्रत्यनीक पहिचान।
दिग्दर्शन धोरीन सों, मरुपति लीन्हो मान॥
जसवंतजसोभूषण—मुरारिदान, पृष्ठ ५१

है।[1] नियमालंकार भी चिन्तामणि कोषकार के मतानुसार दिया है। लक्षण शोभाकर के नियमालंकार से मिलता है।[2] परन्तु लक्षण में अलंकारानुकूल वैशिष्ट्य नहीं। शोभाकर ने भी संस्कृत-काव्य-शास्त्र में अलंकार-संख्या खूब बढ़ाई है। वैसा मोह मुरारिदान को भी है। यह नियमालंकार परिसंख्या से भिन्न नहीं। विकास, संकोच, संस्कार, मिष, आभास बलात् ही कहे गये हैं चमत्कार-जनक अलंकारोंमें मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विकास, संकोच, संस्कार, मिष और आभास अपना काम विभिन्न अलंकारों में करते हैं, इसलिए इन्हें भी अलंकार मान लेना उचित नहीं। हां, इन का आधार अलंकारों में अवश्य रहता है।

आचार्य मुरारिदान ने अलंकारों के अन्तर्भाव की समस्या को भी उठाया है, परन्तु उस में संस्कृत तथा भाषा-काव्य-शास्त्र के रीतिकालीन अन्य आचार्यों के समान उन्हें भी सफलता नहीं मिली। इस विशालकाय ग्रन्थ का अध्ययन लेखक के बहुश्रुत होने का समर्थन करता है। वास्तव में कविराजा मुरारिदान ने नवीन दिशा दर्शाने का प्रयास किया, जो कि अलंकार-नाम, लक्षणविवेचन, व्याख्या तथा नवीन अलंकारों के योगदान से किंचित् आलोकित तो हुआ ही है,चाहे विद्वज्जनों की सम्मति एक न हो। कविराजा मुरारिदान की विद्वत्ता और आत्म-दृढ़ता इस ग्रन्थ में झलकती है।

जगन्नाथप्रसाद : काव्यप्रभाकर (१९६६ वि० सं०)

जगन्नाथप्रसाद 'भानु' ने सरल लक्षण-समन्वित तथा बहूदाहरणालंकृत यह ग्रन्थ लिखा है। इस ग्रन्थ पर काव्यप्रकाश, साहित्यदर्पण, कुवलयानन्द, कविप्रिया, भाषाभूषण, ललितललाम, काव्य-निर्णय और पद्माभरण जैसे संस्कृत तथा भाषा-काव्य-शास्त्रीय ग्रन्थों का प्रभाव है।

---

१. (क) प्रतिनिधि का पर्याय प्रतिमा है। कहा है चिन्तामणि कोषकार ने प्रतिनिधि प्रतिमायाम् ॥—जैसे देवताओं के अभाव में देवताओं की मूर्ति रखी जाती है। उस को प्रतिमा कहते हैं। इस लोक-व्यवहार छाया से घोरी ने इस अलंकार का अंगीकार किया है।

प्रतिमा कर बर्नत जहां, सो प्रतिमा मरुभूप।
है उपमादिक तैं जु भंति, या को भिन्न स्वरूप ॥

जसवंतजसोभूषन—मुरारिदान, पृष्ठ ८४-८५

(ख) अन्यधर्मयोगादार्थमौपम्यं प्रतिमा ॥-१३॥

अलंकाररत्नाकरः—शोभाकर मिश्र, पृष्ठ १४

२. (क) यहां नियम शब्द का अर्थ है रोकना, कहा है चिन्तामणि कोषकार ने 'नियमः यंत्रणे' यंत्रणं बंधने।

नरपति निरबहु नियम कों, भूषन नियम कहंत।
हो तुम ही कलि काल में, जस गाहक जसवंत ॥

जसवंतजसोभूषण—मुरारिदान, पृष्ठ ७६

(ख) अन्य निषेधार्थोऽपि विधिर्नियमः ।८३॥

अलंकाररत्नाकरः—शोभाकर मिश्र, पृष्ठ १४३

सिद्धान्त-सम्बन्धिनी मौलिकता इस कृति में नहीं है। ग्रन्थ के नवम मयूख में अलंकार-वर्णन है। अलंकार-लक्षणों में प्रथम नाम, फिर संस्कृत-लक्षण, भाषा-लक्षण, भावार्थ और अन्त में उदाहरण दिये गये हैं।

इस ग्रन्थ में विषय के स्पष्टीकरण के लिये अनुभूमिका, सूचना, प्रश्नोत्तर तथा फुटनोट दिये गये हैं। गद्य का समुचित प्रयोग भी किया गया है।

नवीन अलंकार

भ्रान्तापह्नुति अलंकार का एक नवीन भेद परिहासापह्नुति दिया गया है। परिहासापह्नुति अलंकार वहां होता है, जहां प्रबोधक स्वयं श्रोताओं को भ्रान्ति में डाल कर तत्पश्चात् निवारण कर के हर्षित कर देता है। वैवाहिक अवसरों पर इस का प्रयोग होता है। जगन्नाथप्रसाद ने भारतेन्दु हरिश्चन्द्र-कृत निम्न पद उदाहरण स्वरूप दिया है—

छाती मीड़त सब समधिन कर, रूप छटा अति देखि।
डारत अतर लगाइ अरगजा, ताहि रंगीली पेखि।
समधिन तू लगवावत डोलत, सब सों चोखा रंग।
फटी दरार परी समधिन की, चोली उभरि उमंग।[1]

गूढ़ोत्तर अलंकार के प्रसंग में प्रहेलिकालंकार का भी विवेचन है। लेखक का मत निम्नलिखित है—

'शब्दालंकार में जो शब्दप्रहेलिका कही है और जो प्रहेलिका अर्थान्तर्गत है, उसे चित्रोत्तर अलंकार के अन्तर्गत जानना चाहिये। यद्यपि प्रहेलिका की गणना अलंकारों में नहीं, तथापि इस में कुछ-कुछ झलक अलंकार की पाई जाती है, इस लिए इसका लिखना भी उचित जाना गया।'[2]

'काव्यप्रभाकर' एक विशालकाय ग्रन्थ है। विषय-बोध की दृष्टि से भी यह प्रौढ़ रचना है। विवेचन की नई शैली के कारण यह लोक-प्रिय भी खूब हुआ।

भगवानदीन : अलंकारमंजूषा (१९७३ वि० सं०)

लाला भगवानदीनकृत 'अलंकारमंजूषा' गद्य-युगीन काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में सरल शैली और अलंकार-विषयक सामग्री के कारण महत्त्वपूर्ण कृति मानी गई है।

इसमें १० शब्दालंकारों तथा १०२ अर्थालंकारों का विवेचन किया गया है। अलंकारसूची में अकारादि क्रम से नाम रखे हैं, जो कि मुरारिदान का प्रभाव लगता है। लाला भगवानदीन ने आचार्य भिखारीदास से प्रभावित होकर स्मरण-अलंकार लिखा। देख-सुन तथा सुधि करके किसी सदृश की याद आना तो आचार्य भिखारीदास ने स्मरणालंकार के लक्षण में माना ही था, परन्तु लाला भगवानदीन ने

---

१. काव्य-प्रभाकर—जगन्नाथप्रसाद 'भानु', पृष्ठ ३३२
२. काव्य-प्रभाकर—जगन्नाथप्रसाद 'भानु', पृष्ठ ५८३

'सोच कर' भी मान लिया।[1] वास्तव में 'सोच कर सदृशता' की चर्चा नवीन नहीं, यह तो सुध करने के अन्तर्गत ही आ जाती है। इसलिए आचार्य भिखारीदास का ऋण लाला भगवानदीन पर स्वीकार करना उचित है।

क्रमालंकार के यथाक्रम, भंगक्रम तथा विपरीतक्रम नाम से तीन भेद किए गए हैं। इसमें भंगक्रम तथा विपरीतक्रम भेद उपयुक्त नहीं, जब क्रम-भंग तथा विपरीत हो गया, तब क्रम रहा कहां? यह तो दोष है। इसलिए ये दोनों चमत्काररहित हैं।

अत्युक्ति अलंकार का क्षेत्र-विस्तार अवश्य ही लाला भगवानदीन जी की नई सूझ है। प्रेम में अत्युक्ति तो रघुनाथ बंदीजन तथा गोकुल कवि ने भी अलंकार रूप में मानी है। शौर्य-औदार्य वर्णन भी प्राचीनसम्मत है, परन्तु लाला भगवानदीन द्वारा निरूपित अत्युक्ति के क्षेत्र में सौन्दर्य और विरह भी आते हैं, जो उर्दू कविता का प्रभाव प्रतीत होता है।

लाला भगवानदीन ने भाषा-काव्य को तिरस्कार अलंकार दिया है। पंडितराज जगन्नाथ ने तिरस्कार अलंकार का विवेचन किया है। शोभाकर ने भी अनादर नामक अलंकार लिखा था। इन दोनों का प्रभाव लाला भगवानदीन के लक्षण पर परिलक्षित होता है।[2] लाला भगवानदीन का तिरस्कार सम्बन्धी उदाहरण उपयुक्त है, जैसे—

> जा के प्रिय न राम वैदेही।
> तेहि त्यागिए कोटि बैरी सम जद्यपि परम सनेही।

अलंकार-मंजूषा में अनेक पूर्ववर्ती कवियों के पद्य उदाहरण-स्वरूप दिये गये हैं। लक्षणों और उदाहरणों के परिष्कृत एवं संगत होने के कारण यह कृति विद्वत्समाज में समादरणीय रही है।

अर्जुनदास: भारतीभूषण (१९८७ वि० सं०)

अर्जुनदास केडिया-कृत 'भारतीभूषण' ने रीतिकालीन अलंकार-विवेचन की परम्परा से तो भिन्नता प्राप्त न की, परन्तु लक्षणों में परिष्कृत गद्य का प्रयोग आरम्भ कर दिया। इस कृति के निर्माण में संस्कृत-काव्य-शास्त्र के मम्मट, विश्वनाथ तथा जयदेव और भाषा-काव्य-शास्त्र के 'केशव' एवं उत्तमचन्द भण्डारी के 'अलंकार-आशय' ग्रंथ से पर्याप्त सहायता ली गई है। अलंकारों के उदाहरणों में चन्द्र बरदाई से लेकर राष्ट्र-कवि मैथिलीशरण गुप्त तक के पद्यों को रखा गया है।

---

१. (क) कछु लखि-सुन कछु सुधि किये सो सुमरिन सुख कंद।
काव्यनिर्णय—भिखारीदास, पृष्ठ २३०

(ख) कछु लखि, कछु सुनि, सोचि कछु, सुधि आवै कछु खास।
सुमिरन ता को भाषिए, बधु वर सहित हुलास॥
अलंकार-मंजूषा—लाला भगवानदीन, पृष्ठ ८५

२. (क) त्यागिय आदरनीयहू, लखिय जो दोष विसेष।
तिरस्कार भूषन कहैं, जिनकी सुमति असेष॥
अलंकार-मंजूषा—लाला भगवानदीन, पृष्ठ २२२-२२३

(ख) अप्राप्तार्थं तत्तुल्यानादरोऽनादरः॥७०॥
अलंकाररत्नाकरः—शोभाकर मिश्र, पृष्ठ १२१

उत्तमचन्द भण्डारी के प्रभाव से अनुप्रास का एक भेद 'वैणसगाई' दिया है, जिसके उदाहरण डिंगल भाषा के हैं। जैसे—

उदाहरण—जा बिन रह्यौ न जाय एक घड़ी अलगो हुवां।
दोष करै बेदाय, रोष न कीजै राजिया।[1]
—बारहठ कृपाराम

यहां भी 'जा', 'जाय', 'एक', 'अलगो', 'दोष', 'दाय', 'रोष' और 'राजिया' क्रमशः चारों चरणों में वर्णावृत्ति में कहे गये हैं।

अनुप्रास अलंकार में स्वर-व्यंजन समता की चर्चा भी उत्तमचन्द भण्डारी के प्रभाव से ही की गई है।[2] विरोध द्वारा भी स्मरणालंकार की स्वीकृति श्री केडिया ने की है। उदाहरण निम्नलिखित हैं—

चालि चंदेरी नगर तें, आये सुनि सिसुपाल।
सुता विदर्भ भुआल के, उर आए नंदलाल॥

यहां विरोधी शिशुपाल का आना सुनकर रुक्मिणी को पूर्व में श्रवण किए हुए श्रीकृष्ण महाराज का स्मरण होना बताया गया है। स्मरण वैधर्म्यमाला की चर्चा भी श्री केडिया ने की है, जो नवीनता है ही।

इस ग्रन्थ से पूर्व भी 'अलंकारमंजूषा' नामक प्रौढ़ कृति प्रसिद्ध हो चुकी थी। 'भारतीभूषण' भी उसी भांति का ग्रंथ बना, जिससे काव्यशास्त्र का अलंकार-अंग पुष्ट हुआ। 'भारतीभूषण' से ही उत्तमचन्द भण्डारी-कृत 'अलंकार-आशय' ग्रंथ की विवेचना का भी प्रबल प्रमाण मिलता है।

बिहारीलाल भट्ट : साहित्यसागर (१९९४ वि० सं०)

भूतपूर्व बिजावर रियासत के राजकवि बिहारीलाल भट्ट-कृत 'साहित्य-सागर' में अलंकारों का परम्परागत रूप से विवेचन किया गया है। इन्होंने एक नया अलंकार 'गुणोक्ति' माना है। अलंकार का लक्षण तथा उदाहरण निम्नलिखित है—

गुणोक्ति—बहुगुन तजि जहं एक को इक गुन गुरुता देय।
कवि 'बिहारी' गुन उक्ति तहं भूषन चित धरि लेय॥

उदाहरण—सूर वही जो रन थमे सुबुधि वही जो ज्ञानि।
रूप वही जो मन हरे, भूप वही जो दानि॥

इस अलंकार के सम्बन्ध में बिहारीलाल भट्ट का अपना कथन प्रमाण है—'इस भाव की कविता कुछ-कुछ पहले भी हुई, किन्तु इसमें प्रधान रूप से कोई

१. भारतीभूषण—अर्जुनदास केडिया, पृष्ठ १४-१५
२. स्वर समेत अक्षर कि पद, आवत सदृस प्रकास।
भिन्न अभिन्ननि पदनि कहि, छेक लाट अनुप्रास।
इसी प्रकार श्री उत्तमचन्द भण्डारी-कृत 'अलंकार-आशय' नामक भाषा ग्रंथ में भी व्यंजन के साथ स्वर-समता का स्पष्ट विधान है।
भारतीभूषण—अर्जुनदास केडिया, पृष्ठ १६

अर्थालंकार स्पष्ट घटित नहीं होता है, इसी कारण इस भाव के लिए हमें यह गुणोक्ति नाम का अलंकार नवीन निर्माण करना पड़ा'।[1] इस ग्रन्थ में राजकवि ने स्वनिर्मित उदाहरण ही दिए हैं। ग्रंथ प्रौढ़ ज्ञान का प्रतीक है।

कन्हैयालाल : अलंकारमंजरी (२००२ वि० सं०)

सेठ कन्हैयालाल पोद्दार ने 'काव्य-कल्पद्रुम' नामक ग्रंथ के द्वितीय भाग का नाम 'अलंकार-मंजरी' रखा है। इस ग्रंथ में पूर्ववर्ती युग का (संस्कृत तथा रीतिकालीन काव्य-शास्त्र का) आधार लिया गया है। नवीन अलंकारों में परिवृत्ति का विरोधी अपरिवृत्ति अलंकार दिया है। उदाहरण निम्नलिखित है—

अति सूधो सनेह को मारग है, जहां नैक सयानप बांक नहीं।
तहां सांचे चले तजि आपुनपौ, झझकै कपटी जो निसांक नहीं।
'घन आनन्द' प्यारे सुजान सुनो इत एक ही दूसर आंक नहीं।
तुम कौन धौं पाटी पढ़े हो लला! मन लेत हो देत छटांक नहीं।[2]

श्री पोद्दार ने प्रतीपालंकार के पहले तीनों भेदों को उपमालंकार के अन्तर्गत माना है। चौथा भेद अनुक्त-धर्म व्यतिरेक तथा पांचवां भेद एक प्रकार का आक्षेप अलंकार स्वीकार किया है।[3]

ग्रंथ का उदाहरण-पक्ष तीन प्रकार का है—अनूदित, अन्य कविरचित तथा स्व-रचित। संस्कृत-काव्य-शास्त्र के लक्षण-ग्रंथों तथा कवियों के पद्यों के हिन्दी-अनुवाद में परिष्कार नहीं दीखता। अन्य उदाहरण संगत हैं। विषय-विवेचना की दृष्टि से यह ग्रंथ गद्य-काल में रीतिकालीन काव्य-शास्त्रीय क्षेत्र का सीमाचिह्न है।

इस प्रकार रीतिकाल के परवर्ती आलंकारिकों ने भी काव्यशास्त्रीय अलंकार-तत्त्व की विस्तृत विवेचना की और कई नवीन अलंकार तथा तत्सम्बन्धिनी नई धारणायें प्रस्तुत कीं, जो अलंकार की विविधता, सूक्ष्माभिव्यक्ति की समर्थता तथा उत्तरोत्तर विकास की परिद्योतक हैं।

---

१. साहित्य-सागर—बिहारीलाल भट्ट, पृष्ठ ४८४-४८५

२. परिवृत्ति में कुछ लेकर बदले में कुछ दिया जाता है। यहां इसके विपरीत है, अतः ऐसे वर्णनों में अपरिवृत्ति अलंकार माना जा सकता है। यद्यपि अपरिवृत्ति का पूर्वाचार्यों ने निरूपण नहीं किया परन्तु इस अपरिवृत्ति में चमत्कार होने के कारण अलंकार मानना उचित अवश्य है।
अलंकारमंजरी (काव्यकल्पद्रुम)—कन्हैयालाल पोद्दार, पृष्ठ ३५६

३. अलंकारमंजरी (काव्य-कल्पद्रुम)—कन्हैयालाल पोद्दार, पृष्ठ १४५

उपसंहार

रीतिकालीन अलंकार-ग्रन्थों का मूल्यांकन संस्कृत-अलंकार-ग्रन्थों की पृष्ठभूमि एवं तुलना में ही किया जा सकता है। उसका प्रथम कारण तो यह है कि रीतिकालीन अलंकार-साहित्य का उपजीव्य संस्कृत-काव्य शास्त्र है, दूसरे, संस्कृत-अलंकार-ग्रन्थों की जो उपलब्धियां हैं, उनकी तुलना में ही रीतिकालीन उपलब्धियों को प्रकाश प्राप्त हो सकता है। साधारणतया यह विश्वास किया जाता है कि रीतिकाल के आचार्य या तो केवल संस्कृत-काव्य-शास्त्र के अनुवादक-मात्र थे अथवा उनकी उपलब्धियाँ नगण्य थीं, परन्तु इस अध्ययन-विवेचन के उपरान्त ऐसा कहना अधिक उपयुक्त होगा कि रीतिकालीन आचार्य संस्कृत के आचार्यों की अग्रिम परम्परा में हैं, मात्र पुनरावृत्ति नहीं—पुनरावृत्ति तो केवल वहां तक है, जहाँ तक वे संस्कृत के अलंकार-ग्रन्थों के सर्वसाधारण सिद्धान्तों से जनभाषा-भाषी कवियों एवं जनता का परिचय कराना चाहते थे और उनके ऐसे अनुवाद भी अपने विशिष्ट क्रम, चयन और परिवर्तन से रहित नहीं हैं, अर्थात् अनुवाद कहलाने वाली कृतियों पर भी अनुवादक आचार्यों के व्यक्तित्व की गहरी छाप है। जहाँ तक रीतिकालीन आचार्यों की मौलिकता का प्रश्न है, वहां भी दो बातें विचारणीय हैं—प्रथम यह कि संस्कृत में अलंकार-विषय का पर्याप्त विवेचन हो चुका था, इसलिए उनके समक्ष मौलिकता का क्षेत्र सीमित था। दूसरे, संस्कृत-काव्य-शास्त्र की दो सहस्र वर्ष की लम्बी अवधि की तुलना में रीतिकाल के केवल दो सौ वर्षों में जो कुछ प्राप्त हुआ है, उसे किसी प्रकार भी नगण्य नहीं कहा जा सकता।

अलंकारसामान्य के लक्षण की बात ही ली जाय तो संस्कृत-काव्य-शास्त्र के समान ही रीतिकालीन कवियों में भी इस सम्बन्ध में नानात्व मिलेगा। अलंकार को काव्य का अनिवार्य तत्त्व घोषित करने वाले केशव तथा उनके अनुयायी एक ओर जमे हैं तो अलंकारों को रस का उपकारक मानने वाले आचार्यों की संख्या भी कम नहीं है। रीतिकाल में भी अलंकारों को अन्तरंग, या बाह्यतत्त्व माना जाय, इस पर विचार हुआ है। देव ने शब्द और अर्थ सम्बन्धी अलंकारों को काव्य-तरु के फूल-फल मान कर इसे एक ऐसा चमत्कारक रूप प्रदान किया है, जिसकी तुलना संस्कृत के आचार्यों से भी नहीं की जा सकती। रीतिकालीन आचार्यों ने अलंकारों के लिये नवीन क्षेत्र भी ढूंढे हैं, जैसे याकूबखाँ तथा राय शिवप्रसाद आदि ने उन्हें विशिष्ट नायक-नायिकाओं, हावभावों आदि से समन्वित करने की चेष्टा की है। इन प्रयत्नों के औचित्य पर भले ही प्रश्न-चिह्न लगाया जा सके, परन्तु इन आचार्यों का मस्तिष्क केवल अनुयायी मात्र था, इस धारणा का निषेध इन रचनाओं से अवश्य हो जाता है।

रीतिकाल के अलंकार-विवेचन की परम्परा कितनी व्यापक थी, इसका प्रमाण यह है कि उस युग के अनेक भक्तकवि भी इस ओर प्रवृत्त हुए और उन्होंने भी अपने इष्टदेव के पावन चरित्र को अलंकारों में गूंथ कर जनता के समक्ष रखा। रामचन्द्राभरण, रामचन्द्राभूषण, रघुनाथालंकार और चेत-चन्द्रिका जैसे भक्ति-दृष्टिपूर्ण

ग्रंथों के अन्दर बैठ कर भी अलंकारों की अमर होने की चाह अथवा प्रकारान्तर से उनसे अलंकृत होने की भक्ति की उत्कंठा संस्कृत-साहित्य में शायद ही कहीं मिल सकेगी। इसी भांति राष्ट्रीय वीरों के चरित्र को भी इन अलंकार-मुक्ताओं द्वारा सजाया गया है। काव्य के समुज्ज्वल भूषणों से भूषण ने शिवाजी के चरित्र को विभूषित किया और स्वयं तो वे भूषण बन ही गये।

रीतिकाल के आचार्यों की मौलिकता का यह भी प्रखर प्रमाण है कि अत्यन्त सूक्ष्मता से विवेचित और परिपूर्ण संस्कृत-अलंकारशास्त्र की सीमाओं में पूरे भर कर भी वे उसी में समाये नहीं रहे और उन्होंने भी २२ नवीन अलंकार अलंकार-साहित्य को प्रदान किये। इन अलंकारों में कुछ मंद स्थिति के भी हैं और कुछ की उज्ज्वलता पूर्णतः प्रखर है और वे अन्य अलंकारों के बीच गौरव से बैठने के पूर्ण अधिकारी हैं। नवीन अलंकार युग की नवीन प्रवृत्तियों को सामने लेकर आये। शोषणपूर्ण, सामन्तवादी और चाटुकारिता के युग की मनोवृत्तियों का जैसा भंडाफोड़ इन अलंकारों ने किया है, वैसा शास्त्र का दूसरा पक्ष शायद ही कर सके। इस काल में केशव ने अलंकारों का एक नवीन वर्गीकरण अवश्य ही सामने रखा। आचार्य भिखारीदास ने भी एक विशिष्ट वर्गीकरण प्रस्तुत किया, जो उनकी नवीन देन है। अलंकारों के व्यंग्य और अव्यंग्य के आधार पर एक वर्गीकरण की प्रस्तावना भी इस प्रबन्ध में है, जो संस्कृत एवं रीतिकालीन वर्गीकरण को एक प्रकार से पूर्णता देने का यत्न है।

अलंकारों के विभिन्न वर्गों ने भी अपनी काया रीतिकाल में परिवर्द्धित की है। केवल चित्रालंकारों को लेकर भी पूर्ण ग्रन्थ लिखे गये हैं। बलवानसिंह और ईश्वर कवि ने चित्र को समस्त अलंकारों का आश्रयस्थल बना दिया और उसके समर्थक उदाहरणों में न केवल हिन्दी अपितु भारत की अन्य अनेक भाषाओं को भी अपने विषय के स्पष्टीकरण के हेतु ला उपस्थित किया। चित्र को केवल बौद्धिक विलास मानने वाले भी इन आचार्यों की तपस्या-रत बुद्धि-क्रीड़ा का अवश्य ही लोहा मानेंगे। संस्कृत के इतने विशाल साहित्य में इन ग्रंथों की टक्कर का एक भी ग्रंथ नहीं लिखा गया। ईश्वर कवि की 'यमक-सतसई' तो सर्वथा नवीन प्रयोग है।

रीतिकाल के आचार्यों के सम्मुख एक बहुत बड़ी कठिनाई उनकी भाषा थी। आरम्भ में किये गये संस्कृत-काव्यशास्त्रों के अनुवादों से भाषा का परिमार्जन होने लगा और क्रमशः विकास पाकर अन्त में उनके विवेचन की भाषा भी प्रौढ़ हो गयी। गद्य भी क्रमशः परिष्कृत हुआ। रीतिकाल के अन्तिम चरण में जितने आचार्य हुए हैं, उनके लक्षण तथा विवेचन की भाषा में प्रौढ़ता और परिष्कार है, अतः इन आचार्यों ने शास्त्र और उसके अनुकूल भाषा के विकास में भी अपना योग दिया है।

इस प्रकार रीतिकाल के आचार्यों की समस्त सुविधाओं और असुविधाओं को दृष्टि में रखते हुये ही उनकी मौलिकता का पूर्ण मूल्यांकन किया जा सकता है। उनकी मेधा और मौलिकता को यथोचित रूप में स्वीकार किया जा सके, यही इस प्रबन्ध की सफलता है।

●

ग्रंथ-सूची

संस्कृत-ग्रन्थ

अप्पय्य दीक्षित—वृत्तिवार्तिकः, (काव्यमाला), निर्णय-सागर प्रेस, बम्बई, १९२९ ई०
अप्पय्य दीक्षित—कुवलयानंदः, चौखम्बा विद्याभवन, काशी, २०१३ वि०
अप्पय्य दीक्षित—चित्रमीमांसा, निर्णय-सागर प्रेस, बम्बई, १९४१ ई०
अभिनव गुप्त—अभिनव-भारती, गायकवाड़ ओरिएंटल सीरीज, १९५४ ई०
अभिनव गुप्त—लोचन, चौखम्बा-संस्कृत-सीरीज़, वाराणसी, १९९७ वि०
आनन्दवर्धन—ध्वन्यालोकः, गौतम बुक डिपो, दिल्ली, १९५२ ई०
आशाधर भट्ट—त्रिवेणिका, जयकिशनदास गुप्त, बनारस, १९२५ ई०
उद्भट—काव्यालंकार (सार) संग्रहः, निर्णय-सागर प्रेस, बम्बई, १९५८ ई०
ऋग्वेद—तिलक विद्यापीठ, पूना।
कर्णपूर—अलंकारकौस्तुभः, वरेन्द्र-रिसर्च-सोसाइटी, बंगाल, १९२६ ई०
कालिदास—मेघदूत, पंडितपुस्तकालय, काशी, २००६ वि०
कुन्तक—वक्रोक्तिजीवितम्, आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली २०१२ वि०
कृष्ण कवि—मन्दारमरंदचम्पू, तुकाराम जीवाजी, बम्बई, १८९५ ई०
केशव मिश्र—अलंकार-शेखरः, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९२६ ई०
जगन्नाथ—रसगंगाधरः, चौखम्बा विद्याभवन, बनारस, २०११ वि०
जयदेव—चन्द्रालोकः, चौखम्बा-संस्कृत-सीरीज़, बनारस, १९३८ ई०
दण्डी—काव्यादर्शः, ओरिएंटल बुक-डिपो, दिल्ली, १९५८ ई०
दुर्गाचार्य—यास्क-निरुक्तम्, हरियाणा शेखावटी आश्रम, भिवानी, १८८३ वि०
देवशंकर—अलंकार-मंजूषा, ओरिएंटल मैन्युस्क्रिप्ट लायब्रेरी, उज्जैन, १९४० ई०
धनंजय—दशरूपक, चौखम्बा विद्याभवन, बनारस, २०११ वि०
नरेन्द्र प्रभसूरि—अलंकारमहोदधिः, गायकवाड़ओरिएंटलसीरीज़, बड़ौदा १८४२ ई०
नृसिंह कवि—नंजराजयशोभूषणम्, ओरिएंटल इस्टीट्यूट, बड़ौदा, १९२० ई०
बाण—हर्षचरितम्, जीवानन्द विद्यासागर, कलकत्ता, १८९२ ई०
भट्टि—भट्टिकाव्यम्, राजकीय ग्रंथमाला, १८९८ वि०
भरत—नाट्यशास्त्रम्, निर्णय-सागर प्रेस, बम्बई, १९४३ ई०
भामह—काव्यालंकारः, चौखम्बा-संस्कृत-सीरीज़, बनारस १९८५ वि०
भावदेव सूरि—काव्यालंकारसारः ('अलंकार-महोदधि' : ग्रंथ के परिशिष्ट में दत्तग्रंथ)
भोज—सरस्वतीकण्ठाभरणम्, जीवानन्द विद्यासागर, कलकत्ता, १८९४ ई०

भोज—शृंगारप्रकाशः, सम्पादक, श्री जी० आर० जायसर, १९५५ ई०
मम्मट—काव्यप्रकाशः, राजस्थान प्राच्यविद्यांप्रतिष्ठान, जोधपुर, २०१६ वि०
मम्मट—काव्यप्रकाशः, ज्ञानमंडल लिमिटिड, काशी, २०१७ वि०
महिमभट्ट—व्यक्ति-विवेकः, चौखम्बा-संस्कृत-सीरीज़-आफिस, बनारस, १९९३ वि०
यास्क—निरुक्तम्, श्री हरियाणा शेखावाटी आश्रम, भिवानी पंजाब, १८८३ वि०
राजशेखर—काव्यमीमांसा, गायकवाड़ ओरियंटल सीरीज़, बड़ौदा १९३४ ई०
रुद्रट—काव्यालंकारः, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९२८ ई०
रुय्यक—अलंकार-सर्वस्वम्, निर्णय-सागर प्रेस, बम्बई, १९३९ ई०
वत्सलांछन—काव्य-परीक्षा, मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा, २०१२ वि०
वाग्भट—वाग्भटालंकारः, जीवानन्द विद्यासागर, कलकत्ता, १९१७ ई०
वाग्भट—काव्यानुशासनम्, निर्णय-सागर प्रेस, बम्बई, १९१५ ई०
वामन—काव्यालंकार-सूत्राणि, निर्णय-सागर प्रेस, बम्बई, १९५३ ई०
वाल्मीकि—रामायणम्, ला जरनल प्रेस, मद्रास, १९२३ ई०
विद्याधर—एकावली, वी० वी० आर० आई०, होशियारपुर
विद्यानाथ—प्रतापरुद्रीय-यशोभूषणम्, बालमनोरमा प्रेस, मद्रास, १९५० ई०
विश्वनाथ—साहित्य-दर्पणः, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, २०१३ वि०
विश्वेश्वर—अलंकार-प्रदीपः, चौखम्बा-संस्कृत-सीरिज, काशी, १९२३ ई०
विष्णुधर्मोत्तरपुराणम्, ओरिएंटल इंस्टीट्यूट, बड़ौदा, १९५८ ई०
वैद्यनाथ सूरि—अलंकार-चन्द्रिका, वी० वी० आर० आई०, होशियारपुर
व्यास—अग्निपुराणम्, गुरुमण्डल, कलकत्ता, १९५७ ई०
व्यास—महाभारतम्, गीताप्रेस, गोरखपुर, १९५५ वि०
शोभाकरमित्र—अलंकार-रत्नाकरः, ओरिएंटल बुक एजेन्सी, पूना, १९४२ ई०
सिद्धचन्द्रमणि—काव्यप्रकाश-खण्डनम्, भारतीय विद्या-भवन, बम्बई, २०१९ वि०
हेमचन्द्र—काव्यानुशासनम्, श्री महावीर जैन विद्यालय, बम्बई, १९३८ ई०
क्षेमेन्द्र—औचित्यविचारचर्चा (काव्यमाला), निर्णय-सागर प्रेस, बम्बई, १९२९ ई०
क्षेमेन्द्र—कविकण्ठाभरणम् (काव्यमाला), निर्णय-सागर प्रेस, बम्बई, १९२९ ई०

संस्कृत-कोष

वाचस्पत्यम्—श्री तारानाथ तर्कवाचस्पति, कलकत्ता, १९२९ ई०
शब्द-कल्पद्रुमः—श्री राधाकान्त देव, चौखम्बा-संस्कृत-सीरीज, वाराणसी, १९६१ ई०

हिन्दी-ग्रन्थ

अमर—काव्यकल्पलतावृत्ति, विद्याविलास प्रेस, बनारस, १९३१ ई०
अयोध्यासिंह उपाध्याय—बोलचाल, हिन्दी-साहित्य-कुटीर, बनारस, २०१३ वि०
अर्जुनदास केडिया—भारतीभूषण, भारतीभूषण कार्यालय, काशी, १९१७ वि०
आनन्दप्रकाश दीक्षित, डॉ०—सौन्दर्य-तत्त्व, भारती भंडार, इलाहाबाद, २०१७ वि०
ऋषिनाथ—अलंकार-मणिमंजरी, आर्य-यंत्रालय-वाराणसी, १९२९ ई०
ओम्प्रकाश, डॉ०—हिन्दी-अलंकार-साहित्य, भारती-साहित्य-मंदिर, दिल्ली, १९५९ ई०

ओम्प्रकाश गुप्त—मुहावरा-मीमांसा, बिहार-राष्ट्र-भाषा-परिषद्, पटना, १९६० ई०
कन्हैयालाल पोद्दार—अलंकार-मंजरी, जगन्नाथ शर्मा, मथुरा २००२ वि०
किरणचन्द्र, डॉ०—केशवदास जीवनी, कला और कृतित्व, भारती साहित्य मन्दिर, दिल्ली
कुमारमणि शास्त्री—रसिक-रसाल, श्री विद्याविभाग, कांकरोली, १९५४ वि०
कुलपति—रस-रहस्य, इण्डियन प्रेस लि०, प्रयाग, १९५४ ई०
कृष्णशंकर शुक्ल—केशव की काव्य-कला, साहित्य-ग्रंथमाला-कार्यालय, काशी १९९०वि०
केशव—कविप्रिया, कल्याणदास एण्ड ब्रदर्स, वाराणसी, २०१४ वि०
गिरिधरदास—भारतीभूषण, चौखम्भा पुस्तकालय, बनारस
गुलाबसिंह—बनिताभूषण, जगत-प्रकाशन-यंत्रालय, फतेहगढ़
गोकुल—चेतचन्द्रिका, भारत-जीवन-प्रेस, बनारस, १८९४ ई०
गोकुलप्रसाद—दिग्विजय-भूषण, अवध-साहित्य-मंदिर, बलरामपुर, २०१६ वि०
गोविन्द कवि—कर्णाभरण, भारत-जीवन-प्रेस, बनारस, १८९४ ई०
ग्वाल—अलंकार-भ्रम-भंजन, 'ब्रज-भारती' मथुरा में प्रकाशित, १९९८ वि०
जगन्नाथ प्रसाद 'भानु'—काव्य-प्रभाकर, लक्ष्मी-वेंकटेश्वर-छापाखाना, कल्याण
जगन्नाथदास 'रत्नाकर'—बिहारी-रत्नाकर, ग्रन्थकार शिवाला, बनारस, १९९०वि०
जसवन्तसिंह—भाषाभूषण, हिन्दी-साहित्य-कुटीर, २००६ वि०
दूलह—कविकुलकण्ठाभरण, देव-कविसुधा, लखनऊ, १९९२ वि०
देव—भावविलास, तरुण-भारत-ग्रन्थावली-कार्यालय, प्रयाग, १९९१ वि०
देव—शब्द-रसायन, हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग २००४ वि०
नगेन्द्र, डॉ०—हिन्दी-साहित्य का बृहद् इतिहास, नागरी-प्रचारिणी-सभा, काशी, २०१५ वि०
नगेन्द्र, डॉ०—देव और उनकी कविता, गौतम बुक डिपो, दिल्ली, १९४९ ई०
नगेन्द्र, डॉ० (सं०)—वक्रोक्तिजीवित, आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली, २०१२ वि०
नगेन्द्र, डॉ०—रीतिकाव्य की भूमिका, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली १९५९ ई०
नगेन्द्र, डॉ०—भारतीय काव्य-शास्त्र की भूमिका, ओरिएन्टल बुक डिपो, दिल्ली २०१२ वि०
नगेन्द्रडॉ०-महेन्द्र—अरस्तू का काव्य-शास्त्र, भारती-भण्डार, इलाहाबाद, २०१२ वि०
नगेन्द्र-सावित्री सिन्हा, डॉ०—पाश्चात्य काव्य-शास्त्र की परम्परा, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।
पद्माकर—पद्माभरण, सं० विश्वनाथप्रसादमिश्र, वाणी-वितान-प्रकाशन, वाराणसी, २०१५ वि०
बलदेव उपाध्याय—भारतीय-साहित्य-शास्त्र, प्रसाद-परिषद् काशी, १९५० ई०
बलवानसिंह—चित्रचन्द्रिका, नवल किशोर प्रेस, लखनऊ, १८५७ ई० जनवरी
बिहारीलाल भट्ट—साहित्य-सागर, गंगा-ग्रन्थागार, लखनऊ, १९९४ वि०
ब्रजलाल गोस्वामी, डॉ०—साहित्य का स्वरूप, साहित्य-संगम, लुधियाना, १९६१ ई०
ब्रह्मदत्त—दीप-प्रकाश, भारत-जीवन-प्रेस, बनारस, १९४६ वि०

भगवानदीन—(सं०) प्रिया-प्रकाश, कल्याणदास एण्ड संस, वाराणसी, २०१४ वि०
भगवानदीन—अलंकारमंजूषा, रामनारायणलाल, इलाहाबाद, २००८ वि०
भगीरथ मिश्र, डॉ०—हिन्दी-काव्य-शास्त्र का इतिहास, लखनऊ विश्वविद्यालय, प्रकाशन, २०१५ वि०
भिखारीदास—काव्यनिर्णय, कल्याणदास एण्ड ब्रदर्स वाराणसी, १९५६ ई०
भूषण—शिवराज भूषण, सं०) राजनारायण शर्मा, हिन्दी-भवन, इलाहाबाद, १९५८ ई०
भोलाशंकर व्यास—ध्वनिसम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त, नागरी-प्रचारिणी-सभा, काशी, २०१३ वि०
मतिराम—ललित-ललाम, (मतिराम-ग्रन्थावली) गंगा पुस्तकालय, लखनऊ, १९८३ वि०
मधुकर—मनोविज्ञान, प्रकृत और अप्रकृत, सैन्ट्रल बुक डिपो, इलाहाबाद, १९५७ ई०
महेन्द्रकुमार, डॉ०—मतिराम कवि और आचार्य, भारती-साहित्य-मन्दिर, दिल्ली, १९६० ई०
महेश्वर—महेश्वर-भूषण, भारत-जीवन प्रेस, बनारस, १९५४ वि०
मुरारिदान—जसवन्तजसोभूषण, मारवाड़ स्टेट प्रेस, १९५४ वि०
रत्नेश कवि—फतेप्रकाश, भारत-प्रकाशन मन्दिर, अलीगढ़, १९६१ ई०
रामचन्द्र शुक्ल—चिन्तामणि, इंडियन प्रेस, इलाहाबाद, १९५८ ई० पहला भाग
रामचन्द्र शुक्ल—रसमीमांसा, नागरी-प्रचारिणी-सभा, काशी, २००६ वि०
रामदहिन मिश्र—हिन्दी-मुहावरे, ग्रंथमाला-कार्यालय, पटना, १९५५ ई०
रामदहिन मिश्र—काव्य-दर्पण, ग्रन्थमाला कार्यालय, पटना-४, १९५५ ई०
रामप्रसाद पाण्डेय—सामान्य मनोविज्ञान, मुजफ्फरपुर (बिहार), १९५५ ई०
रामशंकर शुक्ल 'रसाल'—अलंकार-पीयूष, रामनारायणलाल, इलाहाबाद, १९५४ ई०
रामवृक्ष बेनीपुरी—बिहारी-सतसई, हिन्दी-पुस्तक-भण्डार, लहरियासराय, १९८२ वि०
लच्छिराम—रामचन्द्राभूषण, खेमराज श्रीकृष्णदास, बम्बई, १९६० वि०
लक्ष्मीनारायण सुधांशु—काव्य में अभिव्यंजनावाद, ज्ञानपीठ, पटना, २०१६ वि०
लेखराज—गंगाभरण, नन्दकिशोर मिश्र, गंधौली, सीतापुर, १९९२ वि०
विश्वनाथप्रसाद मिश्र—घनानन्द, वाणी-वितान प्रकाशन, बनारस, २००९ वि०
विश्वनाथप्रसाद मिश्र—केशव-ग्रन्थावली, हिन्दुस्तान एकेडेमी इलाहाबाद, १९५५ ई०
श्यामसुन्दरदास, डॉ०—कबीर-ग्रन्थावली ना० प्र० सभा, काशी, २०१८ वि०
सुमित्रानंदन पन्त—पल्लव, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, १९५९ ई०
सूरदास—साहित्य-लहरी (सं०) प्रभुदयाल मीतल, साहित्य-संस्थान, मथुरा, १९६१ ई०
संसारचन्द्र—हिन्दी काव्य में अन्योक्ति, राजकमलप्रकाशन, दिल्ली, १९६२ ई०
हंसराज भाटिया—सामान्य मनोविज्ञान, ज्ञान-मण्डल लि०, वाराणसी, १९६० ई०
हीरालाल दीक्षित—आचार्य केशवदास, लखनऊ विश्वविद्यालय प्रकाशन, २०११ वि०

हिन्दी-पत्रिका

ब्रजभारती—मथुरा, १९९७-१९९८ वि०

हस्तलिखित ग्रन्थ

अनवर—बिहारी-सतसई-टीका, डॉ० शरणबिहारी गोस्वामी, दयालसिंहकालेज, नई दिल्ली।
अमीरदास—श्रीकृष्ण-साहित्य-सिन्धु, सेण्ट्रल लाइब्रेरी, पटियाला
अमीर-चन्द्रिका—पंजाब-भाषा-विभाग, पटियाला
ईश्वर कवि—चित्रचमत्कृतकौमुदी, सेण्ट्रल लाइब्रेरी, पटियाला
उमेदराय—वाणीभूषण, निजी संकलन
कवि दास—अलंकार-माला, श्री ओंप्रकाश आनंद, पटियाला
हरिचरणदास—कविवल्लभ-वचनिका, सेण्ट्रल लाइब्रेरी, पटियाला
गोप—रामचन्द्राभरण, दतियाराज पुस्तकालय, दतिया, मध्यप्रदेश
चन्दन—काव्याभरण, स्व० डॉ० ब्रजकिशोर मिश्र से प्रतिलिपि प्राप्त
चिन्तामणि—कविकुल-कल्प-तरु, डॉ० सत्यदेव चौधरी, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली के सौजन्य से प्रतिलिपि प्राप्त
जगत्सिंह—साहित्य-सुधानिधि, निजी संकलन
दामोदर—अर्थालंकार-मंजरी, निजी संकलन
निहाल—साहित्य-शिरोमणि, सेण्ट्रल लाइब्रेरी, पटियाला
बैरीसाल—भाषाभरण, आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र, अध्यक्ष-हिन्दी विभाग, मगध-विश्व-विद्यालय, गया, के सौजन्य से प्रतिलिपि प्राप्त
मतिराम—अलंकार-पंचाशिका, निजी संकलन
याकूबखाँ—रसभूषण, दतियाराज पुस्तकालय, दतिया, मध्यप्रदेश
रघुनाथ बंदीजन—रसिक-मोहन, निजी संकलन
रत्नेस—कान्ताभूषण, राजगुरु, बालकृष्णदेव तैलंग, टीकमगढ़ से प्राप्त
रत्नेस—अलंकार-दर्पण, दतियाराज पुस्तकालय, दतिया, मध्यप्रदेश
रसरूप—तुलसीभूषण, निजी संकलन
रामसिंह—अलंकार-दर्पण, निजी संकलन
रसिकगोविन्द—रसिकगोविन्द-आनन्दघन, सेण्ट्रल लाइब्रेरी, पटियाला
रसिक सुमति—अलंकार-चन्द्रोदय, निजी संकलन
राय शिवप्रसाद—रसभूषण, दतियाराज पुस्तकालय, दतिया, मध्य प्रदेश
श्रीधर ओझा—भाषाभूषण, निजी संकलन
सेवादास—रघुनाथालंकार, नागरी-प्रचारिणी-सभा काशी से प्रतिलिपि-प्राप्त
सोमनाथ—रस-पीयूष-निधि, डॉ० सत्यदेव चौधरी, दिल्ली विश्वविद्यालय दिल्ली, से प्रतिलिपि प्राप्त
कल्याणदास—कल्याण-कल्लोल (संस्कृत) विश्वेश्वरानन्द वैदिक रिसर्च इंस्टीट्यूट, होशियारपुर

अंग्रेजी-ग्रन्थ

अरिस्टाटल रिहटोरिक्स—जे० एम० डेट एंड संस, लन्दन, १९३४ ई०
पोयटिक्स—ऐवरी मैन्स लायब्रेरी, लंदन, १९३४ ई०
काणे पी० वी०, डॉ०—हिस्ट्री आफ संस्कृत पोयटिक्स, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९६१ ई०
कुप्पु स्वामी—हाइवेज़ एंड बाइवेज़ आफ लिटरेरी क्रिटिसिज्म इन संस्कृत, दि कुप्पु स्वामी रिसर्च इंस्टीट्यूट, मद्रास, १९४५ ई०
जोज़फ टी शिपले—डिक्शनरी आफ वर्ल्ड लिटरेरी टर्म्स, जार्ज एलन एंड अनविन लिमिटिड, लंदन, १९५५ ई०
बोसांके—बर्नार्ड, थ्रि लैक्चरस आन एस्थेटिक्स, मैकमिलन एंड कं० लंदन, १९३१ ई०
रसल, बरट्रंड—दी एनेलेसिस आफ माइंड, जार्ज एलन एंड अनविन लिमिटिड, लंदन, १९४९ ई०
राघवन—सम कन्सेप्ट्स आफ अलंकार-शास्त्र, आड्यार लायब्रेरी, मद्रास, १९४२ ई०
रिचर्ड्स, आई ए०—प्रिंसिपल्ज़ आफ लिटरेरी क्रिटिसिज़्म, मैसर्स रुटलेज़ एण्ड केगन पाल लि०, ब्राडवे हाउस, कार्टर लेन, लंदन।
वेबस्टर—न्यू इंटरनेशनल डिक्शनरी आफ दी इंगलिश लैंग्वेज, जी० सी० मैरिन कं० पब्लिशर्ज़, स्प्रिंगफील्ड मास, यू० एस० ए० १९३४ ई०
राघवन, डॉ०—शृंगार-प्रकाश—कर्नाटक पब्लिशिंग हाउस, बम्बई।

उर्दू-ग्रन्थ

अमामबख्श देहलवी—हिदायक उल बिलगात (तर्जुमा) नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ।
आकाए राज़ी—आम फहम अरूज, ताज बुक डिपो, लाहौर।
गयासउद्दीन—गयासुल्लुग़ात, मुंशी गुलाबसिंह, लाहौर, दिल्ली, १८९५ ई०

